સનાતનધર્માલોક - ૯

'आलोक'-ग्रन्थमालाका छठा सुमन

(संरक्षक—श्री पं० मुरारिलालजी मेहता, कलकत्ता)

सनातनधर्मका विश्वकोष एवं महाभारत—

श्रीसनातनधर्मालोक

हिन्दुधर्मके विविध-विषय
तथा
वेद, पुराण, प्रत्यक्ष-घटनायें

प्रणेता—
पं० दीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि
[भूतपूर्व प्रिन्सिपल स० ध० सं० कालेज, मुलतान]
प्रिंसिपल सं० हिं० महाविद्यालय, रामदल, दरीबाकलां, देहली-६

प्रकाशक—
श्रीनारायणशर्मा 'राजीव' सारस्वत शास्त्री (बी. ए.) प्रभाकर
श्रीसनातनधर्मालोक-ग्रन्थमाला कार्यालय
फर्स्ट बी० १६, लाजपतनगर, नई देहली १४

विजयदशमी] सं० २०१६ [मूल्य १२)

प्रकाशक—
श्रीनारायणशर्मा 'राजीव' शास्त्री सारस्वत, प्रभाकर
श्रीसनातनधर्मालोक-ग्रन्थमाला कार्यालय
फर्स्ट बो० १६, लाजपतनगर; नई देहली १४

प्रथम-संस्करण
मूल्य दस रुपये

मुद्रक—
जमना प्रिंटिंग वर्क्स
पीपल महादेव, देहली।

❀ श्रीः ❀

❀ उपक्रम ❀

"आलम्बे जगदालम्बे हेरम्बचरणाम्बुजे।
शुष्यन्ति यद्-रजः-स्पर्शात् सद्यः प्रत्यूहवार्धयः॥"

सर्वावलम्ब-श्रीभगवान्की अकम्प-अनुकम्पा तथा मान्य-वदान्य (दानी) महानुभावोंके सहयोग और पूज्य-पूर्वजोंके वरद-हस्त एवं गुरुजनोंके आशीर्वाद तथा शुभचिन्तकोंकी शुभाशंसासे 'श्रीसनातनधर्मालोक'-ग्रन्थमालाका यह षष्ठ सुमन विकसित हो रहा है। यद्यपि सनातनधर्मका प्राचीन-साहित्य ही अपने संरक्षणार्थ पर्याप्त है; तथापि आजके स्वैराचार-प्रधान युगने उसे आक्षिप्त करके साधारण-जनताको सन्देहके झूलेमें डाल रखा है। उसी प्राचीन सनातनधर्मकी अंशतः सेवा करना इस ग्रन्थमालाके प्रकाशनका मुख्य ध्येय है।

सनातनधर्मियोंने सनातनधर्मके संरक्षणार्थ आजतक ईंटोंका बहुत खर्च किया है, यह द्रव्ययज्ञ है; यह भी आवश्यक है; पर उससे उत्तम ज्ञानयज्ञ सनातनधर्म-संरक्षक साहित्यका निर्माण है। द्रव्ययज्ञका सम्बन्ध बाहरसे है, ज्ञानयज्ञका भीतरसे। कर्म-ज्ञान दोनोंका सामञ्जस्य अपेक्षित होता है; तभी सफलता मिलती है। सनातनधर्मके विरोधियोंका 'खण्डक'-साहित्य—जिसमें प्रायः असत्य एवं छलसे शास्त्रोंके अर्थ बदलनेका ब्लैकमार्कीट किया जाता है—बढ़ता ही चला जा रहा है; पर स०ध०का 'मण्डक' साहित्य तो नहीं-सा है, उसमें कोई वृद्धि नहीं हो रही—यही देखकर

हमें इस क्षेत्रमें अवतीर्ण होना पड़ा है। इसमें मेरा कुछ भी नहीं है; जो कुछ है, वह प्राचीन-साहित्यका है। हमने केवल प्राचीन-साहित्यके अक्षरोंको नये-सांचेमें ढालकर आगे-पीछे करके उन्हें इस ग्रन्थमालामें अपनी शैलीसे फिट कर दिया है। यदि इसे देखकर आजके विद्वान् भी सनातनधर्मकी सिद्धिकेलिए नव्यरूपमें कुछ लिखने लगें; तब हम अपनी अतिशयित-सफलता समझेंगे।

'श्रीसनातनधर्मालोक' मूल-ग्रन्थ संस्कृतमें है, और दशसहस्र-पृष्ठमें है। यदि हमें उसके प्रकाशनार्थ प्रोत्साहन दिया जाता; हम पहले उसे ही प्रकाशित करते; पर उसमें हमें प्रोत्साहन नहीं मिला; हाँ, हिन्दीमें उसके प्रकाशनार्थ कुछ सहयोग मिला। तदनुसार पाँच पुष्पोंके विकसित होनेके अनन्तर यह छठा पुष्प विकसित हुआ है।

हमारे पास न इस ('आलोक')के प्रचार करनेके साधन हैं; न उतना समय, न धन, न सब्जबाग दिखलानेकी चालबाजियाँ हैं, तथापि जो यह मन्थरगतिसे सही, कुछ उन्नति करता जा रहा है; इसमें हमारा कुछ पुरुषार्थ नहीं, यह तो 'केनापि देवेन हृदि स्थितेन, यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि' के अनुसार अपने आप होता जा रहा है। 'आलोक'-पाठकोंको यह जानकर बहुत आश्चर्य तथा प्रसन्नता होगी कि—इस ज्ञानयज्ञमें आहुति प्रायः संन्यासियों एवं पीठाधीशों तथा ब्राह्मणोंकी पड़ रही है। इसमें सेठ-साहूकारोंका पर्याप्त हाथ होना चाहिये था; पर अभी वह

यथेष्ट प्राप्त नहीं हो रहा। यदि वे अपने द्रव्यके कुछ अंशका विनियोग इस 'आलोक'के विकासार्थ कर दें; तो यह शीघ्र ही उद्योतित होकर फैले हुए तमको दूर करनेमें सहायक होकर भूली-भटकी जनताको सुपथ दिखलानेवाला सिद्ध हो जाय। अस्तु—वे अपने कर्तव्यका स्वयं पालन करेंगे, और हमने अपना कर्तव्य-पालन करना है।

इसमें द्रव्य देकर प्रोत्साहन देनेवाले बम्बईके श्री पं० रेवाशङ्करमेघजी शास्त्रीका इस ग्रन्थमालाको वियोग सहना पड़ा ही था; पर विविध-प्रकारोंसे हमें प्रोत्साहन देनेवाले 'सिद्धान्त'के स० सम्पादक, सनातनधर्मप्राण श्रीमान् पं० दुर्गादत्तजी त्रिपाठि-महोदयका भी असह्य-वियोग इसे सहना पड़ा है। 'सिद्धान्त' (काशी)का 'वर्णव्यवस्था-विशेषाङ्क' बहुत उत्तम रूपमें निकलवाकर वे (श्रीत्रिपाठीजी) उसके प्रधान-सम्पादक श्री पं० गङ्गाशङ्कर-जी मिश्रमहोदय तथा 'धर्मसंघ'के प्रवर्तक अनन्तश्री-जगद्गुरु-शङ्कराचार्य स्वामी-श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज एवं अनन्तश्री-स्वामी करपात्रीजी महाराजको और हमें भी चिरसन्तप्त करके स्वर्गके देवता बननेके लोभसे इस संसारको छोड़ गये। इनके आगे-पीछे सनातनधर्मके प्रचारक-विद्वान् पं० श्रीदेवनायकाचार्य-जी तथा श्रीपं० अखिलानन्दजीका भी अत्यन्त वियोग हो गया है। इससे हमें बहुत दुःख हुआ; परमात्मा इन्हें सद्गति-प्रदान करें। अस्तु—

यह ग्रन्थमाला जनताको उपयोगिनी सिद्ध हुई है—यह

प्रतिदिन आनेवाले पत्रोंसे सिद्ध हो रहा है। पत्रोंमें पूर्वप्रकाशित हमारे इसी महाग्रन्थके ही निबन्धोंका सनातनधर्मके चोटीके नेताओं, उपदेशकों एवं महोपदेशकोंने भी अपने ग्रन्थों तथा व्याख्यानोंमें उपयोग किया है; इससे हमें प्रसन्नताके साथ ही साथ यह बोध भी हुआ कि-हम ठीक-दिशामें चल रहे हैं। गत-पुष्पमें सनातनधर्मके आचार-विचार-संस्कार एवं पर्वोंके वैज्ञानिक-रहस्य बताये गये थे; अब इस पुष्पमें सनातनधर्मके शास्त्रीय एवं आवश्यक विषय रखे गये हैं, इनका ज्ञान भी बहुत आवश्यक है।

इस पुष्पमें जगद्गुरु-शङ्कराचार्य श्री १००८ स्वामी कृष्ण-बोधाश्रमजी महाराज पूर्वकी भांति सहायक बने हैं; श्रीचरणोंने ही पूर्ववत् दण्डिस्वामी श्री १०८ भूमानन्दजी महाराज तथा दानवीर पं० कृष्णचन्द्रजी शर्मा बैंकर्सको भी सहायक बनवाया है। इसके साथ ही जगद्गुरुजीने गत-पुष्पका प्रचार भी बहुत कराया है। जगद्गुरु-शङ्कराचार्य श्रीशारदापीठाधीश्वर इस बार फिर इसके सहायक बने हैं।

इस बार जगद्गुरु श्री १००८ रामानुजाचार्य स्वा० अनिरुद्धा-चार्यजी महाराज भी इस ग्रन्थमालाके सहायक बने हैं; श्रीचरणोंने आगेकी अपनी सहायताका आश्वासन भी दिया है। इसके बाद महामण्डलेश्वर तपोमूर्ति स्वा० प्रकाशानन्दजी महाराज, तथा स्वामी श्री १००८ वैष्णवाचार्यजी महाराज श्रीदरबार पिण्डोरीधाम भी सहायक बने हैं। दक्षिण-अमेरिकाके श्री पं० लोकनाथजी शर्मा भी इसके १००) के सहायक बने हैं, आगेकेलिए उन्होंने

आश्वासन भी दिया है; साथ ही साथ इन पुष्पोंको खरीद-बेचकर वे उनकी सुगन्धको देश-विदेशमें फैला रहे हैं। इस बार मुलतानके सुप्रसिद्ध-सनातनधर्म-प्रेमी मलिक श्रीमघवद्दत्तजी-जगन्नाथजी भी इसके सहायक बने हैं; आगे भी उनकी सहायता चलती रहेगी-यह उन्होंने विश्वास दिलाया है। और इन्होंने ही श्रीराधाकृष्णजी कपूर महोदय (सस्ती हैंडलूम फैक्ट्री मेरठ) को तथा अन्य महोदयको भी-जो अपना नाम प्रकाशित कराना नहीं चाहते-सहायक बनवाया है।

इसके बाद 'कल्याणके सञ्चालक, बहुतसे सुन्दर निबन्ध प्रकाशित करके सनातनधर्मका प्रचार करनेवाले श्री जयदयालजी गोयन्दका-महोदय भी इस पुष्पसे सहायक बने हैं। आशा है आगे भी इनकी सहायता प्राप्त होती रहेगी। पूर्वकी भांति से० श्रीतेजभानजीकी प्रेरणासे से० श्रीझाँगीराम-छबीलदासजी बम्बईने भी सहायता भेजी है। तथा मुलतानके श्री पं० बाल-मुकुन्दजी दैवज्ञ तथा पं० नन्दकिशोरजी शास्त्रीने सेठ श्री-हरनारायणजीकी भी सहायता भिजवाई है। श्री पं० रामेश्वरजी शास्त्री-मूंडवाने-जिन्होंने पहले हमारी ग्रन्थमालाको स्वयं सहा-यक बनकर चालू कराया था; तथा ग्रन्थोंको बिकवाया भी था;-इस बार फिर ५१) की सहायता दी है। उनकी तथा वैद्यश्रीपं० वनमालिदत्तजीकी प्रेरणासे सेठ पूषाराम-रामप्रसादजी इनाणी, (रोल) भी १०१)के सहायक बने हैं। हम इन सबको हार्दिक धन्यवाद देते हुए अन्य महोदयोंको भी प्रेरित करते हैं कि—

आप भी इस ग्रन्थमालामें अपनी शुद्ध कमाईका भाग दें, जिससे वह शीघ्र ही पूर्णरूपमें प्रकाशित हो जाए। इसके बाद फिर इसे विषयानुसार पृथक्-पृथक् ग्रन्थोंमें प्रकाशित करनेका विचार है। अभी तक ग्रन्थमाला अपने पैरोंपर खड़ी नहीं हो सकती कि-अपना प्रकाशन-व्यय स्वयं कर सके; अतः संरक्षक तथा सहायकोंकी आवश्यकता रहती है। अभी तक भी कोई महोदय नया संरक्षक नहीं बना। संरक्षकका १०००) नियत है। संमान्य-सहायकका ५००), मान्य-सहायकका २५०) और साधारण सहायकका १००)। प्रेरकोंको इधर ध्यान देना चाहिये। ग्रन्थमालाको उन्हींका आश्रय है।

अमूल्य कोई भी न ले।

यह ध्यान रहे कि-हमें इस ग्रन्थमालामें जो भी सहायता वा मूल्य प्राप्त होता है, वह सब आगेके पुष्पोंके प्रकाशनार्थ जमा कर लिया जाता है। उसका एक पैसा भी अपने काममें नहीं लगाया जाता; अतः कोई भी महोदय इन ग्रन्थोंको बिना मूल्य न ले। यदि कोई महोदय अधिक-सहायता न भी कर सकें; तो ग्रन्थका मूल्य अवश्य दें; और इस ग्रन्थमालाके प्रचार तथा बिकवानेमें अवश्य सहायक बनें। इससे अग्रिम-पुष्पके प्रकाशनमें सहायता मिल जाती है।

प्रस्तुत पुष्प।

प्रस्तुत-पुष्पमें 'ब्राह्मणभाग भी वेद है' 'क्या प्राचीन भारतमें गोवध था ?' पुराणोंके आक्षेपों पर विचार, वर्णव्यवस्था जन्मसे है वा गुणकर्मसे, आदि बहुत महत्त्वपूर्ण विषयोंपर विचार दिया गया है। प्रकरणवश मानसकी प्रसिद्ध-चौपाई 'ढोल,

गँवार, शूद्र, पशु, नारी' इसके याथातथ्य पर भी विचार किया गया है। कागज़ बहुत मँहगा होगया है और उसका मिलना भी कठिन हो रहा है; फिर भी प्रेसाध्यक्ष श्रीदिनेशजी-महोदयकी कृपासे हमें कागज उपलब्ध होगया, और हमने पञ्चम-पुष्पसे भी इसके अधिक (कुल ६६०) पृष्ठ रखे हैं। इस पुष्प तथा गत-पुष्पोंका मूल्य भी कुछ बढ़ाना पड़ा। यदि ग्राहकगण एक-एक अन्य ग्राहक देने का उद्योग कर दें; तो गत-पुष्प शीघ्र समाप्त हो जावें, और नयेकेलिए द्रव्यराशि इकट्ठी हो जाया करे। इस बार प्रेसने अपना बहुत कार्य होनेसे हमारी इस पुस्तकके प्रकाशनमें आशातीत विलम्ब कर दिया है; बहुत महोदयोंके इस पुष्पके भेजनेकेलिए पत्र आये; पर हम क्या कर सकते थे; इससे यह ग्रन्थमाला पाठकोंको अभिरुचित है-यह जानकर हमें अपने परिश्रमकी सफलता अनुमित होती है।

अधिकारी-विद्वानोंसे प्रार्थना है कि-यदि विचारमें कुछ त्रुटि रह गई हो; जिसका रहना असम्भव नहीं; तो उसकी सूचना दे दिया करें, जिससे आगे ध्यान रखा जा सके।

निवेदक—
दीनानाथ शर्मा सारस्वत शास्त्री विद्यावागीश
[प्रिंसिपल संस्कृतमहाविद्यालय, दरीबा-कलाँ,]
देहली-६

विजयदशमी
सं० २०१६

श्रीसनातनधर्मालोक (५) के तथा ग्रन्थकारके सम्बन्धमें

कुछ विद्वानोंके भावोंका संक्षेप ।

(१) श्रीविद्यागुरुजीका आशीर्वाद—'अकाट्य तर्क तथा प्रमाणों-द्वारा अपने विषयको पूर्ण समर्थ करनेवाले तुम्हारे अपूर्व-अनुपम अलौकिक-लेखोंको पढ़कर अत्यन्त आह्लादका अनुभव करते हुए प्रभुसे प्रार्थना करता हूँ कि–वे तुम्हें दीर्घायु प्रदान करें, जिससे धर्म-सेवा इससे भी अधिक करके तुम अपने तथा धर्म-प्रेमी जनताके जीवनको सफल कर सको' (विद्याभूषण श्री-हीरानन्दशर्मा शास्त्री–अम्बाला सिटी)।

(२) आपका प्रकाशन मानव-समाजको सन्मार्ग दर्शानेवाला है। आधुनिक-कालके मनुष्योंमें नवजीवन उत्पन्न करनेवाला सच्चा इन्जेक्शन है। जिस मनुष्यके हृदय-पटलपर आपका यह 'इन्जेक्शन' पड़ चुका है, उसपर अपने जीवनपर्यन्त पाश्चात्य-भौतिकवादका प्रबल-इन्जेक्शन कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकता। अतः मैं आपके 'श्रीसनातनधर्मालोक'के ५म पुष्पका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ'। ····· (रतनलाल आर्य डीडवाना, राजस्थान)।

[यह महोदय 'आलोक'के चार पुष्पोंके लेनेसे पूर्व कट्टर-आर्य-समाजी थे। अब वे पञ्चम-पुष्पके मँगानेके अवसर पर सनातनधर्मी हैं' प्र.]

(३) 'श्रीयुतभद्यायशस्कशास्त्रिमहोदयेषु···'आलोक' आलो-कितः, प्रसन्नता जाता। सनातनधर्मस्य श्रीमतामयं परमोपकारः' (श्रीभगवदाचार्यस्वामी)।

(४) छपाई, सफ़ाई, कागज़ उत्तम है। मतभेद होते हुए भी ग्रन्थ उपयोगी है, और स्थल-स्थलपर आपकी विद्वत्ता, अनुसंधान तथा परिश्रम ज्ञात होता है।··· (श्रीशिवपूजनसिंह जादूसम्राट्, वैदिकगवेषक–कानपुर)।

(५) यह ग्रन्थ एक प्रकारसे स०ध०का ज्ञानकोष है। इसमें हिन्दुधर्मके आचार-विचार एवं पर्व तथा उनका वैज्ञानिक-रहस्य है। लेखकने १६ संस्कारों पर अत्यन्त सुन्दर प्रकाश डाला है। ···पुस्तकमें धार्मिकतत्त्व वैज्ञानिक-ढंगसे समझाये गये हैं। अपने विषय पर लेखकका सराहनीय अधिकार है'। (श्रीदीनानाथ-'दिनेश' भार्गव, सम्पादक 'मानवधर्म' देहली)।

(६) पञ्चमपुष्पमालोक्य नितान्तं समतुष्यदन्तरङ्गम्। रम-णीयविवेचन-चातुरीधुरीणं, श्रुत्यनुकूलतर्क-सौगन्ध्यबन्धुरं, विशालवेदशास्त्र - कान्तारसञ्चरणश्रमापहरं, सनातनधर्ममर्मा-विष्कारकमेरण्यलङ्कर्मीणम्, आर्यसमाजीयदुर्विचारपारावार-मन्दरायमाणं, वैदिकसिद्धान्त-सिद्धाब्जनायमानं, युक्तिवैशारद्य-परिपाक-सीमान्तशैलायमानं तत्रभवतां लेखपाटवं नूनममृतायते-नश्चेतसि। तदिदं धर्मप्रचारकार्यं नवतरुणानां मनसि दुर्विचार-घनतिमिरमपसारयेत्। पण्डितानां मनः-सरोजेषु स्वानन्दसुगन्ध-मुद्वेल्लयेत्। तर्कशौण्डानां च दुस्तर्कताण्डवमवखण्डयेद्–इति बाढं विश्वसिमः।···' (श्रीभालचन्द्रविनायकमुले शास्त्री काव्य-तीर्थः, प्रवचनकारः, श्रीक्षेत्रत्र्यम्बकेश्वर–नासिक)।

(७) 'पञ्चम-पुष्प मुझे बहुत पसन्द आया। इसमें आपने खूब परिश्रम किया है। 'श्रीगणेशका मङ्गलाचरण, और 'ॐ' गणेशमूर्तिका प्रतिपादक' आदि-अन्तमें अच्छा रहा। 'गीताका गूढ उद्देश्य' मुझे बहुत भाया। वैसे तो सभी संग्रह अच्छा हुआ है।···(श्रीरणछोड़दास 'उद्धव' गीतालङ्कार, धर्मभूषण, साहित्य-रत्न, श्रीरणछोड-प्रकाशनमन्दिर महिदपुर (म०भा०)।

(८) ···'आप-श्रीकी परमपूज्या जननीको हम अपने अन्तः-करणसे अनेकानेक धन्यवाद देते हैं कि–जिन्होंने हमारेलिए आपश्रीसदृश विशिष्ट-प्रौढपाण्डित्यपूर्ण प्राज्ञरत्नको प्रकट किया।

हम चिर-कृतज्ञ ही नहीं, अपने नष्ट-धनको प्राप्त कर एक विशेष-आनन्दका अनुभव कर रहे हैं; और भविष्यमें करेंगे, और आपसे निरन्तर साभिमान रहेंगे। आपश्रीने अपने शुभ-जीवनमें वह ठोस कार्य किया है, जो वाणीका अविषय है। इस ग्रन्थ-मालासे पूर्व भी बहुत कालसे अनेक-पत्रादिकोंमें आपके लेख दृग्गत किये हैं। आपश्रीकी अलौकिक प्रतिभाका प्रभाव आज समस्त-भारतकी भित्तिमें अङ्कित होगया है। यह ग्रन्थमाला धर्मकी अनुपम-सेवा है' (श्रीजगन्नाथ-मिश्र कर्मकाण्ड-शास्त्रार्थ-विशारद-हाथरस)।

(९) 'भारतीयाचारविचाराणां रहस्यज्ञानाय सुप्रसिद्धैर्मनीषिभिः श्रीदीनानाथशास्त्रिभिः सनातनधर्मालोक-ग्रन्थमाला-प्रकाशनद्वारा महत्तरं श्लाघनीयं च कार्यं सम्पादितम्।...' (श्रीकेदारनाथ शर्मा सारस्वतः संस्कृतरत्नाकरसम्पादकः, देहली)।

(१०) ४म पुष्प देखकर ही हृदय आनन्दसे भर गया। कुछ पृष्ठ पढ़कर तो सारा अन्तरात्मा ही आनन्दमय बन गया। मैंने पूर्व ही कहा था कि—आपका यह निष्काम उद्योग अवश्य भगवान्की कृपाका पात्र बन जायगा। आशा है कि-अन्य सुमन भी शीघ्र प्रकाशित होंगे। धार्मिक-जगत् पर जो अन्धकारमय बादल छाये हुए थे, वे सब नष्ट-भ्रष्ट होकर सनातनधर्म फिर अपना उज्ज्वल प्रकाश दिखाकर जगत्को नास्तिकताके भंवरसे निकालेगा।' (श्रीरामचन्द्र बी० ए०, रि० हैडमास्टर आर्यहाई-स्कूल, अम्बाला)।

(११) 'आपका प्रयत्न प्रशंसनीय है, जिस विषयको उठाकर पढ़ा, उसीमें पूर्णताका अनुभव हुआ।...(श्रीघनश्यामचन्द्र-शास्त्री विद्यामार्तण्डः, प्रिंसिपल ऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रमसंस्कृत कालेज, लक्ष्मणगढ़-सीकर)।

(१२)·· यह होते हुए भी सनातनधर्मके शाश्वत-संरक्षक परमेश्वरकी प्रेरणासे उन पाखण्डमय-कुतर्कोंके निरसनकेलिए समय-समयपर विद्वज्जन प्रादुर्भूत होकर उन कुशङ्काओंसे उत्पन्न अन्धकारके उच्छेदनका प्रयास करते रहते हैं। ऐसे प्रयासशील-विद्वानोंमें हम निःसंकोचरूपसे श्रीसारस्वत-महोदयका अत्यन्त सम्मानके साथ नाम ले सकते हैं। श्रीशास्त्रीजी अनेक-वर्षोंसे अपनी ओजस्विनी-लेखनी द्वारा स०ध०की जो सेवा कर रहे हैं, वह अभूतपूर्व है। अधिक लिखना सूर्यको दीपक दिखाने-जैसा होगा। 'आलोक'-ग्रन्थमालाके अब तक प्रकाशित पुष्पोंका अध्ययन करनेपर इस कथनकी सत्यता पाठकपर स्वयं व्यापक-रूपमें प्रकट हो जायगी। संक्षेपमें इस ग्रन्थमालाको स०ध०का विश्वकोष कहा जाय; तो अत्युक्ति न होगी। इसके अध्ययनसे पढ़नेवालेके मनकी सनातनधर्मविषयक विपरीत-भावना एवं शङ्काओंका पूर्ण समाधान तो होगा ही, वह दूसरेकी भी वैसी कुशङ्काओंका निवारण करके स०ध०की सेवामें महत्त्वपूर्ण सहयोग देसकता है। (आनन्दशेखर सहकारी-सम्पादक, दैनिक-सन्मार्ग वाराणसी)

एतदादिक अयाचित-सम्मतियां बहुत अधिक आई हुई हैं, स्थानाभाववश सभी प्रकाशित नहीं की जा सकीं। 'आलोक'-ग्रन्थमाला स्वयं खरीदकर तथा दूसरोंसे खरीदवाकर सप्तम पुष्पके प्रकाशनमें सहयोग दें।

निवेदक—
नारायणशर्मा 'राजीव' सारस्वत
शास्त्री, हिन्दी प्रभाकर
[प्रकाशक]

श्रीसनातनधर्मालोक-ग्रन्थमाला (छठे पुष्प) की

विषय-सूची

(हिन्दुधर्मके विविध-विषय)

[संशोधन—पृ. ६५० अवतारोंकी सूचीके क्रम-भेदमें यह जानना चाहिये कि–जैसे–वेदोंमें 'ऋचः सामानि-छन्दांसि' आदि मन्त्रोंमें कहीं 'साम'का नाम 'यजुः'से पूर्व, और कहीं पीछे, कहीं अथर्व-आदिका आगे, कहीं पीछे; इससे वेदकी अप्रमाणता नहीं हो जाती, वैसे पुराणोंमें भी अवतारक्रमभेदमें जान लेना चाहिये]

'श्रीसनातनधर्मालोक'-प्रणेता
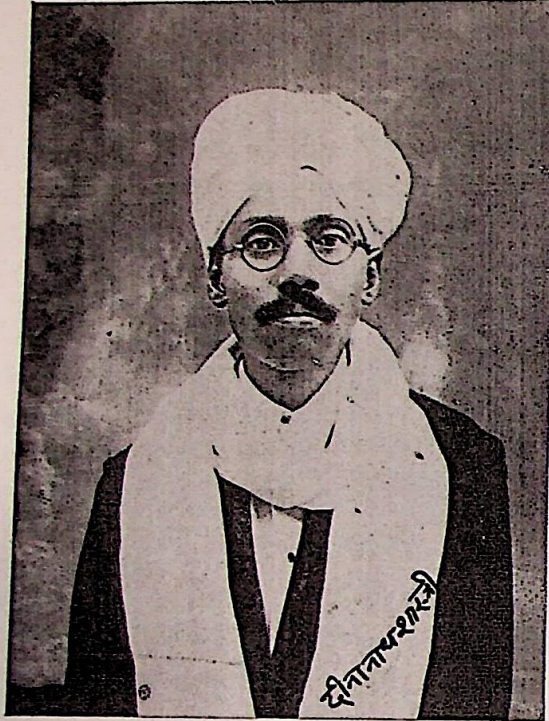
श्रीदीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वतः

विद्यावागीशः, विद्याभूषणः, विद्यानिधिः

प्रिंसिपल सं. हिं. महाविद्यालय रामदल, दरीबाकलां, देहली।

हिन्दुधर्मके विविध विषय

(१) मङ्गलाचरणम्।

'वन्दे वन्दारु-मन्दारमिन्दुभूषणनन्दनम्।
अमन्दानन्द - सन्दोह - बन्धुरं सिन्धुराननम्' ॥

'सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा।
पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे ॥
पुण्यं पूर्वा फल्गुन्यौ चात्र हस्तः चित्रा शिवा स्वाति सुखो मे अस्तु।
राधे विशाखे सुहवाऽनुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्ट मूलम् ॥
अन्नं पूर्वा रासतां मे अषाढा ऊर्जं देवी उत्तरा आवहन्तु।
अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम् ॥
आ मे महत् शतभिषग वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा सुशर्म।
आ रेवती चाश्वयुजौ भगं मे आ मे रयिं भरण्य आवहन्तु' ॥

(अ० १६।७।२,३,४,५,)

'मेधां मे देवः सविता आदधातु मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु।
मेधां मे अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्कर-स्रजौ' ॥ (पार० २।४।८)

'श्रीसनातनधर्मस्याऽऽलोकोऽयं सम्प्रकाश्यते।
तमांस्यनेन दूरे स्युर्धर्ममार्गः स्फुटीभवेत् ॥१॥
पूर्वं पञ्चाप (मुलतान) वास्तव्य इदानीं देहलीं श्रितः।
इमं ग्रन्थं विनिर्माति श्रीदीनानाथ-नामकः ॥२॥
सारस्वतस्य तस्याऽयं प्रयत्नः शास्त्रिणो महान्।
साफल्यमेतु पूर्तिं च भगवत्कृपया ध्रुवम्' ॥३॥

(२) सनातन-हिन्दुधर्मका स्वरूप ।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेद् जीवितस्यापि हेतोः ।
(महा० उद्योग० ४०।१२)

(पुरुष काम, लोभ, भय वा जीवनके लिए भी धर्मका त्याग न करे ।)

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् । (गीता २।४०)

(इस धर्मका थोड़ा अंश भी अनुसृत किया जावे; तो बड़े भयसे रक्षा हो जाती है ।)

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति ।
धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्, तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति॥
(कृष्णयजुर्वेद तै० आ० १०।६३)

(धर्म ही सब जगत्‌की प्रतिष्ठा है। धर्मिष्ठके पास ही प्रजाएँ जाती हैं। धर्मसे ही पाप दूर होता है। धर्ममें सबकी प्रतिष्ठा (स्थिरता) है। इसी कारण धर्मको सबसे बड़ा कहा जाता है ।)

हिन्दुधर्मको जाननेके लिए उसके सनातनधर्मका स्वरूप तथा उसके मुख्य ग्रन्थ वेदका स्वरूप जानना आवश्यक है। पहले हम हिन्दुधर्मका निरूपण करते हैं ।—

हिन्दुधर्मका प्राचीन नाम 'सनातनधर्म' है। हम उसका यहाँ पर स्वरूप बताते हैं। कई लोग कहा करते हैं कि—'सनातनधर्म' शब्दकी रचना आजकल की है, यह शब्द पहले नहीं था। पहले तो हमारे धर्मका 'वैदिक' यह विशेषण होता था, 'सनातन' नहीं। अतः 'वैदिकधर्म' वा 'आर्यधर्म' यह नाम रखना चाहिये, 'सनातनधर्म' नहीं। जो आप लोग अपने आपको 'सनातनधर्मी' कहते हैं, आप सब 'पौराणिक' ही हैं, और 'पौराणिक-धर्म' मध्यकालीन अर्वाचीन ही है'। इस पर हम विचार करते हैं।

हमारे धर्मकी 'सनातनधर्म' यह संज्ञा सृष्टि के आदिकालसे ही है। हमारे धर्मका नाम 'सनातनधर्म' भी है। 'पुराणधर्म' भी, और 'वैदिकधर्म' भी। उसमें सनातनधर्मके दो प्रकारके विग्रह होते हैं। सनातनस्य धर्मः; 'सनातनो वा धर्मः;' इनसे सनातनधर्म का बोध अनायास हो सकता है। पहले विग्रह में 'सनातन' परमात्मा का धर्म होनेसे इसका नाम 'सनातनधर्म' है। अथर्ववेदसंहितामें कहा है—'सनातनमेनमाहुः उताऽद्य स्यात् पुनर्णवः (१०।८।२३) 'उस देवको सनातन (पुराण-पुरुष नित्य-पुरुष) कहते हैं; परन्तु वह आज भी नया है। स० प्र० की टिप्पणीमें स्वा० वेदानन्द इसका अर्थ लिखते हैं—'भगवान्‌को सनातन-नित्य कहते हैं, वह आज भी नया है। (पृ० २१) 'यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम्' (अ० १०।८।२२) 'जो उच्चपद देनेवाले सनातन देवकी उपासना करता है, वह सुखी तथा अन्नयुक्त रहता है'।

सम्पूर्ण विश्वमें सनातनधर्मका डंका बजानेवाली भगवद्‌गीतामें भी कहा है 'त्वमव्ययः शाश्वत-धर्म गोप्ता, सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे' (११।१८) 'तुम सनातन पुरुष हो; अतः सनातनधर्मके रक्षक हो'। 'योसौ अतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः' (मनु० १।७) यहाँ सर्वत्र 'सनातन' यह परमात्माका नाम है, उसके धर्म होनेसे 'सनातनधर्म' यह नाम है। यह धर्म भी नित्य है, आज भी नया

है। यह 'सनातनका' अर्थ ठीक भी है क्योंकि—'सना भवः सनातनः'। 'सना' सदाको कहते हैं। सो सदा रहनेवालेको 'सनातन' कहते हैं। यहाँ 'सना' शब्दसे'-अव्ययेभ्यः ट्यु ट्युलौ तुट् च' पा० ४।३।२३) इस सूत्रसे 'ट्युल्' प्रत्यय होकर 'तुट्' का आगम होता है। 'युवोरनाकौ' (७।१।१) इससे 'यु' को 'अन' होकर 'सनातन' शब्दकी सिद्धि होती है। नित्य रहनेवालेको 'सनातन' कहते हैं। ऐसा परमात्मा ही तो है, उस परमात्माका धर्म 'सनातनधर्म' सम्पन्न होता है। परमात्माका न कभी जन्म कहा जासकता है, अतः यह धर्म आदिमान् नहीं, न कभी उस परमात्माको अपने पदसे रिटायर किया जा सकता है, अर्थात्—वह कभी मरता नहीं। ऐसा ही तो 'सनातन' हो सकता है; उस सनातनका धर्म ही सनातनधर्म हुआ करता है। फलतः ईश्वर-प्रचालित धर्मका नाम ही 'सनातनधर्म' हुआ। तब यह धर्म सृष्ट्यादिसे ही चालू प्रतिफलित हुआ। हम इस कल्पकी सृष्टिका आदि तो कह सकते हैं कि इसे १,६७,२६ ४६,०५८ वर्ष हुए; पर कितने कल्प बीत चुके, इसे कोई निश्चित रूपसे नहीं कह सकता है; अतः सृष्टि-प्रवाह अनादि होनेसे यह धर्म भी अनादि सिद्ध होता है।

जब यह ईश्वरका धर्म है, और ईश्वर अव्यय-पुरुष है; तब उसका धर्म भी अविकारी रहता है; अतः यह सनातन धर्म भी अविकारी रहता है। इसमें परिवर्तन नहीं होता, यह एक रूपमें रहता है। इसीलिए इस धर्ममें प्रमाणवादको उत्तम स्थान

दिया गया है, तर्कको इसमें उत्तम स्थान प्राप्त नहीं। कारण यह है कि—तर्क अप्रतिष्ठित हुआ करता है; क्योंकि—वह पुरुषकी विद्यासे उद्भावित हुआ करता है। श्रीयास्कमुनि अपने निरुक्तमें पुरुषकी विद्याको अनित्य मानते हैं, इसीलिए एक तर्कको अन्त तक गिरा दिया करते हैं। तर्क एक वकालत हुआ करती है, उससे सत्यको भी असत्य और असत्यको भी सत्य किया जा सकता है उसमें चाहिए प्रतिभाकी उत्कृष्टता, और चाहिए मस्तिष्कके तन्तुओंकी तीव्रता।

एक मद्यव्यसनी—परन्तु उत्कृष्ट वकील अपने पक्ष वाले व्यक्तिका पक्ष गलत समझनेके कारण उसके विरोधमें ऐसे प्रबल तर्क दे रहा था कि—प्रतिपक्षी वकील भी वैसे तर्क उद्भावित न कर सकता। अतः वह प्रसन्न हो रहा था, और समझ रहा था कि-मद्यका दौरदौरा आज इसका तीव्र हो रहा है। तब अपने मुन्शीने वकीलको सुझाया कि यह आप क्या कर रहे हैं? अपने ही पक्ष वालेका खण्डन कर रहे हैं! वकील सँभल गया। उसने कहा कि—प्रतिपक्षका वकील इतने ही तर्क दे सकता था, वे मैंने रख दिए, अब मैं इनका प्रत्युत्तर शुरू करता हूँ—यह कहकर उसने विविध धाराओंके विकल्पोंका निर्देश करके उन तर्कोंको चूर्ण-विचूर्ण कर दिया।

तभी तो महाभारतमें कहा है—'तर्कोऽप्रतिष्ठः' (३।३१३।११...) तर्कके पांव नहीं रहा करते। न्यायशास्त्र तर्कशास्त्र माना जाता है, पर वह भी तर्ककी अप्रतिष्ठितताको जानता है, अतः कहता है-

'तर्कः प्रमाणसहितो वादे साधनाय उपालम्भाय च अर्थस्य भवति' (१।१।१) 'अयं तर्कः तत्त्वज्ञानार्थः न तत्त्वज्ञानमेव, अनवधारणात्। अनुजानाति अयमेकतरं धर्मं कारणोपपत्त्या, न तु अवधारयति, न निश्चिनोति...सोयं तर्कः प्रमाण-सहितो वादे प्रदिष्टः (१।१।४०) अर्थात्—तर्क तत्त्वज्ञानकेलिए तो है पर तत्त्वज्ञान नहीं। पुरुष तर्कसे एक बातको जान तो सकता है, पर उसकी अप्रतिष्ठिततासे उसे निश्चित नहीं कर सकता, अतः तर्कको प्रमाण-सहित ही प्रयुक्त करना चाहिये, प्रमाण-निरपेक्ष नहीं। प्रमाण-रहित तर्क न्याय न होकर न्यायाभास हो जाता है—यह न्यायदर्शनके शब्द हैं, 'यत्पुनरनुमानं (तर्कः) प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः सः' (१।१।१) सो प्रमाणवादको अधिक आदर देनेसे ही यह सनातनधर्म सर्वत्र एक-रस तथा अविकारी है।

दूसरा इसका विग्रह है—'सनातनो धर्मः सनातनधर्मः' यह कर्मधारय-समास है। नित्य रहनेवाला धर्म सनातनधर्म है। सो जब किसी वस्तुका सनातनधर्म हटा दिया जायगा, तब वह वस्तु भी नहीं रहेगी। धर्मके बिना धर्मीकी सत्ता नहीं रह जाती। इसको यों भी कहा जा सकता है कि—धर्मको नष्ट करनेवालेको धर्म मार दिया करता है, और धर्मके रक्षककी धर्म रक्षा करता है। तभी श्रीमनुजीने कहा है—'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः। तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्' (८।१५)।

यह बात ठीक भी है और विज्ञान-सम्मत भी। अग्निका सनातनधर्म उष्णता एवं प्रकाश-प्रदान है। यदि उसकी उष्णता

नष्ट की जायगी तो अग्नि, अग्नि ही न रह पावेगी, वह भस्म हो जाएगी। आपको रोटी न खिलाकर अन्धेरेमें डालकर ठोकरें ही खिलाएगी। जलका सनातनधर्म तरलता, शीतलता तथा प्यासको दूर करना है; जब वह उसका सनातनधर्म नष्ट होगा तो जल, जल ही न रहेगा; कीचड़ हो जावेगा। हम उस अग्नि या जलसे कोई अपेक्षित लाभ प्राप्त न कर सकेंगे। तब यह स्पष्ट है कि—सनातनधर्म, देश-कालानुसार बदल भी नहीं सकता। अग्निकी प्रकटतामें देश-कालानुसार प्रक्रियाभेद हो सकते हैं, जलको पृथ्वीसे खींचनेमें देश-कालानुकूलतावश भेद हो सकते हैं, पर उसका सनातनधर्म बदल नहीं सकता। पहले 'दिए तले अँधेरा' होता था, अब दीएके ऊपर अँधेरा हो गया है। पर उस अग्निका ऊपर जाना और प्रकाशधर्म या उष्णता कोई बदल नहीं सकता।

फलतः सनातनधर्म भी मर नहीं सकता या बदल नहीं सकता। यदि इसे हम मारेंगे तो हम भी मरेंगे। यदि इसके स्वरूपको बदलेंगे तो हम भी वे न रहकर कुछ और हो जावेंगे—यह स्वाभाविक है। अतः इसमें इसकी रक्षार्थ काटनेवाले-तर्कका अवलम्ब न लेकर बनानेवाले-प्रमाणका आश्रय रखा गया है। तर्ककी अव्यवस्थितता तो यही होती है कि—हम आज जिन तर्कोंको बड़े धड़ल्लेसे कह रहे होते हैं, पांच-छः वर्षोंके बाद हम उन्हें स्वयं काट रहे होते हैं। सो यह तर्क मूषकका प्रतीक होता है। इस 'मूषकसे बोधकी प्राप्ति' कभी नहीं हो सकती। हमारे सनातनधर्ममें इस मूषकको हमारी श्रद्धाके प्रतीक प्रमाणभूत गणेशजीने अपना

वाहन बना रखा है, उसे नीचे दबा रखा है, उसे स्वतन्त्र नहीं छोड़ा गया है। उसे स्वतन्त्र कर देने पर तो वह तर्क-मूषक खण्डन की—काटनेकी प्रवृत्तिको नहीं छोड़ेगा।

जब इस सनातनधर्मका मूल ही सनातन-पुरुष है; जैसा कि महाभारतमें कहा है—'सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत् सनातनम्' (आश्वमेधिक ६१।३४) तब इसकी रक्षा भी उसीपर आ पड़ती है, उसके अवतार समय-समय पर इसकी रक्षा करते हैं, जैसे कि श्रीमद्भागवत-पुराणमें कहा है—'त्वत्तः सनातनो धर्मो रक्ष्यते तनुभिस्तव' (३।१६।१८)। इसको इसीलिए अमृत-धर्म कहा गया है—'सनातनोऽमृतो धर्मः' (महा० वनपर्व ३१३।६६)।

इसी सनातनधर्मके वैदिक धर्म, स्मार्त धर्म, पौराणिक धर्म—यह अंग हैं; पर इन सब धर्मोंकी समुच्चित (मिली हुई) संज्ञा सनातनधर्म है। संसारके सम्पूर्ण धर्म, मूलभूत सनातनधर्मकी शाखायें हैं; उनमें कई अर्वाचीन शाखायें त्रुटित भी हैं; कई जीर्ण और कीटोंसे व्याप्त हैं, कई टूटी हुई हैं; पर उनकी हरियाली देखकर लोग उन पर लट्टू हो जाते हैं और मूलको धूलमें देख वे उसकी परवाह नहीं करते। वे मूलमें पानी न देकर उन शाखाओंको ही पानी दिया करते हैं; पर इसका परिणाम नहीं विचारते।

इसी धर्मकी स्थिरतार्थ इसको तर्कमात्र पर न रखकर इसको प्रमाणवाद पर रखा गया है। हम पूर्व संकेत कर चुके हैं कि—तर्कमें स्वार्थ होता है और दूसरोंके हितका विघात होता है, पर

तपोबलसे प्रमाणरूप-परमात्मा-द्वारा जो ज्ञान ऋषियोंको प्राप्त हु[आ] करता है, वह जहां निर्भ्रान्त होता है वहां उसमें दूसरेका विघा[त] नहीं होता, अतः वह ज्ञान निष्पक्ष होनेसे उपादेय होता है। उसमें वह यथाधिकार व्यवस्था अवश्य बताता है। पिता की ओ[र] से जो काम बड़े लड़केको दिया जाता है, वह छोटेको नहीं दि[या] जाता। बड़े लड़केको उठानेके लिए एक मन का बोझ दिया जा[ता] है पर छोटेको वैसा करनेके लिए बाध्य नहीं किया जाता, इसलि[ए] इस धर्ममें सीमित ८-१० नियम नियत नहीं; किन्तु इनमें देशक[ाल] पात्र-भेदसे बहुत नियम हैं; अतः यह धर्म सभीका उपयोगी त[था] सभीका अस्तित्व रखनेवाला सिद्ध होता है। उन्हीं नियमोंका सं[ग्रह] ही प्रमाण-पुञ्ज है। वह प्रमाण-पुञ्ज यह है—मनुजी कहते हैं- 'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्रा[हुः] साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् (२।१२) इन्हें साक्षात् धर्मका लक्षण मा[ना] गया है। इनमें वेदको मुख्य रखा गया है।

वेद दो भागोंमें विभक्त है—मन्त्र और ब्राह्मण। उनमें म[न्त्र] ब्राह्मणात्मक वेदके चार भाग हैं; उन चार भागोंकी महाभाष्यानुस[ार] ११३१ संहितायें हैं। उतना ही ब्राह्मण-भाग, परमात्मकर्तृक उस[का] व्याख्यान है; क्योंकि—अपने मन्त्र (मन्त्रि गुप्त-भाषणे) [का] व्याख्यान भी उसके अतिरिक्त कोई नहीं कर सकता। फिर [उस] ज्ञानको नियमरूपमें व्यवस्थित करनेवाली स्मृतियां हैं। जि[तना] मन्त्र-भाग उतना ही ब्राह्मण-भाग और उतना ही स्मृति-भाग। स्मृतिमें धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मशास्त्र अन्तर्भूत हो जाते हैं। उ[...]

बाद है 'सदाचार' सत्पुरुषोंका आचार। मन्त्रभागात्मक वेद श्रव्य-काव्य हैं और फिर हैं लोहेके चने, स्मृति है उनकी व्यवस्थापक। श्रव्य-काव्यको दृश्य-काव्यका रूप देनेवाला होता है उदाहरण, सत्पुरुषोंका आचार। वह है पुराण-इतिहास। पुराण-इतिहासमें उन वेद और स्मृतिके पारम्परिक (परम्परासे आए हुए) उदाहरण-प्रत्युदाहरण देकर उनको स्पष्ट कर दिया गया है।

वेदका उपदेश है 'सत्यं वद'। वह श्रव्यकाव्य है, और लोहे का चना है, कैसे चबाया जाय? अतः वह केवल सुना ही जाता है, और काव्यमें पड़ा ही रहता है। जब उस उपदेशको दृश्य-काव्य 'राजर्षि-हरिश्चन्द्र'के उपाख्यान रूपमें पुराण-इतिहास प्रस्तुत करता है; तब उसका सर्वसाधारण पर भारी प्रभाव पड़ता है, सभी उसका अनुसरण करनेकेलिए तत्पर हो उठते हैं। मुगलोंके क्रूरकालमें, अंग्रेजोंके कूटनीतिक मोहककालमें, और इस धर्मनिरपेक्षताके उपेक्षाकालमें हम अपने धर्म पर जो सुस्थिर हैं—इसका श्रेय इन्हीं पुराण-इतिहास को है। यह सर्वमान्य है।

फिर आगे कहा है—'स्वस्य च प्रियमात्मनः' वेदादि शास्त्रोंमें धर्ममें भी बहुतसे विकल्प हैं, उनमें जो तुम्हें—अपने आत्माको प्रिय लगे, उसीका अनुसरण करो—यह सूचित किया गया है। यहाँ किसीको बाध्य नहीं किया जाता कि—तुम अवश्य ही धर्मके सभी विकल्पोंको अनुसृत करो, नहीं, जो तुम्हारे आत्माको प्रिय है, उसी धर्म-विकल्पको अनुसृत करो। कैसा है यह जीवमात्र-हितैषी सनातनधर्म? उसीकेलिए ही भगवद्गीतामें कहा है—

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' (२।४०) तुम इस धर्मका अंशतः भी यदि अनुसरण करोगे, तो तुम्हें यह धर्म बड़े भयसे बचाएगा। इस विशाल धर्मको कितना संक्षिप्त कर दिया गया है, गागरमें सागर भर दिया गया है। इसी सनातनधर्मका ही तो यह सिद्धान्त है—'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयाद् मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयात्, एष धर्मः सनातनः' (४।१३८) 'सत्य बोलो, प्रिय बोलो, सत्य भी अप्रिय मत बोलो, प्रिय भी असत्य न बोलो—यह सनातनधर्म है। यह सनातनधर्मका चित्र-चित्रण है। यही इसका संक्षिप्त स्वरूप है। जब हम इसके इस स्वरूपको समझ जायेंगे; तब अपने भारतको 'अमर-भारत' कर सकेंगे। यदि हम किसीसे दब कर, देशकालानुकूल असत्य पर सत्यका मुलम्मा चढ़ाकर अपने धर्मको विरूप करनेमें तत्पर हो जावेंगे, तो हम भी वही सृष्टिके आदि-पुरुष नहीं रहेंगे, हम विरूप हो जावेंगे, फिर संसार हमें पहचान भी न सकेगा। जो संसार हम पर विश्वास करता था; अब वह हमें अर्वाचीन-रूपमें देखकर शंकित-दृष्टि से देखेगा। जिससे हमारा गौरव देश-विदेशमें है, जिससे भारतका मस्तक उन्नत है, यदि हमने उस सनातनधर्मको न अपनाया, दूसरोंके असत्यकी चकाचौंध देखनेमें हम उत्सुक रहे, तो अपनी ज्योति हम नष्ट करवा लेंगे। हमें तब अन्धकार ही अन्धकार मिलेगा; तब हमारा पतन अनिवार्य होगा।

(३) सनातनधर्मकी प्राचीनता एवं महत्ता ।

हम गत निबन्धमें 'सनातन हिन्दुधर्मका स्वरूप' बता चुके; अब इसमें सनातनधर्मकी प्राचीनता तथा महत्ता बताते हुए पूर्व-निबन्धकी शेष पूर्ति करते हैं। 'सनातनधर्म'के दो प्रकारके (षष्ठीतत्पुरुष तथा कर्मधारयसमास) विग्रह बताये जा चुके हैं। परमपुरुष परमात्मा 'सनातन' होता है—यह हम कह ही चुके हैं। जीवात्मा भी 'सनातन' होता है—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः (गीता १५।७)। उस सनातन पुरुषका पुस्तक वेद भी 'सनातन' है, उसका कार्य संसार भी 'सनातन' है; तब उसका धर्म 'सनातन' ही होगा।

अन्य जो तथाकथित धर्म हैं, वे नित्य नहीं: और न परमात्मा से बनाये हैं। परमात्मासे बनाये हुए धर्ममें नियमोंकी इयत्ता नहीं होती। उसमें उत्सर्ग-अपवाद आदि अनेक व्यापक नियम होते हैं। उसमें सार्वभौमता और सार्वकालिकता होती है; इसी कारण उसमें परिवर्तन नहीं होता; इसीसे वह सनातनधर्म होता है। मनुष्योंसे बनाये हुए धर्मोंमें ही ६-१० नियम होते हैं। अतः वे धर्म एकदेशी तथा कालानुसार परिवर्तनशील होते हैं, सनातन नहीं होते। परन्तु परमात्मासे बनाये हुए धर्ममें सभी प्रकारके अधिकारियोंके हितार्थ विविध नियम होते हैं।

सनातनधर्म परमात्माके समकालमें ही होता है, इसलिए उसे वेदमें 'पुराणधर्म' भी कहते हैं। जैसे कि-'धर्मं पुराणमनुपालयन्ती' (अथर्व० १८।३।१) यहांपर सतीधर्म जो पुराणधर्म है-का प्रतिपादन

किया गया है। 'अयं पन्था अनुवित्तः पुराणो' (ऋ० शासं० ४।१८।१) यहां 'पुराण-धर्म'का वर्णन किया गया है।

अर्वाचीन लोग हमारे धर्मका नाम 'पुराणधर्म' यह द्वेष-वश ही कहते हैं, परन्तु वेदने हमारे धर्मका नाम 'पुराणधर्म' कहा है; तब द्वेष क्यों? पुराणधर्मका भी 'सनातनधर्म'की भांति ही विग्रह है-'पुराणस्य धर्मः, पुराणो वा धर्मः'। 'पुराण' यह भी परमात्माका नाम है। जैसेकि—'महाभारत में—'पुराणपुरुषो विभुः' (वनपर्व १८६।५४)। श्वेताश्वतर-उपनिषद्में-'वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्' (३।२१) 'प्रत्नमिन्द्र! हवामहे' (अथर्व० २०।२४।६) यहाँ इन्द्र (परमेश्वर) का विशेषण 'प्रत्न' है, पूर्व स्थलमें 'सनातन' है। 'प्रत्न'का अर्थ भी 'पुराण' है। अतः उसके प्रवर्तित धर्मका भी 'सनातनधर्म' वा 'पुराणधर्म' नाम है।

'मा नः पथः पित्र्यान्मानवाद् अधिदूरं नैष्ट' (ऋ० सं० ८।३०।३) 'हे देवताओ! हमें पितृपरम्परा' प्राप्त मार्गसे मत दूर करो। ऐसा पित्र्य मानवधर्म 'सनातनधर्म' ही है। 'वक्ष्ये सनातनं धर्मं नारायण-मुखाच्छ्रुतम्' (श्रीमद्भागवत ७।११।५) 'मूलं हि विष्णुर्देवानां यत्र धर्मः सनातनः' (श्रीमद्भागवत १०।४।३६) इत्यादि प्रमाणोंसे जहाँ 'सनातनधर्म' शब्दकी प्राचीनता सिद्ध होती है; वहाँ सनातनधर्मकी भी प्राचीनता और परमात्म-मूलकता सिद्ध है।

इस प्रकार 'त्वत्तः सनातनो धर्मो रक्ष्यते तनुभिस्तव' (श्रीमद्भा० ३।१६।८) यहाँ परमात्माके अवतारोंसे सनातनधर्मकी रक्षा कही है। 'अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्' (मनु० ६।६४) यहाँ

मनुजीने नियोगको सनातनधर्मसे विरुद्ध कहा है। 'भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम्' (वाल्मी० किष्किन्धा १८।१८) यहाँ पर भ्रातृ-भार्याके साथ व्यभिचारको सनातनधर्मसे विरुद्ध कहा है। 'प्रियं च नानृतं ब्रूयाद् एष धर्मः सनातनः' (मनु० ४।१३८) 'भगवन्! श्रोतुमिच्छामि नृणां धर्मं सनातनम्' (श्रीमद्भा० ७।११।२) 'श्रुतिगणान् यथा। तपसा ऋषयोऽपश्यन् यतो धर्मः सनातनः' (श्रीमद्भा० ८।१४।४) 'स हि (श्रीकृष्णः) धर्मः सनातनः' (उद्योग० ८५।७) यहाँ परमात्माका नाम 'सनातन' है। तब 'सनातनस्य-परमात्मनो धर्मः' यह विग्रह भी हो सकता है। इन प्रमाणोंसे सनातनधर्मकी सर्वादिमत्ता, परमात्म-प्रणीतता और वेदमूलकता सिद्ध होती है। तब इस शब्दकी अर्वाचीनता न होकर प्राचीनता ही सिद्ध हुई।

सनातनधर्मियोंका तो यह अपना है ही; इसलिए वे इस शब्द-का प्रयोग करनेके अधिकारी हैं ही, पर जो आर्यसमाजादि सम्प्रदायोंके संस्कारोंवाले हैं वे भी इसका प्रयोग करते हैं। जैसे—'हम देहकी रक्षाकेलिए सनातनधर्मको नहीं त्यागेंगे' (श्रीमद्दयानन्द प्रकाश, संगठन काण्ड १० सर्ग ३७८ पृष्ठ) यह स्वा० दयानन्दजीका वाक्य है। अब उनका अपनी लेखनीसे लिखा उक्त शब्द देखिये—'पुरुषके न्यायको सनातनधर्मके आश्रय करके किया करें' (पृ० १०२) 'सत्पुरुषोंका आचार जो सनातन अर्थात् वेदद्वारा परमेश्वर-प्रतिपादित कर्म ···इन्हींसे धर्माधर्मका निश्चय होता है' (सत्यार्थ० ३ समु० पृ० ३१) '·····धर्म जिसको सदासे सब मानते आये, मानते हैं, और मानेंगे भी, इसीलिए उसको सनातन-नित्य धर्म कहते हैं, (स० प्र० स्वमन्तव्यामन्तव्यके आरम्भमें ३८२ पृष्ठ) 'आर्योंका वेदोक्त सनातन-धर्म है' (स्वा० द० के 'भ्रान्तिनिवारण—(शताब्दी संस्करण ६०८ पृष्ठमें)। तब इस शब्दके वादिसम्मत होनेसे भी इसकी अर्वाचीनता कट गई।

'वैदिकधर्म' यह तो एकदेशी नाम है, जैसे-वैदिक-धर्म, श्रौत-धर्म, स्मार्त-धर्म; पौराणिक-धर्म इत्यादि। परन्तु सबकी समुच्चित संज्ञा तो 'सनातनधर्म' है। अथवा 'सनातनधर्म' यह 'वैदिक-धर्म' का पर्याय भी है, क्योंकि-'अग्नि-वायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्' (मनु० १।२३) इत्यादि पद्यमें 'सनातन' शब्दसे वेद भी स्मृत किये जाते हैं। तब सनातनधर्म वैदिकधर्म फलित हुआ। अथवा 'सनातनधर्म' यह याज्ञिकधर्मका भी पर्याय है 'यज्ञं चैव सनातनम्' (मनु० १।२२) यहाँ यज्ञकेलिए भी 'सनातन' शब्द आया है, और यज्ञ वेदका विषय है-यह हम वेदके स्वरूपमें दिखलाएँगे; तब भी वही अर्थ प्रतिफलित हुआ। 'आर्य-धर्म' यह तो व्यापक नाम नहीं; क्योंकि-आर्य अधिकसे अधिक द्विज होते हैं; शूद्र और अन्त्यज आर्य नहीं होते-यह भिन्न निबन्धमें बताया जायगा। 'आर्य-धर्म' शब्द स्थापनसे उसकी सार्वदेशिकता न रहेगी, परन्तु सनातनधर्ममें तो शूद्रवर्ण तथा चाण्डालादि-अवर्णोंके धर्मका वर्णन भी होता है, अतः वही व्यापक शब्द है।

(२) संसारके सम्पूर्ण धर्म (मत) सनातनधर्मकी ही शाखायें हैं; उसमें कई त्रुटित हैं. कई जीर्ण और कीटसे व्याप्त हैं और कई टूटी हुई हैं। आर्यसमाज नामक अर्वाचीनतम सम्प्रदाय भी इसी

सनातनधर्मकी अर्वाचीन शाखा है, परन्तु बहुत प्रकारकी त्रुटियोंसे युक्त है। अर्वाचीन होनेसे ही इसकी हरियाली देखकर लोग इसपर लट्टू हो जाते हैं। उस सम्प्रदायवाले हमें द्वेषवश ही 'पौराणिक' बुलाया करते हैं कि यह केवल पुराणोंको ही मानते हैं, पर ऐसा नहीं, सनातनधर्मी वेदमूलक होनेसे ही सभी बातोंको मानते हैं; उन्हींका यह कथन है—'श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते। तत्र श्रौतं प्रमाणं तु तयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा' (व्यासस्मृति १।४) (श्रुति, स्मृति और पुराणोंका जहां विरोध हो; वहां वेद ही अधिक प्रमाण है, स्मृति और पुराणोंके विरोधमें स्मृति अधिक मननीय है।) मनुस्मृतिका कथन है—'श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ। उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः' (२।१४) जहाँ वेदमें विरोध हो; वहाँ दोनों ही धर्म मननीय हैं।

वैदिक परस्पर-विरुद्ध दो बातोंके मननका रहस्य यह है कि—वेद है द्विजजनहितैषी। वह परस्पर-विरुद्ध उपायोंको भी कहता है। परन्तु वे दोनों ही हितजनक होते हैं, भिन्न-भिन्न अधिकारियोंमें उसकी चरितार्थता है। जैसे—विष दूर करनेके दो मार्ग हैं। एक मार्ग विषसे विरुद्ध पदार्थोंसे विषका नाश करना, दूसरा उपाय विषसे ही विषका दूर करना है। इस प्रकार गर्मीका दूर करना शीतल ओषधिसे भी हो जाता है, उष्ण ओषधिसे भी। यह दोनों ही उपाय परस्पर विरुद्ध होते हुए भी लोगोंका हित करते हैं; वैसे ही वेदमें परस्पर-विरुद्ध उपाय भी भिन्न देश-काल-पात्रमें अवलम्बनीय हैं।

(३) इस धर्मके सनातन (अत्यन्तप्राचीन) होनेसे ही इसका कर्ता नहीं कहा जा सकता। इस धर्मको भगवान् श्रीकृष्णने नहीं बनाया, किन्तु उनसे पूर्व भी यह था; श्रीकृष्ण-भगवान्‌ने तो इसकी रक्षा की थी, रचना नहीं। यह धर्म भगवान् राम वा अन्य अवतारों से भी नहीं चालू किया गया—उनसे पूर्व भी यह था। इस धर्मको मनु, व्यास, याज्ञवल्क्य आदिने भी नहीं बनाया, किन्तु ग्रन्थबद्ध किया; या इसकी व्याख्या की। वेदप्रकाशनसे भी यह प्राचीन है, क्योंकि वेदमें भी इसीका वर्णन है। जिस वस्तुका नियत स्वामी व्यक्तिविशेष न हो; उसका स्वामी राजा होता है। इस प्रकार सनातनधर्मका कोई भी स्वामी व्यक्तिविशेष नहीं; परमात्मा ही उसका स्वामी है—अतएव यह धर्म अपौरुषेय है। वह परमात्मा ही सनातन है, उसका यह धर्म है; इसीसे यह सनातन धर्म एवं अनादि धर्म है। अवतार तो इसके प्रवर्धक हैं, प्रवर्तक नहीं। सृष्टिका प्रारम्भ कर्ता ईश्वर है; उसीने आदिम ऋषि-सृष्टिको अपने धर्मकी शिक्षा दी, ईश्वरके सनातन एवं पुराण (पुराने) होनेसे उसका धर्म सनातनधर्म वा पुराणधर्म शब्दसे कहा गया। ईश्वरके निर्भ्रान्त होनेसे यह धर्म भी निर्भ्रान्त एवं आप्त सिद्ध है।

विश्वमात्रमें सर्वोपयोगी यदि कोई धर्म कहा जा सकता है, तो वह सनातनधर्म ही है, अन्य नहीं। अतः इसे 'विश्वधर्म' भी कहा जा सकता है। इसमें मनुष्यमात्र अपनी-अपनी जातिके अस्तित्वको रखता हुआ देशाचार एवं कुलाचारके साथ ही साथ अपने अस्तित्वको स्थापित कर सकता है। ब्राह्मणसे लेकर चाण्डाल तक,

उच्चसे अवर (निम्न) तक इस धर्ममें अपना निर्वाह कर सकते हैं। दूसरे मतोंमें तो अपने अस्तित्व एवं महत्त्वको च्युत करके ही जीवन-निर्वाह प्राप्त होता है। संसारमें अपना अस्तित्व स्थिर रखते हुए अपनी उन्नति करना ही वास्तविक अभ्युदय हुआ करता है। इससे विपरीत-अवनति ही हुआ करती है। मनुष्य अपना वास्तविक अभ्युदय सनातनधर्ममें रह कर ही कर सकता है।

सनातनधर्म वैसे वैद्यकी भांति नहीं है, जिसके पास केवल एक ही ओषधि है; अतएव अपूर्ण है। यह तो वैसे वैद्यकी भांति है, जिसके पास सभी तरहके रोगियोंकी सभी तरहकी ओषधियां हैं। ईसाई, मुसलमान एवं आर्यसमाजादिकी तरह इसमें एक ही प्रकारकी उपासनापद्धति नहीं है। यहां तो अधिकारियोंकी विविधतासे यथाधिकार व्यवस्था है। यहां दूसरेका अधिकार छीनकर दूसरेको नहीं दिया जाता; यहां तो प्रत्येक पुरुष अपनी-अपनी जातिमें अपने कर्तव्यको पूर्ण करता हुआ भगवान्‌की आज्ञाको पूर्ण करता है।

(४) वर्तमान धर्म (मत-मतान्तर) तो अपूर्ण एवम् अर्वाचीन हैं; उसका यही लक्षण है कि—उनके कर्ता स्मृत किये जाते हैं। उनके संवत् प्रसिद्ध ही हैं। इनमें कई १०० वर्षसे, कई १००० वर्षसे प्रचलित हुए। इनमें अधिक प्राचीन भी ५००० वर्षसे अधिक प्राचीन नहीं; परन्तु हमारा सनातनधर्म तो अत्यन्त प्राचीन है। हमने एक जैनीकी पुस्तकके मुखपृष्ठपर महावीरसंवत्सर लिखा देखा। उसके अङ्क तीन चार पंक्तियोंमें आये हुए थे। इसका

तात्पर्य उनका यह है कि—जैनधर्म अत्यन्त प्राचीन है, हो वह प्राचीन; पर सनातनधर्मकी तो संवत्सरसंख्या ही अनन्त है। इसके आरम्भकी वर्षसंख्याकी इयत्ता ही नहीं की जा सकती। बल्कि यहां यही कहना चाहिये कि—यहां संख्या भी समाप्त हो जाती है। इस विषयमें *'कल्प और सृष्टिसंवत्सर' देखिये।

(५) अन्य सम्प्रदाय—अर्वाचीन धर्मोंमें जैन, बौद्ध, नास्तिक आदि बहुतसे सम्प्रदाय प्रचलित हैं। उनमें जैन हमारे मूर्तिपूजा आदि सिद्धान्तोंके कुछ निकट हैं। हमारे समस्त साहित्यमें वेद-दर्शनादि जो साहित्य है, उसमें एक योगदर्शनके, उसके भी एक पाद (साधन) के, उसके भी एक सूत्र 'यमनियमासन' (२।२६) के प्रथम योगाङ्ग यम, उसके भी 'अहिंसासत्याऽस्तेय' (२।३०)इत्यादि भेदोंमें प्रथम अहिंसाको प्रधानतासे आश्रित करके यह जैनधर्म प्रवृत्त हुआ है; अतः हमारा एक-देश है। इसके प्रवर्तक श्रीमहावीर-स्वामी हैं। बौद्धोंके प्रवर्तक गौतम-बुद्ध हैं। नास्तिक मतका प्रवर्तक चार्वाक है। यह सभी भारतीय होते हुए भी बहुत अंशोंमें सनातनधर्मसे विरुद्ध हैं। इनके वर्ष भी नियत हैं—ये बहुत प्राचीन नहीं। इनमें जैन विक्रमाब्दसे ४०० वर्ष पूर्व और बौद्ध ६०० वर्ष पूर्व शुरू हुए। इस प्रकार अन्य हिन्दुसम्प्रदाय सनातन-धर्मके ही किसी एकदेशको मुख्यतासे आश्रित करके डेढ चावलकी अपनी अलग खिचड़ी पकाया करते हैं।

ईसाई-धर्म विक्रम संवत्‌की प्रथम शताब्दीमें प्रारम्भ हुआ है।

*इस विषयको देखनेकेलिए पञ्चम पुष्प मँगाइये। मूल्य ८॥)

उसे चलते हुए अब १६५८-५६ वर्ष हुए हैं। उसके प्रचालक श्रीईशु खिस्त हैं। उनके नामसे ही वह धर्म है; इसपर बौद्धधर्मकी छाप पड़ी है। फिर मुहम्मदधर्मका आरम्भ विक्रमी संवत्‌की छठी शताब्दीमें हुआ। इसे चालू हुए १३७८ वर्ष हो गये। श्रीमुहम्मद इसके प्रवर्तक हैं। फिर सिक्खधर्म जारी हुआ। उसके प्रचालक श्रीनानकजी हैं। इनका जन्म संवत् १५२६ विक्रमी, कार्तिकके अन्तमें और देहान्त सं० १५६६ में हुआ। उन्हें इनके अनुयायी 'गुरु' कहते थे; अपने आपको 'शिष्य' कहते थे। मूर्धन्य 'ष'का उच्चारण 'ख' और 'श'का उच्चारण 'स' प्रसिद्ध होनेसे 'शिष्य' से यह 'सिक्ख' कहे जाने लगे। यह श्रीनानकजी हरिहरके भक्त थे। वे विष्णुको 'श्रीवाहगुरु' कहते थे। 'श्रियं-लक्ष्मीं वहतीति श्रीवाहः, स चासौ गुरुश्च' यह उसका विग्रह था। पर वह उसे 'स्रीवाहेगुरु' कहने लगे। शिवको वे 'अकाल-पुरुष' कहते थे। ओङ्कारके प्रेमी भी थे। श्रीगोविन्दसिंह दुर्गा-भक्त थे। मुसलमानोंके साथ युद्धमें वे कई आवश्यक वस्तुएँ रखवाते थे; तब उनके शिष्योंने उन्हें साम्प्रदायिक रूप दे दिया। ये इनके मत-प्रवर्तक स्वयं वेद-पुराण आदिके भक्त, देवपूजक, मूर्तिपूजक एवं हमारे निकट थे, इसमें उनका 'ग्रन्थसाहिब' ही प्रमाण है। तब कालक्रमसे इनके अनुयायियोंमें साम्प्रदायिकतावाद निरूढ होगया; अपने प्रवर्तकोंके बनाये ग्रन्थको वे वेदकी भांति पूजने लगे। ग्रन्थके अतिरिक्त मूर्तिपूजा भी इन्होंने धीरे-धीरे ढीली कर दी।

फिर श्रीनानकजीके पुत्र श्रीचन्द्रजीने स्मृति-पुराणादिमें

कलियुगकेलिए संन्यासका निषेध देखकर उस आश्रमको प्रकारान्त से प्रचालित करनेकेलिए उसकी अपेक्षा बहुत सुविधाओंवाल उदासीन-सम्प्रदाय चलाया। इस सम्प्रदायवालोंने भी सनातनध की निकटता प्राप्त करके और संस्कृत-भाषा पढ़कर सनातनधर्म बहुत सेवा की। यह संन्यासाश्रमका देशकालानुकूल हुआ-हु नवीन संस्करण है। पर इसके अनुयायियोंका विश्वास है कि यह सृष्टिकी आदिसे है।

१४५६ विक्रमी संवत्‌में (ज्येष्ठशुक्ल १५ सोमवार) श्रीकबीर जन्म होनेसे कबीरधर्म और १६०१ वि० में दादूधर्म इत्यादि ब सम्प्रदाय चले। परन्तु इनकी व्यापकता न हुई। १८४७ वि० ब्राह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, देवसमाज आदि सुधारक सम्प्रद चालू हुए: परन्तु वेदसे सम्बन्ध न होनेसे ये व्यापक न हो स क्योंकि भारतका सदासे वेदसे अभिन्न सम्बन्ध रहता च आया है।

(६) आर्यसमाज।—तब इन्हीं सुधारक-समाजोंका अनुसरण क आर्यसमाज (दयानन्दमत) प्रचलित हुआ। इसके प्रवर्तक स दयानन्दजी जन्मसे (औदीच्य) ब्राह्मण कहे जाते हैं। सुना ज है कि यह कापड़ी ब्राह्मण थे—यह जियालाल जैनने अपने ग्रन्थ अनुसन्धान करके लिखा है, जिसका खण्डन आर्यसमाज नहीं सकी। इनका जन्म १८८१ विक्रमीमें और देहान्त १६४० में न चतुर्दशी (दीपावलीसे एक दिन पूर्व) की रात्रिको सुना जाता पर आर्यसमाज दीपावलीवाले दिन मानता है। इनके आज

तीन पिताओं (पितृनामों) का अनुसन्धान हुआ है। आजकल दयानन्दाब्द १३४ है। यह अब्द सनातनधर्मी दयानन्दका है; क्योंकि यह उनका जन्माब्द है। वे जन्मसे लेकर बहुत वर्षोंतक सनातन-धर्मी रहे। फिर सुधारकों-ब्राह्मसमाज आदिकी सङ्गति पाकर सं० १६३२ से काफी कुछ बदले। पहले इनका मरणाब्द लिखा जाता था; फिर उनकी जन्म-शताब्दी १६८१ में मथुरामें की गई। वहां बहुत वाद-विवादके उपरान्त उनका जन्माब्द ही लिखना निश्चित किया गया। इस प्रकार शताब्दी भी सनातनधर्मी दयानन्दकी ही हुई। आर्यसमाजकी शताब्दी सं० २०३२ में होगी। १८८१ में उनका जन्म हुआ। उन्हें १४ वर्षकी अवस्थामें मूषकसे मूर्तिपूजासे श्रद्धा हटा लेनेका ज्ञान हुआ, पर फिर भी वे बहुत समय शिवभक्त रहे; रुद्राक्षमाला धारण करते थे; माथेपर भस्मका तिलक लगाते थे। प्रायः शिवमन्दिरोंमें डेरा डालते थे। शैवोंकी ओरसे शास्त्रार्थ करते थे।

यह पहले तो सनातनधर्ममें सुधारमात्र चाहते थे; पर फिर प्राचीन सिद्धान्तोंमें क्रान्ति करने पर बहुतसी असंयत और सुविधाकी इच्छुक जनताको—जिस पर अंग्रेजी रंग चढ़ चुका था—अपने पक्षमें होती देख वे अपना पन्थ चलानेकी सोचने लगे। उन्होंने प्रायः अंग्रेजी-सिद्धान्तोंको हिन्दुस्तानी जामा पहराकर उन्हें वेदादिसे बलात् निकालनेका प्रयत्न किया। 'हमारे समाजकी भी ब्राह्मसमाज-देवसमाज आदिकी भांति अव्यापकता न होजावे'—यह सोचकर स्वा० दयानन्दजीने आडम्बर रूपसे वेदके साथ अपने पन्थका

सम्बन्ध कर दिया। अर्थमें स्वेच्छाचारिताको ही प्रधानता दी। अवशिष्ट सनातनधर्मके साहित्यकी उन्होंने वेदानुकूल होने पर ही मान्यता रखी; पर वेदानुकूलता अपने 'मनमानेपन'का नाम रखा। जिस ग्रन्थका जो अंश उन्होंने अपने अनुकूल समझा; उसे वेदा-नुकूल बता दिया; और अपने अनभीष्ट अंशको वेद-विरुद्ध घोषित कर दिया। वेदको भी कतरकर उन्होंने केवल चार पोथियोंमें बन्द कर दिया। उसमें भी केवल योगरूढिता वा यौगिकता मान-कर अपने मनमाने सिद्धान्तोंका उनसे निकालनेका असफल प्रयत्न किया। इसके फलस्वरूप वे तो जिस-किसी भी पुस्तकका अपने पक्षकी पुष्टिमें प्रमाण दे सकते थे, पर यदि सनातनधर्मी उसी पुस्तकका अपने पक्षकी पुष्टिमें प्रमाण दें; तो वे उसे झट वेदविरुद्ध कह देते थे। इस प्रकारके कूट-जालमें बहुतसे जिज्ञासुमृग आकर बंध गये। तब सं० १६३२में आर्यसमाज (दयानन्देच्छाधर्म) चालू हुआ। उससे पूर्व उसका नाम भी नहीं था। उस समय भी वे मृतक-श्राद्ध तथा अन्यान्य भी-मुक्तिसे न लौटना आदि सनातन-धर्मके सिद्धान्तोंको १८७५के 'सत्यार्थप्रकाश'में मान गये।

फिर स्वामीजी ईसाई आदियोंके प्रवाहको बहता हुआ देखकर स्वतन्त्र विचारवाले और प्राचीनतासे पराङ्मुख ईसायत-प्रेमी जनोंकी अपने समाजमें बहुतायत देखकर, उनको उसमें स्थिर करनेकेलिए वैसे पुरुषोंकेलिए असुविधाजनक सनातनधर्मके सिद्धान्तोंको अपनी वक्तृतामें अमान्य घोषित कर देते थे; और अपनी पुस्तकोंमें पहले लिखी हुई उन्हीं बातोंको मुद्रकों द्वारा प्रक्षित-

की हुई बताकर उन्होंने वर्तमान आर्यसमाज-सम्प्रदायका आधारस्तम्भ द्वितीय 'सत्यार्थप्रकाश' बनाया। उसका मुद्रण-प्रकाशन उनके मरनेके बाद हुआ—यह आर्यसमाजी भी मानते हैं; इसमें शताब्दी-संस्करणवाले स०प्र० की भूमिका तथा डा० रघुवीर-सम्पादित दयानन्दीय अष्टाध्यायीभाष्यभूमिका भी देखी जा सकती है। अतएव उनके अनुयायिओंने उसमें यत्र-तत्र पदों वा वाक्योंकी प्रक्षिप्तता भी कर दी। इसका सम्बन्ध भी चालाकीसे श्रीलेखरामजीने दयानन्द-जीवन-चरित्रमें जोड़ दिया; कई स्वा० द० के नामसे कल्पित पत्रोंसे भी। यह बात अवश्य मननीय है कि यदि स्वामीजीने अपना यह सम्प्रदाय न चलाया होता; तो इतनी उनकी जनश्रेणी आज 'ईसाई' होती; पर आज वह हिन्दु है; नाममात्रसे सही, पर वेदको मानती है और अन्य जनश्रेणीको भी ईसाई वा मुसलमानी सम्प्रदायसे यथाशक्ति बचाती है। इस अंशमें स्वा० दयानन्दजीका देशोपकार अवश्य मननीय है।

जो कुछ भी हो; स्वामीजीके अनुयायियोंने उनके जीवन-चरित्रोंमें कृत्रिम माहात्म्य डालकर उन्हें यत्र-तत्र विख्यात कर दिया। इससे उनकी दूकान चल निकली। विख्यात करनेके प्रकार भिन्न-भिन्नोंने भिन्न-भिन्न ढंगके अपनाये। लाहौरके डी० ए० वी० कालेजके हिन्दी-विभागाध्यक्ष श्रीसूर्यकान्त शास्त्री M. A. M. O. L. (वेदान्तरत्न, व्याकरणतीर्थ) ने 'हिन्दी साहित्यका विवेचनात्मक इतिहास' (प्रथमावृत्ति)में स्वा० दयानन्दजीको हिन्दी-भाषाके बीजारोपक सिद्ध करते हुए यह

लिखा—'ऋषिके प्रायः सभी ग्रन्थ हिन्दी-गद्यमें लिखे हैं। आपकी भाषा अत्यन्त ललित तथा मंजी-कसी होती है' यह लिखकर उनकी हिन्दी-भाषाका आदर्श 'साधनचन्द्रिका'के उपासना-विज्ञान-से दिखलाया—'श्रीभगवान् रसके सागर हैं' इत्यादि ६ पंक्तियाँ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाषा बड़ी सुन्दर है; पर वह आर्य-समाजके स्वा० दयानन्दजीकी नहीं, किन्तु भारतधर्म-महामण्डलके स्वा० दयानन्दजीकी है। यह कितना बड़ा साहस है? यही बात स्वामीके अनुयायियोंने स्वामीके चरितके पुस्तकोंमें कर डाली है, अर्थवाद भर दिये हैं।

अस्तु-जो कुछ भी हो। यह आर्यसमाज भी सनातनधर्मकी अन्य शाखाओंसे निकटकी तथा अत्यन्त-अर्वाचीन शाखा है। इसीलिए इसकी हरियालीको देखकर लोग इसपर अनुरक्त हो जाते हैं। यदि यह प्रक्षिप्ततारूप ब्रह्मास्त्रका आविष्कार, तथा ब्राह्मणोंको गालिप्रदान न करता; तो यह अवश्य सनातनधर्ममें विलीन हो जाता, परन्तु इस दोषसे उससे पृथक् होगया। 'अब तो यह स्वा० दयानन्दजीके सिद्धान्तोंसे भी क्रम-क्रमसे पश्चात्पद हो रहा है'—यह हम 'स्वा० दयानन्दजी और आर्यसमाज' इस निबन्धमें किसी पुष्पमें बताएंगे। सनातनधर्मसे तो दूर जा ही रहा है।

सनातनधर्म और आर्यसमाजमें तारतम्य।

(७) आर्यसमाज प्रायः 'एव' (ही) वादी है, और 'सनातनधर्म' है 'अपि' (भी) वादी। सनातनधर्मने जिस-जिस सिद्धान्तको 'भी'

शब्दसे दोनों प्रकारका माना; आर्यसमाजने 'ही' वादी बनकर उन दो सिद्धान्तोंमें एक सिद्धान्त अपना बना लिया। जैसेकि—

सनातनधर्म परमात्माको निराकार भी मानता है, साकार भी; पर आर्यसमाज उसे निराकार ही मानता है। स० ध० सन्ध्या-हवन भी करता है, मूर्तिपूजा भी; पर आ० स० केवल सन्ध्या-हवन ही करता है, मूर्तिपूजा नहीं। स०ध० कर्मकाण्ड-उपासनाकाण्ड तक मूर्तिपूजा मानता है, ज्ञानकाण्डमें उसे आवश्यक नहीं मानता; परन्तु आ० स० उसे सदा ही अनावश्यक मानता है। स० ध० प्रवृत्तिमार्ग भी चाहता है, निवृत्तिमार्ग भी, पर आ० स० प्रवृत्तिमार्गको ही। स० ध० जन्मना वर्ण-व्यवस्था मानता है और गुण कर्मसे सम्मान; पर आ० स० गुणकर्मानुसार ही वर्ण-व्यवस्था मानता है। स० ध० मन्त्र-भागको भी एवं ब्राह्मण-भागको भी वेद मानता है, पर आ० स० केवल मन्त्र-भागको ही। स० ध० मन्त्र-भाग में वर्तमान चार संहिताओंको भी वेद मानता है, शेष सभी मन्त्र-संहिताओंको भी; पर आ० स० केवल वर्तमान चार संहिताओंको ही वेद मानता है। स० ध० वेदों और तदनुकूल स्मृति, पुराण, इतिहासोंको भी प्रमाण मानता है; पर आ० स० केवल वेदोंको; उनमें भी अर्थ अपनी इच्छानुसार मानता है। स० ध० मृतक पितरोंका श्राद्ध भी करता है, जीवितोंकी सेवा भी; पर आ० स० जीवितोंका ही श्राद्ध चाहता है। स० ध० अपने किये हुए सुकर्मका फल अपनेको भी मानता है, पितर आदि दूसरेको भी; पर आ० स० केवल अपनेको ही। स० ध० परमात्माकी पूजा

भी चाहता है, देवताओंकी भी; पर आर्यसमाज परमात्माकी ही। स० ध० पारमार्थिकतामें अद्वैतवाद मानता है, और भक्तिवाद वा उपासनामें द्वैतवाद भी; पर आर्यसमाज केवल द्वैतवादको ही। स० ध० जीवात्माको पूर्वजन्म कर्मोंके अनुकूल कर्मोंमें परतन्त्र भी मानता है, शेष स्वतन्त्र, पर आ० स० तो केवल स्वतन्त्र। स० ध० चारों वर्णोंको स्पृश्य मानता है, अवर्णों-चाण्डालादिको अस्पृश्य; पर आ० स० सभीको स्पृश्य। स० ध० द्विजोंको यज्ञोपवीत देता है, स्त्री-शूद्रादिको नहीं; पर आ० स० तो सभीको ही देता है। स० ध० मङ्गलार्थ आदिमें 'ॐ' को भी रखता है 'श्रीः' को भी, पर आ० स० केवल 'ओ३म्'को। स० ध० ज्योतिषमें गणित-फलित दोनोंको मानता है पर आ० स० केवल गणितको ही। स० ध० पृथिवीको अधिकांशमें अचल मानता है, एकांशमें पृथिवीकी गति-को भी; पर आ० स० केवल पृथिवीका घूमना ही मानता है, स्थिरता नहीं। स० ध० कालमृत्युको भी मानता है, अकालमृत्युको भी, पर आ० स० कालमृत्युको ही। स० ध० पुनरावृत्ति-रूप स्वर्गको भी मानता है, अपुनरावृत्ति-रूप मुक्तिको भी; पर आ० स० पुनरावृत्तिको ही मानता है, और नाम उसका 'मुक्ति' रखता है, स्वर्ग नहीं। स० ध० अहिंसाको भी मानता है, राजादिकी मृगयामें तथा विशेष यज्ञोंमें पशवालम्भादिको भी मानता है, उसे भी कलिवर्जित; पर आ० स० अहिंसामात्र मानता है।

इस प्रकार अन्य सिद्धान्तोंमें भी समझ लेना चाहिये; पर अब आर्यसमाज कई सिद्धान्तोंमें अपने स्वामीसे भी दूर जा रहा

है। स्वा० द० विधवाविवाहको द्विजोंमें नहीं चाहते, किन्तु 'नियोग' चाहते हैं; पर आ० स० नियोग नहीं करता; पर विधवाविवाह करता है, इससे आ० स० स्वामीजीके अनुसार विधवाविवाहकर्ताओं को शूद्रसमाज बना रहा है। स्वामीजी सत्यार्थप्र० द्वितीय समुल्लास-के अनुसार द्विजोंकेलिए 'आचार्यकुल'में तथा शूद्र-अन्त्यजादिके लिए गुरुकुलोंमें अध्ययन बताते हैं; पर शूद्रोंसे सहानुभूतिकर्ता आर्यसमाजी सभीको गुरुकुलोंमें भेजते हैं, आचार्यकुल उन्होंने बनाये ही नहीं। स्वामी अन्त्यजोंकी अस्पृश्यता मानते थे; शूद्रोंको यज्ञोपवीत देना नहीं मानते थे, पर आ० स० इससे विपरीत दिशामें चल रहा है। स्वा० दयानन्द चाण्डालादियोंके हाथका भोजन करना नहीं मानते थे, पर आर्यसमाजी भङ्गीका भोजन प्रेमसे करते हैं। स्वामीजीने कन्याओंका यज्ञोपवीत किसी अपनी पुस्तकमें नहीं लिखा; पर आर्यसमाज उसीमें आग्रही है, कहीं-कहीं उनके लेख स० प्र०, वेदभाष्यादिमें इस विषयमें प्रक्षेप भी कर दिया गया है। अब आ० स० स्वा० द० की संस्कारविधिमें कई (स० ध० जैसी) विधियाँ दूर करना चाहता है और विवाहसंस्कार-का संक्षेप करना चाहता है। स० प्र० के दूसरे संस्करणसे आज-तकके संस्करणोंमें स्थान-स्थान पर संशोधन किया गया है; क्योंकि यह अपनी सुविधाओंको देखता है, और वेदादिका भी तदनुसार अर्थ करता है। आर्यसमाजका जन्म सनातनधर्मसे ही हुआ है। इसके प्रवर्तक स्वा० दयानन्दजी हैं; वे एक मूर्तिपूजक सनातनधर्मी के जिनका नाम पहले तो अम्बाशङ्कर पर अब करसनजी तिवारी

कहा जाता है—पुत्र थे। स्वा० द० से पूर्व यह ऐकदेशिक विचार नहीं थे, और न उन्होंने उन्हें माताके गर्भसे सीखा; किन्तु सनातनधर्मके शास्त्रोंको आपाततः पढ़कर उन्होंने कई स्वेच्छानुसारी सिद्धान्तोंका संग्रह करके उन पर वैदिकताकी मुहर लगाकर अपने इस सम्प्रदायको जारी किया।

आर्यसमाजकी सनातनधर्मसे पर्याप्त निकटता होनेपर भी उसका सनातनधर्मके साथ बहुत खिंचाव है; अतः अपने ग्रन्थमें हमने उस मतकी जहाँ-तहाँ आलोचना भी दी है। दूसरे मतवादी सनातनधर्मसे सर्वथा दूर हैं; अतः उनसे सर्वथा सम्बन्ध न होनेसे उनकी आलोचना हमने व्यर्थ समझी है।

(८) फिर आर्यसमाजके बाद उससे ही एक वर्ग 'सुधारक' नाम वाला प्रकट हुआ। आर्यसमाजमें जो सनातनधर्मके शिखा, यज्ञोपवीतादि नियम थे, सुधारकने उसमें असभ्यता समझी—अतः उनका पहिनना भी बन्द कर दिया। यह वर्ग स्वा० द० का नाम रखकर काम उनसे विरुद्ध करता है। यह अपने वेदसे न सम्बन्धित भी कर्मोंको वैदिक कहता है। अब प्राचीन-आर्यसमाजका प्रायः विलय होगया है। उसमें अब सुधारकोंका ही बाहुल्य है।

इस प्रकार अन्यान्य भी बहुतसे सम्प्रदाय वा मतवाद हुए-जो सनातनधर्मियोंके आलस्य वा उपेक्षा वा भूलोंसे बने हैं। कई तो सनातनधर्मके सिद्धान्तोंमें कठिनता देखकर उसके एक सिद्धान्तको प्रधानतासे अवलम्बन करके चालू हुए। उन मतोंके सभी सिद्धान्तों-को जांचें; तो उनमें सनातनधर्मके सिद्धान्तका मूल अवश्य प्राप्त

होगा। सनातनधर्मने वेद, स्मृति, पुराण-इतिहास आदि सभीको अपने-अपने विषयमें अधिक प्रमाण माना; उनमें आर्यसमाजने नाममात्र वेदको ही प्रधान रख लिया। और स० ध० के दो-दो सिद्धान्तोंमें एक-एक ले लिया, जैसेकि-पूर्व बताया जा चुका है। इस प्रकार जैनोंने सनातनधर्मकी मूर्तिपूजा प्रधानतासे स्वीकृत कर ली। पर अपनी भिन्नताके लिए प्रकार-भेद तो करना ही था। इस प्रकार बौद्ध-जैनोंने स० ध० की सिद्धान्तित अहिंसाको ही प्रधानतासे अवलम्बित कर लिया। स० ध० में रजोगुणी-एवं तमोगुणी व्यक्तियोंकेलिए हिंसा भी यज्ञ-विशेषोंमें नियमित की गई थी, मुसलमानोंने प्रकारान्तरसे उसीकी प्रधानता बना ली। सनातन-धर्ममें पञ्चशिखाका धारण भी आता है; फिर चूड़ाकरणके अवसर पर कई सभी शिखाओंको मूंड देते हैं, कई मुख्य शिखाको रखते हैं, मुसलमान भी कई शिखाओंको पहले रखते हैं; फिर उन्हें कटवा देते हैं। हिन्दुओंसे उन्होंने अल्ला (आदिशक्ति अम्बादेवी) की पूजा सीखी। इस प्रकार ईसाइयोंने सनातनधर्मका अवतारवाद माना, गिरिजा (देवी) घर उपासनाकेलिए बनाए। सिक्खोंने स० ध० से ग्रन्थपूजा सीखी। इस प्रकार दूसरे मतोंमें भी देख लेना चाहिये।

कइयोंने स० ध० में बहुत कठिनता तथा बहुत संयमका सिद्धान्त देखकर अपने सुविधानुसारी सम्प्रदायोंको चलाया। जिन्हें सुविधाका चस्का लग गया है—उनके आगे भी अवान्तर-सम्प्रदाय चलेंगे। सुविधार्थ ही बने हुए आर्यसमाजमें बहुतसे दल

बने; अब मुख्यतः घासपार्टी (गुरुकुलपार्टी) और मांसपार्टी (कालेज पार्टी) अवशिष्ट हैं। सनातनधर्म सभीसे प्राचीन है; यह सभी धर्मोंका पिता है; इसके सिद्धान्त स्थिर हैं; देशकालके अनुसार शीघ्र नहीं बदलते। यह देखकर कई क्रान्तिके प्रेमी इससे उदास हो जाते हैं। इसका साहित्य सुदृढ है। उसके सिद्धान्त इस स्वैराचारके युगमें भी यत्र-तत्र फैले हुए ही हैं। यदि सनातनधर्मी अपने साहित्यको देखनेमें लगे रहें; और अपनी लेखशक्ति तथा वाक्शक्ति बढ़ा लें; तब उनका प्रतियोगी कोई सम्प्रदाय नहीं रह सकता।

इसी सनातनधर्मने प्राचीनकालमें नास्तिक, बौद्ध, जैन आदि सम्प्रदायोंके साथ शास्त्रार्थ करके उन्हें प्रायः समाप्त कर दिया; उनका प्रभाव भारतसे हटा दिया। यह अभी भी स्थिर है, आगे भी रहेगा। इस सनातनधर्ममें अब भी इतने विद्वान् हैं, जो भिन्न सम्प्रदायवाले विद्वानोंको वर्षों पढ़ा सकें। इसकी जन-संख्या अब भी इतनी है कि उसमें सारे भिन्न सम्प्रदाय अपना ट्रेडमार्क पहिरकर भी इस प्रकार छिप जावें कि बहुत ढूँढनेसे भी न मिलें। इसमें अब भी इतनी धनराशि है, जिससे भिन्न सम्प्रदायवाले अपने कपड़े, गहने, घरों आदिके साथ खरीद लिये जावें। यह धर्म गम्भीर है, वृद्ध होनेसे चञ्चल नहीं है।

कई अर्वाचीन धर्माभास आधे घड़ेकी तरह यद्यपि खूब छलकने वा चिल्लानेवाले युवा एवं चञ्चल हैं, उनमें कार्यस्फूर्ति तथा शोर मचाना भी दीखता है; तथापि उनमें परिणामके चिन्तनकी शक्ति वा दूरदर्शिता नहीं। इसीके फलस्वरूप वे जिस-किसी आन्दोलनको

प्रारम्भ करते हुए भी उसका परिणाम विषैला देखकर उसमें परिवर्तन करनेमें बाध्य हो जाते हैं और नया आन्दोलन शुरू कर देते हैं। उन्होंने शीघ्रतामें मोटरकी गति स्वीकार कर रखी है, पीछे देखना उनका काम नहीं; वे दूसरों पर धूल डालते जाते हैं; पर उस मोटरको शीघ्र चलनेवाला तथा सुन्दर देखकर जनता उस पर लट्टू होकर उसके पीछे दौड़ पड़ती है—अपने पर मट्टी पड़ती हुई भी नहीं देखती। पीछे जब वह मोटर उनसे परे भाग जाता है; तब तदनुगामी जनता अपनेपर गन्दा धुआं वा मट्टी पड़ी देखकर लज्जित हुई-हुई उस मोटरके चालकको गालियां देती है, फिर उस पुराने रास्ते पर चलनेको बाध्य होती है। इसमें सनातनधर्मकी गम्भीरता तथा दूरदर्शिता ही कारण है।

(६) सनातनधर्म यद्यपि मँहगा धर्म है, दूसरे धर्माभास सस्ते हैं; तथापि "मँहगा रोवे एकबार, सस्ता रोवे बार-बार" यह लोकोक्ति भी ठीक घटती है। पुराने पुरुष जलकेलिए कुआं खुदवाते थे—वह मँहगा पड़ता था; पर वह सदाकेलिए स्थिर हो जाता था; परन्तु आजकलके थोड़े खर्चवाले 'हैंड-पम्प' (नल) जड़ते हैं; उनका फल भी वैसा होता है। उनको बार-बार सुधरवाना पड़ता है फिर भी जल्दी टूट जाते हैं; अन्तमें उन्हें छोड़ ही देना पड़ता है। अथवा वाटरवर्क्सवाले नल आते हैं; वे भी समय-समयपर धोखा देते हैं, और मैलवाला जल पिला दिया करते हैं। यह बात अर्वाचीन धर्मोंमें स्वयं घटा लेनी चाहिये।

अर्वाचीन मतोंमें यह भी एक दुर्बलता है कि वे दूसरे धर्मोंकी

केवल निन्दा ही करते हैं, उनका खण्डनमात्र ही करते रहते हैं, उनके पास मण्डनकी सामग्री बहुत कम होती है। वे भिन्न-मतावलम्बियोंको अपने मतोंसे च्युत करनेमें भांति-भांतिके उपायोंसे चेष्टा करते हैं; परन्तु सनातनधर्म ऐसा नहीं। वह नवयुवककी भांति क्रोधी नहीं, चञ्चल वा अधीर नहीं; बल्कि वह शान्तिप्रिय तथा स्थिर-कार्यवाला, सबकी अस्थि-मज्जामें पहुँचा हुआ है। इसमें अन्य सम्प्रदायोंकी भांति छलका बल नहीं; किन्तु सत्यका बल है। मतमतान्तरोंमें ग्रन्थोंके अर्थोंमें ब्लैकमार्कीटिङ्ग की जाती है, इसमें ऐसा नहीं। मतमतान्तरोंमें सभी प्रकारके पुरुषोंकेलिए एक प्रकारकी ही साधना-सरणि बताई जाती है। चाहे कई मूर्ख हों वा बुद्धिमान्; संन्यासी हों वा गृहस्थी; धनी हों वा दरिद्र; ब्राह्मण हो वा शूद्र; उन सबको एक ही साधन-सोपानपर चढ़ना पड़ता है; परन्तु सनातनधर्ममें अपूर्णता नहीं है। इस अपौरुषेय धर्ममें अधिकारिभेदसे बहुतसे साधनभेद बताये जाते हैं। विविध श्रेणीके मानव अपनी योग्यताके अनुरूप साधनको अपनाकर अपना उपकार कर सकते हैं। यह धर्म भिन्न-भिन्न अधिकारियोंको समान ही मार्गमें चलनेको बाध्य नहीं करता। इसलिए इसकी शाखाएँ पाताल तक पहुंची हुई हैं। इसी गहराईसे हटकर दूसरे-दूसरे मत-मतान्तर इसके ज्ञानमें कठिनता समझकर नूतनताको अपनाते हैं, अतः उनका मूल स्थिर नहीं होता।

यह सनातनधर्म अनादि है, अनन्त है, ईश्वरीय है, सर्वदा एकरस है, प्राणिमात्रका कल्याणकारी है। इसका साहित्य अपरि-

मित है, संसारमें व्यापक है। देवता भी इसका उल्लंघन नहीं करते। इसमें भीषण हानि आई हुई देखकर भगवान् भी उसके रक्षणार्थ अवतार लेता है। धृति, क्षमा आदि सामान्यधर्म होते हैं; वे तो भिन्न सम्प्रदायोंमें भी मिल सकते हैं; पर 'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्' (मनु० २।१२) यह वेद, स्मृति, पुराण, इतिहास आदिमें कहे हुए विशेष धर्म इसमें मुख्य हैं।

(१०) इस धर्ममें परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि—'धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः। यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।' (महाभारत) प्रजाको धारण करनेसे 'धर्म' यह नाम होता है। यदि इस धर्ममें परिवर्तन होजाए; तो धर्मीका स्वरूप परिवर्तित होजाए। अग्निका धर्म है उष्णता; तब उष्णतामें परिवर्तन हो जानेपर अग्नि नहीं रहती, भस्म हो जाती है; यह हम गत निबन्धमें संकेत दे चुके हैं, अतः इस धर्ममें परिवर्तन नहीं होता। यह सनातन है। हाँ, अग्निकी प्राप्तिकी प्रक्रियामें परिवर्तन हो—यह स्वाभाविक है। कभी अरणि-मन्थनसे, कभी पत्थरोंके संघट्टनसे, कभी दियासलाईसे, कभी बिजुलीके रूपसे अग्नि प्राप्त की जाती है। इसप्रकार प्राप्तिकी प्रक्रियाके परिवर्तन करने पर भी वह अग्नि सृष्टिसे आज तक उष्ण ही रही और रहेगी भी। प्राचीन अग्निकी प्राप्तिकी प्रक्रियामें यद्यपि परिश्रम होता था; तथापि उसमें स्वराज्य था, स्वतन्त्रता थी। अर्वाचीन प्रक्रियाओंमें यद्यपि परिश्रम कम पड़ता है, तथापि परतन्त्रता रहती है। बिजलीके इञ्जनमें

थोड़ी त्रुटि आनेपर दीपमालावाली रात्रिमें भी अन्धकार छा सकता है। सनातनधर्म ईश्वरीय धर्म है, उसमें परिवर्तन तब हो सकता है, जब उसके प्रवर्तक ईश्वरमें परिवर्तन हो। पर जब ईश्वर अपरिणामी है; तब उसके धर्ममें भी विपरिणाम कब हो सकता है? इसके सिद्धान्त तथा आचार-विचारोंकी विज्ञान-सिद्धता इस युगमें भी प्रमाणित हो चुकी है—यह हम* पञ्चम पुष्पमें विवृत कर चुके हैं। निष्कर्ष यह है कि यह अमर-धर्म है।

इस धर्मकी महत्ता बतानेकेलिए न हमारे पास समय है, न सुविधा; अतः हम यहीं रुकते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि—हमारे धर्मका नाम 'सनातनधर्म' भी सनातन ही है। इसीके ही 'ॐ, गुरुकुल, मन्दिर, बलिदान, पण्डित आदि शब्द दूसरे समाज भी प्रयुक्त करते हैं। इसकी आरती 'जय जगदीश हरे' भी दूसरोंने स्वीकार कर रखी है; इस प्रकारके सनातनधर्मका हमें अवश्य भक्त बनना चाहिये; उसके विद्रोहियोंके मुख-मुद्रणकेलिए हमें यत्न करना चाहिए। इसकी सेवासे ही वह सनातन, पुराण-पुरुष भगवान् सन्तुष्ट होगा। आधुनिक धर्माभास तो प्रायः छल-बलसे मलिन हैं; उनमें जाना धर्मविरुद्ध ही है। इसके पूर्ण-विद्वान् दूसरे धर्मोंमें नहीं जाते, उधरसे इधर तो आते हैं—अतः इसमें कुछ 'अतिशय' सिद्ध होता है। जो दूसरे धर्मोंमें जाते भी हैं, वह उनकी चतुरता तथा छलके पाशमें बँधकर ही। कुछ उनमें संस्कृत-भाषासे अनभिज्ञता भी कारण होती है। हम उनके उन छलोंका रहस्य आगेके

* इस पुष्पकी पृष्ठसंख्या १३६ है। मूल्य ≡॥)। डाकव्यय पृथक्।

पुष्पोंमें खोलेंगे। 'हिन्दुधर्म' इसी सनातनधर्मका ही नाम है। 'हिन्दु' शब्दकी वैदिकता एवं प्राचीनताकेलिए पाठकगण 'श्री-सनातनधर्मालोक' चतुर्थ पुष्प मँगावें। 'हिन्दुधर्मके आधारभूतशास्त्र' बतलाकर आगे वेदस्वरूपका निरूपण किया जावेगा।

(४) सनातन-हिन्दुधर्म के आधारभूत शास्त्र

सनातन-हिन्दुधर्म सृष्टिके आदिसे आया हुआ भूमण्डलमें विख्यात धर्म है। इसे हम गत निबन्धमें दर्शा चुके हैं। इसके आधारभूत शास्त्रोंका जानना आवश्यक है। यहां संक्षेपसे इसपर कुछ निरूपण किया जाता है।

हिन्दुधर्मका मूलस्रोत-वेद

हिन्दुधर्मका मूलस्रोत वेद है, उसके बाद उपवेद, फिर वेदके अङ्ग तथा उपाङ्ग। इनमें वेदके दो भाग हैं—एक मन्त्रभाग, दूसरा ब्राह्मणभाग। मन्त्रभाग में संहिताएँ होती हैं और ब्राह्मण-भागमें ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक तथा उपनिषदें।

मन्त्रभागात्मक वेदके चार भेद हैं—१ ऋक्, २ यजुः, ३ साम और ४ अथर्व। इन चारोंकी संहिताएँ ११३१ होती हैं। इनमें ऋग्वेदकी २१ संहिताएँ होती हैं, जिनमें आजकल 'वाष्कल' और 'शाकल' ये दो संहिताएँ मिलती हैं। वाष्कल में अष्टक, अध्यायादि क्रम है और शाकलमें मण्डल, अनुवाक आदि। शेष संहिताएँ लुप्त हैं। यजुर्वेदकी १०१ संहिताएँ हैं। यजुर्वेदके दो भेद माने जाते हैं—१ शुक्ल और २रा कृष्ण। इनमें शुक्ल यजुर्वेदकी १५ संहिताएँ हैं, उनमें केवल दो संहिताएँ मिलती हैं—१ वाजसनेयी,

और २री काण्व। शेष लुप्त हैं। कृष्ण-यजुर्वेदकी ८६ संहिताएँ होतीं हैं, इनमें चार मिली हैं—१ तैत्तिरीय संहिता, २ मैत्रायणी ३ काठक और ४थी कठकपिष्ठल। शेष लुप्त हैं। सामवेदकी १००० संहिताएँ हैं। उनमें आजकल दो मिली हैं—१ कौथुम और २री जैमिनि। कुछ भाग राणायनीय-संहिताका भी मिलता है। अथर्ववेदकी ६ संहिताएँ हैं। इनमें आजतक दो मिली हैं—१ शौनक तथा २री पैप्पलाद। यह सब मन्त्रभाग है।

मन्त्रभागकी जितनी संहिताएँ होती हैं, ब्राह्मणभाग भी उतना ही होता है क्योंकि शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध हुआ करता है। अतः आरण्यक और उपनिषदें भी उतनी ही होती हैं। श्रौतसूत्र भी उतने ही तथा गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और प्रातिशाख्य भी उतने ही होते हैं। ब्राह्मणभागमें ऋग्वेदके 'ऐतरेय' और 'कौशीतकि' यह दो ब्राह्मण मिलते हैं। 'ऐतरेयोपनिषद्' आदि १० उपनिषदें मिलती हैं। इनमें यह गवेषणीय है कि किस संहिताका कौनसा ब्राह्मण है। 'ऐतरेय' और 'कौशीतक' दो आरण्यक मिलते हैं। 'आश्वलायन' और 'शाङ्खायन' यह दो श्रौतसूत्र तथा इसी नामके दो गृह्यसूत्र हैं। इसका ऋक्प्रातिशाख्य भी होता है।

यजुर्वेदमें शुक्ल यजुर्वेदके माध्यन्दिन 'शतपथ-ब्राह्मण' और 'काण्व-शतपथ' यह दो ब्राह्मण मिलते हैं। 'काण्वसंहिता' का 'बृहदारण्यक' यह आरण्यक मिलता है। 'कात्यायन' नामक श्रौतसूत्र और 'पारस्कर-गृह्यसूत्र' मिलता है। 'गौतम-धर्मसूत्र' मिलता है। शुक्लयजुःप्रातिशाख्य तथा ईश, बृहदारण्यक, जाबाल,

मुक्तिका आदि उपनिषदें मिलती हैं।

कृष्णयजुर्वेदका 'तैत्तिरीय' ब्राह्मण तथा आरण्यक मिलता है। 'सत्याषाढ', 'हिरण्यकेशी', 'बौधायन' आदि सात श्रौतसूत्र तथा 'आपस्तम्ब', 'मानव' आदि सात गृह्यसूत्र और 'बोधायन', 'आपस्तम्ब' यह दो 'धर्मसूत्र' मिलते हैं। 'मनुस्मृति' धर्मशास्त्र मिलता है और 'तैत्तिरीय प्रातिशाख्य' भी। 'कठ', 'तैत्तिरीय', 'श्वेताश्वतर', आदि ३२ उपनिषदें मिलती हैं।

सामवेदके 'ताण्ड्य', 'षड्विंश', मन्त्र-ब्राह्मण' आदि ६ ब्राह्मण हैं। आरण्यक पृथक् नहीं मिलता। 'केनोपनिषद्' 'छान्दोग्य' आदि १६ उपनिषदें होती हैं। 'द्राह्यायण', 'लाट्यायन', 'मशकसूत्र' आदि ३ श्रौतसूत्र तथा 'गोभिल', 'खादिर', 'जैमिनीय' यह ३ गृह्यसूत्र हैं। धर्मसूत्र नहीं मिलते। 'सामप्रातिशाख्य' मिलता है।

अथर्ववेदका 'गोपथ' ब्राह्मण मिलता है। यह 'पैप्पलादसंहिता' का है। अन्य लुप्त हैं। आरण्यक नहीं मिलता। 'प्रश्न', 'मुण्डक', 'माण्डूक्य' आदि ३१ उपनिषदें हैं। 'वैखानस' एवं 'वाराह' गृह्यसूत्र मिलते हैं। धर्मसूत्र नहीं मिलता। 'अथर्वप्रातिशाख्य' मिलता है।

उपवेद और अङ्ग

जैसे वेद चार प्रकारका होता है, वैसे उपवेद भी—१ आयुर्वेद, २ धनुर्वेद, ३ गान्धर्ववेद और ४ अर्थवेद। 'आयुर्वेद' का सम्बन्ध अथर्ववेदसे, 'धनुर्वेद'का यजुर्वेदसे, 'गान्धर्ववेद'का सामवेदसे और 'अर्थवेद'का ऋग्वेदसे सम्बन्ध होता है। आयुर्वेदादिकी

भी फिर बहुत सी संहिताएँ होती हैं, जैसे सुश्रुत चरक, भेल, काश्यप आदि।

वेदके अङ्ग छः होते हैं—१ शिक्षा, २ कल्प, ३ व्याकरण, ४ निरुक्त, ५ छन्द और ६ ज्यौतिष। इनमें ऋग्वेदकी पाणिनिशिक्षा, कृष्णयजुर्वेदकी व्यासशिक्षा, शुक्लयजुर्वेदकी याज्ञवल्क्य आदि २५ शिक्षाएँ हैं। सामवेदकी १ गौतमी, २ लोमशी और ३ नारदी शिक्षाएँ हैं। अथर्ववेदकी माण्डूकी शिक्षा है। गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र आदि कल्प होते हैं। उनका निरूपण पहले हो चुका है। पृथक् भी कल्प मिलते हैं—१ नक्षत्रकल्प, २ संहिताकल्प, ३ आङ्गिरसकल्प, ४ शान्तिकल्प, ५ वैतानकल्प आदि। कल्पमें वेदमन्त्रोंका विनियोग मिलता है।

व्याकरण तथा प्रातिशाख्य भिन्न-भिन्न वेदोंके भिन्न-भिन्न हुआ करते थे। पाणिनिका व्याकरण यजुर्वेदसे सम्बद्ध प्रतीत होता है। इस प्रकार शाकल्य आदिके भी बहुतसे व्याकरण थे। इसी प्रकार निरुक्त भी भिन्न-भिन्न संहिताओंके भिन्न-भिन्न थे। यास्कका निरुक्त ऋग्वेदकी वर्तमानमें प्रचलित शाकलसंहिताका नहीं, किन्तु किसी अन्य संहिताका है क्योंकि निरुक्तमें व्याख्यात ऋक्मन्त्रोंका वर्तमान ऋग्वेदसंहितासे पूरा मेल नहीं दीखता। शाकपूणि आदिके भी निरुक्त थे, जिनका नाम इस निरुक्तमें आता है।

छन्दः-शास्त्र भी भिन्न-भिन्न वेदोंके भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, पिङ्गलादिमुनिप्रणीत छन्दोग्रन्थ कुछ मिलते भी हैं। 'उपनिदानसूत्र'

नामक सामवेदका छन्दोग्रन्थ उपलब्ध है। ज्यौतिषके भी भृगुसंहिता, बृहत्संहिता, सूर्यसिद्धान्त, सिद्धान्तशिरोमणि आदि मिलते हैं, पर इनमें किसका किस वेदसंहितासे सम्बन्ध है, यह पता नहीं लगता। यह वेदके अङ्ग हैं।

वेदके उपाङ्ग चार हैं—(१) पुराण, (२) न्याय, (३) मीमांसा और (४) धर्मशास्त्र। पुराण से पुराण, उपपुराण, औपपुराण, तन्त्रशास्त्र, रामायण एवं महाभारत यह इतिहास गृहीत होते हैं। न्याय शब्दसे न्याय, वैशेषिक, साङ्ख्य, योग, ये दर्शन गृहीत होते हैं। मीमांसासे पूर्वमीमांसा (मीमांसादर्शन, उसमें भी कर्ममीमांसा तथा दैवतमीमांसा) और उत्तरमीमांसा (वेदान्तदर्शन) यह न्याय आदि छः दर्शन गृहीत होते हैं। धर्मशास्त्रसे धर्मसूत्र तथा स्मृतियां गृहीत होती हैं।

इनमें प्रथम उपाङ्ग पुराण १८ होते हैं— (१) ब्रह्म, (२) पद्म, (३) विष्णु, (४) शिव या वायु, (५) लिङ्ग, (६) गरुड, (७) नारद, (८) भागवत, (९) अग्नि, (१०) स्कन्द, (११) भविष्य, (१२) ब्रह्मवैवर्त, (१३) मार्कण्डेय, (१४) वामन, (१५) वाराह, (१६ मत्स्य, (१७) कूर्म और (१८) ब्रह्माण्ड। वेदके उपाङ्ग पुराणोंमें वेदके कठिन विषय (१) समाधिभाषा, (२) परकीया वा (३) लौकिकी भाषा एवं गाथा आदिसे बहुत सरल कर दिये गये हैं। पुराण-ज्ञान अनादि है, श्रीवेदव्यास उनके सम्पादक वा परिष्कारक हैं। रचना उनकी पौरुषेय है। पुराणोंमें वेद 'गागर में सागर' की तरह समाये हुए हैं, इनमें वेदका सम्पूर्ण तत्त्व आ गया है।

उपपुराण भी १८ होते हैं—(१) आदि-पुराण, (२) नरसिंह-पुराण, (३) स्कन्दपुराण, (४) शिवधर्मपुराण, (५) दुर्वासःपुराण, (६) नारदीय-पुराण, (७) कपिलपुराण, (८) वामनपुराण, (९) महेश्वरपुराण, (१०) औशनसपुराण, (११) ब्रह्माण्डपुराण, (१२) वरुणपुराण, (१३) कालिकापुराण, (१४) साम्बपुराण, (१५) सौरपुराण, (१६) पाराशरपुराण, (१७) मारीचपुराण और (१८) भास्करपुराण।

औपपुराण भी १८ होते हैं—(१) सनत्कुमारपुराण, (२) बृहन्नारदीयपुराण, (३) आदित्यपुराण, (४) मानवपुराण (५) नन्दिकेश्वरपुराण, (६) कौर्म, (७) भागवत, (८) वसिष्ठ, (९) भार्गव, (१०) मुद्गल, (११) कल्किपुराण (१२) देवीपुराण, (१३) महाभागवत, (१४) बृहद्धर्म, (१५) परानन्द, (१६) पशुपति, (१७) वह्नि तथा (१८) हरिवंशपुराण।

पुराणोंमें तन्त्रग्रन्थोंका भी समावेश हो जाता है। तन्त्रशास्त्रमें भी वेदोंके विषय विभिन्न अधिकारियोंके लिए बतलाये गये हैं। इनमें आचार, उपासना, ज्ञान, मन्त्र, हठ, लय आदि योग, आयुर्वेदके वाजीकरण आदिके गुप्त योग, भूतविद्या, रसायन आदि सभी विद्याएं और ज्यौतिषके रहस्य स्पष्ट किये गये हैं। तन्त्रोंके परोक्षरूपसे कहे गये कई तत्त्व अतिशयित गूढ हैं। उनकी परिभाषाओंके ज्ञानके बिना वे अश्लील प्रतीत होते हैं, परन्तु उनकी परिभाषाएं मेरुतन्त्र, महानिर्वाणतन्त्र, आगमसार, हठयोग-प्रदीपिका आदिसे जाने बिना वे अश्लील प्रतीत होते हैं।

किन्तु उनकी परिभाषा जानने पर अत्यन्त आनन्द आता है। दत्तात्रेय, कुलार्णव, कालीतन्त्र आदि बहुतसे तन्त्रग्रन्थ होते हैं।

वेदके उपाङ्गोंमें दूसरा भाग इतिहास है। इनमें मुख्यतः रामायण, महाभारत लिये जाते हैं। इनमें 'रामायण' आदिकवि श्रीवाल्मीकिकी आदिम मधुर रचना है, इसमें श्रीरामावतारका विवरण है। इसकी पद्यसंख्या २४ हजार है। दूसरा है 'महाभारत', यह एक लाख पद्योंका है। इसमें १८ पर्व हैं। इसमें हिन्दुधर्मके सभी विषय इतिहास द्वारा व्याख्यात कर दिये गये हैं।

वेदका तीसरा उपाङ्ग न्याय-मीमांसा होता है। इसमें ६ दर्शन आ जाते हैं यह हम पहले बतला चुके हैं। इनमें १ सांख्यदर्शन श्रीकपिल-मुनिसे प्रणीत है। इसमें प्रकृति-पुरुषका वर्णन है। इस पर विज्ञानभिक्षुका भाष्य है। २ योगदर्शन—इसके कर्ता श्रीपतञ्जलिमुनि हैं। इस पर व्यासभाष्य है। इसमें योगकी ग्रन्थियाँ सुलझायी गयी हैं। ३ वैशेषिकदर्शन—इसके प्रणेता श्रीकणादमुनि हैं; प्रशस्तपादका भाष्य है। इसमें संसारको छः भागोंमें विभक्त करके उसका विवरण किया गया है। ४ न्यायदर्शन—इसमें १६ पदार्थोंका तत्त्वज्ञान विषय है। श्रीगौतम मुनि प्रणेता हैं। श्रीवात्स्यायन मुनिका इस पर भाष्य है। ५ मीमांसादर्शनके श्रीजैमिनिजी कर्ता हैं; वैदिक-कर्मकाण्डकी मीमांसा इसका विषय है। भाष्य इस पर श्रीशबराचार्यका है। ६ वेदान्तदर्शन—इसके कर्ता श्रीवेदव्यास हैं। इसमें जीव-ब्रह्मकी अद्वैतता पर विचार किया गया है। इस पर श्रीशङ्कराचार्य स्वामी, श्रीरामानुजा-

चार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदिके भाष्य मिलते हैं।

अन्तिम वेदका उपाङ्ग है धर्मशास्त्र। इसमें धर्मसूत्र तथा स्मृतियाँ अन्तर्भूत होती हैं। इनमें १ गौतम, २ वसिष्ठ, ३ आपस्तम्ब, ४ बोधायन आदि धर्मसूत्र मिलते हैं। स्मृतियाँ भी बहुत होती हैं, जितनी वेदसंहिताएँ हैं, उतने ही श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र तथा स्मृतियाँ होती हैं। धर्मके सूत्रण (संक्षेप) का नाम धर्मसूत्र है, वेदार्थके स्मरणका नाम स्मृति होता है। इनमें १ मनुस्मृति, २ वृद्धमनु, ३ अङ्गिरःस्मृति, ४ अत्रि, ५ आपस्तम्ब, ६ औशनस, ७ कात्यायन, ८ गोभिल (प्रजापति), ९ यम, १० बृहद्यम, ११ लघुविष्णु, १२ बृहद्विष्णु, १३ नारद, १४ शातातप, १५ हारीत, १६ वृद्धहारीत, १७ लघु-आश्वलायन, १८ शंख, १९ लिखित, २० शंख-लिखित, २१ याज्ञवल्क्य, २२ व्यास, २३ संवर्त, २४ अत्रिसंहिता, २५ दक्षस्मृति, २६ देवल, २७ बृहस्पति, २८ पराशर, २९ बृहत्पराशर, ३० कश्यपस्मृति, ३१ गौतमस्मृति, ३२ वृद्धगौतम, ३३ वसिष्ठस्मृति, ३४ पुलस्त्य, ३५ योगियाज्ञवल्क्य, ३६ व्याघ्रपाद, ३७ बोधायन, ३८ कपिल, ३९ विश्वामित्र, ४० शाण्डिल्य, ४१ कण्व, ४२ दाल्भ्य, ४३ भारद्वाज, ४४ मार्कण्डेय, ४५ लौगाक्षि, आदि ६० स्मृतियाँ मिलती हैं।

स्मृतियोंमें आचार, संस्कार, वर्णधर्म, वर्णसङ्करधर्म, स्त्रीधर्म, पुरुषधर्म, राजधर्म, प्रायश्चित्तादि बहुत विषय आये हैं। न्यायदर्शनके भाष्यकार श्रीवात्स्यायन मुनिने लिखा है कि—'यदि धर्मशास्त्र न हों, तो लोकव्यवहारका उच्छेद हो जाय' यह ठीक है। विधि-

निषेध सब स्मृतियोंसे ज्ञात होते हैं।

वेद, स्मृति एवं पुराणके विरोधमें वेद अधिक माननीय हैं। स्मृति और पुराणके विरोधमें स्मृति अधिक माननीय है। पुराण प्रधानतासे लोकवृत्तका प्रतिपादन करते हैं, लोकव्यवहारकी व्यवस्थापना उनका प्रधान विषय नहीं। लोकव्यवहारकी व्यवस्थापना धर्मशास्त्रका मुख्य विषय है। इस प्रकार यह सारा साहित्य मिलकर हिन्दुधर्मका आधार बनता है।

(५) वेदस्वरूपनिरूपण

(ब्राह्मणभाग भी वेद है।)

हिन्दुधर्म-सनातनधर्मका स्वरूप तथा प्राचीनता एवं महत्ताका निरूपण करके अब हम उसके मूल-आधारका निरूपण करते हैं। उसका मूल आधार सम्पूर्ण वेद ही है, जैसेकि मनुजीने कहा है—'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (२।६) पर जब तक उस वेदकी इयत्ताका निर्धारण न हो जावे; तब तक इस धर्मका पूर्णज्ञान कैसे हो सकता है? यदि केवल वर्तमान वेदकी चार पोथियोंको वेद माना जावे; तो उनमें हिन्दुधर्मके सभी सिद्धान्त उपलब्ध नहीं हो सकते। इसी कारण प्राचीन ऋषि-मुनियोंका सृष्टिके आरम्भ-वैदिककालसे ही यह सिद्धान्त था कि ११३१ संहितात्मक मन्त्रभाग, तथा उतना ही ब्राह्मणभाग—जिसमें उपनिषद् तथा आरण्यक भी आजाते हैं—यह दोनों भाग मिलकर ही वेद हुआ करता है। इन दोनों भागोंसे एक-दूसरेकी पूर्ति होकर सम्पूर्ण धर्मका लक्षण बन जाता है।

पर आजकल वेदका स्वरूप वा परिमाण कितना है—इस

सम्बन्धमें बड़ी भ्रान्ति चालू है। आजकल आर्यसमाजके प्रचारे[illegible] लोग यह समझते हैं कि—"ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेदसंहिता, सामवेद संहिता, अथर्ववेदसंहिता नामक जो चार पोथियाँ आजकल स[illegible] साधारणतया मिलती हैं—यही चार वेद हैं। अन्य काण्वसंहि[illegible] आदि उपलब्ध तथा अनुपलब्ध उनकी ११२७ शाखाएँ हैं। वे वे[illegible] नहीं। इनसे भिन्न शतपथ-ब्राह्मण आदि तथा उपनिषद् आरण्य[illegible] आदि जो ब्राह्मणभाग हैं—वह भी वेद नहीं।" पर इस मत[illegible] वास्तविकता नहीं। वास्तविकता यह है कि—११३१ संहिता, उतने [illegible] ब्राह्मण (जिसमें उपनिषद् तथा आरण्यक भी सम्मिलित हैं) यह [illegible] वेद हैं। उनमें ११३१ संहिता चार वेद हैं—इस विषयमें हम कु[illegible] निरूपण 'वेदविषयमें भारी भूल, तथा 'श्रीपतञ्जलि एवं 'शन्नोदे[illegible] रभिष्टये' मन्त्र, इन दो निबन्धोंमें 'श्रीसनातनधर्मालोक'के चतुर्थ पुष्प[illegible] कर चुके हैं; कुछ अग्रिम पुष्पमें करेंगे। अब इस पुष्पमें [illegible] 'ब्राह्मणभाग भी वेद है' इस विषय पर विवेचना देंगे। इसी[illegible] सिद्धिसे हिन्दुधर्म सनातनधर्मके स्वरूपकी सिद्धि है। पाठक [illegible] विषयको ध्यानसे देखें। हमारा यह निबन्ध अंशतः संस्कृतमें ल[illegible] वेङ्कटेश्वर प्रेस कल्याण—बम्बईमें प्रकाशित सायणभाष्योपेत शत[illegible] ब्राह्मणकी प्रस्तावनामें भी छप चुका है। जैसे मन्त्रभाग वेदके [illegible] होनेसे वेद है, वैसे ब्राह्मणभाग भी वेदके भाग होनेसे वेद है। प[illegible]

---

*'श्रीसनातनधर्मालोक' ४थं पुष्पका मूल्य २) है, पाठक हमसे [illegible] सकते हैं। चारों पुष्पोंका मूल्य ८।) है। मँगानेका पता—श्रीनारायण श[illegible] सारस्वतः, फर्स्ट बी. १६ लाजपतनगर, नई देहली १४, यह है।

आजकलके कई विद्वान् मन्त्रभागमात्रको वेद मानते हैं, ब्राह्मण-भागको वेद नहीं मानते। हम उनका पक्ष भी देंगे और उसपर विवेचना भी देंगे।

(२) आजकलके कई अनुसन्धाताओंका विचार है कि-मन्त्र-भाग ही केवल वेद है; ब्राह्मणभाग नहीं। इसमें दो प्रमाण वे देते हैं। (क) पहला प्रमाण अष्टाध्यायीका सूत्र है—'छन्दो-ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि। (४।२।६६), उनका यह अभिप्राय है कि यदि ब्राह्मणभाग भी वेद होता; तो उक्त पाणिनिसूत्रमें 'छन्दः'के ग्रहणसे ब्राह्मणभागका भी स्वयं ग्रहण हो जाता; क्योंकि-छन्द वेदको कहते हैं; तब ब्राह्मणभागको पृथक् क्यों कहा गया? पृथक् ग्रहणसे ही सिद्ध हुआ कि ब्राह्मणभाग वेद नहीं है। (ख) दूसरा प्रमाण है गोपथका वचन—'एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः····सब्राह्मणाः। (१।२।१०)। यदि ब्राह्मणभाग वेद होता; तो 'वेद' शब्दसे उसका ग्रहण होजाता; फिर उससे पृथक् 'ब्राह्मण'का ग्रहण क्यों किया गया? पृथक् कहनेसे यही सिद्ध होता है कि-ब्राह्मणभाग वेद नहीं।"

(क) इसपर यह स्मर्तव्य है कि-'वेद' वा 'छन्दः' शब्द समु-दायवाचक शब्द होता है। जैसेंकि-'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि' (७।१।२) इस छान्दोग्यके वचनमें, अथवा 'वेदानधीत्य वेदौ वा' (३।२) इस मनुके पद्यमें। इनमें वेद शब्द सब संहिताओं तथा ब्राह्मणोंका वाचक है। नहीं तो 'ऋग्वेदसंहितामध्येमि' ऐसा पाठ होता। क्योंकि चारों आजकलकी वेदकी पोथियाँ 'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद' इस नामसे नहीं मिलतीं, किन्तु ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेदसंहिता, सामवेद-

संहिता, अथर्ववेदसंहिता-इस नामसे मिलती हैं।

(अ) परन्तु समुदायवाचक शब्द अवयववाची भी हुआ करता है। जैसे कि महाभाष्य पस्पशाह्निकमें कहा है—समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते, पूर्वे पञ्चालाः, उत्तरे पञ्चालाः, घृतं भुक्तम्, तैलं भुक्तमित्यादि'। 'घृत' सारे समुदायका नाम है; पर 'घी खाया' से 'सारे संसारका घृत खाया' अर्थ न होकर 'घीका अवयव खाया' यह अर्थ होता है। यही वेदान्तदर्शनके ३।३।६ सूत्रके शाङ्करभाष्य-में भी कहा गया है—'समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि प्रवर्तमाना दृष्टाः पटग्रामादिषु' इति।

तब समुदायवाचक 'छन्द' शब्द अथवा 'वेद' शब्द अवयव-वाचक भी होजानेसे केवल मन्त्रभागका भी वाचक होजाता है, केवल ब्राह्मणभागका भी, दोनोंका वाचक भी होजाता है। अब यह वक्ताकी इच्छापर अवलम्बित है कि-वह समुदायशब्दको अवयवपरक रखे, वा समुदायपरक। अवयववाचक रखनेपर भी उसकी समुदाय-वाचकतामें क्षति नहीं पड़ती। जैसे कि-'वाम्शसोः। (६।४।८०) इस पाणिनिसूत्रसे 'स्त्री' शब्दके अम्में 'स्त्रियम्, स्त्रीम्' यह दो प्रयोग बनते हैं। अब यह प्रयोक्ताकी इच्छा पर है कि-वह केवल 'स्त्रियम्' लिखे, वा 'स्त्रीम्' लिखे, वा दोनों लिखे। प्रयोग इसके दो ही रहेंगे। इस सिद्धान्तके अनुसार श्रीपाणिनिने 'छन्दो-ब्राह्मणानि च' इस सूत्रमें 'छन्द' शब्दको केवल मन्त्रभागका वाचक रखा है।

(आ) जैसे श्रीपाणिनिने यहाँ 'छन्द'को केवल मन्त्रभागवाचक

रखा है, वैसे ही उन्होंने 'मन्त्रे श्वेतवह'-(३।२।७१) 'विजुपे छन्दसि' (३।२।७३) यहाँपर 'छन्द'को केवल ब्राह्मणभागवाचक भी रखा है; क्योंकि-मन्त्रभागकी अनुवृत्ति तो ७१ सूत्रसे आ ही रही है। फिर ७३ सूत्रमें 'छन्द' (वेद)का नाम क्यों रखा? इसीसे वह (छन्द) स्पष्टतया 'ब्राह्मणभाग'का वाचक हुआ; नहीं तो मन्त्रभाग भी वादी के अभिमतानुसार फिर 'छन्द' (वेद) न रहेगा। इसी कारण इस सूत्रकी काशिकामें कहा है—'छन्दोग्रहणं ब्राह्मणार्थम्'। स्वा० दयानन्दजीने भी 'आख्यातिक' ३२५ पृष्ठमें ऐसे ही माना है।

(इ) इस प्रकारका पाणिनिका अन्य सूत्र भी है—'जुष्टार्पिते च च्छन्दसि' (६।१।२०६) 'नित्यं मन्त्रे' (६।१।२१०) इस सूत्रमें भी श्रीपाणिनिने छन्द'को केवल ब्राह्मणभागवाचक रखा है, क्योंकि अग्रिम 'नित्यं मन्त्रे' सूत्रमें 'मन्त्रभाग'का नाम साक्षात् तो आ ही गया है। तब यदि 'छन्दो-ब्राह्मणानि' (४।२।६६) इस पाणिनिसूत्रमें 'छन्द'से पृथक् 'ब्राह्मण' ग्रहण करनेपर ब्राह्मणभाग वादीके अनुसार वेद नहीं; तब हमारे बताये पाणिनिसूत्रमें भी 'छन्द'से पृथक् 'मन्त्र' ग्रहण करनेसे वादीके मतानुसार मन्त्रभाग भी वेद नहीं रहेगा। दोनों स्थान समान ही उत्तर रहेगा। फिर तो वादीके मतमें 'अथर्ववेदे वेदे च बभूवर्षिः सुनिष्ठितः' (अनुशासन० १०।३७) इस महाभारतके वचनमें भी वेदसे पृथक् गृहीत अथर्ववेद वेद नहीं रहेगा। क्या वादीको ऐसा स्वीकृत है?

(ई) 'छन्दोब्राह्मणानि' जैसा पाणिनिका अन्य सूत्र भी है—'तनादि-कृञ्भ्य उः' (३।१।७९), तनादि धातुओंमें कृञ् धातु भी

आती है, फिर भी श्रीपाणिनिने इस सूत्रमें उसे तनादिसे पृथ[क्] पढ़ा है। तो क्या वादीके अनुसार अब कृञ् धातु तनादि न[हीं] रहेगी? पृथक् रखनेसे उसकी तनादिता नष्ट नहीं हो रही, कि[न्तु] विशेषता व्यक्त हो रही है*। इसी प्रकार 'छन्दोब्राह्मणानि च' भी 'छन्द'से पृथक् पढ़े हुए 'ब्राह्मण'का छन्दस्त्व (वेदत्व) नष्ट नहीं हो रहा; किन्तु उसकी विशेषता व्यक्त करनेकेलिए उसे पृथक् र[खा] गया है। तभी तो उक्त-सूत्रकी काशिका-वृत्तिमें कहा गया है-'ब्राह्मणग्रहणं किम्, यावता छन्द एव तद्' [जब ब्राह्मण भी छन्द (वेद) है; तब उसे पृथक् क्यों कहा गया?] इस पर उत्तर दिया गया है—'ब्राह्मण-विशेषप्रतिपत्त्यर्थम्, इह तद्विषयता मा भूद्-याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि याज्ञवल्कानि'।

(उ) उक्त 'छन्दो-ब्राह्मणानि' सूत्र पर वैयाकरणमूर्धन्य श्रीकैयट[ने] भी १।३।१० सूत्रके महाभाष्य-प्रदीपमें कहा है—'गोबलीवर्दन्यायेन छन्दः-शब्देन मन्त्राणां ग्रहणम्, यथा—'जुष्टार्पिते च छन्दसि' इति [सूत्रे छन्दः-पदेन] ब्राह्मणानां ग्रहणम्, 'नित्यं मन्त्रे' इति मन्त्र ग्रहणात्, छन्दोग्रहणेनैव तु ब्राह्मणानां ग्रहणे सिद्धे ब्राह्मणविशेष प्रतिपत्त्यर्थं पुनर्ब्राह्मणग्रहणं कृतम्। तेन याज्ञवल्कानि ब्राह्मणा[नि] इति तद्विषयता न भवति'। इसका भाव यह है कि जैसे 'गावो[ऽपि] समागताः, बलीवर्दोऽपि समागतः' इस भिन्न वाक्यमें कहनेसे भी बलीवर्द 'गो' से भिन्न नहीं हो जाता, 'गो' भी बैलको कहते हैं

*'अकृत'में 'तनादिभ्यस्तथासोः' यह सूत्र नहीं लगेगा'—ऐसा प्रयोजन बताना व्यर्थ है क्योंकि इसके लगनेपर भी कोई रूपहानि नहीं होती।

'बलीवर्द' भी बैलको। केवल विशेषता बतानेकेलिए 'बलीवर्द'को अलग कहा जाता है, क्योंकि बलीवर्द बड़े बैल (सांड) को कहते हैं; (अब पहले वाक्यमें 'गो' शब्द सांडसे भिन्न साधारण बैलके लिए रहेगा) वैसे ही 'छन्दोब्राह्मणानि' सूत्रमें भी जान लेना चाहिये। इस विषयमें एक न्याय है—'विशेषवाचकपद-सन्निधाने सामान्यवाचकपदानां तद्विशेषातिरिक्तपरत्वम्'! सो सामान्य शब्द है यहां 'छन्द' शब्द। वह दोनोंका नाम है; पर विशेष-वाचक शब्द-'ब्राह्मण' जब यहां आया है; तब 'छन्द' शब्द केवल यहां (सर्वत्र नहीं; सर्वत्र तो 'छन्द' शब्द मन्त्र और ब्राह्मण दोनोंका वाचक रहेगा) मन्त्रभाग-वाचक रहेगा; अन्यत्र दोनोंका वाचक। इससे हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं।

(ऊ) उक्त स्थल पर श्रीनागेशभट्टने भी लिखा है—'गोबलीवर्द-न्यायेन इति ब्राह्मणवसिष्ठ-न्यायस्य उपलक्षणम्' अर्थात्—'ब्राह्मणा अपि आयाताः, वसिष्ठोऽपि आयातः' ब्राह्मण भी आगये हैं, वसिष्ठजी भी आगये हैं; इससे वसिष्ठजी ब्राह्मणोंसे भिन्न सिद्ध नहीं होते, किन्तु अन्य ब्राह्मणोंसे वसिष्ठजीकी विशेषता बतानेकेलिए उन्हें पृथक् कहा जाता है, और 'वसिष्ठ'से भिन्न गृहीत 'ब्राह्मण' शब्द उक्त-स्थलमें वसिष्ठभिन्न ब्राह्मणवाचक होता है, अन्यत्र सर्वत्र नहीं; वैसे छन्दोब्राह्मणानि'में भी ब्राह्मणभागकी विशेषता बतानेकेलिए उसे छन्दसे पृथक् कहा जाता है, छन्दोऽभावता बतानेकेलिए नहीं; नहीं तो पाणिनिके अन्य सूत्रोंसे विरोध प्राप्त होता है।

(ख) इसी प्रकार 'सर्वे वेदा निर्मिताः...सब्राह्मणाः' इस गोपथके

वचनमें स्पष्टताकेलिए या विशेषताकेलिए ब्राह्मणको पृथक् कहा गया है। जैसे कि—'वेदमध्यापयेद् द्विजः। सकल्पं सरहस्यं च' (२।१४०) इस मनुके पद्यमें वेद होते हुए भी उपनिषद् (रहस्य) को वेदसे भिन्न कहा गया है। इसीलिए श्रीकुल्लूकभट्टने लिखा है—'वेदत्वेऽपि उपनिषदां प्राधान्यविवक्षया पृथङ् निर्देशः'। अथवा यहां 'रहस्य' शब्द सामान्यार्थक हो, उपनिषत्परक न हो—तब इस पद्यको उदाहृत नहीं किया जा सकता।

(ऋ) गोपथके वचनमें जैसे 'वेद' शब्द केवल मन्त्रभागका वाचक देखा गया है, वैसे केवल 'ब्राह्मणभाग'का वाचक भी होता है। जैसे कि निरुक्तमें तेऽवरेभ्यो ..मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे...इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च' (१।२०।२) यहां पर 'मन्त्र' पहले आ जानेसे पीछे कहा गया 'वेद' शब्द 'ब्राह्मणभाग'वाचक है; जैसा कि—श्रीसामश्रमीजीने भी अपने 'निरुक्तालोचन' (पृ० २५) में माना है। इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणभाग भी वेद है।

(३) जैसे कि श्रीयास्कने 'ओषधे! त्रायस्वैनं' (यजुः वा. सं. ४।१, तै. सं. १।२।१।१) इस मन्त्रको निरुक्त (१।१६।६) में 'आम्नाय' कहा है, वैसे ही 'रोहात् प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितः' इस ब्राह्मणको भी 'आम्नाय' (७।२४।४) कहा है। आम्नाय वेदमें रूढ है, इसे आजकलके आर्यसमाजी विद्वान् भी मानते हैं; उसमें 'स्वरो नियत आम्नाये 'अस्यवाम' शब्दस्य' (५।२।१.५६) यह महाभाष्यकारका प्रमाण भी देते हैं; तब ब्राह्मणभाग भी आम्नाय (वेद) हुआ।

यह शब्द उसकेलिए औपचारिक भी नहीं है, जैसा कि कई आग्रही लोग कहनेका साहस करते हैं। श्रीयास्क समाम्नाय निघण्टुको कहते हैं, उस निघण्टुके शब्द मन्त्र और ब्राह्मण दोनोंमें मिलते हैं। कई निघण्टुके शब्द यदि ब्राह्मणभागमें नहीं मिलते; तो बहुत ऐसे शब्द भी हैं जो वर्तमान मन्त्रभागकी चार पोथियोंमें भी नहीं मिलते।

(ख) इस प्रकार निरुक्त (२।३।१)में 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' इत्यपि निगमो भवति, (३।६) इस कृष्णयजुर्वेदीय श्वेताश्वतरोपनिषद्के वचनको भी निगम (वेद) माना है। उपनिषद् ब्राह्मणभागमें अन्तर्गत होती हैं। तब ब्राह्मणभाग भी 'निगम' (वेद) सिद्ध हुआ।

(ग) आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वा०द०जी निगम वेदको मानते हैं। जैसेकि-'छन्दो-वेद-निगम-श्रुतीनां पर्यायवाचकत्वात् ।'''एवं 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः' इति मनुस्मृतौ, 'इत्यपि निगमो भवति' इति निरुक्ते, श्रुतिर्वेदो मन्त्रश्च, निगमो वेदो मन्त्रश्च-इति पर्यायौ स्तः, (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० ८०) 'तथा व्याकरणेपि-'मन्त्रे घस, 'छन्दसि लुङ्' 'वा षपूर्वस्य निगमे' अत्रापि छन्दो-मन्त्र-निगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति। एवं छन्द-आदीनां पर्यायसिद्धेर्यो भेदं ब्रूते, तद्वचनमप्रमाणमेवास्तीति विज्ञायते' (ऋ०भा०भू० पृ० ८०) यहां स्वा०द०जीने निगम तथा छन्दको वेद मानकर उनकी भिन्नता कहने वालेको अप्रमाण माना है। इस प्रकार सत्यार्थप्रकाशके सप्तम समुल्लासके अन्त (१२७ पृष्ठ) में भी 'इत्यपि निगमो भवति'

इस निरुक्तके प्रतीकको उद्धृत करके स्वामीजीने निरुक्तस्थ 'निगम' का अर्थ 'वेद' माना है। तब जब 'निगम' शब्द कह कर श्रीयास्कने जोकि ब्राह्मणभाग तथा उपनिषद्को उदाहृत किया है—इससे वादिप्रतिवादिमान्य श्रीयास्कके मतमें भी ब्राह्मणभाग वेद फलित हुआ।

अब वे निरुक्तके उदाहरण उद्धृत किये जाते हैं-(क) अमेनांश्चिज्जनिवतश्चकर्थ, ग्नास्त्वाकृन्तन्नपसोतन्वतम्' इत्यपि निगमौ भवतः (३।२१।२) यहाँ निरुक्तकार 'अमेनान्' इस ऋग्वेदसं० (४।१।२६)के मन्त्रको जैसे निगम (वेदप्रमाण) कहते हैं, वैसे ही 'ग्नास्त्वा' (१।८।६) इस ताण्ड्यब्राह्मणकी कण्डिकाको भी समानतासे ही 'निगम' (वेदप्रमाण) शब्दसे कहते हैं। (ख) 'पीयति त्वो-' 'नेमे देवा नेमेऽसुराः।' इत्यपि निगमौ भवतः। (३।२०।५) यहाँ श्रीयास्कने 'पीयति' (१।१४७।२) इस ऋ०सं०के मन्त्रकी तरह 'नेमे देवाः' इस मैत्रेयीब्राह्मणके प्रमाणको भी 'निगम' कहा है। (ग) 'नोपरस्य विष्कुर्यात्' इत्यपि निगमो भवति (३।५।२) इस ब्राह्मणको भी निगम (वेद) माना है। जो यहाँ यह व्याज करते हैं कि-'यहाँ यज्ञविषयक होनेसे ब्राह्मणको वेद कहा गया है, यज्ञपरिभाषासे अन्यत्र ब्राह्मणभाग वेद नहीं होता' यह तो गलत है। निरुक्त क्या कल्पसूत्र है कि-उसमें यज्ञके विनियोग हों? निरुक्तमें तो वेदके कठिन शब्दों का निर्वचनमात्र ही है। 'ग्नास्त्वा' आदि विधियाँ यज्ञगत भी नहीं। अथवा हों भी; तो मन्त्रभाग-ब्राह्मणभाग दोनोंका विषय ही यज्ञ है; यह हम आगे कहेंगे-तो ब्राह्मणभाग भी सदा ही वेद हुआ।

(घ) श्रीसायणाचार्यने भी निरुक्तस्थ 'निगम' शब्दकेलिए अपने 'ऋग्वेदभाष्योपोद्घात'में यही कहा है—'निगमशब्दो वेदवाची। यास्केन तत्र-तत्र 'अपि निगमो भवति' इत्येवं वेद-वाक्यानामवतारितत्वात्'। तब ब्राह्मणभाग स्वा०द०जी तथा यास्कके अनुसार वेद सिद्ध हुआ।

(ङ) 'बभूथाततन्थजगृभ्यववर्थेति निगमे' (७।२।६४) इस पाणिनिके सूत्रमें भी निगम वेदवाचक सर्वसम्मत है। 'निगम' शब्दको लौकिक अन्य शास्त्रोंका बोधक भी यदि कोई मानें, तो उन्हें 'बभूथ' आदि प्रयोग लोकमें भी दिखलाने पड़ेंगे। फिर तो 'निगमे' यह कहना भी व्यर्थ होगा; क्योंकि श्रीपाणिनि शास्त्रगत प्रयोगोंकी ही तो सिद्धि कर रहे हैं। विशेष शब्द रखनेसे 'निगम' शब्द वेद-वाची है। तब 'निगम' शब्दसे ब्राह्मणभाग भी यत्र-तत्र उदाहृत होनेसे वह वेद सिद्ध हुआ।

(४) वैदिककालसे लेकर आर्यसमाज-प्रवर्तक स्वा० दयानन्दजीसे पूर्व तक ब्राह्मणभाग भी मन्त्रभागकी भांति वेद माना जाता रहा; पर इससे स्वा०द०जीके कई सिद्धान्तोंमें भङ्ग आता था; तब उन्होंने वेदकी सीमाको घटानेकेलिए ब्राह्मणभागको वेदभिन्न सिद्ध करनेकेलिए अपनी ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकामें वेदसंज्ञाविचार प्रकरणमें निम्न युक्तियाँ दीं।—

स्वा.द.की छः युक्तियोंकी समीक्षा

'न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति, कुतः? पुराणेतिहाससंज्ञकत्वात् १, वेदव्याख्यानात् २, ऋषिभिरुक्तत्वात् ३, अनीश्वरोक्तत्वात् ४, कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वात् ५, मनुष्यबुद्धिरचितत्वाच्च'-६,

यह छः हेतु स्वा०द०जीने ब्राह्मणभागकी अवेदतामें दिये हैं, और उनका विवरण ८१ पृष्ठ से ८७ पृष्ठ तक दिया है। यदि इसपर विचार न किया जाय; तो हमारा यह 'श्रीसनातनधर्मालोक' अपूर्ण रहेगा; क्योंकि—सनातनधर्मका मुख्य विषय है वेदस्वरूपनिरूपण, और विधिभाग प्रायः ब्राह्मणभागमें है, तदनुसार हम इसपर विचार करते हैं।

[१]

(५) ब्राह्मणभागकी अवेदतामें पहला हेतु 'पुराणेतिहाससंज्ञकत्वात्' दिया गया है कि-'ब्राह्मणभाग पुराण या इतिहास माना जाता है; अतः वह वेद नहीं'। ऋ.भा.भू.के ८४-८५ पृष्ठोंमें इसपर न्यायदर्शन तथा उसके वात्स्यायनभाष्यका प्रमाण दिया गया है; पर वह प्रयासमात्र है; क्योंकि न्यायके सूत्रकार श्रीगोतम तथा भाष्यकार श्रीवात्स्यायन दोनों ही ब्राह्मणभागको वेद मानते हैं; और वे दोनों ही पुराण-इतिहासको ब्राह्मणभागसे भिन्न मानते हैं। जैसेकि—

'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तेभ्यः' (२।१।५७) इस सूत्रसे श्रीगोतमने वेदकी प्रमाणताको दृढ करनेकेलिए *स्थूणानिखननन्यायसे शंका की है। इस सूत्र द्वारा वेदपर अनृत, व्याघात, पुनरुक्त तीन दोष लगाये गये हैं। इसपर श्रीवात्स्यायनमुनिद्वारा श्रीगोतममुनिके अनुकूल उद्धरण क्रमसे ब्राह्मणभागके दिये गये हैं—१. पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत,। २. उदिते होतव्यम्' (ऐत०ब्रा० ५।५।२६) श्यावोस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति'। ३. 'त्रिः

*स्थूणा (खंभे)को मजबूतीसे पृथ्वीमें गाडनेकेलिए उसपर चोट मारनी पड़ती है, जिससे वह मज़बूत हो जाय-यही स्थूणानिखनन-न्याय है।

प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' (ऐत० १।३।१३, शतपथ ११।२।१।४, गोपथ २।३।११) यह तीनों वचन ब्राह्मणभागके हैं।

जो लोग ब्राह्मणभागको अर्थवाद (स्तुतिमात्र)से वेद मानें, वस्तुतः नहीं; उन्हें इधर दृष्टि डालनी चाहिये। ऐसा होता; तो वेदके खण्डनकेलिए उद्धरण ब्राह्मणभागका न दिया जाता। स्वा० दयानन्दजीके लिखे हुए विधवाविवाहके निषेधका खण्डन किसी विधवाविवाहाग्रही आर्यसमाजीने करना हो; और वह उसमें खण्डनार्थ उद्धरण दे किसी सनातनधर्मीके वाक्यका; तब क्या यह उचित हो सकता है? पर वेदकी आलोचनार्थ जब उसमें ब्राह्मणभागका प्रमाण उक्त दोनों मुनियों द्वारा दिया गया है, इससे स्पष्ट है कि—ब्राह्मणभाग वस्तुतः ही वेद है, अर्थवादसे वा उपचारसे नहीं। क्योंकि यह न्याय नहीं हो सकता कि-खण्डन करना हो वेदका, महिमा दिखानी हो वेदकी; उसमें उसका उद्धरण न देकर उद्धरण दिया जाय ब्राह्मणभागका। वेदके उद्धरणस्थलमें श्रीगोतम तथा श्रीवात्स्यायन-द्वारा वेदके उदाहरणमें ब्राह्मणभागके उद्धरण देना ब्राह्मणभागको वेद बताता है। क्योंकि हम पूर्व कह चुके हैं कि-वेद समुदायवाचक शब्द है। वह मन्त्रभाग तथा ब्राह्मणभाग दोनोंका नाम है। समुदायवाचक शब्द अवयववाची भी हुआ करते हैं, यह भी हम पहले भाष्यकारके वचनसे सिद्ध कर चुके हैं। तब उसका उद्धरण देनेकेलिए दोनोंमें चाहे मन्त्रभाग हो, वा ब्राह्मणभाग—एक का उद्धरण दे देनेसे अपनी इष्टपूर्ति हो जाया करती है। तदनुसार ही श्रीवात्स्यायनने वेदको उदाहृत करनेकेलिए ब्राह्मण-

भागको उदाहृत किया। केवल भाष्यकार श्रीवात्स्यायनको ही य इष्ट नहीं; सूत्रकार श्रीगोतम-मुनिको भी यही इष्ट है। तभी उन्होंने पुत्रेष्टिकी अनृतताके उत्तरमें 'न, कर्म-कर्तृ साधनवैगुण्यात्' (२।१।५ यह सूत्र बनाया। 'उदिते होतव्यम्' इस व्याघातके उत्तरमें 'अभ्यु पेत्य कालभेदे दोषवचनात्' (२।१।५६) यह सूत्र बनाया। 'त्रि: प्रथमां' इस पुनरुक्तके उत्तरमें 'अनुवादोपपत्तेश्च' (२।१।६०) य सूत्र बनाया। कोई भी आधुनिक विद्वान् इनसे भिन्न मन्त्रभाग यहाँ कोई वचन ही नहीं दे सका। तो जब न्यायके वादि-प्रतिवादि सम्मत सूत्रकार एवं भाष्यकार दोनों ही ब्राह्मणभागको वेद मानते हैं; तब उन्हींको अपने पक्षवाला बताना यह जनताको गुमराह करना है।

प्रत्युत स्वा०द०जीके प्रमाणभूत श्रीवात्स्यायनने मन्त्रभाग औ ब्राह्मणभागको समकक्ष माना है, और पुराण-इतिहासको स्पष्ट ब्राह्मणभागसे भिन्न माना है। देखिये उनका वचन—। ४।१।६ सूत्रका भाष्य करते हुए वे कहते हैं—'अन्यो मन्त्र-ब्राह्मणस्य विषय अन्यश्च इतिहासपुराणधर्मशास्त्राणाम्' यहाँ उन्होंने मन्त्रभाग औ ब्राह्मणभागको समान माना हैं; पुराण-इतिहासको उनसे भिन्न माना है मन्त्र-ब्राह्मण तथा पुराण-इतिहासको अपने-अपने विषयमें अधि प्रमाण माना है। जैसाकि—उसीके आगे वे कहते हैं—'यज्ञो मन्त्र ब्राह्मणस्य, लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य, लोकव्यवहारव्यवस्था धर्मशास्त्रस्य विषयः। तत्र एकेन न सर्वं व्यवस्थाप्यते—इति यथा विषयमेतानि प्रमाणानि इन्द्रियादिवदिति'।

इसमें श्रीवात्स्यायनने ब्राह्मणभागको पुराण-इतिहाससे भिन्न ही माना है। उसी स्थल पर इससे अधिक भी स्पष्टता कर दी कि 'प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेन इतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते' यहाँ ब्राह्मणभाग द्वारा इतिहास-पुराणको प्रमाण सिद्ध किया है। यदि ब्राह्मणभाग ही पुराण-इतिहास होता; तो श्रीवात्स्यायन उसीसे उस (पुराणादि)की प्रमाणता कैसे सिद्ध करते। साक्षी और अभियुक्त दोनों समान नहीं हो जाते। जब ऐसा है; श्रीगोतम तथा वात्स्यायन दोनों ही ब्राह्मणभागको पुराण-इतिहाससे भिन्न बताते हैं, मन्त्र-ब्राह्मण दोनोंको समकक्ष (वेद) मानते हैं; तब उन्हीं मुनियोंके वचनसे ब्राह्मणभागकी अवेदता तथा पुराणेतिहासता बताना यह एक बड़ा दुस्साहस है; अविद्वान् जनताकी आँखोंमें दिन-दहाड़े धूल झोंकना है।

(६) जो कि कई महाशय (श्रीतुलसीराम-स्वामी आदि) उक्त न्यायसूत्रमें शब्दका प्रामाण्याप्रामाण्य विषय दिखाकर 'शब्द आप्त-वचनका नाम है' यह कहकर 'ब्राह्मणभाग ही यहाँ आप्तवचन है; उसीकी प्रमाणतासिद्धि यहाँ की गई है, यहाँ कोई वेदकी चर्चा भी नहीं है–' यह कहते हैं यह तो व्यर्थ है। क्योंकि उनके मतमें ब्राह्मणभाग परतः-प्रमाण होनेसे मन्त्रभागकी ही सबसे पूर्व सिद्धि दिखलानी उचित है; नहीं तो फिर न्यायके मतमें ब्राह्मणभाग ही शब्द हो जावेगा, मन्त्रभाग नहीं। तब मन्त्रभाग-तथा स्मृति आदिकी प्रमाणता भी ब्राह्मणभाग-मूलक ही होगी, और ब्राह्मणभाग स्वतः-प्रमाण हो जावेगा, मन्त्रभाग परतः-प्रमाण हो जावेगा। क्या यह

वादियोंको स्वीकार है?

वस्तुतः न्यायकारने वेदको ही शब्द माना है। 'यजुर्वेदभाष्य-विवरणभूमिका' (प्रथम सं०)में श्रीब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुने २२ पृष्ठमें–वैशेषिकदर्शन (१।१।३)के टीकाकार श्रीशङ्करमिश्रका उपस्कार उक्त न्यायसूत्र पर उद्धृत किया है–'तदिति अनुपक्रान्तमपि प्रसिद्धि-सिद्धतया ईश्वरं परामृशति। यथा—'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुन-रुक्तदोषेभ्यः' इति गौतमीये सूत्रे तच्छब्देनानुपक्रान्तोऽपि वेदः परामृश्यते' (उपस्कार पृ० ७)। इससे भी हमारी ही बात सिद्ध हुई कि—श्री गोतमको यहाँ 'शब्द'से 'वेद' इष्ट है। स्वा०द०जीने भी स० प्र० ३ समु०, २३ पृष्ठपर 'आप्तोपदेशः शब्दः' (१।१।७) इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'पूर्ण आप्त परमेश्वरके उपदेश वेद हैं, उन्हींको शब्द-प्रमाण जानो'। उसी शब्द (वेद)की परीक्षाके प्रकरण-में उक्त न्यायसूत्र हैं। उसके मन्त्र और ब्राह्मण दो भाग हैं; उनमें एक अवयव ब्राह्मणभागके उदाहरण दे देने पर न्यायके सिद्धान्त वेद-प्रामाण्यकी सिद्धि हो ही गई। इसीलिए उक्त सूत्रकी वृत्तिमें भी 'दृष्टार्थकव्यतिरिक्तस्य वेदस्य प्रामाण्यम्' यह विषय दिखलाया है; तभी भाष्यकार वात्स्यायनने भी इस प्रकरणके उपसंहारमें भी 'वेद' शब्द ही लिखा है। इसीलिए विश्वनाथ-कृत वृत्तिमें उक्त सूत्रकी अवतरणिकामें कहा गया है—'अदृष्टार्थक-वेदस्य प्रामाण्यं परीक्षितुं पूर्वपक्षयति-तदप्रामाण्यमिति'। इस प्रकार अन्यत्र भी वेदान्त आदि दर्शनोंमें शब्द' वा 'आगम' से वेद ही इष्ट होता है। वेदके दो भाग समान होनेसे उसमें एक उदाहृत किया जा

सकता है। तब ब्राह्मणभाग वेद सिद्ध हो ही गया।

(ख) जोकि-'भास्करप्रकाश' में कहा गया है कि-'यहां शब्द-प्रमाण की परीक्षा प्रारम्भ हुई है और शब्द-प्रमाणान्तर्गत वेद, स्मृति आदि समस्त आप्तोक्त सत्यशास्त्र हैं। न केवल वेद ही शब्द-प्रमाण है। इससे गौतम सूत्रोंके उदाहरणोंमें ब्राह्मण-वाक्यके उदाहरणसे क्या हानि है?' यहां श्रीतुलसीरामजीने अपने पक्षकी दुर्वलता प्रकट की है। परीक्षा मूल वस्तुकी होती है, क्योंकि अन्य ग्रन्थोंकी मान्यता तो वेदानुकूलतासे ही होती है। तब अन्य ग्रन्थोंकी परीक्षाका इसमें क्या अवसर? नहीं तो यहां गौतम वा वात्स्यायन, स्मृतिका भी वर्णन करते, पर नहीं किया; इससे स्पष्ट है कि-सूत्रकार एवं भाष्यकार यहां शब्दसे वेदको ही लेते हैं, कि-उन्हींकी प्रमाणतासे अन्य ग्रन्थोंकी अनुकूलता होने पर स्वयं मान्यता हो जावेगी। तब 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इस न्यायसे यहां वेदकी परीक्षा ही है; उसमें ब्राह्मणभाग उद्धृत करनेसे वह स्पष्ट वेद सिद्ध होगया। यह न्यायदर्शनके प्रमाण ब्राह्मण-भागको वेद न मानने वालोंको वहुत व्याकुल करते हैं।

श्रीतुलसीराम-स्वामीने भी स्वयं 'वेदप्रकाश' पत्र (अप्रेल १९१५ पृ० ८२) में 'वेदोंका महत्त्व' यह शीर्षक देकर लिखा था—'न्यायशास्त्रके आचार्य गौतममुनि जो आन्वीक्षिकी तर्क-विद्याके आचार्य थे, उन्होंने वेदों पर आई वा आनेवाली तीन शङ्काओंका प्रौढतासे निवारण किया। उन्होंने पूर्वपक्ष कर सन्देह उठाये कि-'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तेभ्यः' इत्यादि। फिर आगे उन्होंने

तीनों उत्तरसूत्र लिखकर वात्स्यायन-भाष्यके अनुसार समाधा[न] किया। इस प्रकार उनका अपना पक्ष अपने से ही कट गया। स्वा०द[०] जीको भी यहां 'शब्द' से वेद ही इष्ट है-यह हम दिखला ही [चु]के हैं। उसी शब्दकी परीक्षाका यह प्रकरण है।

(ग) जोकि ऋ०भा०भू०में स्वामीजीने 'प्रमाणं शब्दो यथा लो[के] विभागश्च ब्राह्मण-वाक्यानां त्रिविधः' (पृ० ८४)यह वात्स्यायनभा[ष्य] उद्धृत करके लिखा है—'अयमभिप्रायः, ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकि[का] एव न वैदिकाः' यहां तो स्पष्ट स्वामीजीका छल ही है। क्योंकि-'प्रमा[णं] शब्दो यथा लोके' यहां तक २।१।६ सूत्रका भाष्य समाप्त [हो] गया। आगे 'विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः' यह तो [२।१।] ६१ सूत्रकी अवतरणिका है। स्वा०द०जीने इन दोनों वाक्यों[को] इकट्ठा लिखकर या तो साधारण-जनवञ्चना की है, या वे [स्व]भ्रममें पड़ गये हैं। अतः उनसे दिखलाया हुआ अभिप्राय [भी] निर्मूल ही है। यहां स्वामीने ब्राह्मणभागको लौकिक दिखलाकर [उसे] वेदसे भिन्न सिद्ध करना चाहा है; परं उनका यह अभिप्राय सि[द्ध] नहीं होता।

यदि लोकका दृष्टान्त देकर मन्त्रभागकी पुष्टि की जावे, क्या मन्त्रभाग भी लौकिक वन जावेगा? वेद नहीं रहेगा? भिद्यते लौकिकाद् वाक्याद् वैदिकं वाक्यं प्रेक्षापूर्वकारिपुरुषप्र[णीत]त्वेन' (४।१।६०) क्या इस श्रीवात्स्यायनके वचनसे स्वामी वै[दिक] वाक्यको भी लौकिक मान लेंगे? श्रीयास्कमुनिने निरुक्त (१।१[५]) ४-७-६) में कौत्सके मतके खण्डनके समय मन्त्रभागकी सार्थक[ता]

लौकिक दृष्टान्त ही दिये हैं; तो क्या उनके मतमें इसी भान्ति मन्त्रभाग भी लौकिक एवं अवेद सिद्ध हो जायगा ? यदि ब्राह्मणभाग लौकिक होता, तो उसमें छान्दस कार्य न होते; पर होते हैं; यह हम आगे दिखलाएंगे; तब वह लौकिक न हुआ।

'प्रमाणं शब्दो यथा लोके' इस वात्स्यायन-वचनका यह अर्थ है कि-शब्द-(वेद) प्रमाण है, जैसे लौकिक शब्द प्रमाण होता है। इसी तरह श्रीयास्कने कहा है-'अर्थवन्तः शब्द-सामान्यात्' (नि० १।१६।१) यहां दुर्गाचार्यने लिखा है-'य एव गोशब्दो लोके स्वरसंस्कारयुक्तः; स एव मन्त्रेष्वपि'। इससे वेदकी लौकिकता नहीं हो जाती। उसके आगे श्रीवात्स्यायनने अगले सूत्रकी अवतरणिका दी है कि-ब्राह्मणभागके वाक्य तीन प्रकारके होते हैं। इससे ब्राह्मणभागकी शब्द (वेद) ता स्पष्ट है। 'प्रमाणं शब्दो यथा लोके' इस वचनमें 'यथा' शब्द उपमा-वाचक है। यह वाक्यगत श्रौती उपमा है। उपमा भिन्न वस्तुओंकी समानधर्मतामें ही हुआ करती है। 'चन्द्रवन्मुखम्' यहाँ उपमान-उपमेय दोनों भिन्न हैं। इसीलिए काव्यप्रकाशमें कहा है—'साधर्म्यमुपमा भेदे' (१० उल्लास) तब लौकिक-प्रामाण्यकी उपमासे ब्राह्मणभाग लोकसे भिन्न सिद्ध है। नहीं तो जब चल रहा है वेदका प्रकरण; तब उसमें ब्राह्मणभागका वर्णन अप्रकृत हो जावेगा। इस कारण यहां स्वामीजीका इष्ट अर्थ नहीं है।

श्रीगोतममुनिने २।१।६२ सूत्रमें विधि, अर्थवाद, और अनुवाद यह तीन ब्राह्मणभागके भेद बताये। फिर ६३ सूत्रमें

विधिका, ६४ सूत्रमें अर्थवादका, ६५ सूत्रमें अनुवादका लक्षण बताया. इनके भाष्यमें-'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यह विधिका, 'सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन्' यह अर्थवादका, 'एतेन अनिष्ट्वाऽन्येन यजते गर्ते पतति' यह अनुवादका उदाहरण बताया। फिर ६५ सूत्रके भाष्यमें श्रीवात्स्यायनने इन ब्राह्मण-वाक्योंकी सार्थकता बतानेकेलिए लौकिक विधि, अर्थवाद, अनुवादके उदाहरण क्रमशः-१ 'ओदनं पचेत, २ आयुर्वर्चः प्रतिमानं चान्ने प्रतिष्ठितम्, ३ पचतु-पचतु भवान्' यह उदाहरण दिये। ब्राह्मणभागके तीन भेदोंकी सार्थकताके लिए लौकिक तीन उदाहरण देनेसे भाष्यकार ब्राह्मणभागको लौकिक नहीं मानते-यह स्पष्ट व्यक्त हो रहा है। फिर वे उन ब्राह्मणवाक्योंको अपने मुखसे भी वेद-वाक्य कहते हैं, यह पाठक देखें। ब्राह्मणवाक्यों तथा लौकिक-वाक्योंके उदाहरणोंका सामञ्जस्य करते हुए वादि-प्रतिवादिमान्य वही श्रीवात्स्यायनमुनि कहते हैं—'यथा लौकिके वाक्ये ['ओदनं पचेते-त्यादिपूर्वोक्ते] विभागेन अर्थग्रहणात् प्रमाणत्वम्; एवं वेदवाक्यानामपि [पूर्वोक्तानाम् 'अग्निहोत्रं जुहुयाद्' इत्यादि-ब्राह्मणवाक्यानामपि] विभागेनअर्थग्रहणात् प्रमाणत्वं भवितुमर्हति' (२।१।६५)

'आलोक' पाठकोंने देख लिया कि-यहाँ ब्राह्मणभागको कितना स्पष्ट रूपसे वेद कहा गया है। यदि ब्राह्मणभाग लौकिक होता; तो उसके उदाहरणोंके समन्वयार्थ लौकिक, भिन्न उदाहरणोंकी आवश्यकता कोई नहीं थी। यहाँ जितने भी लौकिक-वाक्य श्रीवात्स्यायनने उदाहृत किये हैं; उनमें ब्राह्मणभागका एक भी नहीं। वेदवाक्य जो उद्धृत किये

गये हैं; उनमें मन्त्रभागका एक नहीं, सभी ब्राह्मणभागके हैं। उसी ब्राह्मणके प्रकरणमें 'एवं वेदवाक्यानामपि विभागेनार्थ-ग्रहणात् प्रमाणत्वं भवितुमर्हति' इस प्रकार वेदवाक्यके नामसे उपसंहार करनेसे उपक्रम तथा उपसंहारकी एकता प्रसिद्ध होनेसे न्यायसूत्रकार तथा भाष्यकार दोनोंके अनुसार ब्राह्मणभाग वेद ही सिद्ध हुआ। तब अपना पक्ष सिद्ध करनेकेलिए स्वा०द०जीका न्यायसूत्रभाष्योंका उद्धरण देना-यह साधारण जनताके वञ्चनार्थ ही है। न्यायके विद्वान् पाठक ऋ० भा० भू०के ८४-८५ पृष्ठोंको स्वयं देखकर यह जान सकते हैं।

यदि लौकिक उदाहरणोंको दिखलाकर ब्राह्मणभागको प्रमाण सिद्ध करनेसे उसे वेदसे भिन्न माना जावे; तो निरुक्तमें श्रीयास्क-द्वारा कौत्सके मतके खण्डनावसरमें लौकिक उदाहरणोंको देकर मन्त्रभागकी प्रमाणता सिद्ध करनेसे फिर मन्त्रभाग भी वेद नहीं रहेगा। इस प्रकार 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यम्' (२।१।६८) इस न्यायसूत्रसे लौकिक आयुर्वेदके दृष्टान्तद्वारा वेदकी प्रमाणता सिद्ध करनेपर वेद भी लौकिक (अवेद) हो जायगा; पर आक्षेप्ताओं-को भी यह इष्ट नहीं। तब इस समूचे प्रकरणमें वेदके नामसे उपसंहार करनेसे ब्राह्मणभाग वेद सिद्ध हो ही गया।

(७) जो कि-स्वा० द० जीने ऋ.भा.भू. ८५ पृष्ठमें 'न चतुष्ट्वमैतिह्य-' (२।२।१) इस न्यायसूत्रको तथा उसपर 'न चत्वार्येव प्रमाणानि, किं तर्हि ? ऐतिह्यादीन्यपि प्रमाणानि। इस वात्स्यायन-भाष्यको उद्धृत करके, फिर वात्स्यायनप्रोक्त-'इति ह ऊचुरिति

अनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यमैतिह्यम्' यह ऐतिह्यका लक्षण उद्धृत करके फिर लिखा है-'अनेन प्रमाणेनापि इतिहासादि-नाम-भिर्ब्राह्मणान्येव गृह्यन्ते, नान्यदिति' यहाँ उन्होंने बड़ा साहस किया है। इस प्रमाणमें सूत्र वा भाष्यमें कोई ब्राह्मणभागकी चर्चा नहीं, न कोई ब्राह्मणभागका प्रकरण है। तब 'इस प्रमाणमें ब्राह्मण इतिहास-ग्रन्थ माना गया है, वेद नहीं' यह कहना स्वामीजीका साहस या भ्रान्ति बतलाता है, यह विद्वान् पाठक स्वयं देखें। इससे स्पष्ट जाता है कि-संन्यासीजी अपने अशुद्ध भी पक्षको सिद्ध करने लिए प्राचीन ग्रन्थोंकी वाणीसे कितना बलात्कार करते थे। इससे यह स्पष्ट होगया कि-ब्राह्मणभागकी पुराण-इतिहास संज्ञा नहीं जिससे वह वेद न होवे। उक्त संज्ञा हो भी सही; फिर भी उसके वेदत्वमें कोई क्षति नहीं पड़ती। एक संज्ञा दूसरी संज्ञाका बाध कर दे-यह कोई अनिवार्य नहीं। यहाँ कोई 'आकडारादेका संज्ञा' (१।४।१) इस पाणिनिसूत्रका अधिकार नहीं कि-दो संज्ञाएँ न हो सकें। ऋचा, यजु आदिकी मन्त्रभाग भी संज्ञा है, वेद-संज्ञा भी है, ऋग्वेदादि संज्ञा भी है ही। तब क्या दो-तीन संज्ञाओंसे वेद न रहेंगे ?

(८) ऋ.भा.भू.के ८१ पृष्ठमें स्वा.द.जीने लिखा है-'ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां नामलेखपूर्वका लौकिका इतिहासाः सन्ति न चैवं मन्त्रभागे' इससे उन्होंने ब्राह्मणभागमें इतिहास और उसकी अवेदता मानी है। यह भी व्यर्थ है। मन्त्रभागमें भी ब... से इतिहास तथा नाम हैं—यह हम भिन्न पुष्पमें बताएंगे। ...

भागमें जो इतिहास हैं, वे मन्त्रभागमें कहे हुए इतिहासकी ही व्याख्या हैं, स्वतन्त्र नहीं; क्योंकि स्वा॰द॰ भी ब्राह्मणभागको मन्त्रभागकी व्याख्या कहते हैं। व्याख्या मूलकी बातके स्पष्टीकरणार्थ ही तो होती है। जैसे कि—ऋ.सं. (१०।९५)में पुरूरवा-उर्वशीका संवादरूप इतिहास है, इसे शतपथ-ब्राह्मण (११।५।१) ने स्पष्ट कर दिया है। ऋ. सं. (१।११७।१३)में च्यवन ऋषिका इतिहास संक्षेपसे है। शतपथब्राह्मण (४।१।५) ने उसे स्पष्ट कर दिया है। ऋ. सं. (१।११७।२२)में दधीचिके अश्वके सिर लगानेका इतिहास है। शतपथब्रा. (१४।१।१।१८-२४)ने उसे स्पष्ट कर दिया है। बल्कि वह ब्राह्मणभाग उस-उस इतिहासको देकर उसमें मन्त्रभागकी साक्षी दे देता है—'तस्माद् एतद् ऋषिणा अभ्यनूक्तम्' (१२।७।३।४, १४।१।१।२५, १४।५।५।१६) इत्यादि। ऋ.सं.में शौनःशेपाख्यान जिस क्रमसे आया है, उसी क्रमसे ऐतरेयब्राह्मणके अन्तमें भी आया है। तब उक्त आक्षेप भी हठात् ही किया गया है। यदि मन्त्रभागस्थ इतिहासोंको अर्थवाद वा यौगिक वा केवल आख्यान वा भविष्यद् रूपसे माना जावे; तब ब्राह्मणभागमें भी वैसा ही माना जा सकता है। मीमांसादर्शनमें ब्राह्मणभागके इतिहासको भी शब्द-समानतामात्र एवं यौगिक ही माना है, देखिये—'बबरः प्रावाहणिरकामयत' (तै. ७।१।१०।२) इस ब्राह्मणवाक्यपर 'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (मी. १।१।३१) यह सूत्र। तैत्तिरीयसंहितान्तर्गत ब्राह्मणभागमें प्रोक्त बबरको वह सूत्र पुरुषविशेष न सिद्ध करके उसे ब-ब शब्द करनेवाला 'वायु' बता रहा है और 'प्रावाहणि'से

उसे 'प्रवाहणका लड़का' न बताकर 'प्रवहणशील' अर्थवाला बता रहा है। तब ब्राह्मणभागके अवेदत्वमें युक्ति उसमें इतिहास होनेकी निरस्त होगई।

(६) आगे स्वामीजीको 'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्। यद् देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्' (यजुः ३।६२) इस मन्त्रभागमें इतिहासकी स्वयं शंका हुई। पर 'चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः' इस शतपथके प्रमाणसे स्वामीजीने जमदग्निका अर्थ 'आंख' कर डाला, परन्तु 'आंख' यह गौण अर्थ है; क्योंकि वेदमें आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक यह तीन भी भाव कहीं-कहीं होते हैं। तब उसका ऋषिविशेष अर्थ भी नहीं हटाया जा सकता। नहीं तो फिर वेदमें 'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।... यजुस्तस्मादजायत' (यजुः ३१।७) इत्यादि मन्त्रोंमें ऋग्वेदादिका जो इतिहास बताया जाता है उसे भी गलत मानना पड़ेगा। फिर तो शतपथ-ब्राह्मणानुसार 'त्रयो वेदा एतएव, वागेव ऋग्वेदः, मनो यजुर्वेदः, प्राणः सामवेदः, (१४।४।३।१२) ऋग्वेदादिका भी केवल वाणी, मन और प्राण ही अर्थ करना पड़ेगा। तब क्या स्वा.द.जी वा उनके अनुयायी ऋभाभू.में किये हुए उक्त मन्त्रके—'तस्माद् यज्ञात्-सच्चिदानन्दादिलक्षणात् पूर्णात् पुरुषाद् ऋग्वेदादयश्चत्वारो वेदाः प्रकाशिता इति वेद्यम्' इस अपने अर्थको अशुद्ध माननेकी उदारता दिखावेंगे ? यदि नहीं; तब 'त्र्यायुषं जमदग्नेः' इत्यादि मन्त्रोंमें भी जमदग्नि आदिका ऋषिविशेष अर्थ भी नहीं हटाया जा सकता, क्योंकि ब्राह्मणभागकी शैली ही ऐसी है कि उसमें अर्थवादसे

एक शब्दके अनेक अर्थ बताये जाते हैं। जैसे कि इसमें निरुक्तकार भी साक्षी देते हैं—'बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति, अग्नि-र्वैश्वानरः, संवत्सरो वैश्वानरः, ब्राह्मणो वैश्वानरः' (७।२४।६)।

ब्राह्मणभागमें कई पदोंका 'आयुर्वै घृतम्' (तै. सं. २।३।२।२)की भांति माहात्म्य भी बताया जाता है; तब क्या वेदमें 'घृत'का अर्थ 'आयु' कर दिया जायगा? तब तो 'तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री' (शतपथब्रा. २।५।५) गायत्रीका भी वेदमें 'तेज' अर्थ हो जावे। 'आत्मा वै अग्निः' (शत. ७।३।१।२) आत्माका अर्थ सर्वत्र अग्नि कर दिया जावे। यदि नहीं किया जाता, तो यहां भी वैसा ही समझना चाहिये। जमदग्नि ऋषिको चक्षुः-स्थानीय माना गया है। जैसे—'अन्नं वै प्राणाः' में 'अन्न'को प्राण माना गया है. प्राणका पर्यायवाचक नहीं; वैसे ही जमदग्नि ऋषि भी चक्षुःकी भांति श्रेष्ठ थे, चक्षुका पर्यायवाचक नहीं? इससे जमदग्निका अभाव नहीं हो जाता, नहीं तो घृतको भी आयुसे भिन्न न माना जावे; अन्नको भी प्राणोंसे भिन्न न माना जावे। पर ऐसा है नहीं? कार्यकारणभाव आदि सम्बन्धोंका अभेद व्यवहार प्रसिद्ध ही है। प्रकृतमें भी ऐसा ही समझना चाहिये।

'त्र्यायुषं' मन्त्रका स्वा.द.जीने यह अर्थ किया है-'हे जगदीश्वर! भवत्कृपया नोऽस्माकं जमदग्निसंज्ञकस्य चक्षुषः, कश्यपाख्यस्य प्राणस्य च, त्र्यायुषं—त्रिगुणमर्थात् त्रीणि शतानि वर्षाणि यावत्, तावदायुरस्तु। देवेषु विद्वत्सु यद् विद्याप्रभावयुक्तं त्रिगुणमायुर्भवति; तन्नो अस्तु' (पृ. ८१) इस यजुर्वेदकी कण्डिकासे स्वामीजीने कैसा

बलात्कार किया है? चतुर्थपादसे सम्बद्ध 'नः अस्तु' का सम्ब[न्ध] उन्होंने पूर्वार्धसे बलात् बना डाला। केवल वेदसे इतिहास हटा[ने] लिए ही यह कृत्रिम कल्पना की गई। स्वा.द.जीने यहां 'देव[का] अर्थ विद्वान् *निर्मूलतासे कर डाला। यदि ऐसा अर्थ ठीक है [तो] स्वामीजीने विद्वानोंकी ३०० वा बनावटसे ४०० वर्षकी आयु मा[नी] है; तो प्रष्टव्य है कि स्वामीजी स्वयं तथा उनके अनुयायी स्वा[मी] दर्शनानन्द, पूर्णानन्द, तुलसीराम-स्वामी आदि विद्वान् थे। नहीं? यदि थे, तो उनकी ३००-४०० वर्षकी आयु क्यों न हुई विद्वान् न होने पर उन्हें उनके सिद्धान्तानुसार 'शूद्र' मान[ना] पड़ेगा। या फिर 'देव'का अर्थ 'विद्वान्' अशुद्ध मानना पड़ेगा 'सेयमुभयतः-स्पाशा रज्जुः'।

इस मन्त्रमें जिन विद्वानोंकी ३००-४०० वर्षकी आयु बता[ई] गई है, वे विद्वान इस मन्त्रसे पूर्व थे या पीछे हुए? यदि पू[र्व] तो यह मन्त्र पीछेका हो गया; क्योंकि—'इतिहास जिसका है उसके जन्मके पश्चात् लिखा जाता है; वह ग्रन्थ भी उसके जन्म[के] पश्चात् होता है' (स. प्र. ७ समु. पृ. १२७) ऐसा स्वामीजीका [मत] है। यदि वे मन्त्रभागसे पीछे हुए; तो मन्त्रभागमें भी भविष्यत्[का] इतिहास सिद्ध हो गया। तब इतिहास आनेसे ब्राह्मणभाग[से] वेदभिन्न कैसे हो जावेगा?

(ख) स्वा.द.जीने 'अग्ने! देवेषु प्रवोचः' (ऋ. १।२७।४) मन्[त्र]

*देवताका अर्थ विद्वान् नहीं होता, यह जाननेके लिए 'श्रीसना[तन] धर्मालोक' का चतुर्थ पुष्प हमसे मंगावें। मूल्य ५)।

का अर्थ ऐसे लिखा है, 'अग्ने !—अनन्त-विद्यामय जगदीश्वर ! देवेषु-सृष्ट्यादौ जातेषु पुण्यात्मसु अग्निवाय्वादित्याङ्गिरस्सु मनुष्येषु प्रवोचः-प्रोक्तवान्'। यहां प्रष्टव्य है कि यह अर्थ शुद्ध है या अशुद्ध ? यदि अशुद्ध; तो स्वा.द.जी अशुद्ध अर्थ करने वाले सिद्ध हो गये। तब उनके किये अर्थमात्रसे मन्त्रभागसे इतिहास नहीं हटाया जा सकता। यदि उक्त अर्थ ठीक माना जावे, तो मन्त्रभागमें भी भविष्यत्का इतिहास सिद्ध हो गया। तब उसके अर्थपरिवर्तनकी क्या आवश्यकता ? ब्राह्मणभागमें भी वैसा ही मान लेना चाहिये। उत्तररामचरितमें कहा गया है—

"लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते। ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति" (१।१०)। [लौकिक पुरुषों की वाणी तो उस पदार्थ बननेके बाद चलती है; पर आदिम ऋषियों (वेदों)की वाणी पहले निकलती है; तद्वाणी-प्रोक्त पदार्थ पीछे अपने समयपर उत्पन्न होता रहता है] वेद सर्वज्ञ भगवान्की वाणी है। सर्वज्ञकी दृष्टिमें भूत, भविष्यत्, वर्तमानकाल समान होते हैं। इसके अतिरिक्त वेदमें जिन ऋषि वा देवताओं आदिका वर्णन है, वे प्रत्येक कल्प वा मन्वन्तर वा युगमें प्रवाहरूपसे वैसे ही उत्पन्न होते रहते हैं, जैसेकि वेदमें प्रोक्त सूर्य, पृथिवी आदि। ऋषियोंकी एक विशेष जाति समझ लेनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त वेदवर्णित देव वा ऋषि आध्यात्मिक, आधिभौतिक, वा आधिदैविकरूप तीनों दशाओंमें रहनेसे भी नित्य माने जाते हैं। जैसे—'सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे' (यजुः ३४।५५) यहाँ सात प्राणरूप अध्यात्म ऋषि बताये गये हैं। आकाशस्थ

सप्तर्षिमण्डलमें वे आधिदैविक रूपसे हैं। इतिहाससूचित विश्वामित्र आदि वही सात ऋषि आधिभौतिक हैं। इस प्रकार आग्नेय प्राण भी देवता हैं, तारामण्डलमें भी इन्द्र आदि देवता हैं। मनुष्य-शरीरमें भी सूक्ष्मरूप देवता हैं। दिव्य लोकोंमें रहनेवाले शरीरी चेतन देव भी देवता हैं। इस प्रकार सौम्य प्राण भी पितर हैं, उनके आधार पर होनेवाली ऋतुएँ भी पितर हैं। प्रतिशरीरमें रहनेवाले सन्तानोत्पादक भाव भी पितर हैं। शरीर-त्यागके बाद सूक्ष्म शरीरसे चन्द्र आदि लोकोंमें जाने वाले जीव भी पितर होते हैं। और फिर इन सबके आपसमें सम्बन्ध हुआ करते हैं। इससे वेदमें इनके वर्णनसे वेद अनित्य वा आदिमान् नहीं हो जाते। नहीं तो फिर महाप्रलय आदिमें वेदोंके भी अध्ययन-अध्यापनादि विच्छिन्न होनेसे तिरोभूत होजानेपर फिर अन्य कल्पमें प्रकट होनेपर उनको भी इसी हेतुसे अनित्य मानना पड़ेगा; पर वादी भी ऐसा नहीं मानते। तब इतिहाससे वेदकी नित्यता कट नहीं जाती।

(ग) इस विषयमें हम स्वा.द.जीका एक स्पष्ट प्रमाण भी देते हैं। स्वामीने इसी प्रकरण (पृ० ८२-८३)में लिखा है—'तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्च अनुव्यचलन्' (अथर्व० १५।३०।११) 'इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च···प्रियं धाम भवति' (अथर्व० १५।३०।४) एतैः प्रमाणैः ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते, न श्रीमद्भागवतादीनाम्'। यहाँ प्रष्टव्य है कि यदि यहाँ 'इतिहास-पुराण' शब्द-से ब्राह्मण-ग्रन्थोंका ही ग्रहण है; तो यह मन्त्र ब्राह्मणभागके बननेके बाद बना ? या उससे पूर्व ? इसमें जो स्वामीजीका उत्तर होगा; वही

ब्राह्मणभागके इतिहासका भी हो जावेगा। नहीं तो उन्हें मन्त्रभागको भी वेदत्वसे पृथक् करना पड़ेगा; क्योंकि परमात्माने इतिहासादि-युक्त ब्राह्मण-भागका अपने मन्त्रभागमें उल्लेख कर दिया—यह मन्त्रभागमें स्वयं इतिहास आगया। यदि स्वामी भविष्यद् विचार करके ऐसा नहीं मानते; तो ब्राह्मणभागका 'पुराणेतिहास-संज्ञकत्वात्' यह अवेदत्वमें दिया हेतु कट गया।

(घ) आश्वलायनगृह्यसूत्र (अ. ३ पञ्चयज्ञप्रकरण)में 'ऋचो यजूँषि सामानि, अथर्वाङ्गिरसो, ब्राह्मणानि,...'इतिहास-पुराणानि' इसमें पुराण-इतिहास ब्राह्मणभागसे पृथक् रखे गये हैं। तैत्तिरी-यारण्यक (२ प्र. ६ अनु. २ मं.) में 'ब्राह्मणानि, इतिहासान्, पुराणानि' यहाँ भी इतिहास-पुराणोंको ब्राह्मणभागसे पृथक् कहा गया है। गोपथब्राह्मणमें—'सर्वे वेदा निर्मिताः...स-ब्राह्मणाः, सेति-हासाः, सपुराणाः' (१।२।१०) यहाँ भी ब्राह्मणभागसे इतिहास-पुराण पृथक् कहे गये हैं, न्यायदर्शनका प्रमाण इस विषयमें पूर्व दिया ही जा चुका है; तब 'पुराणेतिहाससंज्ञकत्वाद्' यह ब्राह्मणभागकी अवेदतामें स्वा.द.जीसे कहा हुआ हेतु निराकृत होगया, क्योंकि ब्राह्मणभाग पुराण-इतिहाससे भिन्न सिद्ध होगया।

(२)

(१०) जो कि ऋभाभू.के ८६ पृष्ठमें स्वामीजीने 'वेदव्या-ख्यानात्' ब्राह्मणानि तु वेद-व्याख्यानान्येव सन्ति, नैव वेदाख्यानि-इति' यह ब्राह्मणभागकी अवेदतामें हेतु दिया है; उसपर भी विचार कर लेना चाहिये। यह कैसी निस्सार युक्ति है कि—परमात्मा-

से कही हुई अपने ही वचनोंकी व्याख्या भी वेद न हो! सोचने बात है कि—स्वा.द.जीने मूल ऋ.भा.भू. संस्कृतमें लिखी; उसकी स्वयं हिन्दी व्याख्या भी लिखी है; तब वह क्या हिन्दी व्याख्या 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' नहीं रहेगी? तो क्या फिर 'कुरान' वा 'बायबल' हो जायगी! तब तो वेदके मूलका रटनेवा ही वैदिक रहेगा; उसका अर्थज्ञाता तो वैदिक नहीं रहेगा!

वेदके भाग मन्त्रकी व्याख्याको अवेद माना जावे तो एक मन्त्र दूसरे मन्त्रमें कही गई व्याख्या भी, जिसके लिए निरुक्तकार कहाँ करते हैं—'तस्य उत्तरा भूयसे निर्वचनाय' (३।२।२, २।१२।१ इत्यादि) उस मन्त्रको अवेद कर देनेवाली होगी, जैसे कि—'परिषद्यं ह्यरण रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम। न शेषोऽग्ने! अन्यजातम अचेतानस्य' (ऋ. सं. ७।४।७) इस मन्त्रकी व्याख्या देखिये इ मन्त्रमें 'न हि ग्रभाय अरणः सुशेवोन्योदर्यो मनसा मन्तवाउ। आ नो वाजी अभीषाड् एतु नव्यः' (७।४।८)। इस प्रकार आर्ष्टिषे होत्रमृषिर्निषीदन् देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान्। ...अपो दिव असृजद् वर्ष्या अभि' (ऋ. १०।९८।५) इस मन्त्रकी व्याख्या देखि अग्रिम मन्त्रमें—'यद् देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृ कृपयन् अदीध्येत्। देवश्रुतिं वृष्टिवनिं रराणो' (ऋ. १०।९८ और देखिये—ऋ. १०।१६।१ में 'यदा शृतं कृणवो जातवेदः अथेमेनं प्रहिणुतात् पितृभ्यः' यह कहा है, इसीका अनुवाद इस अग्रिम मन्त्रमें 'शृतं यदा करसि जातवेदः! अथेमेनं परिदत्त पितृभ्यः' (१०।१६।२) यह कहा है; तब क्या यह मन्त्र वेद

रहेगा? इसप्रकारके एक मन्त्रके अनुवादक अन्य मन्त्र बहुत दिखलाये जा सकते हैं। यदि यहां 'व्याख्या' न मानकर इतरेतरशेषपूर्ति मानी जावे; तो यही बात मन्त्रभाग एवं ब्राह्मणभागमें भी समझनी चाहिये। ब्राह्मणभागमें भी मन्त्रभागकी सीधी व्याख्या नहीं है; किन्तु इतरेतरकी शेषपूर्ति ही है। जैसाकि—अपने अथर्ववेदभाष्यकी भूमिका (पृ. १६)में आर्यसमाजी विद्वान् श्रीराजारामजी शास्त्रीने लिखा है—'कालकी दृष्टिसे मन्त्रोंके सबसे पुराने व्याख्यान ब्राह्मणग्रन्थ हैं, उनका मुख्य विषय यज्ञोंकी प्रक्रिया और उनके फलोंका वर्णन है, न कि मन्त्रोंका व्याख्यान। तथापि प्रसङ्गसे कई मन्त्रों वा मन्त्र-खण्डों वा पदोंका व्याख्यान भी उनमें पाया जाता है और यह भी कि उनमें कहे मन्त्रोंके विनियोगसे भी मन्त्रार्थपर प्रकाश पड़ता है'।...पर यह ध्यान रखना चाहिये कि ब्राह्मणोंमें भक्तिवाद बहुत है।...यदि कोई ब्राह्मणोंके उन प्रमाणोंके आश्रयसे किसी शब्दके भक्तिवादवाले अर्थ ले,* तो वह ऐसी भूल करेगा, जैसे कोई 'आयुर्वै घृतम्' प्रमाणके सहारे पर आयुका अर्थ घृत और घृतका अर्थ आयु करे। इसलिए ब्राह्मणभागके भक्तिवाद मन्त्रार्थके निर्धारण में प्रमाण नहीं माने जा सकते'।

इससे स्पष्ट हुआ कि—ब्राह्मणभाग मन्त्रभागका अनुवादमात्र नहीं; किन्तु उपबृंहक एवं शेषपूरक हैं। आर्यसमाजी विद्वान् श्रीब्रह्मदत्त जिज्ञासुजीने भी यजुर्वेदभाष्यविवरणभूमिका (प्र. सं.)के ४६-४७ पृष्ठमें लिखा है—'वह होते हुए भी हम इन्हें [ब्राह्मणग्रन्थोंको] वेदके भाष्य नहीं कह सकते, हां, वेदार्थोपबृंहक कह सकते हैं...वेदार्थके सीधे प्रतिपादक नहीं।...आरण्यक उपनिषद् भी साक्षात् वेदोंके भाष्य नहीं कहे जा सकते अर्थात् वेदके भाष्य नहीं। तब स्वामीजी का 'वेदव्याख्यानात्' यह ब्राह्मणभागकी अवेदतामें कहा हुआ हेतु निरस्त हो गया।

*जैसा कि हम 'त्र्यायुषं' मन्त्रका स्वा.द.जीका अर्थ दिखला आये हैं। वह भक्तिवादवाला अर्थ है।

फिर भी यदि स्वामीजीकी बात मान लें कि वेदका व्याख्यान वेद नहीं; तब तो व्याकरणकी व्याख्या महाभाष्य भी व्याकरण नहीं रहेगा। फिर तो स्वा.द.जीकी निम्न बात भी गलत हो जायगी। श्रीदयानन्दप्रकाशमें गङ्गाकाण्ड दूसरा सर्ग पृ. ७१ में लिखा है—'मैथिल पण्डितने कहा—महाभाष्य तो व्याकरण ही नहीं। स्वामीजी ने उठते हुए कहा कि यह एक विलक्षण सभा है, जिसमें महाभाष्य व्याकरण नहीं माना जाता, और यह पण्डितजी भी एक विचित्र बुद्धिके धनी हैं, जो भाष्यकी गणना व्याकरणमें नहीं करते'। श्रीदेवेन्द्रनाथ मुखोपाध्यायके दयानन्दचरित्र ७६ पृष्ठमें भी ऐसा ही कहा है। शोलेतूरमें छपवाये अपने विज्ञापनमें भी स्वामीने लिखा था—'व्याकरणम्...तत्र द्वौ ग्रन्थौ, अष्टाध्यायी-व्याकरण-महाभाष्याख्यौ सत्यौ वेदितव्यौ' यहां पर भी स्वामीने व्याकरणके व्याख्यान महाभाष्यको व्याकरण माना है, उनके गुरु स्वा. विरजानन्द जीका मत भी यही था। तब वेदके व्याख्यान ब्राह्मणभागको भी वेद स्वतः ही मानना पड़ेगा। नहीं तो महाभाष्य पढ़ने पर 'व्याकरणं पठति स्म स्वा. दयानन्दः श्रीविरजानन्दात्' ऐसा नहीं

कहा जा सकेगा। जैसे महाभाष्य व्याकरणका व्याख्यान होता हुआ भी उपबृंहक होनेसे व्याकरण माना जाता है; वैसे ब्राह्मणभाग भी वेद है। ब्राह्मणभाग पढ़नेके समय भी 'वेदं पठति' कहा जा सकता है, और कहा जाता है।

जो लोग 'सूत्रं व्याकरणं' इस भाष्यकारके कथनसे महाभाष्यको व्याकरण न मानें; वे फिर वार्तिकपाठको भी असूत्र होनेसे व्याकरण न मानेंगे, पर शेषपूरक होनेसे उसे भी जैसे व्याकरण मानते हैं, वैसे ही सूत्रके भाष्य वृत्ति आदि भी व्याकरण ही माने जाते हैं, नहीं तो महाभाष्यसे साधित प्रयोग प्रामाणिक नहीं माने जा सकेंगे। पर ऐसा नहीं; तभी तो 'त्रिमुनि व्याकरणम्' कहते हैं। क्या प्रतिपक्षी लोग अष्टाध्यायीके मूलमात्रके घोषकको वैयाकरण मानेंगे, या अर्थसहित उसके अध्येताको? यदि अर्थ-सहित अध्येताको; तो अर्थ भी वही (मूल) सिद्ध हुआ, क्योंकि—'तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति' इस महाभाष्यके वचनसे 'सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके' इस कथनसे व्याख्यान भी मूल ही होता है। तब ब्राह्मणभाग भी मूल मन्त्रभाग ही है; यह सिद्ध होनेसे वेद प्रतिफलित हुआ।

स्वा.द.जीसे यह प्रष्टव्य है कि—यदि परमात्मासे किया वेदका व्याख्यान (ब्राह्मणभाग) वेद नहीं, तो परमात्मासे किया गया वेदका व्याख्यान मन्त्रभाग भी वेद कैसे रहेगा? यदि कहा जावे कि—ब्राह्मणभाग ऋषियोंसे की गई मन्त्रभागकी व्याख्या है, परमात्माकी नहीं, तो बताना चाहिये कि—ऋषियोंने वे अर्थ कहांसे लिये? ईश्वरसे

भिन्न उसके वेदके अर्थको कौन कर सकता था? जैसाकि 'भ्रमोच्छेद[illegible] १६ पृष्ठमें स्वामीजीने ही लिखा है—'क्या जो परमेश्वर अपने [illegible] वेदोंमें अपनी स्वरूपविद्याका प्रकाश न करता; तो किसी ऋ[illegible] मुनिका सामर्थ्य ब्रह्मविद्याके कहनेमें कभी हो सकता था? क्यों[illegible] कारणके बिना कार्य होना सर्वथा असम्भव है।' (पृ० १२-[illegible]

सत्यार्थप्रकाशमें भी लिखा गया है—। (प्रश्न) वेद संस्कृत-भा[illegible] प्रकाशित हुए, और ऋषि लोग संस्कृतभाषाको नहीं जानते[illegible] फिर वेदोंका अर्थ उन्होंने कैसे जाना? (उ०) परमात्माने जना[illegible] धर्मात्मा योगी महर्षि लोग जब-जब जिस-जिस अर्थके जानने[illegible] इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वरके स्वरूपमें समाधिस्थित हु[illegible] तब-तब परमात्माने अभीष्ट मन्त्रोंके अर्थ जनाये; ·· 'उनका नाम ब्राह्[illegible] हुआ' (७ समु. पृ. १२६) इससे स्पष्ट हुआ कि—जैसे ईश्वरने ऋषि[illegible] मनमें शब्द-मन्त्रभाग प्रादुर्भूत किया; वैसे अर्थ-ब्राह्मणभाग भी; क्यों[illegible] 'स पूर्वेषामपि गुरुः' (योगदर्शन समाधिपाद २६)। तार-बाबू [illegible] प्राप्त हुए वृत्तको जैसा पाता है, वैसा ही लिख लेता है, वह उसका [illegible] हुआ नहीं हो जाता। वैसे ही समाधिमें परमात्मासे दी हुई जो [illegible] पश्यन्ती, मध्यमा वाक्-रूप ध्वनियाँ ऋषियोंने सुनीं; चाहे वे शब्दकी [illegible] वा अर्थ की; वैसी ही वे निबद्ध कर ली गईं; वे उनकी अपनी बन[illegible] नहीं कही जा सकतीं। यदि कही भी जावें; तो फिर दोनों ही वा[illegible] ध्वनियोंको 'कृत' कहा जा सकेगा। पर जैसे ऋषियोंसे समाधि[illegible] दृष्ट और प्रोक्त मन्त्रभाग ऋषिकृत नहीं कहा जाता; किन्तु ऋषिदृष्ट [illegible] वैसेही ऋषियोंसे समाधिद्वारा दृष्ट मन्त्रार्थ-ब्राह्मणभाग भी ऋषिदृष्ट ही

ऋषिप्रणीत नहीं। प्रणेता उनका भी ईश्वर ही सिद्ध हुआ।

तब मूल-पुस्तक तथा उसका व्याख्यान-पुस्तक समानकर्ता होनेपर समान ही प्रमाण माना जाता है; तथा समान-विषय ही माना जाता है। मन्त्र-ब्राह्मण यह एकदेशी नाम भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु वेद दोनों हैं। जैसे-अष्टाध्यायी तथा पातञ्जलमहाभाष्य, यह मूल और व्याख्यान होते हुए भी व्याकरण दोनों हैं, वैसे यहाँ पर भी। मन्त्र-ब्राह्मण दोनोंके प्रवक्ता ऋषि हैं, प्रणेता तो परमात्मा ही है; अतः दोनों वेद हैं। वस्तुतः ब्राह्मणभाग मन्त्रभागका टीकात्मक व्याख्यान नहीं; दोनोंमें एक दूसरेकी शेषपूर्ति ही है। कहीं स्पष्टता भी-यह हम पूर्व संकेत दे चुके हैं।

(ख) कई महाशय ब्राह्मणभागको मन्त्रभागके भाष्य होनेसे मन्त्रभागसे पीछे बने होने के कारण, एक समयमें न होनेसे उसे अवेद मानें; यह भी ठीक नहीं। नहीं तो ऋग्-यजुः-साम-अथर्वात्मक मन्त्रभागमें भी क्रम दीखनेसे और क्रममें काल-भेद अनिवार्य होनेसे यजुर्वेद-संहिता आदिके भी ऋग्वेदसे पीछे बने होनेसे वे भी अवेद हो जाएंगे। फिर तो ऋग्वेदके २-३-४ आदि मण्डलोंके भी, पहले मण्डलके बाद बने होनेसे वे भी अवेद हो जाएंगे। बल्कि-'अग्निमीळे पुरोहितं' (ऋ. सं. १।१।१) इसके बादके मन्त्र भी इसके पीछे बने होनेसे (नहीं तो मण्डल, काण्ड, अध्याय, अनुवाक, सूक्त, मन्त्र आदिका संख्या-भेद न होता) सब मन्त्र अवेद ही हो जावेंगे। फिर तो अष्टाध्यायीसे पीछे बने वार्तिक तथा महाभाष्य भी व्याकरण न माने जा सकेंगे। यदि इनमें एक-

कालिकता है; तो मन्त्रभाग-ब्राह्मणभागमें भी वह है, क्योंकि-शब्दोंका अर्थोंके साथ सम्बन्ध नित्य हुआ करता है। हाँ, भिन्न-भिन्न समयमें ऋषियोंने समाधि लगाई हो; अतः मन्त्र और ब्राह्मण भिन्न-भिन्न समयमें मिले हों-यह भिन्न बात है। इस प्रकार तो मन्त्र भी भिन्न-भिन्न समयकी समाधिमें भिन्न-भिन्न समयमें भिन्न-भिन्न ऋषियोंको मिले; तो क्या वे भी अवेद मान लिये जाएंगे? यदि ऐसा नहीं; तब ब्राह्मणभागकी अवेदतामें दिया हुआ 'वेद-व्याख्यानात्' यह हेतु निरस्त होगया। वस्तुतः यह हेतु अशुद्ध ही है। इसे 'मन्त्र-व्याख्यानात्' तो कथञ्चित् कहा जा सकता था; 'वेद-व्याख्यानात्' नहीं। क्योंकि-वेदका व्याख्यान जैसे ब्राह्मणभाग है, वैसे मन्त्रभाग भी तो वेदका व्याख्यान ही है। वेद दोनों ही हैं।

(३)

(११) ऋ.भा.भू.के ८७ पृष्ठमें ब्राह्मणभागकी अवेदतामें तीसरा हेतु दिया गया है—'ऋषिभिरुक्तत्वात्' (यह ऋषियोंसे प्रोक्त है), और उसमें 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (४।३।१०५) इस पाणिनि-सूत्रको प्रमाणित करके 'प्राचीनैर्ब्रह्माद्यृषिभिः (?) प्रोक्ता ब्राह्मण-कल्पग्रन्थाः' यह व्याख्या करके ब्राह्मणभागको ऋषि-प्रोक्त एवं वेदभिन्न बताया गया है—यह भी ठीक नहीं; क्योंकि-ब्राह्मणभागकी भांति मन्त्रभाग भी ऋषिप्रोक्त ही है; जैसेकि-'शौनकादिभ्यः छन्दसि' (४।३।१०६) यहाँ छन्दः (वेद)को शौनकादि-ऋषियोंसे प्रोक्त कहा गया है। वर्तमान अथर्ववेद-संहिताके प्रवक्ता शौनक ऋषि बताये गये हैं। इसी गणमें 'वाजसनेय' ऋषिसे प्रोक्त छन्द (वेद)का नाम भी आया है, यह वर्तमान

शुक्लयजुर्वेदसंहिताका नाम है। इसी लक्ष्यसे न्यायदर्शनके ४।१।६२ सूत्रभाष्यमें 'य एव मन्त्र-ब्राह्मणस्य द्रष्टारः, प्रवक्तारश्च' यहाँ मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग दोनोंके द्रष्टा एवं प्रवक्ता ऋषि माने गये हैं। जैसे ऋषियोंसे प्रोक्त होनेसे ब्राह्मणभागके नाम ऐतरेय, वाजसनेयक (शतपथ) ताण्ड्य-आदि प्रसिद्ध हैं; वैसे ही वर्तमान ऋ.सं.के शाकल्य ऋषि-से प्रोक्त होनेसे शाकल्य-संहिता, यजुः सं. के वाजसनेय ऋषिसे प्रोक्त होनेसे वाजसनेय-संहिता, (देखिये शतपथ-ब्राह्मणके अन्तमें) कुथुम ऋषिसे प्रोक्त होनेसे वर्तमान सामवेदसं.का नाम 'कौथुम-संहिता', और शौनक-ऋषिसे प्रोक्त होनेसे वर्तमान अथर्व.सं.का नाम 'शौनक-संहिता' प्रसिद्ध है। नहीं तो प्रतिपक्षियोंको बताना पड़ेगा कि-किस ऋषिने कब कौनसा ब्राह्मण रचा? जैसे ब्राह्मण-भागका ऋषिनामसे सम्बन्ध है; वैसे मन्त्रभागका भी ऋषियोंके नामसे सम्बन्ध है यह हम अभी-अभी पाणिनि-सूत्रसे बता चुके हैं। दोनों स्थान समान उत्तर है। प्रोक्तत्वसे कृतत्व नहीं हो जाता। जो प्रोक्तसे 'कृत' अर्थ लेते हैं; वे मन्त्रभागकी सभी ११३१ संहिताओं-को-जिसमें वर्तमान प्रचलित चार संहिताएँ सम्बन्धित हैं—ऋषिकृत ही मानते हैं।

(१२) कई पण्डित कहते हैं कि-"महाभारत शान्तिपर्वमें-'ततः शतपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससंग्रहम्। चक्रे सपरिशेषं च हर्षेण परमेण ह' (३१८।१६) यहाँ शतपथ-ब्राह्मणको याज्ञवल्क्य-ऋषि द्वारा बनाया हुआ कहा गया है; अतः ब्राह्मणभाग ऋषिकृत ही है। तब पौरुषेय होनेसे वह वेद कैसे हो सकता है? मन्त्रभाग तो ऋषिकृत

नहीं है; अतः अपौरुषेय ही है'।

इसपर हमारा उत्तर यह है कि—उक्त पद्यमें 'चक्रे' पदसे ही प्रतिपक्षियोंको भ्रम हुआ है। वस्तुतः यहां 'कृ' धातुका अर्थ है 'प्रकथन'। 'कृ' धातु क्रियासामान्यवाची भी हुआ करती है, तभी तो 'भावयाञ्चकार, गणयाञ्चकार' इत्यादिमें भी उसका प्रयोग होता है। 'ब्राह्मणः प्रणवं कुर्याद् आदावन्ते च सर्वदा' (२।७४) इस मनुके पद्यमें कृधातुका अर्थ प्रकथन (उच्चारण) है। 'कथां प्रकुरुते' यहां भी 'कथा कहता है' यह अर्थ है 'कथा बनाता है' अर्थ नहीं। 'भट्टोजिदीक्षितकृतिः सैषा सिद्धान्तकौमुदी' यहां भी 'कृ' धातुका अर्थ 'प्रवचन' है, निर्माण नहीं; क्योंकि सिद्धान्तकौमुदी-स्थित सूत्र वार्तिक, भाष्य, उदाहरण आदि श्रीदीक्षितके बनाये नहीं। इसी प्रकार उक्त महाभारतके वचनमें भी 'अहं याज्ञवल्क्यः शतपथं चक्रे' यहां भी 'मैंने शतपथका प्रवचन किया' यही अर्थ प्राकरणिक है।

'गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्न-प्रकथनोपयोगेषु कृञः' (१।३।३२) इस पाणिनिसूत्रमें कृञ् धातुका 'प्रकथन' अर्थ प्रसिद्ध ही है। इसीलिए स्वयं शतपथब्राह्मणके अन्तमें 'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येन आख्यायन्ते' (१४।९।४।३३) यहां शतपथका 'आख्यान' (प्रकथन) कहा है, निर्माण नहीं। यहांपर 'शुक्लानि यजूंषि' से यजुः-मन्त्रसंहिता तथा शतपथब्राह्मण का ग्रहण इष्ट है; इससे ब्राह्मणभाग भी वेद हो गया। वह शतपथ आया तो आदित्यसे था, जैसा कि महाभारतके उक्त स्थलमें स्पष्ट है। तब याज्ञवल्क्य उसका निर्माता कैसे हो सकता है?

महाभारतके उक्त स्थलमें याज्ञवल्क्यने सूर्यके प्रति कहा था—'यजूंषि चोपयुक्तानि क्षिप्रमिच्छामि वेदितुम्' (३१८।५) यहां 'यजूंषि'से यजुर्वेदका शतपथब्राह्मण भी इष्ट है क्योंकि उस-उस वेदका ब्राह्मण भी उसी वेदके नामसे कहा जाता है। 'ततो मां भगवानाह वितरिष्यामि ते द्विज! सरस्वती ह वाग्भूता शरीरं ते प्रवेक्ष्यति' (३१८।६) यह सूर्यने याज्ञवल्क्यको कहा था। 'मया (याज्ञवल्क्येन)ऽऽदित्यादवाप्तानि यजूंषि मिथिलाधिप' (३१८।२) यह याज्ञवल्क्यकी जनकके प्रति उक्ति है कि मैंने यजुर्वेद (मन्त्र तथा ब्राह्मण-शतपथ) सूर्यसे प्राप्त किया। इससे स्पष्ट है कि सूर्यने शतपथब्राह्मण सरस्वती-द्वारा याज्ञवल्क्यको दिया; और याज्ञवल्क्य ने उसका उच्चारण करके उसे प्रकट किया। इसीलिए सूर्यने याज्ञवल्क्यको अपना मुँह खोलनेकेलिए कहा था—'ततो मामाह भगवान् (सूर्यः) आस्यं स्वं विवृतं कुरु। विवृतं च ततो मे (मया)ऽऽस्यं प्रविष्टा च सरस्वती' (३१८।७) इससे सूर्यसे प्राप्त शतपथका याज्ञवल्क्य-द्वारा प्रवचन ही स्पष्ट है, निर्माण नहीं। यही बात बताने-वाले 'सूर्यस्य चानुभावेन प्रवृत्तोहं नराधिप!' (३१८।२२) 'कर्तुं शतपथं चेदमपूर्वं च कृतं मया' एतदादिक पद्य हैं। इसीलिए ही शतपथमें ही स्थान-स्थान पर आया है कि—'तदु होवाच याज्ञवल्क्यः' (१।३।४।२१) 'इति ह स्माह याज्ञवल्क्यः' (३।३।३।१०) इत्यादि। इसीलिए महाभारतके टीकाकार श्रीनीलकण्ठने भी उक्त-स्थलमें आये हुए 'चक्रे'केलिए लिखा है—'चक्रे-कर्मकर्तरि प्रयोगः', स्वयमेव आविरभूद् इत्यर्थः, 'कर्तुम्-प्रकटीकर्तुम्'। इससे हमारा अर्थ समूल सिद्ध हो गया।

यदि प्रतिपक्षियोंका 'कृ'धातुके 'निर्माण' अर्थमें ही आग्रह हो तो दीक्षितकी कृति वैयाकरणसिद्धान्त-कौमुदीपर पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, इनका स्वामित्व न रह सकेगा; पर यह अनिष्ट है। फिर ऐसा होनेपर 'सूर्य ऋषिर्मन्त्रकृत' (ऐत.ब्रा. ६।१) 'यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत'. (ऋ.सं. १०।७१।२) 'ऋषिः कुत्सो भवति, कर्ता स्तोमानाम्' (निरुक्त ३।२।५) 'ऋषे! मन्त्रकृतां स्तोमैः' (ऋ. ६।११४।२) 'मन्त्रकाराः' (अथर्व. ३।२।२३) 'यामृषयो मन्त्रकृतः' (तै.ब्रा. २।८।८(४) यहां तो मन्त्रभागके साथ ही 'कृ'धातुका प्रयोग है; तो क्या प्रतिपक्षी भी मन्त्रभागको ऋषिप्रणीत ही मानेंगे? वस्तुतः एतदादिक अवसरों में 'कृ'धातुका प्रकथन अर्थ ही प्राकरणिक है, या दर्शन अर्थ। जैसे कि—'ऋषिः कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानाम्-इत्यौपमन्यवः' (नि. ३। ११।५) यहां औपमन्यवने ऋषिविशेषको स्तोमोंका कर्ता कहा है, वहीं निरुक्तमें औपमन्यवने 'ऋषिर्दर्शनात्, स्तोमान् ददर्श'(२।११।१) यहां ऋषिको स्तोमका द्रष्टा कहा है। इससे उसके अनुसार कृधातुका दर्शन अर्थ है, निर्माण नहीं। नहीं तो फिर 'ततः स ऋचमुद्धृत्य ऋग्वेदं कृतवान् मुनिः। यजूंषि...यजुर्वेदतरोः शाखाः सप्तविंश-न्महामतिः। वैशम्पायननामासौ व्यासशिष्यश्चकार वै' (विष्णुपुराण (३।५।१-२) के अनुसार वेद भी ऋषियों द्वारा बनाये माने जावें; पर प्रतिपक्षियोंको भी ऐसा इष्ट नहीं।

जैसे शाकल्य, वाजसनेय, कुथुम, शौनक आदि ऋषियोंसे प्रोक्त वर्तमान ऋक्, यजु, साम, अथर्वसंहिताएँ शाकल, वाजसनेय,

कौथुम, शौनकसंहिता नामोंसे प्रसिद्ध हैं; वैसे ही ब्राह्मण भी। दोनों स्थान समान उत्तर है। अतः इस अवसर पर कृधातुका प्रवचन वा दर्शन अर्थ है; निर्माण नहीं। जैसे कि—ऐतरेयके प्रमाणका अर्थ करते हुए श्रीसायणने लिखा है—'करोतिधातुस्तत्र दर्शनार्थः (६।१) (पूना सं० पृ० ६७७)। 'शूरोसि कृतविद्योसि' इस पञ्चतन्त्रके पद्यमें 'कृत' का अर्थ 'अधीत' वा 'अभ्यस्त' है, निर्मित नहीं। तैत्तिरीयारण्यकमें भट्टभास्करने लिखा है—'मन्त्रकृद्भ्यः मन्त्राणां द्रष्टृभ्यः, दर्शनमेव कर्तृत्वम्। (मैसूर सं० भा० ३ पृ० १)। 'तव मन्त्रकृतः' (रघुवंश १।६१) यहाँ मल्लिनाथने लिखा है—'मन्त्रकृतः-मन्त्राणां स्रष्टुः, मन्त्राणां प्रयोक्तुरिति'। यहां कर्ताका अर्थ 'प्रयोक्ता' किया गया है। कात्यायन-श्रौतसूत्र (३।२।६) में कर्काचार्यने लिखा है—'मन्त्रकृतो मन्त्रदृश इति उच्यन्ते, नहि मन्त्राणां करणं भवति, अनित्यत्व-प्रसङ्गात्। तेन दर्शनार्थः कृञ् इत्यध्यवसीयते। दृश्यते चानेकार्थता धातूनाम्, 'गन्धनावक्षेपण··· कृञः' (अष्टा० ७।३।७७) इत्यात्मनेपदप्रतिपादने गन्धनादीन् अर्थान् कृञो दर्शयति'। 'अकृतास्त्रश्च राघवः' (वाल्मी० ३।३८।६) यहां 'अशिक्षितास्त्रः' अर्थ है; तब 'कृत'का अर्थ 'शिक्षित' भी है। 'कृतहस्ततया' (मृच्छकटिक ६।३४) यहाँ 'कृत'का अर्थ 'अभ्यस्त' है। इस प्रकार महाभाष्यमें 'लौकिकेषु वैदिकेषु च दृष्टान्तेषु'के स्थान 'कृतान्तेषु' कृधातुवाला प्रयोग 'दृष्ट' अर्थ वाला भी देखा गया है। इसलिए स्पष्ट है कि 'कृ' धातु केवल 'अभूतप्रादुर्भाव' अर्थमें नहीं होता, उसके 'गन्धनावक्षेपण...प्रकथन' इत्यादि अन्य अर्थ भी

होते हैं। भाष्यकारने 'बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति' यह कहकर धातुओंके अनेक अर्थ माने हैं, कृ-धातु तो क्रिया-सामान्यार्थमें प्रसिद्ध है ही। इस प्रकार अध्ययनार्थमें भी करोतिका प्रयोग होता है। जैसा कि भाष्यमें—'प्रत्यक्षकारिग्रहणं कर्तव्यम्' (४।३।१०१) यहां 'प्रत्यक्षाध्यायी' अर्थ है। इसी प्रकार 'मन्त्रकृतोऽध्वर्यूं वृणीते' (सत्या. श्रौ. २।१।१३) 'उदङ्मुखो मन्त्रकारः' (मानवगृ. १।८।२) इन पदोंका सामञ्जस्य भी इसी भांति होता है।

फलतः 'शतपथं चक्रे'में भी 'कृ' धातुका प्रकथन वा दर्शन अर्थ है। सत्यार्थप्रकाश (पृ० १२५, १२६) में स्वामीने स्वयं माना है कि ऋषियोंने परमात्माके स्वरूपमें समाधि लगाई; तब उन्हें मन्त्र भी मिले, उनके अर्थ ब्राह्मण भी। स्वामीने 'ऋषिप्रोक्त' कहा है, इससे हमारे पक्षकी हानि नहीं—'यत् तेन प्रोक्तम्, न तत् तेन कृतम्' (महाभाष्य ४।३।१०१)।

(प्रश्न) ब्राह्मणभागमें तो ऋग्वेदादिका नाम मिलता है, पर ऋग्वेदादिमें तो ब्राह्मणभागका नाम नहीं मिलता; अतः वह अर्वाचीन तथा अनीश्वरोक्त एवं अवेद है। (उ०) स्वा० द० जीने ऋ. भा. भू. के ८२।८३ पृष्ठोंमें अथर्ववेदके मन्त्रको देकर उससे कहा है—'तमितिहासश्च पुराणं च' एभिः प्रमाणैर्ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते'। इस प्रकार अथर्व. में भी 'ब्राह्मणभाग' का नाम आ गया। संस्कारविधिके प्रथम-संस्करणमें भी स्वा. द.जीने 'तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्मज्येष्ठं' (अथर्व० ११।५।२३) इस मन्त्रमें नपुंसकलिङ्ग 'ब्राह्मण'का 'ब्राह्मणभाग' अर्थ किया है, जिसमें 'ब्रह्म' (मन्त्रभाग

दिया है; वैसे ही वेदका नाम लेकर पूर्वोक्त न्यायसे भाष्यकारने 'पयोव्रतो ब्राह्मणो' इत्यादि केवल ब्राह्मणभागका भी उदाहरण दिया है। इससे भाष्यकारके मतमें दोनों वेद सिद्ध हुए। नहीं तो फिर भाष्यकारसे उद्धृत मन्त्र ही अथर्ववेद, यजुर्वेद, ऋग्वेद, सामवेद मानने पड़ेंगे; उसके आगेके मन्त्र लौकिक मानने पड़ेंगे, क्योंकि भाष्यकारने उन्हें उदाहृत नहीं किया। परन्तु ऐसा नहीं, किन्तु वेदसे मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग दोनों ही गृहीत होते हैं। अब यह वक्ताकी इच्छा है कि वेदके उदाहरणके समय किसी एक भी अवयवका उद्धरण दे दें। मनु-स्मृति (२।६)के भाष्यमें प्रसिद्ध प्राचीन टीकाकार श्रीमेधातिथिने कहा है—'वेदशब्देन ऋग्यजुःसामादीनि ब्राह्मणसहितान्युच्यन्ते'। श्रीकुल्लूकभट्टने भी कहा है—'वेदः सर्वो विध्यर्थवादमन्त्रात्मा धर्मे मूलं प्रमाणम्'। इस प्रकार मनुके ३।२ पद्यमें भी श्रीकुल्लूकभट्टने कहा है—'वेदशब्दोऽयं भिन्न-वेदशाखापरः। स्वशाखाध्ययनपूर्वक-वेदशाखात्रयं द्वयमेकां वा शाखां मन्त्र-ब्राह्मणक्रमेण अधीत्य'। यहां श्रीमेधातिथिने लिखा है—'वेद-शब्दः शाखावचनो व्याख्यातः'। श्रीगोविन्दराजने यहां लिखा है—स्वशाखां पूर्वं क्रमेण 'मन्त्रब्राह्मणैः'। २।१६५ मनुपद्यमें श्रीमेधातिथिने लिखा है—'वेदशब्दो मन्त्रब्राह्मण-वाक्यसमुदायात्मिकां शाखामाचष्टे'। इससे स्पष्ट हो गया कि 'वेद' शब्दसे मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग दोनों गृहीत हो जाते हैं।

प्रतिपक्षियोंके पक्षमें दूसरी बड़ी त्रुटि यह पड़ती है कि वे जिस शौनकसंहिताको अथर्ववेद मानते हैं; उसका आदिम मन्त्र 'ये त्रिषप्ताः परियन्ति' यह है; 'शंनोदेवी' यह भाष्यकारोक्त वा स्वा.दयानन्दोक्त

मन्त्र नहीं। ऐसा होनेपर स्वामीजीको अपनी अजमेर वैदिकयन्त्रालय में प्रकाशित अथर्ववेदसंहिताको वेद न मानना पड़ेगा; अथवा भाष्यकार वा अपने अनुसार 'शंनोदेवी' इस सर्वप्रथम-मन्त्रवाली अथर्ववेद-संहिताको अवेद मानना पड़ेगा; अथवा स्वामीको पैप्पलादसंहिता आदि सभी संहिताओं को वेद मानना पड़ेगा।*

स्वामी का यह तर्क भी सचमुच अद्भुत है कि—'गौरश्वः पुरुषः' आदि भाष्यकारसे दिये हुए लौकिकोदाहरण ब्राह्मणभागमें घटते हैं; क्योंकि उन्हींमें ऐसे शब्दोंका व्यवहार दीखता है'। क्या 'गौः, अश्वः' आदि किसी ब्राह्मणग्रन्थकी आदिमें है, जोकि भाष्यकारने उन्हें प्रथम-प्रतीक रूपमें उद्धृत किया? यदि नहीं; तो इनका स्वामीने ब्राह्मणभागसे सम्बन्ध कैसे जोड़ा? क्या यह शब्द मन्त्रभागमें व्यवहृत नहीं?

देखिये इन्हें क्रमसे—'गौः, अश्वः' यह शब्द यजुर्वेदसं. (३।१८) में आते हैं। 'पुरुष' शब्द यजुःसं. (३१।१) में देखिये। 'हस्ती' शब्द अथर्वसं. (३।२२।६) में देखिये। 'शकुनि' शब्द ऋ. सं. (२।४२।१) में है। 'मृग' शब्द ऋ. सं. (१०।१८०।२) यजुः सं. (१८।७१) में है। 'ब्राह्मण' शब्द यजुः (२२।२२) में है। आरम्भिक 'गौः, अश्वः, पुरुषः'को मन्त्रमें इकट्ठा देखनेकी इच्छा हो; तो 'गौरश्वः पुरुषः पशुः' (अथर्व. ८।२।२५में) देखिये। तब क्या स्वामीजी इन शब्दोंके व्यवहार दीखनेसे मन्त्रभागको भी अवेद मानेंगे;

*इस विषयमें स्पष्टता-दर्शनार्थ पाठक हमसे 'श्रीसनातनधर्मालोक'का चतुर्थ पुष्प मँगावें। मूल्य २)

कि उसमें इन शब्दोंका व्यवहार दीखता है ? यदि नहीं, तब ब्राह्मणभागमें भी इससे अवेदता नहीं पड़ती। न भाष्यकारको वैसा इष्ट है। भाष्यकारका तो यह अभिप्राय है कि 'अग्निमीले' इत्यादि संहिता-योजना ही मन्त्रभाग है।

भाष्यकार वेद किसे कहते हैं ?

(१५) अब हम स्वा. दयानन्दमान्य महाभाष्यकारके वे प्रमाण उपस्थित करते हैं, जिनमें उन्होंने ब्राह्मणभागको भी वेद माना है। देखिये—

(अ) पस्पशाह्निकमें—शास्त्रके धर्मनियमके प्रकरणमें 'वेदे खल्वपि' यह कहकर 'पयोव्रतो ब्राह्मणो' यह तथा 'बैल्वः खादिरो वा यूपः स्यात्' यह और 'अग्नौ कपालान्यधिश्रित्य अभिमन्त्रयते-'भृगूणामङ्गिरसां' (शत० १।२।१।१३) यह ब्राह्मणकण्डिकाएँ वेदके उदाहरणमें दी हैं। स्वामीजीकी संस्कारविधिके ७९ पृष्ठके कथनानुसार 'पयोव्रतः' यह शतपथ-ब्राह्मणका वचन है। 'बैल्वः खादिरो वा' यह ऐतरेय-ब्राह्मणके द्वितीय-पञ्चिकाके आरम्भमें है। भाष्यकारने यह वचन वेदका माना है। तब ब्राह्मणभाग भी वेद सिद्ध हुआ। जैसे यहां 'वेदे' कहकर केवल ब्राह्मणभागके उदाहरण देनेसे मन्त्रभागका वेदत्व प्रच्युत नहीं होता; वैसे ही 'वैदिकाः खल्वपि' कहकर 'अग्निमीले' आदि केवल मन्त्रभागके उदाहरण देनेसे भी ब्राह्मणभागका वेदत्व प्रच्युत नहीं होता, क्योंकि 'समुदाये हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते' यह भाष्यकार-स्वीकृत न्याय है कि समुदायवाचक शब्द अवयव-वाचक भी बन जाता है। इससे 'अथ शब्दानुशासनम्' इस अपने

वार्तिककी व्याख्यामें भाष्यकारने वैदिक-शब्दोंके उदाहरण वेदसंहिताओंसे दिये हैं, ब्राह्मणभागका कोई उदाहरण नहीं दिया; इससे 'पयोव्रतः' आदिमें वेदशब्दका प्रयोग उपचारमात्र है, यह किन्हींका व्याज कट गया।

अथवा वादितोष-न्यायसे ब्राह्मणभागको मन्त्रभागकी अपेक्षा गौण वेद भी माना जावे; तथापि जैसे गायत्रीमन्त्र सब वेदमन्त्रोंमें मुख्य है, उसकी अपेक्षा अन्य मन्त्र गौण माने जाते हैं; पर इससे गायत्री-व्यतिरिक्त मन्त्रोंके वेदत्वमें कोई बाधा नहीं पड़ती; वैसे ही ब्राह्मणभागके मन्त्रभागकी अपेक्षा गौण मानने पर भी उसके वेदत्वमें कोई बाधा सिद्ध नहीं होती। वस्तुतः भाष्यकार ब्राह्मणभागको वेद उपचारसे नहीं मानते, किन्तु मन्त्रभागकी भांति ही उसे वेद मानते हैं। यह बात वेदके प्रमाणको जहां देना हो; उस स्थानमें बहुत स्थलों ब्राह्मणभागके प्रमाणको देनेसे भाष्यकार-द्वारा ही स्फुट हो रही है।

उसी पस्पशाह्निकमें 'शब्दस्य ज्ञाने धर्मः' इस पक्षके खण्डनके प्रकरणमें 'आचारे पुनर्ऋषिः (वेदः) नियमं वेदयते' तेऽसुरा हेलयो हेलयः' इस ब्राह्मणको वेदवचनमें दिया है।

(आ) आगे ज्ञान-प्रयोग दोनोंसे धर्म बतानेवाले 'शास्त्रपूर्वके प्रयोगे अभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन' इस वार्तिकका वेदका उदाहरण 'योग्निं नाचिकेतं' (तै. ब्रा. ३।११।६ (३) यह ब्राह्मणकण्डिका दिया है।

(इ) प्रत्याहाराह्निकमें 'ऋलृक्' सूत्रमें 'अनुकरणं शिष्टाशिष्ट-प्रतिषिद्धेषु यथा लौकिकवैदिकेषु' इसके वैदिक उदाहरणमें 'य ए

विश्वसृजः सत्राण्यध्यासते' यह ब्राह्मण उद्धृत किया है। लौकिक उदाहरणमें भाष्यकार वा किसी अन्यप्राचीनने ब्राह्मणभागका प्रमाण नहीं दिया; यह बात विशेषरूपसे जान रखनी चाहिए। और फिर 'लौकिक'के प्रतिद्वन्द्वी 'वैदिक'को लौकिकसे पृथक् कहकर उस वैदिकके उदाहरणमें ब्राह्मणभागको उद्धृत करते हुए श्रीपतञ्जलि लोकभिन्न ही वेदको उपन्यस्त कर रहे हैं, लोकका उदाहरण वे ब्राह्मणभाग से भिन्न दे चुके हैं—इस कारण ब्राह्मणभाग भाष्यकारके मतमें लोक नहीं—यह स्पष्टतासे सिद्ध होगया; तब यहां श्रीभगवद्दत्तजी आदिका उपचारका व्याज करना अपने पक्षकी निर्बलता सूचित करना है।

(ई) तृतीयाह्निक १।१।१ सूत्रमें (यथा लौकिकवैदिकेषु' के वैदिक उदाहरणमें 'वेदेपि याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वन्ति-स्फ्यो यूपश्चषालः' यह लोकसे भिन्न ब्राह्मणभाग ही उदाहृत किया है। आगे १।१।५६ सूत्रके भाष्यमें 'वेदेपि-सोमस्य स्थाने पूतीकतृणानि अभिषुणुयाद्-इत्युच्यते' यह मन्त्रभागके उदाहरण नहीं, किन्तु ब्राह्मणभागके ही हैं।

(उ) ३।२।८ सूत्रके 'तणीति संज्ञाछन्दसोर्ग्रहणम्' इस वार्तिकमें छन्द (वेद) के उदाहरणमें 'या ब्राह्मणी सुरापी भवति, नैनां पतिलोकं नयन्ति' यह ब्राह्मणभागका ही उदाहरण दिया है, मन्त्र-भागका नहीं। यदि भाष्यकार आदिसे दिये हुए वेदके उदाहरण वर्तमान ४ संहिताओं वा वर्तमान ब्राह्मणग्रन्थोंमें न भी मिलें, तथापि उनका लुप्त-संहिताओं तथा लुप्त-ब्राह्मणोंमें अनुमान कर लेना चाहिये, क्योंकि-वेदकी ११३१ संहिताएं हैं, उतने ही ब्राह्मण। पर यह

सम्पूर्ण साहित्य आज-कल उपलब्ध नहीं। परन्तु प्रतिपक्षी लोग अपने वेदको उपलब्ध मानते हैं, पूर्ण मानते हैं, न उसमें कुछ न्यून मानते हैं, न प्रक्षिप्त। उन्हें भाष्यकारादिसे दिये हुए वेदके उदाहरण स्वसम्मत वेदसे दिखलाने चाहियें। यदि उनमें न मिल सकें; तो उन्हें मानना पड़ेगा कि-सभी ११३१ संहिता तथा ब्राह्मणभाग वेद है। यह उन्हींके उदाहरण हैं। इस प्रकार आगेके उदाहरणोंमें भी पाठक समझ रखें।

(ऊ) ५।२।६४ सूत्रमें 'सन्मात्रे चर्षिदर्शनात्' इस वार्तिकके विवरण में भाष्यकारने लिखा है—'सन्मात्रे च ऋषिदर्शनात्' 'सन्मात्रे च पुनर्ऋषिः [वेदः] दर्शयति मतुपम्-यवमतीभिरद्भिर्यूपं प्रोक्षति'। यह पाठ भी ब्राह्मणभागका ही है। 'ऋषि'से वेद लिया जाता है, जैसे कि शतपथमें 'तस्माद् एतदृषिणा अभ्यनूक्तम्' (१४।१।१।२५), पाणिनि-सूत्रमें 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' (१।१।१६) 'आर्ष'में ऋषिशब्दमें अण् है।

(ऋ) ६।१।८४ सूत्रके भाष्यमें लिखा है—वेदे खल्वपि-वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निष्टोमादिभिः क्रतुभिर्यजेत' यहाँ भी ब्राह्मणभागको वेद बताया है। उस जैसा मन्त्रभागका उदाहरण मिलना सम्भव होने पर भी ब्राह्मणभाग वा वर्तमान ४ संहिताओंसे भिन्न संहिताका उद्धरण देना हमारे पक्षको सिद्ध कर रहा है।

(ऋ) 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (२।३ ६२) के वार्तिकके छन्द (वेद)के उदाहरणमें 'या खर्वेण पिबति' (तै.सं. २।५।१।७) ब्राह्मणका उदाहरण दिया है। इस प्रकार 'वा छन्दसि' (वा. ५।१।१६) में

'निर्वीर्यतां वै यजमान आशास्ते अपशुतां गौः' भी ब्राह्मणका ही उद्धरण है।

महाभाष्यकारके उद्धरण इस विषयमें अत्यधिक हैं। स्थाली-पुलाकन्यायसे हमने कुछ ही उद्धरण उपस्थित किये हैं। छन्द (वेद) के उदाहरणमें भाष्यकार कहीं मन्त्रभागकी विविध-संहिताओं और कहीं ब्राह्मणभागको देते हैं। जैसे-'छन्दसि निष्टक्र्यें' (३।१।१२३) के भाष्यमें 'निष्टक्र्यं चिन्वीत पशुकामः' यह ब्राह्मणभागका ही उदाहरण दिया गया है। छन्द स्वा.द.जी भी वेदको ही मानते हैं; जैसे—छन्दो-वेद-निगम-श्रुतीनां पर्यायवाचकत्वात्' (ऋभाभू. पृ. ७६-८०) 'तथा व्याकरणेपि'...छन्दो-मन्त्र-निगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति। एवं छन्दआदीनां पर्यायसिद्धे यो भेदं ब्रूते, तद्वचनमप्रमाणमेवास्ति' (पृ. ८०)। तब जिस भाष्यकारके वचनसे स्वामीजीने ब्राह्मणको वेदसे भिन्न सिद्ध करना चाहा था; उसीने उनके पक्षको निर्मूल सिद्ध कर रखा है।

(१६) अपने पक्षकी पुष्टचर्थ जो कि स्वामीजीने पाणिनिका मत दिखलाया है कि -'द्वितीया ब्राह्मणे' (२।३।६०) 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (२।३।६२) इति अष्टाध्याय्यां सूत्राणि। अत्रापि पाणिन्याचार्यैः वेद-ब्राह्मणयोर्भेदेनैव प्रतिपादनं कृतमस्ति। यदि अत्र छन्दो-ब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञा अभीष्टा भवेत्; तर्हि 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' इत्यत्र छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात्। कुतः? द्वितीया ब्राह्मणे'(?)ति ब्राह्मणशब्दस्य प्रकृतत्वात्। अतो विज्ञायते—न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञास्तीति' (ऋभाभू. पृ. ८६-८७) अर्थात्—'यदि ब्राह्मण भी वेद होता; तो 'द्वितीया ब्राह्मणे' ६० सूत्रसे 'ब्राह्मणे' की

अनुवृत्ति आ ही रही थी; फिर पाणिनिने अग्रिम ६२ सूत्रमें 'छन्द' का ग्रहण क्यों किया? अतः ब्राह्मणभाग वेद नहीं'।

इस पर हमारा कथन है कि स्वामीजीने यह भ्रमसे लिखा है। श्रीपाणिनि भी ब्राह्मणको वेद मानते हैं। देखिये—'द्वितीया ब्राह्मणे' यह २।३।६० सूत्र श्रीपाणिनिने केवल ब्राह्मणभागकेलिए बनाया है, मन्त्र-ब्राह्मण दोनों भागोंकेलिए नहीं। अगला 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (२।३।६२) सूत्र तो मन्त्रभाग-ब्राह्मणभाग दोनोंकेलिए बनाया है; अतः यहां 'छन्द'-ग्रहण सार्थक है। यदि यहां 'छन्दसि' न रखा जाता; किन्तु 'ब्राह्मणे' की ही अनुवृत्ति यहां रखी जाती; तो यह विधि केवल ब्राह्मणभागमें होती। यदि यहां 'मन्त्रे' स्थापित किया जाता; तो भिन्न सूत्र होनेसे यह विधि केवल मन्त्रभागमें होती; पर चाहिए थी यह विधि दोनों भागोंमें; अतः दोनों भागों को ही ग्रहण करनेके लिए श्रीपाणिनिने यहां *छन्दसि रखा है, क्योंकि—'ब्राह्मणे' वा

*क्योंकि जब पाणिनि किसी विधिको वेदके एकदेश मन्त्रभागमें करना चाहते है, तब वे 'मन्त्रे' कहते हैं। जब वे वेदके एकदेश ब्राह्मण-भागमें किसी विधिको करना चाहते हैं; तब वे 'ब्राह्मणे' कहते हैं। वे सब सारे वेद अर्थात् मन्त्रभाग-ब्राह्मणभाग दोनोंमें कोई विधि करना चाहते हैं; तब वहां 'मन्त्रे' वा 'ब्राह्मणे' न कह कर 'छन्दसि' वा 'निगमे' कहते हैं। कहीं श्रीपाणिनि छन्द'से केवल 'मन्त्रभाग' को लेते हैं; कहीं छन्द से 'ब्राह्मणभाग' को लेते हैं। जैसे कि—'द्वितीया ब्राह्मणे' (२।३।६०) इस सूत्रसे वे दिवुधातुको विशेष अर्थमें कर्ममें द्वितीया केवल ब्राह्मणभागमें कहते हैं, मन्त्रभागमें नहीं। अतः वहां 'छन्दसि' न कहकर 'ब्राह्मणे' कहते हैं।

इसी तरह श्रीपाणिनि 'मन्त्रे श्वेतवह' (३।२।७१) से मन्त्रभागमें

'मन्त्रे' यह वेदके भिन्न-भिन्न भागके नाम हैं। इससे सामान्यतया एकदेशी नामसे दोनों का ग्रहण नहीं हो सकता। जैसे 'वेद' यह समुदित नाम है—यह ऋग्वेद, यजुर्वेदादि सबका ग्रहण करवा लेता है; पर केवल 'यजुर्वेद' यह एकदेशी नाम है, इससे शेष ऋग्वेदादिका ग्रहण नहीं होता; इस प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। 'छन्दसि' 'वेदे'-'निगमे' इन समुदित शब्दोंसे तो दोनों भागों—मन्त्र-ब्राह्मणोंका ग्रहण हो जाता है। इसीलिए ही पहलेके सूत्रमें 'ब्राह्मणे' की विद्यमानतामें भी 'छन्दसि'का ग्रहण किया है; क्योंकि २।३।६० सूत्र केवल ब्राह्मणमें विधानार्थ बनाया गया है, दोनों भागोंमें विधानार्थ नहीं बनाया गया। यदि 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (२।३।६२) इसके 'छन्दसि' पदसे वादियोंके मतानुसार केवल मन्त्रभाग इष्ट है, ब्राह्मणभाग नहीं; तो इस सूत्रके छान्दस वार्तिकके उदाहरणमें भाष्यकारने 'या खर्वेण पिबति' इस तैत्तिरीय-संहिता (२।५।१।७) के ब्राह्मणको उदाहृत क्यों किया? ब्राह्मणको उदाहृत करनेसे ब्राह्मणभाग भाष्यकारको छन्द (वेद) इष्ट है—यह स्पष्ट है।

खिवन् करते हैं, ब्राह्मणभागमें नहीं। इस प्रकार 'जनिता मन्त्रे' (६।४।५३) आदिमें भी। इसी कारण 'छन्दसि' न कहकर 'मन्त्रे' कहते हैं। निरुक्तमें कौत्सने भी केवल मन्त्रभागका खण्डन करना था, ब्राह्मणभागका नहीं; अतः 'अनर्थका वेदाः' न कहकर 'अनर्थका मन्त्राः' (१।१५।२) कहा। इससे स्पष्ट है कि—'वेद' या 'छन्द' समुदायवाचक शब्द है। मन्त्रभाग वा ब्राह्मणभाग यह उस वेदके भिन्न-भिन्न भाग हैं। दोनों भाग मिलकर भागी वेद बनता है।

जो कि ऋभाभू.के ३७७ पृष्ठमें स्वा.द.जीने इसपर यह व्याज किया है कि—'भाष्यकारेण छन्दोवन्मत्वा ब्राह्मणानामुदाहरणानि प्रयुक्तानि; अन्यथा ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रकृतत्वात् *छन्दोग्रहणमनर्थकं स्यादिति' [भाष्यकारने ब्राह्मणको वेदकी तरह मानकर उसके उदाहरण दिये हैं, नहीं तो 'ब्राह्मणे'की अनुवृत्ति आनेसे 'छन्द' ग्रहण व्यर्थ हो जाता] यह असंगत है। भाष्यकारने ब्राह्मणको वेदकी तरह नहीं माना, किन्तु वेद माना है, यह हम सिद्ध कर ही चुके हैं।

*जब पाणिनि मन्त्र-ब्राह्मण दोनों भागोंमें कोई कार्य करना चाहते हैं; तब वे 'मन्त्रे' वा 'ब्राह्मणे' पृथक्-पृथक् न कहकर 'छन्दसि' कहते हैं, जैसे—'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (२।३।६२) इस कारण महाभाष्यमें इसी वार्तिकके उदाहरणमें 'या खर्वेण पिबति' यह तैत्तिरीयसंहिता-स्थित ब्राह्मणका उदाहरण दिया। 'चतुर्थी' यह योगविभाग तो भाष्यकारने लाघवार्थ किया है, वह भी 'छन्द'केलिए ही किया है। इस प्रकार 'ऋग्वेदं भगवोध्येमि' (७।१।२) इस छान्दोग्यके वाक्यमें ऋग्वेदादिशब्द मन्त्रभाग-ब्राह्मणभाग दोनों भागोंकेलिए ही हैं; क्योंकि आजकलके ऋग्वेदादि भी 'ऋग्वेद' आदि नहीं; किन्तु 'ऋग्वेदसंहिता' आदि ही हैं, छान्दोग्यके वाक्यमें 'ऋग्वेदसंहितां भगवोऽध्येमि' नहीं आया।

इस प्रकार पाणिनि कहीं केवल मन्त्रभाग को भी 'छन्द' कहते हैं, जैसे कि—'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' (४।२।६६) यहां 'छन्द'से केवल मन्त्रभाग इष्ट है। उसमें कारण है—'समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते' यह न्याय, जिसे हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं। इसी प्रकारका अन्य उदाहरण—'एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः...सब्राह्मणाः' (१।२।१०) इस गोपथके प्रमाणमें ब्राह्मणभागके पृथक् कहनेसे वेदशब्द मन्त्रभागमात्र (११३१ संहिताओं)का वाचक है।

जो विधियां* 'छन्दसि' कहकर पाणिनि वेदमें करते हैं; वे दोनों ही मन्त्र और ब्राह्मणमें होती हैं, केवल मन्त्रभागमें नहीं। 'सुपां सुलुक्' (७।१।३९) इस छान्दससूत्रसे [क्योंकि यहां 'क्त्वापि छन्दसि' (७।१।३८)से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति आ रही है] जैसे 'सविता प्रथमेऽहन्' (यजुर्वेदवा.सं. ३९।६) इस मन्त्रमें 'ङि'का लुक् हुआ है; वैसे ही 'यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः (शत. १४।६।८।३) इस ब्राह्मणमें भी अनङ् वाले 'अक्षि' शब्दमें ङिका लुक् हुआ है। दोनों ही स्थान छान्दसता होनेसे 'न ङिसम्बुद्ध्योः' (८।२।८) से न का लोप न हुआ। इसीलिए दीक्षितादियोंने लिखा है-'ङौ तु छन्दस्युदाहरणम्'।

(१७) इसी प्रकार 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' (७।२।८८) इस आकारका प्रत्युदाहरण जैसे कि भाषा (लोक)से भिन्न मन्त्रभागमें

*इस प्रकार श्रीपाणिनि केवल ब्राह्मणभागको भी 'छन्द' कहते हैं, जैसे—'जुष्टार्पिते च छन्दसि' (६।१।२०९) इसमें श्रीपाणिनिने जुष्ट शब्द को 'छन्द'में विकल्पसे आद्युदात्त कहा है, फिर 'नित्यं मन्त्रे' (६।१।२१०) से मन्त्रभागमें नित्य। तब इस पूर्वके साथके सूत्रमें स्थित 'छन्दसि' यह केवल ब्राह्मणभागकेलिए रखा है—यह स्पष्ट हो गया। इसी प्रकार 'मन्त्रे श्वेतवह' (३।२।७१) सूत्रके मन्त्रकी अनुवृत्ति आनेपर भी 'विजुपे छन्दसि' (३।२।७३)में 'छन्द'का ग्रहण केवल ब्राह्मणभागकेलिए कहा है। इसीलिए यहां काशिकामें कहा है-'छन्दोग्रहणं ब्राह्मणार्थम्'। इसमें कारण पूर्वोक्त ही है कि—छन्द, वेद, निगम, आम्नाय आदि शब्द समुदायवाची हैं। समुदायवाचक-शब्द भाष्यकारोक्त पूर्वोक्त न्यायसे कहीं अवयववाचक भी होते हैं। अब यह वक्ता की इच्छा पर अवलम्बित है कि वह समुदायवाचक शब्दको समुदायपरक रखे वा अवयवपरक। समुदायरूपसे उसे उदाहृत करे वा अवयव-रूपसे।

'युवँ सुराम'—(यजुःवा.सं. २०।७६) इत्यादिमें दीखता है; वैसे ही 'युवं वै ब्रह्माणौ भिषजौ' (शत. ८।२।१।३, ५।५।४।२५) 'युवम्... निष्कुरुतम्' (ऐ.ब्रा. २।२८) इस ब्राह्मणभागमें भी दीखता है, नहीं तो वादीके अनुसार भाषा होनेसे ब्राह्मणमें भी 'युवां' बनता।

जैसे 'व्यवहिताश्च' (१।४।८२) यह वैदिक सूत्र 'आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि' (ऋ. ३।४५।१) इस मन्त्रभागमें प्रवृत्त होता है; वैसे ही 'समिधँ सोम्य आहर, उप त्वा नेष्ये' (छान्दो. ४।४।५) इस ब्राह्मणभाग-उपनिषदादिमें भी प्रवृत्त होता है—जैसे 'व्यत्ययो बहुलम्' (३।१।८५) यह वैदिक सूत्र मन्त्रभागमें प्रवृत्त होता है, वैसे ही ब्राह्मणभागान्तर्गत आरण्यकमें भी। जैसे—'आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता पुनातु माम्। पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्म पूता पुनातु माम्' (तैत्तिरीयारण्यक १०।२३) यहां 'ब्रह्मणस्पतिः' यह अम्के स्थानमें 'सु' हुआ है; अथवा 'सुपां सुलुक्' (७।१।३९) इस छान्दससूत्रसे। 'ब्रह्म पूता'में 'पूतं'के स्थान लिङ्ग-व्यत्यय है*। उपनिषद्, आरण्यक ब्राह्मणान्तर्गत होनेसे 'वेद' है। 'आरण्यकं च वेदेभ्यः' (३४३।१३) यह महाभारत शान्तिपर्व तथा १।१।२६५ में है। इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणभाग वेदवत् नहीं, किन्तु साक्षात् वेद है। श्रीपाणिनिने उसे कहीं वेदकी भांति नहीं माना, किन्तु वेद माना है।

(१८) इस प्रकार छान्दस कार्य जबकि ब्राह्मणभागमें भी होते हैं; तब वह स्पष्ट वेद सिद्ध हो ही गया। यहां कई कहते हैं कि—

*इस विषयमें स्पष्टता 'श्रीसनातनधर्मालोक'के चतुर्थ पुष्पके 'वेदविषय में भारी भूल' तथा वेदस्वरूपनिरूपणमें देखें। इसका मू० ५) है।

'छान्दस कई कार्य तो गृह्यसूत्रोंमें भी दीखते हैं, पाणिनिसूत्रोंमें भी, पुराण-इतिहासमें भी दीखते हैं; वहां 'आर्षोऽयं प्रयोगः' यह समाधान करना पड़ता है। इसप्रकार काव्योंमें भी यत्र-तत्र छान्दस प्रयोग दीखते हैं; फिर भी पाणिनिसूत्र, पुराण-इतिहास, काव्य आदि वेद नहीं हो जाते; किन्तु वेदाङ्ग ही कहे जाते हैं; वैसे ही ब्राह्मणभागके छान्दस प्रयोगोंकेलिए भी समझ लेना चाहिये; तब ब्राह्मणभागको भी लौकिक ही समझना ठीक है'।

इस पर उत्तर यह है कि—पाणिनि आदिके सूत्रों वा गृह्य-सूत्रोंकेलिए तो 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' यह परिभाषा बनी हुई है; इससे वे छन्दोवत् हैं, छन्द नहीं; अतः उनमें छान्दस कार्य भी क्वचित् होते हैं, सर्वत्र नहीं। इस प्रकार पुराण-इतिहास आदिके लिए भी 'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति' यह भाष्यकारका कथन बना हुआ है; अतः वे वेद नहीं, यह स्पष्ट हो गया। परन्तु 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति, छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति' की भांति 'छन्दोवद् ब्राह्मणानि भवन्ति' यह कहीं भी परिभाषा नहीं देखी गई कि उन्हें भी वेदवत् माना जावे; क्योंकि वे साक्षात् ही वेद हैं। कहीं नदी आदि संज्ञाकी भांति ब्राह्मणभागकेलिए भी वेदका संज्ञासूत्र वा परिभाषासूत्र न बनानेसे ब्राह्मणभाग आतिदेशिक वेद नहीं; किन्तु साक्षात् वेद है। वह आयुर्वेदादिकी तरह उपवेद भी नहीं; क्योंकि उसमें उसका अन्तर्भाव नहीं, वह वेद है।

उस ब्राह्मणभागमें पुराण-इतिहासकी भांति छान्दसप्रयोग क्वाचित्क नहीं हैं, किन्तु 'मन्त्रे'को छोड़कर 'छन्दसि' 'निगमे' शब्दसे कहे हुए सभी

वैदिक आदेश ब्राह्मणभागमें दीखते हैं। पाणिनिसूत्रोंके 'भाषायां'के प्रत्यु-दाहरण जैसे मन्त्रभागके दिये जाते हैं: वैसे 'ब्राह्मणभाग'के भी। बल्कि— 'मन्त्रे घसह्वर' (२।४।८०) इस च्लि-लुक् करनेवाले सूत्रके मन्त्रविषयक होनेपर भी इस सूत्रके जन् धातुके उदाहरणमें मन्त्रके उपलक्षणसे 'अक्नत वा अस्य दन्ताः' यह ऐतरेयब्राह्मणका उदाहरण भी दिया गया है। इसी प्रकार निरुक्तमें भी मन्त्रभागकी सार्थकता सिद्ध करनेके लिए बनाये गये पूर्वपक्षमें 'अथापि जानन्तं सम्प्रेष्यति' यह कहकर 'अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि' (शत. १।३।२।३) यह ब्राह्मणभागका प्रमाण भी मन्त्रभागके स्थान दे दिया। तब यह बिना पक्षपातका चश्मा चढ़ाये कौन कह सकता है कि ब्राह्मणभागमें स्तुतिसे 'वेद' शब्दका प्रयोग है? इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणभागमें वेदत्वका व्यवहार अर्थवाद नहीं, न ही पारिभाषिक है, न ही पारिषद-कृति है और न ही ऐकदेशिक है; न ही अर्वाचीन है; किन्तु मन्त्रभाग जबसे वेद है, ब्राह्मणभाग भी तभीसे वेद है, प्राचीन है, सार्वत्रिक है और वास्तविक है।

(१६) यदि 'द्वितीया ब्राह्मणे' (२।३।६०) सूत्रमें स्वा.द.जीका यह अभिप्राय हो कि—'ब्राह्मणे' कहनेसे भी दोनों भागोंके वेद होनेसे सदा दोनोंमें समान विधि हो। इस प्रकार 'मन्त्रे' कहनेसे भी दोनों भागोंमें समान कार्य हो' तो यह अभिप्राय ठीक नहीं। यह नाम तो केवल भिन्न-भिन्न भागों के हैं; अतः ऐकदेशिक हैं। ऐकदेशिक नामका कार्य सामान्यतया सार्वदेशिकतामें नहीं होता। ऋगादि चार स्वा.द.जीके मतमें भी वेद हैं। तब क्या इन सबमें भी सदा

समान ही विधि होती है ? या 'चारों वेदोंमें सभी विधियां समान हों; नहीं तो वेदता न होगी' क्या यह व्याप्ति स्वामीजी मान सकते हैं ? यदि ऐसा हो; तब यजुर्वेद-सामवेदमें अनुस्वारको र, श, ष, स, ह अक्षर परे होनेपर ँ हो जाता है; परन्तु ऋग्वेद, अथर्ववेदमें नहीं। तब क्या यजुर्वेद-सामवेद वा शेष दोनों, वेद न रहेंगे ? 'देवसुम्नयोर्यजुषि काठके' (७।४।३८) यह यजुर्वेदकी कठशाखामें आकार-विधायकसूत्र है; पर यह ऋग्वेदकी कठशाखामें नहीं होता।

'प्रकृत्यान्तःपादम्' (६।१।११५) 'यजुष्युरः' (६।१।११७) यह प्रकृतिभाव ऋग्वेद, यजुर्वेदसे भिन्न वेदमें नहीं होता। इस प्रकार 'ऋचि तु नु घ' (६।३।१३३) 'ऋचि त्रेरुत्तर' (वा. ६।१।३४) इत्यादि में ऋक् आदि शब्द साभिप्राय हैं। वे विधियां ऋचासे भिन्न मन्त्रमें नहीं होतीं। 'ड'को वैदिक 'ल' ऋग्वेदसे भिन्न वेदमें नहीं होता; तब क्या समान विधि न होनेसे यजुः आदि वेद न रहेंगे ? यदि ऐसा नहीं; तो मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग दोनोंके मध्यमें समान विधि न होनेसे ब्राह्मणभाग भी वेदसे भिन्न नहीं हो जाता। एकदेशी नाम के सबबसे दोनोंमें समान विधि कैसे हो ? जैसे ऋक्, यजुः आदि नाम मन्त्रभागके एकदेशी हैं; और उनमें भिन्न-भिन्न विधि भी दीखती है; वैसे ही 'मन्त्र, ब्राह्मण' यह नाम भी एकदेशी हैं, जैसे कि निरुक्तमें 'अथापि इदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते' (१।१५।१) 'यदि मन्त्रार्थ-प्रत्यायनाय, अनर्थकं भवतीति कौत्सः, अनर्थका हि मन्त्राः' (१।१५।२) यहां वेदका नाम न कहकर उसके एकदेशी मन्त्रभागका नाम लिया है; क्योंकि निरुक्तका मन्त्रभागसे अधिक सम्बन्ध है। अतः

मन्त्र-ब्राह्मणमें भी कभी-कभी भिन्न-भिन्न विधियां भी होती हैं; इससे एक भागकी अवेदता नहीं हो जाती।

यदि स्वा.द.जीके तर्कके अनुसार २।३।६० सूत्रमें 'ब्राह्मणे' २।३।६२ सूत्रमें 'छन्दसि' कहनेसे ब्राह्मणभागको छन्द (वेद) भिन्न माना जावे; तो उसी तर्कके अनुसार 'मन्त्रे श्वेतवह' (३।२। इस ७१ सूत्रमें मन्त्रभागके तथा 'विजुपे छन्दसि' (३।२।७३) ७३ सूत्रमें छन्दके ग्रहणसे मन्त्रभागको भी वेदसे भिन्न मानना पड़े तब तो 'मन्त्रे सोमाश्व' (६।३।१३१)से 'मन्त्रे'की अनुवृत्तिमें 'ऋ तु नु घ' (६।३।१३३) यहां ऋग्वेद भी मन्त्रभागसे भिन्न हो जावे क्या यह स्वामीजीको इष्ट है ? यदि नहीं, तब उनकी युक्ति दुर्बल है।

स्वामीजीने लिखा है—'यच्चोक्तं छन्दोमन्त्रयोर्भेदोऽस्ति, त सङ्गतम्, कुतः ? छन्दो-वेद-निगम-मन्त्र-श्रुतीनां पर्यायवाचक (ऋभाभू. पृ. ७६) 'छन्दांसि वेदा मन्त्राश्चेति पर्यायौ' (पृ. ७६) व्याकरणेपि 'मन्त्रेघस' 'छन्दसि लुङ्' 'वा षपूर्वस्य निगमे' 'छन्दो-मन्त्र-निगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति, एवं छन्द-आदीनां सिद्धेर्यो भेदं ब्रूते, तद्वचनमप्रमाणमेवास्ति-इति विज्ञायते (पृ. इन स्थलोंमें स्वा.द.जीने 'छन्द' और 'मन्त्र'को पर्यायवाचक मा तब पाणिनिने उक्त ३।२।७१-७३ सूत्रोंमें मन्त्र और छन्द भिन्न-भिन्न रखे ? यदि ऐसा करनेसे भी मन्त्रभागका वेदत्व खण्डित नहीं होता ब्राह्मण और छन्दके भिन्न-भिन्न कहनेसे भी ब्राह्मणभागका वेदत्व नहीं होता। जब स्वामीजी 'छन्द'का अर्थ 'वेद' मानते हैं;

हमसे बताये गये सूत्रोंमें छन्दसे ब्राह्मणभाग गृहीत हैं; तो स्पष्ट हो गया कि—श्रीपाणिनि भी ब्राह्मणभागको छन्द (वेद) मानते हैं। यहां कोई पारिभाषिकता भी नहीं है कि इस पक्षमें एकदेशिता हो।

(२०) जो कि—श्रीतुलसीराम-स्वामीने 'मवाना-शास्त्रार्थ'में 'जुष्टार्पिते च छन्दसि' (६।१।२०६) 'नित्यं मन्त्रे' (६।१।२१०) सूत्रोंकेलिए व्याज किया है कि—'मन्त्र' शब्द छन्दोबद्धतारहित यजुओंका वाचक रहे, छन्द शब्द गायत्री आदि छन्दोबद्ध मन्त्रोंका। इसलिए 'जुष्टार्पिते च छन्दसि' 'नित्यं मन्त्रे'में भिन्न-भिन्न पद हैं' यह व्याज तो व्यर्थ ही है। वेदकी 'छन्द' संज्ञा छन्दोबद्धताके कारणसे नहीं है, किन्तु 'छादनात् छन्दः' (निरुक्त ७।१२।२)के कारणसे है कि वह अन्य प्रमाणोंको ढक दिया करता है, वा प्रलयकालमें अर्थोंका छादन कर देता है। पहले अर्थमें प्रमाण 'प्रमाणं परमं श्रुतिः' (मनु. २।१३) है; दूसरेमें प्रमाण 'भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति' (मनु. १२।९७) है। यजुर्वेदमें 'होता यक्षद् वनस्पतिमभि' (२१।४६-४७) यह दो मन्त्र ही छन्द-रहित हैं; उनमें 'जुष्ट, अर्पित' शब्द आते ही नहीं। तब 'नित्यं मन्त्रे' (२।५।१०) 'मन्त्रे श्वेतवह' (३।२।७१) आदि सूत्र निरर्थक वा निर्विषय हो जावेंगे। 'छन्द' शब्दका 'पद्य' अर्थ माना जावे, तो 'ढश्छन्दसि' (४।४।१०६) आदि विधियां 'सभेयो युवास्य' (यजुः-वा. सं. २२।२२) इस गद्यमें न हो सकेंगी। फिर 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः' इस ब्राह्मणगद्यमें भी छान्दस चतुर्थी (वा.२।३।६२) न हो सकेगी। इस प्रकार तो 'मन्त्रे'-पदघटित सूत्र छन्दोबद्ध मन्त्रोंमें भी न

लग सकेंगे। तब यह कथन तु-रा.स्वामीका अपने पक्षके बचावकेलिए व्याजमात्र ही सिद्ध हुआ।

(५)

(२१) ब्राह्मणभागके अवेदत्वमें दिये हुए 'कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेद-संज्ञायामस्वीकृतत्वात्', अतो (कात्यायनाद्) अन्यैर्ऋषिभिरग्रहीतत्वात् (?)' इस ऋ.भा.भू.के ८७ पृष्ठस्थ पञ्चम हेतुपर भी कि कात्यायनसे भिन्न किसी भी मुनिने ब्राह्मणभागको वेद नहीं माना, इसपर भी अब विचार किया जाता है।—

१—ब्राह्मणभागकी वेदतामें कात्यायनकी साक्षी स्वयं स्वामीजी ने मान ही ली है। २-३ न्यायशास्त्रके सूत्रकार तथा भाष्यकार ४-५-६ अष्टाध्यायीके सूत्रकार, वार्तिककार तथा महाभाष्यकारकी साक्षी तो हम बता चुके ही हैं। अब अन्य ग्रन्थोंकी साक्षी भी उपस्थित की जाती है।

७—'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' (२।१।३२) मीमांसादर्शनके इस सूत्रमें वेदके एकदेश मन्त्रभागका लक्षण है; 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (२।१।३३) इसमें मन्त्रभागसे अवशिष्ट वेदके एकदेश ब्राह्मणका लक्षण कहा है। इससे जैमिनिमुनिके मतमें दोनों भाग वेद सिद्ध हुए, नहीं तो शेष पद व्यर्थ होगा। 'नलचम्पू'का शेष 'उत्तरमीमांसा' नहीं हो सकती। इस प्रकार ब्राह्मणभाग भी वेदसे अन्यका शेष नहीं; इस विषयमें स्पष्टता आगे होगी।

८—जैमिनिसूत्रोंके विख्यात-व्याख्याता श्रीशबरस्वामीने भी लिखा है—'मन्त्राश्च ब्राह्मणं च वेदः। तत्र मन्त्रलक्षणे उक्ते परिशेष-

सिद्धत्वाद् ब्राह्मणलक्षणमवचनीयम्। मन्त्रलक्षणवचनेनैव सिद्धम्' (मीमांसा २।१।३३)। ६ अथर्ववेदीयकौशिकसूत्रमें भी लिखा है—'आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च' (१।३) यह स्पष्ट वचन है।

१०—बोधायनीयगृह्यसूत्रमें भी लिखा है—'मन्त्र-ब्राह्मणं वेद इत्याचक्षते' 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (२।६।२-३, ३।२।६३)। ११ यही आपस्तम्बश्रौतसूत्र (२४।१।३१)में, १२ यही 'सत्याषाढश्रौतसूत्र' (१।१।७)में तथा १३ शुक्लयजुःप्रतिशाख्यके प्रतिज्ञासूत्र (१ कण्डि० २ सू०)में, १४ बोधायनधर्मसूत्र (२।६।७)में तथा १५ तन्त्रवार्तिक (१।३।१०)में आया है। १६ सर्वानुक्रमणिकावृत्तिकी भूमिकामें षड्गुरुशिष्यने भी कहा है—'मन्त्रब्राह्मणयोराहुर्वेदशब्दं महर्षयः'। १७ श्रीसायणाचार्यने भी ऋग्वेद-भाष्योपोद्घातमें कहा है—'मन्त्र-ब्राह्मणात्मकत्वं तावद् वेदस्य अदुष्टं लक्षणम्'। सामवेदभाष्यकी उपक्रमणिकामें उसने लिखा है—'ननु मन्त्रवेदयोः को विशेष इत्युच्यते, मन्त्रब्राह्मणसमष्टिर्वेदः'। १८ श्रीयास्कके प्रमाण दिये ही जा चुके हैं। १९ आचार्यशङ्करस्वामीने वेदान्तदर्शन (३।१।५)के भाष्यमें लिखा है—'वैदिकसंयोगदर्शनात्'–श्रद्धा वा आपः' वेदमें उन्होंने ब्राह्मणभागको उदाहृत किया है। इस प्रकार १।३।३३ सूत्रके भाष्यमें भी।

२०. 'स्याद् वा आम्नायधर्मित्वात् छन्दसि नियमः (१।४) वाजसनेयिप्रातिशाख्यसूत्रके व्याख्यानके अवसर पर उवटने लिखा है—'आम्नायो-वेदः' यह कहकर उसने 'ब्राह्मणं विध्यर्थवादरूपम्, मन्त्रस्तु कर्माङ्गभूतद्रव्यदेवतास्मारकः' इस प्रकार दोनोंको ही

आम्नाय माना है। २१ 'प्रस्थानभेद'कार श्रीमधुसूदनने भी कहा है—'धर्मब्रह्मप्रतिपादकमपौरुषेयं प्रमाणवाक्यं वेदः। स च मन्त्र-ब्राह्मणात्मकः'। २२ 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्यो मन्त्रान् सम्प्रादुः, अवरे इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च' इस पर श्रीसत्यव्रतसामश्रमीने 'निरुक्तालोचन'के २५ पृष्ठमें कहा है—'यतोऽत्र 'मन्त्रान् सम्प्रादुः' इति कथनानन्तरमेव पुनरुक्तं 'वेदं च' इति, अतो ज्ञायते-नेह वेदशब्देन मन्त्राणां बोधोऽपितु तदतिरिक्त-भागानां ब्राह्मणानामेव' इससे भी उक्त पक्षकी पुष्टि हो गई।

२३. 'उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा। सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः' (मनु. २।१५) यहां श्रीमनुजीने भी ऐतरेयादिब्राह्मणभाग (५।२९) मात्रमें उपलब्ध उदितादि-होमको 'वैदिक-श्रुति' कहकर ब्राह्मणभागको वेद माना है। इस प्रकार 'राज्ञश्च दद्युरुद्धारमितीयं वैदिकी श्रुतिः' (७।९७) यह श्रुति ब्राह्मण-भागमें सुलभ है, मन्त्रभागमें नहीं। स्वा. दयानन्दजी मनुस्मृतिको सृष्टिकी आदिमें बना हुआ मान गये हैं। जैसे कि—'यह मनुस्मृति जो सृष्टिकी आदिमें हुई है; उसका प्रमाण है' (सत्यार्थ. ११ समु. का आरम्भ १७२ पृष्ठ)। जबकि स्वामीजीके मतमें मनुस्मृति सृष्टिके आरम्भमें बनी हुई सिद्ध है; और उसी मनुस्मृतिमें ब्राह्मणभागको वेदके नामसे व्यवहृत किया गया है; तो ब्राह्मणभागमें वेदत्वव्यवहार सृष्टिकी आदिमें सिद्ध हुआ। मनुस्मृतिके प्रवक्ता भृगुजी भी सृष्टिकी आदिमें थे, यह मनुस्मृति (१।३५) में ही स्पष्ट है।

२४. 'वेदोऽखिलो धर्ममूलं' (२।६) यहां प्राचीन-भाष्यकार

वादिगणमान्य श्रीमेधातिथिने लिखा है —'वेदशब्देन ऋग्यजुःसामानि ब्राह्मणसहितानि उच्यन्ते...स वेदो बहुधा भिन्नः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः सात्यमुग्रिराणायनीयादिभेदेन, एकशतमध्वर्यूणां काठक-वाजसनेयकादिभेदेन, एकविंशतिर्बाह्वृच्या आश्वलायनैतरेयादि-भेदेन। नवधा आथर्वणं मोदक-पैप्पलादकादिभेदेन'।...स वेदो विशिष्टः शब्दराशिरपौरुषेयो मन्त्रब्राह्मणाख्योऽनेकशाखाभेदभिन्नो धर्मस्य मूलम्' यहां पर स्पष्ट ही दोनों मन्त्र-ब्राह्मणभागोंको वेद माना गया है।

(ख) 'एकदेशं तु वेदस्य' (२।१४१) इस मनुपद्यकी व्याख्यामें श्रीकुल्लूकभट्टने लिखा है—'वेदस्य एकदेशं मन्त्रं-ब्राह्मणं च'। इसी प्रकार ही मेधातिथि, राघवानन्द, नन्दन, रामचन्द्र आदि टीकाकारोंने लिखा है। इससे वे मन्त्रभागको भी वेदका भाग ही मानते हैं, पूर्ण वेद नहीं मानते, ब्राह्मणभागको भी। दोनोंको मिलकर ही पूर्ण वेद मानते हैं। (ग) 'वेदः कृत्स्नोधिगन्तव्यः' (२।१६५) यहां कुल्लूक-भट्टने लिखा है—'समग्रवेदो मन्त्र-ब्राह्मणात्मकसोपनिषत्कः' यहांपर ब्राह्मणके साथ उपनिषत्को भी पूर्ण वेद माना है। श्रीमेधातिथिने भी लिखा है—'वेदशब्दो मन्त्र-ब्राह्मणवाक्य-समुदायात्मिकां शाखामाचष्टे'। (घ) 'अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि' (४।६८) इस मनु-पद्यमें कुल्लूकने लिखा है—'छन्दांसि-मन्त्र-ब्राह्मणात्मकं वेदम्'। मेधातिथिने लिखा है-'मन्त्रब्राह्मण-वाक्यसमुदायात्मकान् वेदान् पठेत्'।

२५. 'छन्दसि अर्थान् बुद्ध्वा' (३।१) इस काठकगृह्यसूत्रमें

देवपालने लिखा है-'छन्दसि-वेदे ऋग्यजुःसामलक्षण-मन्त्रब्राह्मणार्थं-वादनामधेयभेदयुक्ते'। यहां भी वही बात कही है। २६ विध्यर्थ-वादवचनविनियोगात्' (२।१।६१) इस न्यायदर्शनके सूत्रकी वृत्तिमें श्रीविश्वनाथपञ्चाननने लिखा है—'वेदे वाक्य-विभागं दर्शयति, मन्त्र-ब्राह्मणभेदाद् द्विधा वेदः। तत्र ब्राह्मणस्य अयं विभागः' यहां भी ब्राह्मणभागको वेद कहा है। २७ शुक्रनीति (जिसे स्वा.द.जीने स.प्र. छठे समुल्लासके अन्तमें प्रमाणित किया है)में कहा है—'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनाम प्रोक्तमृगादिषु' (४.२७१) यहां भी ब्राह्मणभागको मन्त्रभागके समान ही वेद माना है। आर्यसमाजी 'सर्गश्च प्रति-सर्गश्च' इस पुराणके श्लोक को-जो पुराणोंके लक्षणको बताता है-उपस्थित करते हुए डरते हैं, पर शुक्रनीतिमें स्थित उसी श्लोकको प्रमाण मानते हैं, इससे शुक्रनीतिका मान आर्यसमाजियोंके मतमें बहुत है-यह सिद्ध होता है। अब उसीकी ब्राह्मणभागके विषयमें यह सम्मति भी आर्यसमाजी आदि देखें।

२८. 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (६।१।१) इस वैशेषिकदर्शनके सूत्रके भाष्यमें 'स्वर्गकामो यजेत' इस ब्राह्मणभागके वाक्यको वेदके नामसे कहनेसे कणादमुनिके मतमें भी ब्राह्मणभाग वेद सिद्ध हुआ। २९. याज्ञवल्क्य-स्मृतिके प्रायश्चित्तप्रकरण (३।२४६)में मिताक्षरामें कहा है-'मन्त्रब्राह्मणात्मकं वेदम्'। उसीके श्राद्धप्रकरणमें 'वेदार्थवित्' (२१९) श्लोककी मिताक्षरामें लिखा है—'मन्त्र-ब्राह्मणयोरर्थं वेत्तीति वेदार्थवित्। ३० श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' (वेदान्त. २।१।२७) इत्यादिमें बहुत स्थलोंमें श्रुतिके प्रमाणमें

ब्राह्मणभाग तथा उसके उपनिषद्भागको उद्धृत किया गया है। 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः' (२।१०) इस मनुप्रमाणसे श्रुति वेदको कहते हैं। तब उपनिषद् आदि वेद हुए।

३१ 'वेदोखिलो धर्ममूलं' (२।६) इस मनुवचनसे तथा 'श्रुति-प्रमाणो धर्मः स्यात्' (महाभारत वनपर्व २०६।४१) इस श्रीव्यासके वचनसे सारे वेदको धर्ममूलक बताया गया है। धर्मका लक्षण है 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' (मीमांसा १।१।२)। 'विहितकर्मजन्यो धर्मः' (तर्कसंग्रह-गुणनिरूपणमें)। 'स्वर्गकामो यजेत, अहरहः सन्ध्यामुपासीत, अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' इत्यादि विधिवाक्य ही चोदना होती हैं। मन्त्रभागमें तो 'कुर्यात्, क्रियेत, कर्तव्यं, भवेत्, स्याद् इति पञ्चमम्। एतत् स्यात् सर्ववेदेषु नियतं विधि-लक्षणम्' (मीमांसा. ४।३।३) इन विधियोंकी सत्ता ही नहीं है, प्रायः वहां उपासना दीखती है। विधियोंकी ब्राह्मणभागमें ही सत्ता है। तब मन्त्रभागमें विधियोंके अभावसे 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (मनु. २।६) 'एतत् स्यात् सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्' (मीमां.-४।३।३) 'श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।' 'प्रेत्य चानुत्तमां गतिम्' (मनु. २।६) यह प्राचीन वचन निर्विषय होजाएंगे—यदि ब्राह्मणभागको वेद न माना जाय। इस कारण 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' (२।१३) इस मनुके पद्यमें 'श्रुति' शब्दसे वेदके भाग ब्राह्मणका ही ग्रहण है, क्योंकि—धर्म (विधि) उसीमें ही है। इससे भी ब्राह्मणभाग वेद सिद्ध हुआ।

३२ मीमांसादर्शनको साक्षात् वेदका व्यवस्थापक माना जाता

है। उसमें 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (१।१।१) सूत्रसे शुरू करके 'अन्वाहार्ये च दर्शनात्' (१२।४।४२) सूत्रतक १२ अध्याय हैं। उनमें ३ रे, ६ ठे, १० वें अध्यायके आठ-आठ पाद हैं; शेष अध्यायोंमें चार-चार। इस प्रकार ६० पादोंके दर्शनमें प्रायः ९०० अधिकरण हैं। इनमें प्रायः ब्राह्मणभागके वाक्य ही उदाहृत किये गये हैं। मन्त्रभागके वाक्य तो वहां पर अत्यन्त-न्यून हैं।

मीमांसादर्शनमें पौरुषेय कहे जाने वाले स्मृति, इतिहास आदिकी मीमांसा नहीं है, किन्तु अपौरुषेय वेद-वाक्योंका ही उसमें विचार किया गया है। यदि ब्राह्मणभाग वेद न होता; तो 'मीमांसा नाम वेद-विचारः' 'एवं वेद-वाक्यान्येव एभिर्व्याख्यास्यन्ते' (मीमां. शावर. १।१।१) यह परिभाषाएं न होतीं। इससे स्पष्ट है कि—ब्राह्मणभाग वेद ही है। उत्तरमीमांसा (वेदान्तदर्शन) तो प्रायः ब्राह्मणभाग—उपनिषत्के ही प्रमाण तथा उद्धरण देती है। इस प्रकार ब्राह्मणभाग वेद सिद्ध हुआ, नहीं तो वेद-व्यवस्थाके प्रकाशनार्थ ब्राह्मणभागका अवलम्बन करने वाले दार्शनिक मुनि प्रमत्त माने जावें। अतः स्पष्ट है कि मीमांसामें भी ब्राह्मणभागको आतिदेशिकतासे वेद नहीं कहा गया किन्तु वास्तविकतासे। पचासों स्थलोंपर ब्राह्मणोंको वेद कहकर आतिदेशिकता वा औपचारिकता नहीं हो जाती।

(क) 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' (१।२।१) इस मीमांसासूत्रमें अर्थवादात्मक-ब्राह्मणभागको 'आम्नाय' माना गया है। अर्थवाद प्रधानतासे ब्राह्मणभागका विषय है। यदि उसे वेद न माना जाय तो उसे अधिकृत करके किया हुआ वेद-मीमांसामें प्रश्न अप्र

सङ्गिक-प्रलाप हो जावे। उसके उत्तरपक्षमें उसकी वेदता खण्डित नहीं की गई, किन्तु प्रश्नोंका उत्तर दे दिया गया है। (ख) १।२।६ सूत्रके भाष्यमें श्रीशबराचार्यने अर्थवादोंको वेदका ही भाग माना है। इस प्रकार 'औदुम्बरो यूपो भवति' (१।२।१६) इस सूत्रके भाष्यमें कहे हुए विधिवद् निगद अर्थवादोंको १।२।२० सूत्रके भाष्यमें 'तद्वद् वेदे भविष्यति' इस प्रकार 'वेदे' शब्दसे कहा गया है। (ग) 'वेदे व्यक्तमसंवादः—ऊर्जोऽवरुद्ध्यै इत्यप्रसिद्धं वचनम्, ऊर्ग् वा उदुम्बरः, इति हेतुत्वं च अप्रसिद्धम्' (मी. १।२।२१) यहां पर 'वेदे' कह कर ब्राह्मणभागको ही उदाहृत किया है। (घ) 'शूर्पेण जुहोति, तेन हि अन्नं क्रियते-सत्यमेवं लोके, विधायिष्यते तु वचनेन वेदे' (१।२।२६) यहां भी ब्राह्मणको वेद कहा गया है। (ङ) 'उक्तं हि समाम्नायैदमर्थ्यम्' (१।४।१) यहां पर विध्यर्थवादयुक्त-ब्राह्मणको समाम्नाय कहा गया है। (च) इस प्रकार '...तत्सामर्थ्यं समाम्नाये' (१।४।१७) यहां पर 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' इस ब्राह्मणवाक्यको समाम्नाय कहा गया है।

(छ) 'श्वस्त्वेकेषां तत्र प्राक् श्रुतिर्गुणार्था' (३।६।२०) यहां 'आग्नेयं पशुमालभते' इस ब्राह्मणभागको 'श्रुति' कहा है। 'श्रुतितो व्यपदेशाच्च' (४।४।३४) इस सूत्रमें 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इस ब्राह्मणको 'श्रुति' माना है। (ज) कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगात्' (६।१।५) यहां ब्राह्मणभागके विधिवाक्योंको 'श्रुति' शब्दसे कहा है। (झ) इस प्रकार साङ्ख्यदर्शनमें भी 'श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य' (५।१२)

यहां 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' इस ब्राह्मणभाग-उपनिषद्को भी श्रुति माना गया है।

(ञ) 'अपि वा वेदनिर्देशाद् अपशूद्राणां प्रतीयेत' (मी. ६।१।३३) इस सूत्रमें 'वेदे हि त्रयाणां निर्देशो भवति—वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यं, वर्षासु वैश्यम्' (६।१।३३) इस ब्राह्मणभागके वचनको वेद-वचन माना गया है। (ट) 'विधौ तु वेद-संयोगात्' (६।१।२६) यहां 'माषान्मे पचत' इस ब्राह्मणभागको वेदशब्दसे कहा गया है। (ठ) 'आम्नाय-वचनं तद्वत्' (११।२।४१) यहां 'यदेवाध्वर्युः करोति' इस ब्राह्मणको आम्नाय-वचन माना गया है। (ड) 'आम्नाय-वचनाच्च' (१२।४।३२) इस मीमांसादर्शनके सूत्रमें 'यो वै सत्रे बहूनां यजमानानां गृहपतिः' इस ब्राह्मणवचनको आम्नाय माना गया है। (ढ) ३।४।२८ सूत्रमें 'पौण्डरीकेऽश्वसहस्रं दक्षिणा, ज्योतिष्टोमे गौश्च अश्वश्च' यह वैदिक अश्वप्रतिग्रह बताया गया है, यह मन्त्रभागमें नहीं, किन्तु ब्राह्मणभागमें है।

३३. जो कि स्वा.दयानन्दजीने ब्राह्मणभागके वेदत्वका निषेध किया है; वह भी ब्राह्मणभागके वेद होनेमें प्रमाण है। उनसे प्रष्टव्य है कि आपने जो ब्राह्मणभागकी वेदता निषिद्ध की है; वह उसकी वेदताकी प्राप्तिमें की है, या अप्राप्तिमें? यदि अप्राप्तिमें, तो यह ठीक नहीं; प्राप्ति होनेपर ही निषेध हुआ करता है 'प्राप्तौ सत्यां निषेधात्'। नहीं तो स्वामीने गृह्यसूत्र-मनुस्मृति आदियोंकी वेदता भी खण्डित क्यों नहीं की? यदि प्राप्ति होने पर ही स्वामीने ब्राह्मणभागकी वेदता निषिद्ध की है; तो प्रष्टव्य है कि वह प्राप्त

उनको कहां से प्राप्त हुई ? यदि लोकव्यवहार ही वहां कारण कहा जावे; तो वह व्यवहार प्राचीन है या अर्वाचीन ? यदि कहें अर्वाचीन; तो यह व्यर्थ है; इसमें कोई प्रमाण नहीं। उसकी प्राचीनता हम सिद्ध कर ही चुके हैं। यदि वह व्यवहार प्राचीन वा पारम्परिक है; तो स्वामीका पक्ष खण्डित हो गया।

यदि कहा जावे कि-आपस्तम्ब-कात्यायनादिने 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस वाक्यसे वह व्यवहार चलाया; तो यह भी ठीक नहीं। इस वाक्यमें यह नहीं कहा कि मन्त्र और ब्राह्मणका वेद नाम होवे; बल्कि यहां यह कहा है कि दोनों वेद हैं। अर्थात् प्राचीनकालसे ऐसा है, हमने कोई नया व्यवहार नहीं चलाया। यदि स्वा.द.जी वा उनका कोई अनुयायी यह बात न माने; तो मन्त्रभागमें भी वेदव्यवहार अर्वाचीन रहेगा; क्योंकि मन्त्र और ब्राह्मणको उक्त-वाक्यमें इकट्ठा कहा है। यह न्याय प्रसिद्ध है—'एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः, सह वा निवृत्तिः' 'सन्नियोगशिष्टानामन्यतराभावे उभयोरप्यभावः' अर्थात् इकट्ठे हुओंकी प्रवृत्ति भी इकट्ठी होती है, निवृत्ति भी इकट्ठी। इससे सिद्ध हुआ कि—वैदिककालसे प्रारम्भ करके आर्यसमाजके प्रवतक स्वा.दयानन्दजीसे पूर्वकालतक ब्राह्मणभागको भी मन्त्रभागकी भांति वेद माना जाता रहा; परन्तु स्वा.द.जीके ही कालसे सनातनधर्मको संकुचित करनेकेलिए ब्राह्मणभागकी अवेदताकी कथा शुरू की गई; अतः यही व्यवहार अर्वाचीन एवं अमाननीय सिद्ध हुआ।

३४. स्वा.दयानन्दजीके अधीन ईश्वरके मतमें भी ब्राह्मणभाग

वेद है। स्वामीजी सत्यार्थप्रकाशके २५ पृष्ठमें कहते हैं—'कुलीन शूद्र हो तो उसको मन्त्रसंहिता छोड़के सब शास्त्र पढावे'। इस प्रकार उन्होंने अपनी संस्कारविधिमें उपनयन और वेदारम्भ संस्कारमें भी शूद्रको अधिकार नहीं दिया। फिर स्वामीजीने स.प्र. ४४ पृष्ठमें शूद्रोंको भी वेदाधिकार कहा है। पहले शूद्रोंका मन्त्रभागमें निषेध सूचित करके और यहांपर वेदमें शूद्राधिकार बतानेसे स्वामीके अधीन ईश्वरको भी यहां वेद ब्राह्मणभाग ही इष्ट हुआ। नहीं तो ईश्वरकी क्या शक्ति है कि स्वामीजीके अनुसार मन्त्रभागमें अनधिकृत शूद्रको मन्त्रभागका अधिकार दे; अन्यथा तो स्वामीजीने जैसे ईश्वरको साकारतासे हटा दिया, वैसे वे निराकारतासे भी हटाकर उसका अस्तित्व भी नष्ट कर सकते हैं। इससे भी उनके ईश्वरको वेद ब्राह्मणभाग ही इष्ट है।

(ख) स्वा.दयानन्दजीने वैदिक (वेदमन्त्रोंवाली) सन्ध्या बनाई है। उसमेंका 'ओं भूः पुनातु शिरसि' यह मन्त्र 'ओं वाक् वाक्' यह मन्त्र 'ओं भूः, ओं भुवः, ओं स्वः, महः जनः' यह सप्त-व्याहृतियोंवाला मन्त्र स्वा.दयानन्दजीसे माने हुए वेदमें नहीं। तब उनकी मानी हुई सन्ध्या वैदिक कैसे हुई ? इससे स्पष्ट है कि—उक्त सन्ध्या तो वैदिक है, पर उक्त मन्त्र अन्य संहिता वा ब्राह्मणभागमें हैं। आर्यसमाज-सम्मत वेद तो छपे हुए मिलते ही हैं. पर अन्य बहुत सी संहिताएँ तथा बहुतसे ब्राह्मण लुप्त हैं; उन्हींमें वे मन्त्र सुलभ हैं। इस प्रकार भी संहिता और ब्राह्मण मिलकर ही वेद सिद्ध हुए।

(ग) स.प्र. ४३ पृष्ठमें स्वामीजीने कहा है—'हमारा मत वेद है अर्थात् जो-जो वेदमें करने और छोड़नेकी शिक्षा की है, उस-उसका हम यथावत् करना-छोड़ना मानते हैं। जिसलिए वेद हमको मान्य हैं, इसलिए हमारा मत वेद है' (३ समु.)। यह स्वामीका वचन तब संगत हो सकता है, जब सभी संहिता तथा ब्राह्मणभाग जिसमें उपनिषद् और आरण्यक भी सम्मिलित हैं—वेद माना जावे। नहीं तो स्वामीजी अपनी मान्य चार वेद-पोथियोंसे सभी विधि-निषेध (करना-छोड़ना) नहीं दिखला सकते।

(६)

(२२) ब्राह्मणभागको अवेद सिद्ध करनेकेलिए ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिकामें स्वा.दयानन्दजीसे दिया हुआ अन्तिम हेतु है—'मनुष्यबुद्धिरचितत्वाच्च'। परन्तु ब्राह्मणभागमें वह मनुष्य-बुद्धि क्या है; और मन्त्रभागमें क्या मनुष्य-बुद्धि नहीं; यह स्वामीजी सिद्ध नहीं कर सके। इस कारण उनका यह हेतु साध्य होनेसे हेत्वाभास सिद्ध हो गया। 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (पा.) इस सूत्रमें ब्राह्मणभाग को ऋषिप्रोक्त तो कहा है, ऋषिकृत नहीं कहा। प्रोक्तता तो जैसे उक्तसूत्रमें ब्राह्मणकी कही गई है, वैसे ही 'तेन प्रोक्तम्' इस पाणिनिसूत्रके भाष्यमें मन्त्रभागको भी 'ऋषिप्रोक्त' बताया गया है। 'आख्या प्रवचनात्' (मीमांसा १।१।३०) इस जैमिनिसूत्रसे भी मन्त्र-ब्राह्मण दोनोंको ही 'प्रोक्त' बताया गया है, 'निर्मित' नहीं; जैसे—'काठकम्, माध्यन्दिनीयम्, शाकलम्' इत्यादि। इस प्रकार ब्राह्मणभागको मनुष्यबुद्धिरचित बताना अपना अज्ञान प्रकट

करना है। इस प्रकार स्वा.द.जीसे कहे हुए छहों हेतुओंके निराकृत हो जानेसे ब्राह्मणभाग भी मन्त्रभागकी भांति स्पष्ट वेद सिद्ध हो गया।

(७)

(२३) यह कहना कि—'ऋग्वेदादिके साथ 'वेद' शब्द वा 'संहिता' शब्दका प्रयोग होता है, 'शतपथादि ब्राह्मण'के साथ नहीं; अतः ब्राह्मणभाग वेद नहीं, यह भी ठीक नहीं; नहीं तो फिर आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थवेद, सर्पवेद, पिशाच-वेद, पुराणवेद इनके साथ भी 'वेद' शब्द लगा हुआ है, सुश्रुतसंहिता चरक-संहिता, भेल-संहिता, हारीत-संहिता इनके साथ 'संहिता' शब्द लगता है, इन्हें भी प्रतिपक्षियों को वेद मानना पड़ेगा, पर नहीं माना जाता; तब 'वेद'शब्दवाच्यता ही केवल वेदत्व-प्रयोजक नहीं हुआ करती।

मन्त्रभागमें ही 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' (यजुः ३१।७) यहां ऋक् आदिके साथ 'वेद' शब्द कहीं नहीं लगाया गया, निरुक्तकारने भी कहीं नहीं लगाया। मन्त्रभागमें जहां 'वेद' शब्द आया है, वहां ऋगादि नाम नहीं; तब क्या ऋक् आदि वेद न होंगे? इन्हीं ऋगादिको पहले शाकल्य, माध्यान्दिन, कौथुम, शौनक-संहिता कहा जाता था, तब वेदशब्दके साथ न होनेसे क्या यह वेद नहीं रहेंगे? यदि इनके साथ 'संहिता' शब्द होनेसे प्रतिपक्षी इन्हें वेद मानें; तो काठक-संहिता, मैत्रायणी-संहिता आदिको भी उन्हें वेद मानना पड़ेगा। जबकि प्राचीन लोग ब्राह्मणभागको भी मन्त्रभागकी भांति 'ऋषि' कहते हैं, वेदका

प्रमाण देना हो तो ब्राह्मणभागका प्रमाण देते हैं; और इसे आम्नाय, श्रुति आदि शब्दोंसे कहते हैं: तो यह (ब्राह्मणभाग) वेद सिद्ध हो ही गया।

(८)

(२४) स्वा.दयानन्द आदि जो 'ब्राह्मणभाग'को 'भाग' शब्द-वाच्य कहते हैं; इससे भी वह 'वेद' सिद्ध होता है। 'भाग'का 'भागी' भी अवश्य हुआ करता है। ब्राह्मणभागका भागी 'मन्त्रभाग' नहीं बन सकता; क्योंकि उस मन्त्रभागको भी तो 'भाग' बुलाया जाता है। जैसे कि स्वा.द.जीके ही यह शब्द हैं—१ वेद मन्त्रभाग और ब्राह्मण व्याख्याभाग है' (स.प्र. ७ पृ. १२७), २ चारों वेदों (ईश्वरप्रणीत-संहिता मन्त्रभाग (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश सं. १ स.प्र. पृ. ३८३)। ३ 'महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसंज्ञां मत्वा' (ऋ.भा.भू. पृ. ८६)। ४ 'अतो नात्र मन्त्रभागे हि इतिहासलेशोपि' (ऋ.मा.भू. पृ. ८१-८९) इन स्थलोंमें स्वामीने मन्त्रभाग शब्द रखा है।

अब 'ब्राह्मणभाग' शब्द उनसे प्रयुक्त देखिये—१ फिर ब्राह्मणभागको भी (ऋ.भा.भू. ८१)। २ 'जिसमें जगत्‌की उत्पत्ति आदिका वर्णन है, उस ब्राह्मणभागका नाम पुराण है' (पृ. ८४)। ३ किञ्च—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति कात्यायनोक्तेर्ब्राह्मण-भागस्यापि वेदसंज्ञा कुतो न स्वीक्रियते' (ऋ.भा.भू. पृ. ८०) इससे मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भाग ही सिद्ध हुए।

इसीलिए १ अमरकोषमें 'वेदभेदे गुह्यवादे मन्त्रः' (३।३।१६७)

और २ मेदिनी-कोषमें 'मन्त्रो वेद-विशेषे (भेदे, भागे) स्यात्' यहाँ मन्त्रभागको भी वेदका भेद, विशेष अर्थात वेदका भाग ही कहा है। इसी प्रकार ३ 'ब्राह्मणं ब्रह्मसंघाते वेदभागे नपुंसकम्' इस अमरकोष (२।४।८६) के पद्यकी रामाश्रमी टीकामें उद्धृत इस मेदिनी-कोषके प्रमाणमें 'ब्राह्मण'को भी वेदका भाग ही कहा है। इसी प्रकार ४ 'त्रिकाण्डशेष' कोषके नानार्थ-वर्गके 'मन्त्राऽन्य—(अतिरिक्त) वेदे विप्रौघे क्लीवं, ना ब्राह्मणो द्विजे' (३।३।११५) यहाँ ब्राह्मणभागको मन्त्रसे अतिरिक्त वेद बताया है।

५ शङ्करमिश्रकृत वैशेषिक-सूत्रके उपस्कार (६।१।२)में लिखा है—'ब्राह्मणमिह वेदभागः'। ६ न्यायविस्तरकारिकामें लिखा है—'मन्त्रश्च ब्राह्मणं चेति द्वौ भागौ'। जो कि—श्रीतुलसीराम-स्वामीने अपने 'ऋगादिभाष्यभूमिकेन्दूपराग'में इस वचनको अमान्य माना है: उसका कारण यह है कि—इससे उनका पक्ष कटता है; तब ऐसे व्याज न करें; तो फिर अपने पक्षको कैसे बचावें? इस प्रकार मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग दोनों 'भाग' सिद्ध हुए, और 'भागी' हुआ वेद। अर्थात् दोनों भाग मिलकर ही वेद होता है तब यदि भाग होने पर भी मन्त्रभाग वेद है; इसमें प्रतिपक्षियोंका कोई विवाद नहीं; तब ब्राह्मणभाग भाग होनेपर भी निर्विवाद ही वेद सिद्ध होगया, क्योंकि—'समुदायशब्द अवयववाचक भी, और अवयव समुदाय-वाचक भी हुआ करता है।

जो कि—अर्वाचीन लोग ब्राह्मणभागको वेदभिन्न सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं, उसमें कारण यह है कि—ब्राह्मणभागसे सनातन-

धर्मके बहुतसे सिद्धान्त सिद्ध होते हैं। वे सिद्धान्त कहीं वैदिक न बन जावें, इससे वेदमार्गको संकुचित करनेकेलिए अर्वाचीनोंका यह प्रयत्न है। जो कि—ब्राह्मणभागमें याज्ञिक-पश्वालम्भ देखकर कई उससे अपनी जान छुड़ाना चाहते हैं; वह तो सूत्ररूपसे मन्त्रभागमें भी है। वहाँ जैसा अर्थ किया जावेगा; वही अर्थ ब्राह्मणभागमें भी किया जा सकता है। वस्तुतः याज्ञिक पशु, व्रीहि आदिका हुआ करता है, जैसे कि महाभारतमें कहा है 'श्रूयते हि पुराकाले नृणां व्रीहिमयः पशुः। येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः' (अनुशासन-पर्व ११५।५६) तब उपचारसे ही वहाँ वध, रक्त आदि शब्दका प्रयोग होता है—इस विषयपर आगे निबन्ध देखिये। गायके वेदके मतमें 'अघ्न्या' होनेसे साक्षात् उसका ग्रहण कभी नहीं होता। अतः इस बातसे डरकर ब्राह्मणभागको वेदत्वसे हटाना अन्याय्य होगा। उन्हें वेदत्वसे हटानेसे शास्त्रोंमें अनुपपत्तियाँ उत्पन्न होंगी।

(६)

(२५) वस्तुतः जैसे स्वामीजीने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकामें शतपथके प्रमाणसे ऋग्वेदादि-मन्त्रभागको परमात्माका निःश्वास माना है, वैसे ही उसी प्रमाणके अन्तिम अंशमें ब्राह्मणभागको भी परमात्माका ही निःश्वास माना गया है। वह शतपथ-ब्राह्मणका प्रमाण यह है—'अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः, सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः, इतिहासः, पुराणं, विद्या, उपनिषदः, श्लोकाः, सूत्राणि, अनुव्याख्यानानि अस्यैव एतानि' (१४।५।४।१०) यहाँ ऋगादि-रूपसे मन्त्रभाग चार प्रकारका कहा

है। आगे इतिहास आदि-रूपसे आठ प्रकारका ब्राह्मणभाग इष्ट है। गोबलीवर्द-न्यायसे उसे भिन्न तथा भिन्न नामसे कहा गया है। दोनोंको ही परमात्माका निःश्वास माना गया है। इसीलिए तैत्तिरीयारण्यक (८ प्र. २ अनु.) के सायणभाष्य (पूना-संस्करण पृ. ५६३) में कहा है—"वेदो हि मन्त्र-ब्राह्मणभेदेन द्विविधः। ब्राह्मणं च अष्टधा भिन्नम्। तद्भेदास्तु वाजसनेयिभिः (शतपथेन) आम्नायन्ते—'इतिहासः, पुराणं, विद्या, उपनिषदः, श्लोका इत्यादि।" आगे श्रीसायणाचार्यने ब्राह्मणभागसे उनके उदाहरण दिये हैं। तब इस अन्तिम अंशको 'भ्रमोच्छेदन' में न मानना, वा उसे वेदविरुद्ध बताना स्वा०द०का दुस्साहस है। केवल अपने अशुद्ध पक्षकी रक्षार्थ है; उसका व्याजसे अधिक मूल्य नहीं।

स्वा० शङ्कराचार्यने भी बृहदारण्यक-उपनिषद्में 'अरे अस्य महतो—' इस कण्डिकाकी व्याख्या करते हुए यही माना है। 'किं तन्निश्वसितमिव ततो जातम्? उच्यते, यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः, चतुर्विधं मन्त्रजातम्। इतिहास इति—उर्वशी-पुरूरवसोः संवादादिः 'उर्वशी हाप्सराः। (शत. ११।५।१।१) इत्यादि ब्राह्मणमेव। पुराणम्—'असद् वा इदमग्र आसीत्' (तै. उ. २।६।१) इत्यादि…। एवमष्टविधं ब्राह्मणम्। एवं मन्त्र-ब्राह्मणयोरेव ग्रहणम्। नियतरचनावतो विद्यमानस्यैव अभिव्यक्तिः, पुरुषनिःश्वासवत्। न च पुरुष-बुद्धिप्रयत्नपूर्वकः। अतः प्रमाणनिरपेक्ष एव स्वार्थे। तस्माद् यत् तेनोक्तम् तत् तथैव प्रतिपत्तव्यम्'।

(२६) आर्यसमाजके श्रीछुट्टनलाल-स्वामीने स्वा०द०जीके केवल

वेदविरुद्ध कहनेसे अपने पक्षकी दुर्बलता मात्र प्रकाशित होजानेसे इस शतपथके प्रमाणसे अपनी जान छूटती न देखकर 'वेद-प्रकाश' पत्रमें इसपर विचित्र कल्पना की है। वे कहते हैं कि-'उक्त शतपथ-वचनमें श्लोक, सूत्र आदियोंको भी परमात्माका निःश्वास बताया गया है। तब तो नास्तिकोंके श्लोक वा सूत्र आदि भी परमात्माके निःश्वास सिद्ध हो जानेसे वे वेद एवं प्रमाण हो जाएंगे। अतः उक्त वचनका यह अर्थ नहीं। इसका यह अर्थ है कि-ऋग आदि तो उस महाभूत (परमात्मा)के निःश्वास हैं; पर इतिहास, पुराण, श्लोक, सूत्र आदि तो 'एतानि अस्यैव निश्वसितानि' इस वचनमें 'अस्यैव'से 'जीवात्मा'का अभिप्राय है। वे जीवोक्त होनेसे पौरुषेय हैं, अतः परतः-प्रमाण हैं'।

यह कल्पना आठ भेदवाले ब्राह्मणभागके अज्ञानके ही कारण है। वस्तुतः उक्त वचनमें नास्तिकादियोंके श्लोक, सूत्र आदि इष्ट नहीं; जब वे नास्तिक ईश्वरको ही नहीं मानते; तब उनके श्लोक ईश्वरके निःश्वास ही कैसे हो जाएंगे? किन्तु ब्राह्मणभागके ही वे श्लोकादि इष्ट हैं। उनका प्राकरणिक अर्थ श्रीसायण तथा आचार्य-शङ्करके वचनसे हम दिखला चुके हैं। तब उस महाभूत परमात्माके श्वासरूप होनेसे ब्राह्मणभाग भी अपौरुषेय अतः स्वतः-प्रमाण वेद सिद्ध हुआ।

यहाँ जीवपरक अर्थ करना तो अशुद्ध है। क्योंकि-'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदः-' यहाँ पर 'इदम्' शब्दसे उपक्रम है और 'अस्यैव एतानि' यहाँ 'इदम्' शब्दसे ही

उपसंहार है। तब उपक्रम-उपसंहार दोनोंकी एकता अनिवार्य होनेसे 'अस्य' इस 'इदम्' शब्दसे बोध्य महाभूत परमात्मा ही है। इसीलिए इसकी दृढताकेलिए 'अस्यैव' इस उपसंहारमें 'एव' पद दिया है। जीवका तो यहाँ कोई प्रकरण ही नहीं, तब उसका ग्रहण यहाँ हो ही कैसे सकता है? हाँ, यदि ऋग्वेदादि-मन्त्रभागके प्रकट-कर्ताकेलिए 'तस्य' इस प्रकार परोक्षवाची 'तद्' शब्दका ग्रहण होता; और पुराणादि-ब्राह्मणभागके प्रकटकर्ताकेलिए 'अस्य' इस 'इदम्' शब्दका प्रयोग होता; तब तो कथञ्चित् उक्त-पक्षकी सिद्धि थी; पर अब ऐसी बात नहीं। दोनों ही स्थलोंमें समान 'इदम्' शब्द एकका ही ग्राहक है। इसीलिए इससे पूर्व 'अयं च लोकः, परश्च लोकः, सर्वाणि भूतानि अस्यैव एतानि सर्वाणि निःश्वसितानि' यह कहा है। क्या सब भूतों तथा इहलोक एवं परलोकोंको जीव ही बनाता है? नहीं। तब 'वेद-प्रकाश' पत्रका कथन ठीक नहीं।

इस प्रकार जब ऋगादि चार प्रकारके मन्त्र और आठ प्रकारके ब्राह्मण यह दोनों ही परमात्माके निश्वासरूप हैं, दोनोंका आविर्भाव-प्रकार समान ही कहा गया है; तब अपौरुषेयता तथा ईश्वरोक्तता भी दोनोंकी तुल्य ही सिद्ध हुई। वेदता तथा स्वतः प्रमाणता भी दोनोंकी समान ही सिद्ध हुई। यह शतपथका वचन स्वा.दयानन्दजीको भी अभिमत है। तभी तो उन्होंने इसे ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाके १०वें पृष्ठमें अपने पक्षकी पुष्ट्यर्थ उद्धृत किया है, परन्तु 'इसका अन्तिम अंश जो इतिहासः, पुराणं

इत्यादि था, उसे स्वामीजीने अपने पक्षके खण्डित होनेके डरसे जनताकी आंखमें नहीं आने दिया; इसीकारण ही उसे छिपाया, नहीं लिखा। स्वामीजीने स्वयं ऋ.भा.भू.के ८२-८३ पृष्ठमें 'पुराण-इतिहास' शब्दसे ब्राह्मणभागको ही गृहीत किया है। पर यहां अपने पक्षके खण्डनके भयसे इसे छिपा लिया कि—ब्राह्मणभाग भी कहीं परमात्माका निश्वास सिद्ध न हो जावे।

ब्राह्मणभाग भी परमात्मासे उत्पन्न हुआ, इस विषयमें मन्त्र-भागकी भी साक्षी है—'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे' (अथर्ववेदसं. ११।७।२४) यहां पर 'पुराण' शब्दसे 'ब्राह्मणभाग'का ग्रहण है; जैसे कि श्रीसायणाचार्य एवं स्वा.शङ्कराचार्य का वचन दिया जा चुका है। स्वा.द. भी पुराणसे ब्राह्मणको गृहीत करते हैं, यह भी कहा जा चुका है। तब 'भ्रमोच्छेदन'में स्वामीजीसे प्रोक्त, उक्त शतपथ वचनके अन्तिम अंशकी वेदविरुद्धता भी कट गई।

(९)

(२७) कई व्यक्तियोंका विचार है कि—'बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति' (निरु. ७।२४।६) यह ब्राह्मणभागकेलिए कहकर यास्कमुनिने ब्राह्मणभागको अनादरकी दृष्टिसे देखा है, कि—ब्राह्मणमें भक्तिवाद-अर्थवाद बहुत है; अतः वह माननीय नहीं; तब उसे वेद कैसे माना जा सकता है?' इस पर यह जानना चाहिए कि वह वचन ब्राह्मणभागकी अप्रमाणता नहीं बताता; किन्तु इसका यह आशय है कि ब्राह्मणभागमें अर्थवादसे एकको

बहुत अर्थोंमें बताया जाता है; तब मन्त्रभागमें 'उस शब्दका यह अर्थ है, वह नहीं' सो इसमें अपना मनचाहा अर्थ न करके-जैसा कि प्रतिपक्षिगण किया करते हैं-प्रकरण आदिसे विशेष अर्थ जान लेना चाहिये-यह आशय है। प्रकरण आदि छोड़नेपर केवल अपने अर्थमात्रके आग्रहमें तो विनिगमना-विरह होगा। इससे ब्राह्मणभागकी अप्रमाणता क्या हुई? श्रीयास्क तो ब्राह्मणभागको इतने आदरकी दृष्टिसे देखते हैं कि अपनी कही हुई बातकी सत्यता सिद्ध करनेकेलिए उसमें ब्राह्मणभागका प्रमाण देते हैं। बल्कि मन्त्रभागकी सार्थकता-साधनार्थ भी वे ब्राह्मणभागका प्रमाण देते हैं—यह मन्त्रभागके सार्थक्य-प्रकरणमें स्पष्ट है। इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणभागमें श्रीयास्ककी अनादर-दृष्टि नहीं। यह कहना कि यास्क ब्राह्मणका उद्धरण 'ब्राह्मण' नामसे ही देते हैं, वेद नामसे नहीं, यह भी ठीक नहीं। हम पहले बता चुके हैं कि वे वेदवाची निगमशब्दसे जैसे मन्त्रभागको उदाहृत करते हैं, वैसे ही ब्राह्मण-भागको भी। यदि कहीं 'ब्राह्मणं' शब्द रखते ही हैं, वहां 'ऋक्' शब्द भी रखते हैं, उसके साथ भी 'वेद' शब्द नहीं रखते। जैसे 'ब्राह्मणं' यह नाम कहते हैं, वैसे 'मन्त्रः' नाम भी कहते हैं; जैसे—'मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च' (२।१६।३) तो वहां 'वेदः' न कहनेसे मन्त्रभाग भी यास्कके मतमें अवेद हो जावेगा? जो इसपर प्रतिपक्षियोंका उत्तर होगा; वही हमारा 'ब्राह्मण' शब्द पर।

(१०)

(२८) श्रीसामश्रमी आदि कई अर्वाचीन विद्वानों का विचार है

कि—'ब्राह्मणभागकी वेदता सूत्रकालसे शुरू हुई है; उससे पूर्व नहीं थी'। उक्त व्याजका कारण यह है कि उन्होंने जहां-तहां उछल-कूद करके भी प्राचीन ग्रन्थोंमें ब्राह्मणभागकी अवेदता कहीं भी नहीं पाई; तब यह व्याज जारी किया। वे सूत्रकालसे पूर्व वेदकाल मानते हैं; तो मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदने यदि अपनी वेदता नहीं बताई, सूत्रकारोंने ही मन्त्र-ब्राह्मणकी वेदता प्रसृत की; तब वह वेदता केवल मन्त्रभाग की कैसे होगी? ब्राह्मणभाग की कैसे न होगी? मन्त्रभागने भी अपने मन्त्रोंमें ऋग् आदियोंको 'वेद' शब्दसे नहीं लिखा। इस प्रकार ब्राह्मणभागने भी अपनी वेदता नहीं दिखलाई। तब यदि वेदत्व होगा तो दोनोंका ही होगा। नहीं तो मन्त्रभाग भी वेद न रहेगा। क्योंकि सूत्रकालमें दोनोंको इकट्ठा वेद कहा गया है। 'एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः' यह एक प्रसिद्ध न्याय है। तब यदि वेदत्वकी प्रवृत्ति होगी तो दोनोंकी होगी; वेदत्वकी निवृत्ति होगी तो दोनोंकी होगी। यह दोनों ही भाग इतरेतराश्रित हैं।

जैसे सूत्रकालमें ब्राह्मणभागकी वेदता कही गई है, वैसे ही मन्त्रभागकी भी। इससे स्पष्ट है कि दोनों की वेदसंज्ञा समकालिक है। जो कि ब्राह्मणभागके कालको मन्त्रभागके कालसे बहुत पीछेका कहा जाता है; यह तो पाश्चात्य-विद्वानोंकी कल्पना है। वे तो ऋग्वेद-संहिताके मण्डलोंको भी भिन्न-भिन्न कालोंमें बना हुआ मानते हैं। प्रथम और दशम मण्डलको अत्यन्त अर्वाचीन मानते हैं। यदि हम उनकी कल्पना मानें; तो मन्त्रभागको भी पौरुषेय

तथा अर्वाचीन मानना पड़ेगा। यदि मन्त्रभाग पहलेसे ही था; समाधि-द्वारा उसके मण्डल आदिकी प्राप्ति भिन्न-भिन्न कालमें हुई, यह उसका आशय माना जावे; तो शब्द और अर्थके नित्य सम्बन्ध होनेसे मन्त्रभागका अर्थरूप ब्राह्मणभाग भी उसीके समानकालमें ही था-यह स्वतः सिद्ध है। केवल समाधि द्वारा उसकी प्राप्ति पीछे हुई ऐसा इसे भी मानना पड़ेगा। तब इसकी अर्वाचीनता भी कट गई।

यदि स्वा०द०जी भी ब्राह्मणभागकी वेदताको सूत्रकालसे प्रवृत्त हुआ मानते; तो वे सूत्रग्रन्थों द्वारा ही ब्राह्मणभागको अवेद सिद्ध करनेका प्रयत्न न करते। जैसाकि उन्होंने 'भ्रमोच्छेदन'के १४ पृष्ठमें कहा है-'क्या आप (राजा शिवप्रसाद) जैसा कात्यायनको आप्त मानते हैं, वैसा पाणिनि आदि ऋषियोंको आप्त नहीं मानते? जो कभी आप्त मानते हो, तो पाणिनि आदि आप्तोंकी प्रतिज्ञासे विरुद्ध कात्यायन ऋषि क्यों लिखते? जो कहो कि-हम इस वचनको कात्यायनका ही मानेंगे; तो ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि—आप पाणिनि आदि अनेक ऋषियोंके लेखका तिरस्कार कर एकको आप्त कैसे मान सकते हो? और जो उन [पाणिनि आदि] को भी आप्त मानते हो; तो 'मन्त्रसंहिता ही वेद है' उनके इस वचनको मानकर तद्विरुद्ध 'ब्राह्मणकी वेद-संज्ञाके प्रतिपादक वचनको क्यों नहीं छोड़ देते?' इस स्वामीजीके उद्धरणसे स्पष्ट है कि स्वामीजी ब्राह्मणभागकी वेदता पुराणकालसे जारी हुई मानते थे, 'सूत्रकालमें ब्राह्मणभागकी वेद-संज्ञा थी ही नहीं'-ऐसा स्वामीका आशय है; पर आजके श्रीसामश्रमी आदि तो ब्राह्मणभागकी वेदता सूत्रकालसे

मानते हैं। तब यह दोनों ही मत परस्पर-विरुद्ध और गलत सिद्ध हुए।

यदि उनकी यह कल्पना मान ली जावे; कि-ब्राह्मणभाग सूत्रकालसे ही वेद नामसे कहा गया-इससे पूर्व नहीं था; तो प्रष्टव्य है कि-ब्राह्मणभागका काल सूत्रकालसे प्राचीन है वा अर्वाचीन? यदि कहें कि-अर्वाचीन, तो इससे तो उन्हींका खण्डन होगा। नहीं तो सूत्रकार अपनेसे पीछेके ब्राह्मणभागको वेद कैसे कह सकते थे? यदि वे प्रतिपक्षी ब्राह्मणभागके कालको सूत्रकालसे प्राचीन मानें; तो प्रष्टव्य है कि-सूत्रकालसे प्राक्काल कौन-सा था? स्मृतिकाल तो प्राक्काल हो नहीं सकता; क्योंकि-उन (प्रतिपक्षियों) के मतमें स्मृतिकाल सूत्रकालसे अर्वाचीन है। परिशेषसे वेदकाल ही सूत्रकालसे उनके मतमें प्राचीन होगा। तब यदि ब्राह्मणभागका काल वेदकालमें ही सिद्ध हुआ; तो ब्राह्मणभाग स्वतः ही वेद सिद्ध हुआ; नहीं तो ब्राह्मणभागका काल वेद-कालमें कैसे माना जावे?

यदि प्रतिपक्षी मन्त्रभागके कालको पूर्व मानें; और ब्राह्मणभागके कालको अर्वाचीन मानें, तो जैसे मन्त्रभागने अपनी वेदता स्वयं नहीं कही; किन्तु ब्राह्मणभागने ही उसकी वेदता प्रसिद्ध की है-इस कारण मन्त्रभाग वेद माना जाता है; वैसे ही ब्राह्मणभागने भी अपनी वेदता स्वयं नहीं कही; किन्तु सूत्रग्रन्थोंने ही मन्त्र और ब्राह्मण दोनोंको ही वेद बताया है। तब दोनोंकी वेदता वास्तविक और समकालीन ही सिद्ध हुई।

और प्रष्टव्य यह है कि-सूत्रकालीन विद्वान् पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि आदि; तथा षड्दर्शनकार गोतम, जैमिनि आदि, और गृह्यसूत्रकार एवं श्रौतसूत्रकार मुनि अपने उपजीवक स्वा० दयानन्द तथा श्रीसत्यव्रत-सामश्रमीकी अपेक्षा वेदादि-विषयमें मूर्ख थे, या अधिक विद्वान्? यदि अधिक विद्वान् थे; तो उनका मत क्यों न माना जावे? वे तो ब्राह्मणभागको वेद मानते ही हैं, यह हम दिखला चुके हैं। तब प्रतिपक्षी ही उनको वेद न मानते हुए कैसे आप्त हो सकते हैं? इससे स्पष्ट है कि वे स्वार्थी हैं, क्योंकि इससे उन्हें अपने विरुद्ध सनातनधर्मके सिद्धान्तोंको वैदिक मानना पड़ जाता है और उनका बना-बनाया महल गिर पड़ता है। इससे उन्होंने ब्राह्मणभागकी अवेदताकी कथा चालू की।

वस्तुतः 'सूत्रकालसे ब्राह्मणभागकी वेदता प्रवृत्त हुई'—यह मत सर्वथा गलत है। यदि ब्राह्मणभाग वेद न होता तो उसमें 'छन्दसि, निगमे' आदि कहकर होनेवाले व्याकरण-सूत्रोंके कार्य न दीखते, परन्तु दीखते हैं, इससे संहिताओं (शाखाओं) तथा ब्राह्मणभागकी वेदता वास्तविक ही है। क्या कोई धृष्ट सिद्ध कर सकता है कि सूत्रकालसे ही ब्राह्मणभागमें छान्दस-कार्य प्रवृत्त हुए; पहले वे उनमें नहीं थे।

(११)

(२६) यहां हम स्वा.दयानन्दजीसे अपने 'आख्यातिक' 'सामासिक' 'अष्टाध्यायी-भाष्य' आदि ग्रन्थोंमें दिये हुए छान्दस-सूत्रोंके कई उदाहरण दिखलाते हैं, जो स्वा.द.-सम्मत वेदोंमें नहीं मिलते। स्वामीजी चारों वेदोंके ग्रन्थोंको अपूर्ण वा प्रक्षेपयुक्त

नहीं मानते। तब उनसे माने हुए वेदोंके पूर्ण एवं प्रक्षिप्तता-रहित होने पर भी यदि स्वामीजीसे दिये हुए वैदिक-सूत्रोंके उदाहरण उनके माने हुए चार वेदोंमें नहीं मिलते, इससे स्पष्ट सिद्ध होगा कि वेदोंकी सीमा केवल प्रचलित चार पोथियां ही नहीं, किन्तु वैदिक समस्त संहिताएँ तथा समस्त ब्राह्मण वेद हैं। उनमें बहुत सी संहिताएँ तथा ब्राह्मण लुप्त हैं। जो वे सूत्रकार्य इन वर्तमान संहिता वा ब्राह्मणोंमें नहीं मिलते, वे लुप्त संहिता वा ब्राह्मणोंमें होंगे, यह अनुमान कर लेना पड़ेगा। इससे ब्राह्मणभाग भी स्वतः वेद सिद्ध होगा। अब हम स्वा.दयानन्दजीके वे उदाहरण उद्धृत करते हैं—

१ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाके ३८० पृष्ठमें 'उपसंवादाशङ्कयोश्च' (३।४।८) इस वैदिक-सूत्रका उदाहरण स्वामीजीने भी 'नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम' यह दिया है; वह उनके माने वेदमें नहीं, किन्तु ऋक्परिशिष्ट (८ अष्टक, ६ अध्याय, २ वर्गके अन्त)में है तो परिशिष्ट भी वेद हुआ। २ 'आख्यातिक'में स्वामीजीसे दिया हुआ 'बहुलं छन्दसि' (३।२।८८) इस वैदिकसूत्रका उदाहरण 'मातृहा सप्तमं नरकं विशेत्' मन्त्रभागमें न होकर ब्राह्मणभागमें है। ३ इस प्रकार 'हनस्तश्चित् स्त्रियां छन्दसि' (वा. ३।१।१०८) का आख्यातिक (२६४ पृष्ठ)में उदाहरण 'आस्यै त्वा ब्रह्महत्यायैं चतुर्थं प्रतिपद्यते' यह दिया है। वह भी स्वामीजीके माने वेदमें नहीं किन्तु ब्राह्मणभागमें है।

४ 'छन्दसि निष्टर्क्यं' (३।१।१२३)का उदाहरण 'निष्टर्क्यं चिन्वीत पशुकामः' यह दिया गया है, वह मन्त्रभागमें नहीं, किन्तु ब्राह्मण-भागमें है बल्कि छान्दस 'निष्टर्क्य' शब्द भी स्वा.द.-सम्मत छन्द (वेदकी चार पोथियों)में नहीं मिलता। ५ 'बहुलं तणि (संज्ञाछन्दसोः) (ब्रा. ३।२।८)का उदाहरण 'या ब्राह्मणी सुरापी भवति, नैनां देवाः पतिलोकं नयन्ति' (आख्या. ३१० पृ.) दिया गया है, पर वह उनके इष्ट वेदमें नहीं। उनका अपना इष्ट वेद ऋग्वेदसंहिता आदि चार संहिताकी पोथियाँ हैं—इसमें वे न प्रक्षेप मानते हैं; न न्यूनता। तब इनमें उक्त छान्दस-सूत्रोंके उदाहरण वा शब्द न मिलनेसे वेदकी सीमा स्वतः बढ़ानी पड़ेगी, उनकी सत्ता शेष वेदसंहिताओं तथा ब्राह्मणोंमें जो इस समय लुप्त हैं—माननी पड़ेगी।

६ 'विजुपे छन्दसि' (३।२।७४) यहाँ आख्यातिक (३२५ पृष्ठ)में स्वा.द.जीने कहा है—'यहाँ छन्दो-ग्रहण ब्राह्मणविषयकेलिये भी है' यदि ऐसा है; तो ब्राह्मणभाग भी वेद सिद्ध हो ही गया; क्योंकि-स्वामीजी छन्द वेदको मानते हैं—पहले उनका ऐसा प्रमाण दिया ही जा चुका है। ७ 'भावलक्षणे' 'तोसुन्' (३।४।१६) (आख्या० पृ० ३६३) इसका वैदिक उदाहरण 'काममाविजनितोः सम्भवाम' यह वेदका दिया गया है; यह कृ. य. तैत्तिरीयसंहिता (२।५।१।५)के ब्राह्मणभागमें है; तब कृष्णयजुर्वेद तथा उसका ब्राह्मणभाग भी वेद सिद्ध हुआ; जिसे आर्यसमाजी वेद नहीं मानते। ८ 'अन्येभ्योपि दृश्यते' (३।३।१३० (३६० पृष्ठ)का 'सुदोहनामकृणोद् ब्रह्मणे गाम्' यह वैदिक उदाहरण दिया है; पर यह भी उनसे मानी चार वेद-पोथियोंमें नहीं मिलता, किन्तु ब्राह्मणभागमें है। यही

उदाहरण स्वामीके अष्टाध्यायीभाष्यमें भी है।

६ इसप्रकार 'आख्या.' ३६४ पृष्ठमें 'क्त्वापि छन्दसि' (७।१।३८) का वैदिक उदाहरण 'कृष्णं वासो यजमानं परिधापयित्वा' यह ब्राह्मणभागका ही दिया गया है; चारों वेद-पोथियोंमें 'परिधापयित्वा' शब्द ही नहीं। तब वेदकी सीमा बढ़ जानेसे ब्राह्मणभाग भी वेद हुआ। श्रीपाणिनि आदि वेदके पूर्ण ज्ञाता थे; वे जब छन्दके उदाहरण ब्राह्मणभागके भी देते हैं; और छन्द स्वामीजी वेदको मानते हैं; तो ब्राह्मणभाग तथा शेष ११२७ संहिताएँ यह भी वेद सिद्ध हुए। १० 'छन्दसि च' (६।३।१२६)का उदाहरण स्वामीने 'सामासिक' (५८ पृष्ठ)में 'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत्' 'अष्टा हिरण्या दक्षिणा' यह दिया है। यह ब्राह्मणभागका है। ११ 'छन्दसि च' (५।४।१४२)का उदाहरण वहीं (३६ पृष्ठमें) 'पत्रदन्तमालभेत, उभयदतमालभेत' यह ब्राह्मणभागका ही दिया है। इससे हमारे मतकी पुष्टि है। ११ 'अव्ययार्थ'के २१ पृष्ठमें स्वामीने 'तवै-तुमर्थे छन्दसि' इस छान्दस-प्रत्ययका 'ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै, नापभाषितवै' यह शतपथब्राह्मणका उदाहरण दिया है। एतदादिक उदाहरण स्वा० दयानन्द-सम्मत वेदकी चार पोथियोंमें नहीं हैं; किन्तु उनसे भिन्न ११२७ संहिताओंमें हैं; वा लुप्त-अलुप्त ब्राह्मणोंमें हैं। इससे स्वा०द०जीके अनुसार भी सभी संहिताएँ तथा ब्राह्मण वेद सिद्ध हुए।

(३०) कई आधुनिक आर्यसमाजी-गण अपने इस पक्षमें विघात देखकर अपने बचावकेलिए स्वामीकी इन पुस्तकोंको उनसे

बनाया हुआ नहीं मानते; उन्हें चाहिये वे इन पुस्तकोंसे स्वा० दयानन्दजीका नाम मिटा दें। जब तक उनपर स्वामीका नाम है; तब तक उत्तरदायित्व भी उन्हींका रहेगा। वे अष्टाध्यायीके भाष्यको स्वा० दयानन्दजीका मानते हैं। उसमें भी यही बात है। डाक्टर रघुवीर तथा आर्यसमाजके विद्वान् श्रीब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुने उसका संस्कार किया है। टिप्पणीमें उन वैदिक-उदाहरणोंको जिज्ञासुजीने ढूंढकर लिखा है कि-कहांके हैं। उनमें सभी इन चार पोथियोंके नहीं, कई कृष्णयजुर्वेदके हैं; कई अन्य-संहिताओं वा ब्राह्मणभागके हैं। कई उनमें मिले ही नहीं कि-कहांके हैं; उसके लिए जिज्ञासुजीने लिखा है कि—'अनुपलब्धमूलमिदम्'। इन सब बातोंकी संगति तब भलीभांति लग जाती है, जब ११३१ संहिताओंको तथा ब्राह्मणभागको वेद मान लिया जाय। इससे हमारा ही पक्ष सिद्ध होता है। विस्तारभयसे हम सभी उदाहरण नहीं दे सकते, स्थालीपुलाकन्यायसे स्वामीके अष्टाध्यायीभाष्यसे कुछ उदाहरण देते हैं—

(क) 'मन्त्रे घस–जनिभ्यो लेः' (२।४।८०) यहाँ स्वामीजीने 'मन्त्रे' का अर्थ लिखा है 'वेदविषये'। इसका उदाहरण 'अक्षत' यह दिया है, यह ऐतरेयब्राह्मण (७।१४।५)में है, मन्त्रभागमें सर्वथा नहीं। तब ब्राह्मणभाग भी 'वेद' सिद्ध हुआ। यदि ब्राह्मणभाग वेद नहीं, तब 'अक्षत' उदाहरण किस वेदसंहितामें है-यह बताना पड़ेगा? (ख) उत्सर्गश्छन्दसि' (३।२।१७१) इस वार्तिकके 'छन्दसि'का अर्थ स्वामीजीने 'वेदे' लिखा है। उसका उदाहरण 'सेदिः' दिया है। यह वेदकी चार पोथियोंमें नहीं; किन्तु शतपथब्राह्मण (७।३।१।२३) और

तैत्तिरीयारण्यक (४।२२।१) में है।

(ग) 'रोश्छन्दसि' (३।२।१३७) यहाँ 'छन्दसि'का अर्थ स्वामीजीने 'वेदविषये' लिखा है। उसका उदाहरण 'धारविष्णुः' यह शाङ्खायन आरण्यकमें (१२।२।७) है। (घ) 'बहुलं छन्दसि' (३।२।८८) यहाँ स्वामीने 'छन्दसि'का 'वेदविषये' अर्थ लिखा है। इसमें का 'मातृहा' यह उदाहरण चारों वेदसंहिताओंमें नहीं, किन्तु छान्दोग्य-उपनिषद् (७।१५।२३) में है। (ङ) 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' (१।१।१८) इसके लिए वहाँ लिखा गया है—'छन्दोविषयमिदं सूत्रम्'। इसका उदाहरण 'मामकी तनू इति' यह दिया गया है। यह उन्हें वर्तमान वेदसंहिताओंमें नहीं मिला। इसकेलिए वहाँ टिप्पणीमें लिखा गया है—'संहितासु ब्राह्मणेषु च गवेषणीयमिदं वचः' (च) 'या खर्वेण पिबति' (२।३।६२) (तै० सं० २।५।१)।

(छ) 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (२।३।६२) 'छन्दः-शब्देन मन्त्र-भागस्य मूलवेदस्य ग्रहणं भवति, ब्राह्मण-शब्देन ऐतरेयादि-व्याख्यानानाम्'। कारकीयके ३२-३३ पृष्ठमें भी स्वामीने इस सूत्रकेलिए लिखा है—पूर्व-सूत्रोंमें 'ब्राह्मण' शब्दसे ऐतरेय आदि वेद-व्याख्यानोंका ग्रहण होता है, और यहाँ 'छन्दः' शब्दसे वेदोंका ग्रहण होता है, इसलिए इस सूत्रमें 'छन्द' ग्रहण किया है'। यह स्वामीजीके शब्द हमारे पक्षके पोषक हैं, उस 'छन्द'के बहुतसे उदाहरण हम ब्राह्मणभागसे दिखला चुके हैं। (ज) 'भाषायां' (२।३।६९) के लिए लिखा है—'वेदादितरग्रन्थेषु'। 'बहुलं छन्दसि' (२।४।३९) वैदिक-प्रयोगेषु। इसके उदाहरण प्रघसः, प्रादः' यह किसी

वेदमें नहीं मिले। (झ) 'नोनयति (३।१।५१) छन्दस्यनुवर्तते। ऐलयीः, अर्दयीत्-इति वेदे' इसकेलिए टिप्पणीमें लिखा है—'अनुपलब्धमूलमिदम्'। यह स्वा०द०जीके हमने थोड़ेसे वेदके उदाहरण संगृहीत किये हैं; इनमें कई ब्राह्मणग्रन्थोंके, कई उपनिषदोंके, कई आरण्यकोंके कई वर्तमान वेदकी ४ संहिताओंसे भिन्न संहिताओंके हैं। 'भाषा'का कोई भी उदाहरण ब्राह्मणभागका नहीं। कई उदाहरण किसी वैदिक वर्तमान-ग्रन्थमें मिले ही नहीं; इससे सिद्ध हो रहा है कि-ब्राह्मणभाग वेद है, आरण्यक-उपनिषदें वेद हैं। सभी वेदसंहिता वेद हैं। अनुपलब्ध ब्राह्मण और संहिता वेद हैं। ब्राह्मणभाग भाषा (लौकिक) नहीं। इससे सनातनधर्मके पक्षकी सिद्धि तथा आर्यसमाजके एतद्विषयक पक्षकी निराधारता सिद्ध होगई।

यदि कई आर्यसमाजी कहें कि 'स्वा.दयानन्दजी यहां कदाचित् भूल कर गये हों कि वैदिक सूत्रोंका वैदिक उदाहरण दिखलाना चाहते हुए भूलसे अन्य संहिता वा ब्राह्मणभागके उदाहरण दे बैठे हों'—इस पर कथन यह है कि क्या वे सभी स्थलोंमें भूल कर गये? यदि ऐसा हो; तो वे अनाप्त तथा अप्रमाण सिद्ध हुए तब वेद-विषयक उनका पक्ष भी अनाप्त एवम् अप्रमाण सिद्ध हुआ। अथवा मान लीजिये कि वे इन स्थलोंमें भूल ही गये; तो फिर क्या हुआ। उनके अनुयायी इन उदाहरणोंको वेदकी अपनी च[illegible] पोथियोंमें दिखलायें, यह उन्हें चैलेञ्ज है, इससे सभी ११[illegible] संहिताएँ; तथा ब्राह्मणभाग वेद सिद्ध हो ही गये; क्योंकि उनमें [illegible] वैदिक कार्य दीख रहे हैं; तब वे वेद ही हुए। वेद न होनेपर उनमें [illegible]

वैदिक कार्य न होते। सभी स्थलपर आर्ष पाठ कल्पित करके जान नहीं छुड़ाई जा सकती। क्योंकि लोकमें आर्ष पाठ क्वाचित्क होते हैं, सार्वत्रिक नहीं। 'मन्त्रे' कहकर अनुशिष्ट हुए कार्यों को छोड़कर 'छन्दसि, निगमे, वेदे' कहकर अनुशिष्ट किये हुए सभी कार्य ब्राह्मणभागमें हुआ करते हैं और 'मन्त्रे, छन्दसि, निगमे, वेदे' कहकर अनुशिष्ट हुए सभी कार्य सभी संहिताओं-शाखाओंमें हुआ करते हैं। इससे सभी संहिताएँ (शाखाएँ) और सभी ब्राह्मण वेद सिद्ध हुए। अतः वादियोंका पक्ष कट गया। इस प्रकार स्वा. दयानन्दजीके मतमें कृष्ण-यजुर्वेद तथा उसका आरण्यक भाग भी वेद है, तभी तो उन्होंने अपनी पहलेकी प्रकाशित 'वैदिक' सन्ध्यामें 'सूर्यश्च मा मन्युश्च' यह तैत्तिरीयारण्यकका मन्त्र रखा था; अब भी उनकी सन्ध्यामें सप्त-व्याहृतियोंका तथा अपनी प्रसिद्ध पुस्तकोंकी आदिमें मङ्गलाचरण 'सह नाववतु' भी तैत्तिरीयारण्यकका ही रखा हुआ है। काशी-शास्त्रार्थ आदिमें भी यही उनका मत दीखता है। अब उनके अनुयायियोंने उसमें कुछ परिवर्तन कर दिया है। हम उनके कुछ उद्धरण देते हैं—

(क) 'पुराणविद्यावेदो दशमेऽहनि श्रोतव्यः' इत्यत्र ब्राह्मण-वेदानामेव ग्रहणम्, नान्यस्येति साद्यात् सर्वेभ्यो वेदानामेव पुरातनत्वात्' (वेदविरुद्धमतखण्डन शताब्दीसं० पृ० ७८५) यहाँ स्वामीजीने ब्राह्मणग्रन्थोंको वेद लिखा है।

(ख) प्रथमावृत्ति सत्यार्थप्रकाशमें स्वामीजीने 'ब्राह्मणभागका अवेदत्व' कहीं नहीं लिखा, प्रत्युत ब्राह्मणभागान्तर्गत उपनिषदोंको

'श्रुति' नामसे लिखा है। षड्विंश-आदि ब्राह्मणग्रन्थोंके वाक्य सामवेद आदि वेदोंके नामसे लिखे हैं।

(ग) वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमको वैदिक सिद्ध करते हुए संहिताके प्रमाण न देकर शतपथ, मुण्डक, छान्दोग्य आदिके प्रमाण दिये। इससे इनकी वेदता स्वामीको इष्ट है। यदि नहीं, तब केवल ब्राह्मणभागके प्रमाण देनेसे यह आश्रम अवैदिक हो जाएंगे।

(घ) काशी-शास्त्रार्थमें पण्डितोंने जब स्वामीजीसे पूछा कि-वेदमें 'प्रतिमा' शब्द है; या नहीं; तब स्वामीने कहा कि-वेदमें प्रतिमा शब्द तो है, पर उसका अर्थ और है, और 'षड्विंश ब्राह्मणका जो सामवेदका ब्राह्मण है-'देवतायतनानि कम्पन्ते, दैवतप्र-तिमा हसन्ति'-इत्यादि मन्त्रे 'प्रतिमा' शब्दोऽस्ति, स मन्त्रो न मर्त्यलोकविषयोऽपितु ब्रह्मलोकविषयः'। (काशीशा० शताब्दी सं० पृ० ८०३) यहाँ स्वामीने ब्राह्मणके वचनको वेदवचन कहा।

(ङ) 'आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीत-इत्यादि-वचनं यथा वेदेषु दृश्यते; तथा पाषाणादि ब्रह्मेत्युपासीत-इति वचनं क्वापि वेदेषु न दृश्यते' (काशीशा० पृ० ८०४)। यहाँ स्वामीने ब्राह्मणके वचनको वेद-वचन कहा है।

(च) 'इतिहास-पुराणं पञ्चमो वेदानां वेदः' इस ब्राह्मण-वचनको स्वामीने काशीशास्त्रार्थमें वेदका बताया; तो पं० वामनाचार्यने कहा कि-यह वेदका नहीं; तब स्वामीने कहा कि-'यदि वेदेष्वयं पाठो न भवेत्; चेन्मम पराजयः। यद्ययं पाठो वेदे यथावद् भवेत्; तदा भवतां पराजयश्च 'इयं प्रतिज्ञा लेख्या' (पृ० ८०६) इससे स्पष्ट

है कि-स्वामी ब्राह्मणभागको वेद मानते थे; फिर बदल गये।

(छ) श्रीबाल-शास्त्रीने शास्त्रार्थमें पूछा कि-आप सब वेदानुकूल ही को प्रमाण मानते हो; तो वेदमें मनुस्मृतिका मूल कहाँ है। स्वामीने उत्तर दिया कि-'यद्वै किञ्चिद् मनुरवदत्, तद्भेषजं भेषजतायाः' इति सामवेदे' (काशीशास्त्रार्थ पृ० ८०२) यहाँ पर स्वामीने सामवेदके ब्राह्मण ताण्ड्यको सामवेद बताया। प्रथम सत्यार्थप्रकाशके १४६-१४७ पृष्ठमें भी-'और वेदमें प्रमाण भी किसी [स्मृति]का नहीं है···सिवाय मनुस्मृतिके'। सो यहाँ पर भी यह छान्दोग्य (ताण्ड्य) ब्राह्मणकी श्रुति उनके मतमें वेद हुई।

(ज) 'ततो मनुष्या अजायन्त' यह यजुर्वेदमें लिखा है। (सत्यार्थप्र० ८ समु० पृ० २३४) इस शतपथब्राह्मणके वचनको स्वामीने स०प्र०के द्वितीय संस्करणमें यजुर्वेदके नामसे लिखा है। पर पञ्चम-संस्करणमें 'यजुर्वेद और उसके ब्राह्मणमें' यह पाठ चेलों द्वारा प्रक्षिप्त कर दिया गया। पर इससे स्वामीजीकी पूर्वकी सम्मति छिप नहीं सकती। इसप्रकार आर्यसमाजियोंने काशी-शास्त्रार्थमें भी कई परिवर्तन कर दिये हैं।

(झ) 'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि' यह सामवेदका वचन है। (सत्यार्थप्र० द्वितीय, तृतीय-संस्करण नियोगप्रकरण) यह मन्त्र सामवेदके गृह्यसूत्रमें लिखित है; सो उसीके मन्त्र ब्राह्मणसे लिया गया है। स्वामीजीने इसे सामवेदका बताया है; इससे स्पष्ट है कि-वे ब्राह्मणभागको वेद मानते थे; पर परोपकारिणी सभावालोंने स्वामीके पुस्तकोंके पीछेके संस्करणोंमें बड़े परिवर्तन कर दिये;

अतएव वे परिवर्तन स्वामीके मन्तव्य भी नहीं कहे जा [illegible] स्वामीजीकी पुस्तकोंके प्रथम-संस्करण ही विश्वसनीय है केवल हम ही नहीं कहते; किन्तु कट्टर-आर्यसमाजी श्रीब्रह्मदत्त जिज्ञासुके योग्य शिष्य श्रीयुधिष्ठिरजी मीमांसकने वेदवाणी (में 'दयानन्ददर्शन-दर्शन' अपने लेखके १५ पृष्ठके शेष ५ लिखा है-'यज्ञोंके उत्तरोत्तर संस्करणोंमें उसी प्रकार परि होगया है, जैसे-परोपकारिणीसभा-द्वारा प्रकाशित संस्कारविधि ग्रन्थोंमें। अतः हमें यज्ञों और ऋषि-दयानन्दके ग्रन्थोंके प्रथम संस्क पर ही आश्रय करना होगा।' (द्वितीय-स्तम्भ पं. ५-६-७)

तब जो उनके अनुयायी संहिताओं (शाखाओं) तथा ब्राह्मणों वेदता उपचारमात्रसे वा अर्थवाद (स्तुति)से मानते हैं, उनका निरस्त हो गया। अन्यथा छान्दस सभी कार्य शाखाओं ब्राह्मणभागमें न होते। जब हुए-हुए हैं-यह प्रत्यक्ष है; तब (संहिता) रूप मन्त्रभाग तथा ब्राह्मणभाग वास्तविकतासे ही सिद्ध हुए, स्तुति वा उपचारसे नहीं।

(३१) (प्रश्न) छान्दस कार्य तो कहीं गृह्यसूत्रोंमें भी दीख पाणिनिसूत्रोंमें भी, तो क्या वे इससे वेद हो जाएँगे? ('छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' इस परिभाषासे उनमें क्वाचित्क कार्य हुआ करते हैं; क्योंकि आतिदेशिक ('वत्' कहकर अ हुए) कार्य सर्वत्र नहीं हुआ करते; अतः वे 'छन्दोवत्' हैं नहीं, क्योंकि वे सूत्र नहीं। सूत्रोंकेलिए ही उक्त परिभाषा तब उक्त परिभाषा असूत्ररूप शाखा-ब्राह्मणोंमें कैसे प्रवृ

सकती है? गीता आदिमें यदि कहीं छान्दस प्रयोग मिलते हैं; तो उसका समाधान भी 'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति' (नदीसंज्ञासूत्र) इस भाष्यकारके वचनसे हो जाता है, वहां भी वतिप्रत्यय कहनेसे 'नह्येषा इष्टिरस्ति' (ऐसी सार्वत्रिक आज्ञा नहीं है) इस भाष्यकारके वचनसे कवि-वचन गीता आदिमें भी सर्वत्र छान्दस शब्दोंका प्रयोग अभ्यनुज्ञात नहीं, पर शाखाओं तथा ब्राह्मणोंमें तो यह वचन भी प्रवृत्त नहीं, इनमें सभी वैदिक-कार्य क्वचित् नहीं, किन्तु सर्वत्र दीखते हैं; अतः स्पष्ट है कि यह शाखा (मन्त्रभाग) एवं ब्राह्मणभाग वेदवत् नहीं; किन्तु साक्षात् वेद हैं। नहीं तो उनमें सभी छान्दस (वैदिक) कार्य न होते।

यदि कई छान्दस कार्य कहीं ब्राह्मणभागमें नहीं दीखते; तो वहां पर व्यत्ययका कारण होता है। 'व्यत्ययो बहुलम्, छन्दसि तु दृष्टानुविधिः' इत्यादिके बलसे प्रतिपक्षियोंसे वेद माने जाते हुए मन्त्रभागमें भी कई छान्दस कार्य नहीं दीखते। इससे यह हेतु न होकर अहेतु ही है। बाहुलकतावश वा व्यत्ययवश मन्त्रभागमें भी वे कार्य नहीं होते। 'बहुलं'का अर्थ यही है कि कहीं वह कार्य होता है, कहीं नहीं—'क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव। विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति' इसमें 'व्यत्ययो बहुलम्' (३।१।८५) यह पाणिनिका सूत्र भी साक्षी है।

(१२)

(३२) कई व्यक्ति कहते हैं कि—"आपस्तम्ब आदियोंने यज्ञ-

समयकेलिए ही 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह वेदताकी परिभाषा चालू की है, अन्य समयकेलिए नहीं, तब ब्राह्मणभाग यज्ञसमयसे भिन्न वेद भी नहीं"। स.प्र. ७ म. समु.के पृ. १७७के टिप्पणमें स्वा.वेदानन्द लिखते हैं—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' आपस्तम्ब-श्रौतसूत्रमें यह वचन है, वहां भी परिभाषा-प्रकरणमें है-यज्ञमें वेदसे मन्त्र-ब्राह्मण अर्थ लिया जा सकता है'। पर यह बात भी निष्प्रमाण है। हम ब्राह्मणभागकी वेदतामें बहुतसे प्रमाण उपस्थित कर ही चुके हैं; उनमें यज्ञकालसे स्वतन्त्रता होनेपर भी दोनों मन्त्र-ब्राह्मणोंको वेद कहा है। 'यज्ञसे अतिरिक्त स्थलमें ब्राह्मणभागकी वेदता नहीं हुआ करती' ऐसी कहीं की राजाज्ञा भी नहीं है। यज्ञ-व्यतिरिक्तस्थलमें मन्त्रभाग ही वेद हुआ करता है—यह भी कहीं अनुशिष्ट नहीं।

इसके अतिरिक्त आपस्तम्ब आदिके सूत्रमें मन्त्र-ब्राह्मणको इकट्ठा वेद कहा गया है, केवल ब्राह्मणभागका नाम वहां नहीं कहा गया। तो यज्ञातिरिक्त स्थलमें भी यदि वेदता होगी तो दोनोंकी ही; केवल एक की नहीं। अथवा यदि वेदताका निषेध होगा तो दोनोंका होगा केवल एकका नहीं, क्योंकि उस वचनमें मन्त्र और ब्राह्मण दोनों इकट्ठे कहे गये हैं। इकट्ठे कहे हुए पदोंकी प्रवृत्ति वा निवृत्ति भी इकट्ठी हुआ करती है, यह एक न्याय बहुत प्रसिद्ध है—'एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः, सह वा निवृत्तिः'। वस्तुतः उक्त वचन संज्ञासूत्र वा परिभाषासूत्र नहीं, विशेषतः इस सूत्रके प्रकरणमें कोई परिभाषा-प्रकरण चालू भी नहीं।

इसके अतिरिक्त वेदका मुख्य विषय भी यज्ञ होता है; तब यज्ञकालमें वेदका और वेदकालमें यज्ञका नित्य सम्बन्ध होनेसे मन्त्र-ब्राह्मणकी वेदसंज्ञा भी सार्वत्रिक ही है। वेदका विषय यज्ञ है, इसमें हम प्राचीन प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(३३) १ 'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः' (लगधज्योतिष ७ खण्ड) अर्थात् वेद यज्ञोंकेलिए चालू हुए हैं। २ यही वात 'सिद्धान्त-शिरोमणि'में भी कही गई है—'वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृत्ताः' (ग्रहगणिताध्याय, मध्यमाधिकारस्थित कालमानाध्याय ६ श्लोक)। ३ गोपथब्राह्मणमें भी यही कहा है—'चत्वारो वै वेदाः, तैर्यज्ञस्तायते' (१।४।२४)। ४ 'यज्ञो वेदेषु प्रतिष्ठितः' (गो. १।१।३८)। ५ यही बात यजुर्वेद वा.सं.में भी कही गई है—'एदमगन्म देवयजनं...ऋक्-सामाभ्या ँ सन्तरन्तो यजुर्भिः' (४।१) यहांपर यज्ञको ऋग्वेदादिसे पूर्ण होना कहा है। 'यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्तो अग्नये' (ऋ. ८।१९।५) यहां वेद अर्थात् वेदमन्त्रोंसे अग्निका परिचरण-यज्ञ सूचित किया है। यही 'यज्ञं विमाय कवयो मनीषा ऋक्सामाभ्यां प्रवर्तयन्ति' (ऋ. १०।११४।६) इस मन्त्रमें कहा है। ५ निरुक्तमें—'यजुर्यजतेः' (७।१२।३) यजुर्वेदसे विशेषरूपसे यज्ञ करना कहा है। दुर्गाचार्यने कहा है—'तेन हि विशेषत इज्यते'। 'यजूंषि एनं नयन्ति' (नि. ३।१९।६) यहाँ श्रीयास्कने यजुओंसे यज्ञ-की पूर्ति मानी है। 'यजन्ति एभिरिति यजूंषि—सर्वेपि ऋग्यजुः-सामाथर्वाणो मन्त्राः' इससे यजुः वेदमन्त्र-मात्रका नाम है। ऋत्विक्का विग्रह निरुक्तकारने कहा है—ऋग्यष्टा भवतीति (३।१९।६)

अर्थात् वह ऋचाओंसे यज्ञ करता है; सो 'अर्चन्ति आभिरिति ऋचः—मन्त्राः।' सो ऋचाएँ भी सब मन्त्रोंका नाम होनेसे यज्ञ सभी वेदमन्त्रोंका विषय सिद्ध हुआ।

६ 'यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य [वेदस्य] विषयः' (४।१।६२) न्याय-दर्शनके वादिप्रतिमान्य श्रीवात्स्यायनमुनिके इस वचनसे स्पष्ट सिद्ध हो रहा है कि—मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग दोनोंका विषय यज्ञ है। ७ यही बात आपस्तम्ब-परिभाषाके 'मन्त्रब्राह्मणे यज्ञस्य प्रमाणम्' (३३) इस सूत्रमें कही है। ८ 'दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः-सामलक्षणम्' (१।२३) इस मनुस्मृतिके पद्यमें भी यही कहा है कि-वेदोंका अवतरण यथार्थ हुआ है। ९ भगवद्गीता भी तो यही कहती है—'एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो (वेदस्य) मुखे' (४।३२)। १० 'आम्नायस्य [यज्ञ] क्रियार्थत्वात्' (१।२।१) मीमांसादर्शनके इस सूत्रमें भी यही कहा है। ११ 'वेदैर्यज्ञाः समुत्पन्नाः' (वनपर्व १५०।२८) यह महाभारतका वचन है। १२ श्रीसायणाचार्यने ऋग्वेदभाष्यके उपोद्घातमें एक वचन उद्धृत किया है-'यद् वै यज्ञस्य साम्ना, यजुषा क्रियते, शिथिलं तद्, यद् ऋचा तद् दृढम्' (तै. सं. ६।५।१०।३) यहाँ भी सभी वेदोंका यज्ञसे सम्बन्ध वताया है।

अन्य प्रमाण भी इस विषयमें देख लेने चाहियें, जिससे यह वात अत्यन्त दृढ हो जावेगी। १३ 'चत्वारि शृङ्गा-इति वेदा वा एते उक्ताः' 'त्रिधा वद्ध इति मन्त्रः, कल्पो, ब्राह्मणम्' 'एष ह वै महान् देवो यज्ञः' (१।२।१६) गोपथके इस वचनमें यज्ञको मन्त्र

ब्राह्मण तथा कल्पसे बँधा हुआ कहा गया है। इसीलिए गोपथ (२।२।५)में मन्त्र, कल्प और ब्राह्मणोंके अप्रयोगसे यज्ञको 'छिद्र' माना गया है। १४ इसप्रकार निरुक्तमें भी यज्ञस्य चत्वारि शृङ्गा इति वेदा वा एते उक्ताः, त्रिधा बद्धः-मन्त्रब्राह्मणकल्पैः' (१३।७।१) यही माना गया है।

१५ महाभाष्यमें १।१।१ सूत्रके भाष्यमें 'वेदेपि याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वन्ति-स्फ्यो यूपश्चषालः' यहाँ वेदमें याज्ञिकता बताई गई है। (ख) इसप्रकार 'न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः; ते च अवश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः' यहाँ पर (ग) तथा 'याज्ञे कर्मणि स [वेदप्रोक्तो] नियमः' इस प्रकार पस्पशाह्निक-स्थित भाष्यकारके वचनसे वेदका विषय यज्ञ है-यह अत्यन्त स्पष्ट हो रहा है। १६ आर्यसमाजी श्रीरघुनन्दन शर्माने अपनी 'वैदिक सम्पत्ति' पुस्तकमें वेदका विषय यज्ञ बताया है।

१७ इस विषयमें एक बड़ी भारी युक्ति भी है। वह यह है कि-वेदाध्ययनके अधिकारकी प्राप्त्यर्थ ही यज्ञोपवीत पहरा जाता है। उसे यज्ञोपवीत-यज्ञके वस्त्र होनेसे ही कहा जाता है। तब वेदका यज्ञ विषय सिद्ध हो ही गया। १८ वायुपुराणमें भी कहा है—'वेदे नाशमनुप्राप्ते यज्ञो नाशं गमिष्यति। यज्ञे नष्टे देवनाशः ततः सर्वं प्रणश्यति' (६०।६) यहाँ वेदके नाशसे यज्ञका नाश बतानेसे वेदकी यज्ञ-सम्बद्धता सिद्ध हुई। 'आध्वर्यवं यजुर्भिस्तु ऋग्भिर्हौत्रं तथैव च। औद्गात्रं सामभिश्चक्रे ब्रह्मत्वं चाप्यथर्वभिः' (६०।१८)

यहाँपर यज्ञके अध्वर्यु, होता, उद्गाता, ब्रह्मा इन यज्ञके नेताओंके कर्मकी पूर्ति चारों वेदोंसे बताई गई है। यह बात निर्मूल भी नहीं 'ऋचां त्वः पोषमास्ते' (ऋ० १०।७१।११) इस मन्त्रमें भी यही कहा गया है। निरुक्तमें भी 'यज्ञः प्रख्यातं यजतिकर्म-इति नैरुक्ताः, यजुरुन्नो भवतीति वा, यजूंषि एनं नयन्ति इति वा' (३।१९।६) यहाँ यजुः से यज्ञकी पूर्ति बताई गई है। यजुः वेदमात्रका नाम भी है कि-जिनसे देवता पूजित होता है। जैसाकि-म०म० मुकुन्दशर्मकृत निरुक्तभाष्यमें लिखा है-'यजन्त्येभिरिति यजूंषि ऋग्यजुःसामाथर्वणां मन्त्राः'। तब यज्ञका वेदसे सम्बन्ध सिद्ध हुआ। १९ पञ्चतन्त्रके द्वितीय तन्त्र-मित्रसंप्राप्तिमें सोमिलककी कथामें एक पद्य आया है-'अग्निहोत्र (यज्ञ) फला वेदाः'। २० 'ऋत्विग्-ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः' (निरुक्त ३।१९।६) इसपर श्रीदुर्गाचार्यने लिखा है-'ऋग्भिर्हि असौ यागकारी भवति' अर्थात्-ऋत्विक् ऋग्वेदसे यज्ञ करता है। २१ 'ब्रह्मा (वेदः) यज्ञेन कल्पताम्' (यजुः १८।२९) इस मन्त्रमें भी वेदका यज्ञसे सम्बन्ध बताया है। २२ 'यज्ञं व्याख्यास्यामः, स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते, मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्, यजुर्वेदेन अध्वर्युः करोति, ऋग्वेदेन होता, सामवेदेन उद्गाता, सर्वैर्ब्रह्मा' (सत्याषाढ श्रौतसूत्र १।१) यहाँ भी हमारा वही पक्ष सिद्ध हो रहा है। २३ 'अध्वर्यु-क्रतुः' (२।४।३) इस अष्टाध्यायीके सूत्रमें यजुर्वेदका यज्ञ बताया गया है, उसमें एकवचन किया जाता है। 'इषुवज्रौ' सामवेदके इन यज्ञोंमें एकवचन नहीं बताया-इसमें भी वही सिद्ध होता है कि वेदोंका विषय यज्ञ होता है। २४ 'छन्दांसि च दधतो

अध्वरेषु' (१०।११४।५) यहाँ यज्ञोंमें वेदका उपयोग कहा है। इन चारों वेद-संहिताओंमें भी यज्ञशब्द तथा यज धातुका बहुत प्रयोग आया है। स्वा०विश्वेश्वरानन्दजीकी ऋग्वेद-पदानुक्रमणीके ३२२-३२३-३२४-३२५ पृष्ठोंकें ६ स्तम्भ इन्हींसे भरे पड़े हैं। इसी प्रकार यजुर्वेदपदानुक्रमणीके ७८-७६ पृष्ठोंमें ३ स्तम्भ, सामवेदपदानुक्रमणीके ७४ पृष्ठमें दो स्तम्भ, और अथर्व-पदानुक्रमणीमें ४॥ स्तम्भ भरे पड़े हैं। अभी यज्ञके मख, क्रतु, सत्र आदि शब्द इससे भिन्न हैं—इससे वेदकी यज्ञ-विषयता सुस्पष्ट है।

इन सब प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि—वेदोंका विषय यज्ञ है। जब ऐसा है, तो वेदोंका यज्ञसे नित्य सम्बन्ध होनेसे, और यज्ञोंके समय वादीके अनुसार मन्त्र और ब्राह्मणको वेद कहनेसे, वेदके अधिकारप्रद यज्ञोपवीतके सदा हमारे साथ रहनेसे ब्राह्मणभागकी वेदता वास्तविक, तथा सनातन सिद्ध हुई। इसप्रकार वादीके मतको मानने पर भी कि—'यज्ञके समयमें मन्त्र-ब्राह्मण वेद होते हैं—' हमारा ही पक्ष सिद्ध हुआ। प्रमाण हमने इसलिए बहुत दिये हैं कि कई लोग वेदका विषय यज्ञ नहीं मानते—इन प्रमाणोंसे उनका पक्ष कट गया। हाँ, वेदोंकी सर्वविद्यता बतानेकेलिए यज्ञका व्यापक अर्थ भी लिया जा सकता है।

(१४)

(३४) कई लोग कहा करते हैं कि 'शतपथब्राह्मण आदिके साथ तो 'वेद' यह नाम नहीं रहता; पर 'ऋग्वेद' आदिके साथ तो 'वेद' शब्द रहता है, अतः मन्त्रभाग तो वेद सिद्ध है; पर ब्राह्मणभाग वेद नहीं' इसपर यह जानना चाहिये कि जैसे ब्राह्मणभागका अपना-अपना नाम 'शतपथ-ब्राह्मण, ऐतरेय-ब्राह्मण, ताण्ड्य-ब्राह्मण, गोपथ-ब्राह्मण आदि हैं; वैसे ही मन्त्रभागका भी अपना-अपना नाम शाकल्य-संहिता, वाजसनेयी संहिता, कौथुम-संहिता, शौनक-संहिता आदि है।

जैसे शाकल्य-संहिता ऋग्वेदकी संहिता (शाखा) होनेसे ऋग्वेद नामसे मानी जाती है। जैसे वाजसनेयसंहिता शुक्लयजुर्वेदकी संहिता होनेसे शुक्लयजुर्वेद नामसे समझी जाती है। जैसे कौथुम-संहिता सामवेदकी संहिता होनेसे सामवेदके नामसे प्रसिद्ध है। जैसे शौनक-संहिता अथर्ववेदकी संहिता होनेसे अथर्ववेदके नामसे मानी जाती है; इस प्रकार ऋग्वेदादिकी अन्य संहिता भी उसी-उसी अपने वेदके नामसे कही जाती हैं; वैसे ही ऐतरेय-ब्राह्मण भी ऋग्वेद (शा.) संहिताका ब्राह्मण है, अतः ऋग्वेद नामसे कहा जाता है। शतपथ यजुर्वेद (वाज.काण्व.) संहिताका ब्राह्मण होनेसे यजुर्वेद नामसे कहा वा माना जाता है। ताण्ड्यब्राह्मण भी सामवेद (कौ.) संहिताका दूसरा भाग है; अतः सामवेद कहा जाता है। गोपथ ब्राह्मण भी अथर्ववेद (पै.) संहिताका ब्राह्मण है; अतः इसे अथर्वाङ्गिरोवेद वा अथर्ववेद कहा जाता है।

इसका उदाहरण भी देख लेना चाहिये—(क) न्यायदर्शनके ४।१।६२ सूत्रके वात्स्यायनभाष्यमें लिखा है—'ते वा खल्वेते अथर्वाङ्गिरसः एतद् इतिहास-पुराणम् अभ्यवदन्—'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम् इति'। यहांपर 'अथर्वाङ्गिरसः' यह नाम आद

है, यह अथर्ववेदकेलिए आता है; जैसे कि अथर्ववेदसंहितामें ही कहा है-'अथर्वाङ्गिरसो मुखम्' (१०।७।२०)सो 'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्' यह अथर्व-के ब्राह्मणका पाठ है; इसे भी अथर्ववेदके नामसे कहा गया है। (ख) 'वाजसनेयी' यह शब्द यजुर्वेद-संहिता (माध्यन्दिनी)केलिए प्रयुक्त किया जाता है। पर शतपथ-ब्राह्मणके लिए भी वही शब्द कहा जाता है। जैसे कि-श्रीसायणाचार्यने अपने ऋग्वेदभाष्योपोद्घातमें 'वाजसनेयिनश्च आमनन्ति'—यह कहकर 'तद् यद् इदमाहुः-अमुं यज' (१४।४ २।१२) इस शतपथ-ब्राह्मणका प्रमाण दिया है। इसी कारण शतपथ-ब्राह्मणको भी 'वाजसनेयक' कहा जाता है। (ग) 'आदित्यानि इमानि शुक्लानि यजूँषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येन आख्यायन्ते' यह शतपथब्राह्मण का अन्तिम वचन स्वयं अपने (शतपथके) विषयमें कहा गया है कि यह याज्ञवल्क्य-प्रोक्त है। उसी शतपथको वहां 'शुक्लानि यजूंषि' शब्दसे कहा गया है।

इससे ब्राह्मणभाग भी मन्त्रभागकी भांति वेद सिद्ध है। मन्त्र-भागका 'संहिता' यह विशेष नाम है, और 'ब्राह्मणभाग'का 'ब्राह्मण' यह विशेष नाम है। पर वेद दोनों ही हैं। वैसे तो स्वयं मन्त्रभागमें ऋक्, यजुः आदिके साथ 'वेद' शब्द वा 'संहिता' शब्द नहीं आया; तब क्या ऋगादिको वेद नहीं माना जायगा? स्वा-द-जीने 'वेदविरुद्धमत-खण्डन'में 'ब्राह्मणवेदानां ग्रहणम्' तथा अन्यत्र पुराणवेदः, इतिहास-वेदः' यह शतपथादिके अनुसार इनको 'वेद' शब्दसे लिखा है, इतिहास-पुराण स्वामीजी भी ब्राह्मणभागका नाम कहते हैं; सो उनके

साथ भी 'वेद'शब्द दीखनेसे ब्राह्मणभाग स्वतः 'वेद' प्रतिफलित हुआ।

(१५)

(३५) कई कहा करते हैं—'श्रीसत्यव्रतसामश्रमीने अपने 'निरुक्तालोचन'में कई शब्दोंका संग्रह किया है, उनसे केवल मन्त्रभाग ही वेद सिद्ध होता है। जैसे 'त्रयी' वा 'आम्नाय' शब्द वेदका पर्याय है, यह मन्त्रभागकेलिए प्रयुक्त होता है, ब्राह्मणभागके लिए नहीं। यदि ब्राह्मणभाग भी वेद होता, तो उसकेलिए भी 'त्रयी' 'आम्नाय' आदि शब्द प्रयुक्त होते। पर प्रयुक्त न होनेसे ब्राह्मणभाग वेद सिद्ध नहीं' इस पर यह जानना चाहिये कि हम वेदके पर्याय श्रुति आदि दिखला सकते हैं, जिनसे केवल ब्राह्मण-भागका ग्रहण होता है—यह बात श्रीसामश्रमीजीने भी अपने 'निरुक्तालोचन'में मानी है, तब क्या वादी मन्त्रभागको भी श्रुति-वेद न मानेंगे?

वस्तुतः कई 'त्रयी' आदि ऐकदेशिक शब्द हैं; जो केवल मन्त्र-भागके वाचक होते हैं। कई शब्द ऐसे हैं जो केवल ब्राह्मणभागके वाचक होते हैं। वे एक-दूसरेके नाममें प्रयुक्त नहीं किये जा सकते। जैसे-मन्त्र वा मन्त्रभाग यह ऐकदेशिक शब्द है, यह ब्राह्मणभागके नामके साथ नहीं जोड़ा जा सकता; इस प्रकार 'ब्राह्मणं' शब्द या 'ब्राह्मणभाग' शब्द मन्त्रभागके साथ नहीं जोड़ा जा सकता, क्योंकि यह नाम ऐकदेशिक होनेसे उसी एकदेशमें रूढ हैं; वैसे ही 'त्रयी-संहिता' आदि शब्द केवल मन्त्रभागमें ही रूढ होनेसे

ऐकदेशिक हैं। इसलिए 'ब्राह्मणभाग'के नामके साथ नहीं जुड़ते। इस प्रकार 'ब्राह्मणम्, विधिः, अर्थवादः' यह शब्द ब्राह्मणभागमें रूढ होनेसे ऐकदेशिक होनेके कारण मन्त्रभागके साथ नहीं जुड़ते।

परन्तु 'वेद, आम्नाय, निगम, छन्द' आदि जो समुदायवाचक शब्द हैं; वे मन्त्रब्राह्मण दोनोंका बोध कराते हैं। उसमें भी 'समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते, पूर्वे पञ्चालाः, उत्तरे पञ्चालाः, घृतं भुक्तम्' (५।१।११५) महाभाष्यकारके इस वचनसे उक्त शब्द कहीं केवल मन्त्रभागके भी वाचक होते हैं; कहीं केवल ब्राह्मणभागके भी। सामान्यतया दोनोंके वाचक हैं-यह हम पहले भी स्पष्ट कर चुके हैं। तब ऐकदेशिक शब्दोंका दोनोंके नामोंके साथ सम्बन्ध न होनेसे इससे हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं।

इसके अतिरिक्त श्रीसामश्रमी 'वस्तुतो मन्त्रार्थपर्यालोचनतोपि व्यक्तं प्रतीयते ह्येषां धीमत्पुरुषकृतत्वमेव। तद् यथा—'यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत' (१०।७१।२) एवं चास्मत्पूर्वपुरुषैर्ऋषिभिरेव कृत एष वेदमन्त्रभागोपि इति ध्रुवम्'। इस प्रकार निरुक्तालोचन ३१४ पृष्ठमें तथा 'पुरा बहुकालमभिव्याप्य बहुभिर्ऋषिभिरेव उच्चावचैरभिप्रायैः प्रणीता बहवो मन्त्राः' ऐतरेयालोचनके ३६ पृष्ठमें वेदको पौरुषेय मानते हैं, तब क्या उनके मतको उपस्थित करनेवाले आर्यसमाजी वेदको पौरुषेय स्वीकार करते हैं? यदि नहीं; तब हम भी निर्मूल और असत्य इस सामश्रमि-मतको स्वीकार कैसे करें? हमने तो उनकी युक्तियोंका उत्तर दे ही दिया है; तब ब्राह्मणभाग

भी वेद सिद्ध हो ही गया। 'आम्नाय' शब्द ब्राह्मणभागके साथ भी प्रयुक्त किया जाता है। जैसेकि—श्रीयास्कके निरुक्तमें—'आम्नाय-वचनादेतद् भवति' (७।२४।४) यहाँ ब्राह्मणभागके आरोह-प्रत्यवरोहको जहाँ कि सूर्यको वैश्वानर कहा गया है—उसे 'आम्नाय' माना गया है।

(१६)

(३६) कई लोगों का यह विचार है कि—'यत्र पादव्यवस्था सा ऋक्, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुः-शब्दः' (२।१।३५-३७) यह श्रीजैमिनिमुनिसे कहा हुआ ऋग्वेद आदि वेदोंका लक्षण ऐतरेयादि ब्राह्मणोंमें नहीं मिलता; तब उन्हें ऋग्वेदादि-वेद कैसे माना जाय?'' इसपर यह जानना चाहिये कि—यह लक्षण ऋग्वेदादि-ग्रन्थ-विशेषोंका नहीं है; किन्तु मन्त्रविशेषोंका है, इसीलिए 'सा ऋक्' कहा है, 'स ऋग्वेदः' ऐसा नहीं कहा। 'सामाख्या' कहा है, 'सामवेदः' नहीं कहा। 'यजुः-शब्दः' कहा है, 'यजुर्वेदः' नहीं कहा। इसीलिए यहां 'अथर्ववेद'का लक्षण नहीं कहा; क्योंकि—उसके मन्त्र इन्हीं तीनोंमें आजाते हैं। तब इन तीन प्रकारके मन्त्रोंका ब्राह्मणभागमें समन्वय न होनेपर भी ब्राह्मणोंके ऋग्वेदादित्वमें क्षति नहीं पड़ती। नहीं तो इस लक्षणके अनुसार ऋग्वेदस्थ-यजुमें भी ऋक्का लक्षण न मिलनेसे, और अथर्ववेदका लक्षण सर्वथा ही न कहनेसे वे क्या वेद नहीं रहेंगे? नहीं; वे ऋग्वेदादि ही होंगे, हाँ उस ऋग्वेदस्थ यजुःको 'ऋक्' नहीं कहा जावेगा; पर वह ऋग्वेद तो कहा ही जायगा। इसी तरह वह ब्राह्मण जिस वेदकी संहिताका है; उसे

वेदके नामसे बुलाया जायगा, और बुलाया जाता भी है।

(१७)

(३७) कई कहा करते हैं-(क) 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' (२।१।३२) 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (२।१।३३) इन मीमांसादर्शनके सूत्रोंमें पहलेमें तो वेदका लक्षण है, दूसरेमें ब्राह्मणका; इसलिए ब्राह्मणभाग वेदसे भिन्न है। (ख) 'अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते, [के ? मन्त्राः'] (निरुक्त १।१५।५) (ग) 'अहिवत्तु खलु मन्त्र-वर्णा ब्राह्मण-वादाश्च' (२।१६।१३) इस निरुक्तके पाठमें भी ब्राह्मणभागको मन्त्र-भागसे पृथक् कहनेसे ब्राह्मणभाग वेद सिद्ध नहीं।" पर यह भी ठीक नहीं—

यदि मीमांसाके पहले सूत्रमें 'तच्चोदकेषु वेदाख्या' होता; और दूसरे सूत्रमें 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' होता, इसीप्रकार 'ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते' में 'के ? वेदाः' यह उत्तर होता 'अहिवत्तु खलु वेदवर्णा ब्राह्मणवादाश्च' ऐसा निरुक्तमें पाठ होता; तब तो कदाचित् (सर्वांशमें तब भी नहीं) वादियोंकी इष्टसिद्धि थी; तब कदाचित् ब्राह्मण वेदभिन्न होता; पर अब तो कभी हो ही नहीं सकता।

पहले ३२ सूत्रमें मीमांसाकारने 'वेदाख्या' न कहकर 'मन्त्रा-ख्या' कहा है, फिर 'ब्राह्मणशब्दः' कहा है; यह वेदके दोनों भागों-मन्त्रभाग और ब्राह्मणभागका पृथक्-पृथक् लक्षण कहा है। इससे मन्त्रभाग और ब्राह्मणभागकी तो आपसमें भिन्नता सिद्ध होती है; पर इससे ब्राह्मणभाग अवेद नहीं हो जाता। यदि इससे

दूसरे भागको वेदभिन्न माना जावे; तो समान न्यायसे पहले भाग मन्त्रभागको भी अवेद मानना पड़ेगा; क्योंकि-उसे भी 'मन्त्राख्या' कहा है, 'वेदाख्या' नहीं कहा। पर ऐसा प्रतिपक्षी भी नहीं मानते; तब ब्राह्मणभाग भी वेद-भिन्न नहीं हो सकता। बल्कि-दोनों ही वेदके भाग सिद्ध होते हैं; भागी वेद सिद्ध होता है। तब वेदके चोदक (प्रेरक) भागको मन्त्रभाग नामसे कहनेसे उससे बचे हुए शेष भागको ब्राह्मणभाग नामसे कहनेसे मीमांसाकारको दोनों भागोंकी वेदता इष्ट है, और पृथक्-पृथक् भागरूपसे कहना इष्ट है-मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग।

इसीलिए इन सूत्रोंकी व्याख्या करते हुए श्रीसायणाचार्यने ऋग्वेद-भाष्यके उपोद्घातमें कहा है—'मन्त्र-ब्राह्मणरूपौ द्वावेव वेदभागौ-इति अङ्गीकाराद्, मन्त्रलक्षणस्य पूर्वमभिहितत्वाद् अवशिष्टो वेदभागो ब्राह्मणम्-इत्येतल्लक्षणं भविष्यति। तदेतद् लक्षणद्वयं जैमिनिः सूत्रयामास-'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या, शेषे ब्राह्मणशब्दः' तच्चोदकेषु-तदभिधायकेषु-वाक्येषु मन्त्र इति समाख्या, मन्त्र-व्यतिरिक्त [वेद-] भागे तु ब्राह्मणशब्दः'। यहाँ मन्त्र और ब्राह्मण दोनोंको वेदका ही भाग कहा है। इसी प्रकार प्रतिपक्षियोंके मान्य श्रीसत्यव्रत सामश्रमीने भी 'निरुक्तालोचन-ऐतरेयालोचनमें 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (२।१।३३) इसका 'मन्त्रभागातिरिक्तो वेदभागो ब्राह्मणम्' यही हमसे कहा हुआ ही अर्थ स्वीकृत किया है। इसीलिए ही मीमांसादर्शनके 'अपि वा वेदनिर्देशाद् अपशूद्राणां प्रतीयेत' (६।१।३३) इस सूत्रमें 'वेदे हि त्रयाणां निर्देशो भवति-वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे

राजन्यं, वर्षासु वैश्यम्' इस ब्राह्मणवचनको भी वेदवचन माना गया है।
इसप्रकार निरुक्तके 'मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च'में दोनों वेदके भाग ही बताये गये हैं। इसमें 'वेदवर्णा ब्राह्मणवादाश्च' पाठ नहीं; जिससे प्रतिपक्षियोंकी इष्टसिद्धि हो। निरुक्तकार भी ब्राह्मणभागको वेद ही मानते हैं; उनके उदाहरण कुछ चतुर्थपुष्पमें कुछ इस निबन्धमें दे दिये गये हैं। फलतः जहाँ 'मन्त्रः' 'ब्राह्मणम्' यह भिन्न-भिन्न नाम आवें; उससे ब्राह्मणभागकी अवेदता कभी सिद्ध नहीं होती, किन्तु दोनोंकी वेदभागता ही सिद्ध होती है।

(३८) कई व्यक्ति 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (२।१।३३) इस मीमांसा-सूत्रके शेष-शब्दका] 'अथातः शेषलक्षणम्, शेषः परार्थत्वात्' (३।१।१-२) इस मीमांसाके सूत्रसे लक्षण बताते हैं कि-पर (वेद)का अर्थ होनेसे वह शेष कहाता है" पर यह ठीक नहीं। यह दोनों सूत्र एक दूसरेसे बहुत दूर हैं, अधिकरण भी समान नहीं है, तब इनका इकट्ठा अर्थ करना प्रतिपक्षियोंका दुःसाहस है। यहां तो नाना-कर्मों से अवशिष्ट कर्मोंका वर्णन है, 'परार्थत्वात्'का अर्थ है, दूसरोंके लिए, यहां पर 'पर'का अर्थ वेद तथा 'अर्थ'का अर्थ व्याख्या नहीं। यहां 'अर्थ' शब्द 'उसके लिए' इस अर्थका वाचक है, 'व्याख्या-' अर्थ नहीं। व्याख्या अर्थ मानने पर भी हमारे पक्षकी कोई हानि नहीं; संस्कृत 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' की हिन्दी व्याख्या (टीका) अलग छपवाने पर क्या उसे 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' न माना जावेगा; उसे बाइबिल कहा जावेगा? इस प्रकार प्रतिपक्षियोंका यह कथन भी कट गया। (ख) कई व्यक्ति 'विधि-मन्त्रयोरैकार्थ्यमेकशब्द्यात्'

(२।१।३०) इस सूत्रसे विधि और मन्त्रको एकार्थक बताते हैं; पर यह पूर्वपक्षका सूत्र है। इसे यदि वे सिद्धान्त भी मानें; तब विधि-रूप ब्राह्मणभागको भी उन्हें मन्त्र कहना पड़ेगा—इससे उन्हींका पक्ष उन्हींसे खण्डित होगा। वस्तुतः मन्त्रभाग और विधि-अर्थवाद-रूप ब्राह्मणभाग एक-दूसरेसे भिन्न हैं, पर वेद दोनों हैं।

(१८)

(३९) कई व्यक्ति 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (६।१।१) 'ब्राह्मणे संज्ञाकर्म सिद्धि-लिङ्गम्' (६।१।२) इन दो वैशेषिक-सूत्रोंमें और 'छन्दो-ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' (४।२।६६) इस पाणिनिसूत्रमें 'वेद-ब्राह्मण और छन्द-ब्राह्मण' शब्दोंके पृथक्-पृथक् ग्रहणसे ब्राह्मणभागको वेदसे भिन्न मानते हैं; उन्हें 'छन्दो-ब्राह्मणानि च' का समाधान तो इस निबन्धके आरम्भमें देख लेना चाहिये। वैशेषिकदर्शनके सूत्रका उत्तर भी वैसा ही है। फिर भी यहां कुछ कह देते हैं—

इस शङ्काके उठानेवालोंने 'जुष्टार्पिते च छन्दसि' (६।१।२०९) 'नित्यं मन्त्रे' (६।१।२१०) इन दो पाणिनिसूत्रोंसे क्या विलक्षणता देखी है; जोकि वे उक्त पाणिनिके सूत्र, वा वैशेषिकसूत्रोंको आक्षेपमें उपस्थित करते हैं। इस प्रकार तो हमसे उपस्थापित पाणिनिसूत्रोंमें मन्त्रभागको छन्द (वेद)से पृथक् कहनेसे क्या वे मन्त्रभागको भी वेदसे भिन्न मानेंगे? यदि वे गोबलीवर्द-न्यायसे वा ब्राह्मणवसिष्ठ-न्यायसे वा तनादि भी कृञ्-धातुके 'तनादि-कृञ्भ्य उः' (३।१।७९) यहां तनादिसे पृथक् ग्रहण करनेकी भांति मन्त्र और छन्दका पृथक् ग्रहण मानें

इससे मन्त्रभागकी अवेदता न मानें; वैसे ही उन्हें वैशेषिकदर्शनके सूत्रोंमें, तथा उक्त पाणिनिसूत्रमें; और अन्यत्र वेद-ब्राह्मणके पृथक् ग्रहण दीखनेमें भी जान लेना चाहिये'। तब समान-न्यायसे ब्राह्मणभागकी भी अवेदता नहीं मानी जा सकती। शेष उत्तर इस निबन्धके आरम्भमें देख लेना चाहिये।

(१६)

(४०) कई लोग निरुक्तमें निपात-प्रकरणमें 'अन्वध्यायं'के उदाहरणोंमें ब्राह्मणभागको उदाहृत न देख निपातोंके मन्त्रभागके ही उदाहरणोंको देखकर उससे ब्राह्मणभागकी निरुक्तकारको अवेदता इष्ट मानते हैं—यह भी ठीक नहीं। यद्यपि श्रीयास्कके मतमें 'अन्वध्यायं' वेदका नाम है; और 'भाषायां' लोकका; तथापि इससे हमारे पक्षकी कोई हानि नहीं। क्योंकि—'अन्वध्यायम्'का जब 'वेद'में यह अर्थ है, और वेदके दो भाग हैं, एक मन्त्रभाग दूसरा ब्राह्मणभाग, तब उन दोनोंमें किसी एक भागके निपातोंके उदाहरण देने पर भी 'अन्वध्यायं'की सार्थकता हो जाती हैं; क्योंकि—'समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते' (समुदायवाचक शब्द अवयव-वाचक भी बन जाता है) घृतं भुक्तम् (घी खाया—घी समुदायवाचक शब्द है, सारे संसारके घीका नाम है; पर इस वाक्यमें 'घृत' शब्द अवयववाचक है) यह महाभाष्यसे प्रोक्त एक प्रसिद्ध न्याय है।

जैसे कि—न्यायदर्शनमें 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तेभ्यः' (२।१।५७) वेदविषयक इस आक्षेपके प्रस्तुत होनेसे उक्त दोनों

भागोंमें एक भाग ब्राह्मणभागके उदाहृत करने पर वेदविषयक उक्त आक्षेपकी सफलता हो गई, अथवा जैसे महाभाष्य-पस्पशाह्निकमें 'वेदे-खल्वपि'—कहकर 'पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्यः' इस केवल ब्राह्मणभागके उदाहृत करनेपर भी वेदके उदाहरण देनेकी सफलता हो गई। अथवा जैसे 'अपि वा वेदनिर्देशाद् अपशूद्राणां प्रतीयेत' (६।१।३३) इस मीमांसादर्शनके सूत्रमें प्रोक्त वेदनिर्देशको दिखलाते हुए 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यम्' इत्यादि केवल ब्राह्मणभागके प्रमाण देनेपर भी वेदके निर्देशकी चरितार्थता हो गई। अथवा जैसे महाभाष्यमें 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी छन्दसीति वाच्यम्' (२।३।६२) इस वैदिक-वार्तिकका 'या खर्वेण पिबति, तस्यै खर्वः' इस केवल ब्राह्मणभागका उदाहरण देने पर भी छन्दः (वेद) शब्द की सार्थकता हो गई; वैसे ही निरुक्तके 'अन्वध्यायं' (वेदमें)के उदाहरणमें यदि वेदके एक भाग मन्त्रभागका उदाहरण दे दिया गया है, तो इससे हमारे पक्षकी कोई हानि नहीं। क्योंकि प्रस्तुत निरुक्त मुख्यतया ऋग्वेदसं.के संगृहीत कठिन शब्दों (निघण्टु)के निर्वचनकेलिए ही प्रवृत्त हुआ है।

हां, यदि निरुक्तकार निपात-प्रकरणमें भाषाका उदाहरण ब्राह्मणभागका देते; तब इससे हमारा पक्ष खण्डित होता; पर वैसा उन्होंने कहीं भी नहीं किया। तब इससे हमारा पक्ष अक्षत ही रहा। बल्कि 'अन्वध्यायं' कहकर श्रीयास्कने जिन निपातोंका जिस अर्थमें मन्त्रभागका उदाहरण दिया है; वे निपात ब्राह्मणभागमें भी उन्हीं अर्थोंमें सामान्य हैं और ब्राह्मणभागमें भी सुलभ हैं। जैसे—

'अग्निरिव, इन्द्र इव' उपमार्थमें मन्त्रभागमें सुलभ है, वैसे ही ब्राह्मणभागमें भी। जिन अर्थोंमें 'नूनम्' आदि मन्त्रभागमें मिलते हैं; उन्हीं अर्थोंमें ब्राह्मणभागमें भी मिल सकते हैं। उसी निपात-प्रकरणमें श्रीयास्कने 'शिशिरं जीवनाय कम्' (१।१०।१) यह 'कम्'की अनर्थकतामें उदाहरण दिया है, यह प्रतिपक्षिसम्मत-वेदका नहीं, किन्तु किसी लुप्त-ब्राह्मणका है। वैसे तो निरुक्तकार 'कं' की अनर्थकतामें 'मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कम्' (ऋ. १०।१६१।१) यह प्रतिपक्षि-संमत संहिताका उदाहरण भी दे सकते थे; पर उन्होंने अन्य शाखा वा ब्राह्मणका उदाहरण दिया है—इससे उनके मतमें समस्त शाखाएँ तथा ब्राह्मण वेद हैं–यह स्पष्ट है। इसप्रकार 'नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम'(१।११।१) यह निपात 'नेत्'का निगम भी श्रीयास्कने किसी भिन्न शाखा वा ब्राह्मणका दिया है, जो ऋक्-परिशिष्टमें मिलता है। निरुक्तकार छन्द, निगम, आम्नाय, समाम्नाय आदि शब्द वेद-वाचक मानते हैं; पर उसके उद्धरण ब्राह्मणभागके भी देते हैं–यह हम चतुर्थ पुष्प तथा इस निबन्धमें भी बता चुके हैं। इस कारण निरुक्तकारको भी ब्राह्मणभाग वेद इष्ट है–यह स्पष्ट होगया।

(१६)

(४१) कई लोग कहते हैं—'समाम्नायः समाम्नातः' इसमें निरुक्तकारने 'समाम्नाय' पदका मुख्य अर्थ मन्त्रभागको ही माना है, 'छन्दोभ्यः समाहृत्य समाम्नाताः' यहाँ भी श्रीयास्क छन्दका अर्थ वेद लेते हैं; वैसा ही दुर्गाचार्यने लिखा भी है; पर फिर 'यथो एतद् रोहात् प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितः, इति आम्नायवचनादेतद्

भवति' यहाँ ब्राह्मणभागका भी 'आम्नाय' पदसे ग्रहण किया है-यह गौणवृत्तिसे किया है, मुख्य-वृत्तिसे नहीं। 'आम्नाय' पदकी यह आतिदेशिक-वाच्यता ब्राह्मणभाग तक ही न रही; 'सोऽयमक्षर-समाम्नायः'में व्याकरण आदि अङ्गोंको भी आम्नाय कहा जाने लगा' (श्रीवेङ्कटेश्वरसमाचार ११ नवं. ५५)

यह बात प्रतिपक्षियोंकी ठीक नहीं। यह श्रीसामश्रमी आदिका मत है। यदि श्रीयास्क समाम्नाय वेदको कहते हैं; और समाम्नाय-पद यहाँ निघण्टुका वाचक है; तो निघण्टुके पद प्रतिपक्षियोंसे सम्मत वेदकी चार पोथियोंमें मिलने चाहियें; पर उनमें नहीं मिलते। प्रतिपक्षिगण अपने वेदोंको प्रक्षेप-रहित तथा न्यूनता-रहित पूर्ण मानते हैं; पर वे निघण्टुके कई पद उन ४ वेदपोथियोंमें नहीं मिलते। हम उनमें कई निघण्टुके पद उद्धृत करते हैं—

'बुर्बुरम्' (१।१२) जलवाचक यह निघण्टुका शब्द चारों वेदोंकी वर्तमान ४ पोथियोंमें नहीं मिलता। इसप्रकार 'यहः' (१।१२) 'भविष्यत्' यह जलके नाम, 'मल्मलाभवन्' (१।१७) यह 'ज्वलन्'का पर्याय है। 'करन्ती' (२।१) यह कर्मका नाम है। यह शब्द वादि-सम्मत चारों वर्तमान-वेदसंहिताओंमें नहीं हैं।

श्रीदेवराज-यज्वाने 'निघण्टु'की व्याख्या की है। उसके पदोंके निगम दिये हैं; जहाँ इन चारों वेद-पोथियोंमें उसे वह निगम नहीं मिला; वा निघण्टु-प्रोक्त अर्थमें प्रयुक्त वेदमें नहीं मिला; उन पदोंकेलिए उसने लिख दिया है—'निगमोऽन्वेषणीयः'। वे निगम लुप्त संहिता वा ब्राह्मणोंमें मिल सकते हैं। वर्तमान चार वेदकी

पोथियोंमें न मिलनेसे स्पष्ट हो जाता है कि-केवल यही वेद नहीं; किन्तु ११३१ संहिता, तथा ब्राह्मणभाग भी वेद है; उनमें अनुपलब्ध शब्द मिलने सम्भव हैं। जब ऐसा है; तब आम्नाय, छन्द आदि शब्दोंसे शाखा तथा ब्राह्मणभागका ग्रहण श्रीयास्कके मतमें मुख्य-वृत्तिसे है, गौण-वृत्तिसे नहीं। क्योंकि-श्रीयास्कने कहीं लिखा नहीं कि-छन्द वा समाम्नाय इन्हीं चार पोथियोंका नाम है। अतः 'ब्राह्मणभाग'का नाम 'समाम्नाय' साक्षात् है, आतिदेशिक नहीं। 'अक्षर-समाम्नाय' शब्द चतुर्दशसूत्र 'अ इ उ' आदिकेलिए आया है; व्याकरण आदि अङ्गकेलिए नहीं। वे अक्षर 'येनाक्षर-समाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्। कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तम्' (५७) इस पाणिनिशिक्षाके प्रमाणानुसार महेश्वर-प्रोक्त होनेसे, अनादि होनेके कारण आम्नाय हैं-यह ठीक ही है; क्या वेदका कोई अक्षर इन अक्षरोंसे भिन्न भी मिलता है ? सर्वथा नहीं। इसलिए इस अक्षर-समाम्नायको 'अलूवेद' कहा जाता है। फलतः सब शाखाएँ तथा ब्राह्मणभाग इससे वेद ही सिद्ध हुए।

(२०)

(४२) कई लोग कहते हैं—'यथो एतद् ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते-इति, उदितानुवादः स भवति' (१।१६।५) इस निरुक्तके वचनमें ब्राह्मणभागको वेदका अनुवाद-व्याख्या माना गया है। इस प्रकार 'यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः, तथापि ब्राह्मणस्य मन्त्र-व्याख्यानरूपत्वाद् मन्त्र एवादौ समाम्नातः' इस तैत्तिरीयसंहिता-भाष्यभूमिकास्थित सायणके वचनसे, तथा 'विधिशब्दाच्च'

(१।२।५४) इस मीमांसासूत्रस्थित 'मन्त्रव्याख्यानरूपो ब्राह्मणगतः शब्दो विधिशब्दवद् इत्युच्यते' इस शबरस्वामीके वाक्यसे [यह शबरस्वामीका वाक्य नहीं है; किन्तु श्रीसायणका है, 'विधि-शब्दः' पाठ है, 'विधिशब्दवत्' नहीं], 'ऋगादीन् मन्त्रान् अधीते, अधीत्य तदर्थं ब्राह्मणेभ्यो विधिं च श्रुत्वा कर्माणि कुरुते', (छान्दोग्यभाष्य ७।१४।१) इस शाङ्करभाष्यके वचनसे ब्राह्मणभाग मन्त्रभागकी व्याख्या होनेसे वेद नहीं हो सकता'।

इस पर उत्तर यह है—जैसे अष्टाध्यायी, वार्तिक और इनकी व्याख्या महाभाष्य यह सब मिलकर ही व्याकरण बनता है। मूलका नाम सूत्रपाठ-अष्टाध्यायी है, व्याख्यात्मक-महाभाष्यका नाम सूत्रपाठ-अष्टाध्यायी नहीं; पर होते दोनों व्याकरण हैं; वैसे मूलका नाम मन्त्रभाग है, व्याख्या विधि आदि ब्राह्मणभाग है। ब्राह्मणभागका नाम मन्त्रभाग नहीं; परन्तु वेद दोनों ही हैं, यह सिद्ध हो ही गया। शबरस्वामी, सायणाचार्य, शङ्करस्वामी ब्राह्मणभागको वेद मानते ही हैं-पहले इनके प्रमाण हम दे चुके हैं।

इसीलिए 'पूर्वं तु भाषायाम्' (८।२।९८) यहां 'भाषा' शब्द देखनेसे इससे पूर्वका 'विचार्यमाणानाम्' (८।२।९७) यह अष्टाध्यायी का सूत्र वैदिक है-यह सिद्ध होता है। इसलिए सिद्धान्तकौमुदीमें भी कहा है—'भाषाग्रहणात् पूर्वं [८।२।९७] योगः 'छन्दसि' इति ज्ञायते'। उस छान्दस-सूत्रका उदाहरण 'होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३इ न होतव्यमिति' यह ब्राह्मणभाग (तैत्तिरीयारण्यक ४।२।४) का ही दिया गया है। इससे मन्त्रभागकी व्याख्या होने पर भी ब्राह्मणभागके

वेदत्वमें कोई क्षति नहीं आती। शब्द एवं अर्थका सम्बन्ध नित्य होनेसे अर्थ भी शब्द ही होता है। द.ज. शताब्दीमें प्रकाशित, संस्कृतमें अनूदित स.प्र.को स.प्र. ही माना जाता है। यद्यपि शब्द और अर्थ अभिन्न होते हैं; फिर भी जब अर्थको पृथक् बताना पड़ता है तब उसे भी दूसरे-शब्दसे ही कहना पड़ता है। इस प्रकार जब ऋषियोंको समाधि-द्वारा वेदके मन्त्रभागके मूल शब्द मिले, वैसे ही वेदके ब्राह्मणरूप अर्थके भी दूसरे मूल-शब्द ही मिले। अतः दोनोंका ही मूल-वेद होना स्वाभाविक है।

वास्तवमें ब्राह्मणभाग मन्त्रभागकी अनुवादरूप व्याख्यामात्र नहीं; बल्कि उसका उपबृंहक एवं शेषपूरक भी है। इस पर हम दो आर्यसमाजी विद्वानों की सम्मति भी देते हैं। पहले श्रीराजाराम-शास्त्रीका मत उनके अथर्ववेदभाष्यकी भूमिकाके १६ पृष्ठसे देते हैं। वे लिखते हैं—'कालकी दृष्टिसे मन्त्रोंके सबसे पुराने व्याख्यान ब्राह्मणग्रन्थ हैं। उनका मुख्य-विषय यज्ञोंकी प्रक्रिया और उनके फलोंका वर्णन है; न कि मन्त्रोंका व्याख्यान। तथापि प्रसङ्गसे कई मन्त्रों वा मन्त्रखण्डों वा पदोंका व्याख्यान भी उनमें पाया जाता है, और यह भी कि उनमें कई मन्त्रोंके विनियोगसे भी मन्त्रार्थ पर प्रकाश पड़ता है'।

इससे सिद्ध हुआ कि ब्राह्मणभागमें मन्त्रभागका कहीं प्रासङ्गिक व्याख्यान है, वह नियमसे अनुवादग्रन्थ नहीं; किन्तु मन्त्रभागका परिबृंहक वा शेषपूरक है; इस विषयमें हम कट्टर-आर्यसमाजी श्रीब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुका भी मत उनकी 'यजुर्वेदभाष्यविवरणभूमिका'

(प्रथमसंस्करण पृ. ४६-४७) से देते हैं—'वह होते हुए भी हम इन्हें [ब्राह्मणग्रन्थोंको] वेदके भाष्य नहीं कह सकते; हां, वेदार्थोपबृंहक कह सकते हैं...वेदार्थके सीधे प्रतिपादक नहीं।...आरण्यक, उपनिषत् भी साक्षात् वेदोंके भाष्य नहीं कहे जा सकते; अर्थात् वेदके भाष्य नहीं'।

जब ऐसा है; तो प्रतिपक्षियोंका इनके मन्त्रभागके व्याख्यान होनेसे आक्षिप्त अवेदत्व कट गया। व्याख्यान उसे माना भी जावे, तो क्या 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'के स्वा.द.जीसे किये हुए हिन्दी अनुवादको 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' नहीं माना जावेगा? 'सत्यार्थ-प्रकाश'के श्रीशिवशङ्करकाव्यतीर्थसे किये गये हुए संस्कृत-अनुवादको क्या 'सत्यार्थप्रकाश' न कहा जावेगा? यदि उस अनुवादको भी वही कहा जायगा; तो वेदका उसीके प्रवर्तकसे किया हुआ व्याख्यान ब्राह्मण भी वेद ही कहावेगा।

(२१)

ब्राह्मणभागकी अवेदतामें प्रतिपक्षियोंसे दिये जाते हुए और उनसे प्रबल समझे जाते हुए तर्क हमने सब खण्डित कर दिये, पर आजकलके कई स्वा.द.जीके सिद्धान्तानुयायी नवीन-अनुसन्धाता ऐतिहासिक-दृष्टिसे अपने विचारोंको उपक्षिप्त करके ब्राह्मणभागको अवेद सिद्ध करना चाहते हैं। वे जानते हैं कि पुराने तर्कों-जिन्हें हम समाहित कर चुके हैं—उन तर्कोंमें कोई दम नहीं; अतः वे कई नई बातें कहते हैं। वह हम देते हैं—

(४३) पूर्वपक्ष—"ब्राह्मणभाग वेद है-इस बातका प्रधानावलम्ब

श्रौतसूत्रकारोंका 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह प्रसिद्ध-वचन है। पर यह वचन कृष्णयजुर्वेदके श्रौतसूत्रों (आपस्तम्ब, सत्याषाढ-बोधायन आदि)में मिलता है। शुक्लयजुर्वेद तथा ऋग्वेद-सामवेदादिके शांखायन, कात्यायन, द्राह्यायण-लाट्यायन-श्रौतसूत्रोंमें नहीं मिलता। उसका कारण खोजनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्णयजुः की शाखाओंमें मन्त्रोंके साथ ब्राह्मणोंका संमिश्रण है। मन्त्रोंका वेदत्व तो पहले लोक-प्रसिद्ध था; अतः उनके सूत्रोंमें तो वह वचन नहीं था; पर ब्राह्मणोंकी वेद-प्रसिद्धि न होनेसे उनके भी वेदत्व-साधनार्थ 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह सूत्र बनाया गया। इस प्रकार बनाने पर भी चिरकाल तक अनेक आचार्योंने यह मत नहीं माना। इसलिए आपस्तम्बसूत्रके व्याख्याता श्रीहरदत्त तथा उससे भी पूर्ववर्ती धूर्त-स्वामीने लिखा है—'कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाख्यातम्'। और फिर यह सूत्र परिभाषासूत्र है। परिभाषाएँ तब बनती हैं—जब लोक-प्रसिद्ध न हों; जैसे-'अदेङ् गुणः' आदि। और वे परिभाषाएँ उस शास्त्रमें संकुचित होती हैं; अन्यत्र नहीं। तब 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह परिभाषा उन सूत्रोंमें वा यज्ञमें ही नियत है, सर्वत्र नहीं; अतः सर्वसम्मत भी नहीं। जहाँ अयाज्ञिक-ग्रन्थोंमें भी 'वेद' शब्दसे ब्राह्मण भी गृहीत किया गया है, वहाँ याज्ञिक-प्रभाव ही कारण है। अथवा व्याख्या-ग्रन्थोंमें व्याख्येय ग्रन्थके नामका उपचार हुआ करता है, इसलिए व्याख्या-ग्रन्थ होनेसे ब्राह्मण व्याख्येय वेदके उपचारसे ही वेद कहे गये हैं, वस्तुतः नहीं"।

उत्तरपक्ष—'आलोक'-पाठकोंने देख लिया कि-यहाँ कितने व्याज किये गये हैं। इस विषयमें हम पूर्व बता चुके हैं कि—आपस्तम्बादिने यह कोई नयी परिभाषा नहीं बनाई, किन्तु सिद्ध बात का अनुवाद कर दिया है। यहाँ यह नहीं लिखा कि—'मन्त्र-ब्राह्मणकी वेद-संज्ञा हो जावे' किन्तु 'मन्त्र और ब्राह्मणोंका वेद नाम प्रसिद्ध है'-यह लिखा है। यदि मन्त्रोंकी पहले वेद-संज्ञा थी, और ब्राह्मणोंकी नहीं थी; और नये सिरेसे उनकी वेद-संज्ञा की गई; तो फिर 'मन्त्र' शब्दको साथ क्यों रखा गया? 'एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः, सह वा निवृत्तिः' यह एक परम-प्रसिद्ध न्याय है। यदि पहलेसे वेदत्व होगा; तो दोनोंका ही होगा; नहीं होगा तो दोनोंका ही नहीं होगा। मन्त्र और ब्राह्मणका इतरेतरयोगद्वन्द्व वादीके सब व्याजोंको काट देता है। यदि दोनों परस्पर-निरपेक्ष होते; तो दोनोंका द्वन्द्व न होता।

'सत्याषाढ-श्रौतसूत्र'में कहा गया है—'यज्ञं व्याख्यास्यामः, स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते। मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (१।१) यहाँ पर यज्ञका तीनों वेदोंसे विधान बताया गया है; और वेद, मन्त्र-ब्राह्मण दोनों-का नाम कहा गया है। अब वादी समझें कि—जब उनके अनुसार कृष्णयजुःसे भिन्न अन्य वेदोंमें ब्राह्मणोंका मिश्रण नहीं; तब श्रौतसूत्रकारने तीनों वेदोंके अनुसार मन्त्र-ब्राह्मणोंको वेद क्यों कहा? इससे स्पष्ट है कि-केवल कृष्णयजुर्वेदमें नहीं; किन्तु तीनों अथवा चारों वेदोंके जब मन्त्र एवं ब्राह्मण भिन्न-भिन्न हैं; तब भी सभी वेदोंके मन्त्र-ब्राह्मण मिलकर ही वेद हुआ करता है। तब

'केवल यह बात कृष्णयजुर्वेदमें है, और कृष्णयजुर्वेदकेलिए लागू है, अन्य वेदोंके लिए नहीं' यह वादियोंका व्याज निर्मूल सिद्ध हुआ। यदि वादी मन्त्रभागको वेद मानते हैं; तो कृष्णयजुर्वेदके मन्त्रभागको भी वे वेद क्यों नहीं मानते? इससे स्पष्ट है कि-कृष्ण-यजुर्वेदको वेदत्वसे हटानेकेलिए यह उनके हथकंडे हैं।

यदि शुक्लयजुर्वेदका वेदत्व पहले प्रसिद्ध था; कृष्णयजुर्वेदमें ब्राह्मणके मिश्रणसे उसके वेदत्व प्रसिद्ध न होनेसे नये सिरेसे उसकेलिए उक्त वचन कहा गया: तो यह सर्वथा गलत है। ऐति-हासिक-दृष्टिसे कृष्णयजुर्वेद पहलेका है, शुक्लयजुर्वेद पीछे का। इसमें याज्ञवल्क्यका इतिहास प्रसिद्ध है। प्रतिपक्षी कृष्णयजुः का यज्ञादि-कर्मकाण्डसे सम्बन्ध भी अधिक बताते हैं, तो यह नहीं हो सकता कि-पहलेका वेदत्व प्रसिद्ध न हो, और पिछलेका वेदत्व अपने-आप होगया हो। और जब प्रतिपक्षी यह भी मानता है कि-कृष्णयजुर्वेदमें भी मन्त्रभाग है, तो मन्त्रभाग तो वादीके कथनसे पूर्वसे ही वेद प्रसिद्ध था; तो 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह दोनोंकी वेद-संज्ञा कैसे कही गयी? असत्यके पैर नहीं हुआ करते। वस्तुतः कृष्णयजुर्वेदके शुक्लयजुर्वेदकी अपेक्षा ऐतिहासिक दृष्टिकोणमें पूर्व होनेसे कृष्णमें मन्त्र और ब्राह्मण दोनोंके वेद प्रसिद्ध होनेसे पीछेके शुक्लयजुर्वेदके कल्पसूत्रोंमें अब उस पूर्वसिद्ध बातको उठानेकी आवश्यकता नहीं थी; इसी कारण उन (शुक्लके सूत्रों)में उक्त सूत्र सर्वसाधारण रूपसे नहीं पढ़ा गया; उसमें ब्राह्मणके अवेदत्वका कारण सर्वथा नहीं है।

शुक्ल-यजुर्वेदमें भी ब्राह्मणका मिश्रण है, यह उवट-महीधरादि बहुतोंने लिखा ही है, हाँ, कम है; पर है अवश्य ही। इस कारण उसको प्रमुखतासे नहीं गिना जाता। संहिताके अन्तर्गत होनेसे ही उसको यजुः माना जाता है। तैत्तिरीयसंहितामें ब्राह्मणभाग है, फिर भी उसे 'तैत्तिरीयसंहिता' अथवा कृष्णयजुर्वेद ही कहा जाता है। संहिता केवल मन्त्रभागको ही कहा जाता है; फिर भी संहिताके अन्तर्गत ब्राह्मणको भी मन्त्र मान लिया जाता हैं। इसका एक उदाहरण देखिये। श्रीयास्क 'अनर्थका मन्त्राः' मन्त्रभागकी अनर्थकता आलो-चित कर रहे हैं; उसमें 'अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि' यह उद्धरण दिया गया है, यह कृष्णयजुर्वेदीय-मैत्रायणीसंहिता-(१।४।४५) स्थित ब्राह्मणभागका है. फिर भी इसे मन्त्र एवं संहिता कहा गया है। इस प्रकार प्रकृतमें भी समझ लेना चाहिये। शुक्लय.सं. में स्थित ब्राह्मणको भी किन्हीं का ऋक् यजुः, कहनेसे प्रतिपक्षीका पक्ष सिद्ध नहीं हो सकता। 'शतपथ'के ब्राह्मण होनेपर भी उसे अन्तमें 'यजूंषि' ही तो कहा है। 'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि' यह शतपथब्रा. में होनेपर भी श्रीयास्कने इसको 'ऋक' कहा है। तब प्रतिपक्षीका यह परिश्रम व्यर्थ है।

वादीके अनुसार सामवेद और अथर्ववेदमें ब्राह्मणका मिश्रण नहीं; किन्तु उनके ब्राह्मण पृथक् हैं; फिर अथर्ववेदके सूत्रकारने यह क्यों कहा—'आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च' (कौशिकसू. १।३) यहाँ तथा अन्यत्र बहुत स्थलों पर दोनोंकी वेदता क्यों कही गई, जैसाकि हम गत १०५ पृष्ठसे ११३ पृष्ठ तक दिखला चुके हैं।

सत्याषाढ-श्रौतसूत्रने तीनों वेदोंसे यज्ञ माना, और फिर तीनोंके मन्त्र-ब्राह्मणको वेद लिखा—हम इसका उद्धरण पूर्व दे चुके हैं। तो क्या ऋक्-साममें भी ब्राह्मणभागका मिश्रण था; जो कि उसे तीनों वेदोंकेलिए—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद-नामधेयम्' कहना पड़ा? क्या निरुक्तकार, पाणिनि, पतञ्जलि आदि प्राचीन विद्वान् कृष्णयजुर्वेदी, वा वेद-विषयके अज्ञाता थे; जो कि उन्होंने मन्त्र-ब्राह्मण दोनोंको तथा कृ.य. तैत्तिरीयसं. को वेद माना? वस्तुतः वादियोंके अपने निर्मूल पक्षके बचावकेलिए यह कुतर्कमात्र हैं।

परिभाषाके उदाहरणमें 'अदेङ् गुणः' आदि सूत्र रखना भी ठीक नहीं; यह संज्ञा-सूत्र हैं, परिभाषासूत्र नहीं। तब आपस्तम्ब-आदियोंके 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद-नामधेयम्' को 'परिभाषा' यह 'नाम' कैसे दिया जाता है? यदि यही संज्ञाएँ लोकप्रसिद्ध न होने से बनाई गईं, तो पाणिनिसे प्रोक्त संहिता और पद आदि संज्ञाएँ 'परः सन्निकर्षः संहिता, सुप्तिङन्तं पदम्' आदि यह भी क्या लोकप्रसिद्ध नहीं थीं, जो कि पाणिनिने संज्ञाप्रकरणमें पढ़ीं? अतः यह कथन भी व्यर्थ है। यही बात मानी जावे तो 'मन्त्र-ब्राह्मणयोः' यह इकट्ठा कहनेसे 'मन्त्र' की वेदसंज्ञा भी लोक-प्रसिद्ध नहीं माननी पड़ेगी। अतः प्रतिपक्षी उभयतःपाशा रज्जुःसे बँधा हुआ है, उसका कारण यह है कि वह एक शास्त्रसम्मत प्रसिद्ध बातको काटना चाहता है, इसके फलस्वरूप स्वयं वह बँधेगा ही।

यह संज्ञा केवल कृष्णयजुर्वेदमें है; तो कात्यायनके शुक्ल-यजुर्वेदके 'प्रतिज्ञापरिशिष्ट'में कैसे है? उसे पीछे का मानना वा

उसमें अन्यका मत मानना तो "अपने पक्षकी दुर्बलताका प्रकाशन ही है। क्या पाश्चात्य लोग ऋग्वेदसं.के प्रथम-दशममण्डलको अर्वाचीन बतानेकी युक्तियां नहीं दिया करते? शुक्लयजुर्वेदके सूत्रोंमें 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यदि यह सूत्र नहीं भी मिलता; तो क्या हुआ; उनमें तथा अन्यत्र भी सर्वत्र ब्राह्मणभागको वेद माननेका व्यवहार तो है ही, और शुक्लयजुर्वेदके सारे सूत्र भी क्या मिलते हैं कि सभीमें वादीको 'मन्त्रब्राह्मणयोः' यह सूत्र नहीं मिलता? और प्रतिपक्षीने उन अनुपलब्ध सूत्रोंको क्या देख लिया है?

'कैश्चिद् मन्त्राणामेव वेदत्वमाख्यातम्' इस धूर्तस्वामीके वचनसे भी वादीकी इष्टसिद्धि नहीं, 'कैश्चिद्' कहनेसे उस मतकी एकदेशिता तथा उस मतमें वादीसे सम्मानित धूर्तस्वामीकी भी अरुचि स्पष्ट है। इससे मन्त्र-ब्राह्मण दोनोंका वेद होना 'केषाञ्चिद्' नहीं, किन्तु 'सर्वेषाम्' इष्ट होनेसे यह सार्वदेशिक व्यवहार सिद्ध हुआ। जो कई केवल मन्त्रोंको वेद मानते भी हैं; वैसा कथन 'समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते' इस न्यायसे है। इसी न्यायसे कई केवल ब्राह्मणभागको ही वेद कहते हैं, क्योंकि चोदनाएँ (विधि-वाक्य) इसीमें हैं। यदि केवल मन्त्रोंको ही वेद कहनेका मत सर्वमान्य होता; तो धूर्तस्वामी उसकेलिए 'कैश्चित्' न कहते, किन्तु 'सर्वैः' कहते, यह अत्यन्त स्पष्ट है. इसपर टिप्पणी करनेकी आवश्यकता नहीं।

वादिप्रतिवादिमान्य श्रीपाणिनि, श्रीपतञ्जलि तथा श्रीयास्क आदि सभी तैत्तिरीयसंहिता-आदिको तथा ब्राह्मणभागको भी तो

वेद मानते हैं—यह हम पहले कह चुके हैं, इनपर याज्ञिक प्रभाव बताना तो इनकी अविद्वत्ता बताना है, जो कि सर्वथा अक्षम्य है। जबकि वेदका विषय ही यज्ञ है; यह हम पूर्व बता चुके हैं; तब याज्ञिक-सम्प्रदाय कोई नया थोड़े ही होगा! जब ऐसा है; तो उसमें याज्ञिकता सदा होनेसे ब्राह्मणभागकी वेदता भी सदासे ही है। यज्ञके व्यापक अर्थ भी माने जा सकते हैं; तब याज्ञिकतासे डरनेकी भी आवश्यकता नहीं। वेदमें अन्य वाद याज्ञिकतासे अर्वाचीन हैं; याज्ञिकता ही सर्वतः प्राचीन और वास्तविक है।

वस्तुतः यह वादीके पक्षकी निर्मूलता है, जो कि वह पहले तो प्रतिज्ञा करते हैं कि—यह बात कृष्णयजुर्वेदके सूत्रोंमें हैं; शुक्लके सूत्रोंमें नहीं। जब शुक्लके सूत्रोंमें भी अपने पक्षका खण्डन देखते हैं; तो फिर निस्सार युक्तियां देकर उनको अर्वाचीन सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं। यदि किसी श्रौत-सूत्रमें जहां उक्त सूत्र मिले, उसका सम्बन्ध शुक्लयजुर्वेदसे माना गया हो; तो वे उसे माननेकेलिए तैयार नहीं होते। जब वे तटस्थ-ग्रन्थोंमें भी मन्त्र-ब्राह्मण दोनोंका वेदत्व देखते हैं; तो उसमें याज्ञिक-प्रभाव बताते हैं। जब अन्यत्र भी ब्राह्मणभागका वेदत्व वे देखते हैं; तो वहां व्याख्येय-ग्रन्थका उपचार अपदिष्ट करते हैं। यह सब उनके ही पक्षकी शिथिलताके प्रमाण हैं। जब वे निष्पक्ष दृष्टि रखकर अन्य भी अधिक अनुसन्धान करेंगे, तो उन्हें मन्त्रभागकी भांति ब्राह्मणभाग भी पुराकालसे ही वेद दीखेगा।

ब्राह्मणभागको वेद न माननेका बड़ा प्रयत्न आर्यसमाजका है,

उसका कारण यह है कि—वैसा माननेसे एक तो उनके तथाकथित अर्वाचीन सिद्धान्त कटते हैं, दूसरा उन्हें सनातनधर्मके सिद्धान्त फिर मन्तव्य हो जाते हैं—जिससे उनके अब तकके परिश्रम पर पानी फिर जाता है; अतः वस्तुतः उनका वेदकी सीमा संकुचित करनेका यह एक बड़ा भारी षड्यन्त्र है। कुछ वे ऐसा मानने पर विदेशियोंसे भी डरते हैं, जिन्होंने ब्राह्मणभागपर कई हिंसा आदिके दोष लगा रखे हैं। पर यह याद रखनेकी बात है कि—जो कुछ ब्राह्मणभागमें है, वही मन्त्रभागमें भी है। यदि उनका अर्थ वे मन्त्रभागमें बदलते हैं; वैसे ब्राह्मणभागमें भी बदल सकते हैं। तब फिर परम्परासे आये हुए एक सिद्धान्तको लोकदृष्टिसे हटवानेका असत्य व्यवहार तथा तज्जन्य पाप अपने सिर पर लादना ठीक नहीं। यह ठीक है कि—मन्त्रभाग और है, और ब्राह्मणभाग और। ब्राह्मणभागको मन्त्रभाग नहीं कहा जाता, मन्त्रभागको ब्राह्मणभाग; परन्तु वेद दोनों ही हैं।

(४४) जोकि—यह कहा जाता है कि—जो स्वयं वेदकी प्रतीक देकर उसकी व्याख्या करता है, वह ग्रन्थ स्वयं वेद कैसे हो सकता है'? यह आक्षेप भी अज्ञानसे है। इस प्रकार तो व्याकरणकी प्रतीक लिखकर उसकी व्याख्या करनेवाला 'महाभाष्य' भी व्याकरण कैसे कहा जा सकेगा? पर कहा जाता है। यदि कहा जावे कि—'वह व्याकरणकी प्रतीक नहीं, किन्तु अष्टाध्यायीकी है,' तो इस प्रकार वह प्रतीक भी मन्त्रभागकी है, वेदकी नहीं। व्याकरणकी तरह वेद भी कोई स्वतन्त्र पुस्तक नहीं। सो मूल अष्टाध्यायी है,

व्याख्या महाभाष्य है, महाभाष्यको अष्टाध्यायी नहीं कहा जाता है, और अष्टाध्यायीको महाभाष्य नहीं, पर व्याकरण दोनों ही हैं, इस प्रकार मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग नहीं; और ब्राह्मणभाग मन्त्रभाग नहीं, पर वेद दोनों हैं। यदि मूलको ही वेद माना जावेगा, उसके समानकर्तृक-अनुवाद ब्राह्मणको वेद नहीं माना जावेगा, तो 'ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम्' (४।२३२) इस मनुवचनमें वेदका दान देनेवालेको जो ब्रह्मलोककी प्राप्ति मानी गई है, वह वेदकी मूल पोथीमात्रका दान देना ही वादियोंसे उस फलके देनेवाला माना जावेगा; वेदके अर्थदाताको उस फलको प्राप्त करनेवाला नहीं मानना पड़ेगा।

हमारा 'श्रीसनातनधर्मालोक' महाग्रन्थ संस्कृतमें है, उसका हम ही स्वयं हिन्दी अनुवाद ग्रन्थमालाके रूपमें प्रकाशित कर रहे हैं; तो क्या यह 'श्रीसनातनधर्मालोक' नहीं माना जावेगा? अवश्य माना जावेगा। संस्कृत-हिन्दी दोनोंका समुदाय भी 'श्रीसनातनधर्मालोक' माना जावेगा; उसका पृथक्-पृथक् संस्कृत और हिन्दी अनुवाद भी 'श्रीसनातनधर्मालोक' ही माना जावेगा, क्योंकि-समुदायवाचक शब्दोंकी अवयववाचकता भी हुआ करती है। इसके उदाहरणमें पाठक 'पुत्र' शब्दको ही देखें। वह माता-पिता दोनोंके समुदायसे उत्पन्न होता है। अब वह चाहे अपने पिताका नाम कहे कि-मैं 'दाशरथि' लक्ष्मण हूँ; वा माताका नाम कहे कि-'मैं 'सौमित्रि' लक्ष्मण हूँ, वा दोनोंका नाम कहे। इससे अवयवपरकता वा समुदायवाचकतामें कोई क्षति नहीं पड़ती।

यदि प्रतीकें रखनेसे ब्राह्मणभागको वेद न माना जावे; तो शुक्लयजुर्वेदसं.में 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' (३२।३) इस मन्त्रके साथ 'हिरण्यगर्भ इत्येषा (२५।१०-१३) 'मा माहिँसीरित्येषा' (१२।१०२) 'यस्मान्न जात इत्येषा' (८।३६-३७) इन तीन प्रतीकोंको किसी यज्ञमें यहाँ बोलनेकेलिए रखा गया है। इस प्रकार ३३।२१में 'तं प्रत्नथा, अयं वेनः' इत्यादि अन्य-स्थलकी प्रतीकें हैं। वादियोंके स्वामीने भी अपने भाष्यमें यहाँ पर यज्ञ-कर्ममें बोलनेकेलिए इनका यहाँ रखना माना है, अपने भाष्यकी टिप्पणीमें उनने बहुत्र लिखा है—'तं प्रत्नथा, अयं वेनः' ये दो प्रतीकें यहाँ किसी कर्मकाण्ड-विशेषमें बोलनेके अर्थ रखी हैं' तो फिर वादियोंके अनुसार यजुर्वेद भी वेद नहीं रहेगा। क्या वादी ऐसा माननेको तैयार हैं? यदि नहीं; तब इससे ब्राह्मणभागमें भी मन्त्रकी प्रतीकोंके रखनेसे उसके वेदत्वमें क्षति नहीं होती।

(४५) जोकि कहा जाता है-'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह कात्यायन श्रौतसूत्रके प्रतिज्ञापरिशिष्टमें होनेसे, परिभाषा-प्रकरणमें न होनेसे इसके कर्ताको मतान्तर दर्शानामात्र अभिप्रेत है, अपना अभिमत नहीं' यह व्याज भी ठीक नहीं। (क) यदि यह परिभाषा-प्रकरणमें मिले; तब वादी उस परिभाषाको वहीं संकुचित मानते हैं। जब परिभाषा-प्रकरणमें नहीं हो, तब तो वादीके अनुसार भी सिद्ध हो रहा है कि-यह सार्वत्रिक प्रतिज्ञा (नियम) है। (ख) प्रतिज्ञा-परिशिष्टमें होने पर वह विना 'एके' 'केचित्' आदिके कहनेसे दूसरेका मत कैसे हो सकता है? हो भी सही; तो वह श्रीकात्यायनको

'परमतमप्रतिषिद्ध-मनुमतम्' इस न्यायसे अनुमत ही है; अन्यथा शुक्लयजुर्वेदका श्रौतसूत्रकार वादीके अनुसार उसका खण्डन करता। पर नहीं किया।

(ग) परिशिष्ट भी उसी कर्ताके होते हैं, जैसेकि-आजकल भी लेखक अपनी पुस्तकके अन्तमें परिशिष्ट रखते हैं, वह अन्यकर्तृक, वा अन्यका अभिमत नहीं हो जाता। (घ) स्वा.द.जीने भी 'मृतश्चाहं पुनर्जातः' इत्यादि निरुक्तके पुनर्जन्म-साधक परिशिष्ट-वचनको अपनी ऋ.भा.भू.में श्रीयास्कका ही वचन तथा मत माना है, किसी दूसरेका मत दर्शाना नहीं माना। (ङ) ऋक्परिशिष्टके 'भद्रं वद दक्षिणतः' आदि मन्त्रोंको निरुक्त (९।५।१)में 'ऋचा' (वेद) ही माना गया है, मतान्तर-दर्शाना नहीं। (च) वादी लोग भी 'तर्क-मृषिं प्रायच्छन्' इस निरुक्तके परिशिष्ट-वचनको निरुक्तका ही कहते हैं; मतान्तर दर्शाना नहीं मानते। सो वादियोंकी इस प्रकारकी बातें निस्सार हैं, इनका कुछ भी मूल्य नहीं। उक्त-वचन ऋ.भा.भू.के स्वा.द.के वचनानुसार शुक्लयजुः-श्रौतसूत्रकार श्री-कात्यायनका ही है, 'भ्रमोच्छेदन'के स्वा.द.के अनुसार अन्यका वचन यह नहीं।

सो मन्त्र-ब्राह्मण दोनों सदासे ही वेद सिद्ध हैं, वैसा ही यास्क, पाणिनि, पतञ्जलि आदि वादिप्रतिवादिमान्य सभी विद्वान् मानते हैं; अतः इसी सिद्धान्तका मानना ही ठीक है; क्योंकि-यही सिद्धान्त वास्तविक है। कृत्रिम-सिद्धान्तोंका अवलम्बन लेने पर उनमें कोई-न-कोई त्रुटि निकल ही आती है। मन्त्र एवं ब्राह्मण

अर्थात् ११३१ संहिता तथा ब्राह्मण दोनों भाग मिलकर ही [illegible] वेदका स्वरूप बन जाता है-यह हमने दिखला दिया।

(४६) अन्तमें हम शाखा-सम्बन्धी एक बात पर विचार कर इस बृहत्-निबन्धको समाप्त करते हैं—

(पूर्वपक्ष) वादी कहता है—'तदु हैकेऽन्वाहुः-'होता यो वि[illegible] वेदसः' इति, नेदरमित्यात्मानं ब्रवाणीति, तदु तथा न ब्रू[illegible] मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति। तस्माद् यथैवर्चानूक्तमेव अनुब्रूया[illegible] होतारं विश्ववेदसम्-इति' (शतपथ. १।४।१।३५) अर्थात् [illegible] शाखावाले 'होतारं विश्ववेदसम्' (ऋ. १।१२।१) इसके स्थान [illegible] यो विश्ववेदसः' ऐसा पढ़ते हैं; यह मनुष्यकृत पाठ है, इससे [illegible] की हीनता है'। इससे दो बातें सिद्ध हैं कि शाखाएँ सब मा[illegible] हैं, दूसरा कोई ऋक्पाठ ऐसा है, जिसमें मनुष्यका कोई सम्ब[illegible] नहीं, और वही मूल वेद है'।

उत्तरपक्ष—जिन्हें वादी मूल-वेद मानते हैं, वे भी [illegible] शाकल्य, वाजसनेयी, कौथुमी, शौनकी संहिताएँ ही हैं। [illegible] संहिता ११३१ होती हैं। संहिताओंका यह प्रकार है कि-उन[illegible] ब्राह्मण सभी अपने-अपने पाठको ही युक्त मानते हैं, अन्य संहि[illegible] के पाठको 'मानुष' कहते हैं। उसे मनुष्य-रचित बताना उनका निन्दार्थ नहीं होता; किन्तु अपने यज्ञोंमें अपनी ही संहिता[illegible] मन्त्रपाठमें तात्पर्य होता है—'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्त[illegible] अपि-तु विधेयं स्तोतुम्' यह न्याय है। इससे अपनी ही [illegible] संहिताओं (जिसे स्व-अध्याय स्वाध्याय, कहते हैं)में निष्ठा [illegible]

चाहिये-यह भाव निकलता है। जैसे देवताओंके बाहुल्य होने पर भी भक्तको अपने ही इष्टदेवमें निष्ठा करनी पड़ती है, जैसे बहुत भी वैद्योंमें बीमारको अपने ही वैद्यमें निष्ठा करनी पड़ती है, वैसे ही वाजसनेयी-शाखाके दर्श-पौर्णमास आदि यज्ञोंके सामिधेनी मन्त्रोंमें 'होतारं विश्ववेदसम्' इस शाकलसंहितावाली ऋचाका मन्त्र ही पढ़ना चाहिये-यह तात्पर्य है। इसलिए 'गृह्यासंग्रह'में भी कहा है—'यः स्वशाखोक्तमुत्सृज्य परशाखोक्तमाचरेत्। अप्रमाणमृषिं कृत्वा सोन्धे तमसि मज्जति' (२।६३) 'ऊनो वाप्यतिरिक्तो वा यः स्वशाखोक्तमाचरेत्। तेन सन्तनुयाद् यज्ञं न कुर्यात् पारतन्त्रिकम्' (२।६२)।

एकमें निष्ठा रखनेकेलिए दूसरेकी निन्दा भी की जाती है, जसेकि-विष्णुके पुराणमें शिवकी; और शिवके पुराणमें विष्णुकी। वहाँ निन्दामें अभिप्राय न होकर स्वेष्टदेव-निष्ठामें तात्पर्य होता है. वैसे अन्य शाखा-पाठके निन्दनमें भी पूर्वोक्त ही तात्पर्य होता है। यदि 'मानुष' शब्दके उल्लेखसे शाखाएँ मनुष्य सम्बद्ध एवं त्याज्य हो जावें; तो 'यजुर्वेदस्तु मानुषा' (४।१२४) इस मनुकथनसे यजुर्वेद भी अप्रमाण हो जावे। यदि वादी शतपथोक्त पाठ वाली ही ऋ.सं.को मूल वेद मानें; तद्भिन्नको 'मानुष' मानें; तो 'शतपथ' (११।५।१।१०)में 'इत्येतदुक्तप्रत्युक्तं पञ्चदशर्चं बह्वृचाः प्राहुः' इस उर्वशी-पुरूरवाके ऋग्वेदके सूक्तको १५ ऋचा वाला कहा गया है, उसीको मूल वेद मानना पड़ेगा; फिर वादिसम्मत (१०।९५) १८ ऋचा वाली उनकी ऋ.संहिता मूल-वेद न रहेगी।

वादीने यह भी नहीं बताया कि—'होता यो विश्ववेदसः' यह किस संहिताका पाठ है? शतपथ 'तस्मादेतद् ऋषिणा अभ्यनूक्तम्' कहकर मन्त्रभागको स्थान-स्थान पर उद्धृत करता है। वहां लिखा है—'तस्मादेतद् ऋषिणाऽभ्यनूक्तम्-'मनसा संकल्पयति, तद्वातमभिगच्छति। वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष! ते मनः-इति' (३।४।२।७) तब वादीको बताना पड़ेगा कि यह वचन किस मूल वेदसंहिताका है? अथर्ववेदसंहिता (१२।४।३१)में इसका पूर्वार्ध तो है, उत्तरार्ध उससे भिन्न है, सो ब्राह्मणवाला उत्तरार्ध जिसमें होगा; वही संहिता वादीके अनुसार मूल-वेद होगी। अब यह वादिसम्मत अथर्वसं. वादीके अनुसार ही मानुष हो गई।

श्रीयास्क भी (नि. ६।२८।३) अपनी ही ऋग्वेदसंहिताका पाठ मानते हैं; इस शाकल्यसंहिताके 'वा यः' इस भिन्न-पदवाले पाठको नहीं मानते, तब वादिसम्मत यह ऋग्वेदसंहिता भी शाकल्यसे 'वा यः' इस प्रकार भिन्न-पद की हुई मानुषी हो जाएगी; आर्यसमाजी-स्वा. विश्वेश्वरानन्दकी ऋग्वेद-पदसूचीमें भी 'वायः' कोई पद नहीं है, किन्तु 'वा' (देखो उसका पृ. ३७१) और 'यः' (पृ. ३२१) यह भिन्न पद हैं; तदनुसारिणी अथर्वशौ.संहिता (२०।७६।१) भी मानुषी हो जायगी। इस विषयमें 'आलोक'का चतुर्थ-पुष्प देखना चाहिये। फलतः 'मानुष' त्वका आरोप अपनी शाखामें निष्ठार्थ होता है, अन्यके अवेदत्वार्थ नहीं। नहीं तो वादियोंको अपनी यह चारों संहिताएं पूर्वोक्त-प्रकारसे मानुषी समझकर छोड़ देनी पड़ेंगी। पर इसके लिए वे भी तैयार न होंगे। इसीलिए शतपथमें 'स होतुरिह

निलिम्पति'से शुरू करके 'देवाय इदं हविर्जुषन्ताम्' (१।४।८।१, १४-३७) इन २४ खण्डोंमें 'तैत्तिरीयब्राह्मण' (३।५।१३)में पढ़े हुए मन्त्रोंका आशीर्वादादि-कर्मोंमें विधान माना गया है। इससे स्पष्ट है कि—सभी शाखा (संहिता) तथा ब्राह्मण मिलकर ही वेद हैं। पहले कृष्णयजुर्वेदसंहिता थी, पीछे याज्ञवल्क्यने सूर्यसे शुक्ल यजुर्वेद प्राप्त किया; तब कृष्णका व्याख्यान ही शुक्लसंहिता हो सकती है। वह भी दूसरोंकी दृष्टिमें वेद ही होगी। इसलिए यह पूर्णरूपसे सिद्ध हो गया कि—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस विषयमें विशेष स्पष्टता सम्भवतः अग्रिम पुष्पमें होगी। अब आगे वेदके अधिकारियोंके विषयमें निरूपण किया जाता है।

——

(६) वेदाधिकार-विचार

(वेदमाता...द्विजानाम्)

['गुरुकुल पत्रिका' (११५ पूर्णाङ्क)के एक निबन्ध पर विचार]

वेदस्वरूपके निरूपणके बाद वेदके अधिकारियोंका निरूपण करना भी अनिवार्य है। तदनुसार यह प्रस्तुत निबन्ध है। 'स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्' (१९।७१।१) अथर्ववेद (शौ.) संहिताके इस मन्त्रसे वेदमें अधिकार द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य)का तथा गायत्रीमें अधिकार ब्राह्मणोंका सिद्ध होता है; पर आजकलकी विचारधाराके पिछलगुआ, शूद्र-अन्त्यजोंको भी वेदका अधिकार दिलाना चाहते हुए, आजकलके अर्वाचीनतम विचारोंमें वह गये हुए, वेदादिशास्त्रोंको भी अपने

पीछे चलानेवाले कई विद्वान् इस मन्त्रमें द्विजोंको वेदमाताका अधिकार 'पीछेके विद्वानों द्वारा आविष्कृत' मानते हुए, वैसा कहनेवाले अथर्ववेदको ही वे प्रकारान्तरसे 'पीछेके विद्वानों द्वारा प्रणीत' सूचित करते हैं; क्योंकि उन्होंने अथर्ववेदकी शूद्रसे सहानुभूति नहीं देखी। 'उत शूद्रे उताऽऽर्ये' (१९।६२।१) कहकर जो कि अथर्ववेदने शूद्रको आर्यसे भिन्न बताया है, जिसके अर्थमें स्वा.दयानन्दजी आदि बहुतसे आधुनिक-विद्वान् भी सहमत हैं; पदपाठ तथा अथर्व.के अन्य मन्त्र भी साक्षी हैं (यह अन्य पुष्पमें बताया जायगा); वे आधुनिक-विद्वान् उस अथर्ववेदसे इस प्रकार अपना बदला ले लिया करते हैं।

(१) वस्तुतः इसमें वेदकी भूल नहीं है, किन्तु उन अर्वाचीनों की ही भूल है। वे एक मोटी-सी बात भी सोच नहीं सकते कि यदि अथर्ववेदको वेदमाताका सर्वसाधारणको अधिकारी बनाना इष्ट था; तो उसने 'वेदमाता पावमानी द्विजानाम्'का द्रविड-प्राणायाम का नाटक क्यों खेला? 'वेदमाता पावमानी जनानाम्, वा नराणाम्' यह सीधे शब्दोंमें क्यों नहीं कहा? वैसा न कहने और 'द्विजानाम्' कहनेसे वेदके अधिकारी भी सीमित (द्विज) सिद्ध हो गये। और जिस ('यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः') मन्त्रका सहारा एतदर्थ लिया जाता है, वहांपर 'जनेभ्यः' आनेपर भी 'वेद वाणी' नहीं आया—इससे वेद आधुनिकोंके पक्षके प्रतिपक्ष ही सिद्ध हुए।

इसमेंके 'द्विज' पर यह तर्क उठाना कि—"द्विज कौन है

इस प्रश्नका उत्तर कौन दे? वेद स्वयं उत्तर दे, या कोई धर्म-शास्त्र? यदि कोई धर्म-शास्त्र उत्तर दे; तो धर्मशास्त्र मुख्य हो जाता है और वेदशास्त्र गौण; तब वेद अपने अर्थकेलिए परमुखप्रेक्षी बन जाता है, उसकी स्वतःप्रमाणता मारी जाती है" यह चिन्त्य है। वेद, शब्द हैं, शब्द सदा अर्थकी अपेक्षा करेगा ही, इसीलिए तो उसकी व्याख्यार्थ मन्त्रभागका अपना व्याख्यानभाग-ब्राह्मणभाग तथा वेदोंके अङ्ग-उपाङ्ग आदि-अनादि कालसे चले आ रहे हैं, जिनका वेदोंके साथ ही तपस्यामूलक-समाधि द्वारा साक्षात्कृतधर्मा ऋषि-मुनियोंने साक्षात्कार करके उन्हें ग्रन्थबद्ध किया; जैसे कि न्यायदर्शनके ४।१।६२ सूत्रके भाष्यमें श्रीवात्स्यायनमुनिने संकेत दिया है—'द्रष्टृ-प्रवक्तृसामान्याच्च अप्रामाण्यानुपपत्तिः। (मन्त्र-ब्राह्मण, पुराण-इतिहास तथा धर्मशास्त्रोंके द्रष्टा-प्रवक्ता समान ही हैं)। ये एव मन्त्र-ब्राह्मणस्य (वेदस्य) द्रष्टारः-प्रवक्तारश्च; ते खलु इतिहास-पुराणस्य धर्मशास्त्रस्य च [द्रष्टारः-प्रवक्तारश्च]' तब इसमें क्या वादी 'शब्द'को 'परतः-प्रमाण' मान लेंगे? वादी भी तो 'द्विजानां'का कुछ अर्थ करेंगे ही; तब क्या वेदकी स्वतःप्रमाणताको वे आप ही न मार डालेंगे? क्योंकि—वे भी 'द्विज'का अर्थ 'वेदका किया' तो बताते नहीं; किन्तु इसमें भट्टोजिदीक्षितको ले बैठते हैं।

वादियोंका कहना है कि—'आजकलके प्रायः सभी विद्वान् वेदका अर्थ मनुस्मृति खोलकर ही करते हैं; उसमें लिखा है—'ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः, त्रयो वर्णा द्विजातयः'। ऐसा कहनेवाले वादी यदि अन्य किसीको प्रमाण नहीं मानते; तो स्वा.द.जीको तो

श्रद्धेय मानते ही हैं। उन स्वामी ने माना ही 'मनुस्मृति'को है, अन्य किसी स्मृतिको नहीं माना। वे मनुस्मृतिको सृष्टिकी आदिमें बना हुआ मानते हैं, देखिये स.प्र. ११वें समुल्लासका आरम्भ, और भट्टोजि-दीक्षितको अप्रमाण मानते हैं; पर वादी लोग सृष्ट्यादिजात मनुकी-जिसकेलिए 'विसर्गादौ (सृष्ट्यादौ) मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्' (निरुक्त ३।४।२) श्रीयास्कमुनि भी सहमत हैं—बात इस विषयमें न मानकर १७वीं शताब्दीके अर्वाचीनतम भट्टोजिदीक्षितकी 'वंशो द्विधा—विद्यया जन्मना च' इस पीछेके विद्वान्‌की उक्तिसे वेदका अर्थ करते हैं; तो क्या दीक्षितजी सृष्ट्यादिजात हैं कि—उनकी बात मान्य, और मनुजी २०वीं सदीके हैं, अतः उनकी बात अमान्य है, यही क्या वादियोंका अभिमत है? क्या वादियोंके हृदयमें यह बात जमती प्रतीत नहीं होती है कि—'यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे, सर्वज्ञानमयो हि सः' (मनु० २।७) 'मनुर्वै यत् किञ्चिदवदत् तद् भेषजम्' (ताण्ड्य-ब्रा०)'वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्'। मन्वर्थविप-रीता या स्मृतिः सा न प्रशस्यते' (बृहस्पति०) इस प्रकार साक्षा-त्कृतवेदधर्मा मनु तो होजाएँ अप्रमाण, और आजकलके नवशिक्षित हो जाएँ प्रमाण! यदि हम श्रीभट्टोजिदीक्षितके धर्मशास्त्रसम्बन्धी पुस्तक 'चतुर्विंशतिमतसंग्रह' के वचनसे 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही द्विज हैं और वे ही वेदके अधिकारी हैं—' यह सिद्ध करदें; तब फिर उसी श्रीदीक्षितको वादी 'पीछेका भ्रान्त पण्डित' कहकर उससे पीछा छुड़ा लेंगे। इससे प्रमाणता-अप्रमा-

णता तो केवल वादियोंकी अपनी वाणी वा इच्छा पर निर्भर है; उनसे प्रतिकूल वेद भी अप्रमाण; और उनके अनुकूल एक साधारण-व्यक्ति भी प्रमाण ! श्रीदीक्षित तो वंश (कुल)के दो भेद बताते हैं कि-'विद्यया जन्मना च'। यहाँ उन्होंने वर्णके दो भेद नहीं बताये। इसका श्रीदीक्षितका बताया हुआ-'एकविंशतिभारद्वाजम्' उदाहरण ही हमारी बातको सिद्ध करता है। क्या 'भारद्वाज' किसी वर्णका नाम है ? कुल और वर्ण भिन्न-भिन्न होते हैं।

वादी 'द्वाभ्यां जायते द्विजः' यह कहकर 'द्विज'की यौगिकता बताते हैं। तब क्या मनुजी 'द्विज'का यह अर्थ नहीं बताते ? श्रीयास्क केवल वैदिक शब्दोंकेलिए तो यौगिकता बताते नहीं; वे तो 'सर्वाणि नामानि आख्यातजानि' कहते हैं; 'वैदिकानि नामानि आख्यातजानि' नहीं कहते। सो वादी लोग पुरुषको 'द्विज' कब कहेंगे ? आचार्यकुलसे निकलनेके बाद, या आचार्यकुलमें प्रवेश करनेके दिन ? यदि आचार्यकुलसे निकलनेके बाद; तो आचार्यकुल पढ़ने तक वह पुरुष द्विज न होनेसे वादीके अनुसार भी 'वेदमातामें अधिकृत' न रहा। यह वादीने सर्वसाधारण ब्रह्मचर्याश्रमवालोंकेलिए वेदका दर्वाजा बन्द कर दिया, या खोल दिया, यह तो वे ही जानें ! बनावटमें झोल पड़ता ही है। वादीने वेदका अधिकार २५ वर्ष शिक्षित होनेके बाद बताया।

(२) वादी गृह्यसूत्रोंको तो मानते ही होंगे, जिनसे वे संस्कार कराते होंगे। यह भी वे जानते होंगे कि-वेद पढ़नेका अधिकारी वह है, जिसका यज्ञोपवीत हो। यज्ञोपवीत केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यका

ही होता है, शूद्रका किसी भी संस्कारविधि वा गृ.सू.में यज्ञोपवीत नहीं लिखा। वादी इसमें अपने श्रद्धेय स्वा.द.की संस्कारविधि भी देख सकते हैं। अथवा जिससे संस्कार कराते हैं, उस पार.गृ.सू.को देख लें। जब शूद्रका अनधिकारवश वेदपट्ट-यज्ञोपवीत ही नहीं होगा; तब वह आचार्यकुलमें प्रवेशका अधिकारी ही कैसे होगा; क्योंकि-आचार्यकुलमें यज्ञोपवीतका अनधिकारी प्रवेश नहीं पा सकता, तब उसका वेदारम्भ ही कैसे होगा ?

वादीके मान्य स्वा.द.जीने स.प्र.में लिखा है-'६वें वर्षके आरम्भमें द्विज अपने सन्तानोंका उपनयन करके आचार्यकुलमें ··भेज दें और शूद्रादि-वर्ण उपनयन किये बिना विद्याभ्यासकेलिए गुरुकुलमें भेज दें। (२ समु० पृ० १५) इससे दो बातें सिद्ध होती हैं। एक यह कि-शूद्र द्विज नहीं, दूसरा-शूद्र आचार्यकुलमें नहीं जा सकता। आचार्यकुलमें उपवीती वा उपवीतका अधिकारी ही जा सकता है। यह भेद आचार्यके (देखो मनुस्मृति-'उपनीय तु यः शिष्यं·· तमाचार्यं प्रचक्षते' (२।१४०) तथा गुरुके लक्षणके भेद होनेसे (देखो मनु० २।१४२) किया गया है। आचार्य ही उपनयन करके वेद पढ़ाता है, गुरु नहीं। गुरु साधारण विद्या देता है। इसीलिए मनुस्मृतिमें 'आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम्' (५।६१) इस पद्यमें आचार्य और गुरुको पृथक्-पृथक् कहा गया है।

द्विजत्व यज्ञोपवीतसे ही होता है-'मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने' (मनु० २।१६९)। यह बात सर्वसम्मत है। 'नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म····शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे न जायते'

(२।१७२) कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते। ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम्' (२।१७३) यह मनु-पद्य भी सर्वसम्मत है। जब वेद-ग्रहणसे पहले, पुरुष शूद्रके समान माना गया है, और उपवीती-को ही वेदमें अधिकार दिया गया है, द्वितीय जन्म (द्विजत्व) यज्ञोपवीतसे ही कहा गया है; तब इससे साक्षात् शूद्रका द्विजत्व तथा वेदाध्ययन सर्वथा प्रतिहत होगया। जब वादी किसी भी गृह्यसूत्र वा संस्कारविधिसे शूद्रको यज्ञोपवीत नहीं दे सकते; क्योंकि-न शूद्रकेलिए कोई छन्दोमन्त्र रखा गया है, न कोई छन्दः-प्रदान वर्ष, न कोई छन्दकी ऋतु; तब शूद्र वेद पढ़ेगा ही कैसे? फिर शेष ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही द्विज सिद्ध हुए। यह वही 'घट्टकुट्यां प्रभातायितम्' वाली बात चरितार्थ होगई। कई गाड़ीवान चुंगीघरसे बचनेकेलिए रातको ही चल पड़े, जहाँ उन्हें प्रभात हुआ; वहीं चुंगीघर भी आगया-उन्हें वही चुंगी भरनी पड़ी-जिससे बचना चाहते थे। तब वादीकी प्रतिज्ञा कहाँ गई कि-'ऐसा द्विज तो मनुष्यमात्र ही हो सकता है'। जब वादी कहते हैं कि-'जो मातासे जन्म लेकर गुरुकुलसे-गुरुके घरसे विद्वान् बनकर बाहर निकले, वह द्विज है; उस द्विजको वेदमाता पवित्र कर सकती है' तब गुरुकुलके अन्दर रहने तक तो वह वादीके अनुसार 'द्विज' हुआ नहीं; तब उसका वेदमें अधिकार भी रहा नहीं; मनु तो बेचारे बन बैठे अब पीछेके विद्वान्, और वादी बन बैठे वैदिक-कालके विद्वान्; जोकि वादीने गुरुकुल पढ़नेकी अवधिमें वेद ही सबके लिए अनधिकृत कर दिया, यहाँ तो 'कहाँ तो चौबेजी गये

थे छब्बे बनने; दुब्बे बनकर आये' वाली बात चरितार्थ होगई। यदि वादी 'द्विज' यज्ञोपवीत वाले दिन बनाते हैं, तो फिर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही द्विज बने, शूद्रका कहीं भी उसमें नाम न आनेसे वे बेचारे वेदसे कोरे ही रहे। बात वही निकली वादीसे 'तथा-कथित पीछेके विद्वानों'की। द्विजसे भाव दो जन्मका है, सो उपनयनसे ही दूसरा जन्म होता है, आचार्यकुलसे निकलनेके बाद नहीं। उपनयन होता है तीन वर्णोंका ८-११-१२ वर्षोंमें; सो द्विज भी वही तीन हुए। यही दूसरा जन्म ही उनका महत्त्वपूर्ण है।

(३) यह 'द्विज'का लक्षण हम ही नहीं कहते, वादिसम्मत वेद स्वयं कहता है। देखिये-'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कुरुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभि-संयन्ति देवाः' (अथर्व० ११।५।३) यहाँ तीन रात ब्रह्मचारीको उप-नयनार्थ आचार्यके गर्भ (कुल)में रहना पड़ता है, जैसेकि वादीके श्रद्धेय स्वा.द.जीने भी सं. वि. में लिखा है-'जिस दिन बालकका यज्ञोपवीत करना हो; उससे तीन दिन अथवा एक दिन पूर्व तीन वा एक व्रत बालकको कराना' (पृ. ७६) इन तीन रात्रियोंके बाद बटुका उपनयन कर देने पर उसका दूसरा जन्म हो जाता है। उसे देखनेकेलिए देवता भी आते हैं। यह वेदके उक्त मन्त्रका तात्पर्य है। यही उसका दूसरा जन्म द्विजत्वाधायक होनेसे महत्त्व-पूर्ण होता है-'तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धन-चिह्नितम्। तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते' (मनु० २।१७०) और यह द्विजत्व उपनयनवाले दिनसे हो जाता है; और केवल ब्राह्मण,

क्षत्रिय, वैश्योंका होता है, देखिये इस पर सभी गृह्यसूत्र।

(४) गृह्यसूत्रोंके अनुसार गायत्री-सावित्री ब्राह्मणको गायत्री-छन्दके एकपादके वर्णानुसार ८ वर्षमें (पारस्करगृ. २।३।७), त्रिष्टुप्-सावित्री क्षत्रियको त्रिष्टुप् छन्दके एक पादके वर्णानुसार ११वें वर्षमें (पार. २।३।८), जगती-सावित्री वैश्यको जगती-छन्दके एक पादके वर्णानुसार १२वें वर्षमें (पार. २।३।९) अथवा तीनोंको गायत्री देनेका (पार. २।३।१०) विधान किया गया है।

जब पहला पक्ष लिया जाता है कि-गायत्री-सावित्री ब्राह्मणको दी जावे; तब 'वरदा वेदमाता द्विजानाम्'में 'द्विज'का अर्थ केवल 'ब्राह्मण' होता है। इसलिए गायत्री-सावित्रीके विसर्जनके अवसर पर कृष्णयजुर्वेदमें लिखा है-'ब्राह्मणेभ्योऽभ्यनुज्ञाता [जिसे ब्राह्मणों-केलिए स्वीकृत किया है] गच्छ देवि! [गायत्रि!] यथासुखम्' (तैत्ति. आ. १०।३०)। गायत्रीके 'आयातु वरदा देवी अक्षरं ब्रह्मसंमितम्। गायत्रि! च्छन्दसां मातः!' (बोधा.गृ.शे.सू. ३।६।४) इस आवाहनमन्त्रमें 'ब्रह्मसंमितम्' आया है। 'ब्रह्म' ब्राह्मणको कहते हैं—'ब्रह्म हि ब्राह्मणः' (शतपथ. ५।१।१।११)। 'समानार्थौ एतौ ब्राह्मण-शब्दो ब्रह्मन्-शब्दश्च' (महाभाष्य ५।१।७) 'ब्रह्मेति ब्राह्मणानां नामास्ति' (स्वा.द.की ऋ.भा.भू. पृ.८७) ब्राह्मणभोजनमें इसीलिए ही 'ब्रह्म-भोज' शब्द प्रसिद्ध है। अथर्ववेदसं.के उक्त मन्त्रमें 'वेदमाता द्विजानाम्। ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा' इसमें ब्रह्म-वर्चसकी प्रार्थना भी 'आ ब्रह्मन्! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्' (यजुर्वेदवा.सं. २२।२२) इस मन्त्रकी साक्षीसे ब्राह्मणकेलिए है।

कृष्णयजुर्वेदकी साक्षीसे अथर्वके मन्त्रका 'वेदमाता' शब्द 'गायत्री'-वाचक है। इस (वेदमाता द्विजानाम्) मन्त्रका ऋषि ब्रह्मा, तथा देवता 'गायत्री' भी इसी बातको सूचित कर रहा है।

जब दूसरा पक्ष लिया जाता है कि—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनोंको गायत्री-सावित्री दी जाए; तो यहाँ 'द्विजानां' शब्द 'त्रैवर्णिकों'का उपलक्षक हो जाता है, इसी द्विजत्वका विचार करके भगवद्गीतामें 'ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां शूद्राणां च परन्तप' (१८।४१) यहाँ वर्णोंके द्वन्द्व-समासमें शूद्रको पृथक्-कृत कर दिया गया है और 'ब्राह्मणेभ्योऽभ्यनुज्ञाता' यहाँ भी 'ब्राह्मण' शब्द द्विजोंका उपलक्षक हो जाता है, और अथर्वके मन्त्रका 'ब्रह्मवर्चस' शब्द 'हस्तिवर्चस' आदिका भी उपलक्षक हो जाता है। शूद्र यहाँ किसी भी ढंगसे प्रवेश न कर सका। इसीलिए महाभारतमें भी कहा है-'ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः त्रयो वर्णा द्विजातयः' (अनुशासन. ४७।७) अन्य-स्मृतियोंमें भी कहा है-'ब्राह्मण-क्षत्रियविट्शूद्रा वर्णाः त्व-द्यास्त्रयो द्विजाः' (याज्ञवल्क्य. १।२।१७) 'मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात्। ब्राह्मणक्षत्रियविशः, तस्माद् एते द्विजाः स्मृताः' (याज्ञ. आचारा. ३९) इत्यादि बहुत प्रमाण इसमें दिये जा सकते हैं।

(५) जोकि वादिमहोदय कहते हैं-'जिस वेदमें अनेक स्थलों पर-'जनः' और 'पुरुषः'को सम्बोधन कर उपदेश दिया गया है उस वेदको केवल द्विजों तक सीमित कैसे रखा जा सकता है' इस पर यह जानना चाहिये कि-जब यज्ञोपवीत जो वेदाधिकार

पट्ट है–तीनों वर्णोंका होता है, तब वेदका पुरुष भी वही उपवीती-द्विज हुआ; वहाँ अनधिकारी 'अद्विज' शूद्र कहांसे टपक पड़ा? यदि वादी शूद्रको वेदका अधिकार देते हैं; तो उन्हें यह बताना पड़ेगा कि–वे शूद्रादिवर्णोंको जन्मसे मानते हैं, वा गुणकर्मसे? यदि जन्मसे; तब शूद्र आचार्य-कुलमें प्रवेशका अधिकारी ही न रहेगा; तब वह वेदमें वैसेका वैसा अनधिकारी रहा। यदि शूद्रादि-को वे गुणकर्मसे मानते हैं; तो उनके मतमें अत्यन्त-मूर्ख 'शूद्र' रहेगा; वह वेद तो कहाँ रहा, साधारण विद्या भी नहीं पढ़ सकेगा। यदि मनुष्य शूद्रके कर्म करनेसे शूद्र है; तो उसको यज्ञ करना तथा वेदादि पढ़नेका अधिकार है या नहीं? यदि है तो वह ब्राह्मण होगया या शूद्र ही रहा? यदि शूद्र; तो 'कर्मसे ब्राह्मण बनता है' यह वादीसे अभिमत सिद्धान्त कहाँ गया? यदि वह शूद्र ब्राह्मण बन गया; तो यह अधिकार ब्राह्मणको मिले, शूद्रको कहाँ मिले, शूद्र तो अधिकारसे वञ्चित ही रहा; वा शूद्रतामें ही मर गया।

(६) जोकि–वादी महोदय 'उद्यानं ते पुरुष नावयानं' (अ. ८।१।६) मन्त्रको संसारके मानवमें लगाते हैं कि–'तेरा ऊपर चढ़ना ही हो, जीवनमें उत्थान ही होता चले, नीचे पतन न हो जाय'। यहाँ अपने मनमाने अर्थ करके वादीने वेदको अपने पीछे चलाकर वेदकी स्वतःप्रमाणताको मार डाला। मालूम होता है कि–वादी वेदका पूर्वापर देखते नहीं। कई आधुनिक नव-शिक्षितोंकी व्याख्या देखकर परप्रत्ययनेयबुद्धि होते हुए, उसमें इतने आनन्द-

विभोर हो जाते हैं कि–प्रकरणकी उपेक्षा कर डालते हैं। उक्त (८।१) सूक्त मृत्युके निकट पहुँचे हुए पुरुषको बचाने और पूर्ण आयु तक पहुँचानेकेलिए कल्प द्वारा विनियुक्त है। उस सूक्तका पूर्वापर भी यही सूचित करता है। उसके आदिम मन्त्रमें 'अन्त-काय मृत्यवे नमः...इह अयमस्तु पुरुषः सह असुना' (१) यहाँ मृत्युके देवता यमराजको नमस्कार किया गया है और मरणासन्न पुरुषके प्राणोंकी रक्षार्थ प्रार्थना की गई है। इस प्रकार ५ममन्त्रमें भी स्पष्ट है–'त्वां मृत्युर्दयतां मा प्रमेष्ठाः' (८।५) तुम पर मृत्यु दया करे, तू मत मर'। इस प्रकार ३य मन्त्रमें भी स्पष्ट है—'इह तेऽसुरिह प्राणः, इह आयुः, इह ते मनः' (३)। इस प्रकार ७म मन्त्रमें भी कहा है–'मा अनुगाः पितॄन् (मृतान) विश्वेदेवा अभि-रक्षन्तु त्वा इह'। यहाँ मृतक-पितरोंका अनुगमन अर्थात् रोगीका परलोकगमन (मरण) न हो, यह प्रार्थित किया गया है। यह वादि-महोदयकी वेदकी श्रद्धा है कि–वे वेदको भी अपने पीछे चलाते हैं। द्विज अधिकृत होनेसे द्विज-पुरुष ही यहां संबोधित है।

फलतः यह तथा 'सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय' यह मन्त्र वादीका पक्ष किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं करते। 'चिकितुषे'का अर्थ वादीने इच्छार्थक-सन्का कर डाला, जबकि यहाँ 'सन्' प्रत्यय है ही नहीं, किन्तु 'क्वसु' प्रत्यय है। निरुक्तकारने 'चिकित्वान्'का अर्थ 'चेतना-वान्' (२।११।१) किया है। इसी प्रकार (८।५।२)में भी। इससे वादीकी कुछ भी इष्ट सिद्धि नहीं।

(७) जो कि वादी एक नई बात बताते हैं कि–''और तो और,

यजुर्वेद तो यह कहता है कि–प्रत्येक मनुष्यके मनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद पहलेसे ही विद्यमान हैं। वे वेद उनमें ऐसे चिपके हुए हैं, जैसे रथकी नाभिमें अर' यह कह कर मन्त्र देते हैं–'यस्मिन् ऋचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। यस्मिन् चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' (यजुः ३४.५) इसमें स्पष्ट 'प्रजानां' कहा है, 'द्विजानां' नहीं कहा है"। इन्हीं अर्थोंसे वादी वेदको सर्वव्यापक बनाया चाहते हैं। वेदकी इच्छाको छिपाकर अपनी इच्छानुसार अर्थ करके वे वेदके स्वतःप्रामाण्यको काट रहे हैं; इससे हमें बड़ा दुःख होता है। यह वेदके गले पर छुरी फेरना है।

यहाँ वादी वेदोंको प्रजाओंके चित्तमें ओत-प्रोत बताते हैं, और कहते हैं—'वेदोंको केवल द्विजों तक सीमित रखनेवाले ऐ भारतीय विद्वानो! अब क्या करोगे? वेद तो अब शूद्रों तक पहुँच गये, क्योंकि–मन तो उनका भी है, अब वेदको शूद्रोंके मनसे कैसे बाहर निकालेंगे?' इस पर हम कहते हैं कि–यदि ऐसी बात है; तो यह सब गुरुकुल तथा गुरुकुल-पत्रिकाएँ बन्द करवाइये; जिससे जनताका व्यर्थ व्यय हो रहा हुआ पैसा तो बचे। जब वेद सबके मनमें पहले ही विद्यमान हैं; तब आप उनको उनके मनमें क्या डालेंगे? यह तो वदतोव्याघात होगा। यह पिष्टपेषण किसलिए? यह वादीने अपने पक्षकी सिद्धिकी अतिशयित प्रसन्नतामें शूद्रोंकी तो दूर, द्विजोंकी भी वेदकी पढ़ाई बन्द करवा दी।

वस्तुतः उक्त मन्त्रका तथाकथित अर्थ ठीक नहीं। वहां प्रजाओं के मनोंमें वेदोंका निवास नहीं बताया, किन्तु ऋषिके मनमें; उसमें तो याज्ञवल्क्य-ऋषि कह रहा है 'यस्मिन् वेदाः प्रतिष्ठिताः, तद् मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' यहां 'तद् मे ऋषेः मनः' कहा है, 'प्रजानां मनः' नहीं कहा। याज्ञवल्क्य-ऋषि कह रहा है कि–मेरे जिस मन में वेद प्रतिष्ठित हैं, और प्रजाओंका चित्त (ज्ञान) भी जिस मेरे मनमें ओत-प्रोत है, वह मेरा मन शिवसंकल्पवाला हो। यहां प्रजाओंके मनमें वेदोंकी ओत-प्रोत होनेकी बात कहीं भी नहीं कही गई। तब उसे उससे बलात् कैसे निकाला जा रहा है? वेद तो ऋषिके मनमें ठहरे रहे; तब क्या याज्ञवल्क्य-ऋषि शूद्र था, जो कि वादी शूद्रके मनमें वेदको घुसाये बैठे हैं? नम्र निवेदन यह है कि–व्यापारियों की भांति वादी भी वेदमें ब्लैकमार्कीट न करें।

(७) जोकि वादी आप-बीती सुनाते हैं कि–'वेदाध्ययनाधिकारः स्त्री-शूद्रविषयकोऽप्यस्ति, मानवमस्तिष्कस्य ज्ञानमात्रेऽधिकारित्वात्, अद्यतनस्त्रीशूद्रगृहीतवेदज्ञानवत्। तथा चेमे सर्वे स्त्रीशूद्रा वेदज्ञानाधिकारिणः। तस्मात् तथा" इस हमारे पञ्चावयवप्रक्रियासे साधित वेदाधिकारपर काशीका कोई भी विद्वान् न बोला, सब शान्त हो गये'। पर हमें तो वादि-महोदयकी इस साधनप्रक्रियामें कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं मालूम होती। वादीके तो प्रतिज्ञा, हेतु तथा निगमनमें ही परस्पर विरोध है। प्रतिज्ञा, वादी 'वेदाध्ययनाधिकार' की करते हैं, और हेतु देते हैं—'ज्ञानमात्रेऽधिकारित्वात्' और

निगमन देते हैं—'स्त्रीशूद्रा वेदज्ञानाधिकारिणः'। जब वादीकी प्रतिज्ञा ही असिद्ध हो गई, यह प्रतिज्ञाविरोध आदि निग्रहस्थान उपस्थित हो गये। तब उसके आधार पर बनाया महल स्वयं ही धराशायी हो गया। बल्कि यह वादीका अनुमान न्याय न होकर न्यायाभास हो गया। कैसे? इसे देखिये। श्रीवात्स्यायनने लिखा है—'प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अन्वीक्षणमन्वीक्षा, तथा प्रवर्तते–इति आन्वीक्षिकी-न्यायविद्या। यत् पुनरनुमानं प्रत्यक्षाऽऽगम-विरुद्धम्, न्यायाभासः सः' (१।१।१) क्योंकि वादीकी उक्त साधन-प्रक्रिया 'वेदमाता पावमानी द्विजानाम्' इस आगमसे विरुद्ध शुष्क-तर्क है। यदि वेदको 'मानवमात्र' अधिकारी इष्ट होता, तो 'वेदमाता जनानाम्' होता, 'द्विजानां' न होता। 'द्विज' यहां 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हैं, यह हम पूर्व सिद्ध कर चुके हैं। जिस 'यथेमां वाचं'में वादी 'जनेभ्यः' बताते हैं, उसमें 'वाचं' है, 'वेदवाचं' नहीं। इस मन्त्रका वादीसे अभिमत अर्थ 'सिद्ध' नहीं, किन्तु 'साध्य' है, इस विषयमें 'श्रीसनातनधर्मालोक' (तृतीय पुष्प, मूल्य ३।) हमसे मँगावें। अतः वादीका यह प्रमाण भी असिद्ध हो गया। साध्यसम हेत्वाभास हो जानेसे यह भी निग्रहस्थान हो गया। तब वादीको काशीसे 'विजयपत्र' क्या मिलता?

यहां पर वादी स्त्री-शूद्रकी सामर्थ्य लौकिक लेते हैं कि—'वे वेदका ज्ञान प्राप्त करते हुए देखे गये हैं' यह ठीक नहीं। स्वा. शङ्कराचार्यने ठीक ही लिखा है—'सामर्थ्यमपि न लौकिकं केवल-मधिकारकारणं भवति, शास्त्रीयेऽर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्यस्य अपेक्षितत्वात्।

शास्त्रीयस्य च सामर्थ्यस्य अध्ययननिराकरणेन निराकृतत्वात्' (ब्रह्मसूत्र १।३।३४) केवल लौकिक-सामर्थ्य कि वह यह काम कर सकता है, अधिकारका कारण नहीं बन जाती। शास्त्रीय-अधिकारमें शास्त्रीय-सामर्थ्य ही अपेक्षित होती है। शास्त्रने स्त्रीशूद्रका अध्ययन निराकृत करके उनकी लौकिक-सामर्थ्य असिद्ध बता दी है।

अन्यत्र भी आचार्य शङ्करने लिखा है—'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्' (गीता ३।३५) इति स्मरणाद् न्यायाच्च। यो हि यं प्रति विधीयते, स तस्य धर्मः; नतु यो येन स्वनुष्ठातुं शक्यते; चोदनालक्षणत्वाद् धर्मस्य। न च रागादिवशात् प्रच्युतिः, नियम-शास्त्रस्य बलीयस्त्वात्' (ब्रह्मसूत्र ३।४।४०) 'अपना धर्म विगुण भी अच्छा, दूसरेका धर्म अच्छा भी अपनेलिए ठीक नहीं। जिसका जिसकेलिए विधान किया जाता है; वही उसका धर्म होता है, जो जिसे कर सकता हैं, वा स्वेच्छानुसार कर लेता है वह उसका धर्म नहीं हो जाता'।

(८) वादीकी पञ्चावयवप्रक्रिया आगमसे विरुद्ध होनेसे तर्का-भास ही है। वादीका उक्त तर्क ऐसा है कि—जैसे कोई कहे कि—'हिन्दुषु परस्परविवाहाधिकारः सर्वविध-भ्रातृभगिनीविषयकोऽप्यस्ति, उभयो-र्गर्भाधाने योग्यता-दर्शनात्; अद्यतन-मौहम्मदेशवीयादिषु पितृव्य-मातुल-सुतादिरूपभगिन्या सह तादृश-भ्रातुर्विवाहेऽपि सन्तत्युत्पत्ति-दर्शनवत्। यत्र यत्र गर्भाधान-जननोभयविधयोग्यतावत्त्वम्; तत्र-तत्र विवाहाधिकारवत्त्वम। तथा च हिन्दुष्वपि भगिनीभ्रातरौ मिथो

विवाहाधिकारिणः; तस्मात् तथा' अर्थात्-'हिन्दुओंमें विवाहाधिकार भाईका बहिनके साथ भी है; क्योंकि-उनमें गर्भाधानकी तथा सन्तानोत्पादनकी योग्यता देखी गई है। जैसे कि मुसलमान एवं ईसाइयोंमें चचेरी-ममेरी आदि बहिनोंके साथ विवाह तथा वंश-वृद्धि प्रेमभाव आदि देखे गये हैं। जिस-जिसमें गर्भाधान वा सन्तानोत्पादनकी योग्यता है, उन-उन सभीका परस्परमें विवाहाधिकार है। हिन्दुओंमें भी वैसी बात दीख सकती है; अतः उनमें भी भाई-बहनों का परस्पर-विवाह वैध है।' तब क्या वादी इस अपने-जैसे तर्कको अव्यभिचारी बता सकते हैं? यहां क्या लौकिक-शक्ति देखी जावेगी, या शास्त्रीय-शक्ति? अतः स्पष्ट है कि-इस प्रकारके अधकचरे अनुमान 'यत्पुनरनुमानं प्रत्यक्षागमविरुद्धम्, न्यायाभासः सः' इस न्यायोक्तिके अनुसार आगम-विरुद्ध होनेसे न्यायाभास ही हैं, इनसे साध्यकी सिद्धि न हो सकनेसे 'काशीसे विजयपत्र' भी नहीं मिल सकता। 'मानव-मस्तिष्कस्य ज्ञानमात्रेऽधिकारित्वात्' जैसे यह हेतु एक वृद्ध-विद्वान्ने कभी नहीं सुना था, वैसे 'मानवमात्रस्य मानवीषु गर्भाधाने योग्यतादर्शनात्' यह हेतु भी वृद्ध-महाशयने कभी नहीं सुना होगा।

(६) 'वेदमाता पावमानी द्विजानाम्' यह मन्त्र गायत्री-सावित्रीके लिए है-यह कदाचित् वादीको मालूम नहीं होगा। इस मन्त्रका ऋषि ब्रह्मा, तथा देवता (प्रतिपाद्य) गायत्री है; तब इस मन्त्रमें गायत्री ही वर्णित है। वेदपाठ वा गायत्रीजपकी समाप्तिके अनन्तर पठनीय यह मन्त्र है। 'वेदानां मातरं गायत्री-सम्पदम्' (१।१।३८)

इस गोपथब्रा.के वचनसे स्पष्ट है कि-वेदमाता गायत्री है। 'गायत्रीं वेदमातरम्।...स तथा पाठितो देव्या ब्राह्मणो नष्टकिल्बिषः' (वनपर्व २००।८३) महाभारतके इस वचनसे भी यह सिद्ध है। 'गायत्री छन्दसां माता' (१०।२६) तैत्तिरीयारण्यकके इस वचनसे भी यही बात सिद्ध है। वहीं कहा गया है—'गायत्रीमावाहयामि'। सो उस गायत्रीमें ब्राह्मणका अधिकार होनेसे ही अथर्ववेदके मन्त्रमें भी 'वेदमाता द्विजानाम्' कहा गया है। यहां 'द्विज'का अर्थ 'ब्राह्मण' है, क्योंकि मुख्य-द्विज वही होता है। इसीलिए 'गायत्र्या छन्दसा ब्राह्मणमसृजत्' (वशिष्ठधर्मसूत्र ४।३) इस वचनमें गायत्री-छन्दसे ही ब्राह्मणका जन्म बताया गया है। गायत्रीके एक पादके ८ अक्षर होते हैं, अतः उसके अधिकारी ब्राह्मणका भी ८वें वर्षमें यज्ञोपवीत होकर और गायत्री-मन्त्र देकर उससे उसका द्वितीय जन्म होकर द्विजत्व हो जाता है। इसीलिए पारस्कर-गृह्यसूत्रमें 'गायत्रीं ब्राह्मणेभ्योऽनुब्रूयात्' (२।३।७) यह कहा है। इसी प्रकार मानवगृह्यसूत्र (१।२।३)में तथा ऐतरेयब्रा. (१।५।२८) शाङ्खायनब्रा. (२।५।३८१-३८३)में तथा अन्यत्र भी कहा है। उसीका अथर्ववेदके उक्त-मन्त्रमें वर्णन है; तब अशिक्षित शूद्र वेदके मतमें भी वेदसे वंचित रहा।

उक्त-सिद्धान्तको स्पष्ट करनेकेलिए कि-शूद्रको उपनयन तथा वेदादिका अधिकार नहीं-हम इसपर शास्त्रीय उपपत्ति देते हैं। 'आलोक'के विद्वान् पाठक तथा वादी भी इस पर ध्यान दें।

(१०) वादी जानते होंगे कि-'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेत, गर्भाष्टमे

वा। एकादशवर्षं राजन्यम् द्वादशवर्षं वैश्यम्' '८वें वर्षमें ब्राह्मणका तथा ११वेंमें क्षत्रियका तथा १२वें वर्षमें वैश्यका यज्ञोपवीत होता है' यह सर्वतन्त्र-सिद्धान्त है, वादी-प्रतिवादी सबसे मान्य है। इसे पारस्करगृह्यसूत्र (२।२।१-२-३)में भी उद्धृत तथा मान्य किया गया है, आपस्तम्बगृ. (४।१०।१-२-३) द्राह्यायणगृ. (३।४।१-३-५) में भी। जैमिनिगृ. (१-१२)ने भी इसे उद्धृत किया है, गोभिलगृ. २।१०।१-२-३)ने भी। वसिष्ठधर्मसूत्र (११।४४) तथा मनुस्मृति (२।३६-३७)ने भी इसे अनूदित किया है। व्यासस्मृति (१।१६) शङ्खस्मृति (२ अ.) तथा याज्ञवल्क्यस्मृति (आचाराध्याय १०) और वादीके श्रद्धेय स्वा.द.जीने (सं.वि. उपनयनप्र.)में भी इसे उद्धृत किया है।

'यस्तु अप्रमत्तगीतः; तत् प्रमाणम्' महाभाष्यके पस्पशाह्निकस्थ इस वचनसे इसमें सबका ऐकमत्य होनेसे प्रमाणता ही है; क्योंकि यह सभी ऋषि-मुनि प्रमत्त नहीं बन सकते। 'सौ सयाने एकमत' 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !' (गीता २।४१) यह कहावतें प्रसिद्ध हैं। इनमें यह याद रखनेकी बात है कि-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यका तो उपनयन आदिष्ट किया गया है, उपनयनके वर्ष बताये गये हैं, उपनयनके छन्द बताये गये हैं; पर शूद्रका यह सभी कुछ नहीं बताया गया। उसके उपनयनका कोई वर्ष नहीं लिखा गया, कोई छन्द नहीं लिखा गया। यह क्यों? बस इसीसे वह वेदाधिकारसे बहिर्भूत सिद्ध है।

इन तीन वर्णोंके यह वर्ष क्यों रखे गये हैं; इनमें शूद्रको

वेदाधिकार माननेवाले वादी कोई उपपत्ति नहीं दे सकते। पर शूद्रका अनधिकार माननेवाले हम इसमें उपपत्ति दे सकते हैं। वह उपपत्ति यही है कि-यही तीन वर्ण द्विज होते हैं। द्विज कहते हैं कि—जिनकी दो उत्पत्ति होती हैं। द्वितीय-उत्पत्तिका कारण उपनयन-संस्कार तथा सावित्री-मन्त्र-प्रदान है। जैसेकि-'मातुरग्रे-ऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने' (मनु. २।१६९) 'जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते' (अत्रिस्मृति १३८) 'द्वे जन्मनी द्विजातीनां मातुः स्यात् प्रथमं तयोः। द्वितीयं छन्दसां मातुर्ग्रहणाद् विधिवद् गुरोः। एवं द्विजातिमापन्नो'' 'श्रुतिस्मृतिपुराणानां भवेद् अध्ययनक्षमः' (व्यासस्मृति १।२२,२३) इसी प्रकार वसिष्ठ-धर्मसूत्र (२।२-३) तथा शंखस्मृति (१।६)में भी कहा है। गृह्यसूत्रोंमें लिखा है-'गायत्रीं ब्राह्मणाय अनुब्रूयात्, त्रिष्टुभं राजन्यस्य, जगतीं वैश्यस्य' यह पारस्करगृ. (२।३।७-८-९), मानवगृ. (१।२।३) और ऐतरेयब्रा. (१।५।२८) आदिमें कहा है। इसमें ब्राह्मणको द्विज करनेवाली गायत्री-सावित्री (यजुः ३।३५), क्षत्रियको द्विज करने-वाली त्रिष्टुप्-सावित्री (यजुः १२।३), वैश्यको द्विजत्वार्थ जगती-सावित्री (यजुः १७।७४) दी जाती है। यह मन्त्र सविताके होनेसे बुद्धिप्रद होते हैं। सविता बुद्धिका देव है।

(११) गायत्री-सावित्री मन्त्रके एक पादके ८ वर्ण हैं, और वह गायत्री-सावित्री ब्राह्मणको दी जाती है, इस कारण ब्राह्मणका गायत्री-ग्रहणार्थ उपनयन भी ८वें वर्षमें होता है। उसके द्विगुण वर्ष १६ हैं; इसलिए ब्राह्मणकी अन्तिम उपनयनावधि भी १६ वर्ष

है—'आषोडशाद् ब्राह्मणस्य अनतीतः कालः' (पार. २।५।३६)। त्रिष्टुप्‌के एक पादके ११ वर्ण होते हैं; और त्रिष्टुप्-सावित्री क्षत्रियको दी जाती है, इस कारण क्षत्रियका उस सावित्रीके ग्रहणार्थ उपनयन भी ११वें वर्षमें होता है, उसका द्विगुण २२ वर्ष होते हैं, अतः क्षत्रियकी उपनयनकी अन्तिम अवधि भी २२ वर्ष है, जैसेकि—'आद्वाविंशाद् राजन्यस्य' (पार. २।५।३७)। जगतीके एक पादके १२ वर्ण होते हैं। वह जगती-सावित्री वैश्यको दी जाती है, इस कारण जगती-सावित्रीके ग्रहणार्थ उसका उपनयन भी १२वें वर्षमें होता है। उसके द्विगुण वर्ष २४ होते हैं; अतः वैश्यकी अन्तिम उपनयनावधि भी २४ वर्ष है। जैसेकि—'आ चतुर्विँशद् वैश्यस्य' (पार. २।५।३८)। इन्हीं छन्दोंके वर्णोंसे इन तीनोंका नाम भी 'वर्ण' होता है। इसके बाद गायत्री-सावित्री, त्रिष्टुप्-सावित्री, जगती-सावित्री ग्रहणका अधिकार नहीं रह जाता। 'अत ऊर्ध्वं पतित-सावित्रीका भवन्ति' (पार. २।५।३६) और उन्हें व्रात्य कहा जाता है (मनु. २।३६)।

अब देखिये—इनमें कहीं भी शूद्रका नाम नहीं कहा गया। मनुस्मृतिमें व्रात्य-ब्राह्मण (१०।२१), व्रात्य-क्षत्रिय (१०।२२) व्रात्य-वैश्य (१०।२३)का नाम आया है, व्रात्य-शूद्रकी कहीं गन्ध भी नहीं; तब वह उपनयन तथा वेदके अधिकारियोंमें परिगणित न होनेसे उसको वेदाधिकारका गन्ध भी प्राप्त नहीं। इन गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती छन्दोंसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यका दूसरी बार जन्म होता है; अतः इन्हें 'द्विज' कहा जाता है; पर शूद्रको कोई भी छन्द नहीं दिया

गया; अतः वह एकज एवं अनुपनेय तथा वेदमें अनधिकृत रहता है। इसीलिए वसिष्ठ-धर्मसूत्रमें श्रुति उद्धृत की गई है—'गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत, त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्या वैश्यं न केनचित् छन्दसा शूद्रम्—इति असंस्कार्यो विज्ञायते' (४।३) यहाँ गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती छन्दोंके एकपादके ८-११-१२ वर्णों ब्राह्मणादि वर्णोंका द्वितीय-जन्म कहा गया है, अतः उन छन्दों उपनयनवाले दिन द्वितीय-जन्म होनेसे ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यको द्विज-वर्ण कहा जाता है; पर शूद्रका द्वितीय-जन्म किसी छन्द नहीं कहा गया, अतः उसका द्वितीय जन्मका कोई प्रसङ्ग न होनेसे वह द्विज न होकर 'एकज' ही रह जाता और कहा जाता है।

(१२) इसकी अन्य उपपत्ति भी वादी देखें—'बृहदारण्यक उपनिषद्‌में लिखा है—'ब्रह्म वा इदमग्र आसीद् एकमेव' (१।४।११) यहाँ पहले ब्राह्मणकी उत्पत्ति कही है—'अग्निनैव देवेषु ब्रह्म अभवत्, ब्राह्मणो मनुष्येषु' (बृहदा. १।४।१५) यहाँ ब्राह्मणकी अग्निके साथ उत्पत्ति बताई गई है, इसलिए ब्राह्मणको 'आग्नेय' कहा जाता है। जैसेकि—पारस्करगृह्यसूत्रमें—'आग्नेयो वै ब्राह्मण इति श्रुतेः' (२।३।७)। 'मुखादग्निरजायत' (यजुः ३१।१२) मुखसे अग्निकी उत्पत्ति बताई गई है। 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' (यजुः ३१।११) यहाँ मुखसे ब्राह्मणकी उत्पत्ति बताई गई। 'मुखाच्च योनेरग्निमसृजत्' (बृहदा. १।४।६) 'मुखमग्निः' (श्रीमद्भा. २।१।२६)। सामवेद-ताण्ड्यमहाब्राह्मणमें भी कहा है—'स मुखतः त्रिवृतमसृजत्, तं गायत्री छन्दोऽन्वसृज्यत, अग्निर्देवता, ब्राह्मण

मनुष्यः' (६।१।६) यहां पर मुखसे ब्राह्मणका, ब्राह्मणके साथ उसके अनुग्राहक अग्निदेवताका तथा उसके द्विजत्वकारक गायत्री का जन्म बताया गया है। यही बात कृष्णयजुर्वेद (तै. सं.)में भी कही गई है—'प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति, स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत, तमग्निर्देवताऽन्वसृजत, गायत्री छन्दः, ब्राह्मणो मनुष्यः। तस्मात् ते मुख्याः मुखतो हि असृज्यन्त' (७।१।१।४) यहां ब्राह्मणका सहचारी-छन्द गायत्री बताया गया है, तथा सहचारी देवता अग्नि बताया गया है।

अब आगे देखिये-'बृहदारण्यक'में लिखा है—'तद् [ब्रह्म] एकँ सद् न व्यभवत्। तत् श्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रम्, यानि एतानि देवत्रा क्षत्राणि, इन्द्रो, वरुणः, सोम्यो रुद्रः, यमः' (१।४।१०) यहाँ भुजासे क्षत्रियके साथ इन्द्र देवताकी उत्पत्ति बताई गई है। इसीलिए कहा जाता है-'क्षत्रँ हि इन्द्रः, क्षत्रँ राजन्यः' (शत. ५।१।१।११) 'इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः' (श्रीमद्भा. २।१।२६) यहाँ इन्द्रको भुजा बताया गया है। ताण्ड्यमहाब्राह्मणमें भी कहा है-'स उरस्त एव बाहुभ्यां पञ्चदशमसृजत, राजन्यो मनुष्यः, इन्द्रो देवता, तस्माद् बाहुवीर्यः, बाहुभ्यां हि सृष्टः' (६।१।८) यहाँ पर क्षत्रियके साथ इन्द्रदेवताकी उत्पत्ति भी बताई गई है। कृष्ण-यजुर्वेदमें भी कहा है-'बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत, तमिन्द्रो देवताऽन्वसृज्यत, त्रिष्टुप् छन्दः, राजन्यो मनुष्याणाम्' (७।१।१।४) यहाँ पर क्षत्रियके साथ इन्द्रदेवताकी तथा त्रिष्टुप् छन्दकी उत्पत्ति भी बताई गई है।

वैश्यकेलिए बृहदारण्यकमें भी कहा है-'स नैव व्यभवत्, स विशमसृजत। यानि एतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते, वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति (१२) यहाँ वैश्यके साथ विश्वेदेवाः, आदित्य-आदि देवताओंकी उत्पत्ति कही गई है। ताण्ड्यब्राह्मणमें भी कहा है-'स मध्यत एव प्रजननात् सप्तदशमसृजत, वैश्यो मनुष्यः, विश्वेदेवा देवताः' (६।१।६) यहाँ पर भी वैश्यके साथ विश्वेदेवा जो आदित्योंका ही भेद है, उत्पत्ति कही गई है। कृष्णयजुर्वेद (तै. सं.)में भी यही कहा है-'स मध्यतः सप्तदशं निरमिमीत, तं विश्वेदेवा देवता असृज्यन्त, जगती छन्दः, वैश्यो मनुष्याणाम्' (५) यहाँ वैश्यके साथ विश्वेदेवा देवता, तथा जगती-छन्दकी उत्पत्ति बताई गई है।

अब शूद्रकेलिए देखिये-'स नैव व्यभवत्, स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम्, इयं [पृथिवी] वै पूषा' (बृहदा. १३) यहाँ शूद्रके साथ पूषा (पृथिवी)की उत्पत्ति बताई गई है। 'पद्भ्यां भूमिः' (यजुः ३१।१४) 'पद्भ्यां शूद्रः' (३१।११) इनके सामञ्जस्यसे शूद्रकी पादोत्पत्ति विवक्षित है। इसीलिए ताण्ड्यब्राह्मणमें कहा है-'स पत्त एव प्रतिष्ठाया एकविंशमसृजत, न काचन देवता, शूद्रो मनुष्यः, तस्मात् शूद्रोऽयज्ञियः, विदेवो हि, न हि तं काचन देवताऽन्वसृज्यत, पत्तो हि सृष्टः' (६।१।१०) यहाँ पर दिखलाया गया है कि पादोत्पन्न-शूद्रके साथ कोई यज्ञिय-देव उत्पन्न नहीं हुआ—इस कारण वह यज्ञ तथा यज्ञ-विषयवाले वेदमें अधिकृत नहीं। यही कृष्णयजुर्वेद (तै. सं.)में भी कहा है-'पत्त एकविँशं निरमिमीत, तमनुष्टुप्

छन्दोऽन्वसृज्यत, शूद्रो मनुष्याणाम्, तस्मात् शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः, न हि देवता अन्वसृज्यत। तस्मात् पादौ उपजीवतः, पत्तो हि असृज्येताम्, (६) यहाँ भी याज्ञिकदेव-हीनताके कारण शूद्रको यज्ञ एवं यज्ञ-विषयवाले वेद तथा उसके मूल यज्ञोपवीतका अनधिकारी होनेसे अद्विज (एकज) बताया गया है। यहाँका अनुष्टुप् छन्द भी वेदाधिकारप्रद नहीं; क्योंकि द्विजत्वाधायक गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके द्विजत्वाधायक बताये गये हैं। उनकी वर्णसंख्या भी ८-११-१२ समन्वित होती है; अनुष्टुप्‌की नहीं।

(१३) यह शास्त्रीय बातें निर्मूल भी नहीं हैं। पहले 'वशिष्ठ-धर्मसूत्र'का प्रमाण इस विषयमें दे चुके हैं कि—गायत्रीसे ब्राह्मण-को, त्रिष्टुप्‌से क्षत्रियको, जगतीसे वैश्यको उत्पन्न करके 'द्विज' बनाया गया है, पर शूद्रको किसी छन्दसे उत्पन्न करके 'द्विज' नहीं बनाया गया; अतः वह 'द्विज' नहीं, किन्तु 'एकज' होता है, अतः छन्द (वेद)का अधिकारी भी नहीं होता। यह हम लिख चुके हैं कि—ब्राह्मणकी अग्निसे, क्षत्रियकी इन्द्रसे, और वैश्यकी विश्वेदेवा वा आदित्यदेवसे उत्पत्ति बताई गई है। निरुक्तके सप्तमाध्यायमें देवताओंके भक्ति-साहचर्यके निरूपणके अवसर पर अग्निका वसन्त-ऋतु तथा गायत्री-छन्द (७।८।२) बताया गया है; तब अग्नि-सहोत्पन्न ब्राह्मणको भी वसन्त-ऋतुमें ही यज्ञोपवीत दिया जाता है, और यज्ञोपयिक एवं द्विजत्वाधायक गायत्री-मन्त्र दिया जाता है, जिसे 'वेदमाता (गायत्री) द्विजानाम् (ब्राह्मणानाम्)' (अ. १६।७१।१) यह अथर्ववेदसंहिता मन्त्र कह रहा है। गायत्रीके एक पादके ८ अक्षर होनेसे ही वह ८वें वर्षमें ब्राह्मणको 'द्विज' करता है। क्षत्रियकी इन्द्र-देवताके साथ उत्पत्ति बतलाई गई है। भक्ति-साहचर्यमें निरुक्तमें इन्द्रदेवताकी ग्रीष्म-ऋतु, तथा त्रिष्टुप् छन्द (७।१०।१) बताया गया है। त्रिष्टुप्‌के एक पादके ११ अक्षर होते हैं; तब इन्द्रके साथी क्षत्रियका भी द्विजत्वाधायक यज्ञोपवीत ग्रीष्म-ऋतुमें ११वें वर्षमें होता है; और उसे त्रिष्टुप्-सावित्री छन्द दिया जाता है। वैश्यके साथके विश्वेदेवाके जो आदित्यका दूसरा रूप है, जैसेकि निरुक्तके वैश्वानरके प्रकरणमें लिखा है-'यानि औत्तमिकानि [द्युलोकस्थ-सूर्यसम्बन्धीनि] सूक्तानि भागानि (भग), सावित्राणि [सविता], सौर्याणि (सूर्य) वा, पौष्णानि (पूषा), वैष्णवानि (विष्णु) वा, वैश्वदेव्यानि (विश्वेदेवाः) वा' (७।२३।१२) निरुक्तमें उस आदित्यके वर्षा-ऋतु, तथा जगती-छन्द (नि. ७।११।१) बताये गये हैं। इसलिए जगती-छन्दके पादके १२ वर्ण होनेसे वैश्य-वर्णको भी १२वें वर्षमें वर्षा-ऋतुमें द्विजत्वाधायक यज्ञोपवीत तथा जगती-सावित्री छन्द मिलता है। इससे उसका दूसरा जन्म होकर वह द्विज हो जाता है; परन्तु शूद्रका द्वितीय-जन्म न तो किसी छन्दसे कहीं कहा है, न कोई छन्दो-मन्त्र (सावित्री) उसके लिए कहा गया है, न देवता, न उसके सावित्री-ग्रहणार्थ कोई आरम्भिक वर्ष कहा है, न ही अन्तिम वर्ष। न ही त्रैवर्णिकोंकी भांति अन्तिम वर्ष अतिक्रमण करने पर उसको कहीं व्रात्य कहा है; अतः शूद्रका यज्ञोपवीत भी किसी वर्ष वा ऋतुमें नहीं होता। शूद्रका कोई याज्ञिक-देवता ही नहीं और पूषाका कोई नियत छन्द

ही नहीं; तब द्वितीय-जन्मापादक छन्दका अधिकारी न होनेसे वह द्विज न होकर एकज ही रह जाता है; अतः वेदका अधिकारी भी नहीं रहता। तब 'वेदमाता द्विजानाम्'में गायत्रीके अधिकारी ब्राह्मणकी उपलक्षणतासे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही द्विज हुए। गायत्रीसे उपलक्षित वेदमाता-सावित्री उन्हीं द्विजोंकी पावमानी होनेसे वेदमें अधिकार भी उन्हीं द्विजोंका ही हुआ, और वह सोपपत्तिक भी हुआ। जब गायत्रीमें ही अधिकार ब्राह्मणका है; तब वेदमें भला शूद्रका अधिकार कैसे हो सकता है? तब शूद्रका वेदानधिकार शास्त्रीय और उसे वेदका अधिकार देना अशास्त्रीय तथा निरुपपत्तिक होनेसे निर्मूल ही सिद्ध हुआ।

(१४) जोकि-वादी 'यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्। यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह, तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्!' निरुक्तस्थ इस मन्त्रसे 'जिस-किसीको भी [इसमें कोई द्विजकी शर्त नहीं है] ब्राह्मण-देवता विद्या दे दे'—यह बताकर विद्यामें अद्विजका अधिकार भी सूचित करते हैं—इस विषयमें विस्तृत विचार वे 'श्रीसनातनधर्मालोक'के *तृतीय-पुष्पमें देखें। यहाँ प्रष्टव्य है कि—विद्या ब्राह्मण-देवताके पास क्यों गई, शूद्र-देवता(?) के पास क्यों न गई? ब्राह्मण-देवता तो ब्राह्मणको ही पढ़ावेगा; इसीलिए तो उसने ब्राह्मणका पल्ला पकड़ा। यदि सबको अपना पढ़ाना उसे इष्ट होता; तो वह शूद्रके पास जाती; क्योंकि—वादीके अनुसार तो वेद 'शूद्रोंके मनोंमें भी घुसा बैठा है' और वह

*तृतीय पुष्पका मूल्य ३।) है, डाकव्यय पृथक्।

गुरुकुलमें भी जाता है। तभी छान्दोग्य (ताण्ड्य) ब्राह्मणमें भी कहा है—'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम—तवाहमस्मि'। यहाँ 'मैं तेरी (ब्राह्मणकी) हूँ' यह शब्द ब्राह्मणकेलिए आया है। यही बात मनुस्मृतिमें भी कही है—'विद्या ब्राह्मणमेत्याह-शेवधिः तेऽस्मि' (२।११४) 'मैं विद्या तेरा (ब्राह्मणका) खजाना हूँ'। यहाँ विद्याको शूद्रका खजाना नहीं कहा। 'अनर्हते मानिने नैव मा दाः' (छा.) मुझे अनर्हन् (अयोग्य) ब्राह्मणको न देना—इससे भी वेदविद्यामें ब्राह्मणका ही अधिकार सिद्ध होता है; तभी तो वेदमें 'ब्रह्मणे ब्राह्मणं' (यजुः ३०।५) वेदका अधिकार ब्राह्मणकेलिए आया है। 'तपसे शूद्रम्' (३०।५) यहाँ शूद्रोंको कृच्छ्र-कर्म सेवाका अधिकार दिया है। 'तपः शूद्रस्य सेवनम्' (मनु' ११।२३५) यहाँ पर शूद्रका सेवा करना तप बताया है—सो इस 'सेवा-धर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः' कृच्छ्र-कर्ममें लगे हुएके सिर पर फिर कठिन वेदका भार रखना उनपर अत्याचार करना है।

उक्त शाखा-मन्त्रसे शूद्र वेदाधिकारी सिद्ध भी नहीं हो सकता; क्योंकि—वह उक्त-मन्त्रानुकूल 'शुचि' नहीं। शूद्रका अशुचित्व—वर्ण-व्यवस्था चाहे कर्मणा हो चाहे जन्मना—स्वाभाविक रहेगा। वह 'ब्रह्मचर्योपपन्न' भी नहीं; आचार्यके कुल ब्रह्मचर्याश्रममें उपनीती ही जावेगा, शूद्र उससे दूर हो जावेगा; क्योंकि-वह अनुपनीती है। इन्हीं शाखाके मन्त्रोंमें भी 'विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा' इस तीसरे मन्त्रमें 'विप्राः' शब्द है, यह शब्द 'जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं' (अत्रि १४१) जन्म-ब्राह्मणकेलिए—

जो विद्वान् है–आया है। वादीकी 'गुरुकुलपत्रिका'के सम्पादक श्रीधर्मदेवजी 'सिद्धान्त' पत्रके वर्ण-व्यवस्थाङ्कमें अपने 'वर्णव्यवस्था और आर्यसमाज' निबन्धमें 'धिया विप्रो अजायत' मन्त्रके 'विप्र' शब्दका अर्थ 'ब्राह्मण' करते हैं, उसी 'विप्र'की 'यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं' इस वादि-दत्तमन्त्रमें अनुवृत्ति आ रही है। इसी मन्त्रके अनुवादभूत 'तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाऽप्रमादिने' (२।११५) इस मनुस्मृतिके वचनमें 'विप्र' शब्द साक्षात् विद्यमान है, और सृष्टिकी आदिमें प्रोक्त मनुस्मृति 'विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः' (३।१५५) 'भस्मीभूतेषु विप्रेषु' (३।६७) 'ब्रात्यात्तु जायते विप्रात्' (१०।२१) इत्यादि पचासों पद्योंमें 'विप्र'का अर्थ 'ब्राह्मण' करती है। अन्य प्रमाण 'आलोक'के तृतीय पुष्पमें देखने चाहियें। सो यहाँ वादीके दिये हुए शाखामन्त्रमें वेदका अधिकार ब्राह्मणको सिद्ध हुआ, 'शूद्र'को नहीं।

(१५) वादीके–'ऐ भारतीय विद्वानो! यह घोषणा करदो कि–वेद ईश्वरीय ज्ञान है, मनुष्यमात्रको वेदका अधिकार है, उन्हें उपनीत कर गुरुके समीप लाकर गुरुकुलमें सुशिक्षित कर वेदका अधिकार दो। वेदको बन्द रखना मानों सर्पको घड़ेमें बन्द करना है' यह शब्द भी व्यर्थ हैं, और परस्पर-विरुद्ध भी हैं। जब उनके अनुसार शूद्रोंके मनमें भी वेद ओत-प्रोत हो रहे हैं; तब वादी घोषणा किस बातकी कराते हैं? क्यों उनको सुशिक्षित करानेकी भोली बातें करके वेदकी पूर्व बातको खण्डित करते हैं? क्यों उन्हें गुरुकुलमें भेजकर 'तपसे शूद्रं' (यजुः ३०।५) वेदके

वादिप्रतिवादि-सम्मत अर्थके अनुसार कृच्छ्रकर्म-रत उसका समय नष्ट करते हैं? 'ब्रह्मणे ब्राह्मणं' (३०।५) इस मन्त्रमें वेदका अधिकार ब्राह्मणको दिया है, शूद्रको नहीं। यदि वादी ईश्वरकी आज्ञाको मानना चाहते हैं; तो उससे विरुद्ध शूद्रोंको वेद देकर वैदिकधर्मके विरोधी बनना वैदिकम्मन्य-उनको उचित नहीं। वादी यदि ईश्वरके ज्ञानका प्रसार चाहते हैं, तो वेदके भाष्य-भूत पुराणादिसे भी वे शूद्रको वह ज्ञान प्राप्त करा सकते हैं, उसके लिए अनधिकृत वैदिक-शब्दयोजना अनिवार्य नहीं। सो वादी सारा वेद स्वयं पढ़ें; उसमें प्रयास करें, दूसरे पक्षपाती-लोगोंके प्रकरण-मुक्त अशुद्ध-अर्थोंमें मुग्ध होकर वेदका प्रकारान्तरसे खण्डन न करें। उस बेचारे कृच्छ्रकर्म-निरत शूद्रके सिरपर शब्दका भारी भार न रखें; जिसकेलिए उसको वेदाङ्ग-व्याकरण आदि पढ़नेकी माथापच्ची करनी पड़े (जिससे विशेष करके स्त्री-शूद्र ही डरते हैं।) और वह शास्त्रानुसार अधिकृत द्विज-सेवासे विमुख न हो जावे। सो शूद्रको वादी वेदका निचोड़ सुनाकर उनका समय बचा दें; वह निचोड़ पुराण-श्रवणसे उन्हें मिल सकता है। इसमें वादीको कोई निषेध नहीं करेगा। अनुपनीत एवं अविद्य (विद्या-रहित) होनेसे शूद्रका वेदके शब्दमें अधिकार नहीं। अर्थमें अधिकार अविद्य तथा अनुपनीतका भी हो सकता है।

(१६) जोकि वादी 'यथेमां वाचं' मन्त्रके लिए कहते हैं कि-ऋषि स्वयं प्रकाशित कर रहा है–'जैसे मैं इस कल्याणी वाणी वेदको 'जनेभ्यः' सभी मनुष्योंको कहता हूँ' पर यहाँ 'वेद' शब्द

है कहाँ ? यह तो वादी वेदमें प्रक्षेप कर रहे हैं। वादी यहाँ 'ऋषिकी वाणी' कह रहे हैं, सो यह 'प्रभु ईश्वरकी वाणी' कहाँ रही ? 'जीवकी वाणी' होगई। यहाँ वादीने वेदको भी 'जीवकी वाणी' सिद्ध कर दिया। इस मन्त्रके अर्थ तथा 'पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्' इस अपने दिये मन्त्रका वास्तविक अर्थ वादी हमारे 'श्रीसनातनधर्मालोक'के तृतीय-पुष्पमें देखें; तब उनका भ्रम दूर हो जाएगा। कृत्रिम अर्थ करनेमें पूर्वापर-विरोध उपस्थित हो जाता है। वेद स्वयं सबका सब बातोंमें अधिकार नहीं बताता। उषाका यह मन्त्र बहुत प्रसिद्ध है—'क्षत्राय (बलाय) त्वं (एकं), श्रवसे (अन्नाय) त्वं, महीयै इष्टये (यज्ञाय) त्वम्; अर्थमिव इत्यै (गमनाय)' (ऋ. १।११३।६) इसमें एक (क्षत्रिय)का कार्य बल सञ्चित करनेका, दूसरे (वैश्य)का अन्न सञ्चित करनेका, अन्य (ब्राह्मण)का यज्ञ करनेका, अन्तिम (शूद्र)का कई-कार्योंको पूरा करनेकेलिए इधर-उधर पैरों-द्वारा जानेका संकेत किया गया है। सो यज्ञ तथा यज्ञके मूल वेदमें भी मुख्य-अधिकार ब्राह्मणका सिद्ध हुआ। शूद्रका तो सेवा-कर्म होनेसे वह वेदमें वेदानुसार भी अधिकृत नहीं।

वेदानधिकार-विषयमें द्विज-स्त्री की कुछ विशेषता हुआ करती है। वह यह कि शूद्र एकज होता है, स्त्री भी एकज होती है, पर उसका समन्त्रक-विवाह उसे द्विज-जैसा कर देता है; द्विज-जैसाका भाव यह है कि—उसका उपनयन साक्षात् नहीं होता, सो वह 'क्रमेण विधिपूर्वकम्' तो स्वाध्यायमें अधिकृत नहीं होती; पर स्व.विषयक-यज्ञादिमें कोई मन्त्र आजावे; तो उसे पति आदि की

सहायतासे बोल सकती है। स्त्री-शूद्रके वेदानधिकार-विषयमें विशेष स्पष्टता 'आलोक'के तृतीय-पुष्पमें देखनी चाहिये। अब वैदिक-देवपूजाके अधिकारियोंका वेदादि-शास्त्रानुसार वर्णन किया जावेगा।

---

(७) देवमन्दिर-प्रवेशपर वैदिक दृष्टि

(शुद्ध धार्मिक-दृष्टिकोण)

वेदके अधिकारी द्विज हैं, यह हम बता चुके हैं। वेदका विषय यज्ञ है, यह भी हम वेद-स्वरूपमें बता चुके। यज्ञसे वैदिक देवपूजा (मूर्तिपूजा) भी गृहीत होती है—यह भी बताया चुका है। अब उस वैदिक-देवपूजाके अधिकारी भी द्विज ही हैं, शूद्र-अन्त्यज नहीं—इस पर भी कुछ प्रकाश डाला जाता है।

प्रमाणभूत ग्रन्थ—(१) महर्षि श्रीयाज्ञवल्क्यने अपनी स्मृतिमें विद्या तथा धर्मके स्थान यह बताये हैं—'पुराणन्यायमीमांसा-धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश (१।१।३)पुराणसे ब्राह्म आदि १८ पुराण, और रामायण-महाभारतादि इतिहास, न्यायसे न्याय-वैशेषिक और सांख्य-योग, मीमांसासे पूर्वमीमांसा (मीमांसादर्शन) तथा उत्तरमीमांसा (वेदान्त-दर्शन), धर्मशास्त्रसे मनु, अत्रिआदिकी स्मृतियां और आगम-तन्त्रग्रन्थ, अङ्गसे शिक्षा, कल्प (श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र आदि), व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्यौतिष यह छः वेदाङ्ग, वेदसे मन्त्र-ब्राह्मणात्मक भाग जिसमें आरण्यक एवम् उपनिषद् भी अन्तर्भूत होते हैं—यह चौदह धर्ममें प्रमाणभूत माने गये हैं।

श्रीयाज्ञवल्क्यने मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, याज्ञवल्क्य, उशना, अङ्गिरा, यम, आपस्तम्ब, संवर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शङ्ख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप, वसिष्ठ, यह २० धर्मशास्त्रप्रवर्तक बताये हैं; पर यह प्रदर्शनार्थ है; परि-संख्यान [अन्योंकी निवृत्ति]केलिए नहीं; तब बोधायन आदि अन्य भी गृहीत हो जाते हैं-जैसा कि मिताक्षरामें लिखा है। इनकी कई स्मृतियां लघु-बृहद् दोनों रूपोंमें भी मिलती हैं। धर्मके ज्ञापक श्रीयाज्ञवल्क्यने 'श्रुतिः, स्मृतिः, सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्' (१।७) यह बताये हैं। इनमें प्रथम पद श्रुति (वेद) को दिया है, फिर स्मृतिको; स्मृतिमें भी पहले मनुको, फिर सत्पुरुषोंके आचारको। तब धर्मकी जो बात द्रष्टव्य हो, वह इन्हींमें देखनी पड़ेगी।

धर्मका साक्षात् लक्षण बताते हुए स्मृतिमूर्धन्य मनुस्मृतिमें भी यह कहा है—'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्'। (२।१२) यहां भी वेद तथा स्मृतिको धर्मका मूल बताया गया है। इसी बातको मनुजी ने अन्यत्र भी कहा है—'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये, ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ' (२।१०) यहां पर श्रुति-स्मृतिको अमीमांसनीय अर्थात्—उट्टङ्कनाके विना ही प्रमाण माननेकेलिए कहा है।

'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' (२।१३) यहां धर्मका ज्ञान करनेकेलिए श्रुति (वेद) को परम-प्रमाण माना गया है।

'योऽवमन्येत ते मूले हेतु-शास्त्राश्रयाद् द्विजः। स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः' (२।११) यहां श्रुति-स्मृतिका शुष्क-तर्कद्वारा अपमान करनेवालेको नास्तिक तथा बहिष्करणीय कहा है। इससे धर्मके सिद्धान्तोंको जाननेकेलिए श्रुति-स्मृतिका जानना आवश्यक सिद्ध हुआ। स्मृतिसे पुराण-इतिहास-तन्त्र आदि सभी गृहीत हो जाते हैं, यदि वेदसे विरुद्ध न पड़ते हों। सदाचारसे सत्पुरुषोंका परम्परागत-व्यवहार ग्राह्य है। स्वामी शंकराचार्य आदि बड़े आचार्योंने पुराण एवं महाभारत तथा तन्त्र आदि ग्रन्थोंको अपने भाष्योंमें 'स्मृति' कहा है; अतः स्मृतिग्रन्थोंमें उनका भी समावेश हो जाता है। स्मृति आदिमें भी वेदादिकी विरुद्धता नहीं आनी चाहिये। जैसाकि व्यासस्मृतिमें कहा है-'श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यदि दृश्यते। तत्र श्रौतं प्रमाणं तु द्वयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा' (१।४) अर्थात्—वेद, स्मृति, पुराण आदिमें विरोध हो, तो उसमें वेदकी ही प्रमाणता होती है। स्मृति और पुराणमें विरोध हो तो स्मृति ही उसमें प्रमाण होती है।

पुराण-इतिहासमें लोकवृत्त मुख्य हुआ करता है, लोकव्यवहार-व्यवस्था मुख्य नहीं। पुराण-इतिहासके सैकड़ों इतिहास को भी विधि-विरोध विध्वस्त कर दिया करता है-यह स्मरण रखनेकी बात है। वेद मन्त्रभाग तथा ब्राह्मणभाग मिलकर तथा पृथक्-पृथक् भी हुआ करता है-यह हम 'वेदस्वरूप'में बता चुके हैं। अब इस कसौटीसे यज्ञस्वरूप-देवपूजन एवं देवमन्दिर-प्रवेशका किसका अधिकार है-यह विचार किया जाता है।

(२) सनातन-हिन्दुधर्ममें देवमन्दिरका महत्त्वपूर्ण स्थान।—सनातन-हिन्दुधर्म मनुष्यसे ऊँची-योनि चन्द्रलोकस्थित पितरोंको तथा उससे भी ऊपरके द्युलोकस्थित देवताओंको पूजनीय मानता है। उसका विश्वास है कि-हम देव एवं पितरोंकी पूजा एवं यज्ञ करेंगे, तो वे समय पर वृष्टि और हमारे मनोरथोंकी भी वृष्टि करेंगे। यदि उसके अधिकारी पुरुष वैसा न करेंगे, किन्तु अनधिकारी ही वैसा करेंगे, तो वे देव इससे अपना अपमान वा अपनी तेजोहानि मानते हैं, जैसे कि शूद्रोंने ब्राह्मणोंमें घुसकर वेद पढ़कर यज्ञ करके इन्द्रदेवकी पूजाकी थी; यह वादीलोग भविष्यपुराण (प्रतिसर्गपर्व. ४ खंड २०।७२-७३) से बड़े संरम्भसे निम्न-पद्य द्वारा बतलाया करते हैं—'मिश्रदेशोद्भवा म्लेच्छाः काश्यपेनैव शासिताः। संस्कृताः शूद्रवर्णेन ब्रह्मवर्णमुपागताः। शिखासूत्रं समाधाय पठित्वा वेद-मुत्तमम्। यज्ञैश्च पूजयामासुर्देवदेवं शचीपतिम्' देखो 'सिद्धान्त' (वर्ण-व्यवस्थाङ्क)में स्ना.धर्मदेवजीका पूर्वपक्ष, तथा 'वैदिकधर्म' (४०।१)में श्रीशिवपूजनसिंहका लेख)। पर यह उद्धर्ता वादी लोग उस पुराणका पूर्वापर अपनी पारम्परिक-प्रकृतिवश चुरा लिया करते हैं—जनताके सामने नहीं आने देते; अतः साधारण लोग भ्रममें पड़ जाया करते हैं। यह प्रमाणोंकी ब्लैकमार्कीट बहुत अनुचित है। भविष्यपुराणके उसी प्रकरणके अनुसार कि-शूद्र वैदिक यज्ञ वा वैदिक-देवमूर्तिपूजनात्मक यज्ञ किया करें-यह बात यज्ञके देवता इन्द्रको भी इष्ट नहीं थी, भगवान् विष्णुको भी यह बात पसन्द नहीं थी, क्योंकि-यह दैत्यमत था, देवमत नहीं। यह

बलिदैत्यके इशारेसे देवताओंको अतृप्त एवं निस्तेज करनेका प्रकार था, जैसे कि उसी प्रकरणमें यह स्पष्ट है—'शूद्रसंस्कृतमन्नं च खादितुं न द्विजोऽर्हति। तथा च शूद्रजनितैर्यज्ञैः तृप्तिं न चाप्नुयाम्। मम शत्रुर्बलिर्दैत्यः कलिपक्षमुपागतः! निस्तेजाश्च यथाऽहं स्यां, तथा वै कर्तुमुद्यतः (३।४०।२०।७४-७७) (देखिये—इसपर 'श्रीसनातनधर्मालोक' तृतीय-पुष्प)।

मनुस्मृतिमें भी इसका निर्देश आया है—'नाश्नन्ति पितृ-देवाः तद्, न च स्वर्गं स गच्छति' (३।१८) इससे 'जिसके घरमें विवाहिता शूद्रा हो, उसका भी अन्न देव और पितर नहीं खाते' यह कहा है। अन्न न खानेसे खानेवालेकी निस्तेस्कता स्वतः-सिद्ध है। वही यज्ञके देवता अनधिकारियोंकी अनधिकार-चेष्टाके कारण अतिवृष्टि वा तन्मूलक बाढ़ोंसे, अनावृष्टि वा तत्प्रयुक्त सूखेसे, अथवा जल-वायुको विषैला करके पीलिया आदि रोग उत्पन्न करके प्रजाको संत्रस्त करते रहेंगे; ऐसा हिन्दुधर्मका चिरन्तन विश्वास है, और वह प्रत्यक्ष भी है। प्रमाण आगे देंगे।

(३) देवपूजाके शास्त्रोंमें कई प्रकार आये हैं। यज्ञ करना-यह मुख्य देवपूजन माना जाता है। 'यज्ञ' शब्द 'यजँ' धातुसे नङ् प्रत्यय करनेपर बनता है। यजँ धातुका अर्थ देवपूजा, सङ्गतिकरण एवं दान आया है। अर्थात्-देवोंकी अग्नि वा प्रतिमा आदिके द्वारा पूजा तथा देवोंका सङ्गतिकरण-इकट्ठा करना, अर्थात् उनका यज्ञमें अग्नि वा प्रतिमा द्वारा आह्वान करना, तथा देवोंके अर्थ-दान देना यह सब 'यज्ञ' है। देव द्युलोक (स्वर्ग) की एक योनि है, मनुष्य

नहीं, वा विद्वान्-मनुष्य नहीं (इस विषयपर स्पष्टता 'श्रीसनातन-धर्मालोक' (चतुर्थ पुष्प)में देखनी चाहिये)। यह सब 'यज्ञ' है।

यज्ञ भी कई प्रकारके होते हैं, १ वैदिक, २ पौराणिक, और ३ तान्त्रिक। वैदिक-यज्ञमें केवल द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) अधिकृत होते हैं, और पौराणिक एवं तान्त्रिक यज्ञमें शूद्रका भी निषेध नहीं होता। उस यज्ञमें भी दो भेद मुख्य हैं। उनमें एक वेदमन्त्र-संस्कृत-अग्निमें हवन-द्वारा तत्तद्देवताके नामसे हवि डालना, दूसरा वेदमन्त्र-संस्कृत प्रतिमामें पूजन द्वारा तत्तद्-देवताके नामसे उपहार रखना। यह दोनों ही 'यज्ञ' हुआ करते हैं; क्योंकि-देवपूजार्थक यज्-धातुका अर्थ दोनों स्थान समानतासे समन्वित होता है। इसलिए शाङ्खायन-ब्राह्मणमें कहा है-'स एवास्मै यज्ञं ददाति; तद् यद् एता देवता यजति' (४।२) अर्थात् देवताओंकी पूजा ही यज्ञ है।

श्रीमद्भागवत-पुराणमें भी अङ्गी भगवान्, तथा उनके अङ्ग देवताओंकी पूजाके प्रकार भगवान्ने स्वयं कहे हैं-'यदा स्वनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पूरुषः। यथा यजेत मां भक्त्या श्रद्धया तन्निबोध मे। अर्चायां (मूर्तौ) स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाऽप्सु हृदि द्विजे। द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत् स्वगुरुं माममायया (११।२७।८-६) अर्थात्, यजन-यज्ञ अग्निहोत्रादि, वा देवमूर्तिपूजनमें होता है और उसमें द्विजका अधिकार है, द्विज-भिन्नोंका अधिकार नहीं। वे द्विज भगवान्की पूजा या तो प्रतिमामें कर सकते हैं, वा अग्निमें, वा जल, ब्राह्मण आदिमें। 'स्नानालङ्करणं प्रेष्ठमर्चायामेव तूद्धव !...वह्नौ आज्यप्लुतं

हविः' (११।२७।१६) अर्थात्-मूर्तिमें स्नान अलंकार आदि क... और अग्निमें घृताक्त हवि डाले। यह कर्म भगवान्से कहे ग... जन्मना द्विजकेलिए बताया है, और दोनों पूजन-प्रकारोंको... कहा है, जैसेकि-'द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्-यागः प्रतिमादिष्वमायि... (११।२७।१५) यहाँ प्रतिमापूजन तथा अग्निहोत्र दोनोंको... अर्थात् यज्ञ कहा है। तब यह दोनों प्रकार देवपूजन सिद्ध होने... और उसमें अधिकारी द्विज माने गये।

अग्नि हविके स्थूलभागको भस्म करके उसके सूक्ष्मभाग... उस-उस देवताको देती है, और देवमूर्ति मधुमक्षिकासे पिये... पुष्पकी भांति उसका सूक्ष्मभाग देवताओंको देती है। जैसे अग्नि... वेदमन्त्रोंसे संस्कृत एवं प्रतिष्ठापित की जाती है, वैसे देवमूर्ति भी... वेदमन्त्रों तथा वेदमन्त्रोंके यज्ञमें अधिकार द्विजका है-यह ... सम्मत है यह गत-निबन्धमें बताया जा चुका है। द्विजोंको... यज्ञोपवीतका अधिकार होता है; सो यज्ञोपवीतका कर्मकाण्ड... होना आवश्यक होता है। वह यज्ञ-मूर्तिपूजा आदि भी यज्ञोपवीत... को ७५ वर्ष तक जो कि-कर्मकाण्डकी अवधि है-करने पड़ते हैं... वेदके दो भाग होते हैं, एक मन्त्रभाग, दूसरा ब्राह्मणभाग।... दोनोंही मिलकर 'वेद' कहलाते हैं। यह ५वें निबन्धमें देखि... वेदका विषय यज्ञ है, और यज्ञका सम्बन्ध वेदसे है-यह भी... वहीं बता चुके हैं। तब वैदिक-यज्ञमें किसका अधिकार है... देखनेकेलिए हमें मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदके पन्ने पलटने पड़ें... उसके बाद वेदानुसारी स्मृति, पुराण एवं तन्त्रग्रन्थोंके, ...

पूजाविधि बताई गई है।

(४) पहले बताया जा चुका है कि-यज्ञमें द्विजका, एवं यज्ञोपवीतीका अधिकार होता है, द्विज-भिन्न एवम् अयज्ञोपवीती आदिका नहीं। इसी कारण यज्ञकी अग्नि भी इन्हींके घरसे लाई जाती है, शूद्रके घरसे नहीं। गोभिलगृह्यसूत्रमें यही कहा है—'आगाराद् ब्राह्मणस्य वा, राजन्यस्य वा, वैश्यस्य वा' (१।१।१६) यहाँ शूद्रका नाम न लेनेसे शूद्रका यज्ञमें अनधिकार सिद्ध हो रहा है। खादिरगृह्यसूत्रमें इसी को स्पष्ट कर दिया है-'बहुयाजिनो वा आगारात, शूद्रवर्जम्' (१।५।५)

(ख) ब्राह्मणभागात्मक-वेदमें भी यही कहा है—'न वै देवाः सर्वेणेव संवदन्ते, ब्राह्मणेन वैव, राजन्येन वा, वैश्येन वा। ते हि यज्ञियाः' (शतपथब्रा· ३।१।१।१०) यहाँ बताया गया है कि-देवता ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यसे संवाद करते हैं, शूद्रसे नहीं। इसका भाव भी यही है कि-यज्ञका अधिकार द्विजसे भिन्नको नहीं होता। जिसने यज्ञमें दीक्षा ले रखी है, उसे शूद्रसे बातचीत करनी हो; तो वह सीधे उससे बोल नहीं सकता; (क्योंकि वह भी देववत् होता है 'देवो भूत्वा देवानेति') बीचमें अन्य, यज्ञमें अदीक्षित ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्यके द्वारा ही उस शूद्रसे बात हो सकती है कि-'इस (शूद्रको) यह कह दो, वह बात कह दो'—'तस्माद् यदि एनँ [यज्ञदीक्षितं] शूद्रेण संवादो विन्देद्; एतेषामेव [ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यानां मध्ये] एकं ब्रूयाद्, इममिति विचक्ष्व, इममिति विचक्ष्व-इत्येष उ तत्र दीक्षितस्य उपचारः'। यह भी उसी शतपथ-

ब्राह्मणमें इसी स्थलमें लिखा है। इसे शतपथने स्पष्ट कर दिया है-'ब्राह्मणो वैव, राजन्यो वा, वैश्यो वा, ते हि यज्ञियाः' (३।१।१।९) यहाँ यज्ञका अधिकार द्विजोंको दिया गया है, द्विज-भिन्नोंको नहीं। 'ब्राह्मणो वैव' से ब्राह्मणको द्विजोंमें विशेषता दी गई है। यह ब्राह्मणभागात्मक वेदका कथन है। जो इसे वेद नहीं भी मानते, तथापि प्रमाणित-दृष्टिसे वे भी इसे अवश्य देखते हैं।

(५) केवल ब्राह्मणभाग ही नहीं, मन्त्रभागात्मक-वेदमें भी यही कहा है—'अयं स होता यो द्विजन्मा' (ऋ· १।१४९।५) 'अभि द्विजन्मा...होता यजिष्ठः' (ऋ· १।१४९।४)। यहां अग्निरूप-होता का द्विज होना कहा गया है, सो द्विज यहांपर ब्राह्मण-वाचक है; तथापि उसके उपलक्षणसे तीनों द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) यज्ञके अधिकारी सूचित किये गये हैं। यही महाभारतमें भी कहा गया है—'यजन्ते च महायज्ञैस्त्रयो वर्णाः पृथग्विधैः' (शान्तिपर्व· ६८।३४) 'यष्टव्यं त्रिभिर्वर्णैर्यथाविधि' (७९।१२)। तब यज्ञमें शूद्रका अधिकार सिद्ध न हुआ। इसलिए कृष्णयजुर्वेदमें भी कहा है—'तस्मात् शूद्रो यज्ञे अनवक्लृप्तः, नहि देवता अन्ववसृज्यत, तस्मात् पादौ उपजीवतः' पत्तो हि असृज्येताम्' (त. सं. ७।१।१(६) यहां शूद्रके यज्ञमें अनधिकारका कारण यह बताया गया है कि-जैसे मुख, बाहु, ऊरुसे तीनों वर्णोंकी उत्पत्ति अपने आराध्य अग्नि, इन्द्र, विश्वेदेव इन तीन देवताओं, तथा गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती छन्दके साथ बताई गई है; वैसे शूद्रकी उत्पत्तिके साथ किसी देवता तथा वेदप्रवेशक गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती छन्दकी उत्पत्ति

नहीं बताई गई है, यह हम गत-निबन्धमें स्पष्ट कर चुके हैं, इसलिए शूद्रको न कभी वेदप्रवेशक-उपनयनका अधिकार है, न ही वैदिक-देवपूजा (वेदमन्त्र-प्रतिष्ठापित देवताकी मूर्तिके पूजन-नमन)का अधिकार है।

(ख) यही बात ताण्ड्य-महाब्राह्मणमें भी कही गई है—'स पत्त एव (पादात्) एकविंशमसृजत्, न काचन देवता, शूद्रो मनुष्यः। तस्मात् शूद्रोऽयज्ञियः, विदेवो [देवरहितो] हि, नहि काचन देवताऽन्वसृजत' (६।१।१०) यहां भी स्पष्टरूपसे शूद्रको विदेव-देवरहित कहा है। इसका भाव यह हुआ कि वेदके मतमें शूद्रको वेदमन्त्र-संस्कृत यज्ञ तथा वैसी देव-मूर्तिकी पूजामें अधिकृत नहीं किया गया। वेदानुसारिणी मनुस्मृतिमें भी इसी वेदवचनके अनुकूल कहा गया है—'न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः' (११।१३)।

(ग) 'स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्' (अथर्व. १६।७१।१) यहां पर वेदमें द्विजोंसे भिन्नको वेदका अधिकार नहीं दिया गया, यह गत-निबन्धमें स्पष्ट किया जा चुका है; तब मूर्तिपूजामें भी शूद्रका अधिकार शास्त्रीय नहीं; क्योंकि-प्रस्तरादिमूर्तिकी भी द्विजोंसे अधिकृत वेदमन्त्रोंसे प्रतिष्ठा करके उसे देवमन्दिरमें प्रतिष्ठापित किया जाता है; तब उसमें शूद्रवर्णका भी जब अधिकार नहीं; तब अवर्ण-अन्त्यजादिका अधिकार भला उसमें कैसे हो सकता है? (६) इसीका संकेत एक वेदमन्त्रमें अन्यत्र भी मिलता है—'ऋषीणां प्रस्तरोऽसि, नमोस्तु दैवाय प्रस्तराय' (अथर्व. १६।२।६) 'ऋषि'का अर्थ वेदमन्त्र अथवा उनके

प्रकटकर्ता द्विज ऋषिजन हैं, क्योंकि ऋषियोंमें कोई शूद्र-अन्त्यज ऋषि नहीं। (इसे तृतीय पुष्पमें देखिये)। उक्त मन्त्रमें बताया गया है कि-तू ऋषियोंका प्रस्तर है, अर्थात् वेदमन्त्रोंसे प्रतिष्ठापित पत्थर वा आसन है। उस दैव-देवसम्बन्धी प्रस्तर जो वेदमन्त्रोंसे प्रतिष्ठापित है उसको नमस्कार हो। इससे वेदमन्त्रोंसे न प्रतिष्ठि[illegible] हुए प्रस्तरको वैदिकोंके नमस्कारका अभाव सूचित होनेसे, वेद-मन्त्राधिकार-विरहित शूद्र-अन्त्यजादिके प्रस्तर (मूर्ति)में ऋषियोंकी सन्तान द्विजोंके नमस्कारका अधिकार भी सिद्ध न हुआ। इसी प्रकार द्विज-ऋषियोंसे प्रतिष्ठापित प्रस्तर (मूर्ति) में शूद्र-अन्त्यजादिका भी अधिकार सिद्ध न हुआ।

(७) इसीलिए 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (४।१।३३) इस पाणिनि-सूत्रके महाभाष्यमें द्विजोंके यज्ञसंयोग होनेसे उन्हींकी स्त्रीको मुख्यतासे 'पत्नी' कहा है, परन्तु शूद्रको यज्ञाधिकार न होनेसे उसकी स्त्रीको मुख्यतासे 'पत्नी' नहीं माना गया, किन्तु अङ्गविन्यासकी समानतासे 'पत्नीव पत्नी' इस उपचारमात्रसे उसे 'पत्नी' कहा जाता है। उपचारसे किया जानेवाला व्यवहार, मुख्य न होनेसे शास्त्रीय नहीं माना जाता। इसीलिए वादि-प्रतिवादिमान्य महाभाष्यमें यह तक कहा है कि जिस द्विजकी दस-पीढ़ियोंमें भी किसीको शूद्र स्त्री रही हो; तो 'शूद्रावेदी पतत्यत्रेः' (मनु. ३।१६) इस स्मरणसे वह द्विज भी सोमका उपयोग अर्थात् यज्ञ नहीं कर सकता।-एवं हि याज्ञिकाः पठन्ति-'दशपुरुषानूकं यस्य शूद्राः (शूद्रजातीयस्त्रियः) न विद्येरन्; स सोमं पिबेत्' (४।१।६३) 'सोमपान यहां यज्ञ[illegible]

अभिप्रायसे है। जैसे कि—'सोममर्हति यः' (४।४।१३७) इस पाणिनिके वैदिकसूत्रकी व्याख्यामें 'सोम्यो ब्राह्मणः' का 'यज्ञार्हः इत्यर्थः' यह अर्थ काशिका-कौमुदी आदिमें कहा गया है। सो शूद्राके निषेधका कारण महाभाष्यके प्रदीपमें प्रख्यात-विद्वान् श्रीकैयटने यह लिखा है—'शूद्राः-विवाहिताः, 'शूद्रावेदी पतत्यधः' इति वचनात् पतनहेतुः शूद्रा। एकस्मिँश्च पतिते सर्वेषां पात इत्येतद् 'दशपुरुषानूक' शब्देन उक्तं भवति'। तब यज्ञमें याज्ञिकोंका ही वचन माननीय होगा। इससे भी यज्ञमें शूद्रका अधिकार निषिद्ध सिद्ध हो रहा है। मूर्तिपूजा भी यज्ञ है—यह हम पूर्व बता ही चुके हैं।

(७) शूद्रको यज्ञका अधिकार न होनेसे ही युधिष्ठिरकी यज्ञ-वेदीके पास कोई भी शूद्र नहीं था, यह पञ्चमवेद-रूप-इतिहास (महाभारत-रामायण)में आया है—'न तस्याः (यज्ञ-वेद्याः) सन्निधौ शूद्रः कश्चिदासीद् न चाऽव्रती। अन्तर्वेद्यां तदा राजन्! युधिष्ठिर-निवेशने' (२।३६।६)। इसी प्रकार (वाल्मीकि-रामायण)में भी 'न शक्या यज्ञमध्यस्था वेदिः स्रुग्भाण्डमण्डिता। ····· 'चाण्डालेनावमर्दितुम्' (२।५६।१८) यहाँ यज्ञ-वेदिका चाण्डाल-स्पर्श निषिद्ध किया गया है। इस प्रकार यज्ञ-वेदि (देवमन्दिर)में स्थित मूर्तिमें भी शूद्रकी संनिधि एवं चाण्डालावमर्दन पञ्चमवेदसे भी निषिद्ध है।

(ख) इसलिए वेदमें भी कहा है—अन्यव्रतममानुषम् अयज्वानम्, अदेवयु'·· 'दस्युम्' (ऋ. ८।७०।११) 'अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुः, अन्य-व्रतो अमानुषः (कुत्सितमनुष्यः)। त्वं तस्य दासस्य' (ऋ. १०।२२।८) यहाँ पर वेदने दस्यु-दासको अमानुष-कुत्सित पुरुष, अयज्वा-यज्ञहीन, अदेवयुः—देवमन्दिरके प्रवेशमें अनधिकृत, बताया है। 'देवं—देव-सदनं—देवमन्दिरं यातीति देवयुः, न देवयुरिति अदेवयुः' सो देवसे देवमन्दिर इष्ट होता है; क्योंकि—वह देवायतन-देवसदन होता है—'तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यम्' यह एक न्याय है।

(८) देव-सदन (देवमन्दिर)का निर्माण वेदसम्मत है; इसमें कुछ वेदमन्त्र देखिये—'योनिष्टे इन्द्र! सदने अकारि' (सामवेद सं. ३।६।२, पू. ४।३।२) यहाँ पर इन्द्रकी सदन (मन्दिर)में योनि (स्थिति) कही गई है। इन्द्रसे विष्णु (श्रीकृष्ण) गृहीत हो जाते हैं। तभी भगवद्गीतामें कहा है—'देवानामस्मि वासवः (इन्द्रः)' (१०।२२)। वेदान्तदर्शन (१।४।२७ सूत्र)के शाङ्करभाष्यमें कहा है—'स्थानवचनोपि 'योनि' शब्दो दृष्टः—'योनिष्टे इन्द्र! निषदे अकारि तम् आ निषीद' (हे इन्द्र! तुम्हारे रहनेकेलिए हमने मन्दिर बनवाया है; उसमें आकर प्रतिष्ठित होवो) (ऋ. १।१०४।१)। वैदिक-निघण्टु (३।४) में भी 'योनि' शब्द गृह (मन्दिर) वाचक आया है। निरुक्त (२ अ. ६ पा. २ खं.)में भी 'योनि' का अर्थ 'स्थान' लिखा है। स्वा.द.के यजुर्वेदके संस्कृत-भाष्यमें भी 'योनिर्गृहम्' कहा है। उन्हींकी संस्कारविधि (१८० पृष्ठ) में 'योनेः'का अर्थ 'घरके' किया है। तब 'इन्द्र'—जिसका वादी 'इन्द्र' मित्र'के अनुसार 'परमात्मा' अर्थ करते हैं, तो उसका मन्दिरमें घर (स्थिति) होनेसे देवमन्दिर-निर्माणका सिद्धान्त वैदिक सिद्ध हुआ।

वेदमें 'इष्टापूर्ते सँ सृजेथाम्' (यजुः १५।५४) 'इष्टापूर्तेन'

(अथर्व. १८।३।५८)में पूर्तके निर्माणकी आज्ञा है। पूर्तका लक्षण यह है-'वापी-कूप-तडागादि-देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते' (अत्रिस्मृति ४५) 'देवतायतनानि च। स पूर्त-फलमश्नुते' (लिखित स्मृति ४) यहाँ पूर्तमें वापी, तालाब, बागीचा आदिके साथ देवमन्दिर भी गृहीत है। स्वा.द.जीने भी सं. वि.के गृहाश्रम (१८८ पृ.)में 'पूर्त'का 'जलाशय और बाटिका आदि बनवाना' अर्थ किया है, सो वहाँ 'आदि' शब्दसे उक्त स्मृति-पद्यके अनुसार 'देवमन्दिर' भी परिगणित होनेसे देवमन्दिर-निर्माण वैदिक सिद्ध हुआ।

(ख) इसी कारण सृष्टिकी आदिमें बनी हुई मनुस्मृतिमें भी लिखा है-'तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च। सीमासन्धिषु कार्याणि देवतायतनानि च' (८।२४८) यहाँ भी नगरकी सीमासन्धिमें पूर्तके लक्ष्यभूत देवतायतन (देवमन्दिर-देवमूर्ति)के स्थापनका भी आदेश दिया है कि-लोग देवदर्शन कर सकें। 'देवतागारभेद-कान्। हन्यादेवाऽविचारयन्' (९।२८०) 'प्रतिमानां च भेदकः। प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्यात् शतानि च' (९।२८५) यहाँ पर देवमन्दिर तथा देवप्रतिमाके तोड़नेवालेको दण्डविधान किया है। स्वा.द.जी भी मनुस्मृतिको (स.प्र.के ११वें समु.के आरम्भमें) सृष्टि-की आदिमें बना हुआ मानते हैं, श्रीयास्क भी निरुक्त (३।४।२) में। सो देवमन्दिर-निर्माण भी सृष्टिकी आदि वैदिककालसे ही सिद्ध हुआ। यज्ञशाला भी इसी देवमन्दिरका नाम होता है, क्योंकि-'यज्ञ'की मूल धातु यज्‌का अर्थ भी 'देवपूजा' ही है। तब

पूर्वोक्त-वेदमन्त्रके कथनसे दस्युके 'अयज्वा' एवम् 'अदेवयु' होनेसे शूद्रका यज्ञ एवं देवमन्दिरके प्रवेशमें अधिकार वेदानुसार भी निषिद्ध होगया। इसी वेदमन्त्रके अनुवादभूत अत्रि-संहिताके 'इष्टापूर्ते द्विजातीनां सामान्ये धर्मसाधने। अधिकारी भवेत् शूद्रः पूर्ते धर्मे न वैदिके' (४६) इस वचनके अनुसार वैदिक पूर्त-धर्म (देव-मन्दिरप्रवेश एवं देवपूजा)में द्विज (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य) ही अधिकारी सिद्ध हुए, शूद्र-अन्त्यज उसमें अनधिकारी ही सिद्ध हुए।

(६) 'विजानीहि आर्यान् ये च दस्यवः' (ऋ. १।५१।८) 'यो नो दास आर्यो वा' (ऋ. १०।३८।३) इन मन्त्रोंसे आर्योंसे भिन्न दस्यु वा दास कहे जाते हैं। सो आर्योंमें त्रैवर्णिक गृहीत होते हैं, शूद्रादि नहीं। इसी कारण 'उत शूद्रे उत आर्ये' (अथर्व. १९।६२।१) इस मन्त्रमें शूद्रको आर्यसे भिन्न माना गया है। 'मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः। म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः' (१०।४५) इस मनुवचनमें चाण्डाल आदि वर्ण-बाह्य (प्रतिलोमज) जातियोंको दस्यु कहा गया है। आर्यसमाजके विद्वान् श्रीरघुनन्दन-शर्मा अपनी विशाल-पुस्तक वैदिक-सम्पत्तिके ४१८ पृष्ठमें इसका अर्थ करते हैं—'वर्णाश्रमहीन-जातियां चाहे आर्यभाषा बोलनेवाली हों; चाहे म्लेच्छभाषा, सब दस्यु हैं। स्वा.दयानन्दजीने अपने प्रसिद्ध-ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाशमें लिखा है—आर्योंसे भिन्न मनुष्योंका नाम दस्यु है' (११ समु. १७२ पृष्ठ)। पूर्वोक्त मन्त्रोंमें 'दस्यु'को 'अदेवयु' कहा है। ऋ.सं.के १।३३।४-५ मन्त्रोंमें भी दस्युको

अयज्वा और अव्रत कहा है। 'चाण्डालाद्यैश्च दस्युभिः' (५।१३१) इस मनुवचनमें चाण्डालादि-अन्त्यजोंको स्पष्टरूपसे 'दस्यु' कहा है। ऋ.सं. (८।६७।३) मन्त्रमें भी 'अदेवयु' का वर्णन है।

फलतः इससे अन्त्यजादिका देवमन्दिरगमन तथा देवपूजन यह वेदानुसार अनधिकार-चेष्टा एवं वैदिक-कानूनसे निषिद्ध सिद्ध हुए। केवल निषिद्ध ही नहीं; बल्कि उनके अनधिकृत कर्मको करने से प्रजामें भी हानि होती है; अतः उसमें दण्डविधान करना ही शास्त्रीय है, न कि तदर्थ प्रोत्साहन देना। इसीलिए मनुस्मृतिमें कहा है—'वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत्। तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत्' (८।४१८) यहां पर शूद्र यदि अपने कर्मसे च्युत होकर अन्योंके कर्म करने लग जाय, तो जगत्की-प्रजाकी हानि कही है। इसीके उदाहरणमें शूद्रके रामायणकालमें अपनी अनधिकृत वैदिक तपस्या कर रहे होनेपर प्रजामें हानि हो रही थी। ब्राह्मणकुमार पिताके बैठे ही मरने लग गये थे। राजाके दण्डविधान न होनेसे ही अनधिकारीको अपने अनधिकृत-कर्मके करनेमें प्रोत्साहन मिलता है, अतः मनुस्मृतिके अनुसार चलने वाले राजा रामचन्द्रने (इस पर वाल्मीकि-रामायण (४।१८।३०) द्रष्टव्य है) अपने राज्यकालमें उस शम्बूक-शूद्रको 'नादण्ड्यो नाम राज्ञोस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति' (मनु. ८।३३५) तान् सर्वान् घातयेद् राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः' (६।२२४) इस वचनके अनुसार दण्ड-विधान किया। दण्ड देनेसे गड़बड़ी हट गई। ब्राह्मण-कुमार जी उठा। चाहे वह दण्ड बहुत कड़ा था, पर

मर्यादारक्षक था। ब्लैकमार्कीटिंग करनेवालेको कड़ा दण्ड फाँसी दे देनेपर आगे ब्लैकमार्कीट रुक जाती है। नहीं तो वह सर्व-साधारण हो जानेसे प्रजाको हानि देनेवाली सिद्ध हो जाती है—यह प्रत्यक्ष है।

(११) जोकि—'गौतम-धर्मसूत्र'में कहा गया है—'अथ हाऽस्य वेदमुपशृण्वतः त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रपूरणम्, उदाहरणे जिह्वाच्छेदः, धारणे शरीरभेदः' (२।३।४) सो यह वचन वेदमें शूद्रानधिकारका अर्थवाद है। अर्थवादमें यथाश्रुत अर्थ नहीं हुआ करता, किन्तु उसका तात्पर्य देखा जाता है। इसका 'शूद्र वेदको न सुने, न स्वयं उच्चारण करे, न याद करे' इतने ही अर्थमें तात्पर्य है। वेदके अशुद्ध-उच्चारणमें वृत्रासुरकाण्ड सुप्रसिद्ध है। शूद्र भी अनुपवीती तथा विद्या-रहित होनेसे वेदको सुनकर कहीं उसके उच्चारणका प्रयत्न वा अनुकरण न कर ले, जिससे स्वयं हानि उठा बैठे, वा किसीकी हानि कर बैठे, यही तात्पर्य वेदश्रवण-उच्चारण-धारणमें प्रबल निषेधका है। शासनको कई अनिष्ट-विभीषिकाएँ भी रखनी पड़ती हैं, जिससे उच्छृङ्खलता न हो जाए, उसमें शासनका दूसरे-केलिए हित निहित होता है; पर आपाततोदर्शीको 'जो ब्लैक-मार्कीटिंग करेगा, उसे फाँसी मिलेगी' ऐसा कड़ा दण्डविधान अखरता है, वह उसे अत्याचार मानता है, पर सर्वतोमुख-दृष्टि वालेको इसमें परिणाम-हितावहता मालूम पड़ती है। वैसे कठोर दण्डविधानसे वैसी परम्परा नहीं बन पाती। वैसा दण्ड देना भी एक-आधको ही पड़ता है, सभीको नहीं। पर विधानमें आ जानेसे

वैसी परम्परा नहीं बन पाती। रामराज्यसे पूर्व ही यह नियम परम्परासे चला आ रहा था—'शूद्राः स्वकर्मनिरतास्त्रीन् वर्णान् उपचारिणः' (वाल्मी. १।६।६) अर्थात्-शूद्र तीनों वर्णोंकी सेवा करते थे, पर एक शूद्रने उससे विपरीत तपस्या शुरू कर दी। खराब-फोड़ेके शुरूसे चीरनेसे ही आगे वह हानिप्रद सिद्ध नहीं होता; तब एक शूद्रके दण्डविधानसे शेष-इतिहासमें फिर इस काण्डकी आवृत्ति नहीं हुई। निम्न-लोग कड़े दण्डके उल्लेखसे फिर कोई अव्यवस्था नहीं कर पाते। इसीलिए मनुजीने भी कहा है-'वैश्य-शूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत्। तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत्' (८।४१८) (वैश्य-शूद्र द्वारा अपने कर्म प्रयत्नपूर्वक कराये जाने चाहियें। यदि वे अपने कर्मसे गिरें; तो जगत्में हलचल मची)। वैश्यकेलिए भी इसी कारण प्रेरणा है कि-वह सबके निर्वाहक धनका संग्राहक है। उस कार्यको यदि वह छोड़ दे; तो शेष-वर्णोंके निर्वाहमें रोड़ा पड़े। जब उच्च वर्णवाले देखते हैं कि-यह निम्न-जातिका पुरुष हमारे अधिकृत-कर्मको कर रहा है, तब वे उस अपने कर्मको छोड़ देते हैं। वे भी उनका कर्म शिल्पादि अथवा धन-संग्रह करने लग जाते हैं। इस प्रकार देवताओंका प्रकोप हो जाता है कि-निम्न वर्ण उच्च वर्णके यज्ञादि करने लग जाएँ; क्योंकि-निम्न-वर्णोंके यज्ञ देवताओंकी तृप्ति करनेवाले न होनेसे देवताओंके निस्तेज करनेवाले सिद्ध होते हैं। भविष्य-पुराणका इस विषयमें 'इन्द्र'से कहा हुआ पद्य पहले उद्धृत किया जा चुका है। उसमें इन्द्रने शूद्रोंके यज्ञोंसे अपनी तृप्ति न होना

और इसी कारण अपना निस्तेज हो जाना कहा है (भविष्य. प्रति. ४र्थ खण्ड २०।७५-७७) इसका मूल मनुवचन भी हम बता चुके हैं कि-जिसकी स्त्री शूद्रा हो; देवता उसका भी भोजन नहीं करते- उसे देवलोक नहीं मिलता (मनु. ३।१८) तब साक्षात् शूद्रका तो क्या कहना? देवता उसकी पूजा स्वीकार नहीं करते। इससे इन्द्रके अनुयायी देवता भी प्रकुपित होकर अतिवृष्टि आदि करते हैं, उसीसे बाढ़ें आती हैं, अन्नका अकाल पड़ता है, वा मंहगाई पड़ती है। प्रकृतिका सन्तुलन बिगड़नेसे प्रजाकी बड़ी हानि होती है।

(१२) फलतः शास्त्रोंमें शूद्र-अन्त्यजोंका जो वेदमन्त्रप्रतिष्ठापित मन्दिरमें जाना निषिद्ध किया गया है; उसमें यही रहस्य है कि-इससे देवशक्ति निम्नके उपहारको स्वीकार न करनेसे निस्तेज हो जाती है और दैत्यशक्ति तेजस्विनी हो जाती है, जो आज भी प्रत्यक्ष है। हाँ, जो मूर्तियाँ वेदमन्त्रप्रतिष्ठापित न होकर पुराण-मन्त्रोंसे प्रतिष्ठापित होती हैं; वा बिना मन्त्रके स्वयं ही स्थापित होती हैं; अथवा कई विशिष्टज्योतिर्लिङ्ग होते हैं, वहाँ शूद्रादिका निषेध नहीं हुआ करता। पुराणोंमें जोकि शूद्रोंका क्वाचित्क देवपूजन दीखता है, वहाँ यही रहस्य है। जैसे-'येऽर्चयन्ति शिवं नित्यं लिङ्गरूपिणमेव च। स्त्रियो वाऽप्यथवा शूद्राः श्वपचास्त्वन्त्यवासिनः। ते शिवं प्राप्नुयुरन्ते सर्वदुःखोपनाशनम्' (स्कन्दपुराण) 'ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा प्रतिलोमजः। पूजयेत् सततं लिङ्गं तत्तन्मन्त्रेण सादरम्' (विश्वेश्वरसंहिता) यह वचन शूद्रादिके स्वस्थापित पार्थिवादि-लिङ्गकी नाममन्त्र वा नमस्कारमन्त्रसे पूजा बतानेवाले

हैं; वेदमन्त्रप्रतिष्ठापित-मूर्तिकी नहीं; क्योंकि—वहाँ 'यदा प्रतिष्ठितं लिङ्गं मन्त्रविद्भिर्यथाविधि। ततः प्रभृति शूद्रश्च योषिद् वापि न संस्पृशेत्' एतदादिक वचनोंसे पूजार्थ स्पर्श उनकेलिए निषिद्ध है। और उक्त पौराणिक-मन्त्रोंमें भी संकीर्ण अर्थात् असच्छूद्र-अन्त्यजादिका अधिकार नहीं माना गया है; जैसेकि—भविष्यपुराण-में भी कहा गया है—'ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः, शूद्रा ये शुचयोऽमलाः। तेषां [पौराणिका] मन्त्राः प्रदेया वै न तु संकीर्णधर्मिणाम् (अवर्णा-नामन्त्यजानाम्)' (उत्तरपर्व १३।६२)। वे पौराणिक मन्त्र उसी स्थानमें लिखे हुए हैं।

हाँ, कई ज्योतिर्लिङ्ग होते हैं; वे बिना भी वेदमन्त्रोंकी प्रतिष्ठाके प्रतिष्ठित होते हैं; उनमें शूद्रादिका भी अधिकार निषिद्ध नहीं होता; पर अन्त्यजादिकी शास्त्रप्रोक्त-अस्पृश्यतावश उनका गर्भगृहमें प्रवेश नहीं हो सकता। उनकेलिए एक छिद्र ऐसा रख दिया जाता है, जिससे वे बाहरसे दर्शन कर लें; और कहीं वैसी अप्रतिष्ठित मूर्ति, मन्दिरके शिखर पर रख दी जाती है कि—अन्त्यजादि उनका दर्शन कर लें। यदि राजकीय-संविधान द्वारा सभीको अपने-अपने धर्मके अनुसरणमें स्वातन्त्र्य है; तो हम कह सकते हैं कि—वेदादि-शास्त्र अन्त्यज आदिकी अस्पृश्यता भी मानते हैं; तब उनका गर्भगृहमें प्रवेशका अधिकार कैसे हो सकता है? हम इनकी अस्पृश्यताके विषयमें भी वेदके कुछ प्रमाण देते हैं—

(१३) 'यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुः, इदं वस्तत् शुन्धामि' (यजुर्वेद-सं० १।१३) यहाँ पर तक्षा (बढ़ई)से बनाये हुए यज्ञिय काष्ठके

पात्रोंको भी वेदने अशुद्ध मानकर उन पात्रोंकी जलसे शुद्धि बतलाई है। कोई हमारा किया हुआ अर्थ न मानें, तो वे वेदकी मीमांसा करनेवाले दर्शनकी साक्षी देखें। (ख) मीमांसादर्शन (३।३।१४) में उन बढ़ईसे स्पर्श किये हुए पात्रोंकी इस मन्त्रसे जल-द्वारा शुद्धि सूचित की गई है। अतः इस मन्त्रका अन्य अर्थ नहीं किया जा सकता। (ग) अब इस मन्त्र पर भाष्यकार-महीधरा-चार्यकी व्याख्या भी देखें। यदि उसे न मानें; तो उवटाचार्यका भाष्य देखें। यदि इन दोनोंकी व्याख्या न मानी जावे; तो उसमें अन्य साक्षी देखें। (घ) शुक्लयजुः-काण्वसंहितामें श्रीसायणाचार्यने भी इस मन्त्रकी ऐसी ही व्याख्या की है, जैसेकि—'[हे पात्राणि!] वो-युष्माकं सम्बन्धि यद् अङ्गम् अशुद्धो—नीचजातिस्तक्षादिः पराजघान-पराहतं कृतवान्; छेदनतक्षणादिकाले स्वकीयहस्तस्पर्शरूपम् अशुचित्वं कृतवान्, तदेतद् वो—युष्माकमङ्गं, प्रोक्षामि—प्रोक्षणेन शुद्धं करोमि' क्योंकि—मनुस्मृतिमें तृण-काष्ठ आदि की शुद्धि प्रोक्षणसे मानी गई है (५।१२२) यज्ञ-पात्रोंकी शुद्धि प्रक्षालन (५।११६) से मानी गई है। (ङ) कदाचित् कोई श्रीसायणकी व्याख्या भी न माने, तो यहाँ मन्त्रभागके परमात्मकर्तृक-भाष्य अतएव वेद माने जाते हुए ब्राह्मणभागकी भी उक्त मन्त्रकी व्याख्या हम दिखलाते हैं। देखिये शतपथब्राह्मण—

'अथ यज्ञपात्राणि प्रोक्षति''तद् यदेव एषामत्र अशुद्धः तक्षा वा, अन्यो वा अमेध्यः कश्चित् पराहन्ति; तदेव एषाम् [पात्राणाम्] अद्भिर्मेध्यं करोति। तस्माद् आह—'यद्वोऽशुद्धाः, इति' (१।१।३।१२)।

यहाँ श्रीसायणाचार्यने भाष्य किया है-'तक्षा-वर्द्धकिः, अन्यस्तद्-व्यतिरिक्तो वृषलादिः [शूद्रादिः], स सर्वोपि अशुद्धत्वाद् अमेध्यः। तत्संस्पर्शकृतं यत्-तत् एषां पात्राणां दोषजातम् अनेन प्रोक्षणेन एषां निवर्तयन्'। कितनी स्पष्टता है? अमेध्यता शूद्रकी पादोत्पत्तिके कारण है। जैसाकि-मनुजीने कहा है-'ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः। तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयम्भुवा' (१।९२) 'ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः। यान्यधस्ताद् अमेध्यानि' (मनु॰ ५।१३२)। 'नाभिसे ऊपरकी इन्द्रियाँ मेध्य (शुद्ध) हैं; और नीचेकी अमेध्य'।

(च) इस प्रकार ब्राह्मणभागात्मक-वेदके वचनसे शूद्रकी अमेध्यता सिद्ध होगई। फिर भी कोई स्वेच्छाधर्मी शतपथब्राह्मण-को वेद न माने, वा वेद-इतना मान न दे; वह यह कहे कि-शतपथने तक्षाको निर्मूलतासे ही अशुद्ध (अस्पृश्य) माना है; इसमें तो मन्त्रभागात्मक-वेदका प्रमाण चाहिये; तब उनके परितोषार्थ हम मन्त्रभागका भी प्रमाण देते हैं; देखिये-'यत् त्वा शिकः—परावधीत् तक्षा हस्तेन वास्या। आपस्त्वा तस्माज्जीवलाः पुनन्तु शुचयः शुचिम्' (अथर्व॰ १०।६।३) यहाँ खदिरमणिकी तक्षासे छीलनेके समय हाथसे छूनेमात्रसे अशुद्धता बताई गई है; और जलसे उसे शुद्ध करनेका आदेश दिया है। (छ) यहाँपर आर्यसमाजी-विद्वान् श्रीराजाराम शास्त्रीका भाष्य यह है-'चतुर बनानेवाले तरखानने जो तुझे हाथसे वसूलेसे पराहत किया है, उस (दोष)से जीवन देनेवाले चमकते हुए जल तुझे चमकता हुआ बनाकर पवित्र

करें'। अब देखिये यहाँ वादीका बहाना नहीं बन सकता कि-यह मध्यकालकी विचारधारा है। इसलिए वादियोंके तथाकथित वैदिक स्वामी दयानन्दजीने भी 'मा स्म कमण्डलूं शूद्राय दद्यात्' यह वैदिक वचन अपने स्त्रैणताद्धित (४।१।७१) में दिया है, जिसमें शूद्रको अपना पात्र देनेका निषेध किया है; और अपनी 'आख्यातिक'के लकारार्थ-प्रकरणमें शूद्रको यज्ञका निषेध किया है।

तक्षाको सत्-शूद्रोंमें गिना गया है-(तक्षायस्कारम्, 'शूद्राणाम-निरवसितानाम्' (पा॰ २।४।१०), फिर भी उसके स्पर्शमात्रसे यज्ञिय-पात्रोंको अशुद्ध माना गया है; उस अशुद्धिके दूरीकरणार्थ जलसे प्रोक्षण आदिष्ट है; तो वेदाज्ञानुसार चाण्डाल आदि असत् शूद्रको (चाण्डालमृतपाः) भला यज्ञरूप-मूर्तिपूजा-स्पर्शादिमें अधिकार वेद-सम्मत कैसे हो सकता है?

(१४) वेदका एक अन्य मन्त्र देकर फिर हम आगे चलेंगे। 'यद्वा दासी आर्द्रहस्ता समङ्क्त उलूखलं मुसलं शुम्भत आपः' (अथर्ववेदसं॰ १२।३।१३) यहाँपर गीले हाथ वाली दासी (शूद्रा)से छुए हुए यज्ञोपयोगी ऊखल-मूसलकी शुद्ध्यर्थ जलोंसे प्रार्थना की गई है कि-'आर्द्रहस्ता दासी-गीले हाथवाली दासी (शूद्रा)ने उलूखलं-मुसलं-ऊखल-मूसलको, समङ्क्त-छू लिया है, हे आपः ऐ जलो! तुम उस ऊखल-मूसलको शुम्भत-शुद्ध कर दो'। इसका अर्थ आर्यसमाजी-विद्वान् श्रीराजाराम-शास्त्रीने यह किया है-'जब कालापक्षी काक इधर आकर चिपटे हुए अन्नको चुराता हुआ ऊखलके सिर पर आ बैठा, यद्वा गीले हाथवाली दासीने लेप दिया

तुम हे जलो ! ऊखल और मूसलको शुद्ध करो' यह सम्पूर्ण मन्त्रका अर्थ है। 'यो नो दास आर्यो वा' (ऋ. १०।३८।३) 'उत शूद्रे उत आर्ये' (अथर्व. १६।६२।१) इत्यादि बहुत प्रमाणोंसे 'दास' नाम 'शूद्र'का होता है। इसलिए शूद्रके नामके साथ 'दास' शब्द भी रखना पड़ता है, और वह आर्य-जाति भी नहीं होता। तब 'दास' जाति होनेसे उसे 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' (पा. ४।१।६३) इस सूत्रसे ङीष् होनेसे 'वृषली' की तरह 'दासी' कहा गया है।

जब इस प्रकार शूद्रको भी यज्ञके पात्र छूनेका वा उसके उपयोगका निषेध है; तब अन्त्यजादिका देवमन्दिरगमनरूप यज्ञमें तथा यज्ञके पात्र देवमूर्तिमें अधिकार भला कैसे हो सकता है? तब यदि लीडर लोग राजपुरुषोंके परिचयका लाभ उठाकर हिन्दुओंके परममान्य-ग्रन्थ वेदसे भी विरुद्ध कानून बनवाते हैं; तो वह उनका हिन्दुजातिके आधार पर कठोर-कुठारका आघात है। तब राजकीय-संविधानमें प्रत्येकके धर्ममें स्वातन्त्र्यका क्या अर्थ रह जाता है? केवल दिखलावा! यह एक जातिको प्रसन्न करना और दूसरीको पाँव-तले दबाना है; इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। यदि कोई विदेशी-जाति हमारे वैदिक-नियमोंकी अनभिज्ञतावश ऐसा करती, तो वह क्षम्य हो सकता था; पर हमारे ही भारतीय लीडर यदि ऐसा करते हैं, तो भारी भूल करते हैं। 'कं यामः कं प्रति ब्रूमो गरदायां स्वमातरि' यदि अपनी माँ ही अपने पालनीय लड़केको विष दे रही हो; तो किसे कहें, और किसके पास जावें?

फलतः अन्त्यजादिका देवमन्दिरप्रवेशमें अधिकार नहीं। वे शास्त्रानुसार मन्दिर-शिखरपर रखी देवमूर्तिके दर्शन करके ही पुण्य प्राप्त कर सकते हैं। हमारे हिन्दुधर्ममें धनीको जो लाख रुपये दान देनेसे फल कहा है, वही निर्धनको एक कौड़ी देनेसे भी कहा है—'ईश्वरा भूरिदानेन यल्लभन्ते फलं किल। दरिद्रस्तच्च काकिण्या प्राप्नुयादिति नः श्रुतिः' (पञ्चतन्त्र) सो द्विजोंको गर्भगृहमें वेदमन्त्रप्रतिष्ठापित-मूर्तिको नमस्कार करनेसे जो फल मिलता है, वही द्विजेतरोंको बाहर उसी मन्दिरके दर्शनसे वा मन्दिरपर रखी मूर्तिके दर्शनसे भी मिल जाता है—'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्'। यही हिन्दुधर्मकी विशेषता है—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' (गीता २।४०)। इस धर्मका थोड़ा अंश अनुसृत करनेसे भी फल मिलता है। यहां सभीकेलिए एक ही उपासना नहीं। सबको समान अधिकार नहीं दिये जाते, पर फल सभीको समान दिलवाया जाता है। बच्चेका हाथ-पांव हिलाते रहनेसे ही व्यायाम हो जाता है; वृद्धका कुछ सैर करनेसे ही व्यायाम हो जाता है; पर युवकको डंड पेलने पड़ते हैं—उसीसे उसका व्यायाम होता है। इन कर्मोंमें अन्त्यज शिशु है, शूद्र अबोध-बालक है; क्षत्रिय-वैश्य वृद्ध हैं, ब्राह्मण युवक है।

(ख) चाण्डालादि तो अन्त्यज हैं, उनको वैदिकमूर्तिपूजाका अधिकार न मिले; पर परमहंसको भी वेदप्रतिष्ठापित-मूर्तिका नमन-रूप यज्ञ तथा अन्य यज्ञ भी आदिष्ट नहीं। अन्त्यजकी भांति अनधिकृत होनेसे परमहंसको अनधिकार नहीं, किन्तु यज्ञोपवीती

से उच्चाधिकारी होनेसे उस कर्मकाण्ड-उपासनाकाण्डीय वेदमन्त्रोंसे प्रतिष्ठापित मूर्तिको नमन एवं यजन उसे निषिद्ध होता है। इस कारण परमहंस दण्डी-स्वामी केवल अपना दण्डमात्र मूर्तिसे छुला लेते हैं, उस मूर्तिको नमस्कार नहीं करते, हां, वे अपनी मूर्ति अलग रख सकते हैं। परमहंसको हिन्दुधर्ममें बड़ा माना जाता है, शिखासूत्र उसके भी नहीं होते, वैदिक-यज्ञ भी नहीं होते; अनधिकारवश नहीं, किन्तु उच्चाधिकारवश। जब शास्त्र उच्चाधिकारी होनेसे भी उसे मूर्ति-नमन एवं यज्ञका अधिकार नहीं देता; तब वैध शिखा-सूत्रके अनधिकारी अन्त्यजादिको भला उसमें अधिकार कैसे हो सकता है?

(ग) इस बातको कभी मस्तिष्क द्वारा सोचा ही नहीं जाता कि एक मूर्ति दूकानपर पड़ी होती है; उसका दर्शन करनेकेलिए अन्त्यजोंको क्यों आर्डर नहीं दिया जाता? यदि कहा जाय कि–उसके दर्शनमें पुण्य नहीं; तो हम पूछेंगे कि–यह कहां लिखा है? यदि कहा जावे कि–देवपूजाविधिपुस्तकोंमें, तो फिर उन्हीं देव-पूजाविधायक-पुस्तकोंमें अन्त्यजादिको गर्भगृहमें प्रवेशका अधिकार नहीं दिया गया; तो उस समय उनकी बात क्यों नहीं मानी जाती? पहली ही बात उनकी कि-'गर्भगृहमें मूर्तिके दर्शनसे पुण्य होता है'–कैसे मानी जाती है? इतनी बड़ी विशेषरूपवाली बिल्डिङ्ग (गर्भगृह) बनवाकर खर्च करके जो उसमें मूर्तिको वेदमन्त्रों द्वारा प्रतिष्ठापित किया जाता है, उसमें भी यही रहस्य निहित होता है कि–उसमें प्रतिष्ठापित-देवकी शक्ति स्थिर रहती है, उसमें प्रवेशका

पासपोर्ट वा प्रमाणपत्र स्वाधिकृत उपनयनसूत्र होता है, लेकिन जो उपनयनकी परिधिमें नहीं; द्विज नहीं, एकज है, उसमें उसका प्रवेशाधिकार वर्जित है; पासपोर्टसे हीनको नियत स्थानमें आने नहीं दिया जाता। नकली-पासपोर्ट बनानेवालेको गिरफ्तार कर दण्डित किया जाता है। नहीं तो बाहर भी प्रतिमा रखी जा सकती थी; उसका अधिकारी-अनधिकारी सभी दर्शन कर लेते। फिर विशेष-प्रकारकी देवमन्दिरकी बिल्डिङ्गपर भारी खर्च करनेकी क्या आवश्यकता थी? और उसकेलिए रुपया शूद्र-अन्त्यजादिसे लिया भी नहीं जाता–'न यज्ञार्थं धनं शूद्राद् विप्रो भिक्षेत कर्हिचित्। यजमानो हि भिक्षित्वा चाण्डालः प्रेत्य जायते' (११।२४) इस प्रकार यज्ञ (अग्निहोत्र एवं देवमूर्ति-प्रतिष्ठापन)केलिए शूद्रसे धन मांगनेका परमात्माके अवतार (मनुस्मृति १२।१२३) मनुजीने निषेध किया है; और शूद्रसे धन मांगने पर चाण्डालता कही है, तब शूद्र और चाण्डालका दोनों प्रकारके यज्ञोंमें वादिप्रतिवादिमान्य मनुजीके अनुसार अधिकार भी कैसे होगा? तब द्विजोंके धनसे खड़ी की गई असार्वजनिक-बिल्डिङ्ग (देवमन्दिर)के अन्दर अद्विजोंका कोई अधिकार नहीं रह जाता। यदि कहा जावे कि–वे (शूद्रादि) मन्दिर बनाते हैं; तो इस पर जानना चाहिये कि–उनको उनकी मेहनतकी रकम दे दी जाती है, फिर मन्दिरकी बाहरी तथा मन्त्रजपनादि द्वारा भीतरी शुद्धि करके उसके बाद जाकर वेदमन्त्रोंसे मूर्ति प्रतिष्ठापित की जाती है। तब उसमें उन्हीं मन्त्रोंके अधिकारियोंका अधिकार रहता है; द्विज-भिन्नोंका नहीं।

(घ) यदि इसमें अद्विज आनेकी लालसा रखते हैं; तो इससे मन्दिरमें चढ़ावा और भी अधिक चढ़ सकता है। मन्दिरकी भारी आय बढ़ सकती है, पर हिन्दु-धर्ममें इन बातोंका कुछ भी मूल्य नहीं। वह (धर्म) अपने ऋषि-मुनियोंके जो अतीन्द्रियदर्शी एवं सूक्ष्मदर्शी थे, सिद्धान्तका संरक्षण करना चाहता है। अन्यथा उस प्रतिमामें देवत्वशक्ति नहीं रहती, ऐसा हिन्दुधर्मका अपने प्रमाणित पुस्तकोंके अनुसार विश्वास है। किसी धर्मके माननेवालोंके विश्वासको बलात् नष्ट करना-यह उस धर्म पर अत्याचार है, धर्मनिरपेक्षता नहीं; किन्तु दूसरेका धर्म भ्रष्ट करना है। यह तो एक ढंगसे मूर्ति-पूजाके सिद्धान्तका अन्त करना है। ईसाई हो, मुसलमान हो, बौद्ध हो, जैनी हो, सिक्ख हो, आर्यसमाजी हो, उनके धार्मिक असूलोंका आदर किया जाता है; पर सनातन-हिन्दुधर्मके सिद्धान्तों का बलात् भङ्ग किया जाता है; क्या यही धर्मनिरपेक्षता है? फिर गर्भगृह-स्थित मूर्ति तथा बिकनेकेलिए दूकानपर रखी हुई मूर्तिका अन्तर क्या रह जावेगा-यह क्यों नहीं सोचा जाता? जो कार्य विदेशी-शासन भी करनेका साहस न कर सका, उसे यदि स्वदेशी-शासनके बलसे उस सिद्धान्तमें अविश्वस्त सुधारक-जनता करती है, तो यह 'घरका भेदी लंका ढाहे' चरितार्थ होगा, यह भारतको 'यूरोप' बनाना होगा। पूर्वकी ओरसे मुख मोड़कर पश्चिमकी ओर मुख करना होगा। उदयको छोड़कर अस्तको अपनाना होगा, देश-शान्तिको छोड़कर उत्पातोंका बुलाना होगा। जीवमात्रहितैषी सनातन-हिन्दुधर्म इसमें प्रजाकी हानि देखकर इस सिद्धान्तभङ्गको

सहन नहीं करना चाहता। हां, वे अन्त्यजादि स्वयं अपनी देवमूर्ति वा देवमन्दिर बनवा सकते हैं, उसमें वेदमन्त्रोंकी प्रतिष्ठा न हो; तब उन्हें देवपूजाका कोई निषेध नहीं। पर वेदमन्त्रसंस्कृत देव-मूर्तियोंके मन्दिरमें भीतर जानेका तो उनको निषेध शास्त्रीय ही है। जो आर्यसमाजादि यह बात नहीं मानते, उन्हें उचित है कि-वे अपने मन्दिरोंमें देवमूर्ति प्रतिष्ठापित करके उसके द्वारा अपना भी उद्धार करें, और अन्त्यजादिका भी। उन्हें स्वतन्त्रता है, पर दूसरोंके धार्मिक-विश्वासका अपमान न करें।

(१५) हम इस विषयमें पहले वेदमन्त्रोंकी सांकेतिक-सूत्ररूप सम्मति तो दिखला ही चुके हैं; अब हम इस विषयमें देवपूजाविधि-पुस्तकोंके कुछ अंश भी उद्धृत करते हैं। सो यदि पूजामें सचमुच ही इच्छा हो, और उसमें श्रद्धा भी हो, तो पूजाविधायक-निबन्ध-ग्रन्थोंकी बात माननी ही होगी। 'दर्शनं गेह (मन्दिर) चूडाया दर्शनं गोपुरस्य च। अन्त्यजादीनां तथाऽन्त्यानां विज्ञेयं देवदर्शनम्' शैव-सिद्धान्तरहस्यके इस प्रमाणमें अन्त्यजोंका मन्दिरके शिखरका दर्शन ही कर लेना देवदर्शन माना गया है। यदि यह न माना जावे; तो मन्दिरके अन्दर घुसकर ही पुण्य होता है-इस बातमें भी माननीयता नहीं रहती। यदि यह प्रमाण है, तो पूर्व-प्रमाण भी मानना पड़ेगा; अर्धजरतीय-न्याय ठीक नहीं।

(ख) न शक्या यज्ञमध्यस्था वेदिः स्रुग्भाण्डमण्डिता। द्विजाति-मन्त्र-सम्पूता चाण्डालेनावमर्दितुम्' (३।५६।१८) वाल्मीकिरामायणके इस प्रमाणमें द्विजातिमन्त्रसंपूत (संस्कृत) यज्ञपात्रमण्डित, यज्ञवेदिमें

चाण्डालके जानेका निषेध बताकर द्विजातिमन्त्र-संस्कृत देवमूर्ति-मण्डित, यजन (देवपूजा) स्थान देवमन्दिरमें अन्त्यजादिका निषेध सूचित किया गया है। मूर्तिपूजा भी यज्ञ है, अतः इसमें यज्ञिय तीन वर्णोंका ही प्रवेश शास्त्रीय है, यह हम पहले बता आये हैं। रामायणका यह प्रमाण इस विषयमें बहुत बलवान् है। रामायण वादि-प्रतिवादिसम्मत होनेसे सर्वमान्य है।

(ग) 'नमेद् यः शूद्रसंस्पृष्टं लिङ्गं वा हरिमेव च। स सर्व-यातनाभोगी यावद् आचन्द्रतारकम्' निर्णयसिन्धुके प्रतिष्ठा-प्रकरणमें उद्धृत नारदपुराणके इस वचनमें शूद्र-स्पष्ट मूर्तिकी अपूज्यता कही है। बृहन्नारदीयमें भी स्पष्ट कहा है—'स्त्रीणाम-नुपनीतानां शूद्राणां च जनेश्वर! स्थापने नाधिकारोस्ति विष्णोर्वा शङ्करस्य वा। यः शूद्रसंस्कृतं लिङ्गं विष्णुं वापि नमेन्नरः। इहै-वात्यन्त-दुःखानि (अतिवृष्ट्यनावृष्ट्यादीनि) पश्यत्यामुष्मिके किमु'। शूद्रो वाऽनुपनीतो वा स्त्रियो वा पतितोपि वा। केशवं वा शिवं वापि दृष्ट्वा नरकमश्नुते'। तब उनको नरकके मार्गमें क्यों पटका जाता है? भृगुसंहितामें लिखा है—'चाण्डालैरन्त्यजैश्चैव तथाऽन्यैः प्रतिलोमजैः। म्लेच्छैश्च नीचचाण्डालैर्गुरुनिन्दादि-दूषितैः। एवमादिभिः संस्पृष्टे देवागारे विशेषतः। स्पृष्टे प्रवेशने बाधा पूजाकाले च दर्शने' (धर्मप्रदीपके १४१ पृष्ठमें उद्धृत) यहाँ भी वही बात कही गई है। इसलिए बोधायनीयगृह्य-शेषसूत्रमें भी इस अवसर पर मूर्तिका पुनः-प्रतिष्ठापन (मन्त्र-संस्कार) कहा गया है—'अस्पृश्य-स्पर्शे शूद्र-रजस्वला-पतिताद्युपप्लुतत्वे वा देवार्चायाः पुनः प्रतिष्ठापनम्' (२।१६।१-६)।

(घ) 'खण्डिते स्फुटिते दग्धे भ्रष्टे स्थानविवर्जिते। यागहीने पशुस्पृष्टे पतिते युद्धभूमिषु। अन्यमन्त्रार्चिते चैव पतितस्पर्शदूषिते। दशस्वेतेषु नो चक्रुः सन्निधानं दिवौकसः' (स्मृतितत्त्वके ५४२ पृष्ठमें उद्धृत) इस अग्निपुराणके वचनसे पतित-चाण्डालादिके स्पर्शसे दूषित देवतायतनमें देवकी स्थिति नहीं मानी गई है। (ङ) वैखानसागमके ६७वें पटलमें चाण्डालादिसे दूषितत्वमें देवमूर्तिकी पुनः-प्रतिष्ठाका विधान आया है। वृद्धहारीतस्मृति (६।४०८-४१०) में भी ऐसी विधि पाई गई है। 'रुद्रस्य वाऽथ विष्णोर्वा प्राकाराभ्यन्तरे यदि। रजस्वला वधूश्चैव चाण्डालश्च समागतः।.....'तद् देवस्य कलाहानी राज्ञो मरणमेव च। तद्-ग्रामस्य क्षयः प्रोक्तः सस्यानां नाशनं परम्' कारिकावृत्ति (कारणागम) के प्रायश्चित्तकाण्डके इस प्रमाणमें मन्दिरके अन्दर अन्त्यजादिके प्रवेशमें देवसत्ताकी शून्यता, राजा एवं प्रजाकी तथा खेती आदिकी हानि दिखलाई गई है, जो वर्तमानमें भी प्रत्यक्ष है।

इस प्रकारके प्रमाण प्रचुर-मात्रामें मिलते हैं। यह सब प्रमाण पूर्वोक्त वेदमन्त्रों तथा पञ्चमवेद रामायण-महाभारतादि के वचनोंके भाष्य होनेसे प्रामाणिक एवं उपादेय हैं। शासन-संविधान जब सबकी धार्मिक-स्वतन्त्रता मानता है; तब लीडरोंका हिन्दुजातिके धर्म-शास्त्रवेदादिसे विरुद्ध अन्त्यजोंके देवमन्दिर-प्रवेशको प्रोत्साहित करनेका अधिकार नहीं; क्योंकि—यह एक बड़ी जातिकी धार्मिक स्वतन्त्रताका अपहरण है, क्या धर्मनिरपेक्षताका अर्थ हिन्दुधर्मको मारना ही है? जब अनधिकृत-व्यक्ति उसमें अधिकृत किये

जावेंगे, तो अधिकारी विद्वान् उस कर्मको छोड़ देंगे; इससे प्रजाको देवकोपवश जो हानि हो सकती है; वह समय-समय पर अतिवृष्टि, बाढ़ों वा भूकम्प आदिसे प्रत्यक्ष मिलती रहती है।

हिन्दुधर्म एक विशालधर्म और बड़ा उदारधर्म है। यह तो नागपञ्चमी वाले दिन नागोंको भी दूध पिलवाता है। पर वह अपने अनुशिष्ट कर्तव्यमें दूसरोंका विरुद्ध हस्तक्षेप नहीं सह सकता। राजा वेनने भी शास्त्रविरुद्धता की थी; उसका उसे दुष्परिणाम भोगना पड़ा था। अतः शासनका कर्तव्य हो जाता है, कि-जैसे वह अपनी उदारतासे अहिन्दुओंके धार्मिक-ग्रन्थों तथा विश्वासोंका आदर करता है, वैसे ही हिन्दु-जातिके धार्मिक-ग्रन्थों एवं विश्वासोंका आदर भी करे; जिससे उनके विरुद्ध लीडर लोग जनताको प्रोत्साहन न दें, किन्तु विरुद्धतामें दण्डविधान करे।

फलतः मन्दिर-मर्यादा नष्ट होनेसे जहाँ सनातनधर्मियों एवं हिन्दुओंकी धार्मिक-क्षति होगी, वहाँ प्रत्येक विषयमें उच्छृङ्खलता बढ़ेगी। प्रकृतिका सन्तुलन बिगड़नेसे अतिवृष्टि-बाढ़ों आदिके कारण प्रजाको भी उसका दुष्फल अवश्य भोगना पड़ेगा, राजाको भी। अतः यह विषय हँसी वा उपेक्षामें उड़ानेका नहीं है, किन्तु बहुत विचारका विषय है यह। संविधानानुसार किसी जातिका स्वातन्त्र्यापहरण सर्वथा अवाञ्छनीय है।

हमारा हिन्दुधर्म तथा उसका साहित्य बड़ा विशाल है, उसमें यज्ञका विषय तथा महिमा भरी पड़ी है। जहाँ भी यज्ञका वर्णन हो; वा यज्ञशालाका; वहाँ देवमूर्तिपूजा तथा देवमन्दिरकी रचना

उसीके अन्तर्गत आ जाती है। देवमन्दिरके सम्बन्धमें वह सारा साहित्य उसीसे लिया जा सकता है। ग्रन्थतात्पर्य-निर्णयकी सर्वमान्य-पद्धति यही है कि—'उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य-निर्णये' तो हमारे धार्मिक-साहित्यमें उपक्रम-उपसंहार और अभ्यास (पुनः-पुनः कथन) तथा फल एवं उपपत्ति आदिके देखनेसे सारे साहित्यका तात्पर्य यही निकलता है कि—वैदिक-देवपूजामें अन्त्यजादिका अधिकार नहीं। अतः तदर्थ प्रोत्साहन न प्रजाको देना चाहिये, न राजाको। यदि उक्त तात्पर्य-निर्णायक छः हेतुओंका परित्याग किया जायगा, तो उस सम्पूर्ण-साहित्यका कुछ भी तात्पर्य नहीं निकलेगा।

यह वेदप्रोक्त-देवपूजा वेदोंमें बीजरूपसे, संकेतरूपसे आई है, और आगमग्रन्थों वा तन्त्रशास्त्रोंमें पल्लवितरूपसे आई है। उनमें अन्त्यजादिके मन्दिर-प्रवेशमें प्रजाकी बड़ी हानि दिखलाई है, बल्कि देवमूर्तिसे उस समय देवसत्ताकी भी शून्यता हो जाना बताया है। तब वह देवमूर्ति देव नहीं रह जाती, पूजनीय नहीं रह जाती, किन्तु पत्थरमात्र रह जाती है, तब उससे किसीकी भी इष्ट-फल-प्राप्ति नहीं होती, बल्कि अनिष्टकी प्राप्ति हुआ करती है। हमारा सनातनधर्म जीवमात्रहितैषी है, उसके साहित्यके विरुद्ध जाकर प्रजाकी हानि करना तथा किसी जातिके विश्वासपर प्रहार करना बुद्धिमत्ता नहीं।

(१६) यह कहना कि—वेदवेदाङ्गोंमें अन्त्यजोंकी अस्पृश्यता ही अनुशिष्ट नहीं—यह भी बात गलत है। वेदके प्रमाण दिये ही जा

चुके हैं। अब वेदाङ्ग देखिये—वेदका मुख व्याकरण है; उसके प्रणेता वादिप्रतिवादिमान्य-पाणिनिका अष्टाध्यायीमें एक सूत्र है—'प्रत्यभिवादेऽशूद्रे' 'स्त्रियां न' (८।२।८३) यहां पर स्त्री-शूद्रोंको प्रत्यभिवादनमें द्विजोंवाला प्लुत नहीं कहा गया। यह व्यवहार-वैषम्य है। अब अस्पृश्यताके विषयमें देखिये—'शूद्राणामनिरवसितानाम्' (२।४।१०) यहां दो प्रकारके शूद्र बताये गये हैं, पहले अनिरवसित, दूसरे निरवसित। यहां भाष्यकार पतञ्जलिने उनका यह लक्षण लिखा है—'यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण शुध्यति, तेऽनिरवसिताः। यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेणापि न शुध्यति, ते निरवसिताः' जिनको हम पात्र दें, और मांजकर उस पात्रको हम वापिस ले सकें, वे तो होते हैं अनिरवसित। उन्हें एकवचन होता है। भाष्यकारने इनका उदाहरण दिया है—'तक्षायस्कारम्', 'रजकतन्तुवायम्' यहां बढ़ई, लोहार, धोबी, जुलाहा आदि शूद्रोंको भाष्यकारने यज्ञका अधिकार तो नहीं दिया; पर उसको पात्र देकर फिर संस्कारसे उनके पात्रको व्यवहार्य माना है, अर्थात् उन्हें अस्पृश्य नहीं माना। पर 'चाण्डालमृतपाः' आदिको अस्पृश्य माना है। इनको दिये गये हुए पात्रको संस्कारसे भी शुद्ध एवं ग्राह्य नहीं माना। इससे बढ़कर अस्पृश्यताकी सिद्धि और क्या हो?

(ख) आर्यसमाजके प्रवर्तक, उदार-सुधारक कहे जानेवाले स्वा-द-जीने भी अपने 'सामासिक'के ४७ पृष्ठमें तथा अपने अष्टाध्यायी-भाष्यमें उक्त सूत्रके व्याख्यानमें भी यही माना है। अपने अन्य पुस्तकोंमें उन्होंने 'चाण्डाल'का अर्थ 'भंगी' किया है।

'स्त्रैणताद्धित' (४।१।७३) में उन्होंने 'चाण्डाल' शब्दको जातिवाच माना है, क्योंकि—वह शार्ङ्गरवादिगणमें है, और उसमें 'ब्राह्मण' तथा 'चाण्डाल'का नाम भी है और जातिकी अनुवृत्ति भी है। एवम् अन्यत्र भी उन्होंने अन्त्यजोंकी अस्पृश्यता मानी है। एतदर्थ *'श्रीसनातनधर्मालोक' पञ्चम-पुष्प देखिये। यों तो स्वामीके उद्धरण बहुत हैं; पर एक यह भी 'आलोक'-पाठकगण देख लें—

(ग) (प्रश्न) कहोजी, मनुष्यमात्रके हाथकी की हुई रसोईके खानेमें क्या दोष है? क्योंकि ब्राह्मणसे लेके चाण्डालपर्यन्तके शरी हाड-मांस-चमड़ेके हैं, और जैसा रुधिर ब्राह्मणके शरीरमें है, वैसा ही चाण्डाल आदिके, पुनः मनुष्यमात्रके हाथकी पकी हुई रसोईके खानेमें क्या दोष है? (उत्तर) दोष है। क्योंकि जिन उत्तम पदार्थों के खाने-पीनेसे ब्राह्मण और ब्राह्मणीके शरीरमें दुर्गन्धादि दो रहित रज-वीर्य उत्पन्न होता है, वैसा चाण्डाल और चाण्डालीके शरीरमें नहीं, क्योंकि—चाण्डालका शरीर दुर्गन्धके परमाणुओंसे भर हुआ होता है, वैसा ब्राह्मणादि-वर्णोंका नहीं। इसलिए ब्राह्मणा उत्तम-वर्णोंके हाथका खाना, और चांडालादि नीच भङ्गी-चमार आदि न खाना। भला जब कोई तुमसे पूछेगा कि—जैसा चमड़ेका शरी माता, सास, बहिन, कन्या, पुत्रवधूका है, वैसा ही अपनी स्त्रीका है, तो क्या माता आदि स्त्रियोंके साथ भी स्वस्त्रीके समान बर्तोगे? तब तुमको संकुचित होकर चुप ही रहना पड़ेगा। जै उत्तम अन्न हाथ और मुख से खाया जाता है, वैसे दुर्गन्ध

*पञ्चमपुष्पका मूल्य अब ६) हो गया है।

खाया जा सकता है, तो क्या मल आदि भी खाओगे ? क्या ऐसा भी कोई हो सकता है ? (सत्यार्थप्र. १० समु. पृ. १६६)।

(घ) इस प्रकार स्वा.द.जी यज्ञका अधिकार भी शूद्रको नहीं देते। जैसे कि अपनी 'आख्यातिक'में उन्होंने लिखा है—'अपि तत्र भवान् वृषलं याजयति, गर्हामहे' (पृ. २६२-२६३) वृषल शूद्र-जातिको कहते हैं; इसलिए 'जातेरस्त्रीविषयात्' (पा. ४।१।६३) सूत्रका उदाहरण भी स्वामीजीने अपने स्त्रैण-ताद्धितमें 'वृषली' दिया है; यह शूद्रजातीय-स्त्रीका नाम है। 'शूद्राय कमण्डलूं न दद्यात्' यह उनका स्त्रैणताद्धितका उदाहरण हम पूर्व दे ही चुके हैं। जब ऐसा है तो अन्त्यजोंका यज्ञरूप-प्रतिमापूजनादिमें भी अधिकार नहीं। तब उन्हें बलात् अधिकार दिलवाना यह हिन्दु-शास्त्रोंपर खुला आक्रमण है।

(१७) यह नहीं कहा जा सकता कि यह भंगी आदि धर्म-शास्त्रोक्त चाण्डाल जाति नहीं। हमारे पूर्वज लोग इन बातोंका पूरा ध्यान रखते थे कि निम्न जातियां कहीं अन्य उच्च-जातियोंमें प्रविष्ट न हो जाएँ। तदनुसार जन्मना जाति तथा पारस्परिक-वर्गमें विवाहादि-व्यवहार, परम्परासे चलता रहता था। 'वैखानसधर्मप्रश्न' में कहा है—'चण्डालः सीसकालायसाभरणो वर्ध्राबद्धकण्ठः, कक्षे झल्लरीयुक्तो यतस्ततश्चरन्, सर्वकर्म-बहिष्कृतः, पूर्वाह्णे ग्रामादौ वीथ्यामन्यत्रापि मलानि अपकृष्य बहिरपोहयति' (३।१४।७) ग्रामाद् बहिर्दूरे स्वजातीयैर्निवसेत्' (८) मध्यान्हात्परं ग्रामे न विशत्ययम्' (६) यहां चाण्डालका कर्म मल उठाकर ग्रामके बाहर डाल आना लिखा

है। औशनसस्मृतिमें भी चाण्डालोंकेलिए यही लिखा है—'वर्ध्रीं कण्ठे समासज्य झल्लरीं कक्षतोपि वा। मलापकर्षणं ग्रामे पूर्वाह्णे परिशुद्धिकम्। न पराह्णे प्रविष्टोपि बहिर्ग्रामाच्च नैर्ऋते। पिण्डी-भूता भवन्त्यत्र' (६-१०)। मनुस्मृतिमें इनका काम कुत्ते आदिको मारना और दिनमें राजासे दी हुई वर्दी पहनकर सफाईका काम करना-गांवके बाहर रहना-इत्यादि बतलाया है (मनु. १०।५१-५५) नारदीय-मनुस्मृतिमें जो कि बहुत प्राचीन-ग्रन्थ माना जाता है—कहा है—'अशुभं दासकर्मोक्तं शेषं कर्मकृतः स्मृतम्। गृहद्वाराऽ-शुचिस्थानरथ्यावस्करशोधनम्। गुह्याङ्गस्पर्शनोच्छिष्ट - विण्मूत्रग्रहणो-ज्झनम्। अशुभं कर्म विज्ञेयम्' (५।५-६-७) यहां पर दास (अन्त्यजादि)का कर्म गलीका कूड़ा साफ करना, टट्टी-पेशाब उठाकर फैंक आना कहा है। इसी पारम्परिक (परम्परासे आये हुए) व्यवहारसे ही तो हम अपने-आपको ब्राह्मणादि कहते हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि अब चाण्डालादि जाति नहीं है।

वह है, और यही है, इसीलिए इसे 'अन्त्यज' कहते हैं—'अन्त्यात्-शूद्रात् जायते' यह उसकी व्युत्पत्ति है। सो उनका प्रतिलोम होनेसे देवमन्दिरों वा यज्ञादिमें प्रवेश शास्त्रीय नहीं। अतः आजकलके लीडरोंको भारतीय-शास्त्रोंसे विरुद्ध व्यवहार करके अभारतीयताको प्रोत्साहन देना उचित नहीं। भारतीय सब व्यवस्थाएँ यथाधिकार चलती हैं, प्रकृतिकी त्रिगुणात्मकतावश व्यवहार-वैषम्य प्रकृति-प्राप्त है। यदि लीडर लोग धर्मशास्त्रोंको न मानकर उनसे विरुद्ध दूसरोंकेलिए गढ़ा खोदेंगे, तो उनकेलिए भी

कुंआं तैयार हो जायगा।

(ख) यदि किसी पुराणके काचित्क-इतिहासमें कहीं इस विधिसे विरुद्धता दीखे, या तो वहां ऐकदेशिकता होगी, या कोई अर्थवाद होगा। अर्थवादमें एक विशेष बातकी सिद्धि अपेक्षित होती है, वह विधिवाक्य नहीं हो जाता। इतिहास भी एक भूतार्थवाद नामक अर्थवाद होता है। ऐसे सैंकड़ों भी इतिहासोंको उसका विरोधी एक छोटा-सा विधिवाक्य बाधित कर दिया करता है। अब जैसे किसी उपाख्यानमें आ जावे कि–वहां कर्महीन-ब्राह्मणके प्रवेश करनेपर तो वह मूर्ति न वढ़ी, पर स्वकर्ममें लगे हुए चाण्डालके आनेपर वह बढ़ गई; इस अर्थवादका तात्पर्य कर्म-परककी प्रशंसामें है, चाहे वह चाण्डाल भी हो; और कर्महीनकी निन्दामें हैं; चाहे वह ब्राह्मण भी हो। इससे ब्राह्मणका अनधिकार वा शूद्रका अधिकार मन्दिर-प्रवेशमें नहीं हो जाता; 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (गीता १८।४६) इस भगवद्-वचनानुसार स्वकर्मपरकताकी प्रशंसामें ही तात्पर्य विवक्षित होता है–मर्यादाके भङ्गमें तात्पर्य नहीं होता।

(ग) इस प्रकारके भूतार्थवाद कई कल्पित और कई पारम्परिक मिलते हैं, जिनमें कई निर्मर्यादित बातें भी मिलती हैं; पर उनमें तात्पर्य क्या है, यह निष्पक्ष तथा दूरदर्शी ही जान सकता है, किसी अर्वाचीन-विचारका पक्षपाती उसे नहीं जान सकता। उदाहरणतः-एक अर्थवाद पाठकगण देखें। एक शिव-मन्दिर जो नगरसे बाहर था; उसमें नियमानुसार दो व्यक्ति जाया करते थे।

एक तो उस मन्दिरमें शिवमूर्तिके आगे दीपक जलाता था, किन्तु दूसरा मुँहमें पानी भरकर शिवमूर्ति पर कुल्ला कर देता था। एक दिन बड़ी सख्त अँधेरी चली। दीया जलानेवाला तो मन्दिरमें नहीं पहुँच सका, और कुछ ढीला भी हो गया कि–आज दीया नहीं जल सकेगा, बुझ जायगा; किन्तु कुल्ला कर देनेवाला दैनिक-नियमानुसार पहुँच ही गया और उसने शिव-प्रतिमापर कुल्ला कर ही दिया। इससे महादेव साक्षात् प्रकट हो गये और वर मांगनेको कहा। उसने सिरपर दो सींग हो जाना मांगा।

यह उपाख्यान स्पष्ट भूतार्थवाद है, चाहे यह कल्पित हो, चाहे यह ऐतिह्य हो; पर इससे देवमूर्तिपर कुल्ला कर देना भगवान्‌का दर्शनकारक सिद्ध नहीं हो जाता; यह तो मर्यादाहीनता है। यहां तो श्रद्धासे नियमबद्ध-पूजा आपत्तिकालमें भी न छोड़नेपर भगवान्‌की प्रसन्नता होती है, चाहे वह पूजा शास्त्रानुसारिणी न भी हो; जिसकेलिए अर्जुनने भी भगवान्‌से प्रश्न किया था—'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेषां निष्ठा तु का कृष्ण! सत्त्वमाहो रजस्तमः' (गीता १७।१) यही तात्पर्य उस पौराणिक-अर्थवादका सिद्ध होता है; अतः पौराणिक वा तान्त्रिक कई उपाख्यान यदि वेदमर्यादा-विरुद्ध भी मिलते हों; तो वहां विवक्षित-तात्पर्यमात्र ही लेना पड़ता है; वहां प्रत्येक शब्दका अर्थ नहीं लेना पड़ता। विशेषकर श्रुति वा स्मृतिके मुख्य विधेयांशसे वह विरुद्ध हो; तो वह अनुकरणीय वा अनुसरणीय नहीं हो जाता। जब पौराणिक इतिहासोंको वेदानुकूल तात्पर्यके दृष्टिकोणसे देखा जायगा; तब

विद्वान्‌को कोई विरुद्ध शङ्का सन्देहके गर्तमें नहीं डाल सकेगी। वेदादिके सिद्धान्तसे चाण्डालादिकी अस्पृश्यता तथा वेदमें अनधिकार तथा वेदमन्त्रसंस्कृतमूर्तिपूजनमें अनधिकार यह श्रुति-सम्मत सिद्ध बात है, इस बातसे विरुद्ध मिलनेवाले उपाख्यानका किसी विशेष स्वकर्मपरकता आदिकी प्रशंसामें तात्पर्य समझना पड़ता है, वेदविरुद्ध-सिद्धान्तके अवलम्बनमें नहीं।

(घ) स्वा.द.ने स.प्र. ११ समु. (पृ. २२६)में भक्तमालके नामसे एक कथा लिखी है—'कोई मनुष्य सोता-सोता ही मर गया; ऊपरसे काकने विष्ठा करदी; वह ललाटपर तिलकाकार हो गई। वहां आये यमके दूत तथा विष्णुके दूतोंमें विवाद हुआ। विष्णुदूतोंने कहा कि-इसके ललाटमें वैष्णवका तिलक है इसलिए हम इसे वैकुण्ठमें ले जाएँगे' ऐसी कथा भक्तमालमें आती तो नहीं। यदि कहीं होगी तो इससे बींटके तिलकसे विष्णुलोककी प्राप्तिमें तात्पर्य नहीं निकलेगा; किन्तु वह अर्थवाद वहांपर वैष्णव-तिलक लगानेका तात्पर्य रखनेवाला सिद्ध होगा। यदि स्वामी यह समझते; तो इस पर उपहास न करते। तब क्या पौराणिक-अर्थवादोंको देनेवाले वादी इससे बींटके तिलक लग जानेको वैकुण्ठप्रद मान लेंगे? यदि नहीं; तब चाण्डालका कोई देवमूर्तिपूजाका पौराणिक-इतिहास मिल जावे; वहां उसमें तात्पर्य न होकर 'स्वकर्मपरक-चाण्डाल भी स्वकर्महीन ब्राह्मणसे अच्छा होता है—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति' (गीता १८।४६) और भगवान् उससे अपनी पूजा समझ कर प्रसन्न होते हैं'—यह तात्पर्य निकलता है। अथवा वहां वेदमन्त्र-

प्रतिष्ठापित मूर्तिका वर्णन इष्ट न होकर असंस्कृत दिव्य-लिङ्गादिरूप कोई विशेष मूर्ति इष्ट होती है। ऐसा होनेपर वहां वह उपाख्यान सीमित होजानेसे सामान्य संस्कृत-मूर्तिकेलिए नहीं रह जाता।

(ङ) इस प्रकार जो कई पण्डित लोग पुराणोंसे अन्त्यजोंकी मूर्तिपूजा दिखाया करते हैं; उनको याद रखना चाहिये कि-मूर्ति-पूजा भी एक यज्ञ हुआ करता है; यह हम पूर्व बता चुके हैं। याज्ञिक-अग्नि दो प्रकारकी होती है, एक वेदमन्त्र-संस्कृत, दूसरी असंस्कृत; जैसाकि मनुजीने कहा है-'प्रणीतश्चाऽप्रणीतश्च यथाग्नि-र्दैवतं महत्' (९।३१७) 'प्रणीत'का अर्थ वेदमन्त्र-संस्कृत, आहित श्रौत-अग्नि है, और 'अप्रणीत'का अर्थ मन्त्राऽसंस्कृत, अनाहित लौकिक-अग्नि होता है। इस प्रकार देवमूर्ति भी दो प्रकार की होती है, एक वेदमन्त्र-संस्कृत, दूसरी असंस्कृत। इसीको लक्ष्य करके श्रीमद्भागवतमें भी कहा है-'वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः' (११।२७।७) यहाँपर यज्ञ वैदिक, तान्त्रिक, मिश्र भेदसे तीन प्रकारका कहा है। वेदमें शास्त्रानुसार त्रैवर्णिकका अधिकार होनेसे वैदिक-यज्ञका अधिकारी भी त्रैवर्णिक होता है; तन्त्रों-पुराणविशेषोंमें शूद्र-निषादादिका भी अधिकार निषिद्ध न होनेसे उस तान्त्रिक-यज्ञमें शूद्र-निषादादि पञ्चजनोंका भी अधिकार हो जाता है। सो जहाँ वेदादिमें अग्निको पाञ्चजन्य (पञ्चजनोंके यज्ञार्थ) बताया गया हो, वहाँ आहित श्रौत-अग्नि इष्ट नहीं होती, किन्तु अनाहित लौकिक-अग्नि ही इष्ट होती है। इस प्रकार आधान-संस्कृत मूर्तिमें भी संस्कृत अर्थात् उपनयनादि-संस्कार-

सम्पन्न त्रैवर्णिकोंका ही अधिकार होता है, असंस्कृत शूद्र-अन्त्यजों का नहीं; पर असंस्कृत-मूर्तिमें सभी शूद्र-अन्त्यजादिका भी अधिकार होता है।

(च) इसमें प्रमाण यह है कि-'कात्यायन-श्रौतसूत्र'में रथकार-स्थपतिकी इष्टि बताई गई है; वहाँ पर रथकार एवं स्थपतिको अत्रैवर्णिक सिद्ध किया है; उसके कर्कभाष्यमें इसकी स्पष्टता देखी जा सकती है। फिर वहाँ प्रश्न किया गया है कि-'तत्रैतद् विचार्यते-स्थपतीष्ट्यां किम् आधान-संस्कृतोऽग्निः, उत लौकिक इति?' अर्थात् स्थपति-आदि अत्रैवर्णिकोंका यज्ञ संस्कृत-अग्निमें होता है, वा लौकिक (असंस्कृत) अग्निमें? वहाँ उत्तर दिया गया है-'लौकिके' (१।१।१४) 'लौकिके अग्नौ एतत् स्याद् [न तु आधानसंस्कृते इति]' इसी प्रकार मीमांसादर्शन-शाबरभाष्यमें भी कहा है-'तस्माल्लौकिकेषु अग्निषु स्थपतीष्टिः [न तु आधानसंस्कृतेषु]' (६।८।२१)। इस प्रकार जैसे वैदिक-यज्ञमें त्रैवर्णिकसे अतिरिक्त शूद्र-अन्त्यजका अधिकार शास्त्रीय नहीं, प्रत्युत पूर्वमीमांसा (मीमांसादर्शन) तथा उत्तरमीमांसा (वेदान्त-दर्शन) इन वेदकी मीमांसा करनेवाले दर्शनोंमें 'अपशूद्राधिकरण' और 'यागे शूद्रानधिकाराधिकरण' भी उपनिबद्ध हुए हैं। इसलिए आर्यसमाजके श्रीतुलसीराम-स्वामीने भी मनु. ६।३१६ की टीकामें लिखा है-'यज्ञमें शूद्रके घरका अग्नि भी वर्जित है' (पृ. ३५१) इसीलिए स्वा.द.जीने भी सं.वि.के सामान्य-प्रकरणमें लिखा है-'ॐ भूर्भुवः' इस मन्त्रका उच्चारण करके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके घरसे अग्नि ला' (पृष्ठ २३) इससे अत्यन्त स्पष्ट हो रहा है कि-

वैदिक-यज्ञके अधिकारी न होनेसे शूद्रकी अग्नि संस्कृत नहीं होती, अतः वह याज्ञिकोंके उपयोगमें नहीं आती। इस प्रकार शूद्र-अन्त्यजादिके वेदाधिकारी न होनेसे शूद्रकी प्रतिमा संस्कृत नहीं होती, अतः वह याज्ञिकोंके दर्शनार्ह नहीं होती। इस प्रकार शूद्र-अन्त्यजादिके वेदाधिकारी न होनेसे उनका वेदमन्त्रसंस्कृत देवमूर्तिमें भी अधिकार नहीं होता।

तभी तो ब्राह्मणभागात्मक वेदमें कहा है—'न वै देवाः सर्वेण संवदन्ते—ब्राह्मणेन वैव, राजन्येन वा, वैश्येन वा, ते हि यज्ञियाः' (यजुर्वेदशतपथ. ३।१।१।१०) मन्त्रभागके व्याख्याता होनेसे शतपथ-ब्राह्मण वैदिकयज्ञमें शूद्रको अनधिकृत बता रहा है। तभी शूद्रादिके लिए आया है-'तस्मात् शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' (कृष्णयजु. तै.सं ७।१।१।६)। 'मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति' (१०।१२६) इस मनुपद्यमें आर्यसमाजी श्रीतुलसीरामस्वामीने लिखा है—'धर्मकार्य-यज्ञादि करनेका शूद्रोंको अधिकार नहीं है। यदि द्विज शूद्रको अयोग्य समझकर रोके तो वह (शूद्र)का यह अधिकार नहीं है कि वह राजद्वारादिसे कानूनन अपना स्वत्व सिद्ध कर पावे। परन्तु उसको धर्म करनेकी मनाई भी नहीं है कि शूद्र धर्म करे ही नहीं, किन्तु यदि शूद्र धर्म करना चाहें तो बिना वेदमन्त्रोंके उच्चारण ही यज्ञहोमादि कर सकते हैं; उसमें उनको अमन्त्र होमका कोई दोष नहीं'। इस प्रकार शूद्रकी देवपूजा भी वेदमन्त्राऽसंस्कृत-मूर्ति द्वारा होगी, वेदमन्त्रसंस्कृत-मूर्तिद्वारा नहीं। यह इस विषयमें आर्यसमाजी-विचारधारा अपनानेवाले सुधारक सनातनधर्मियोंको भी याद रख लेना चाहिये। इस विषयमें

अधिक स्पष्टता पाठक 'आलोक'के तृतीयपुष्प (३३१-३३५ पृ.) में देखें।

(छ) 'न च शूद्र-समभ्याशे वेदान् उच्चारयन्त्युत' (१।६४।२०) महाभारतके इस वचनमें, तथा 'न शूद्रजनसंनिधौ' (४।६६) 'वृषलस्य च संनिधौ' (४।१८०) इन मनुजीके वचनोंमें शूद्रके सामने वेदके उच्चारणका भी निषेध किया गया है-'भावं न चाऽस्याहमनुप्रदातुमलं द्विजो मन्त्रमिवाऽद्विजाय (शूद्राय)' (वाल्मी. सुन्दर. २८।५) 'नाधीयीत प्रतिषिद्धोस्य यज्ञः। ···स्यादेवं स्मृतः शूद्र-धर्मः पुराणः' (महाभा. उद्योग. २६।२६) इत्यादि पञ्चमवेदके विधि-वचनोंमें भी शूद्रका वेदाधिकार निषिद्ध किया गया है। यह ठीक भी है।

(ज) 'श्मशाने नाध्येयम्' यह एक प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक वाक्य है। इसमें श्मशानमें वेदपाठका निषेध किया है। मनुस्मृतिमें भी कहा है-'नाधीयीत श्मशानान्ते' (४।११६)। महाभाष्यमें भी कहा है-'देशः खल्वपि आम्नाये नियतः-श्मशाने नाध्येयम्, चतुष्पथे नाध्येयम्' (५।२।१५६) यहाँ श्मशानमें वेद पढ़नेका निषेध किया गया है। शूद्रको भी जङ्गम 'श्मशान' माना गया है-'पद्यु (पादयुक्) ह वा एतत् श्मशानं यत् शूद्रः, तस्मात् शूद्रसमीपे नाध्येयम्। अतएव अध्ययन-प्रतिषेधः। यस्य हि समीपेपि नाध्येतव्यम्, स कथमश्रुतमधीयीत' (वेदान्तदर्शन शाङ्करभाष्य १।३।३६) यहाँ पर शूद्रको चलता-फिरता श्मशान कहनेसे उसे वेदाधिकारसे बहिर्भूत किया गया है। इसी प्रकार 'मीमांसादर्शन'में भी कहा

है-'तथा चान्यार्थदर्शनम्' (६।१।३८) इस सूत्रके शावरभाष्यमें भी कहा है-'पद्यु वा एतत् श्मशानं यत् शूद्रः। तस्मात् शूद्रसमीपे न अध्येतव्यमिति अनध्ययनं शूद्रस्य दर्शयति'।

सो जब एतदादिक प्राचीन-वचनोंसे वेदाधिकारका *शूद्रको निषेध है; तो शूद्रान्त्यज-आदिका वेदमन्त्रसंस्कृत-देवमूर्तिमें भी अधिकार नहीं रह जाता; तब यदि कहीं किसी पुराणमें शूद्र-अन्त्यजादिका देवमूर्तिपूजा करना दीख रहा हो; वहाँ वह वेदमन्त्र-संस्कृत मूर्तिमें न होकर असंस्कृत, अथवा पुराण या तन्त्रके लौकिक मन्त्रोंसे संस्कृत लौकिक मूर्तिकेलिए, या दिव्यलिङ्ग (जो

*कई महाशय 'तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः' (अ. ३।३०।४) इस मन्त्रसे पुरुषमात्रको वेदका अधिकार बताकर शूद्रको भी वेदाधिकारी कहते हैं; उनसे प्रष्टव्य है कि-यह मन्त्र मनुष्योंको सम्बोधित करके कहा जा रहा है, वा द्विजोंको? यदि मनुष्योंको, तो 'वो गृहे (तुम मनुष्योंके घरमें) पुरुषेभ्यः'का क्या अर्थ है? यदि 'पुरुषेभ्यः'का भी 'मनुष्योंको' अर्थ है, तो यह व्यर्थकी पुनरुक्ति होगी। यदि 'पुरुषेभ्यः' का अर्थ 'पुरुषों (मर्दों) को' है, तो स्त्रियोंका वादीसे अभिमत वेदज्ञान इससे खण्डित होगया। जबकि अथर्ववेद (१६।७१।१) के अनुसार वेदमें द्विजका अधिकार है-(यह हम छठे निबन्धमें सिद्ध कर चुके हैं) तब प्रकृत-मन्त्रमें भी उन्हीं द्विज-पुरुषोंको अधिकृत किया गया है, इससे स्त्री-शूद्रोंका व्यवच्छेद (दूरीभाव) होगया। वे इसके अनधिकारी सिद्ध होगये। वस्तुतः वादिदत्त-मन्त्रमें वेदाधिकारीकी बात भी नहीं; किन्तु परस्पर-एकतारूप ब्रह्म घरके पुरुषोंकेलिए अधिकृत किया गया है; क्योंकि-घर पर शासन पुरुषोंका ही होता है। स्त्रीके अबला होनेसे वह उससे नहीं निभ सकता। यह सूक्त एक परिवारके पुरुषोंके परस्पर प्रेम-बर्तावके-

बिना प्रतिष्ठाके स्वतः शक्तिशाली हैं–)केलिए समझना चाहिये । तब जिन लोगोंने पुराणोंके वचनों-द्वारा शूद्र-अन्त्यज आदिका मूर्ति-पूजाधिकार ढूंढनेमें परिश्रम किया हो; वह अनाहित (असंस्कृत) लौकिक-मूर्ति विषयक होनेसे वेदमन्त्रप्रतिष्ठापित–मूर्ति विषयक नहीं समझना चाहिये; अतः उनका वह अनुसन्धानका परिश्रम व्यर्थ सिद्ध है। वह मत कि 'शूद्र-अन्त्यजादि भी देवपूजा करें'— भविष्यपुराणके अनुसार [जिसे प्रतिपक्षी भी प्रेमसे दिया करते हैं; पर उसका पूर्वोत्तर पाठ छिपा दिया करते हैं] जिसका हम पूर्व उद्धरण दे चुके हैं–दैत्यमत है, देवमत नहीं; अतः सनातनधर्मसे विरुद्ध है। आशा है 'आलोक' पाठकोंने यह भली-भांति हृदयङ्गम कर

लिए विनियुक्त है। उसमें 'अनुव्रतः पितुः पुत्रो, मा भ्राता भ्रातरं–द्विक्षन्, 'वो गृहे' (अ. ३।३०।२-३-४) आदि इस सूक्तके मन्त्र साक्षी हैं। वेदोपदेशके अधिकारी द्विज-पुरुष होनेसे वे पुरुष स्त्रियोंमें वह प्रेम-भाव उपदिष्ट कर देंगे; और द्विज-पुरुष शूद्रोंको उपदिष्ट कर देंगे– 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे प्रधानके ही जिम्मे सब लगाना पड़ता है। छोटी श्रेणीके एवम् अधीन स्त्री-शूद्रोंको वे ही प्रधान अपनी भाषामें समझा देते हैं। इस मन्त्रका देवता भी 'सांमनस्य' है, जिसका अर्थ है–'एक परिवार वा घरवालोंके हृदयोंको परस्पर मिलाना। सो इस मन्त्रमें स्त्री-शूद्रके वेदाधिकारका कुछ गन्ध भी नहीं। वेदोंको बलात् अपने पीछे चलाना वैदिकता नहीं; किन्तु वेदके पीछे चलना ही वैदिकता होती है। यदि वर्तमान-ज़मानेके अनुकूल अर्थ वेदके किये जावेंगे; तो वेद, वेद न रह जावेंगे। ज़मानेसाजीका अर्थ ही वेद हो जावेगा; वा आजकलका ज़माना ही वेदके शब्दोंका गुरु हो जावेगा– पर यह वैदिकम्मन्योंकेलिए उचित नहीं।

लिया होगा।

(झ) तब जोकि कई अर्वाचीन-प्रवाहपतित व्यक्ति इस सिद्धान्त-को 'अदूरदर्शी लोगोंका मत' कहकर उसमें शुष्क-कुतर्कमात्र देते हैं कि–'संस्कृतमूर्तिमें बैठा हुआ परमेश्वर शूद्रसे अपना मुख छिपा लेगा कि मैं इस संस्कार करनेवालोंकी आज्ञामें जकड़ा हूँ, तुम मेरा प्राकृत-मूर्तिमें दर्शन करो' इत्यादि (पृ. ८०-८१) और उन्हीं तर्कोंको 'भारतीय-धर्मशास्त्र' नाम देते हैं; यह भारतीय-धर्मशास्त्रोंका अपमान करना है। वस्तुतः यह वेदादि-शास्त्रोंके अनवगाहन वा आपातावगाहनका फल है–यह अनुसन्धाता विद्वानोंने पूर्वोक्त शास्त्र-वचनोंसे जान ही लिया होगा। 'वेदशास्त्राऽविरोधिना। यस्त-र्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः' (१२।१०६) वेदशास्त्रविरोधी तर्कसे धर्मज्ञान नहीं होता–यह इस मनुवचनसे सिद्ध है। नहीं तो 'पुण्य करो, 'पाप न करो' इस परमेश्वरकी आज्ञा होने पर पाप करनेसे क्या परमात्मा उसका हाथ पकड़ने आता है? यदि नहीं, तो पापी यदि कहे कि–"मुझे तो पाप करते हुए ईश्वर कुछ कहने नहीं आया; अतः वह है ही नहीं; अथवा उसे आप लोगोंने अपने इच्छानुसारी बन्धनोंमें जकड़ रखा है; उसके नामसे वेद भी आप लोगोंने बना रखे हैं; नहीं तो क्या वह निराकार आप लोगोंके कानमें कहने आया?" तो क्या उसकी बात मान ली जायगी? नास्तिक तो ईश्वरकी सत्ता नष्ट करने पर तुले हुए हैं; तब क्या उन्हें उसी समय प्रत्यक्ष-दण्ड न देने पर यही मान जावेगा कि–ईश्वर है ही नहीं? रूस वालोंने ईश्वरकी मूर्तिबनाकर

उसे फाँसी दे दी थी; तो क्या ईश्वरको ही न माना जावेगा? वा उसे असमर्थ मान लिया जावेगा? वस्तुतः यह शुष्क-कुतर्कमात्र होते हैं, इनका महत्त्व कुछ भी नहीं होता। ऐसे कुतर्कियोंको 'हैतुक' कहकर मनुजीने (४।३०, २।११में) अनादरणीय माना है। अतः वेदके भक्तोंको इन कुतर्कोंमें न लगकर 'शब्दप्रमाणका वयं यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्' (महाभाष्य पस्पशा)के अनुसार वेदकी आज्ञा माननेमें संलग्न रहना चाहिये; तभी अभ्युदय-एवं निःश्रेयसकी प्राप्ति होगी। अब छुआछूतके कुछ तर्कोंपर विचार किया जाता है।

——

(८) छुआछूत हटाने के कुछ तर्क?

गत-निबन्धमें प्रकरणवश कुछ छुआछूतका प्रकरण आगया है, अब छुआछूत हटानेके कुछ तर्कोंपर भी विचार किया जाता है।

(१) तर्क—जो अन्त्यज आपके मलको हटाकर आपके घरको निर्मल कर देता है, जो चमार आपके लिए जूता बनाकर आपके पैरको बिच्छू आदिसे बचाता है; जो दर्जी आपके लिए कपड़ोंके कई तरहके फैशन बनाकर आप लोगों को योग्यतावाला प्रसिद्ध कर देता है; जो नाई आपकी हजामत बनाकर आपको सुन्दर बना देता है, जो बढ़ई या घरका बनानेवाला आपका घर बनाकर आपको आश्रय देता है; जो धाय आपकी स्त्रीके प्रसवमें सहायता देती है, आपके बालकको स्वच्छ कर देती है; जो कुएंमें घुसनेवाला कुएँके कीचड़को निकालकर आपकी स्वच्छ-जल पीनेमें सहायता

करता है; ये सब अन्त्यज, चमार, दर्जी, नाई, तरखान, धाय, आदि—सनातनधर्मके मतमें निकृष्ट हैं।

जो शूद्र तीन वर्णोंकी सेवाकेलिए है; आश्चर्य है कि-वह शूद्र तो निकृष्ट है; परन्तु जो आलसी किसी की कोई सेवा नहीं करता; मक्खी भी स्वयं नहीं उड़ाता, वहां भी उसकी सहायता पंखा चलानेवाला दास ही करता है, वह अभिमानी त्रैवर्णिक ऊँचे आसन पर बैठता है; वह आसन भी उस सेवकसे बनाया होता है—सेवकों को घृणा-दृष्टिसे देखता है; सो वह ऐसा व्यवहार अवश्य अर्वाचीन है। वैदिककालमें ऐसा नहीं था। उस समय तो 'रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु. रुचं राजसु नस्कृधि। रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्' (यजुः १८।४८) यहां चारों वर्णोंकेलिए समान रुक् (दीप्ति, बल) की प्रार्थना है; तब शूद्रोंकी निकृष्टताका व्यवहार अवैदिक ही है।

मनुष्योंकी मनोवृत्ति ऐसी गिर गई है कि-तेलसे करें प्यार, पर तेलीसे घृणा करते हैं। दूधको तो चाहते हैं; परन्तु दुहने वाला गवाला निकृष्ट! हजामत आवश्यक है, किन्तु नाई स्नेहका पात्र नहीं। गहना तो चाहिये; पर सुनारको निकृष्ट बनाया जाता है। रथ तो होना चाहिये, पर रथ चलाने वाला सूत, तथा रथकार शूद्र! घोड़ेकेलिए घास तो लिया जाय; पर घसियारा हो जाय अस्पृश्य! मांस तो खानेको मिल जाय; पर मांस लाने वाला कसाई निकृष्ट! जलको ठण्डा करनेकेलिए घड़ा तो चाहिये; पर कुम्हार हो जाय निकृष्ट। कपड़ोंका रंगना तो हो सौभाग्यका

चिन्ह; पर रङ्गरेज हो अन्त्यावसायी। कपड़ोंको मैला करने वाला द्विज तो हो उत्कृष्ट; पर उनको धोनेवाला (धोबी) हो निकृष्ट। जूतेकी आवश्यकता तो सब को है; पर उसका बनाने वाला चमार हो अस्पृश्य। कपड़ेके बिना तो काम ही न हो, पर कपड़ेके बुनने वाले जुलाहेसे हो घृणा।

इस आर्य-जाति की घृणाको कहां तक गिनें। इसी घृणासे ही मुसलमानोंकी संख्या कई हज़ार गुनी होगई, और हमारी उतनी कम होगई'। (भारतीय-धर्मशास्त्रमें)

(१) (विचार) सेवावृत्ति शास्त्रोंमें निन्दित मानी गई है, इस कारण सेवक भी सेव्यकी अपेक्षा निकृष्ट अवश्य होता है और माना भी जाता है। यह बात लोक, वेद, परमात्मा-जीव, प्रकृति, तथा सब देशों और सब प्राचीन-अर्वाचीन जातियोंमें सर्वत्र सुलभ और स्वाभाविक है। इनमें परमात्मा सेव्य है, जीवात्मा सेवक है। जीव परमात्माकी सदा उपासना करता है, उसके यशके फैलावमें साधन है। यदि जीव न हो, तो परमात्माको वड़ा कौन माने? परमार्थतः जीव और परमात्मामें कोई भेद नहीं भी है, फिर भी व्यावहारिकतामें परमात्मा सेव्य है, जीवात्मा सेवक है। परमात्मा स्वामी है, जीव दास है। परमात्मा नित्य-मुक्त है, जीव बद्ध है, इस कारण इनका एक आसन भी नहीं। परमात्मा उच्चासनासीन है, जीवात्मा निम्नासनासीन। शाङ्कर-वेदान्तके अतिरिक्त शेष व्यावहारिक दर्शन इन दोनोंमें सदा द्वैत ही मानते हैं, अतः जीव परमात्माके आसनको छूनेका अधिकारी ही नहीं। इस प्रकार स्वामी

परमात्मा उत्कृष्ट और सेवक जीवात्मा निकृष्ट एवम् अविद्याद्युपहत माना जाता है।

प्रकृति-राज्यमें ही देख लीजिये-उसमें मनुष्य तथा पशु-पक्षी भी हैं। इनमें पशु तथा पक्षी मनुष्यकी सेवा करते हैं। घोड़ा मनुष्योंको अपने ऊपर चढ़ाता है, इस प्रकार गधे बड़ा भार उठाते हैं। इस प्रकार चील, गीध आदि पक्षी मुर्दे खाकर और सुअर आदि विष्ठा खाकर मनुष्यको शुद्ध-वायुके उत्पादनमें सहायता देते हैं। यह मनुष्योंके भंगी हैं। इस प्रकार ततैये-वरं आदि तथा मक्खियां खराब वायुको खाकर हमें स्वस्थ रखते हैं। यह सर्वत्र देख लीजिये। कुत्ता तो सेवामें प्रसिद्ध ही है, फिर भी मनुष्योंके सेवक भी पशु-पक्षी मनुष्योंसे उत्कृष्ट होना तो दूर रहा, मनुष्योंके समान भी नहीं माने जाते, अपितु मनुष्योंसे निकृष्ट ही माने जाते हैं। कई इनमें अस्पृश्य भी होते हैं, मनुष्यके जीवनके समक्ष उनका जीवन उत्तम नहीं माना जाता, किन्तु निकृष्ट ही माना जाता है। तभी तो शासक भी मनुष्यों का अन्न बचानेकेलिए वन्दर कुत्ता, नीलगाय, मोर आदियोंको मरवा देते हैं। बल्कि सेवाको 'श्ववृत्ति' शब्दसे ही कहा जाता है।

पैर सारे शरीर को इधर-उधर पहुँचाकर उसकी सेवा करते हैं, सारे शरीर का भार अपने ऊपर रखते हैं। यदि पांव न हों तो पुरुष पंगु (लंगड़ा) हो जाये। पुरुष मारनेकेलिए आये हुए शत्रुको भगा भी न सके। ऐसा होने पर भी पांवको सम्पूर्ण शरीर से निकृष्ट माना जाता है, उसको छूते हुए हाथकी भी शुद्धि की

जाती है। इसीलिए परमात्माने भी उसे निम्न ही पद दिया है, उसे सिर पर नहीं रखा जाता। पुत्र पिताकी सेवा करता है, उन्हें स्नान कराता है, थकावट हटानेकेलिए उनके पैरोंको दबाता है, पिताजीकी सब प्रकारकी आज्ञाओंको पालता है, सब प्रकारकी सेवा करता है, फिर भी पुत्र पितासे उत्तम नहीं माना जाता। पुत्र पिताको नमस्कार करता है, पर पिता पुत्रको नमस्कार नहीं करता, किन्तु उसे आशीर्वाद ही देता है। इस प्रकार वह उससे निम्न माना जाता है।

छोटा अध्यापक मुख्याध्यापककी सेवा करता है, उस विद्यालयके मूलभूत विद्यार्थियोंको मूल अक्षरशिक्षण करके जोकि मुख्याध्यापककेलिए कठिन कार्य है, उसकी सहायता करता है। ऐसा करने पर भी वह मुख्याध्यापकसे निम्न माना जाता है, उसे थोड़ा वेतन दिया जाता है, छोटे अध्यापकोंके कार्यसे यश उसी मुख्यका हुआ करता है। उस विद्यालयके चपरासीको-जो विद्यालयको झाड़ता-बुहारता है—थोड़ा वेतन मिलता है, अध्यापकोंके योग्य आसनमें भी उसका अधिकार नहीं होता, वह आसन भी उसी सेवकसे ही स्वच्छ करके रक्खा जाता है।

वीर्य शरीरका पोषक तत्त्व है, वीर्यका अभाव मृत्यु माना जाता है, वीर्यके ह्रास होनेपर निर्बलतावश रोगकी उत्पत्ति होती है, वही सारे शरीरका सेवक भी वीर्य अस्पृश्य माना जाता है, उसे छूकर अपनी शुद्धि करनी पड़ती है, इसी प्रकार रक्त और अस्थि आदिकेलिए भी समझना चाहिये।

पुरुषका पुरीष (मल) पुरुषका उपकारक तथा सेवक पदार्थ होता है। निर्बलानां मलं बलम्' यह कहकर उसकी स्तुति की जाती है। हमारे अन्दर मल रहने पर ही हमारा सौन्दर्य अपने रूपमें रहता है। कोई अछूत किसी राजकुमारीपर आसक्त होकर उसके रूपको सदा देखना चाहता था, बल्कि सदाकेलिए उस रूपको अपना बनाना चाहता था। उसके न मिलनेपर वह आजकलके अस्त्र भूख-हड़तालको मरणावधि प्रयुक्त करना चाहता था। अगत्या उस दयामयी राजकुमारीने यह सुनकर जुलाब ले लिया, उससे निकले हुए मलको पात्रोंमें भरकर एक भंगीके द्वारा उसने उस भंगीके पास भिजवाया और सन्देशा भेजा कि ले यह मुझ-राजकुमारीका रूप है, मल निकलनेसे वह उस समय असुन्दर दिखाई पड़ती थी। फलतः भीतरका मल ही पुरुषका रूप एवं बल है। केवल इतना ही नहीं, खेतोंमें डाला हुआ सड़-गलकर खाद रूपमें वह खेतीका हितकारक होता है। इस प्रकार नालीका जल भी सड़ा हुआ खेतीको लाभप्रद होता है, उसका भी मूल्य होता है। इसी प्रकार सेवक भी मल वा कीचड़, लाभप्रद होनेपर भी अस्पृश्य व्यवहृत होते हैं।

शिष्य गुरुजी की खूब सेवा करता है, उनकी थकावट हटाता है, उनको जल पिलाकर गर्मीके कष्टसे बचाता है, तथापि उसी शिष्यको गुरुसे उत्तम कोई नहीं मानता, किन्तु वह उससे निम्न ही माना जाता है, वह शिष्य गुरुके सिंहासन पर नहीं बैठ सकता, गुरुके हाथसे हाथ नहीं मिला सकता। इस प्रकार पत्नी पतिकी

सेवा करती है, उसकी सब प्रकार की इच्छाओंको पूर्ण करती है, वह भी पतिकी अपेक्षा निकृष्ट ही मानी जाती है। उसके समान नहीं मानी जाती। वह यज्ञोपवीत भी नहीं पहन सकती। इस प्रकार राजा सेव्य है, पर प्रजा उसकी सब प्रकारसे सेवा करती है। फिर भी राजा उत्कृष्ट और प्रजा उसकी अपेक्षा-निकृष्ट मानी जाती है, यहां तक कि उसके सिंहासन पर भी नहीं बैठ सकती।

इस तरह संसारमें सब स्थान और सदा इस प्रकारका व्यवहार सुलभ एवं स्वाभाविक है। जूता आपकी सेवा करता है, पर आप जूतेको सिर पर नहीं रखते, जूते पर भोजन रखकर नहीं खाते। बल्कि हाथसे जब जूतेके छूनेकी आवश्यकता पड़ती है, तो हाथकी शुद्धि करनी पड़ती है। सेवक घोड़ा मनुष्यको उठाता है, सेव्य मनुष्य कभी घोड़ेको अपने ऊपर नहीं चढ़ाता, परन्तु सेवक घोड़ा सेव्य स्वामीसे वृत्तिमात्र लेकर सन्तुष्ट हो जाता है। ऊँट पर मनुष्य चढ़ता है, ऊँट मनुष्य पर नहीं चढ़ता। इनमें कई उपयोगी तथा अहिंसक एवं क्षमाशील गधे आदि अस्पृश्य भी माने जाते हैं। यदि अस्पृश्यता हटानेके व्रत लिये हुए वर्तमान नेता इन्हें अस्पृश्य नहीं मानते, तो घोड़ा आदि पर चढ़ते हुए भी गधे आदि पर क्यों नहीं चढ़ते, वा उसका सम्मान क्यों नहीं करते?

वर्तमान-नेताओंको मोटर-ड्राईवर अथवा कोचवान अपने गन्तव्य स्थानमें पहुँचाते हैं, इस प्रकारके प्रश्नकर्ता भी उन सेवकोंको उन नेताओंके मञ्च पर नहीं बैठाते, उनको फिर पूछते भी नहीं। यह क्यों? यह सर्वदा सत्य है कि सेव्य सदा उच्च

होता है, सेवक उसकी अपेक्षा सर्वदा निकृष्ट ही होता है। साम्य-वादमें सेवा कभी नहीं होती।

इसके अतिरिक्त वह सेव्य सेवक द्वारा जो-जो सेवा कराता है उसका उसे पारिश्रमिक भी देता है। सेवक भी इसी वृत्तिके लिए उसकी सेवा करता है, इस कारण उसमें उसका स्वार्थ होता है। तो फिर स्वार्थवश उसे झुकना ही पड़ता है। तभी तो वह उन्नत्यर्थ प्रणाम करता है, जीवनार्थ प्राणोंको छोड़ता है, अपने सुखकेलिए दुःख उठाता है। यह बात स्वाभाविक ही है। शूद्र सेवक होता है। इसमें सब शास्त्रोंका ऐकमत्य है। 'मनुस्मृति'में सेवाको 'श्ववृत्ति' कहा गया है—'सेवा श्ववृत्तिराख्याता' (४।६)। श्ववृत्ति होनेसे वह निम्न होती है, बल्कि 'स्वच्छन्दं चरति श्वा सेवकः परशासनात्' इस कथनसे सेवकको श्वा (कुत्ते)से भी निन्दित कहा जाता है।

ऋण लेनेवाला धन देनेवालेका सूद बढ़ाकर उसका उपकार करता है, तथापि वह 'अधमर्ण' ही कहा जाता है और उसके सामने दीन रहता है, दूसरा 'उत्तमर्ण' कहा जाता है, उसका मुंह ऊँचा रहता है। तो जब सेव्य सेवकको वेतन देता है, तब सेवककी निकृष्टता स्वाभाविक ही है। फिटन चलानेवाला नौकर स्वामीसे ऊँची गद्दी पर बैठता है, स्वामी तो नीचेकी गद्दी पर बैठता है वह वाहक फिटन चलाकर स्वामीका उपकार करता है, फिर भी रथचालक निम्न माना जाता है। यह स्वाभाविक ही है। स्वाभा-विकतामें आक्षेपका क्या अवकाश?

मल-मूत्रके प्रदेश पुरुषका कितना उपकार करते हैं। यदि ये मार्ग बन्द हो जाएँ, तो पुरुषका जीवन भी समाप्त हो जावे। फिर भी ये प्रदेश अस्पृश्य माने जाते हैं। जलसे धोये हुए भी अस्पृश्य ही रहते हैं। इस प्रकार अन्त्यज आदिके विषयमें भी जान लेना चाहिये। सेवक सारे सेवाके कारण सदा निम्न ही होते हैं, निम्न माने भी जाते हैं। उनमें कई स्पृश्य होते हैं, कई अस्पृश्य। शूद्रोंके भी दो भेद होते हैं—सच्छूद्र और असच्छूद्र। सच्छूद्र स्पृश्य होते हैं, असच्छूद्र-अन्त्यज अस्पृश्य। शूद्र सवर्ण होते हैं, अन्त्यज अवर्ण। अवर्णोंकी अस्पृश्यता शास्त्रानुमोदित है, इसका कुछ निर्देश गत निबन्धमें हो चुका है।

परमात्माने ब्राह्मणादि तीन वर्णोंकी सेवाकेलिए शूद्रको पाँवसे उत्पन्न किया, उसे मेध्य मुखसे उत्पन्न क्यों नहीं किया? वेदने 'शूद्रकोऽस्य मुखमासीत्' यह क्यों नहीं कहा? अमेध्य पाँवसे उसे क्यों उत्पन्न किया? देखिये इसमें शुक्ल 'यजुर्वेद' (वा. सं.)का 'पुरुषसूक्त (३१।११)। कृष्णयजुर्वेद (तैत्तिरीय) में भी कहा है—'असतो वा एष सम्भूतो यत् शूद्रः' (१।२।३) इससे यह रहस्य स्पष्ट हुआ कि वेदने ही यह सूचित किया है कि—सेवक सदा सेव्यकी अपेक्षा निकृष्ट होता है। इसलिए वेदमें शूद्रकेलिए कहा है—'यो दासं वर्णमधरं गुहाऽकः' (ऋ. २।१२।४) यहाँ पर परमात्माने शूद्रको निम्नवर्ण तथा गुहागत सूचित किया है। 'यो नो दास आर्यो वा' (ऋ. १०।३८।३) 'उत शूद्रे उत आर्ये' (अथर्व. १९।६२।१) इत्यादि बहुत मन्त्रोंमें परमात्माने शूद्रको आर्य भी नहीं

माना। 'न यो ररे आर्यं नाम दस्यवे' (ऋ. १०।४९।३) यहाँ पर दासको वेदने आर्य नाम देना भी उचित नहीं माना। 'असुर्यः शूद्रः' (कृ.य.तै. १।२।६।७) यहां शूद्रको आसुर माना है। इस पर आ.स.के अनुसन्धाता श्रीभगवद्दत्तजी कुछ अपनी कल्पना करते हुए कहते हैं—'ज्ञानहीन ही शूद्र है; ऐसे मूर्खके समीप वेदका पढ़ना निरर्थक है। इसलिए 'ब्राह्मण' कहता है—पांववाला चलता-फिरता ही यह श्मशान है, जो शूद्र है; जिस प्रकार श्मशानमें स्वाध्याय वर्जित है, वैसे ही शूद्रके समीप नहीं पढ़ना चाहिये...अज्ञानी होनेसे ही शूद्रका यज्ञमें अधिकार नहीं है। इसलिए ही कहा है—'तस्मात् शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' (तै.सं. ७।१।१।६) (वैदिक वाङ्मयका इतिहास द्वि.भा. पृ. २२०-२२१)

जो कि—'रुचं नो धेहि' इस मन्त्रमें ब्राह्मण आदियों में रुक् (तेज)की प्रार्थना की गई है; तो वहाँ वेदको सबका समान तेज इष्ट नहीं, अन्यथा उनमें चार संख्या कैसे हो सकती? इस कारण इस मन्त्रकी व्याख्या करते हुए श्रीउवटाचार्यने भी कहा है——'अनुत्सन्नधर्माणो यथाशक्यं दीप्ता भवेम, तथा कुरु—इत्याशयः'। तब जैसे 'ब्राह्मणस्य तपो दानं, तपः क्षत्रस्य रक्षणम्। वैश्यस्य तु तपो वार्ता, तपः शूद्रस्य सेवनम्' (११।२३५) इस मनुके पद्यमें समान भी 'तप' अपना भिन्न-भिन्न अर्थ बता रहा है; जैसे कि—'चाणक्य-नीति'में 'बलं विद्या च विप्राणां, राज्ञां सैन्यं बलं तथा। बलं वित्तं च वैश्यानां, शूद्राणां परिचर्यिका' (२।८) यहां पर समान भी 'बल' शब्द भिन्न-भिन्न वर्णकेलिए भिन्न-भिन्न कहा गया है। 'कोकिलानां स्वरो रूपं नारीरूपं पतिव्रतम्। विद्यारूपं कुरूपाणां, क्षमा

रूपं तपस्विनाम्' (चाणक्य· ३।६) यहाँ पर 'रूप' शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ बता रहा है, वैसे ही उक्त वेदमन्त्रमें भी तेजका पर्याय 'रुक्' भी चारों वर्णोंकेलिए अपना भिन्न-भिन्न अर्थ रखता है। जैसेकि—वेदमें ही कहा है—

'आ ब्रह्मन्! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्, आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्' (यजुः २२।२२) 'ब्रह्मणे ब्राह्मणं, क्षत्राय राजन्यं, मरुद्भ्यो वैश्यं, तपसे (कृच्छ्राय) शूद्रम्, (यजुः ३०।५) वेदकी इस साक्षीसे ब्राह्मणकेलिए ब्रह्मवर्चस-तप रूप तेज की, क्षत्रियकेलिए बल-रूप क्षात्र तेज की, इस प्रकार वैश्यकेलिए धन रूप शक्तिकी, शूद्रकेलिए सेवा-रूप सामर्थ्यकी प्रार्थना इष्ट है। इसके अतिरिक्त उस मन्त्रमें 'नः ब्राह्मणेषु' (हमारे ब्राह्मणोंमें) 'नः क्षत्रियेषु' (हमारे क्षत्रियोंमें) यहां पर ब्राह्मण और क्षत्रियोंको अपना कहकर उन दोनोंको ऋषिने श्रेष्ठ सूचित किया है। शूद्रको सब वर्णोंके अन्तमें रख कर उसकी निम्नता सूचित की गई है। इससे वेद स्पष्ट-रूपसे चार वर्णोंकेलिए अपना अभीष्ट वैषम्यवाद (भिन्न-भिन्नधर्मता) बता रहा है। स्मृतिकारोंने इस मन्त्रको जानते हुए भी वेदके पूर्वापर सब मन्त्रोंकी विवेचना करके यही आशय—यही भाष्य उक्त मन्त्रका अपनी स्मृतियोंमें दिया है। परन्तु आजकलके वैदिकम्मन्य सुधारकगण पूर्वापररहित एक-दो मन्त्र उपस्थित करके उसमें गद्गद् हुए-हुए, अपने कपोल-कल्पित उसके आशयको ही वेदकालीन व्यवहार बताते हुए और स्मार्त-व्यवहारको वाणीमात्रसे वेदविरुद्ध बतानेका साहस करते हुए

देखे गये हैं. पर वेदोंका पूर्ण ज्ञान न होनेसे वे शोच्य हैं, वेद-भाष्यरूप स्मृतिग्रन्थोंपर 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' (रघुवंश २।...) वे आक्रमण कर रहे हैं, यह खेदकी बात है।

तो क्या उक्त तर्क उपस्थित करनेवाले यही चाहते हैं कि शूद्रको उत्कृष्ट कर दिया जाय और द्विजको निकृष्ट? तो क्या वे सेवक पांवको सिरकी जगह रखना चाहते है? यदि ऐसा है तो प्रसन्नता से ऐसा करें। तब उसका फल भी देखें। पांव जाकर गेहूँ लाता है, उसे पीसता है हाथ, और उसे खा जाता है मुँह। इसलिए आलसी मुख तो हुआ निकृष्ट और पांव हुआ उत्कृष्ट! अब पांव को काटकर सिरके स्थान और सिरको काटकर पांवके स्थान रख दीजिये, फिर चलाइये व्यवहार। अच्छा रहेगा!

वस्तुतः उक्त तर्क तर्काभास ही हैं। जो वृत्तियां वादीने संगृहीत की हैं, वे सब शूद्र और अन्त्यजोंकेलिए शास्त्रोंमें नियमित की गई हैं, जिससे सेव्य द्विजोंको भी उक्त वस्तुएँ मिल जावें, और सेवक शूद्र-अन्त्यजोंकी उदरपूर्तिरूप वृत्ति भी हो जावे। तब इसमें आक्षेपकी क्या बात है? क्या वे वृत्तियां द्विजोंको दिलवाकर शूद्र आदियोंका पेट काट दिया जावे? क्या अब 'शर्मा बूट फैक्टरियां' खुलें, और चमारोंका रुपया भी उनसे हटकर वादीकी बिरादरी पहुँचे; यही क्या वादीकी इच्छा है?

शूद्र-अन्त्यज आदिको अन्तिम होनेसे ही निम्न माना गया है, वादीसे कहे कारणोंसे नहीं। स्वा·द·जी जन्मसे तो नहीं, ... मूर्खतासे ही शूद्रको निकृष्ट मानते हैं, वे भी चारों वर्णों

साम्यवाद नहीं मानते। शूद्र वृत्ति चाहता है, ऊँचा बनना नहीं चाहता। ऊँचेके पास कुन्जीके अतिरिक्त रहता ही क्या है? वादीसे कहा हुआ व्यवहार सभी जातियोंमें ऐसा ही मिलता है। मुसलमानोंमें जो पद 'सैयद' का होता है, वह उनके भंगी-चमारका नहीं होता। जो पद मौलिवीका होता है वह कुटाणा जातिवालेका नहीं होता। तब इस घृणाके कारणसे ही हम हिन्दुओंकी संख्या नहीं घटी, न इससे मुसलमानोंकी संख्या बढ़ी है। उनकी संख्या बढ़नेका कारण तो कहीं काम-पूर्तिके साधन देनेसे, कहीं लोभ देकर, कहीं बल-पूर्वक, कहीं छल-कपटसे धर्म और जीविका आदिसे हीन काम-लोभादिग्रस्त हिन्दुओंको अपनेमें मिला लेना है, परन्तु क्या वादी भी हिन्दुओंकी संख्या बढ़ानेके इच्छुक होकर उन्हें भी ऐसे ही अपकर्म करनेकी सम्मति देते हैं? पर हिन्दुलोग इन बुरे कर्मों को नहीं करना चाहते; वे धर्म-रहित संख्यावृद्धिके इच्छुक नहीं, क्योंकि हिन्दु-जातिमें धर्मका दृढ-बन्धन है। मुसलमानोंके सदृश व्यवहार वादी कर भी नहीं सकते। वे लोग एक ही पात्रमें एक-दूसरेका जूठा पानी पीते हैं; क्या वादी भी हिन्दुजातिमें ऐसा व्यवहार चाहते हैं?

वस्तुतः स्वतन्त्रताका मार्ग तथा उसका आस्वाद दिखलाकर आजके सुधारक ही हिन्दुओंके भिन्न-जातियोंमें जानेके कारण बनते हैं; वे ही फिर हिन्दुजातिको वैसा करनेकेलिए डांटते हैं। इस पर 'स्वयमेव अक्षि आकुलीकृत्य स्वयमश्रुकारणं पृच्छसि' यह लोकोक्ति ठीक घटती है। इन्हीं सुधारकोंने ही पहले पादस्थानीय-मुसलमानोंको

भी सिरपर चढ़ाया था, उसीके फलस्वरूप ही उन्होंने भारतका एक भाग अपने अधीन करके उसे पाकिस्तान बनाकर वहांके हिन्दुओंको बाहिर कर दिया। अब वे ही सुधारक पादादिस्थानीय शूद्र-अन्त्यज आदियोंको सिर पर चढ़ाते जा रहे हैं; वे (शूद्रादि) भी उसका फल हिन्दुजातिको देंगे ही। किसी कविकी यह ठीक उक्ति है—

'उन्नतं पदमवाप्य यो लघुर्हेलयैव स पतेदिति ब्रुवन्।
शैलशेखरगतो दृशत्कणः चारु-मारुतधुतः पतत्यधः'॥

('जो छोटा हो और उसे उन्नत पद दे दिया जावे वह शीघ्र ही गिर जाता है' यह कहता हुआ पहाड़की चोटी पर पड़ा हुआ पत्थरका छोटा कण हवासे हिलाया हुआ नीचे गिर रहा है।) आशा है—वादी दूरदर्शिताका आश्रय करके हिन्दुजातिकी हानि करनेवाले इन तर्काभासोंको छोड़ देंगे।

तर्क (२) "यदि किसी घरकी नींवकी ईंटोंको उस घरसे अलग कर दिया जाय, तो वह घर शीघ्र गिर पड़ेगा, क्योंकि—उस समय उसकी नींव न रहेगी। हिन्दुजाति की भी यही दशा है, उसने अपनी आधारभूत शूद्र जातिको अपनेसे पृथक् कर दिया है, इसलिए उसका भवन भी पतनासन्न है, जिसका पहिला प्रमाण 'पाकिस्तान' है।

तर्क (३) वृक्षकी रक्षाका कारण भी मूल ही हुआ करता है, जो स्वयं मिट्टी-कीचड़से सना रहकर अपने आपको क्षीण करता है, परन्तु वृक्षको हरा रखता है। उस मूलकी उपेक्षासे वृक्ष भी अस्थिर

हो जायगा, इस प्रकार निकृष्टकर्मा शूद्र भी घृणा-योग्य नहीं है, अपितु शुद्ध करने पर वह द्विजके ही समान मान पाने योग्य है"। (भारतीय-धर्मशास्त्र पृ. ११०)

विचार (२) वादीका उपन्यास उसीके पक्षकी हानि करनेवाला है, और सनातनधर्मके पक्षका साधक है। देखिये—नींवकी टूटी-फूटी ईंटें अपने स्थान पर दृढ की जाती है, उसमें सीमेंट अथवा मिट्टीका लेप रूप अन्तर करके उन पर भवन बनाया जाता है। वह नींव दबी हुई रहती है, मिट्टीसे भरी-पुरी रहती है और अस्पृश्य रहती है। सनातनधर्म उन ईंटोंको अस्पृश्य मानकर उनकी उसी रूपमें स्थितिको ही मङ्गलावह समझता है। वह अस्पृश्यता घृणा-मूलक नहीं होती, किन्तु भवनकी रक्षणार्थक वा मङ्गलार्थक ही हुआ करती है। जैसेकि परकीया स्त्री हमसे अस्पृश्य होती है, वहां घृणा कारण नहीं होती, किन्तु धर्मरक्षणका उद्देश्य होता है. जिससे सन्तानमें सङ्करता न हो।

यदि नींवकी ईंटोंको उसी दशामें न रखा जावे, किन्तु उनका दबा रहना वा उनकी अस्पृश्यता उनकी शोचनीयता मानी जावे, इसीलिए वादी उन अस्पृश्य ईंटोंको वहांसे खींचकर जल आदिसे उनको शुद्ध करके, शेष महलकी ईंटोंके समान करना चाहें, तब तो वादी उस भवनको ही गिरा देंगे। वे ईंटें वैसी ही नीची रहें, वैसी ही दबी रहें, वैसी ही अस्पृश्य रहें, उनमें एक भी जलकी बूंद उनके संशोधनके उद्देश्यसे अथवा उसमें लिपी मिट्टीके प्रवाहार्थ न जावे, तब तो भवन स्थिर रहेगा। यह सनातनधर्मका

पक्ष है। वे नींवकी ईंटें महलकी ईंटोंके समान सबसे छुई महलकी तथा नींवकी ईंटोंके मध्यमें कुछ भी मिट्टी आदि का न रहे। उनकी नींवकी ईंटोंको जलसे शुद्ध कर दिया जाया उनको नीचा न रखा जावे, किन्तु वहांसे उनको निकालकर ईंटोंके समान वा उनसे अभिन्न उनको रखा जावे, यह पक्ष है। अब विज्ञ पाठक प्रतिभू (जामिन) बनें कि-किस मङ्गल तथा किस पक्षमें अमङ्गल है। शूद्र-अन्त्यज जाति जातिमें ही रहे, द्विज-जातिके अन्दर न घुस जाय किन्तु द्विज- नीची होकर रहे; इस पक्षमें दोनों (द्विज-शूद्रों) का मङ्गल है। वादीकी नीतिसे शूद्रोंकी उत्तेजना होने पर दोनोंका ही अमङ्गल है। तभी श्रीमनुजीने भी कहा है कि 'वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत्। तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत्।" (८।४१८) फलतः सनातनधर्म नींवकी ईंटोंको भवनके नीचेसे नहीं रहा, वादी ही उनको नीचेसे निकालकर धो-धाकर ऊपरकी पर रखा चाहते हैं। उसके दुष्परिणामको स्वयं सोचें।

विचार (३) इसी तरह वादी यदि यही कीचड़से सने हुए अन्य अवयवोंसे अस्पृष्ट मूलको अपनी स्थितिमें भी रखेंगे, तो वृक्षका मङ्गल है, पर यदि वे साम्यवादकी माधुरीसे मस्त होकर मूलको भी वृक्षके अन्य अवयवोंके समान करना चाहें, मूलकी मिट्टी वा कीचड़को जलसे धो डालें, अस्पृश्य-मूलको मानकर उसको स्नान कराकर उसे स्पृश्य कर डालें, जिससे बाहरी-वायुके आनन्दको प्राप्त करे, और शुद्ध होकर वह

अन्य अवयवोंके समान हरियालीको पा ले, यदि वादी यही चाहते हैं, तो उन्हें जानना चाहिए कि वे साम्यवादका प्रचार करके वृक्ष-को भी सुखा डालेंगे, मूलको भी। मूलके अस्पृश्य रहने पर ही वे वृक्षके फलोंको प्राप्त कर सकेंगे, विपरीततासे नहीं। वह अस्पृश्यता भी घृणानिमित्तक नहीं है, किन्तु वृक्ष तथा स्वयं मूलके भी मङ्गलार्थक ही है इस प्रकार वादीको शूद्र-अन्त्यज आदिके विषयमें भी जान लेना चाहिये।

(ख) वादीसे उपक्षिप्त 'पाकिस्तान' अंग्रेजोंकी राजनीतिक चालसे बना है कि यहाँ निकटवर्ती रूस न छा जाए; अन्त्यजोंकी अस्पृश्यताके कारण नहीं बना। उस कारणके होने पर तो 'अछूत-स्तान' बनता; 'पाकिस्तान' नहीं। इस कारणके होने पर तो हिन्दु-अन्त्यज 'पाकिस्तान'में ही रह जाते, जहाँ उनको समान मान मिलना था, यहाँ (हिन्दुस्थानमें) फिर वे अछूत बननेकेलिए कैसे आते? पर वे भी उन हिन्दुओंके साथ वहांसे निकल आये? तब स्पष्ट है कि-वादीसे कहा हुआ कारण सत्य नहीं है।

मुसलमानोंको तो अन्त्यजोंकी तरह किसी ने अस्पृश्य नहीं बनाया। उनके साथ हिन्दुओंका व्यवहार भी था। पर पाकिस्तान-की रचना तो वस्तुतः उनकी अपने धर्ममें दृढताके कारण, और हमारी अपने धर्ममें अदृढताके कारण हुई है। वस्तुतः वे मुसलमान भी पादस्थानीय हैं। विशेष करके पंजाबमें कांग्रेसी हिन्दुओंने जब उन पादस्थानीयोंको अपने समान कर दिया, बल्कि-अपने सिर पर चढ़ा दिया, उसीके फलस्वरूप ही उन्होंने अलग एक

'स्तान' बनवा लिया, और उन (हिन्दुओं) को वहांसे बाहर कर दिया। ऐसे ही यदि वादी पादभूत-शूद्रों और पाद-मुखसङ्कर-भूत अन्त्यजोंको अपने समान कर देंगे तो यह असम्भव नहीं कि-अवशिष्ट हिन्दुस्तान 'अछूतस्तान' इस पृथक् खण्डमें भी विभक्त हो जावे। एक बार साँपकी पूँछने भी सिरके समान मान पाना चाहा था, उसके फलस्वरूप साँपके शरीरकी जो दुर्दशा हुई, जिस प्रकार कि-उसने प्रहार प्राप्त किये-यह बात सर्वलोक-प्रसिद्ध है। वादिमहाशयके भी वैसा प्रयत्न करने पर समाजकी बहुत दुरवस्था होगी—यह बात उन्हें दूरदर्शितासे विचारनी चाहिये। अन्य तर्क अन्य-पुष्पमें विचारित होंगे।

---

(९) "ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी"।

पाठकगण पहले शास्त्रीय विषयोंको पढ़ कर कुछ थकान प्राप्त कर चुके; आगे भी उन्होंने कुछ शास्त्रीय-विषय पढ़ने हैं, बीचमें कुछ सुगम विषय भी चाहियें; तभी इस पुष्पका 'हिन्दुधर्मके विविध-विषय' यह नाम भी सार्थक होगा। *स्त्री-शूद्रका विषय पहलेसे जारी भी है; तदनुसार यह प्रसिद्ध विषय रखा जाता है।

*स्त्री-शूद्रका साहचर्य धर्मशास्त्रोंमें देखिये-'स्त्री-शूद्रस्तु सकृत् सकृत्' (मनु. २।१३६) 'स्त्री-शूद्रपतितांश्चैव नाभिभाषेत' (११।२२३) 'स्त्री-शूद्र-विट्क्षत्रवधः' (११।६६) 'प्रत्यभिवादेऽशूद्रे' (पा. ८।२।८३) 'स्त्रियां न' (वा.) 'यदि स्त्री यद्यवरजः (शूद्रः) (मनु. २।२२३) 'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः' (गीता ९।३२) इत्यादि।

(१) 'ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी। ये सब (सकल) ताडनके अधिकारी' गोस्वामी श्रीतुलसीदासकी 'मानस'-स्थित यह चौपाई कुछ समयसे आलोचित हो रही है। आजकल स्त्री-शूद्रोंकी सहानुभूतिका युग आया हुआ है। आजकल एक भूसा बेचनेवाला भी अपनी दुकानपर भूसा खरीद रही हुई सुन्दर-स्त्रीका चित्र लगा देता है। शूद्र तथा अन्त्यज भी सुधारक अन्य-संस्थाओं तथा कांग्रेसकी कृपासे सिरपर चढ़ते चले आ रहे हैं। तब इन स्त्री-शूद्रोंसे विरुद्ध कोई बात किसी पुस्तकमें मिल जावे; तो आजकलके सुधारक उसे माननेको उद्यत नहीं होते, प्रत्युत उसके प्रणेताको खूब खरी-खोटी सुनाई जाती है। 'नमस्ते-प्रचार' ट्रैक्टमें उसके निर्माताने इसकेलिए गोस्वामीजीको खूब खरी-खरी सुनाई है। इस प्रकार कई शास्त्रिपरीक्षोत्तीर्ण आर्यसमाजिन-लड़कियाँ भी इससे गोस्वामीजीकी खूब खबर लेती हुई दीखती हैं।

(२) परन्तु जो कई लोग 'रामायण'के प्रणयनसे गो० तुलसीदासजीकी प्रशंसाके पुल बाँधा करते हैं; वे इस उल्लेखसे गोस्वामीजीको डांटते तो नहीं; पर अपने बचावकेलिए कह दिया करते हैं कि-यह चौपाई गोसाईंजीकी बनी नहीं, यह तो प्रक्षिप्त है; क्योंकि-वे स्त्री-निन्दक नहीं थे-यह कहकर वे इस चौपाईसे अपना पल्ला सहज ही छुड़ा लिया करते हैं। बिना खण्डनका परिश्रम किये, बिना कुछ दिमागका पसीना बहाये, बिना बोतलकी स्याहीका कुछ खर्च किये-'यह प्रक्षिप्त है' कह देना खण्डनका बड़ा सुन्दर प्रकार है, 'न लगा रंग, न लगी फटकरी, रंग चोखा

होगया'। प्रतिवक्ता प्रत्युत्तरमें जो बकता रहे; उसे वे सुनते तक नहीं।

(३) वास्तवमें यहाँ प्रक्षिप्तता बताना तो निर्मूल है; क्योंकि-प्रकरणवश जहां-जहां गोस्वामीजीने स्त्री-शूद्रादिकी निन्दा की भी है, वहाँ-वहाँ कोई आधार भी उन्होंने रखा ही है. निराधार कुछ नहीं लिखा। जैसेकि—(क) 'का न करै अबला प्रबल' वर्षा ऋतुमें भगवान् राम लक्ष्मणको कहते हैं। इसका मूल-'अबला यत्र प्रबला, बालो राजा, निरक्षरो मन्त्री। नहि-नहि तत्र धनाशा, जीवित-आशापि दुर्लभा भवति' यह एक प्रसिद्ध वचन है। इसमें स्त्रीको प्रबल कर (सिर चढ़ा) देनेसे जीवनकी आशाका भी समाप्त हो जाना लिखा है; जिसके उदाहरण राजा दशरथ हैं; कैकेयीको सिर चढ़ाना-उनके जीवनसमाप्तिका कारण बना। (ख) वर्षाऋतुमें भगवान् रामका लक्ष्मणको कहा यह वचन गो०जीने लिखा है-'जिमि स्वतन्त्र होइ बिगरहिं नारी'। इसका मूल-'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' (९।३-५-७) 'पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैःस्नेह्याच्च स्वभावतः। ...भर्तृष्वेता विकुर्वते' (९।१५) एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापति-निसर्गजम्' (९।१६) इत्यादि मनुवचन तथा 'स्वातन्त्र्येण विनश्यन्ति कुलजा अपि योषितः' (बृहत्पराशर. ४।५८) इत्यादि वचन हैं। (ग) 'नारि-सुभाव सत्य कवि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥ 'साहस, अनृत, चपलता, माया। भय, अविवेक. अशौच अदाया' इसका मूल निम्न वचन है-'अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभिता। निर्गुणत्वम् (निर्दयत्वम्) अशौचं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः'

(देवीभागवत १।५।८३, चाणक्यनीति २।१, हितोपदेश १।१६५, पञ्चतन्त्र-मित्रभेद)। 'शय्यासनमलंकारं कामं क्रोधमनार्जवम्। द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीणां मनु (प्रजापति) रकल्पयत्' (मनु. ६।७) इत्यादि मनुस्मृति-आदि धर्मशास्त्रोंके वचन गोस्वामीजीके स्त्री-सम्बन्धी वचनोंके मूल हैं। (घ) इस प्रकार गो०जी ने अपराधिनी अहल्याको पतिद्वारा पत्थरपनेका शापरूप ताड़ना भी दिलाई है। सतीको महादेव-द्वारा अपने-उपास्य रामके दर्शनके निषेधको न मानने पर अन्तमें सतीदाहरूप दण्ड भी दिलाया है। इस प्रकार उक्त चौपाईकी प्रक्षिप्तता तो खण्डित होगई।

(ङ) इसी प्रकार स्त्रीके स्वभावके विषयमें गो०जीके अन्य वचन भी द्रष्टव्य हैं—'जदपि सहज जड़ नारि अयानी' 'हँसिह हुँ सुनि हमरी जडताई' यहाँ पर पार्वती स्त्रियोंकी प्रतिनिधितासे उनकी जडता बताती है। इसका मूल वेद-वचन हम आगे लिखेंगे। (च) इस प्रकार अनसूया श्रीसीताको कहती है—'सहज अपावन नारि'। 'राखिय नारि जदपि उर मांही। जुवती सास्त्र नृपति बस नांही' (अरण्यकाण्ड) यहाँ स्त्रीका दूसरेके बस न हो सकना कहा है। इस पर वेद-वचन आगे देखिये।

(छ) भरत स्त्रियोंके विषयमें विचारते हैं—'विधिहु न नारि-हृदयगति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी'। इसके मूल वचन—'स्त्रीणां चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः' 'मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदि हालाहलं स्मृतम्' इत्यादि हैं। (ज) 'अवगुन-मूल शूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि' यह श्रीराम के प्रति श्रीनारद-

का वाक्य है। (झ) 'नारि सहज जड अज्ञ' यह सतीका वचन है।

(ञ) 'जदपि जोषिता अनअधिकारी' यहाँ स्त्रीको वेदमें *अनधिकारिणी बताया है—इसका मूल 'निरिन्द्रिया अमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः' (९।१८) यह मनुका वचन है।

---

*कई व्यक्तियोंका विचार है कि—'वेदमें जब स्त्री और शूद्र शब्द तथा उनके कर्तव्य आते हैं; तब यदि स्त्री—शूद्रोंका वेदाधिकार न होगा; तो उनको अपने—कर्तव्यका ज्ञान कैसे होगा? अतः स्पष्ट है कि—स्त्री—शूद्रका वेदमें अनधिकार नहीं, इस पर वक्तव्य यह है कि—वेदमें स्तनपायी बच्चों तथा पशु—पक्षियोंके नाम तथा उनके कर्तव्य भी आते हैं; तब क्या इससे उनको भी वेदाधिकार हो जावेगा? 'अनड्वान ब्रह्मचर्येण अश्वो घासं जिगीर्षति' (अथर्व. ११।५।१८)में घोड़े एवं बैलका कर्तव्य बताया गया है। 'उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसनि' (ऋ. ४।४०।४) यहां घोड़ेका गर्दन बगल तथा मुँहमें लगाम आदिसे बन्धे जानेका कर्तव्य आया है। 'वोढाऽनड्वान' (यजुः २२।२२) इत्यादि भी। ओषधियोंके कर्तव्य भी बताये गये हैं। इसी प्रकार छोटे बच्चोंके भी जातकर्म—चूड़ाकरण—कर्णवेधादिसंस्कारोंमें भी उनके कर्तव्य बताये गये हैं; तब इससे क्या घोड़े-बैल आदि पशुओं तथा छोटे-बच्चोंका भी वेदमें अधिकार हो जाएगा? नहीं, किन्तु उन बच्चोंके पिता आदि तथा घोड़ों—बैलोंके स्वामी आद उनके कर्तव्योंको वेदादिसे जानकर उनसे वह कर्तव्य करा लेते हैं, इस प्रकार पति स्त्रियोंसे तथा द्विज शूद्रादिसे वे कर्तव्य करा ही लेते हैं; उन्हें वेदके अधिकार न होने पर भी उनकी कोई हानि वा वेदविरोध नहीं होता। घोड़े आदि स्वयं बगल वा मुंहमें तंग-लगाम आदि नहीं डाल लेते—उनके स्वामी सब उनसे करा लेते हैं, वैसे प्रकृतमें भी समझ लें। इस प्रकार इस युक्तिसे स्त्री—शूद्रका वेदाधिकार सिद्ध नहीं हो जाता।

(ट) 'अधमसे अधम अधम अति नारी' यह भी स्त्री-जातिके विषयमें गोस्वामीजीकी चौपाई है; तब नारीकी ताडनीयताकी चौपाई भी गोस्वामीजीकी क्यों न होगी ? यह चौपाई भी निर्मूल नहीं है, इसका मूल भी कृष्णयजुर्वेदमें मिलता है। जैसेकि–'तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीरपि पापात् पुंस उपस्तितरं वदन्ति' (तै. सं. ६।५।८।२) इसका अर्थ श्रीसायणाचार्यने यह किया है–'तस्माल्लोके स्त्रियः सामर्थ्यरहिताः, अपत्येषु दायभाजो न भवन्ति। पापात्–पतितादपि पुंसोपि, उपस्तितरं–हीनतरं स्त्रीस्वरूपं वदन्ति' यहाँ पर स्त्रीको स्वकर्म-पतित पुरुषसे भी *अधम कहा

*कई व्यक्ति 'उत त्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी। अदेवत्राद् अराधसः' (ऋ. ५।६१।६) इस मन्त्रसे स्त्रीको पुरुषसे श्रेष्ठ बताते हैं; उन्हें जानना चाहिये कि–यह मन्त्र देवपूजन न करनेका निन्दार्थवाद है, इसका अर्थ है कि–देवताओंकी पूजा न करनेवाले और देवताके निमित्त धन-दान न देने वाले पुरुषसे देवताओंकी ओर मन लगाने वाली स्त्री भी श्रेष्ठ है। अर्थवादमें विवक्षित अंशमें तात्पर्य हुआ करता है, शब्दोंके अर्थमें तात्पर्य नहीं हुआ करता। इसका इतना ही तात्पर्य है कि–पुरुषको देवपूजा तथा देवनिमित्तक धन-दान करना चाहिये। इसी अर्थवादसे उल्टा स्त्रीकी पुरुषकी अपेक्षा निम्नता स्पष्ट हो रही है; नहीं तो ऐसी शब्द–योजना न होती। जैसे कहा जावे कि–'परोपकार न करने वाले मनुष्यसे पशु भी श्रेष्ठ है, जो किसीके काम आजाता है'। इससे मनुष्यसे पशुकी श्रेष्ठता नहीं हो जाती; किन्तु इससे परोपकारका प्रशंसार्थवाद, और परोपकार न करनेवाले पुरुषका निन्दार्थवाद सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार प्रकृत मन्त्रमें भी समझना चाहिये।

गया है। इस प्रकार जब स्त्री-निन्दा गो०जीने बहुतसे स्थलों की है, उसमें धर्मशास्त्र आदिके वचनोंकी साक्षी भी है, त[illegible] स्त्रियोंकी ताडनाधिकारिता गो०जीसे इष्ट सिद्ध हुई, अनभीष्ट नहीं; तब मानसमें उक्त चौपाईकी प्रक्षिप्तता खण्डित होगई।

(४) जो इससे भी बढ़कर गो० तुलसीदासजीके श्रद्धालु हैं, इधरसे जिन्होंने इस युगकी विचारधाराको भी अपनाया हुआ है, वे यहां प्रक्षिप्तता न कहकर उसका पाठ ही बदल देते हैं। (क) कई लिखते हैं कि "ढोल, गँवार, मूढ, पशु, नारी।" इ[illegible] पाठमें वे 'शूद्र'को उड़ाकर उसके स्थानमें 'मूढ'का अभिषेक क[illegible] डालते हैं, और उस पाठको गोस्वामीजीका कह देते हैं। 'गँवार' और 'मूढ'की पुनरुक्ति भी उन्हें प्रतीत नहीं होती। (ख) इस प्रकार दूसरे शूद्र-सहानुभूतिकर्ता "ढोल, गँवार, छुद्र, पशु, नारी। सक[illegible] ताड़नाके अधिकारी' यहां शूद्रके स्थान 'छुद्र (क्षुद्र) कर देते हैं। यहां भी गँवार और क्षुद्रकी पुनरुक्ति पहलेकी ही भांति रहती है। 'शूद्र' कहनेमें तो वह दोष नहीं रहता। (ग) कई महाशय "ढोल गँवार-शूद्र, पशु-नारी" यह पाठ लिखकर 'गँवार' शब्दको 'शूद्र' का विशेषण बनाकर, 'पशु' शब्दको 'नारी'का विशेषण बनाकर उक्त तीनोंको ताड़नाका अधिकारी बना देते हैं। परन्तु यह व्यर्थ है; क्योंकि विशेषण सदा साभिप्राय होता है। तब वे विशेषण केवल शूद्र और नारीके ही क्यों हों ? तब तो गँवार त्रैवर्णिक और पशुसदृश-पुरुष ताड़नाके अधिकारसे बहिर्भूत हो जाएँगे। तब भी गो.जीके मतमें शूद्र और नारी ताड़ना[illegible]

अधिकारी ही रहे। इससे वादियोंकी ही हानि हुई-'भक्षितेपि लशुने न शान्तो व्याधिः' (लहसुन खाया, फिर भी बीमारी न गई) पाठ बदलने पर भी उन्हें कोई लाभ न मिला। (घ) कई महाशय "ढोल, गँवार शूद्र, पशु-नारी। ये चारों ताड़न अधिकारी" यह पाठ गढ़कर नारीका 'पशु' विशेषण बनाकर 'चारों'को ताड़ना का अधिकारी बतलाते हैं। (ङ) कई महाशय "ढोल, गँवार, शूद्र, पशु-नाड़ी।" यह पाठ कल्पितकर 'नाड़ी'का अर्थ 'अनाड़ी' करके उसे विशेषण तथा 'पशु'को विशेष्य बना डालते हैं, (च) कई लोग पाठ तो 'पशु नारी' ही मानते हैं, पर नारीका प्रयोग 'नाड़ी'केलिए मानते हैं। उनका अभिप्राय है कि 'कर जोड़ी' आदिके स्थानमें गोस्वामीजी 'कर जोरी' आदि लिखते हैं, अर्थात् ड़'को 'र' लिखते हैं, इसी प्रकार 'नाड़ी'के स्थान पर भी उन्होंने 'नारी' लिखा है। 'नाड़ी'का अर्थ 'अनाड़ी' है, वह 'पशु'का विशेषण है। 'अनाड़ी पशु' ताड़नाका अधिकारी है, यह अर्थ करके वे 'नारी' (स्त्री)को सर्वथा उड़ा ही दिया करते हैं। ऐसे लोग इस प्रकार अपने पक्षको भी सिद्ध करते हैं; गोस्वामीजीको भी निर्दोष सिद्ध कर दिया करते हैं। हम जैसोंको-जो उक्त चौपाईका यथाश्रुत अर्थ करते हैं- 'सङ्कीर्ण-विचारवाला' कहकर धता बता दिया करते हैं।

(५) हम इसपर कुछ मीमांसा उपस्थित करते हैं। 'आलोक'-पाठक इधर अवहित होंगे। उक्त चौपाई सुन्दरकाण्डके अन्तमें 'मानस'में आयी है। वक्ता समुद्र, भगवान् रामको इससे अपनी ताड़नीयता बतला रहा है। 'पशु-नारी'का 'अनाड़ी पशु' अर्थ

बतलाना तो सचमुच विचित्र है। 'नारी'का 'नाड़ी' और 'नाड़ी' का 'अनाड़ी' अर्थ मालूम नहीं कि वे किस आधार पर करते हैं, और फिर उसे 'पशु'का विशेषण बना देना तो और भी निर्मूल है। ऐसे पुरुष स्त्रीजातिके साथ ऐसी सहानुभूति करते हैं कि 'नारी'को शब्दसे तो नहीं, पर अर्थदृष्टिसे तो उड़ा ही देते हैं। पर आजकलके जो लोग स्त्रीजातिसे सहानुभूति रखते हैं, वे शूद्रसे भी सहानुभूति रखते हैं। परन्तु आश्चर्य है कि फिर वे शूद्रको ताड़नाधिकारियोंमें कैसे गिन लेते हैं? ऐसा होने पर वे राष्ट्रिय-शासकोंके बजुर्ग श्री बापूजीके अनुयायियोंकी अदृश्य-कोपाग्निमें पतङ्ग बन सकते हैं। अथवा उक्त शासन अपने 'रामराज्य'में 'शास्त्रीय-स्पृश्यास्पृश्यता'की तरह 'मानस'की इस चौपाईको भी 'कानून' बनवाकर बन्द करा सकता है-यह वे नहीं जानते। अथवा वैसे महाशय फिर 'बापूजी'के अनुयायियोंके इस अवसर पर सुलभ-आशीर्वाद प्राप्त करनेकेलिए 'शूद्र'का अर्थ-परिवर्तन करनेका सरतोड़ प्रयत्न करें, कोषोंमें लंगोट पहनकर कूद पड़ें, 'शूद्र'का अर्थ बदलकर ही दम लें।

अथवा जैसे वे 'पशु-नारी'को एक शब्द बना लेते हैं, वैसे ही 'गंवार-शूद्र इस शब्दको भी एक बना लें और उसका 'मूर्ख-शूद्र' अर्थ बना लें। यदि 'मूर्ख-शूद्र'को भी ताड़ना 'बापूजी'के ईश्वरीय आदेशसे विरुद्ध हो; तो 'शूद्र'का ही 'मूर्ख' अर्थ करके गंवार'का अर्थ 'गांवका रहनेवाला' कर दें। तब 'नारी'की तरह 'शूद्र' भी ताड़नासे पृथक् हो जायगा।

(ख) जो लोग 'नारी'को उड़ाना तो नहीं चाहते; पर उसके साथ सहानुभूति भी रखते हैं, वे 'पशु-नारी' इस शब्दको विशेषण-विशेष्य बनाकर 'पशुकी तरह मूर्खा नारी' यह अर्थ करके उस मूर्खाको ताड़नाके योग्य सिद्ध करते हैं, सर्वसाधारण-नारीको नहीं। हम उनकी बुद्धिकी प्रशंसा करते हैं, पर यह अवश्य कहते हैं कि वे ग्रन्थकारकी बात मानें या न मानें, यह उनकी इच्छा; पर उन्हें उचित है कि अन्यका अर्थ उसकी इच्छाके विरुद्ध न बदलें। ऐसा अर्थ करने पर फिर स्त्री-पुरुष तो ताड़नाके अधिकारी रहेंगे; चाहे वे मूर्ख क्यों न हों, परन्तु फिर 'पशु' ताड़नाका अधिकारी न रहेगा, क्योंकि उन्होंने तो 'पशु'का अर्थ ही बदल दिया। 'मनुष्य'को ताड़नाका अधिकारी मानना और 'पशु'को वैसा न मानना यह नैयायिकोंकी दृष्टिमें असह्य हो जायगा। अतः उन्हें विवशतासे अपना अर्थ अशुद्ध स्वीकृत करना पड़ेगा।

(ग) जो कई 'ढोल, गँवार, मूढ अरु नारी' यह पाठ बनाते हैं; उन्हें याद रखना चाहिये कि एक तो यह रामायणके किसी संस्करणमें नहीं, दूसरा यहां 'गँवार' तथा 'मूढ'को पृथक्-पृथक् कहनेसे व्यर्थकी पुनरुक्ति हो जाती है। शूद्र-शब्द तो एक जन्मजात निम्न वर्णका नाम है, वही गोस्वामीजीको यहां विवक्षित है। (घ) जो लोग 'ढोल, गँवार, शूद्र, पशु-नारी। ये चारों—' यह पाठ कल्पित करते हैं, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा पाठ रामायणके किसी संस्करणमें है ही नहीं; फिर तो कोई शूद्रका सहानुभूतिकर्ता 'ढोल, गँवार-शूद्र, पशु-नारी, ये तीनों ताड़न अधिकारी' यह पाठ

भी बना सकता है, और फिर इस पाठमें भी दोष आता है— तो वक्ता 'समुद्र'से भी इस चौपाईका मेल नहीं पड़ता। 'गँ... होनेसे तो उसका ग्रहण हो भी सकता था; क्योंकि—'गगन, स... अनल, जल, धरनी। इन्हके नाथ सहज जड़ करनी।' यह ... जीने समुद्र द्वारा कहलवाकर उसकी जड़ता (गँवारपन) बताई है पर 'गँवार-शूद्र' से तो उसका भी ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि समुद्र शूद्र-वर्ण मनुष्य नहीं। इससे यह स्पष्ट है कि ये सब ... तथा अर्थ जहां गो० तुलसीदासजीके अभिप्रायसे विरुद्ध ... अमौलिक हैं, वहां दोषपूर्ण भी हैं।

(ङ) 'नारी' शब्दका 'अनाड़ी' अर्थ करना और उसे 'पशु'... विशेषण बना देना तो नितराम् अशुद्ध तथा असम्बद्ध ... निराधार है। गोस्वामीजीने 'जोड़ी' 'थोड़ी'के स्थान पर तो 'जोरी थोरी' यह पढ़ा हो, यह तो सम्भव है; पर 'नाड़ी'के स्थानमें 'ना... उन्होंने कहीं नहीं पढ़ा, न ही उनका कोई ऐसा प्रमाण कहीं मि... है; और फिर गोस्वामीजीका ऐसा प्रमाण मिलना तो 'शशशृङ्ग'... जहां उन्होंने उसी 'नारी'का 'अनाड़ी' अर्थ रखा हो। अन्य बात ... है कि 'अनाड़ी'को 'पशु'का विशेषण बनाना भी व्यर्थ ही है; क्यों... पशु सदा 'अनाड़ी' ही होता है। यदि कहा जाय कि घोड़े आ... पशु तो 'अनाड़ी' नहीं होते; न सही, पर क्या वे ताड़ना नहीं ... तब यह अर्थ ठीक न हुआ; अथवा यही कहिये कि गोस्वामीजी... यह अर्थ इष्ट नहीं।

(६) वस्तुतः 'ढोल गँवार, शूद्र, पशु, नारी। ये सब' यहां...

'ये सब' शब्दसे 'ये पांचों' पृथक्-पृथक् अभीष्ट हैं। गोस्वामीजीके अनुसार ये पांचों ताड़नाके अधिकारी हैं। 'ढोल' तो ताडनाका अधिकारी प्रसिद्ध ही है, इसमें किसी प्रमाणकी अपेक्षा नहीं। 'गँवार'से 'अज्ञानी' वा जड़ विवक्षित है, जिसमें प्राकरणिक 'समुद्र' भी सन्निविष्ट हो जाता है। 'शूद्र' शब्दसे त्रैवर्णिकसे भिन्न शूद्रादि-निम्नजातीय इष्ट हैं। 'पशु' शब्दसे 'गदहा' आदि जीव गोस्वामीजीको विवक्षित हैं; और 'नारी' शब्दसे गोस्वामीजी को 'स्त्री' अभीष्ट है। 'नारी' का 'स्त्री' अर्थ स्वीकार करनेसे तो आजके सभ्य-संसारका डण्डा हमारे सिर पर भी पड़ेगा कि 'ऐं स्त्री भी ताड़नाकी अधिकारिणी? राम राम! अनर्थ एवं अन्याय!!

इस पर हम कहते हैं कि सभ्यगण! अधीर मत हूजिये। धैर्यसे सुनिये। गोस्वामी तुलसीदासजी पहले स्त्रीके असीम-प्रेमी थे यह उनके नैश-अभिसारसे प्रकट है, वहां उन्होंने वर्षाके जलसे भरी नदी, अन्धेरी रात तथा मार्गकी भीषणता-इनको नगण्य मान लिया। परन्तु उनको जब उस स्त्रीने प्रेमके स्थान डांटा; तब उनकी आंखें खुल गयीं। उस दिनसे ये स्त्रीको उसीके कहनेसे 'अस्थिचर्ममय देह' समझने लगे। 'स्त्री को उस दिनसे 'रामपथका कण्टक' समझने लगे। तब वे उससे पृथक् होगये। उस दिनसे उन्होंने जान लिया कि—'न स्त्रैणस्य स्वर्गाप्तिर्धर्मकृत्यं च' (चाणक्यसूत्र ३१६) 'अलोहमयं निगलं कलत्रम्' (३५५) 'स्त्री नाम सर्वाऽशुभानां क्षेत्रम्' (४७८) 'अशुभद्वेषिणः स्त्रीषु न प्रसक्ताः' (४७६) अर्थात् स्त्री बिना लोहेकी बेड़ी है। मोक्षपथके पथिककेलिए वह

'एषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारां निधौ' संसारसमुद्रमें स्नान करनेके समय गलेमें पहरी हुई बड़ी भारी शिला है। इसीलिए स्वा. शंकराचार्यको भी लिखना पड़ा कि—'विश्वासपात्रं न किमस्ति? नारी।' 'द्वारं किमेकं नरकस्य? नारी'। 'किं तद् विषं भाति सुधोपमं यत्? नारी'। 'विज्ञान्महाविज्ञतमोऽस्ति को वा? नार्या पिशाच्या न च वञ्चितो यः'।

कई आर्यसमाजी आदि यह लिखनेसे शङ्करस्वामीकी ही निन्दा करते हैं; पर यह उनका अज्ञान है। भोगी लोग तो स्त्रीकी प्रशंसा ही करेंगे; पर संन्यासी तथा योगी एवं मुक्तिपथके पथिक उसकी निन्दा ही करेंगे; स्वामी शङ्कराचार्य थे संन्यासी। संन्यासीकेलिए 'नारी' स्पष्टतया 'नरकका द्वार' है। संन्यासी तो दूर, यदि गृहस्थी भी उसमें लिपटा रहे; तो वह नरकको ही उपार्जित कर रहा होता है। उसे छोड़नेसे ही तो गो० तुलसीदासका उद्धार हुआ। जब स्वा. शङ्कराचार्यने श्रीमण्डनमिश्रको हराकर उसे अपना शिष्य बना लिया; तब उनका स्त्रीसे सम्बन्ध हटवा दिया; क्योंकि—संन्यासी वा मुक्तिपथके पथिककेलिए स्त्री अविश्वसनीय, विष-सम्पृक्त अन्न एवं पिशाची हैं। तभी तो संन्यासोपनिषत्में कहा है—'सुजीर्णोपि (वृद्ध भी) सुजीर्णासु विद्वान् स्त्रीषु न विश्वसेत्' (६८) 'न सम्भावयेत् स्त्रियं काञ्चित् पूर्व-दृष्टां न च स्मरेत्। कथां च वर्जयेत् तासां न पश्येल्लिखितामपि' (नारदपरिव्राजकोपनिषत् ४।३) एतच्चतुष्टयं मोहात् स्त्रीणामाचरतो यतेः। चित्तं विक्रियतेऽवश्यं तद्विकारात् प्रणश्यति' (४) इसलिए मनुस्मृतिमें कामज' दश

गणोंमें स्त्रियां भी परिगणित हैं (७।४७) 'पानमक्षाः स्त्रियश्चैव... एतत्कष्टतमं विद्यात् चतुष्कं कामजे गणे' (७।५०) इनमें स्त्रीको मनुजीने कष्टतम माना है। तभी स्वा.द.जी जब स्वा.विरजानन्दजीके पास पढ़ते थे; उनके सन्ध्या कर रहे होनेपर एक स्त्रीने उनके चरणोंको सिरसे छू दिया; स्वामीजीने इस पर तीन दिन-रात उपवास किया। इसे सुनकर स्वामी विरजानन्द रोमांचित हो गये। (श्रीमद्दयानन्द-प्रकाश, वैराग्यकाण्ड नवमसर्ग पृ. ५६ पं. २६) वह स्त्री कोई अछूत तो थी नहीं; पर ब्रह्मचारी तथा संन्यासी अथवा परमार्थपथके पथिकके लिए स्त्री सचमुच पिशाची है, 'हालाहल विषका भरा कनक-घट जैसे' है। उस अवस्थामें उस पर थोड़ा विश्वास किया कि-नरकका द्वार खुला। वादियोंके स्वामी लिख गये हैं—'स्त्रियोंको प्रिय वह होता है जो स्त्री-भोगमें फंसा हो (स.प्र. ११ पृ. २३४) 'पुरुषसे स्त्रीकी कामचेष्टा अधिक होती है' (स.प्र. ११ पृ. २३६)। इसलिए मुक्तिके पथिकको उसे छोड़ देना पड़ता है; उससे पीठ फेर लेनी पड़ती है। विवाहमें स्त्रीके साथ अग्निकी चार परिक्रमा करनी पड़ती हैं; यह धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी मानी जाती हैं। पहले त्रिवर्गकी परिक्रमामें स्त्री आगे की जाती है, चौथी मोक्षकी परिक्रमामें वर उसे अपनी पीठके पीछे कर देता है। मनु (८।७७) जीके अनुसार स्त्री अस्थिर-बुद्धि होनेसे भी 'विश्वासपात्र' सिद्ध नहीं होती।

नारदपरिव्राजकोपनिषद्में लिखा है—'माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा च माद्यति। तस्माद् दृष्टिविषां नारीं दूरतः परिवर्जयेत्'

(६।३१-३२), 'चाण्डलवाटिकामिव स्त्रियम्' (७।१) 'पदापि न स्पृशे योगी योषितं दारवीमपि।...यतिः संगेषु बध्यते'। अतः जहां नारी निन्दा आई है, वहां गृहस्थव्यतिरिक्त तीन आश्रमोंके विषय समझना चाहिये। तब प्रश्नोत्तरीमें उक्त बातें कहते हुए आचार्य शङ्करका इसमें कोई दोष नहीं कहा जा सकता; क्योंकि-वे संन्यासी थे। यही बात जानकर मोक्षपथके पथिक, रामके पुजारी गोस्वामीजीने 'नारी'को प्रेमकी अधिकारिणी न मानकर उसे 'ताडनाकी अधि-कारिणी' माना हो; जैसेकि 'लालने-बहवो दोषास्ताडने बहवो गुणाः' (चाणक्य. २।१२) तो इसमें आश्चर्यका क्या अवकाश? तब फिर अर्थ बदलनेका इसमें प्रश्न ही नहीं उठता। ग्रन्थकार स्वाभिलषित भावोंको समय-समय पर ऐतिहासिक-पात्रोंके मुखसे कहलवाया करता है, यह स्वाभाविक है। इसलिए उन्होंने पात्र-विशेषके द्वारा 'अधमते अधम अधम अति नारी' कहलवाया। तब नारीका स्त्री-अर्थ उनके आशयसे विरुद्ध न हुआ।

(ख) इस बातको कोई महोदय न मानें; तब उन्हें जानना चाहिए कि गो०जीको 'ढोल गँवार शूद्र पशु तथा नारी' इन्हें किसी के अधीन रखना इष्ट है। जब ऐसा है; तब अधीन हुआ व्यक्ति कार्यको ठीक-ठीक न करने पर ताड़नाको ही तो प्राप्त करता है। शिष्य गुरुके अधीन होता है। अधीन होनेसे सम्यक् कार्य न करनेसे उसे भी ताड़ना प्राप्त करनी ही होती है। इस प्रकार पिता द्वारा पुत्रको भी। श्रीचाणक्यका यह वचन प्रसिद्ध है—"तस्मात् शिष्यं च पुत्रं च ताडयेन्न तु लालयेत्" (२।१२)। इसी तरह 'ढोल'

भी स्वामीके अधीन होता हैं, गँवार भी अपने किसी सम्बन्धीके अधीन होता है, शूद्र भी तीन वर्णोंके अधीन होता है, पशु भी अपने स्वामीके अधीन होता है, नारी भी अपने पतिके अधीन होती है, अपने कर्तव्यकी प्रच्युतिमें इनको ताडना प्राप्त करनी ही पड़ती है, और वह उचित भी है।

(ग) एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि गो०जीने 'ये सब ताड़नके अधिकारी' यह तो लिखा; पर उक्त चौपाईमें 'सदा' शब्द साथ नहीं दिया कि सदा इन्हें पीटते ही रहो। उक्त चौपाई में 'ढोल' तथा 'पशु' शब्द भी हैं। तब क्या इनको सदा ही पीटा जाता है ? नहीं। इनकी समय पर ताडना होती है; जब ये कार्यमें त्रुटि करें, अथवा स्वामीकी आज्ञा न मानें। चलते हुए बैलको कोई नहीं पीटता। ढोल स्वर जब ठीक नहीं देता; तब उसे तपाया भी जाता है; किनारे पर बांटसे उसे पीटा भी जाता है। फिर शब्दकेलिए उसे ताडित भी किया जाता है, क्योंकि ताड़ना किये बिना वह शब्द ही नहीं करता। इस प्रकार पशु जब प्रगतिमें रुकता है; तब उसे भी ताडना मिलती है। खेतोंमें जाकर देखिये। इस प्रकार ये सब विशिष्ट अवसरपर ही ताडित होते हैं, सदा नहीं। पड़े ढोलको कोई नहीं पीटता। प्रस्तुत-समुद्रकी भी हठ पर ताडना हुई, सदा नहीं होती।

(घ) इस प्रकार 'शूद्र' तथा 'नारी'केलिए भी समझना चाहिए। नारी पतिके अधीन होती है। तब उसे भी कार्य न करने पर ताडना पानी ही पड़ेगी। स्त्री-पक्षपाती स्वा.द.जी भी 'सत्यार्थप्रकाश'

में कह गये हैं—"प्रायः स्त्रियोंका स्वभाव तीक्ष्ण और मृदु होता है" (पृष्ठ ४७) तब तीक्ष्णताकालमें ताड़ना उसकी स्वाभाविक है। इधर 'त्रियाहठ' भी प्रसिद्ध है। उस हठके हटानेका उपाय भी ताड़ना है। स्त्रियोंके आदरमें लगे भी अँग्रेजोंके श्रेष्ठ-कवि 'शेक्सपीयर'ने 'कर्कशा स्त्रियोंके सुधारनेकी विधि' नामक एक नाटक लिखा है। उसमें प्रकारान्तरसे उपाय ताड़ना ही बतलाया है। जब ऐसी बात है; तब 'नारी'का 'नाड़ी' और 'नाड़ी'का 'अनाड़ी' अर्थ करना अयुक्त है। 'नाड़ी'का अर्थ 'नब्ज़' (धमनी) तो हो सकता है, पर 'अनाड़ी' नहीं। गो० तुलसीदासजीने 'अनाड़ी'के अर्थमें 'नारी' शब्द कहीं प्रयुक्त नहीं किया।

(ङ) इसके अतिरिक्त 'भय बिनु होत न प्रीत' यह गो०जीने कहा है, तब ताड़ना आदिके भयसे स्त्री पतिके प्रेममें भी लगी रहेगी, क्योंकि—'अमर्ष-शून्येन जनस्य जन्तुना, न जातहार्देन न विद्विषादरः' (किरातार्जुनीय १।३३) (क्रोधसे रहित पुरुषसे न कोई डरता है; न उससे कोई प्रेम करता है)। पति स्त्रीमें कभी अमर्षका व्यवहार न करे; तो न पत्नी पतिसे डरेगी, न उसमें प्रेम करेगी।

(७) अन्य बात यह है कि गोस्वामीजीने अपनी रामायणकेलिए उसके आरम्भमें कहा है—"नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्, रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि" (१।७) अर्थात् 'रामचरित-मानस'में मैंने वेद, शास्त्र, पुराण आदि-सम्मत बातें कहीं हैं। तब वेद-पुराण आदियोंका अवगाहन भी करना पड़ेगा, कदाचित् उक्त

चौपाई गोस्वामीजीने वेद-पुराण आदिके आधार पर कही हो ? ऐसा सिद्ध हो जाने पर फिर गोस्वामीजी अपने उत्तरदायित्वसे मुक्त हो जायँगे। अब आइये पाठक ! जरा वेद, पुराण, शास्त्र आदिके पन्ने टटोलें। वेदके दो भेद हैं, मन्त्रभाग तथा ब्राह्मण-भाग। ब्राह्मणभागमें उपनिषद् तथा आरण्यक साथ आ जाते हैं।

(क) पहले इस विषयमें मन्त्रभागके प्रमाण देखिये। ऋग्वेद-संहितामें एक मन्त्र आया है कि 'स्त्रिया अशास्यं मनः। उतो अह क्रतुं रघुम्" (शा. सं. ८।३३।१७) अर्थात् स्त्रीके मन पर शासना नहीं की जा सकती। उसकी बुद्धि वा कर्म क्षुद्र होता है। (ख) यहाँ पर सुप्रसिद्ध-भाष्यकार श्रीसायणके भी शब्द देखिये—"स्त्रिया मनः-चित्तम्, अशास्यं-पुरुषेण अशिष्यं-शासितुमशक्यं, प्रबलत्वादिति। उतो-अपि स्त्रियाः क्रतुं-प्रज्ञां रघुं-लघुम् अह-आह। (ग) यहाँ पर आर्यसमाजके पण्डित श्रीपाददामोदर-सातवलेकरजीका अर्थ उनके बनाये ऋग्वेदके सुबोध-भाष्य 'मेधातिथिके दर्शन' ७२ पृष्ठमें देखें—"स्त्रियोंके मनको संयममें रखना कठिन है, स्त्रियोंके मन पर काबू करना अशक्य है। स्त्रियोंके कर्म छोटे होते हैं, उनका सामर्थ्य कम होता है, उनकी बुद्धि छोटी होती है।"

(घ) पञ्चतन्त्रमें भी उक्त वेदमन्त्रको मनमें रखकर यह उसका अनुवाद दिया गया है—'भद्र ! शास्त्रविरुद्धमेतद् यत्-स्त्रिया सह मन्त्रः, यतस्ताः [स्त्रियः] स्वल्पमतयो भवन्ति' (अपरीक्षितकारक, मन्थरक-कौलिककी कथामें)। जब ऐसा है तो उक्त वेदमन्त्रमें भी 'रघु' शब्दका अर्थ 'लघु' (छोटा) ही है; (ङ) तब 'श्रुतस्य यायादय-

मन्तमर्भकः, तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः। अवेत्य धातोर्गमनार्थमर्थवित् चकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम्' (३।२१) इस रघुवंशके पद्यके अनुसार 'स्त्रीका मन ज्ञानविषयमें शीघ्रगामी होता है, स्त्रियोंका क्रतु-ज्ञान विषयके अन्ततक जानेवाला होता है, इससे उनकी बुद्धिकी तीव्रता आदि सूचित होती है, न कि हीनता—' ऐसा किन्हींका अर्थ निरस्त हो गया, क्योंकि—उक्त मन्त्रमें वह अर्थ विवक्षित नहीं—यह पूर्वोत्तरमन्त्रोंके संवादसे प्रत्यक्ष है। ऐसा मानने पर तो फिर पुरुषों की बुद्धि-मन्दता माननी पड़ेगी; अथवा दोनोंकी बुद्धिकी समतामें 'स्त्री' शब्दका कहना व्यर्थ हो जावेगा।

(च) 'न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता' (ऋ. १०।९५।१५) इत्यादि अन्य मन्त्रोंकी साक्षीसे भी 'रघु'का अर्थ 'लघु' 'स्त्रीकी बुद्धि छोटी होती है' यह है। (छ) यदि वहां 'लघु'का अर्थ 'शीघ्र' मानें; तो स्त्रीकी बुद्धिकी चंचलता-अस्थिरता सिद्ध हो जावेगी। जैसे कि मनुजीने भी कहा है—'स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात्' (८।७७) इसका अर्थ आर्यसमाजी श्रीतुलसीराम-स्वामीने लिखा है—'स्त्रीकी बुद्धि स्थिर नहीं हुआ करती'। तब भी स्त्री-निन्दा ही सिद्ध होगी, तभी तो चतुर लोग स्त्रीको ठग लिया करते हैं। (ज) 'वेदामृत' (प्र. सं. ३५४ पृ.)में ऋ.सं. (४।५।५ मन्त्र)के आशयमें प्रमुख-आर्यसमाजी श्रीशिवशंकरकाव्यतीर्थने लिखा है—'जिस हेतु स्त्रियोंको बहकानेवाले बहुत पुरुष होते हैं; इस हेतु उन्हें (स्त्रियोंको) कभी स्वतन्त्र छोड़ना उचित नहीं'। इससे भी वेदानुसार स्त्रीकी बुद्धिकी मन्दता वा अस्थिरता स्पष्ट है; तब स्त्रीकी अस्थिरता

करनेकेलिए भी उसकी ताड़ना अनिवार्य हो जायगी।

(झ) मन्त्रभागात्मक वेद अन्यत्र कहता है-'न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति, सालावृकाणां हृदयान्येता' (ऋ. १०।६५।१५) यहां पर स्त्रियों का सख्य विश्वासघातक कहा है; उसकी उपमा भेड़िये वा गीदड़के हृदयसे दी है। (ञ) यही बात ब्राह्मणभागात्मक-वेद 'शतपथ'में भी लिखी है—'मा एतद् (स्त्रैणम्) आदृथाः, न वै स्त्रैणँ सख्यमस्ति'(११।५।१।६)। (ट) इसीका अनुवाद श्रीमद्भागवतमें भी आया है—'क्वापि सख्यं न वै स्त्रीणां वृकाणां हृदयं यथा' (६।१४।३६-३७) अर्थात् स्त्रियोंकी मित्रता पर विश्वास नहीं करना चाहिये। (ठ) इसी वेदके मूलको लेकर महाभारतमें कहा गया है—'स्त्रियो हि मूलं दोषाणां लघुचित्ता हि ताः स्मृताः' (अनुशासन. ३८।१)।

(ड) इसीको लक्ष्य करके बौद्धकवि-अश्वघोषने भी अपने 'सौन्दरनन्द' काव्यमें कहा है—'अकृतज्ञमनार्यमस्थिरं वनितानामिदमीदृशं मनः (८।४६)। (ढ) चाणक्यसूत्रोंमें भी कहा है—'स्त्री नाम सर्वाशुभानां क्षेत्रम्' (४७६) 'न च स्त्रीणां पुरुष-परीक्षा' (४७७) 'स्त्रीणां मनः क्षणिकम्' (४७८) 'स्त्रीषु किञ्चिदपि न विश्वसेत्' (३५६) 'न समाधिः (चित्तस्थैर्यं) स्त्रीषु लोकज्ञता च' (३६०)। (ण) 'काव्यप्रकाश'में 'स्त्रीत्वं-धैर्यविरोधि' (१०।५०७) स्त्रीको अधीर कहा है। (त) इसलिए वेदमें भी स्त्रीका 'अधीरा' (ऋ. ११७६।४) यह विशेषण आया है। (थ) 'जारं न कन्या' (ऋ. ६।५६।३), 'योषा जारमिव प्रियम्' (ऋ. ६।३२।५) (पूर्वमन्त्रमें 'न' उपमाचक है) इत्यादि मन्त्रभागके प्रमाणोंमें स्त्रीका स्वभाव

वर्णित किया गया है। अतः उनमें हठ आदि दोष तथा माया आदि सम्भव हैं; तब उनका वशमें रखना आवश्यक है, उसकेलिए ताड़ना भी एक उपाय है।

(८) इसलिए मायाविनी-स्त्रियोंकी ताड़नाकेलिए अथर्ववेद (शौ.सं.)में कहा है—'इन्द्र! जहि पुमांसं यातुधानम्, उत स्त्रियं मायया शाशदानाम्' (८।४।२४) यहां पर 'जहि'का अर्थ पीटना है, जैसे कि—'अघासु हन्यन्ते गावः' (ऋ १०।८५।१३) इसमें 'गावः हन्यन्ते'का गौवोंके चलानेकेलिए उनका पीटना अर्थ सर्वसम्मत है, जैसे कि सायणाचार्यने 'दण्डैस्ताड्यन्ते' अर्थ किया है। (ख) इसी प्रकार 'मा त्वं विकेशी उर आवधिष्ठाः' (काठकगृ. २८।४) यहां भी 'आवधिष्ठाः'का 'छाती पीटना' अर्थ आया है। (ग) इस शासनाके बिना 'पञ्चतन्त्र'की मन्थरककौलिककी कथामें घरका नाश भी एक नीति-पद्यसे दिखलाया है—'यत्र स्त्री, यत्र कितवो, बालो यत्राऽप्रशासिताः। तद् गृहं क्षयमायाति भार्गवो हीदमब्रवीत्'। ऐसा न करके स्त्रीकी बात माननेसे वहीं मन्थरक-कौलिककी मृत्यु बताई है। (घ) इसका ऐतिहासिक-उदाहरण स्त्री-कैकेयीकी बात माननेवाले महाराज दशरथकी मृत्यु भी याद रख लेनी चाहिये।

(६) इसी प्रकार 'जाया पत्या नुत्तेव' (अथर्व० १०।१।३) यहां भी स्त्रीका पतिसे 'नोदन' ताड़न अर्थमें ही तात्पर्य रखता है। जैसे कि-'हयाश्च नागाश्च वहन्ति नोदिताः' (पञ्चतन्त्र) इस प्रकार वेदमें भी स्त्रीकी ताड़नीयता बताई गई है। स्पष्ट है कि-यह सब ताड़न आदि पतिव्रता-स्त्रीकेलिए तो हो नहीं सकते; क्योंकि-वे

भला पतिसे विरुद्ध क्यों चलने लगीं ? सो यह दूसरी स्वेच्छाचारिणी स्त्रियोंकेलिए हैं—यह स्पष्ट है। इसी प्रकार तुलसीलिखित नारी भी वही इष्ट है; उसका ताड़न ठीक ही है। व्यर्थकी ताड़ना कौन सभ्य करेगा ?

(१०) मन्त्रभागके प्रमाण दिये जा चुके; अब ब्राह्मणभागके प्रमाण देखिये। ब्राह्मणभागमें स्त्रीकी आलोचना इस प्रकार आई है—'अनृतं स्त्री, शूद्रः, श्वा, कृष्णः शकुनिः, तानि न प्रेक्षेत' (शत. १४।१।१।३१) यहां पर स्त्री-शूद्रोंको अनृतप्रकृति कहा है। (ख) 'त्रया वा नैर्ऋता (निर्ऋतिसम्बन्धिनः) अक्षाः, स्त्रियः, स्वप्नाः' (कृष्णयजुर्वेद-मैत्रायणी सं. ३।६।३) यहां स्त्रियोंको मृत्युका दूत बताया है। (ग) 'तस्मादपि एता हि मोघसंहिताः' (स्त्रियां निरर्थक बातोंकी ओर जानेवाली हैं' यह इसका अनुसन्धाता आ.स. श्रीभगवद्दत्तजीने 'वैदिकवाङ्मयका इतिहास' द्वितीयभाग (प्र. सं.)के १८८ पृष्ठमें अर्थ किया है। (घ) 'तस्मात् य एव नृत्यति, यो गायति, तस्मिन्नेव एता निमिश्लिततमा इव' (शत. ३।२।४।६) 'तस्माद् गायन् स्त्रियाः प्रियः' (मैत्रायणी सं. ३।७।३) यहां स्त्रियोंका गानविद्या-विशारदों पर रीझ जाना लिखा है—सो एतदादिक दोषोंको हटवानेकेलिए ताड़ना भी उपाय वेदसम्मत है—यह सिद्ध हो रहा है।

(११) शतपथब्राह्मण तथा उसका अन्तिम काण्ड बहुत प्रसिद्ध है, उसका नाम बृहदारण्यक-उपनिषत् भी प्रसिद्ध है। उसमें कहा गया है कि—स्त्री यदि पतिके काम (इच्छा) को पूरा न करे, तो

उसे हाथसे वा यष्टि (छड़ी)से ताड़न करना चाहिये। देखिये 'सा चेद् अस्मै न दद्यात् कामम्, एनामवक्रीणीयात (भूषणादि[illegible] तां वशीकुर्यात्—इति शङ्करस्वामी); सा चेद् अस्मै नैव द[illegible] कामम्, एनां यष्ट्या वा, पाणिना वा उपहत्य अतिक्रामेन्' (१४।६।[illegible] (बृहदा. ६ (८)।४।७)। जब इस प्रकार मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वे[illegible] स्त्रीकी ताड़ना कही है; तब गोस्वामीजीकी उक्त चौपाई वेदानु[illegible] सिद्ध हुई। तब वेदानुकूल लिखनेवाले गोस्वामीजी पर क्रोध क्यों[illegible]

(१२) अब इस पर गो० तुलसीदाससम्मत पुराणका प्रमा[illegible] भी देखिये। (क) 'भविष्यपुराण'के ब्राह्मपर्वमें निम्न पद्य लि[illegible] हैं—'नह्यासां [स्त्रीणां] प्रमदं दद्याद्, न स्वातन्त्र्यं, न विश्वसे[illegible] विश्वस्तवच्च चेष्टेत न्याय्यं भर्त्सनमाचरेत्' (८।१७) 'नाधि[illegible] क्वचिद् दद्यात् ऋते पाकादिकर्मणः' (८।१८)। 'स्त्रीणां पत्युर[illegible] त्वात् पुमानेव हि निन्द्यते। भर्त्तुरेव हि तज्जाड्यं यद् भृत्या[illegible] योग्यता' (८।२५) तस्माद् यथोदितास्त्वेता रक्ष्याः शासनता[illegible] ताडनैश्च यथाकालं यथावत् समुपाचरेत्' (८।२६)। (ख) उत्त[illegible] सामदानाभ्यां, मध्यमाभ्यां (दानभेदाभ्यां) तु मध्यमाम्। पश्चि[illegible] भ्याम् (भेददण्डाभ्याम्) उभाभ्यां च अधमां सम्प्रसाधयेत्' (म[illegible] यहां पर पुराणने इस विषयमें स्पष्टताकी सीमातीतता कर दी है। 'नानापुराणनिगमागम' (१।७) इस अपने पद्यमें गोस्वामीजी[illegible] पुराणका नाम सबसे पूर्व लिखा है—'इससे स्पष्ट है कि—उन्हों[illegible] उक्त चौपाईमें जहां पर मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदका अनुसरण कि[illegible] है; वहां पुराणका उक्त वचन भी अपना आधार बनाया। उन[illegible]

यह निजी कल्पना नहीं।

(१३) पुराणसे इतिहास भी लिया जाता है। इतिहास वाल्मीकि-रामायण तथा महाभारत दो बहुत प्रसिद्ध हैं। अब देखना चाहिये कि दोनोंमें भी कहीं उक्त चौपाईका आधार मिल जाय। (क) 'वाल्मीकि-रामायण' तो 'रामचरितमानस'का हृदय अथवा उपजीव्य ही है। वहां पर कहा है—'स्त्रीत्वाद् दुष्टस्वभावेन (३।४५।३३) 'वाक्यमप्रतिरूपं तु न चित्रं स्त्रीषु मैथिलि ! स्वभावस्त्वेष नारीणामेषु लोकेषु दृश्यते। विमुक्तधर्माश्चपलास्तीक्ष्णा भेदकराः स्त्रियः' (३।४५। २६-३०) स्वा.द.जीने भी स्त्रियोंकी तीक्ष्णता मानी है-यह हम पहले कह ही चुके हैं; उनका वचन उनके अनुयायियोंकेलिए अवश्य ही वैदिक है। अब कहना चाहिये कि-जब वाल्मीकि-मुनि इस प्रकार स्त्रियोंका स्वभाव आलोचित करते हैं; तब उसके उपजीवक गोस्वामीजीने उनके उक्त दोष हटानेकेलिए उनकी ताड़ना भी लिख दी हो; तो उनके सिर पर डण्डा क्यों ?

(ख) 'महाभारत'में कहा है—'ईप्सितश्च गुणः स्त्रीणामेकस्या बहुभर्तृता' (१।२०४।८) 'असत्यवचना नार्यः' (१।७४।७४) 'स्त्रियो हि मूलं दोषाणां लघुचित्ता हि ताः स्मृताः' (अनुशासन० ३८।१) जब ऐसा है, तो स्त्रीकी ताड़ना अशास्त्रीय कैसे ?

(१४) 'नाना-पुराण'-इस पद्यमें गोस्वामीजीने 'क्वचिदन्यतोपि' (१।७) कहा है; अर्थात् वेद, पुराणसे अतिरिक्त अन्य-साहित्यसे भी मैंने कुछ लिया है। अब उसमें अर्थशास्त्रके ग्रन्थोंसे भी उक्त संवाद देखिये—स्वा.दयानन्दजीसे भी मान्य 'चाणक्यनीति'में

कहा है—(क) अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभिता।'' 'स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः' (२।१) 'कामश्चाष्टगुणः स्मृतः' (चाण. १।१७)। (ख) स्वा.दयानन्दजीसे मान्य तथा 'शुक्रनीतिसार समाजशास्त्रकी दृष्टिसे एक अत्युत्तम और प्रसिद्ध ग्रन्थ है' (भारतीय-समाजशास्त्रका १७६ पृष्ठ) इन शब्दोंमें आर्यसमाजियोंसे भी मान्य 'शुक्रनीति'में भी कहा है—'अनृतं साहसं मौर्ख्यं कामाधिक्यं स्त्रियां यतः' (३।१६४)। (ग) 'मनुस्मृति'में तो इससे भी बढ़कर कहा है—'स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्। अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः' (२।२१३) 'अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः। प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम्' (२।२१४) 'रक्षिता यत्नतोपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते' (६।१५) इत्यादि। (घ) महाभारतमें भी कहा है-'स्त्रियं हि यः प्रार्थयते संनिकर्षं च गच्छति। ईषच्च कुरुते सेवां तमेवेच्छन्ति योषितः' (अनुशासन. ३८।१५)। (ङ) 'श्रीमद्भागवत'में भी उनकेलिए 'स्वैर-वृत्तयः' (६।१४।३८) शब्द आया है। (च) 'स्त्रीणां मनः क्षणिकम्' (चाक्यसूत्र ४७६) (छ) 'अकृतज्ञमनार्यमस्थिरं वनितानामिदमीदृशं मनः' (अश्वघोष-बौद्ध-प्रणीत सौन्दरनन्द ८।४६) एतदादिक अनेकस्थलोंमें स्त्रीके मनकी अस्थिरता बताई गई है।

(ज) 'नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य' (पा. ८।४।४८) यहां पर 'आदिनी' शब्दमें स्त्रीलिङ्ग देनेसे स्त्रियोंका कलह-प्रियत्व द्योतित किया गया है-यह उक्तसूत्रकी वृत्तिमें श्रीहरदत्त तथा श्रीमाधव आदिने बताया है। इस प्रकार उनका अवैदुष्य प्रदर्शित किया गया है। तब इन

दोषोंकी स्वाभाविकतावश स्त्रियोंका ताड़नाधिकारका उल्लेख अनुचित नहीं। यदि यह अङ्कुश उनसे उठा लिया जाय; तब वे निरंकुश होकर सब कार्योंमें सीमातीतता कर दें; क्योंकि—सीमातीतता कर देना स्त्रियोंकी प्रकृति होती है। स्त्रियोंका हृदय आधिक्य-प्रिय हुआ करता है। विलासिता और स्वेच्छाचारिता तथा पर-पुरुषोंकी मीठी-मीठी बातें स्त्रियोंके मृदु-हृदयोंको बहुत सुगमतासे अधिकृत कर लिया करती हैं, इसी कारण हमारे पूर्वजोंने उनका स्वातन्त्र्य अपहृत करके उन पर उक्त नियन्त्रण कर उन्हें ताड़नाकी अधिकारिणी कर दिया है। ताड़नासे 'भूत' भी डरता है।

(१५) ताड़ना भी बहुत प्रकारकी होती है। केवल छड़ीसे मारना ही ताड़ना नहीं होती। वह ताड़ना तो अन्तिम उपाय है। वाणीसे भी ताड़ना हो सकती है, आंखसे भी। संकेतसे भी ताड़ना हो सकती है। आजके सुधारकोंके दादागुरु स्वामी दयानन्दजीने तो अप्रियवादिनी स्त्रीकी ताड़नाकेलिए उसके पतिको तत्क्षण अन्य स्त्रीके साथ नियोगकेलिए नियोग (आदेश) कर दिया है। देखिये 'सत्यार्थप्रकाश' (४र्थ समु. ७३ पृ.) यदि ऐसा है तो गो. तुलसीदास-जीने ऐसा क्या गुरुतर अपराध कर डाला है कि-ताड़नामें 'नारी' का नाम लिखनेमात्रसे ही नारीभक्त आजका सुधारक-समाज गोस्वामीजीको भी ताड़नाधिकारी समझने लगा है।

(१६) 'क्वचिदन्यतोपि' (१।७) गोस्वामीजीके इस वचनसे तथा 'आगम'-शब्दसे कई मान्य अन्य शास्त्र भी गृहीत हो जाते हैं; अब उनका भी अनुसन्धान कीजिये। (क) 'अन्यत्र पुत्रात् शिष्याद् वा

शिष्ट्यर्थं ताडयेत् तु तौ' (४।१६४) 'मनुस्मृति'के इस प... शासनाकेलिए पुत्र तथा शिष्य भी ताड़नीय माना गया है। ... इस प्रकार शास्त्रोंमें शिष्यकी ताड़ना भी लिखी है; तब पति... गुरुकी शिष्यरूपा नारीकी भी ताड़ना सिद्ध हो गई। इस प्र... स्त्री और पुरुषकी समान ताड़ना होनेपर स्त्रीकी ताड़नामें ही आ... क्यों? (ख) स्वा.द.जीने तो स-प्र.के ११वें समुल्लासमें २०८ पृ... 'लोभी, क्रोधी, मोही, कामी गुरु'को भी 'ताडनाका अधिका... माना है; तब लोभ, क्रोध एवं कामकी प्रकृतिवाली कामिनी... ताडनाधिकार लिखने पर ही गोस्वामीजी आक्षेपके पात्र क्यों?

(ग) वस्तुतः सामयिक-ताड़नाका फल सुमधुर हुआ करता है। यदि ताड़ना न हो तो प्रजा राजाके, शिष्य गुरुके, पत्नी पतिके, ... पिताके, सेवक स्वामीके कभी अधीन होवें ही नहीं। ताड़ना... स्तुति करते हुए आजके सुधारक स्वा.द.जीने अपने प्रसिद्ध ग्र... (स.प्र. २ समु. १८ पृ.)में महाभाष्यका निम्न प्रमाण दिया है- 'सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः। लालनाश्रयि... दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः' (८।१।८)। 'गुरु लोग अमृतसने हाथ... पीटते हैं, विषबुझे हाथसे नहीं। (घ) जब ऐसा है; तब नारी... ताड़नाके उल्लेखमें गो. तुलसीदास पर अग्निवर्षा क्यों?

(१७) 'न्यायदर्शन'के ४।१।६३ सूत्रके भाष्यमें लोकव्यवहार... व्यवस्था धर्मशास्त्र (स्मृति)के अधीन कही है। अब उन स्मृतियों... मूर्धन्य 'मनुस्मृति'की व्यवस्था भी इस पर देखनी चाहिये—... 'भार्या, पुत्रश्च, दासश्च, प्रेष्यो, भ्राता च सोदरः। प्राप्तापराधास्ता...

स्तू रज्ज्वा वेणुदलेन वा' (८।२९९) यहां पर ताड़नाधिकारियोंमें भार्या (नारी) तथा दास (शूद्र)का भी नाम आया है। तब मनुजीका अनुसरण करके लिखनेवाले गोस्वामीजी पर कोप क्यों ?

मनुस्मृतिकी प्रामाणिकता।

मनुस्मृति-प्रणेता श्रीमनुजी जहां सृष्टिके आदिके हैं (देखिये हमारी इस पुस्तकका पृष्ठ १८१), वहां वादि-प्रतिवादि-मान्य भी हैं। आजके सुधारक स्वा.द.जीने भी स्मृतियोंमें केवल मनुस्मृतिको ही प्रमाण तथा सृष्ट्यादि-प्रणीत माना है। उन्होंने प्रथमसत्यार्थप्र.में 'मनुर्वै यत् किञ्चिदवदत्; तद् भेषजं भेषजतायाः' यह मनुकी प्रामाणिकताका वचन छान्दोग्यके नामसे दिया है। कृष्णयजुर्वेद-तै.सं.में भी कहा गया है—'यद् वै किञ्च मनुरवदत्, तद् भेषजम्' (२।२।१०।२)। यही कृ.य. काठकसंहिता (११।५(६)में, तथा कृ.य. मैत्रायणीसं. (१।१५)में तथा ताण्ड्यब्रा. (२३।१६।७)में कहा गया है। आर्यसमाजी श्रीतुलसीरामस्वामीने भी अपने 'भास्करप्रकाश'में वेनके नियोगमें मनुस्मृतिको सृष्टिकी आदिमें बना माना है।

उन सृष्ट्यादिजात मनुजीकी यह विशेषता क्यों है, इस पर वेद कहता है—'स सुन्वते मघवा जीरदानवे अविन्दद् ज्योतिर्मनवे हविष्मते' (ऋ.सं. १०।४३।८) अर्थात् मघवा (इन्द्र)ने सोमका अभिषव करनेवाले, शीघ्र दान देनेवाले तथा यज्ञकर्ता मनुको ज्योति अर्थात् ज्ञान दिया। यही अन्य मन्त्रमें भी कहा है—'विदत् स्वर्ज्योतिर्मनवे ज्योतिरार्यम्' (ऋ. १०।४।३४) (इन्द्रने मनुको दिव्य ज्योति प्रदान की)। यहां 'मनु'का अर्थ 'मनुष्य' नहीं; क्योंकि—

वैदिक-निघण्टुमें 'मनुष्य'के नामोंमें 'मनु' नाम नहीं। बल्कि-निरुक्तमें 'मनुष्य'का निर्वचन किया है—'मनोरपत्यम्' (३।७।२)। यहां मनुकी सन्तानको 'मनुष्य' कहा गया है। इसमें मनुजी मनुष्योंके पिता सिद्ध हुए। तभी निरुक्तकार श्रीयास्कने 'यामथर्वा मनुष्पिता' (ऋ. १।८०।१६) मन्त्रकी व्याख्या करते हुए 'मनुः पिता मानवानाम्' (नि. १२।३४।१) मनुको मानवोंका पिता कहा है। ज्योति प्राप्त होनेसे ही मनुको सर्वज्ञानमय कहा गया है। जैसे कि—'यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः' (मनुस्मृति २।७) (जो किसीका कोई धर्म मनुने कहा है, वह सब वेदोंमें कहा है, क्योंकि—वे मनु सर्वज्ञानमय हैं।) ज्योति जिसे मिल गई, वह सर्वज्ञानमय होगा ही। तब मनु-प्रोक्त कोई भी वचन उपेक्षणीय नहीं माना जा सकता। मनु परमात्माके अवतार हैं, जैसा कि मनुस्मृतिमें भी कहा है—'एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्' (१२।१२३) यह ठीक भी है। इसी कारण वेदमें भी कहा है—'अहं मनुरभवम्' (ऋ. ४।२६।१) अर्थात्—मैंने मनुका अवतार लिया। यह ब्रह्मभावमें प्राप्त हुए वामदेव ऋषि कह रहे हैं। तब उन्हीं मनुको अनुसृत करके कहा हुआ गो. तुलसीदासका वचन तिरस्करणीय वा निर्मूल नहीं हो सकता।

हम 'मानव' वा 'मनुष्य' मनुकी सन्तान होनेके नातेसे कहलाते हैं; 'मनोरपत्यं मानवः' 'मनु' को 'तस्यापत्यम्' (पा. ४।१।९२) से अण् प्रत्यय करने पर 'मानव' शब्द बनता है। 'मनोर्जातौ

अञ्-यतौ षुक् च' (पा. ४।१।१६१) इसके अनुसार 'मनु' शब्दको सन्तान और जाति अर्थमें अञ् प्रत्यय और षुक्का आगम और पूर्व अच्को वृद्धि करके 'मानुष' शब्द बनता है, और 'यत्' प्रत्यय तथा षुक्का आगम करके 'मनुष्य' शब्द बनता है। अथवा 'आगमशास्त्रमनित्यम्' इस परिभाषाके अनुसार अञ् प्रत्ययमें षुक्का आगम न होकर भी जाति-अर्थमें 'मानव' बन जाता है। जब सृष्टिके आदिम व्यक्ति 'मनु'की सन्तानका नाम मानव है; तब सच्चा मानव, वा मनुष्य वही कहलावेगा; जो अपने पिता मनुके नियमानुकूल चले! मनुने अपने नियम अपनेसे उत्पन्न भृगुके द्वारा सुनाई 'मनुस्मृति' में कहे हैं; तब उसके अनुकूल व्यवहार करने वाला, वा उस मनुके नियमको माननेवाला, वा उसका अनुसरण करनेवाला पूर्ण 'मानव' कहलावेगा। जब ऐसा है; तब मनुके अनुकूल उक्त चौपाई लिखने वाले गोस्वामीजी पर वाग्बाणों की वर्षा करना अपनी अमानवताका नग्न दर्शन कराना है। इसमें शास्त्रका कोई विरोध नहीं। अधीनको अपराधमें दण्ड देना लोकव्यवहार-सिद्ध है। (ख) इसी कारण वादि-प्रतिवादिमान्य शुक्रनीतिमें भी कहा है 'भार्या पुत्रश्च, भगिनी, शिष्यो, दासः (शूद्रः) स्नुषाऽनुजः। कृतापराधाः ताड्यास्ते तनुरज्जुसुवेणुभिः, (४।८५) पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कदाचन' (८६) यहां पर भी शूद्र और नारीको अपराधमें ताड़ना कही है। (ग) इसके अतिरिक्त स्त्री प्रकृतिस्वरूपा मानी जाती है। प्रकृतिका एक स्वरूप 'अविद्या' भी है। उसके लिए पुरुषरूप परमात्माका नियन्त्रण भी उसपर होता है।

इस प्रकार प्रकृतिरूप स्त्रीपर भी पुरुषका ताड़नरूप नियन्त्र स्वतः-सिद्ध एवं प्राकृतिक है। जहां धर्मशास्त्रोंसे धार्मिक-व्यवहा हुआ करती है; सो हम मनु आदि धर्मशास्त्र-मूर्धन्योंसे स्त्री-ताड़नाके विषयमें साक्षी दे चुके हैं; वहाँ अर्थशास्त्रोंका राजकीय-व्यवहारकी दृष्टिसे बड़ा महत्त्व होता है; सो उनमें अनुसन्धान कर लेना चाहिये, जिससे गोस्वामीजीकी 'नानापुराण-निगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि' (१।७) यह प्रतिज्ञा पूर्ण हो जावे।

(१८) कौटलीय-अर्थशास्त्र एक बहुत ही प्रसिद्ध त प्रामाणिक 'आगम' है। उसमें स्त्रीदण्डकेलिए लिखा है कि-पहले तो उसे गालीसे सीधा करो, कहो कि-'नग्ने! विनग्ने! न्यङ्गे! अपितृके! अमातृके' इति अनिर्देशेन (साक्रोशसम्बोधनेन स्त्रिया) विनयग्रहणम्'। तब भी वह सीधी न हो, उसे अर्थशास्त्रप्रो ताड़ना बताते हैं—'वेणुदल-रज्जु-हस्तानामन्यतमेन वा पृष्ठे त्रिराघातः (३।३।६० अध्याय)। यहां पर बेंत वा हाथ आदिसे स्त्री ताड़ना भी कही गई है।

(ख) इस प्रकार 'शङ्खस्मृति' में स्त्रीका लाड-प्यार तथा सम ताड़ना सूचित की गई है। जैसे कि—'लालनीया सदा भार्या ताडनीया तथैव च। ताडिता लालिता चैव स्त्री श्रीर्भवति नान्यथा' (४।१६) यहां धर्मशास्त्रमें स्त्रीकी ताडनीयतासे भी उसका 'श्री' बनना लिखा है। (ग) नीतिशास्त्र-हितोपदेशमें भी लिखा है—'सुशासिता स्त्री, नृपतिः सुसेवितः।...सुदीर्घकालेपि न या

विक्रियाम्' (मित्रलाभ २२ पद्य) यहां स्त्रीकी सुशासना (ताडना आदिसे वशमें रखने)से भी वशमें की हुई स्त्रीकेलिए सदा 'अविकारिणी' कहा है। (घ) हम पहले कह चुके हैं कि-ताड़ना बहुत प्रकारकी होती है—'स्त्रीदण्डश्च पृथक्-शय्या' यह भी उसकी एक बड़ी ताड़ना है। सो इस प्रकार 'नानापुराणनिगमागम'का सार लिखनेवाले गो. तुलसीदास पर बौछार क्यों ?

(ङ) यह सब लिखनेका अभिप्राय यह है कि-जब शिष्योंको सिर पर चढ़ा दिया जाय, उनका ताडनाभय हट जावे; तब वे न केवल अपना पाठ ही याद नहीं करते, न केवल विद्यालयमें समय पर प्राप्त नहीं होते, बल्कि कलह आदि भी करते हैं; और मर्यादा को भी तोड़ देते हैं। इसी प्रकार नारीके विषयमें भी जाना जा सकता है। नारीका जब पतिके अधीन रहना धर्म है; तो अधीनकी शासनाकेलिए कुछ नियम एवं नियन्त्रणादि अंकुश अवश्य स्थापनीय होते हैं-इसमें स्वाभाविकता है; आक्षेपार्हता सर्वथा नहीं। अपराधीकी ताड़ना उनके अपने दर्जे-मुताबिक होती है। बीरबलने एक ही चोरीके अपराधमें पकड़े हुए तीन पुरुषोंको उनकी प्रकृतिकी जांच—देखभाल करके उनको भिन्न-भिन्न दण्ड दिये। एकको कहा कि-'मुझे तो तुमसे ऐसी आशा न थी कि-तुम भी यह बुरा काम कर सकते हो' यह कहकर छोड़ दिया। दूसरेको थप्पड़ मारकर कहा—खबरदार, ऐसा फिर न करना। तीसरेका मुँह काला करवाकर गधेपर चढ़वाकर शहरमें घुमाया। तीनोंके परिणामका पता लगवाया। पहलेने इस बेइज्ज़तीसे लज्जित

होकर आत्महत्या कर ली थी। दूसरेने फिर वैसा अपराध कभी नहीं किया। तीसरा फिर उसी चोरीमें पकड़ा गया। इसी प्रकार स्त्रीके भी तीन भेद होते हैं; उनके दण्ड भी तीन प्रकारके होते हैं, यह हम पहले भविष्यपुराणके वचनसे बतला चुके हैं।

(१६) इस प्रकार शूद्र-अन्त्यजादिके भी तीन वर्णोंके अधीन होनेसे उनके स्वैराचारमें भी ताड़ना अनुचित नहीं। आजकलके समयकी तरह उन्हें सिरपर चढ़ा कर, वा उनसे खुशामद करके, आवश्यकतासे अधिक अधिकार उन्हें दे दिये जाएँ, उन्हें ताड़ना-निर्भर्त्सनाका भय न रहे; तब परिणाम यह होता है कि-उनका दिमाग ही फिर नहीं मिलता; तब वे धमकियां देते हैं, तङ्ग करते हैं, कभी हड़तालें करते हैं; कभी वेतन न बढ़ाने पर काम बन्द कर देनेकी विभीषिका देते हैं; कभी मनुस्मृति वा भगवद्गीता आदिको जलाते हैं। अतिशूद्र-कोटिके जिन्ना आदि मुसलमानों को सिर चढ़ानेके परिणामस्वरूप ही पाकिस्तानका जन्म हुआ है।

(ख) यदि बन्दर-आदि पशुओंको ताड़नाका भय न दिया जावे, किन्तु उनको खिलाया-पिलाया ही जाय; तब वे ही पुरुषको घुड़की देते हैं; उनके घरमें घुसकर उनका भोजन आदि भी ले जाते हैं, उनके बच्चोंको काट लेते हैं। तब उनकी ताड़ना भी अनुचित नहीं। (ग) इस प्रकार यदि गँवारोंको भी अपने दण्डका भय न रहे; तब वे चोरी करते हैं अन्य असभ्यताएँ करना शुरू कर देते हैं; जैसे कि-नियन्त्रणसे पहले दक्षिण-हैदराबादके 'रिजवी' आदिको याद रख लेना चाहिये। तब गँवारकी ताड़ना

भी उसकी शिक्षार्थ अनुचित नहीं। (घ) इस प्रकार ढोल केवल पड़ा ही रहे; उसकी ताड़ना कभी हो ही नहीं; तब उसका चमड़ा ढीला वा कमजोर हो जावे और समय पर बजे भी नहीं।

(ङ) इस प्रकार पूर्वोक्त प्रकारसे स्त्रीको भी पति आदि द्वारा आंख आदिकी भी ताड़नाका भय न रहे; 'स्त्री-दण्डश्च पृथक्-शय्या' आदि दण्डका भय उसे न दिया जाय, केवल पति उसकी खुशामदें ही करता रहे; उसे अपने सिर ही चढ़ाता जाय; तब वह भी निर्भय, मस्त हो जाती है। 'भय बिनु होत न प्रीति' इस गो.जीके वचनानुसार पतिके प्रेमको भी छोड़ दे सकती है। मान कर बैठती है; पतिको पांव पर गिरवाती है, कभी दुर्लभ बहुमूल्य-वस्तुओंके मँगानेकेलिए कहकर पतिको तंग करती है, पतिके कहे समयमें भोजन तैयार नहीं करना चाहती, रातमें आये पतिके अतिथिको भी या तो भोजन नहीं मिलता; या होटलसे उसका भोजन मँगवाना पड़ता है। वैसी स्त्री पतिको ही डांट बताती है, उसका तिरस्कार करती है, सदा ही कामुकी बनी रह सकती है, पर-पुरुषोंके देखनेकी प्रकृतिवाली वा उनसे सम्बन्ध रखनेवाली भी बन सकती है। तब शिष्यादिकी भांति स्त्रियोंकी भी समय पर ताड़ना-आदिसे शासना न्याय्य है, इससे मर्यादा नहीं टूटती। सब काम समयपर होते हैं—यह सब सर्वानुभवसाक्षिक है। अतः इसमें कोई आक्षेपका अवसर नहीं।

(२०) प्रकृत समुद्र भी यहां इसी रहस्यको बता रहा है। जबकि समुद्रकी प्रसन्नताकेलिए तीन दिनके अनुष्ठानरूप-सत्याग्रहसे

भी समुद्रका हृदय-परिवर्तन न हुआ—'विनय न मानत जलधि जड़ गये तीन दिन बीति। बोले राम सकोप तब' तब श्रीरामने प्रकृत अर्थको पुष्ट करते हुए कहा—'भय बिनु होत न प्रीति'। इसीलिए उन्होंने लक्ष्मणको आदेश दिया—'लछिमन ! बान शरासन आनू। सोखउ वारिधि बिसिख कृसानू'। तब लक्ष्मणसे धनुष लानेपर—'संधानेऊ प्रभु बिशिख कराला। उठी उदधि-उर अन्तर ज्वाला' तब समुद्रादिस्थित मगरमच्छ-आदिमें खलबली पड़ जानेसे समुद्रमें व्याकुलता प्राप्त हुई। तभी उसका मान टूटा। तभी वह श्रीरामकी इच्छानुकूल कार्य करने शुरू हुआ; और क्षमा मांगी—'सभय सिन्धु पद गहि प्रभु केरे। छमहु नाथ सब अवगुन मेरे'। तभी उसने स्वयं यह कहा कि—प्रभो ! मुझ गँवारकी ताड़ना करते हुए आपने ठीक किया। ताड़नासे पहले मैं कठोर बना बैठा था। ताड़ना था ताड़ना-भयसे मैं मृदु हो गया। तभी उसने कहा—

'ढोल, गँवार, शूद्र, पशु नारी। ये सब (सकल) ताड़नके अधिकारी' ताड़नाधिकारी यह पांच उसने पराधीनोंके उपलक्षणमें रखे हैं। जो पराधीन होता है; वह कार्यत्रुटिमें ताड़नाका पात्र होता ही है, यह स्वाभाविक है। शूद्रसे भृत्यका, नारीसे शिष्यका भी उपलक्षण जान लेना चाहिये। भृत्य और शिष्य एवं पुत्र स्वामी, गुरु तथा पिताके अधीन होनेसे अपराधी होनेपर ताड़ित होते हैं—इसमें कोई अन्याय नहीं। उक्त चौपाईकी 'भय बिनु होत न प्रीति' 'प्रभु भल कीन्ह मोंहि [ताड़नासे] सिख दीनी' इन चौपाईयोंके साथ ठीक संगति लग रही है, तब यही इसका यथार्थ अर्थ सिद्ध

होता है। इससे गो. तुलसीदास नारीमात्रके निन्दक नहीं हो सकते कि-पतिव्रताको भी वे व्यर्थकी ताड़ना दिलायें। विना अपराधके भी साधारण-स्त्रीको ताड़ना दिलायें। समुद्रको भी अपराधी होनेपर ताडित किया गया। उसे सदा अग्निबाण नहीं मारे जाते, वा नहीं मारे गये।

सो उक्त चौपाईका पूर्वोक्त चौपाईयोंके साथ स्पष्ट अन्वय हो रहे होनेसे यही उसका यथार्थ अर्थ सिद्ध है। स्त्री-शूद्रोंसे डरकर ग्रन्थकारके अनभीष्ट अर्थको करना उचित नहीं। महाकवि-श्रीभारविने ठीक ही कहा है—'अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषा (ऽऽ)दरः' (किरा.१।३३) तब जो लोग इस चौपाईका यह अर्थ करते हैं कि-"जो पुरुष नारीका 'ताड़न' कर लेता है, या नारीकी महत्ताको अथवा नारीको 'ताड़' अर्थात् पहिचान लेता है; वही पुरुष अपने जीवनको सफल बना सकता है; उसी पुरुषके चरणोंमें नारी हँस-हँसकर अपना सर्वस्व दे डालती है, यही पुरुषकी सच्ची विजय है" ऐसा अर्थ करनेमें लगे हुए, गोस्वामीजीकी निर्दोषता सिद्ध करनेमें लगे कई-हिन्दी-कोविदोंका उक्त मीमांसासे खण्डन हो गया, क्योंकि—उक्त अर्थ गोस्वामीजीको विवक्षित नहीं; और प्रकरणका भी उक्त-अर्थमें समन्वय नहीं। उस अर्थमें पशु आदि सबका अर्थ-समन्वय न होनेसे तथा इस अर्थके प्रकरणविरुद्ध होनेसे माननीयता नहीं।

(२१) उक्त चौपाईके 'नारी' शब्दसे केवल 'पत्नी' नहीं; अन्य स्त्री भी गृहीत हो सकती है। वह स्त्री भी यदि मर्यादासे पतित

होती है, तब उसकी ताड़ना भी अनुचित नहीं। तभी भगवान् श्रीरामने ताटका-राक्षसीको—ताड़ना तो छोड़िये-प्रत्युत मार डाला; जिसकेलिए ऋषि-विश्वामित्रने श्रीरामको कहा था—'नहि ते स्त्री-वधे कापि घृणा कार्या नरोत्तम! अधर्म-सहिता नार्यो हताः पुरुष-सत्तमैः' (वाल्मी० १।२५।१७-२२)। इसी प्रकार मर्यादा तोड़नेपर शूर्पणखाके नाक-कान कटवाकर श्रीरामने उसको दण्ड दिया। इसके अतिरिक्त शास्त्रसे विरुद्ध तपस्या करते हुए शम्बूक-शूद्रको भी भगवान् रामने दण्ड दिया। जब यह बात भगवान् रामको जो कि मर्यादा-पुरुषोत्तम थे—सम्मत है, 'इन्द्र! जहि पुमांसं यातुधान-मुत स्त्रियम्। मायया शाशदानाम्' (अथर्वसं. ८।४।२४) इस प्रकार वेदको भी सम्मत है, पूर्व कहे प्रमाणोंसे धर्मशास्त्रोंसे भी अनुमोदित है, पुराण और इतिहाससे समर्थित है, और अर्थशास्त्र से भी सकारी गई है, तब रामभक्त, वेद-स्मृति-पुराण-इतिहास-अर्थशास्त्र आदिके विद्वान् गोस्वामी-श्रीतुलसीदासजीका ताड़नाके अधिकारियोंमें स्त्री एवं शूद्रके नामोल्लेखमात्रसे, अपमान करना योग्य नहीं है; और उनके अभिप्रायके विरुद्ध उनकी चौपाईका अपना मनःकल्पित अर्थ कर देना भी न्याय्य नहीं है।

ताड़नाधिकारी ये पांच उन्होंने अधीनोंके उपलक्षणमें लिखे हैं। जो पराधीन होता है, वह कार्यकी त्रुटिमें ताड़नाका पात्र हुआ करता है—यह स्वाभाविक है। शूद्रसे नौकरका, नारीसे शिष्यका भी उपलक्षण समझ लेना चाहिये। नौकर, तथा शिष्य एवं पुत्र भी स्वामी एवं गुरु तथा पिताके अधीन होनेसे अपराधी

अवस्थामें ताड़ना पाते हैं-इसमें कोई अन्यायकी बात नहीं है। पर इससे गोस्वामीजी नारीमात्रके निन्दक नहीं माने जा सकते; अन्यथा सीता, कौशल्या, सुमित्रा एवम् अनसूया आदियोंके उत्कृष्ट-चरित्रका वे निर्माण कैसे करते? आशा है कि-उनके विरुद्ध अर्थकी चेष्टा कर रहे हुए व्यक्ति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस न्यायसे विरुद्ध अपने मनःकल्पित अर्थके करनेकी दुष्प्रकृतिको छोड़ देंगे। इस प्रकार स्पष्ट है कि-गोस्वामीजीने इतिहासके अतिरिक्त जो वचन लिखे हैं; उनका मूल-नाना पुराण, निगम, आगम जो कि हमारे धर्म-शास्त्र हैं-उनमें पाया जाता है उनने निराधार कुछ नहीं लिखा। तब उनपर हो-हल्ला करना अपना अज्ञान प्रकाशित करना है।

कई प्रूफकी अशुद्धियां पाठकगण इस प्रकार सुधार लें—पृ. १६ पं. ७ 'तयोर्द्वैधे'। पृ. ६१ पं. ६ (२।११६०) । पृ. ८० पं. २१ बनाया। ११७ पं. १७ 'माध्यन्दिन'। १२२ पं. ७ 'ऋग्'। १२३ पं. १० 'पूर्व'। १३४ पं. ३ 'धारयिष्णुः'। १३७ पं. १५ 'त्युपासीत'। १४२ पं. २० 'यजूंषि'। १४३ पं. ५ 'वादिप्रतिवादिमान्य'। पं. १० 'यज्ञार्थं'। १६७ पं. १६ 'ऋक्'। १७६ पं. १६ 'मानुषः'। २१३ पं. ५ 'कर्तुमुद्यतः' (३।४।२०।७४-७७)। पं. १० 'निस्तेजस्कता'। २३१ पं. १० 'पात्र-बहिष्कृत चाण्डाल'। २६५ पं. २२ 'विद्या'। २८७ पं. १ 'चाण्डाल'। प्रवट्टकोंमें कहीं कई अङ्क दुबारा आगये हैं, उनको पाठक सुधार लें। साधारण अशुद्धियां नहीं बताई गईं।

(१०) क्या प्राचीन-भारतमें गोवध होता था?

'एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम्' (अथर्व० ६।७-१।२५)

'गावः प्रतिष्ठा भूतानां' (महा. अनुशा. ७८।५) 'गावो विश्वस्य मातरः'।

सनातनधर्मका तथा उसके मुख्य-ग्रन्थ वेदोंका स्वरूप, वेदके अधिकारियों, तथा वैदिक-देवपूजाके अधिकारियोंका निरूपण करके अब वेदकी 'अघ्न्या' देवी गोमाता—जो ३३ कोटि वैदिक-देवताओंकी आधारस्थली है—जिसपर मुसलमानी एवं अंग्रेजी राज्यसे लेकर स्वराज्य हो जाने तक भी वधकेलिए आक्रमण होता जा रहा है-हम उसकी अवध्यता को वेदादिशास्त्रों-द्वारा बताने जा रहे हैं; पर आजके पाश्चात्यानुयायी पौरस्त्य-संसारमें यह धारणा अभी तक भी रूढमूल है कि-'प्राचीन भारतमें गोवध होता था'। वे इसके प्रमाणस्वरूप कई वचन देते हैं। वे यह हैं—

(१) 'शसने न गावः' (ऋ. १०।८६।१४) यहां वे वेदमें गौओं की वधशाला मानते हैं। (२) 'मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तम् अश्नीयाताम्, औक्ष्णेन वा आर्षभेण वा' (बृहदारण्यक ६।४।१८) यहां उनके मतानुसार बैलके मांसको पकाकर खानेसे वे वेदविद्वान् लड़केकी उत्पत्ति मानते हैं। (३) 'महोक्षं वा, महाजं वा पचेत्, एवमस्य आतिथ्यं कुर्वन्ति' (४।८) वसिष्ठस्मृतिके इस वचनसे वे पूर्वकालमें अतिथि-सत्कारमें बैलका पकाना कहते हैं। (४) इसीमें वे 'गोघ्नोऽतिथिः' यह व्याकरणादि-प्रसिद्ध प्रमाण भी उपस्थित करते हैं। (५-६-७) इसीमें उपोद्बलक-स्वरूप वे 'महोक्षं वा महाजं

वा पचेत्' (३।४।१।२) यह शतपथका, तथा 'अश्नाम्येव अहम्, अंसलं चेद् भवति' (शत. ३।१।२।२१) यह याज्ञवल्क्यका, तथा 'मनुष्यराजे आगते...उक्षाणं वा वेहतं वा क्षदन्ते' (१।१५) यह ऐतरेयब्राह्मणका प्रमाण देकर, उसमें (८) उत्तररामचरितका 'कल्याणी मडमडायिता' तथा (६) राजा रन्तिदेवका 'अहन्यहनि बध्येते द्वे सहस्रे गवां तदा। समांसं ददतो ह्यन्नं रन्तिदेवस्य नित्यशः' (३।२।८-६) गोवधसे अतिथिसत्कार बताया करते हैं। इसी प्रकारके कई अन्य वचन भी दिये जाते हैं।

यह बड़े ही प्रसिद्ध प्रमाण हैं। इन्होंने पौरस्त्य-विद्वानोंको भी मोहमें डाल रखा है। हम भी इस विषयमें कुछ अपने शास्त्रानुसारी विचार अपने क्रमसे उपस्थित करते हैं। विद्वान् 'आलोक' पाठक इधर सावधानताकी दृष्टि डालेंगे। 'प्रधान-मल्ल-निबर्हण' न्यायसे इनके समाधान हो जानेसे शेष छोटे-मोटे इन-जैसे वचनोंका स्वयं समाधान हो जाएगा। इस विषयको अवधानसे देखना चाहिये, क्योंकि-इनमें शास्त्रीय-विवेचना दी जायगी।

१ क्या गौओं की वधशाला वेदसम्मत है ?

वेदोंको अंग्रेजी-दृष्टिकोणसे देखनेवाले आजकलके महाशय कहते हैं कि—'वेदमें निम्नमन्त्रमें गौवोंकी वधशाला वर्णित है; इससे सिद्ध है कि प्राचीन-भारतमें वेदानुकूल गोवध हुआ करता था। वह मन्त्र यह है—

'कहिंस्वित् सा त इन्द्र ! चेत्याऽसद् अघस्य यद् भिनदो रक्ष

एषत्। मित्रक्रुवो यत् शसने न गावः पृथिव्या आपृग् अमुया शयन्ते' (ऋ.सं. १०।८६।१४) यहां गौओंकी वधशाला बताई गई है। इसका अर्थ यह है कि—'हे इन्द्र ! जिस अस्त्र या बाणको फेंककर तुमने पापी राक्षसको काटा था, वह कहां फेंकने योग्य है ? जैसे—गोहत्याके स्थानमें गौवें काटी जाती हैं; वैसे ही तुम्हारे इस अस्त्रसे निहत होकर मित्रद्वेषी-राक्षस लोग पृथिवीपर गिरकर सदाकेलिए सो जाते हैं।' स्पष्ट है कि—इस मन्त्रका रचनाकाल गोवध-निषेध करनेवाले मन्त्रोंसे प्राचीन है। (सरिता)

वेदके वा किसी भी ग्रन्थके अर्थ अपनी इच्छानुसार नहीं हुआ करते; किन्तु उसके उत्तरपक्षके अनुसार हुआ करते हैं। वेदमें गायका नाम 'अघ्न्या' आया है। जैसे कि—'इडे ! रन्ते ! हव्ये ! काम्ये ! चन्द्रे ! ज्योते ! अदिते ! सरस्वति ! महि ! विश्रुति ! एता ते अघ्न्ये ! नामानि' (यजुर्वेदसं. ८।४३) यहांपर गायका 'अघ्न्या' यह मुख्य नाम आया है। 'वैदिक-निघण्टु'में 'गोनामानि' कहकर 'अघ्न्या, उस्रा उस्रिया, मही, अही, अदिति' (२।१४) नौ नाम कहे गये हैं। इसमें पहला नाम 'अघ्न्या' है। वेदमें बैलका नाम 'अघ्न्य' आया है, जैसे कि—'गवां यः पतिरघ्न्यः' (अथर्व. ६।४।१७)। 'अघ्न्या' और 'अघ्न्य'का अर्थ है 'न हनन करने योग्य'। निरुक्तकार श्रीयास्कने भी निरुक्त (११।४३।२)में ऐसा ही अर्थ स्वीकार किया है। अन्य किसी भी पशु आदिकेलिए 'अघ्न्या' यह विशेष-शब्द न कहकर केवल गाय-बलकेलिए वेद-द्वारा वैसा कहना वेदके मतमें गायकी अवध्यता बताता है।

'अघ्न्या' यह नाम चारों वेद-संहिताओंमें मिलता है। जैसे 'धो अघ्न्याया भरति क्षीरं' (ऋ.सं. १०।८७।१६) (यजु: १।१), (सामसं. उत्तर. ६।१५।३), (अथर्व.-१६।१६।२) इत्यादि, तब वेदमें उसी गायकी वधशाला कैसे इष्ट हो सकती है? वैसा अर्थ किसी भाष्यकारने किया भी तो नहीं।

यहां यह भी जानना चाहिये कि—गो-शब्दके अर्थ बहुत हुआ करते हैं। अनेकार्थक-शब्दोंके अर्थ-निर्धारक संयोगादियोंमें एक पदार्थ 'औचिती' हुआ करता है। उसका उदाहरण है—'गौरेका तु मनस्विनः' यहां यह अर्थ उचित नहीं लगता कि—'मानी पुरुषकी एक गाय हुआ करती है' क्योंकि—कदाचित् मानी पुरुष की एक भी गाय न हो, अथवा दो-तीन गायें हों; अतः यह अर्थ यहां उचित नहीं बैठता। तब यहां यह अर्थ है कि—'मनस्वी पुरुष की एक ही गौ अर्थात् वाणी हुआ करती है'। इस अर्थमें औचित्य है—अतः इसे सभी स्वीकार करते भी हैं।

'मृग' शब्द हिरनमें प्रसिद्ध है; पर यह केवल विशेष-पशुका नाम न होकर 'पशवोपि मृगाः' (अमरकोष ३।३।२०) इस प्रकार सामान्य-पशुका वाचक भी होता है। जैसे कि—'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति' (नीतिशतक)। जैसे 'तेल' शब्द तिलके स्नेहकेलिए होता हुआ भी सरसों आदि सब तेलोंकेलिए भी प्रयुक्त होता है; जैसे 'गोष्ठ' शब्द 'गोस्थान'-वाचक होता हुआ भी 'गोष्ठजादयः स्थानादिषु पशुनामभ्यः' (५।२।२६) इस कात्यायनप्रोक्त-वार्तिकसे सब पशुओंके स्थानका वाचक भी हुआ करता है; वैसे ही 'गो' शब्द

यद्यपि 'गाय'के नाममें प्रसिद्ध है; तथापि सामान्य-'पशु'के नाममें भी प्रयुक्त हुआ करता है। जैसे कि अमरकोषमें कहा है—'स्वर्गेषु-पशु-वाग्-वज्र-दिग्-नेत्र-घृणि-भू-जले। लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः' (३।३।२५) यहां पर 'गो' शब्द पशुवाचक भी माना गया है। 'गौर्वाहीकः'में भी 'गो' शब्द पशुवाचक है। ऋग्वेदसंहिता-(१।११।५) के भाष्यमें श्रीसायणाचार्यसे प्राचीन-भाष्यकार श्रीवेङ्कटमाधवने भी 'गोमतः'का अर्थ 'गृहीतपशोः' किया है। निरुक्तमें भी 'अथापि च गौरिति पशुनाम भवति एतस्मादेव' (२।५।३) यह कहा है। ऋग्वेदसंहिता (१०।१४६।३) में श्रीसायणाचार्यने भी 'गावः'का अर्थ 'गवयाद्या मृगाः' यह किया है'।

इसका अन्य प्रमाण भी देखिये—महाभारत वनपर्वकी रन्तिदेवकी कथामें 'अहन्यहनि वध्येते द्वे सहस्रे गवां तदा' (२०८।६) यहां 'गो' शब्द आया है। उसी रन्तिदेवकी कथा फिर द्रोणपर्वमें भी आई है। वहां यह पद्य है—'उपस्थिताश्च पशवः स्वयं यं शंसितव्रतम्। बहवः स्वर्गमिच्छन्तो विधिवत् सत्रयाजिनम्' (६७।४) यहां पर 'गो' शब्दके स्थान पर 'पशु' शब्द है। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि—रन्तिदेवकी पूर्व-कथामें भी 'गो' शब्द 'पशु'-वाचक है; दूसरी बात यह कि—'गो' शब्द पशुका पर्यायवाचक भी हुआ करता है। इसीलिए 'गोयुगच्' प्रत्ययके 'उष्ट्रगोयुगम्, गो-गोयुगम्' इत्यादि प्रयोग भी मिलते हैं। नहीं तो उष्ट्रका 'गो'से क्या सम्बन्ध? और 'गो' शब्दके साथ 'गोयुग'का प्रयोग व्यर्थ है। इस प्रकार 'अश्वषड्गवम्' (५।२।२९) आदि

पाणिनि-व्याकरणसिद्ध प्रयोग भी जान लेने चाहियें। हितोपदेशमें भी 'अनेकगो-मानुषाणां वधान्मे पुत्राः मृताः' (मित्रलाभ) इस व्याघ्र-कथाके वाक्यसे भी 'गो' शब्द 'पशु'-वाचक सिद्ध होता है। 'मानुष'का प्रतिद्वन्द्वी 'गो' शब्द 'पशु'-वाचक ही है। यदि यहां गायका अर्थ इष्ट हो, तो एक शब्द हो विशेष-अर्थवाला, दूसरा शब्द हो सामान्य अर्थवाला, तब असङ्गति पड़ती है। 'गो-ब्राह्मणवधाद्' यह वाक्य होता, तो दोनोंके विशेषवाचक होनेसे 'गो' शब्दका 'गाय' अर्थ संगत था; पर ऐसे वाक्यमें नहीं; तब इस प्रकारके वाक्यमें दोनों शब्द सामान्यार्थक इष्ट होनेसे 'गो' शब्द भी 'सामान्य-पशु' वाचक ही है, यह सिद्ध होता है।

फलतः वादियोंसे उपक्षिप्त उक्त-वेदमन्त्रमें भी 'गो' शब्द 'पशु'-सामान्यवाचक ही हैं; विशेष-पशु गायवाचक नहीं; क्योंकि-गाय वेदके मतमें 'अघ्न्या' है-यह पूर्व कहा ही जा चुका है; तब वेद-प्रोक्त 'विशसन-स्थान'में भी 'गो' शब्द गायसे अतिरिक्त 'पशु'-वाचक ही है, 'गाय'-वाचक नहीं। तभी यहां श्रीसायणाचार्यने भी यही अर्थ किया है—'शसने-विशसनस्थाने गावो न-पशव इव'। आर्यसमाजके चतुर्वेदभाष्यकार श्रीजयदेव-विद्यालङ्कारने भी यहां ऐसा ही अर्थ किया है—'हत्या-स्थानमें पशुओंके तुल्य वे दुष्टजन भी मर कर इस पृथिवीके ऊपर पड़े हैं'। वधस्थानमें 'पशु' इस सामान्य-शब्दके अर्थ को छोड़कर 'गाय' यह विशेष अर्थ करने से उपमेय वाक्यमें कोई विशेषता भी तो नहीं हो जाती! तब वह (गाय का)अर्थ सम्भव भी कैसे हो?

इसके अतिरिक्त उक्तमन्त्रमें उपमा है, यहां 'न' शब्द उपमावाचक है। उपमासे विधि नहीं बन सकती। 'जैसे कोई पशुवधस्थान में पशुओं को मारता है' इस अर्थमें वैसी विधि वा वैसा व्यवहार वेदको इष्ट नहीं हो सकता। नहीं तो 'जारं न कन्या' (ऋ० सं० ६।५६।३) 'योषा जारमिव प्रियम्' (ऋ० सं० ६।३२।५) इन उपमाओंसे स्त्रियोंका जार-(उपपति) सम्बन्ध भी वेद-सम्मत हो जायगा; पर यह किसीको इष्ट नहीं।

वस्तुतः उक्त मन्त्रमें युद्धका वर्णन है-यह वादियोंसे प्रोक्त अर्थमें भी स्पष्ट है। तब यहां 'शसने'का अर्थ शत्रुपक्षमें 'युद्धस्थल' है। यहां उपमा है 'शसने न गावः'। इसका यह अर्थ है-'जैसे 'शसने-शिकारगाहमें बाणादिसे मारे गये पशु सो (गिर) जाते हैं; वैसे ही शसने-युद्धस्थलमें हे इन्द्र! तुमसे मारे हुए शत्रु भी जिससे सो (गिर) जाते हैं; ऐसा तेरा बाण वा शस्त्र कहाँ है-यह अर्थ है। पशुपक्षमें 'शसन'का अर्थ है-मृगयाका स्थल,-शिकारगाह, जहां पशुओंका शिकार किया जाता है। शास्त्रोंमें राजाओंके शिकारका वर्णन भी आता है। 'मृगः स, मृगयुः त्वं, (अथर्व- १०।१।२६) इस वेदमन्त्रमें उसका संकेत है। प्रसिद्ध श्रीसत्यनारायणव्रत-कथाके पञ्चम अध्यायमें भी राजा तुङ्गध्वजका वर्णन 'एकदा स वनं गत्वा हत्वा बहुविधान् पशून्' (२) यहां आया है। जैसे युद्धमें राजाओंके प्रजा-हानिजनक शत्रुओंके मारने का वर्णन आया है; वैसे ही प्रजा-हानि-जनक पशुओंके मारनेका वर्णन भी आता है, उसमें दोष भी नहीं माना जाता। इसी

कारण महाभारतमें भी कहा गया है—'अतो राजर्षयः सर्वे मृगयां यान्ति भारत! नहि लिप्यन्ति पापेन न चैतत् पातकं विदुः' (अनुशासनपर्व ११६।१८-१९)

तब 'शसने न गावः' यहां पर 'शिकारगाहमें पशुओंके मारने'का अर्थ है। 'जैसे गोहत्याके स्थानमें गौएँ काटी जाती हैं' इस वादियोंसे कहे जाते हुए अर्थकी यहाँ गन्ध भी नहीं है, क्योंकि—गाय शिकारका पशु नहीं है। घातक-शत्रुओंका युद्धस्थलमें बाण आदि अस्त्रसे मारकर सुलाना, और घातक-पशुओंका शिकारके स्थान वन आदिमें शस्त्र-बाण आदि से मारकर सुलाना-इन दो उपमान-उपमेय वाक्योंके पूर्णसादृश्यके समन्वय हो जानेसे यही इस मन्त्रका वास्तविक अर्थ है।

'अनागोहत्या वै भीमा' (अथर्व. १०।१।२९) इस मन्त्रमें निरपराधकी हत्या भयङ्कर बताई गई है, इससे अपराधीको मारना भयङ्कर नहीं, किन्तु वेदसम्मत है—यह सूचित किया गया है। आक्षिप्त ऋग्वेदके मन्त्रमें राक्षसका बाणसे शसनस्थान (युद्धस्थल)में मारना सूचित किया गया है। इसके उपमानवाक्यमें भी राक्षस-जैसे घातक पशुओंका शसन (शिकारगाह)में बाण आदिसे मारना सूचित किया गया है। दैत्य वा राक्षसरूप जो भी कोई पशु हो—उसका मारना शास्त्रीय वा ऐतिहासिक भी है; इसीलिए भगवान् श्रीकृष्णका वृषासुर वा धेनुकासुर आदि दैत्योंका मारना; तथा भगवान् श्रीरामका राक्षस मारीच-मृग आदिका मारना; तथा स्वा.दयानन्द-द्वारा अपने वेदभाष्यमें क्षेत्रविनाशक

तथा हिंसक नीलगाय-आदिको मारना भी लिखा गया है।

उक्त-मन्त्रमें उपमानोपमेयभावकी पूर्णोपमालङ्कारके सबकी पूर्णता सिद्ध हो गई। तब गायके राक्षस-पशु न होनेसे 'शसन' यह गायकी वधशाला नहीं मानी जा सकती; किन्तु बाघ-भेड़िया आदि राक्षस-पशुओंके मारनेका शिकारगाह ही यहां सिद्ध हो रहा है। यद्यपि उपमेय-वाक्यमें 'रक्षः' एक-वचन है, और उपमान वाक्यमें 'गावः' बहुवचन है; तथापि पशुवाचक 'गो' शब्दके जाति-शब्द होनेसे 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' (पा. १।२।५८) इस सूत्रसे एकवचनमें भी पाक्षिक बहुवचन हुआ हुआ है, अतः इसमें 'प्राणा इव प्रियो मेऽसौ' की भांति कोई दोष नहीं।

फलतः यहां घातक व्याघ्र आदि पशुओंका मारना वेदके मतमें भीषण न होनेसे इसमें कोई दोष नहीं पड़ता। तब उक्त-मन्त्रमें वैसे ही पशु 'शसने न गावः' यहां इष्ट हैं, गाय नहीं। तब यहां कोई भ्रम भी नहीं हो सकता। जब ऐसा है; तब 'इस मन्त्रका रचनाकाल गोवध-निषेध करनेवाले मन्त्रोंसे प्राचीन है' यह आक्षेप भी परिहृत हो गया। क्योंकि—'अघ्न्या' यह-गायका नाम वेदकालीन है, पाश्चात्य नहीं। जब वेद गायको अघ्न्या (अहन्तव्या), अदिति (अखण्डनीया) (यजुः ८।४३) बताता है; तब वह गायकी वधशाला कैसे कह सकता है? वह तो 'गावो गोष्ठे असदन्, (ऋ० सं० १।१९१।४) गौओंका गोशालामें वर्णन कर सकता है, वधशाला में नहीं।

वादियोंसे प्रोक्त ही अर्थको किसी प्रकार मान लिया जाए, तो वहाँ गोवधशाला भी राक्षसकी ही इष्ट है, अर्थात् जैसे राक्षससे वधशालामें मारी हुई गौएं पृथिवीमें सो जाती हैं, वैसे ही उसके बदलेमें इन्द्रसे मारे हुए राक्षस भी पृथिवीमें जिससे सो जाते हैं, इस प्रकारका तेरा अस्त्र कहाँ है हे इन्द्र!' इस अर्थसे गोवध करना राक्षसी-व्यवहार सिद्ध किया गया है। न यह मनुष्योंका है, न देवता एवं धर्मात्माओंका। प्रत्युत देवताओंके राजा इन्द्र तो उसके प्रतीकारमें राक्षसोंको मार दिया करते हैं। इस प्रकार गोवध करनेवाले राक्षसोंको मार डालना चाहिये—यह इससे प्रतीत होता है। जैसे कि-'यदि नो गां हंसि' 'तं त्वा सीसेन विध्यामः' इस अथर्ववेदसं. (१।१६।४)के मन्त्रमें गोवधकर्ता-राक्षस को गोली मार देना कहा है। तब यह विधि-वाक्य सिद्ध न हुआ। अतः इससे वादियोंकी इष्टपूर्ति भी नहीं हो सकती। फलतः वेद-कालमें गोवध इष्ट नहीं, इसीका भाष्यभूत वचन महाभारतमें कहा है—'अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति। महच्चकाराऽकुशलं वृषं गां वाऽऽलभेत्तु यः' (शान्तिपर्व २६२।४७)। बृहदारण्यकमें वृषभ-मांसका वर्णन कई लोगोंके मतमें है-उसपर विचार अग्रिम निवन्ध में किया जाता है—

२ क्या बृहदारण्यकमें बैलका मांस विहित है?

कई महाशयोंका विचार है कि—"बृहदारण्यक-उपनिषद्की 'अथ य इच्छेत् पुत्रो मे पण्डितो जायेत' 'सर्वान् वेदाननुब्रुवीत,

सर्वमायुरियाद् इति मा ँ्सौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयाताम्, ईश्वरौ जनितवै औक्षेण वा, आर्षभेण वा (६।४।१८) इस कंडिकामें बैलके मांसको पकाकर खानेसे दम्पतिका वेदवक्ता, विद्वान् लड़का उत्पन्न होना कहा है।" यह मत भी ठीक नहीं।

हिन्दुधर्मका गोरक्षण एक आवश्यक अङ्ग है। वेदके बहुत स्थलोंमें गाय-बैलको 'अघ्न्य-अघ्न्या' कहा है-जिसका अर्थ है-न हनन करने योग्य। तब उपनिषद्रूप वेदमें भी बैलके मांसका प्रसंग कैसे आसकता है? विना हननके उनका मांस प्राप्त नहीं हो सकता; और हनन करनेसे 'अघ्न्य' नामका व्याकोप होता है; अतः बृहदारण्यकके उक्त-वचनमें बैलके मांसके अर्थका कोई भी प्रसङ्ग नहीं। इसके अतिरिक्त उक्त-वचनमें 'औक्षेण वा आर्षभेण वा' यहांका 'वा' शब्द इन पदार्थों को एक-दूसरेसे पृथक् कर रहा है। तब केवल बैलका ही अर्थ कैसे किया जा सकता है? 'उक्षा' भी यदि बैलका और 'ऋषभ' भी बैलका नाम है, इसीलिए हां एक बैलका अर्थ किया जाता है; तो फिर यहां यह क्यों नहीं विचारा जाता कि—यहां दो पर्यायवाचक-शब्दोंको रखकर पुनरुक्ति दोष क्यों किया गया है? पृथक्ता-वाचक 'वा' शब्द भी यहां है-यह क्यों नहीं विचारा जाता? यदि छोटे-बड़े बैलका अर्थ करके पुनरुक्ति हटाई जावे; यह भी ठीक नहीं। छोटे-बड़े वृषभके मांस की कोई विशेषता भी तो नहीं कही गई! और फिर ऐसा अर्थ करने पर 'देहि मे वाजिनं राजन्! गजेन्द्रं वा मदालसम्' इस प्रकार दुष्क्रम दोष जा पड़ेगा। पहले

बड़े (ऋषभ), फिर उसके न मिलने पर छोटे (उक्षा) का ग्रहण उचित होता। और यह भी विचारनेका कष्ट नहीं किया जाता कि इस कण्डिकाके साथकी कण्डिकाओंमें भी किसी मांसका निरूपण है, या नहीं?

१४ वीं कण्डिकामें 'क्षीरौदनं पाचयित्वा' शुक्लवर्णवाले एक वेदके वक्ता पुत्रकी उत्पत्तिकेलिए दूधमें ओदन पकाकर घीके साथ खाना कहा है। १५वीं कण्डिकामें 'दध्योदनं पाचयित्वा' दो वेदके वक्ता, कपिलवर्ण पुत्रकी उत्पत्त्यर्थ दहीमें ओदन पकाकर खाना कहा है। १६ वीं कण्डिकामें तीन वेदके वक्ता, श्यामवर्ण पुत्रकी उत्पत्त्यर्थ उदौदनं पाचयित्वा' उदकमें ओदन पकाकर खानेकेलिए कहा है। इनमें दूध, दही, जल इन तीन तरल-पदार्थों में ओदनका पकाना कहा है। घीको सभी स्थान कहा है।

१७वीं कण्डिकामें पण्डिता (बुद्धिमती) लड़की की उत्पत्त्यर्थ 'तिलौदनं पाचयित्वा' तिल-चावल पकाकर खानेको कहा है। प्रकृत १८वीं कण्डिकामें सर्ववेदवक्ता पुत्रकी उत्पत्त्यर्थ 'मांसौदन' पकाकर खाना कहा गया है। यहां पूर्वोत्तर-साहचर्य देखने पर मांसका ओदनके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता है।

पहले एक वेदके वक्ताकेलिए ओदनका दूधमें, दो वेदके वक्ताकेलिए ओदनका दहीमें, तीन वेदके वक्ताकेलिए ओदनका गङ्गादिके जलमें घृतसहित पकाना कहा है। यह तीनों तरल तथा परस्पर-सम्बद्ध वस्तुएँ हैं। १७वीं कण्डिकामें पुत्रीकी बुद्धिमत्ताके लिए तिल और तण्डुल दोनोंका पकाना कहा है। यहां तिल

धान्यविशेष है। तब १८ वीं कण्डिकामें पुत्रके पाण्डित्यकेलिए मांस भला प्रकृत कैसे हो सकता है? पहले दूध, दही, और उनका जल परस्पर सम्बद्ध थे, परन्तु वहां तिलके साथ मांसका क्या सम्बन्ध?

मांस भी यहां आगे-पीछेके साहचर्यके अनुसार कोई धान्य ही चाहिये। 'औक्षेण' 'आर्षभेण' यह पद तृतीयान्त हैं; इन दोनोंका विशेष्य 'मांसं' यहां हो भी नहीं सकता, क्योंकि-'मांसमें' तृतीया नहीं। विशेषण-विशेष्यका समान-विभक्तिकताका नियम हुआ करता है। उस विशेष्यका दूसरे पदके साथ समास भी सम्भव नहीं।

यह भी विचारणीय है कि—'मांसौदनम्'में समाहारद्वन्द्व है। मांसका 'मांस' अर्थ करने पर समाहारद्वन्द्व नहीं हो सकता। 'तिलौदनं'में तो 'विभाषा वृक्षमृगतृण-धान्य-व्यञ्जन-पशुशकुनि' (पा॰ २।४।१२) इस सूत्रसे 'व्रीहियवम्' की भांति दोनोंके धान्य होनेसे समाहारद्वन्द्व हो जाता है; पर 'मांसौदनं' में तो 'मांस' कोई धान्य नहीं; अतः समाहारद्वन्द्व भी सम्भव नहीं। पर यदि यहां 'मांस' कोई 'धान्य' सिद्ध हो जावे, तो सब संगतियां लग जावेंगी।

वह संगति यह है कि—'अतो माषान्नमेवैतद् मांसार्थे प्रशस्तं स्मृतम्। पितरस्तेन तृप्यन्ति श्राद्धं कुर्यान्न तद्विना। यथा बलिष्ठं मांसत्वाद् माषान्नमपि तत्समम्। सौगन्धिकं च स्वादिष्ठं मधुरं द्रव्यभेदतः' (१५२-१५३) प्रजापतिस्मृतिके इस प्रमाणसे 'मांस'श

अर्थ 'माष' यह धान्य-विशेष भी होता है; क्योंकि मांसल (पौष्टिक) पदार्थ भी 'अर्शआदिभ्योऽच्' (पा. ५।२।१२७) इस सूत्रसे 'मांस' शब्दसे अच् प्रत्यय करने पर 'मांस' शब्दसे कहे जा सकते हैं। इसी कारण स्वयं 'बृहदारण्यक'में दस ग्राम्य-धान्योंके निरूपणके अवसरमें 'व्रीहियवाः' तिल-माषाः (६।३।१३) यहां तिलके बाद माष लिया गया है। पूर्वोक्त समाहारद्वन्द्वकी वैकल्पिकताके कारण यहां एक-वचन न होकर इतरेतरयोगमें बहुवचन हो गया है। इस प्रकार 'मांसौदनं'में भी समझ लेना चाहिये। तब यहां 'मांस'से 'माष' का ग्रहण हो जानेसे सब संगतियां लग जाती हैं। तब आर्यसमाजी-विद्वान् श्रीशिवशंकरकाव्यतीर्थमहाशयका यहां 'माषौदनम्' यह पाठ बदल देना अनधिकारचर्चा है। जब उक्त प्रमाणसे 'मांस' शब्दका 'माषधान्य' अर्थ भी हुआ करता है; तब पाठपरिवर्तनकी आवश्यकता क्या ?

तात्पर्य यह है कि माष और चावलोंको घृताक्त पकाकर उनको 'उक्षा वा ऋषभ'के स्वरसके साथ खानेवाले दम्पतियोंका उक्त गुणोंवाला पुत्र उत्पन्न होता है। माषकी खीर महापौष्टिक एवं वाजीकरण हुआ करती है। तब उसका वर्णन पुत्रोत्पत्ति-प्रसङ्गमें यहां प्रकृत भी है।

अब उक्षा तथा ऋषभ का अर्थ भी विवेचनीय है। 'औक्षेण वा आर्षभेण वा' यहां दो वार कहे हुए 'वा' शब्दसे यह तो सिद्ध हुआ कि यह दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। बैल अर्थ करने पर संगति नहीं बैठती। आयुर्वेद-उपवेदमें 'उक्षा' यह सोम ओषधिका

नाम है। श्री सायणाचार्यने भी ऋ. १।१६४।४३ मन्त्रके भाष्यमें लिखा है—'सोम उक्षाऽभवत्'। यहां 'उक्षा' सोमका नाम कहा गया है। 'ऋषभ' यह ऋषभक ओषधिका नाम है।

वृषभ अर्थवाले शब्द उस ओषधिके पर्यायवाचक हुआ करते हैं। यह ओषधि हिमालयके वनोंमें प्राप्त होती है। वृषभके शृङ्गकी भांति होती है। इसके पत्ते छोटे-छोटे होते हैं। यह बल-बुद्धि बढ़ानेवाली होती है, वात एवं क्षय आदि दूर करती हैं, जैसे कि—अथर्ववेदसंहितामें कहा है—'यानि भद्राणि बीजानि ऋषभा जनयन्ति, तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व, सा प्रसूर्धेनुका भव' (३।२३।३) यहां ऋषभ-ओषधिके सेवन करनेसे पुत्र-प्राप्ति सूचित की गई है। निघण्टु-रत्नाकरमें इसके गुण बताये गये हैं—'ऋषभो मधुरः शीतो गर्भसन्धानकारकः। शुक्रधातुकफानां च कारको बलदायकः। वृष्यः पुष्टिकरः प्रोक्तः पित्तरक्तातिसारजित्'।

यह दोनों ओषधियां वाजीकरण होनेसे बल बढ़ाने, आयु बढ़ाने और वीर्य उत्पन्न करने तथा मेधावी पुत्र पैदा करनेमें अद्भुत शक्ति रखती हैं। तब उक्त घृताक्त-माषौदन उक्त ओषधियोंमें एकके चाहे वह सोमरस हो, अथवा यदि वह न मिले; तो ऋषभके स्वरसके साथ देनेसे वैसा पुत्र हो सकता है—यह उक्त काण्डकाका अर्थ है। इस अर्थमें दुष्क्रम दोष भी नहीं रहता।

सोमरसको पहले इसलिए रखा है कि उसका सम्बन्ध यज्ञसे तथा यज्ञविषय वाले वेदसे है। यहां पर सर्ववेद-वक्ता लड़का पैदा करना था। ऋषभकका गुण 'भावप्रकाश'में 'जीवकर्षभकौ बल्यौ

शीतौ शुक्रकफप्रदौ' (पू० १ भ०) यह कहा है। बैलका अर्थ यहां इष्ट भी नहीं है; इसमें कारण यह है कि-बृहदारण्यक-उपनिषद् शतपथको उपजीवित करती है। शतपथके 'तद्ध एतत् सर्वाश्यमेव, यो धेन्वनडुहोरश्नीयात्। गर्भं निरवधीदिति पापमकत्-इति, तस्मात् धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्' (३।१।२।२१) इस वचनसे गाय-बलके भक्षकको सर्वभक्षी, पापी और गर्भघातक कहकर जब निंदित किया गया है, तब शतपथब्राह्मण इस अवसरमें बैलका मांस किस प्रकार कह सकता है? इस कारण शतपथके अनुसरण करनेवाली बृहदारण्यक-उपनिषद्को भी यहां ओषधि-विशेषका स्वरस इष्ट है, बैलका मांस नहीं। यदि यहां पर बैलके खानेसे वेदवक्ता बालक उत्पन्न होता, तब उसके भक्षक ईसाई या मुसलमान ही सर्ववेद-वक्ता होते; भारतीय-हिन्दु नहीं। पर यह अनुभवसे भी विरुद्ध है; इस कारण यहां यह अर्थ भी नहीं। आशा है 'आलोक' पाठकोंने यह सब हृदयङ्गम कर लिया होगा। यद्यपि कई विद्वान्-भाष्यकारोंने इस कण्डिकाका मांस-सम्बन्धी अर्थ किया है, उसका कारण यह है कि-मन्त्र, ब्राह्मण, तथा उपनिषद् आरण्यक आदिके वेद होनेसे 'या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिँश्चराचरे। अहिंसामेव तां विद्याद् वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ' (५।४४) इस मनुके वचनानुसार उन्होंने उक्त-हिंसाको भी अहिंसा समझकर उक्त-विषयमें पूर्वापरकी सङ्गतिसे विशेष विचार नहीं किया। अतः हम पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। हमने तो वेद-महाभारतादि सभीके पूर्वापरकी सङ्गतिसे सम्भवी उक्त अर्थ किया है। अतः यही ठीक है; यह

हमारा पूर्ण-विश्वास है।

मांसके विषयमें हम पूर्व विवेचना दे चुके हैं कि-उक्त कण्डिका में 'मांस'से 'माष'का ग्रहण इष्ट है; अथवा वहाँ 'माँस'का अर्थ 'मांस' ही माना जावे; तो इसपर भी विचार कर लेना चाहिये-खाये-पिये हुए पदार्थोंका पहला परिणाम १ रस धातु बनता है और दूसरा परिणाम २ रुधिर धातु बनता है; रुधिर गाढ़ा होकर तीसरा परिणाम ३ माँस होता है, माँस से ४ वसा (चर्वी) बनती है। चर्वी कठोर होकर ५ हड्डी बन जाती है। हड्डी से ६ मज्जा, और मज्जा से ७ वीर्य बनता है।

जिस प्रकार यह परिणाम मनुष्य-शरीर में होता है; इसी प्रकार वृक्ष, फल, कन्द, मूल आदि में भी वैसा ही परिणाम होता है। इसलिए उनके नाम भी वही होते हैं। आप आम फलको ही ले लीजिये, इसके ऊपरके हिस्सेको पशु-मनुष्य आदिके ऊपरके भागकी तरह त्वचा ही कहा जाता है। पशुको काटने पर उसकी ऊपरकी खाल फैंक देनी पड़ती है, सो आमको भी काटकर उसकी ऊपरी त्वचा फैंक देनी पड़ती है। उसका जो रेशा निकलता है; वह रस ही तो कहा जाता है। अब जो उसका बीचका गूदा है वही तीसरा परिणाम 'माँस' है, उसीकी कठोर वसा गुठली बन जाती है, जिसे 'अस्थि' कहा जाता है, जैसेकि-श्रीबाणभट्टकी कादम्बरीमें आश्रमके वर्णनमें 'शिला-शकलप्रहारसंचूर्णिताऽऽम्रा-ऽस्थिसञ्चयम्' यहाँ बहेड़ेकी गुठलीको 'अस्थि' कहा है। इस विषयमें अन्य प्रमाण हम अन्यत्र देंगे। जैसे खाने-पीनेका व्यवहार

मनुष्योंमें होता है; वैसे वृक्षोंमें भी होता है। वृक्ष आदि भी खाते-पीते हैं। जैसे वृक्षादि वा गेहूँ आदिमें जिसे 'खाद' डालना कहते हैं; वह उस वृक्षका खाद्य-भोजन है। सो जैसे खाद्यका परिणाम मनुष्यमें होता है; वैसे वृक्ष, फल, घास, ओषधि आदि पर भी 'खाद'का परिणाम होता है।

सो अब जोकि-बृहदारण्यकके गर्भाधानमें 'मांसौदनं पाचयित्वा' में 'मांस' शब्द है, सो वहाँ ओषधि वा फलका तृतीय परिणाम 'मांस' है—जिसे 'गूदा' कहा जाता है—उसे भातके साथ मिलाकर घी डालकर खावे—तो सर्ववेदवक्ता लड़का उत्पन्न होगा' यह अर्थ हुआ। वृक्ष आदिके जो कच्चे फल हैं; उन्हें खाना तो कुछ हिंसा है; पर पक्वफल जो हैं—वे आगे नहीं बढ़ते, उनका खाना हिंसा नहीं होती; वह ऐसा है, जैसे किसीका बढ़ा हुआ बाल वा नाखून क्षुर आदिसे काट लिया जावे। इससे उस पुरुष को दुःख नहीं होता, वैसे ही पक्वफलके काटनेसे वृक्षको दुःख भी नहीं होता। तब उस फलके भी बीचवाले भाग मांसरूप गूदाके खानेसे न कोई हिंसा है; न पशु-मनुष्यादिके मांसादि की भांति अपवित्रता है; उसके वाजीकरण तथा पवित्र एवं बुद्धिवर्धक होनेसे उससे युक्त ओदनका अशन जहाँ गर्भ करता है, वहाँ उस आहित गर्भसे वेदज्ञाता पुत्र भी उत्पन्न होता है—यह वहाँ तात्पर्य सिद्ध होता है। सो बृहदारण्यकमें उसी माँसका तात्पर्य है। अपवित्र माँसका तात्पर्य नहीं; क्योंकि—उसका वेद-ज्ञातृत्वसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं। औक्षेण वा आर्षभेण वा' में हम लिख चुके हैं कि—यह ओषधियों-

के नाम हैं; वाजीकरण वाली ओषधियोंका नाम भी अश्व-ऋषभ आदि कहा जाता है। जैसे असगन्ध है, उसका नाम अश्वगन्धा वा 'अश्वा' भी आता है। 'मदनपाल-निघण्टु'में जीवक-ऋषभक ओषधियोंके नामोंमें ऋषभ, और वृष यह नाम आते हैं। इनमें बल-बुद्धि को बढ़ाना प्रधान गुण होता है, इसलिए यह 'वाजीकरण' माने जाते हैं। 'वांसा' ओषधिका नाम भी वृष और वृषभ आता है। इनकी चढ़ती-दशा वा तरुणावस्थामें उसे 'उक्षा' कहा जाता है, और परिपक्व-दशाका नाम वृष वा वृषभ कहा जाता है। गर्भाधानके समय ऐसी बल-बुद्धिवर्धक ओषधियों का सेवन वाजीकरण हो जानेसे पुत्रसन्तान पैदा करनेवाला तथा मस्तिष्कवर्धक होनेसे सर्ववेद-वक्ता लड़का उत्पन्न करनेवाला सिद्ध हो जाता है। आयुर्वेदमें जहाँ वाजीकरणका वर्णन मिलता है वहाँ मांसका नाम नहीं मिलता। जहाँ बुद्धिकी बात होती है, वहाँ भी मांसका नाम नहीं मिलता; किन्तु इन अवसरों पर दुग्ध-घृत आदि वा ओषधियोंके ही बहुतसे योग मिलते हैं; इससे प्रतीत होता है कि—उनमें मांसको वाजीकरण-गुणवाला तथा बुद्धिप्रद नहीं माना जाता। लोकमें भी 'मांस'से 'मांस' बढ़ना माना जाता है; वीर्य वा बुद्धि बढ़ना नहीं। सो बृहदारण्यक वा शतपथके प्रकृत गर्भाधान-प्रकरणमें उक्षा-वृषभ आदि शब्दोंसे उन्हीं ओषधियोंके ही गूदेका 'मांस'-शब्दसे वर्णन इष्ट है; क्योंकि—वे वाजीकरण होनेसे शुक्रको गाढ़ा कर देनेसे तथा बुद्धि-मस्तिष्क के वृद्धिकारक होनेसे बल वीर्य तथा विद्याशाली पुत्रोंके उत्पादनकी क्षमता रखते

हैं। सो बृहदारण्यकके आक्षिप्त प्रमाणवाक्यमें भी ओषधियोंके गूदेका अर्थ विवक्षित होनेसे अब उसमें बैलके माँसका भ्रम प्रतिपक्षियोंको हटा लेना चाहिये।

३ वसिष्ठस्मृति एवं शतपथका अतिथि-सत्कार।

बहुतसे पाश्चात्य-विद्वान् तथा पाश्चात्यानुयायी भारतीय यह सिद्ध करनेका बहुत प्रयास किया करते हैं कि-"प्राचीन भारत में या वैदिक कालमें अतिथिसत्कारके समय गोवध हुआ करता था, तभी अतिथिको 'गोघ्न' कहा जाता है। शतपथब्राह्मणमें भी स्पष्ट कहा है—'यथा राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा, महोक्षं वा, महाजं वा पचेत्, एवमस्मै एतदातिथ्यं करोति' (३।४।१।२)। यही बात 'वसिष्ठ-स्मृति'में भी कही है—'अथापि ब्राह्मणाय वा, राजन्याय वा, अभ्यागताय महोक्षं वा, महाजं वा पचेत्; एवमस्य आतिथ्यं कुर्वन्ति' (४।८)। इसी प्रकार 'ऐतरेय-ब्राह्मण'में भी कहा गया है—'यथैव अदो मनुष्यराजे आगते, अन्यस्मिन् वा अर्हति [प्रशंसनीये आगते] उक्षाणं वा वेहतं वा क्षदन्ते' (१।१५)। 'गोघ्नः' का विग्रह है 'गां हन्ति अस्मै'। 'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने' (अ. ३।४।७३) इस वेदाङ्ग-व्याकरणके सूत्रसे उक्त शब्दकी सिद्धि हुआ करती है। उक्त वैदिक-वाक्योंका यह अर्थ है कि-ब्राह्मण वा क्षत्रिय-राजरूप अतिथिकेलिए बड़ा बैल या बड़ा बकरा पकाये। तब आजकलकी सरकारको गोवध रोकनेकेलिए आगृहीत करना शासनके कार्यमें अव्यवस्था लाना है"।

पाश्चात्योंके इस बड़े आक्षेप पर-जिसने हमारे पौरस्त्य विद्वानोंको भी हैरान कर रखा है—हम कुछ विचार करना चाहते हैं। हमें तो उक्त-अर्थमें सङ्गति नहीं दिखलाई पड़ती। एक आगन्तुक अतिथि बड़े बैल, वा बड़े बकरेको खा जावे, यह सम्भव नहीं दिखाई पड़ता—और अतिथि-इतने बड़े बैल (सांड) किसीके घरमें हो भी नहीं सकते, क्योंकि अतिथि प्रायः आते-जाते रहते हैं; इतने सांड प्रतिदिन कहांसे आवें?

यह भी याद रखनेकी बात है कि वसिष्ठस्मृतिमें उक्त-वचनसे पूर्व 'न च प्राणिवधः स्वर्ग्यः' (४।७) यह वचन आया है, इससे प्राणीका वध स्वर्गप्रद नहीं माना। तब इसके बाद ही सहसा बड़े बैलका पकाना कैसे कहा गया? 'न च प्राणिवधः स्वर्ग्यः' का उपसंहार 'तस्माद् यागे वधोऽवधः' हो भी नहीं सकता; क्योंकि-यहां असङ्गति स्पष्ट है। मनुस्मृतिके ऐसे ही 'न च प्राणिवधः स्वर्ग्यः' पद्यके चतुर्थपादमें 'तस्मान्मांसं विवर्जयेत्' पाठ है, वह सङ्गत भी है।

वस्तुतः वसिष्ठका उक्त-वचन शतपथब्राह्मणके उक्त वचन पर अवलम्बित है; और शतपथब्राह्मण श्रीयाज्ञवल्क्यसे प्रोक्त है, तब शतपथके वाक्यका अर्थज्ञान भी श्रीयाज्ञवल्क्यको ही हो सकता है। उन्हीं याज्ञवल्क्यने सूर्यसे 'शतपथ-ब्राह्मण' को प्राप्त करके (देखिये इस छठे पुष्पका पृष्ठ ८१) फिर अपनी 'याज्ञवल्क्यस्मृति' बनाई। अब याज्ञवल्क्यस्मृतिको भी देख लेना चाहिये, कदाचित् ऋषिने उस अपने वाक्यका तात्पर्य उसी अपनी स्मृतिमें दिया हो।

'याज्ञवल्क्य-स्मृति'में श्रोत्रिय अतिथिके सम्मानार्थ यह पद्य आया है—'महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्। सत्क्रियान्वासनं स्वादु भोजनं सूनृतं वचः' (१।५।१०९)। इसकी व्याख्या मिताक्षरामें कही है—'महान्तमुक्षाणं-धौरेयं, महाजं वा श्रोत्रियाय उपकल्पयेत्-'भवदर्थमयमस्माभिः परिकल्पितः' इति तत्प्रीत्यर्थम्, यथा-'सर्वमेतत् भवदीयमिति', न तु दानाय व्यापादनाय वा, प्रतिश्रोत्रियमुक्षाऽसम्भवात्, 'अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्ममप्याचरेन्नतु' इति निषेधाच्च। तस्मात् सत्क्रिया ह्येव कर्तव्या-'।

अभिप्राय यह है-श्रोत्रिय *(संस्कृत एवं विद्वान् जन्म-ब्राह्मण) अतिथि किसीके घरमें आ जावे, तो यह कहकर कि-'महाभाग! यह बड़ा बैल, या बड़ा बकरा आपका ही है' इस प्रकार उसका सत्कार करे, क्योंकि उस समयका यही धन था। इसीसे उसका सौंपना कहा है। मिताक्षराका यहां यह कहना है कि-यह वाचिक सत्कार प्रकट करना मात्र है, उस बड़े बैलका उस श्रोत्रियको न तो दान करना इष्ट है, न उसका मारना। इसमें श्रीविज्ञानेश्वर एक बढ़िया उपपत्ति बताते हैं कि-श्रोत्रिय समय-समय पर प्रचुर-मात्रामें किसीके घर जाते रहें, तो उन्हें देनेकेलिए बलीवर्द (सांड) इतनी मात्रामें कहांसे आजावेंगे? उसका मारना भी इष्ट नहीं; क्योंकि एक बैल तो न्यून से न्यून सौ अतिथियोंका भोजन हो सकता है, तब एककेलिए 'चमतन्तौ महिषीं हन्ति' की भांति एक बैल कैसे मारा जा सकता है?

*जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय एव च' (अत्रिस्मृति १३८)

फलतः यहाँ वैसा कहकर श्रोत्रियका वाचिक सत्कारमात्र इष्ट होता है, न सांडका दान, न मारना।

यह अर्थ ठीक भी है, क्योंकि शतपथमें 'पचेत्'का अर्थ 'पकावे' नहीं है, किन्तु 'व्यक्तीकुर्यात्' (प्रकट करे) अर्थ है। इसमें 'पचिँ व्यक्तीकरणे' (भ्वा० से० आ०) यह धातु है। बालमनोरमा टीकामें (श्रीगुरुप्रसाद-शास्त्री द्वारा काशीमें तथा चौखम्बाके) प्रकाशित संस्करणमें यहाँ लिखा है—'पचेत्येके' अर्थात्—इस 'पचि' धातुका पाठभेद 'पच्' भी है। तब उसका अर्थ व्यक्तीकरण (प्रकट करना) है। इस अर्थमें शतपथ-ब्राह्मण और याज्ञवल्क्य-स्मृतिकी एकार्थकता सिद्ध होगई। अब प्रश्न यह है कि उक्त धातु आत्मनेपदी है, पर शतपथके प्रयोगमें आत्मनेपद नहीं, इस पर यह जानना चाहिये कि आत्मनेपद तो 'अनुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्' इस परिभाषासे अनित्य है। अतः शतपथके वाक्यमें वह नहीं हुआ, अथवा आर्षता से व्यत्ययवश नहीं हुआ।

हमारा किया हुआ यह अर्थ समूल भी है। 'उक्षाणं पृश्निमपचन्त' (ऋ सं- १ १६४।४३) इस मन्त्रमें 'पच्' धातुकेलिए श्री-सायणाचार्यने लिखा है—"उक्षाणं-फलस्य सेक्तारं सोमम् ऋत्विजः अपचन्त—पचधात्वर्थानादरेण तिङ्प्रत्ययः करोत्यर्थः। स च क्रियासामान्य-वचनः। अत औचित्यात् सम्पादितवन्तः इत्यर्थः।" अर्थात् यहां 'पच' धातु का अर्थ 'सम्पन्न करना' है। इस प्रकार दिङ्नागकी 'कुन्दमाला' नाटिकामें भी 'इक्ष्वाकूणां च सर्वेषां क्रियाः पुंसवनादिकाः। अस्माभिरेव पच्यन्ते' (१।३१) यहाँ भी 'पच' धातुका

अर्थ उपकल्पन वा सम्पादन ही है। इसी प्रकार 'नमो मत्स्यकूर्मादि-नानास्वरूपै...मखादिक्रियापाककर्त्रेऽघहन्त्रे' इस प्रसिद्ध पुराण-प्रोक्त देव-स्तोत्रमें भी 'पाककर्त्रे'का 'उपकल्पक' वा 'साधक' ही अर्थ है। तब याज्ञवल्क्यप्रोक्त-शतपथके वचनमें भी 'पच्' धातुका सम्पादन, उपकल्पन इत्यादि अर्थ है, 'पकाना' अर्थ नहीं। श्रीयाज्ञवल्क्यको वही अर्थ इसमें इष्ट है, जैसाकि—उन्होंने अपनी 'याज्ञवल्क्य-स्मृति'में सूचित किया है।

अब शेष प्रश्न यह है कि—'सूर्यसे शतपथ-ब्राह्मण पानेवाले श्रीयाज्ञवल्क्य तथा याज्ञवल्क्यस्मृति बनानेवाले याज्ञवल्क्य क्या समान व्यक्ति हैं? क्या यह विश्वसनीय है? दोनों ग्रन्थोंके भाषाभेद होनेसे दोनों की समानकालीनता वा एकता कैसे मानी जा सकती है?' इसपर हम कहते हैं कि—यह ठीक है, और विश्वसनीय है। इसमें हम प्रामाणिक विद्वानोंके प्रमाण उपस्थित करते हैं।

'न्यायदर्शन' (४।१।६२ सूत्र)के वात्स्यायनभाष्यमें कहा है—'द्रष्टृ-प्रवक्तृ-सामान्याच्च धर्मशास्त्रस्य अप्रामाण्यानुपपत्तिः।' (अर्थात् जो मन्त्र-ब्राह्मणके द्रष्टा-प्रवक्ता हैं, वे ही धर्मशास्त्रके भी द्रष्टा-प्रवक्ता हैं।) श्री वात्स्यायन यह स्वयं स्पष्ट करते हैं—'य एव मन्त्र-ब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च, ते खलु इतिहास-पुराणस्य धर्मशास्त्रस्य च' (इसीलिए समान-प्रवक्तृकता होनेसे मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदके प्रामाण्य की तरह धर्मशास्त्र-स्मृति का भी प्रामाण्य है)।

इससे शतपथ-ब्राह्मणके द्रष्टा श्रीयाज्ञवल्क्य 'याज्ञवल्क्यस्मृति'

('धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः' (मनु. २।१०) के प्रणेता भी सिद्ध हो गये। भाषाभेद का कारण यह है कि याज्ञवल्क्यस्मृति श्रीयाज्ञवल्क्य की अपनी पौरुषेय रचना है और शतपथ-ब्राह्मण उसकी सूर्यसे प्राप्त अपौरुषेय रचना है। अतः भाषाभेद स्वाभाविक है। यहाँ कालभेद की कोई बात नहीं।

आर्यसमाजके चार वेदसंहिताओंके भाष्यकार श्री जयदेव-जी विद्यालंकारने 'वेदवाणी' (५।४) में 'क्या वेदमें इतिहास है' इस अपने निबन्धमें लिखा है—'(३) हमारी धारणा है कि वेद की भाषा सर्वप्रथम है, लौकिक-संस्कृत उससे भिन्न है, वह भी वेदकालमें प्रचलित रही, और वेदके जाननेवाले ऋषिगण ही वेदके विद्वान् होकर जब लौकिक-साहित्यमें ग्रन्थ रचते थे; तो वे लोकप्रसिद्ध संस्कृतमें रचते थे। वैदिक-भाषासे उनके लौकिक ग्रन्थों की भाषा अनेक अंशोंमें भिन्न थी, जिनका निर्धारण पाणिनि और उनके पूर्वके ऋषि-मुनियों के व्याकरणोंमें होता था।' (पृ० ६)

आर्यसमाजके रिसर्चस्कालर श्रीभगवद्दत्त जी बी. ए. महाशय ने अपनी बड़ी गवेषणासे प्रसूत 'भारतवर्षका बृहद् इतिहास' (प्रथमभाग ७३ पृष्ठ)में लिखा है—'वात्स्यायन मुनिका मत पूर्व उद्धृत किया जा चुका है। तदनुसार ब्राह्मणग्रन्थोंके द्रष्टा-प्रवक्ता ऋषि ही इतिहास, पुराण, आयुर्वेद तथा धर्मशास्त्र आदिके रचयिता थे। मुनि-वात्स्यायनका यह मत भारतवर्षमें स्वीकृत सत्य-इतिहास का एक अंग था। यदि यह मत आर्य-परम्परासे विरुद्ध होता तो बौद्ध और जैन विद्वान् इसका खण्डन अवश्य करते, पर ऐसा

हुआ नहीं; अतः वात्स्यायन-मत पुरातन ऐतिह्य पर आश्रित है। ब्राह्मणों और रामायण, पुराण तथा धर्मशास्त्र आदि की भाषाका थोड़ा-सा अन्तर इन ग्रन्थोंकी शैली और विषय-भेदके कारण हुआ है"। इससे हमारे कथनकी पुष्टि हुई।

उक्त महाशयजी ही 'वैदिक वाङ्मयका इतिहास' इस अपनी पुस्तकके द्वितीयभाग (१६० पृष्ठ) में लिखते हैं कि-'वही ऋषि ब्राह्मणोंका प्रवचन करते थे, और वही धर्मशास्त्र-आदिका भी। अतः भाषाके सादृश्यपर कोई बात सिद्ध नहीं की जा सकती। भाषा तो विषयानुसार भिन्न-भिन्न प्रकारकी हो सकती है'।

'भारतवर्षका बृहद् इतिहास' (१म भाग ७२ पृष्ठ)में श्री-भगवद्दत्तजी लिखते हैं—'जिन ऋषियोंने चरक, काठक आदि संहिताएं और ब्राह्मण तथा कल्पसूत्र प्रवचन किये, उन्हीं ऋषि-मुनियोंने इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र और आयुर्वेद ग्रन्थोंकी लोकभाषा-संस्कृतमें रचना की। यही कारण है कि वर्तमान-धर्मसूत्रोंके अनेक वचन तथा याज्ञवल्क्य और महाभारतके अनेक पाठ ठीक ब्राह्मणसदृश-भाषामें हैं"।

इसीको स्पष्ट करते हुए अनुसन्धाताजी आगे लिखते हैं—'पं० ईश्वरचन्द्रजी (भूतपूर्व दयानन्दोपदेशक-विद्यालय गुरुदत्तभवन लाहौरके दर्शनाध्यापक)ने 'ब्राह्मणग्रन्थोंके द्रष्टा और इतिहास-पुराण तथा धर्मशास्त्रके रचयिता ऋषियोंका अभेद' नामक एक बृहद्-ग्रन्थ रचा है। इस ग्रन्थमें उन्होंने सिद्ध किया है कि—'शतपथ-ब्राह्मणकी भाषा वैदिक प्रवचन-शैलीकी भाषा होने तथा 'ह वै' आदि प्रयोगोंकी बहुलता पर भी याज्ञवल्क्य-स्मृतिकी भाषासे पर्याप्त

सदृशता रखती है। याज्ञवल्क्यस्मृतिके अनेक पाठ पाणिनीय-व्याकरणके प्रभावसे उत्तरोत्तर बदले गये हैं। पहले वे पाठ पुरातन लोकभाषामें थे" (पृष्ठ ७३)।

उक्त ग्रन्थके ५४ पृष्ठमें तो आपने अन्य भी स्पष्टता कर दी है। वे लिखते हैं—'याज्ञवल्क्यस्मृति' वाजसनेय [शतपथ] ब्राह्मणके प्रवक्ता [श्रीयाज्ञवल्क्य] ने बनाई थी''इस विषयका विशद विवेचन पं० ईश्वरचन्द्रजीके ग्रन्थमें देखिये। याज्ञवल्क्यस्मृतिके १००से अधिक प्रयोग पाणिनिसे पूर्व के हैं।'

श्रीभगवद्दत्तजी बी० ए० की यह बात समूल भी है। शतपथ-ब्राह्मणके अन्तमें कहा है—'आदित्यानि इमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येन आख्यायन्ते' (१४।९।४।३३) यहाँ पर श्रीयाज्ञवल्क्यको सूर्यके द्वारा शतपथ-ब्राह्मणकी प्राप्ति कही है। इसका स्पष्टीकरण महाभारतके शान्तिपर्वमें है। यहाँ याज्ञवल्क्यने मिथिलाके राजा जनकको यह कहा था—'मयाऽऽदित्याद् अवाप्तानि यजूंषि वसुधाधिप'!(३१८।१) ततः शतपथं कृत्स्नं''चक्रे' ('चक्रे'का यहाँ प्रकथन अर्थ है, क्योंकि 'कथां कुरुते' आदिमें पाणिन्यनुसार उसका प्रयोग देखा गया है) 'संपरिशेषं च' (३१८।१९) इससे स्पष्ट है कि—श्रीयाज्ञवल्क्य मिथिलामें उसके राजा जनकके पास रहा करते थे। यही याज्ञवल्क्यस्मृतिमें भी द्रष्टव्य है। उसमें कहा है—'मिथिलास्थः स योगीन्द्रः [याज्ञवल्क्यः] क्षणं ध्यात्वाऽब्रवीन्मुनीन्' (१।१।२)

उसी स्मृतिमें श्रीयाज्ञवल्क्यने अपनी 'बृहदारण्यक'केलिए—

जो कि शतपथका अन्तिम (१४वां) काण्ड है—कहा है—'ज्ञेयं चारण्यकमहं [याज्ञवल्क्यः यद् आदित्याद् (सूर्याद्) अवाप्तवान्' (प्रायश्चित्ताध्याय ४।११०) यहाँ श्रीयाज्ञवल्क्यने अपनी स्मृतिमें अपनेसे प्रवचन किए हुए बृहदारण्यक (शतपथके १४वें काण्ड) की सूर्य-द्वारा प्राप्ति कही है।

इससे स्पष्ट है कि—शतपथका द्रष्टा तथा याज्ञवल्क्यस्मृति-प्रणेता श्रीयाज्ञवल्क्य कोई भिन्न-भिन्न नहीं; किन्तु एक व्यक्ति हैं। जब ऐसा है, तो उक्त 'महोक्षं महाजं वा पचेत्' इस शतपथके वचनका शतपथ-ब्राह्मणमें तथा उसका उद्धरण देनेवाली वसिष्ठस्मृतिमें भी वही अर्थ इष्ट है, जो 'याज्ञवल्क्यस्मृति (१।५।१०९)में श्रीयाज्ञवल्क्यने कहा है, अर्थात् उस बड़े बैल वा बड़े बकरे का 'यह आपके ही हैं' ऐसा अतिथिको कहना ही इष्ट है—उनका मारना इष्ट नहीं।

इसी कारण शतपथानुसारी उक्त वसिष्ठस्मृतिके वचनमें टीका-कार श्रीकृष्णधर्माधिकारीने भी ऐसी व्याख्या लिखी है—'गृहागताय अभ्यागताय' 'महोक्षाणं—बलीवर्दं, महाजं वा पचेत्—भवदर्थमिति उपकल्पयेत्, न पाकं कुर्यात्—प्रत्यभ्यागतमुक्ताऽसम्भवात्। एवमस्मै अभ्यागताय आतिथ्यं-सत्क्रियां क्रियासुः' (४।८)। तब इस वचनसे 'बैलको मारना' अर्थ याज्ञवल्क्यसे प्रतिकूल ही है। यही वेदमें 'अतिथिग्व' शब्दसे कहा है—जिसका अर्थ श्रीसायणाचार्यने अपने अथर्ववेदभाष्यमें 'अतिथ्यर्था गावो यस्याऽसौ अतिथिग्वः' (२०।२१।८) किया है। सो यह अतिथिसत्कारार्थ है, न कि गोवधार्थ।

अथवा—याज्ञवल्क्यस्मृतिके 'उपकल्पयेत्' शब्दका अर्थ 'दान' भी हो सकता है। 'उत्तररामचरित'के चतुर्थाङ्कमें उद्धृत 'श्रोत्रियाय अभ्यागताय वत्सतरीं महोक्षं वा निर्वपन्ति गृहमेधिनः' इस धर्म-सूत्रके वचनमें—जो कि शतपथके अनुसार ही है—'निर्वपन्ति' का अर्थ 'ददति' (देते हैं) ही है। टीकाकारोंने भी यही लिखा है। अमरकोष (२।७।३०) में भी 'निर्वपण' शब्द दानके पर्यायवाचकोंमें है। तब उक्त सब स्थलोंमें 'दान'का अर्थ भी सम्भव है, पर 'मारना' अर्थ तो असम्भव है।

वेदमें गाय-बैल की बड़ी महिमा बताई गई है। उसमें गायको 'अघ्न्या' (देखो यजुर्वेदसंहिता ८।४३) तथा बैलको 'अघ्न्य' (देखो अथर्ववेदसंहिता ९।४।७) कहा है; तब उनकी हिंसाका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इस प्रकार 'गौर्मधुपर्कः स्यात् स्नातकाय उपस्थिताय राज्ञे वा' (२।८।८) इस 'आपस्तम्बश्रौतसूत्र'के वचनमें भी 'गोदान' इष्ट है, 'मारना' किसी भी शब्दका अर्थ नहीं। वहाँ अर्थ 'अर्हयेत् (पूजयेत्) प्रथमं गवा' (३।३) इस मनुवचनमें भी अभिमत है कि—स्नातकको गाय देकर उसका सम्मान करे।

वस्तुतः 'गौर्मधुपर्कः' आदिमें लुप्ततद्धित-प्रक्रियासे गायका नवनीत, घृत, दुग्धादि मधुपेय ही इष्ट है, जो अतिथि, वा आचार्य वा वरको दिया जाता है। 'नामांसो मधुपर्कः स्यात्'का भाव यह है कि—उक्त वस्तुएँ मांसल (स्निग्ध) हों, पुष्टिकारक हों, निःसार न हों। 'मांस'में 'अर्शआदिभ्योऽच्' (अष्टा० ५।२।१२७) सूत्रसे मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्यय हुआ-हुआ है, जिसका 'मांसल' अर्थ

पर्यवसान हो जाता है।

'महोत्तं पचेत्' आदिमें 'पच' धातुका पूर्व कहा हुआ 'व्यक्तीकरण' अर्थ ठीक सङ्गत हो जाता है-जिसे मिताक्षराकारने बताया है, अथवा सम्पादन, जिसे श्रीसायणने (ऋ. १।१६४।४३) अपने भाष्यमें बताया है। 'परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षविद्विषः' (गोपथब्रा. १।१।१) इस न्यायसे महान् देवके काव्य वेदमें तथा देवोपम ऋषि-मुनियोंके ग्रन्थोंमें भी कहीं-कहीं वह-वह बात परोक्ष-शब्दोंसे कही जाती है, जिसे यथाश्रुत-ग्राही नहीं जान पाते। पाश्चात्य तथा पाश्चात्यानुयायी पौरस्त्य विद्वानोंने आपाततोदर्शी बन कर यही त्रुटि की है, जिससे यत्र-तत्र भ्रम फैल गया है।

यह भी बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि-'पाक'का केवल 'पकाने' ही अर्थमें प्रयोग नहीं होता; किन्तु अन्य अर्थोंमें भी उसका प्रयोग होता है। 'पाकः अहं' (ऋ. १०।२८।५) इस मन्त्रका क्या यह अर्थ किया जावेगा कि-'मारकर पकाने योग्य मैं'? श्रीसायणाचार्यने यहाँ उसका 'पक्वव्यप्रज्ञः' अर्थ किया है। निरुक्तमें भी यही 'विपक्वप्रज्ञः' [सम्यग्दर्शी] (३।१२।१) अर्थ किया है। यहाँ 'पाक'का मांस पकानेकी भांति अर्थ नहीं। जैसे अन्नकेलिए 'पक्वः' शब्दका प्रयोग होता है, वैसे उसके पर्यायवाचक 'सिद्ध' शब्दका भी प्रयोग होता है, जैसेकि—'सिद्धमन्नम्'। वैसे ही 'पक्वप्रज्ञोऽयम्' 'सिद्धोऽयम्' यह पुरुषकेलिए भी प्रयुक्त होता है। मुलतानी भाषामें चतुर पुरुषको 'यह पक्का है, पकोट है'-यह कहते हैं। इसी प्रकार चतुर पुरुषकेलिए 'विदग्धोऽयम्' भी कहा जाता

है, इसमें मूल धातु 'दह्' है, जिसका अर्थ जला हुआ अर्थात् पका हुआ होता है पर इससे पुरुषको न तो पकाया जाता है, न जलाया जाता है 'बुद्धिकी परिपक्वता वा पाक' में भी बुद्धिको मारकर चूल्हे पर चढ़ाया नहीं जाता; किन्तु वहाँ पर उसकी सिद्धता एवं परिपूर्णता ही इष्ट होती है। मुलतानी भाषामें पढ़े हुए को 'पढ़ा हुआ' और अनुभवीको 'कढ़ा हुआ' कहते हैं, यह 'कथित' शब्दका पर्यायवाचक होता है, दूधको कथित किया जाता है, जला कर पकाया जाता है, परन्तु पुरुषमें वह अर्थ इष्ट नहीं होता है, किन्तु वह 'सिद्ध पुरुष है' इस अर्थको रखता है, इस प्रकार 'महोत्तं पचेत्' में भी समझ लेना चाहिये कि-वृषभको 'सिद्ध' करके उसे पूर्ण करके अर्थात् उसे सजाकर, तैयार करके अतिथिके लिए लावे। श्रीसायणाचार्यका 'पच' धातुका (ऋ. १।१६४।४३) सम्पादन अर्थ पूर्व लिखा ही जा चुका है-यहाँ भी वही अर्थ है। सो यह उसका त्याग अपनेसे अलग कर देना भी एक हिंसा है, पर अतिथि यज्ञादिमें वह अहिंसा ही मानी जाती है। इसी प्रकार 'पचन्ति ते वृषभान् अत्सि तेषां' (ऋ. १०।२८।३) 'वृषभं पचानि' (१०।२७।२) इत्यादि मन्त्रोंकी व्याख्या भी होगई। यहाँ 'अत्सि'का अर्थ भक्षण है; पर वह वेदमें हो नहीं सकता, जब उसी वेदने गायको 'अघ्न्या' और बैलको 'अघ्न्य' कहकर पुकारा हो। सो या तो वृषभ-अदनसे ओषधि-विशेषका पकाना तथा खाना अर्थ होगा, या वृषभका बैल अर्थ होनेपर उसके भक्षण का भाव 'स्वीकार' 'उपयोगमें लाना' है। इस प्रकारके प्रयोग लाक्षणिक-अर्थोंमें

प्रायः हुआ करते हैं। यहाँ भी वैसा समझ लेनेसे कोई भी भ्रम न रह सकेगा। यहाँ 'अद्' धातुका अर्थ ऐसा है, जैसे–'दायाद'में 'दायमत्तीति दायादः' इसमें जायदादका खाना अर्थ नहीं होता; किन्तु उसका 'उपभोग–उपयोग ही अर्थ होता है– यहाँ पर भी वही समझना चाहिये।

अथवा—'उक्षा'का अर्थ 'सोम' भी होता है, जैसेकि–'सोम उक्षाऽभवत्' (ऋग्वेदसं॰के सायणभाष्यमें १।१६४।४३) उसीका पचन-सम्पादन यहाँ इष्ट है; यह संगत भी है। वस्तुतः महोक्षं पचेत्' इस ब्राह्मणका मूल 'उक्षाणं पृश्निमपचन्त' (ऋ॰ १।१६४।४३) यह मन्त्र मालूम होता है; यहाँ सायणने उसका अर्थ सोम-सम्पादनका किया है; अतः ब्राह्मणमें भी वही सङ्गत प्रतीत होता है कि—अतिथिकेलिए सोम-सम्पादन करना। अथवा 'उक्षा' ऋषभकन्द भी होता है। इनके नाम सभी वैलवाचक होते हैं। मांसल होनेसे दीर्घायु बढ़ानेवाली ओषधियोंमें 'उक्षा' वनस्पति भी है (राज-निघण्टु व॰ ५)। वहाँ उसके ऋषभः, उक्षा, गौः, वृषभः—यह पर्यायवाचक शब्द भी आये हैं। 'अज' का अर्थ 'अजमोदा' भी है। 'महाजा' यह वड़ी अजवायनका नाम भी होता है। अतिथिको भोजन-क्रियाके बाद पाचनक्रियार्थ अथवा बलवर्धनार्थ इन ओषधियोंका दान भी सम्भव हो सकता है। अथवा 'अजा व्रीह-यस्तावत् सप्तवार्षिकाः' (पञ्चतन्त्र काकोलूकीय ३ कथा) 'अजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः। अजसंज्ञानि बीजानि नो छागं हन्तु-मर्हथ' (महाभारत शान्तिपर्व ३३७४) इस उक्तिसे 'अज' शब्दका

'सात वर्षके पुराने चावल' यह अर्थ भी है, अतिथिकेलिए उन्हें पकाना वा वृषभकन्द वा सोमरसका पकाना भी इष्ट हो सकता है।

परन्तु पाश्चात्य विद्वानोंने इस सर्वाङ्गीणताको न विचार कर यथाश्रुत ही अर्थ लिये हैं; पर वह ठीक नहीं; यह हमने सिद्ध कर दिया है। शतपथब्राह्मणमें (३।१।२।२१) गोभक्षकको गर्भपातक सर्वभक्षी और पापी कहा है—तब श्रोत्रियकेलिए शतपथको वैसा आतिथ्य कैसे सम्मत हो सकता है? फलतः 'वसिष्ठस्मृति' के वचनमें तथा उसके मूलभूत शतपथब्राह्मणके वचनमें गोवध-शासन सर्वथा सिद्ध न हुआ। पाश्चात्योंकी इन कल्पनाओंका कोई मूल्य नहीं।

'गोघ्न' अतिथिका नाम क्यों है, 'उक्षाणं वेहतं वा क्षदन्ते' इस ऐतरेय ब्राह्मणके वचनका क्या आशय है—इसे आगे देखिये।

---

(४) अतिथिकी 'गोघ्न' संज्ञापर विचार।

हम 'राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं महाजं वा पचेत्' (३।४।१।२) इस शतपथके वचनका वास्तविक अर्थ लिख चुके हैं; पर अंग्रेजी दृष्टिकोण रखनेवाले पूर्वपक्षी कहते हैं कि—'यह अर्थ ठीक नहीं; यहां अतिथिकेलिए 'वैल मारना' ही इष्ट है। तभी 'गोघ्नोऽतिथिः' यह व्याकरणादिमें भी अतिथिकेलिए 'गोघ्न' शब्द प्रसिद्ध है। गौतमधर्मसूत्रमें (२।८।३०) सूत्रके व्याख्याता श्रीहरदत्तने भी [illegible] अर्थकी सिद्धिकेलिए यही शब्द दिया है, उसमें वह वृच (ऐतरेय) ब्राह्मणकी साक्षी भी दी है, अतः स्पष्ट है कि–'प्राचीन भारत

गोवध हुआ करता था। तब 'महोक्षं पचेत्' का सम्पादन वा व्यक्तीकरण अर्थ विचार-सह नहीं'।

इसपर हम कहते हैं कि–कभी कई व्याख्याता अपनी समझमें वेदका यथाश्रुत अर्थ समझकर वेदकी हिंसाको 'अहिंसा' समझकर फिर उसपर विचार करने की आवश्यकता नहीं समझते; अतः वे आपाततः प्रतीयमान अर्थको कर दिया करते हैं; यह अधिक विचार न करनेके कारणसे होता है। अब हम इस विषयपर भी विचार करना चाहते हैं।

गौतमधर्मसूत्रमें गाय-बैलकी अभक्ष्यताके प्रसङ्ग (२।८।३०)में व्याख्याता श्रीहरदत्तने 'बह्वृच-ब्राह्मणे श्रूयते' कहकर ऐतरेय-ब्राह्मणका 'उक्षाणं वेहतं वा क्षदन्ते' यह वचन दिया है; उसपर हम विचार अग्रिम निबन्धमें करेंगे। उसके आगे उसने लिखा है—'अतिथेर्भक्ष्यम्, अन्येषामभक्ष्यम्' यहां उसने अतिथिकेलिए तो भक्षण स्वीकृत किया है, दूसरेकेलिए नहीं। भक्षणका तात्पर्यार्थ स्वीकार वा उपयोग भी हुआ करता है (जैसा कि–हम गत निबन्धमें संकेत दे चुके हैं) यह उसने सोचनेका कष्ट नहीं किया। इससे उसने सन्तोष न करके आगे लिखा है—'वधोपि किल तत्र अनुज्ञातः 'दाशगोघ्नौ संप्रदाने' (पा० ३।४।७३) गौर्यस्मै हन्यते स गोघ्नोऽतिथिरिति'। यहां श्रीहरदत्तने 'गोघ्न'में हन्‌धातुका अर्थ 'वध' समझा है। यह लिखकर उसने आगे लिखा है—'एवं किल पूर्वमाचारः, इदानीं गन्धोपि न' अर्थात् पहले अतिथिसत्कारमें गोवधका आचार था; अब तो उसका गन्ध भी नहीं' पर यह

उसका मत ठीक नहीं। उससे उद्धृत बह्वृच (ऐतरेय) ब्राह्मणके वचनपर तो हम विवेचना अग्रिम निबन्धमें करेंगे ही, अब यहां उसके 'गोघ्न' शब्दके अर्थपर विचार किया जाता है।

यहां श्रीहरदत्तने यह नहीं सोचा कि–यदि गाय-बैल अतिथि-केलिए भक्ष्य है, तो फिर दूसरेकेलिए अभक्ष्य क्यों है? अतिथि-सत्कार पञ्चमहायज्ञान्तर्गत 'नृयज्ञ'का नाम है। 'नृयज्ञ' प्रतिदिन करना पड़ता है; यज्ञशेषका स्वयं भी भक्षण करना पड़ता है; तब श्रीहरदत्तने उसका अन्यकेलिए निषेध क्यों किया? वा उसकी क्या सङ्गति होगी? अन्यकेलिए यदि निषिद्ध है तो वह 'अन्य' किसीका 'अतिथि' बनकर जावे; तो क्या उसे उसका भक्षण न करना पड़ेगा? यदि करना पड़ेगा तो अतिथिकी अनतिथिसे क्या विशेषता रही? अतिथि आया एक, उसकेलिए धेन्वनडुहका वध भी हो गया, उसने उसे खा भी लिया। एक अतिथि पूर्णपशुको तो खा नहीं सकता; दूसरोंने उसे श्रीहरदत्तके अनुसार खाना नहीं है, तो फिर शेष पशु तो व्यर्थ ही जायगा। क्या यह 'चर्मतन्तौ महिषीं हन्ति' 'चमड़ेकी छोटी तन्तुकेलिए भैंसका मारना' नहीं? और फिर 'नृयज्ञ' प्रतिदिन होगा; तो इतने बैल कहांसे आवेंगे? इन असङ्गतियोंको न सोचनेके कारण ही श्रीहरदत्तको अपाततः प्रतीयमान अर्थ करना पड़ा। आश्चर्य तो यह है कि–अपना विशाल दृष्टिकोण बतानेवाले अँग्रेजी शिक्षितोंने भी इसे बिना 'ननुनच'के मान लिया; तब इसका उत्तरदायित्व भी अब श्रीहरदत्त पर न होकर उन नवशिक्षितोंपर है। हम उस पर विचार देते हैं—

इसपर विचार करनेसे पूर्व यह बात ध्यानमें देने योग्य है कि वेदमें गायका नाम 'अघ्न्या' (यजुः वा.सं. ८।८३) और बैलका नाम 'अघ्न्य' (अथर्व० ६।४।१७) आया है, जिसका अर्थ है 'न मारने योग्य'। गायका नाम निघण्टुमें 'अही' (२।११) भी है, जिसका अर्थ श्रीदेवराजयज्वाने 'अहन्तव्या' किया है, इसी प्रकार गायके 'अदिति' नामका निर्वचन उसीने 'अखण्डनीया' किया है, यह 'दोऽवखण्डने' धातुका प्रयोग और नञ् समास है। इसीका निगम 'गां मा हिंसीरदितिं विराजम्' (यजुः १३।४३) यह है। अन्य किसी पशुकेलिए ऐसा शब्द नहीं आया। यदि वेदमें 'गोघ्न' शब्दसे 'गायका मारना' इष्ट हो, तो उसका 'अघ्न्या' शब्दके साथ वेदादि-शास्त्रोंमें परस्पर व्याघात-विरोध उपस्थित हो जाय। व्याघात होने से वेदादिशास्त्र ही अप्रमाण हो जांय। तब विचारणीय है वेदमें 'गोघ्न' शब्दका क्या अर्थ है?

वस्तुतः 'गोघ्न' शब्द अतिथि-पूजाका अर्थवाद है अर्थात् अतिथि इतना पूजनीय है कि उसके लिए परमपूजनीय गाय-बैल को भी न्योछावर कर दिया जाता है। इससे गायका मारना तात्पर्य-विषय नहीं, किन्तु गायकी अपेक्षा भी अतिथिकी अधिक पूजा यहां विवक्षित है। अतिथिकी महिमा वेदोंमें प्रत्यक्ष है। अथर्ववेद-संहिताके अतिथिसूक्त (१५।३।१-२-३-४-५-६-७-८-६-१०, ६।६+२।६) के मन्त्र तो अत्यन्त स्पष्ट हैं। इस 'गायकी अपेक्षा अतिथिकी अधिक पूजा करने से सर्वाधिक-पूजनीय गायका अपमान हो जाता है। उस गायका अपनेसे निम्नसे भी निम्न

किये जानेके कारण होगया हुआ अपमान उसका 'वध' है। अतः गायका यह अपमान करानेवाला होता है अतिथि, इसलिए अतिथिको 'गोघ्न' कहा जाता है—यह तात्पर्य है। अर्थवादोंमें यही प्रकार हुआ करता है। उसमें शब्दका अर्थ न लेकर उसका तात्पर्य ही लिया जाता है।

'महाभारत'के कर्णपर्वमें गाण्डीव-धनुषकी निन्दा करते हुए युधिष्ठिरको जब अर्जुन अपनी प्रतिज्ञानुसार मारने दौड़ा, तब भगवान् श्रीकृष्णने उससे कहा कि बड़े को 'तूं' कह देना उसका वध हुआ करता है। तुम भी युधिष्ठिरका इसी प्रकारका ('तूं' कहकर) वध कर दो' (कर्णपर्व ६६।८३-८६)। अर्जुनने वैसा ही किया। फिर इस गुरुवधके प्रायश्चित्तार्थ जब अर्जुनने स्वयं चितामें जलना चाहा, तब भगवान्ने उसे अपनी (अर्जुन की) प्रशंसा करने के रूपमें आत्महत्याका उपदेश दिया।

फलतः हिंसा भी अनेक प्रकारकी होती है। इस प्रकारके अर्थवादोंका तात्पर्य वास्तविक-हिंसामें न होकर एक उच्चके अपमान तथा दूसरे निम्नको उत्कृष्टतर बनानेमें हुआ करता है। 'गोघ्नोऽतिथिः' का भी वही आशय हुआ करता है कि अतिथि गायकी अपेक्षा अत्यन्त कम होता हुआ भी अपने सत्कारके समयमें सर्वोत्कृष्ट गायको अपनी अपेक्षा निम्नतर बनवाकर, 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' (आदृतकी अपकीर्ति उसकी मृत्युकारक होती है) (भगवद्गीता २।३४) इस न्यायका पोषक हो जानेसे 'गोघ्नोऽतिथिः' इस नामसे कहा जाता है।

वस्तुतः गायको मरवानेसे नहीं। नहीं तो वह अपनेलिए गोघातक होनेसे 'चाण्डाल' कहा जाता, पर उसे वैसा नहीं कहा जाता। पृषध्र अपने गुरुकी गायको अन्धेरेमें शेरके धोखेमें मारनेसे शूद्र वा चाण्डालवत् माना गया। यहां तो कामपूर्वकतामें मरवानेसे अतिथिको भी चाण्डाल क्यों न कहा जाता? पर नहीं कहा जाता।

इसलिए 'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने' (पा० ३।४।७३) इस सूत्रपर काशिका तथा न्यासमें कहा गया है—'निपातनसामर्थ्यादेव गोघ्न ऋत्विगादिरुच्यते, न तु चाण्डालादिः। असत्यपि गोहनने तस्य योग्यतया 'गोघ्न' इत्यभिधीयते'। इससे उस अतिथिकी गोहननमें योग्यता दिखलाई गई है, गोहनन नहीं दिखलाया गया। बल्कि 'असत्यपि गोहनने' इस शब्दसे हमारा ही पक्ष सिद्ध होता है। गोहनन न होने पर भी उसे 'गोघ्न' कहा जाता है। गोहननमें योग्यता अतिथिकी वही पूर्वोक्त है कि वह गौको अपनेसे न्यून एवं उसे अप्रतिष्ठित बनाकर, अपमानित करके उसके हननका कारण बनता है, नहीं तो काशिकाकार और न्यासकार उस गोघातक-अतिथिको चाण्डाल कहते, पर उन्होंने वैसा नहीं कहा। तब उस शब्दमें प्रतिपक्षियोंका इष्ट अर्थ सिद्ध न हुआ।

इसके अतिरिक्त 'हन्' धातुका 'गति' अर्थ भी होता है, केवल 'हिंसा' अर्थ नहीं। पाणिनीय-धातुपाठमें 'हन हिंसागत्योः' (अ.प.अ.) यहां 'हन्' का गमन अर्थ भी माना है, केवल हिंसा नहीं। इसलिए वार्तिककारने भी 'हन्तेर्हिंसायां यङि घ्नीभावो वाच्यः'

जेघ्नीयते' यह कहकर 'जङ्घन्यते' इत्यादिमें हिंसासे भिन्न गमन अर्थ भी माना है। यदि केवल 'हन्' धातुका 'हिंसा' अर्थ होता, तो वार्तिककारका इस वार्तिकमें 'हिंसा' अर्थ कहना व्यर्थ होता। यह अर्थ कहनेसे सिद्ध होता है कि हन् धातुका हिंसासे भिन्न अर्थ भी होता है।

एक अन्य विशेष ध्यान देनेकी यह बात है कि 'वैदिक-निघण्टु' (२।१४) में गत्यर्थक धातुओंमें 'हन्' धातु भी आया है। अन्य विशेषता यह है कि निघण्टु (२।१९) में वध-अर्थवाले धातुओंमें 'हन्'का प्रयोग सर्वथा नहीं है। गतिकर्मक-धातुओंमें वहां 'हनति, हन्ति, हन्तात्' (२।१४) यह हन्के प्रयोग आये हैं, पर वधार्थक ३३ धातुओंमें 'हन्' धातुका प्रयोग सर्वथा नहीं आया, इससे वेदमें 'गोघ्न' आदि शब्दोंमें भी 'वध' अर्थ कैसे हो सकता है? जब वेदमें नहीं; तब वेदाङ्ग-व्याकरण, कल्प आदिमें भी हनन अर्थ कैसे हो सकता है! तब अर्थ हुआ- गां 'हन्ति—गच्छति अस्मै इति गोघ्नोऽतिथिः' अस्मै—अतिथ्यर्थे दुग्धादिप्रापणार्थं गोपार्श्वं गच्छति' इस प्रकार अतिथि 'गोघ्न' हुआ—उस अतिथि को दूध देनेके लिए गायके पास गमन करनेसे 'गोघ्न' शब्द बना।

इसके अतिरिक्त 'हिंसा'का केवल हनन अर्थ नहीं होता, किन्तु ताडन या आहनन अर्थ भी हुआ करता है। 'हंस' शब्दका निर्वचन करते हुए निरुक्तकार श्रीयास्कने लिखा है—'हंसा हन्तेः, घ्नन्ति अध्वानम्' (४।१३।१)। यहां पर मार्गमें गमन करने वा

मार्गके ताड़न करनेके अतिरिक्त हननका प्राणवियोग अर्थ सम्भव नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'यत्र वैद्युतः (अग्निः) शरणम् (भूमिम्) अभि-हन्ति' (निरुक्त ७.२३।६) यहां पर श्रीयास्काचार्यको 'हन्' धातुका गति (प्राप्ति) वा ताड़न अर्थ इष्ट है कि 'बिजुली जब पृथ्वीमें प्राप्त होती है'। इसीलिए श्रीदुर्गाचार्यने भी यहां व्याख्या लिखी है—'निहन्ति-अभिगच्छति प्राप्नोति-इत्यर्थः।' तब 'गां हन्ति-ताडयति, अतिथये दानार्थं ताडनद्वारा गमयति-इति गोघ्नोऽतिथिः' यह अर्थ निकला, अर्थात् पुरुष गायका इसलिए ताड़न करता है कि वह वहांसे चले और अतिथिको इसका दान किया जाय या उसे उसका सद्यः (धारोष्ण) दूध दिया जाय।

कृदन्तोंमें 'हन्' धातुसे निष्पन्न 'घन' (पा० ३।३।७७) शब्द काठिन्य अर्थमें, 'अन्तर्घन' (७८) देश अर्थमें, 'प्रघाण-प्रघण' (७६) शब्द घरके एकदेश अर्थमें, 'उद्घन' (८०) स्थापन अर्थमें, 'अपघन' (८१) शब्द अङ्ग अर्थमें, 'अयोघन' (८२) शब्द ताड़न अर्थमें, 'स्तम्बघ्न' (८३) शब्द गमन आदि अर्थमें, 'उपघ्न' (८५) शब्द आश्रय अर्थमें, 'सङ्घ' (८६) शब्द समूह अर्थमें, 'उद्घ' शब्द प्रशंसित अर्थमें, 'निघ' (८७) शब्द 'मित' अर्थमें आता है। इन सब स्थलोंमें 'हन्' धातुका प्रयोग है, पर यहाँ प्राण-वियोग-अर्थका थोड़ा भी सम्बन्ध नहीं है, बल्कि 'उपघ्न' (कृ० ३।३।८५) शब्दकी व्युत्पत्ति करते हुए श्रीभट्टोजिदीक्षितने लिखा है—'पर्वतेन उपहन्यते—सामीप्येन गम्यते—इति पर्वतोपघ्नः।' यहां पर 'हन्' धातुका अर्थ स्पष्टतया 'गमन' ही किया है। 'पद्धति' शब्दमें,

जिसका अर्थ मार्ग होता है 'पादाभ्यां हन्यते— गम्यते' यह 'हन्' धातुका गमन अर्थ विश्वश्रुत है ही।

आलङ्कारिक-विद्वानोंका 'हन्' धातुके गमन-अर्थमें प्रयोग करने पर 'असमर्थ दोष' बतलाना अर्वाचीनकालिक-व्यवहार है, प्राचीन नहीं, बल्कि—'तीर्थं हन्ति, कुब्जं हन्ति' आदि असमर्थके उदाहरणों में 'हन्' धातुका गमन अर्थमें प्रयोग प्राचीन-कालमें इस अर्थके प्रचारको बतला रहा है।

'उद्घनः' (कृ० ३।३।८६) शब्दकी व्युत्पत्ति करते हुए श्रीदीक्षितने 'सिद्धान्त-कौमुदी'के कृदन्त-प्रकरणमें लिखा है—'उद्हन्यते-उत्कृष्टो ज्ञायते।' वहाँ श्रीदीक्षितने हन्-धातुका ज्ञान अर्थ किया है। इसमें वहाँ हेतु बतलाया गया है—'गत्यर्थानां बुद्ध्यर्थत्वाद् हन्तिर्ज्ञाने' अर्थात्—'सर्वे गत्यर्था-ज्ञानार्था अपि भवन्ति' इस प्रसिद्धिसे गत्यर्थक-धातुओं का 'ज्ञान' अर्थ भी होनेसे यहां हन्-धातुका ज्ञान अर्थ किया गया है। इससे हन् धातुका 'गमन' अर्थ भी व्यवहार-प्रचलित है, यह सुस्पष्ट होगया।

ऋग्वेदभाष्यके उपोद्वातमें 'तृतीयं च हंसं' (तै० आ० २।११) की व्याख्या करते हुए श्रीसायणाचार्यने लिखा है—'हन्ति-सदा गच्छतीति हंसो वायुः'। इससे भी हन् धातुका 'गमन' अर्थ सिद्ध हो रहा है।

तब 'गोघ्न' शब्दकी व्युत्पत्ति करते हुए श्रीहरदत्तने यह नहीं सोचा कि 'गौः हन्यते-गम्यते, प्राप्यते दुग्धाद्यर्थं, दानार्थं वा अस्मै' इति गोघ्नोतिथिः' इस प्रकार हन् धातुका

गमन अर्थ भी यहाँ ठीक सिद्ध होता है। जबकि वेदमें गायको 'अघ्न्या' (ऋ० १०।८७।१६) और बैलको 'अघ्न्य' (अथर्व० ६।४।१७) स्वीकृत किया गया है, तब उसका हननार्थ हो ही कैसे सकता है, यह श्रीहरदत्तने नहीं सोचा। तब श्रीहरदत्तने उक्त गोतम-सूत्रकी व्याख्या करते हुए जो लिखा है कि-'एवं किल पूर्वमाचारः' यह लिखते हुए उसने नहीं विचारा कि—गोतम ऋषि भी कोई अर्वाचीन नहीं हैं; तब इस ऋषिने गाय—बैलको भक्ष्योंमें क्यों नहीं गिना ? उन्हें अभक्ष्योंमें क्यों गिनाया ? 'राज्ञश्च श्रोत्रियस्य मधुपर्कः' (गौ० ध० १।५।२८) 'अश्रोत्रियस्य आसनोदके' (२६) श्रोत्रियस्य तु पाद्यमर्घ्यमन्न-विशेषांश्च प्रकारयेत् (३०) यहाँ श्रोत्रिय के लिए मधुपर्कके अवसर पर श्रीगौतमने खीर-पूड़ेका तो निर्देश किया; पर गोमांसका लेशतोऽपि भी संकेत नहीं किया; तब 'एवं किल पूर्वमाचारः' लिखते हुए श्रीहरदत्तने दोनोंके अविरोधका प्रकार क्यों नहीं सोचा है—यह आश्चर्य है ! इससे स्पष्ट है कि प्राचीन-समयमें अतिथिसत्कारमें गोवध नहीं होता था, किन्तु गाय-बैलका 'याज्ञवल्क्यस्मृति'के 'महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रिया-योपकल्पयेत्' (१।५।१०६) इस कहे प्रकारसे इस स्मार्त—आचारमें गायका दान वा प्रकट करनारूप उपकल्पन वा गोदुग्धसे बनाये पदार्थोंका परोसना वा गो-उक्षा अर्थात् सोमरसका लाना ही अतिथि के लिए होता था, यही 'गोघ्न' शब्दका अर्थ है, गोहनन नहीं, क्योंकि 'अघ्न्या'का हनन कभी शास्त्रीय नहीं हो सकता।

अथवा अतिथिपूजामें गोहनन 'मघासु हन्यन्ते गावः,

अर्जुन्योः पर्युह्यते' (१०।८५।१३) इस 'ऋग्वेदसंहिता'के मन्त्रकी भाँति जानना चाहिए। इस मन्त्रका श्रीसायणाचार्यने इस प्रकार व्याख्यान किया है—'मघासु गावः सवित्रा दत्ताः सोमगृहं प्रति हन्यन्ते—दण्डैस्ताड्यन्ते प्रेरणार्थम्'। अर्थात् विवाहके दिन कन्यापिता-द्वारा दी गई गौवें वरके घर भेजनेकेलिए डण्डेसे हाँकी जाती हैं, जैसेकि गौओंको चलानेकेलिए स्वाभाविक है—'दण्डेन गोगर्दभौ'। इस प्रकार अतिथि भी आकर दूध आदि अपनेको देनेकेलिए या गायका ही अपने आपको दान करवानेके लिए दाता-द्वारा गौको पिटवाता है, वा हँकवाता है, चलवाता है, अतः उसकेलिए गति अर्थ वा पीटने अर्थवाले 'हन्' धातुके प्रयोगसे वह 'गोघ्न' कहा जाता है, मरवानेसे नहीं। 'गां हन्ति ताडयति अस्मै प्रदानाद्यर्थम्' इस विग्रहमें 'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने' (३।४।७३) इस पाणिनिसूत्रसे सम्प्रदान-अर्थमें 'गोघ्न' शब्दकी सिद्धि हुआ करती है।

स्पष्ट है कि गाय जिसके पास रहनेमें अभ्यस्त हो, उससे भिन्नके पास अपनी इच्छासे नहीं जाना चाहती। तब उसे हांकनेके लिए उसको डण्डे आदिसे पीटना पड़ता है, वही ताड़न वा गमन 'हन्' धातुसे प्रकाशित होता है। इसीलिए 'हन हिंसागत्योः' यहां 'हन्' धातुका गमन अर्थ भी किया गया है। 'हन्' धातु पीटनेके अर्थमें भी प्रसिद्ध है, जैसे कि 'मा त्वं विकेशी उर आवधिष्ठाः' (काठकगृह्यसूत्र २८।४)। यहां विधवा स्त्रीका छाती पीटना अर्थ है, छातीको मार डालना अर्थ नहीं, क्योंकि उस अर्थमें सङ्गति नहीं

पड़ती।

इस प्रकार 'त्रिः स्म माऽह्नः वैतसेन दण्डेन [शिश्नेन] हतात्' (शतपथ ५।४।४।७) यहां पर उर्वशी पुरूरवा-द्वारा पुंप्रजननसे अपना (वराङ्गका) हनन कह रही है। इसका मूल संहितामें इस प्रकार है—'त्रिः स्म माऽह्नः श्नथयो वैतसेन' (ऋ.सं. १०।९५।५)। यहां उर्वशीके वाक्यमें (क्योंकि वही इस मन्त्रकी ऋषिका (वक्त्री) है और पुरूरवा देवता [वाच्य] है) 'श्नथयः' शब्द है। 'श्नथ' धातु वैदिक-निघण्टु (२।१९) में वधकर्मक-धातुओंमें लिखी है, फिर भी यहां पर वराङ्गका 'वध' अर्थ न करके 'ताड़न' अर्थ किया जाता है, क्योंकि शब्दार्थके अनवच्छेद (संशय)में विशेष-लाभदायक संयोगादिकोंमें 'औचिती' भी एक पदार्थ आया है, तदनुसार वराङ्गका ताड़न अर्थ ही उचित है, प्राणवियोग नहीं। इसी प्रकार गायका जहां हनन आपाततः प्रतीत होता हो, वहां पर भी औचितीसे ताड़न ही अर्थ होता है, मारण नहीं, क्योंकि उसे वेदमें 'अघ्न्या' कहा गया है।

इसी प्रकार 'अथैनं पृष्ठतस्तूष्णीमेव दण्डैर्घ्नन्ति' (शतपथ. ५।४।४।७) यहां भी हन्-धातुका राजाको 'पीटना' अर्थ है, मार डालना नहीं, क्योंकि उस अर्थमें सङ्गति नहीं पड़ती। इस प्रकार 'स हि देवान् जिघांसति' (शतपथ १।५।१।२१) यहां भी 'हन्' धातु का अर्थ 'गमन' ही है, तभी श्रीसायणाचार्यने लिखा है—'जिघांसति-प्राप्तुमिच्छति'। वैसे 'गोघ्न' शब्दमें भी समझ लेना चाहिये।

यदि 'हन्' धातुका 'हिंसा' अर्थ अक्षुण्ण ही रखा जाय, तो भी तो यही अर्थ होगा कि 'अतिथिके पास जानेकेलिए उसे डण्डेसे पीटा जाता है'। सब देवताओंकी आधारस्थली एवं पूज्य गायको डण्डेसे मारना कि वह अतिथिके पास चले, वह भी तो उसकी हिंसा ही है। उसी हिंसाको प्रोत्साहित करनेसे ही अतिथिका नाम 'गोघ्नः' प्रसिद्ध है। अतिथिके पास ले जानेके उसके दो उद्देश्य हैं। पहला—उस अतिथिको उस गायका धारोष्ण-ताजा दूध देना, या दूसरा—उस गायका ही अतिथिको दान कर देना। इस प्रकार 'गोघ्नोऽतिथिः' यह शब्द संगत हो गया।

हिंसा भी सदा प्राणवियोग अर्थवाली हो; यह भी आवश्यक नहीं। 'सिद्धान्तकौमुदी'के दिवादिगणमें 'मीङ् हिंसायाम्' इस धातु पर श्रीदीक्षितने लिखा है—'हिंसा अत्र प्राणवियोगः' अर्थात् इस धातुमें हिंसाका अर्थ 'प्राणवियोग' है। इससे सिद्ध हुआ कि 'मीङ्'से भिन्न 'हन्' 'हिंसि' आदि धातुओंका जहां 'हिंसा' अर्थ किया गया है, वहां 'प्राणवियोग' अर्थ अनिवार्य नहीं। यदि हिंसा का सर्वदा एवं सर्वथा तथा सर्वत्र मारना ही अर्थ होता, भिन्न नहीं, तो 'हिंसाऽत्र प्राणवियोगः' यह लिखना ही असाभिप्राय एवं व्यर्थ हो जाता। इस उल्लेखसे सिद्ध होता है कि हिंसाका अर्थ सर्वत्र 'प्राणवियोग' नहीं होता। 'गन्धनावक्षेपण' (पा. १।३।३२) सूत्रमें सूचना देना वा चुगली कर देनेको भी हिंसा माना गया है। तब 'गोघ्न' में भी हिंसाका 'प्राणवियोग' अर्थ अनिवार्य नहीं हो सकता।

'हन्' धातुके 'गमन' अर्थमें भी हम पूर्व युक्ति-प्रमाण दे ही

चुके हैं। पाठकगण एक-दो अन्य भी प्रमाण देख लें—'आहन्ति गभे पसो' (वा. सं. २३।२२) इस मन्त्रमें 'आहन्ति' है। इस पर भाष्यकार श्रीउव्वटाचार्यने लिखा है—'हन्तिर्गत्यर्थः, आहन्ति-आगच्छति, अत्यर्थं वा आहन्ति (ताडयति)। इसी प्रकार श्रीमहीधराचार्यने भी लिखा है—'आहन्ति आगच्छति'। 'यथाऽङ्गं वर्धतां शेपस्तेन योषितमिद् जहि' (अथर्व. ६।१०१।१) वाजीकरणके इस मन्त्रमें शेपसे स्त्रीका हनन, वराङ्गका ताड़न इष्ट है, 'हन्' धातुके 'लोट्'के 'सिप्'के इस प्रयोगका कोई भी प्राणवियोग अर्थ नहीं कर सकता। श्रीसायणाचार्यने तो यहां—'तेन प्रवृद्धेन शेपसा, योषितं-सुरतार्थिनीं स्त्रियं, जहि-गच्छ' यह भाष्य लिखकर तो 'हन्' धातुका गमन अर्थ भी होता है' इस हमारे पक्षको बहुत ही स्पष्ट कर दिया है। 'अस्य मुखे जहि' (अ. ६।६।२) यहां श्रीसायणने 'जहि' का 'ताडय' अर्थ किया है। अ. ७।११४।४ में उन्होंने 'जहि'का 'तिरस्कुरु' अर्थ किया है। तब 'गोघ्नः'में पूर्व हमारे कहे प्रकारसे 'गायका तिरस्कार करानेवाला अतिथि' यह अर्थ भी सङ्गत हो जाता है।

'यत्र हता अमित्राः' (ऋ. १।१३२।१) यहां पर श्रीसायणने 'हताः—प्राप्ता घातिता वा' यहां हन् धातुका 'प्राप्ताः' अर्थ भी किया है। 'अप दुर्मतिं हतम्' (ऋ. १०।४०।१३) यहां पर भी श्रीसायणने 'हतम्' का 'अपगमयतम्' यह 'गमन' अर्थ भी किया है। 'अप ...जहि' (अ. १।४२।२) यहां श्रीसायणने 'अपाकुरु' अर्थ किया है। 'हस्तघ्नः' (ऋ. ७।७५।१४) यहां 'ज्यया हन्यते-ताड्यते' यह अर्थ है, 'व्यापाद्यते' नहीं। निरुक्तमें भी 'ज्याया वधात् परित्रायमाणः'

(९।१५।१) यहां भी 'वध'का अर्थ 'आघात' ही है। 'जानसे मारना' नहीं, बल्कि-वह 'हस्तघ्न' (दस्ताना) 'हाथका रक्षक' ही होता है; तब 'गोघ्न' अतिथि भी 'गायका रक्षक' हुआ 'भक्षक' नहीं।

फलतः जो लोग वेदादिमें 'हन्' धातुको देखते ही एकमात्र 'हिंसा' अर्थ करने लग जाते हैं, उनका पक्ष इस मीमांसासे निरस्त हो गया। वस्तुतः अतिथि-सत्कारकर्ता पुरुष अपने गाय-बैलोंको अतिथिके ही मानता है, इसलिए वेदमें 'अतिथिग्व' शब्द आया है, जिसका अर्थ श्रीसायणाचार्यने 'अतिथ्यर्था गावो यस्य सः अतिथिग्वः' ऐसा किया है, तब गाय-बैल अतिथिको देकर वा दिखलाकर उसे कहा जाता था कि 'महाभाग! यह हमारा सभी गोधन आपका ही है' जैसे कि 'याज्ञवल्क्य-स्मृति'में कहा है—'महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्। सत्क्रियाऽन्वासनं स्वादु भोजनं सूनृतं वचः' (१।५।१०९) इसका ऐसा ही अर्थ प्रसिद्ध टीका 'मिताक्षरा'में किया गया है। इसीका मूल 'महोक्षं वा महाजं वा पचेत्' इस याज्ञवल्क्यदृष्ट 'शतपथ'के वचनमें इष्ट है। 'पचेत्' का वहां पर उपकल्पन वा सम्पादन अर्थ है, अन्य कुछ नहीं, यह हम गत निबन्धमें बता चुके हैं। 'गोघ्न'में भी वह अर्थ इष्ट है।

किसी प्रकार यहां 'हन्' धातुका मारना भी अर्थ माना जाय, तथापि वहां 'गो' शब्दका 'पशुसामान्य' अर्थ है, 'गाय' नहीं; क्योंकि गायके 'अघ्न्या-अहन्तव्या' होनेसे, जैसा कि 'महाभारत'में भी कहा है—'अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति। महच्च-

काराऽकुशलं वृषं गामालभेत्तु यः' (शान्तिपर्व २६२।४७) मारण-समय में उसका ग्रहण नहीं हो सकता। पशुसामान्यवाचक भी 'गो' शब्द आता है, इसमें प्रमाण 'स्वर्गेषु-पशुवाग्वज्र-दिग्-नेत्र-घृणि-भू-जले। लक्ष्य-दृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः' (३।३।२५)। यह 'अमरकोष'का है। निरुक्तकारने भी यही कहा है—'अथापि च गौरिति पशुनाम भवति एतस्मादेव' (२।५।३)। ऋग्वेदसंहिताके १।११।५ मन्त्रके भाष्यमें श्रीसायणाचार्यसे प्राचीन भाष्यकार श्रीवेङ्कटमाधवने भी 'गोमतः'का 'गृहीतपशोः' अर्थ किया है। ऋ० १०।१४६।३ मन्त्रके भाष्यमें श्रीसायणाचार्यने भी 'गावः'का 'गवयाद्या मृगाः' अर्थ किया है। रन्तिदेवकी कथा 'महाभारत' आदिपर्वमें 'अहन्यहनि वध्येते द्वे सहस्रे गवां तदा' (२०८।६) यहां 'गो' शब्द आया है, इसीके अनुवादमें द्रोणपर्वमें 'उपस्थिताश्च पशवः स्वयं यं शंसितव्रतम्। बहवः स्वर्गमिच्छन्तो विधिवत् सत्रयाजिनम्' (६७।४) यहां 'गो'का पर्यायवाचक 'पशु' शब्द आया है। सो 'गोघ्न'में 'हन्' धातुका 'मारना' अर्थ करनेवाला भी अघ्न्या' शब्दकी शक्तिसे 'गो'का 'गाय' अर्थ कभी नहीं कर सकता। अन्य पशुओंका नाम 'अघ्न्या' न आकर केवल गाय-बैलका नाम ही 'अघ्न्या-अघ्न्य' यह विशेष नाम आनेसे गाय-बैल कभी वध्य नहीं हो सकते। सो यह 'अघ्न्या' शब्द चाहे यज्ञकर्ममें माना जाय, या यज्ञकर्मसे बहिर्भूत माना जाय, सर्वत्र गायकी विशेषता व्यक्त कर रहा है। नहीं तो जब सभी प्राणी 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस श्रुतिसे अवध्य कहे गये हैं, पर अन्य किसीका नाम 'अघ्न्य' न कहकर इसी गायका

'अघ्न्या' यह नाम उसका यज्ञ हो वा अयज्ञ, उसमें अवध्यत्व सूचि[illegible] कर रहा है। अन्य पशुओंका यज्ञमें वध होने पर भी 'अघ्न[illegible]' माननेसे, गायकी भी तथात्व-प्रसक्तिमें उसके 'अघ्न्या' इस नामकी कोई विशेषता नहीं रहती। पर यज्ञ-अयज्ञादिमें सर्वत्र उसके वधका विचार मनसे भी न सोचनेसे उसके 'अघ्न्या' नामकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है। अतः 'अघ्न्या' यह गायका नाम न तो अर्थवादमूलक है और न ही सामान्य है कि जिससे यज्ञ[illegible] बोधक बचनोंसे बाधित हो जाय। हां, कई भाष्यकार उसकी यज्ञ[illegible] में वध्यता लिख गये हों, यह उनके एकदेशी विचार हो सकते हैं, उनमें हमारे विचारसे वेदमूलकता नहीं।

गोमेधमें भी साक्षात् गाय वध्य नहीं होती, किन्तु वह व्रीहि[illegible] बनी होती है, उसीका होम होता है। अथर्ववेद-संहिताके दश[illegible] काण्डके नवम सूक्तमें शतौदना गायके यागका वर्णन आता है, [illegible] सौ वा अनेक तण्डुलोंसे बनाई जाती है। इस प्रकारकी सूचना 'महाभारत'में भी आई है। वहां अनुशासन-पर्वमें कहा है-'श्रूयते हि पुरा काले नृणां व्रीहिमयः पशुः। येनायजन्त यज्वानः पुण्य[illegible]लोकपरायणाः' (११५।५६)। यहां व्रीहिके बने पशुसे यज्ञ [illegible] है। उसी शतौदना-व्रीहिकी बनी गायमें अस्थि, मांस, लोहित, [illegible] आदि शब्द भी 'अथर्ववेद-संहिता' (१०।६।१८) में उपचारसे आये हैं। इस प्रकार तिलधेनु, यवधेनु, घृतधेनु आदि गौओंका वर्णन भी महाभारतमें आया है, यह आगे देखिये। यह औपचारिक हिंसा भी याज्ञिकतावश अहिंसा मानी जाती है, इसीलिये

'मनुस्मृति'में कहा है—'या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिँश्चराचरे। अहिंसामेव तां विद्याद् वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ' (५ ४४)। घृतपशु तथा पिष्ट (आटे वा चावलोंके) पशुकी सूचना वहां भी आई है—'कुर्याद् घृतपशुं सङ्गे कुर्यात् पिष्टपशुं तथा। न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत् कदाचन' (५ ३७)।

सो याज्ञिक पशुवधके अहिंसा होने पर भी गायका 'अघ्न्या' यह विशेष नाम उसको कहीं भी मारने नहीं देता। नहीं तो देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ आदिमें भी उसका हनन अन्य पशुओंकी तरह अहिंसा सिद्ध हो जाने पर भी उसका नाम 'अघ्न्या' यह केवल गौरवमात्र (व्यर्थ) हो जाता, पर यह विशेष शब्द किसी भी समय गायको मारनेकी अभ्यनुज्ञा नहीं देता, सो 'गोघ्न' शब्दमें भी गायका मारना कभी भी तात्पर्यविषय नहीं। 'उत्तररामचरित'में भी वैसा करनेवाले को व्याघ्र वा वृक कहकर उसका अपमान किया गया है। सो वहां भी गायका 'मड़मड़यिता'का बिलबिलाना ही अर्थ है, मारना नहीं, क्योंकि यह कोई मरनेका पर्यायवाचक नहीं। फलतः 'गोघ्न'में 'गोघातक' अर्थ सर्वथा नहीं—यह पाठकोंने समझ लिया होगा। तभी वेदमें 'आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नं' (ऋ. १।११४।१०) यहां गोहननकर्ताको अपनेसे दूर हटा देना कहा है।

---

५ ऐतरेय-ब्राह्मणका अतिथिसत्कार।

पूर्वपक्ष—'राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महाजं वा पचेत्' (३।४।१।२)

इस शतपथके वचनमें 'पचेत्' से चाहे वृषभका पकाना अर्थ दीख रहा है, मारना नहीं; तथापि पकाना कहनेसे वृषभका मारना अर्थापत्तिसे निकल आता है। तभी ऐतरेय-ब्राह्मणके ऐसे वचन—'यथैव अदो मनुष्यराजे आगते अन्यस्मिन् वा अर्हति [आगते] उक्षाणं वा, वेहतं वा क्षदन्ते' (१।१५) में उक्षा (बैल)का, तथा गर्भ-घातिनी गायका स्पष्ट वध कहा है। 'क्षद्' धातुका अर्थ श्रीहरदत्तने 'गौतम-धर्मसूत्र (२।८।३०) की व्याख्याके प्रसङ्गमें उक्त बह्वृच (ऐतरेय) ब्राह्मणके वचनको उद्धृत करके 'हिंसा ही है'—यह सूचित किया है। श्रीभट्टोजिदीक्षितने भी उणादियोंमें इसी प्रकार का अर्थ किया है। तब शतपथके वचनमें भी 'पच्' धातुका 'व्यक्तीकरण' अर्थ संगत नहीं मालूम पड़ता। शतपथ और ऐतरेय-में इस विषयमें ऐकमत्य होनेसे 'प्राचीन भारतमें गोवध हुआ करता था' यह मत ठीक मालूम पड़ता है। 'गोघ्न' शब्द भी उसीका उपोद्बलक हो सकता है।

उत्तरपक्ष—'महोक्षं पचेत्' तथा 'गोघ्नः' इस विषयमें हम युक्ति-प्रमाणपूर्वक समाधान कर चुके हैं; अब ऐतरेयके प्रमाण पर विचार किया जाता है—'मनुष्यराजे (नृपतौ) आगते, अन्यस्मिन् वा अर्हति [प्रशंसनीये आगते] उक्षाणं वा वेहतं वा क्षदन्ते' इस वचनमें 'क्षद्' धातुका अर्थ विचारणीय समस्या है। 'उक्षा' का अर्थ तो 'वृषभ' यह प्रसिद्ध है, लेकिन 'वेहद्' का 'पोटायुवति' (२।१।६५) इस समाससूत्रमें श्रीदीक्षितने 'गोवेहत्—गर्भोपघातिनी गौः—यह अर्थ किया है। उक्त पाठ अमरकोष (२।९।६९) का है;

परन्तु ऐतरेय-ब्राह्मणमें 'वृषभके योगमें गर्भघातिनी' गायके 'क्षदन' का अर्थ कोई भी अभिप्राय नहीं रखता मालूम पड़ता; इसलिए हमारे विचारमें सामान्य उक्षा (बैल) की प्रतियोगितामें 'वेहद्' भी 'सामान्य गाय' इष्ट है। जैसे 'गोवशा'में श्रीदीक्षितने और अमरकोषकारने 'वशा'का अर्थ 'वन्ध्या गाय' किया है; पर अथर्ववेदसंहिताके 'वशासूक्त'में 'वशा'का 'वन्ध्या-गौ' अर्थ नहीं; किन्तु 'सामान्य-गाय' ही अर्थ है; वैसे ब्राह्मणात्मक वेदमें भी 'वेहत्'का 'गर्भघातिका गौः' यह अर्थ न होकर 'सामान्य-गाय' ही अर्थ लेना चाहिये; नहीं तो 'गर्भघातिनी गाय'की प्राप्ति भी टेढ़ी-खीर हो जायगी।

अब 'क्षद्' धातुके अर्थपर विचार करना है। उक्त ब्राह्मण-वचनका यह अर्थ है कि—राजा वा प्रशंसनीय कोई श्रोत्रिय आदि आजावे; तो उसके आतिथ्यमें वृषभ वा गायका क्षदन करें'। 'क्षद्' धातु पाणिनिके धातुपाठमें नहीं है; इससे उसका अर्थज्ञान भी उससे नहीं हो सकता; पर 'तृन्-तृचौ शंसि-क्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ (२।६४, २५१) इस उणादि (पञ्चपादी) सूत्रमें उस 'क्षद्' धातुका स्मरण किया गया है; अतः यह सौत्र धातु है यह स्पष्ट है; पर इसका अर्थ सूत्रसे भी ज्ञात नहीं हो सकता। श्रीदीक्षितने इस पर लिखा है—'क्षदिः सौत्रो धातुः शकलीकरणे भक्षणे च'। यहाँ श्रीदीक्षितने उस सौत्रके दो अर्थ दिये हैं, एक टुकड़े-टुकड़े करना, दूसरा खाना। यहाँ श्रीदीक्षितने दो प्रमाण भी दिये हैं— 'वृक्ये चक्षदानं' इति मन्त्राद् 'उक्षाणं वेहतं वा क्षदन्ते' इति ब्राह्म-

णाच्च'। इससे इसके अर्थके विषयमें जनतामें बड़ा भ्रम फै[illegible] हुआ है। उक्त अर्थ श्रीदीक्षितने ऋग्वेदसंहिताके सायणभाष्य[illegible] उद्धृत किया है, यह तो प्रत्यक्ष है। परन्तु ब्राह्मण-वाक्यमें [illegible] सायणाचार्यने 'क्षद्' धातुका शकलीकरण (टुकड़े-टुकड़े कर[illegible]) तथा भक्षण अर्थ नहीं लिया। इससे यह सिद्ध हुआ कि-'क्ष[illegible] धातुके यही दो अर्थ निश्चित नहीं हैं। निघण्टु (२।८) में अत्ति[illegible] (भक्षणार्थक) धातुओंमें 'क्षद्' धातुका प्रयोग बिल्कुल नहीं है-यह [illegible] रख लेनेकी बात है। उसीमें वधकर्मक (२।१९) धातुओंमें भी क्षद[illegible] का प्रयोग नहीं है-यह भी स्मरण रख लेना चाहिये।

अब ऋग्वेदसंहिताके मन्त्रोंमें क्षद्धातुका प्रयोग और उस[illegible] सायणभाष्य भी देखना चाहिये। अन्य प्राचीन-विद्वानोंने [illegible] इस धातुका क्या अर्थ किया है—इसका भी अनुसन्धान कर[illegible] चाहिये। श्रीदीक्षितने 'क्षद्' धातुके प्रयोगमें 'चक्षदान' (१।११[illegible] १६, ११७।१८) यह ऋक्-संहिताका शब्द लिया है। उसमें [illegible] सायणने लिखा है—'क्षदतिः अत्तिकर्मा, अत्र शकलीकरणार्थ[illegible] इसका यह तात्पर्य निकला कि—क्षद्धातुका अर्थ तो भक्षण है, [illegible] औचित्यवश इस मन्त्रमें 'टुकड़े-टुकड़े करना' अर्थ है। अन्य मन्त्रो[illegible] भी उसने भक्षण अर्थ न करके दूसरा ही अर्थ किया है। 'चक्ष[illegible] (ऋ. १०।७९।७) का सायणने 'शकलीकरोति' यह अर्थ किया है[illegible] इससे यह सिद्ध हुआ कि—धातुके नियत-अर्थपर स्थित न रहकर उस[illegible] औचित्यसे प्रतीयमान अर्थ भी ले लिया जाता है। इसीलिए महाभाष्य[illegible] का यह वचन भी प्रसिद्ध है—'अनेकार्था अपि धातवो भवन्ति[illegible]

तद् यथा-वपिः प्रकिरणे (वीर्याधाने) दृष्टः, छेदने चापि वर्तते।... करोतिरभूत-प्रादुर्भावे दृष्टो निर्मलीकरणे चापि वर्तते; निक्षेपणे चापि वर्तते। एवमिहापि तिष्ठतिरेव व्रजिक्रियामाह, तिष्ठतिरेव व्रजिक्रियाया निवृत्तिम्' (१।३।१)। इस प्रकार जब एक ही क्रियाके परस्पर दो विरुद्ध अर्थ भी (जैसे 'स्था' धातुका टहरना और चलना) हो सकते हैं; तो औचित्यवश प्रतीयमान हुए धातुके अनादिष्ट अर्थको लेलेना भी व्याकरण-विरुद्ध नहीं।

इस प्रकार 'भक्षण'का 'अपने उपयोगमें लाना' उसका उपयोग वा स्वीकार करना' अर्थ भी होता है, यह हम पूर्व 'दायाद' शब्दके उदाहरणको देकर सूचित कर चुके हैं। ऋ॰ १।२५।१८ मन्त्रमें सायणाचार्यने लिखा है—'हविः क्षदसे-अश्नासि' यह भक्षण अर्थ करके उसने फिर 'हविःस्वीकाराद् ऊर्ध्वम्' यहां अशन (भक्षण) का तात्पर्य 'स्वीकार' भी लिखा है। जबकि 'क्षद्' धातुका अर्थ 'खाना' है; तो क्या वह अर्थ श्रीदीक्षितसे लिखे 'उक्षाणं वेहतं वा क्षदन्ते' इस बह्वृच-ब्राह्मणके पदमें दीखता है? तब तो फिर यह अर्थ हो जायगा कि—'राजा वा श्रोत्रियके आने पर वृषभ वा वेहत्को खाते हैं'। क्या यह अर्थ यहां घट रहा है? यह अर्थ करने पर अतिथिके भोजनका अर्थ न होकर अतिथि-परिचारकका वेहत्को स्वयं खाना' अर्थ हो जायगा। श्रीहरदत्तने अतिथिसे भिन्नको उसका खाना निषिद्ध किया है—यह गत निबन्धमें हम कह ही चुके हैं। यदि यहां 'अशन' का अर्थ 'स्वीकार' कर लिया जाय तब 'गाय-बैलको स्वीकार करते हैं' अर्थात्—'अतिथिकेलिए लाते

हैं' यह सङ्गत तात्पर्य निकल सकता है।

जिस 'क्षद्' धातुके प्रयोगप्रदर्शनार्थ श्रीदीक्षितने उणादिमें 'बह्वृच-ब्राह्मण'का वचन उद्धृत किया; उसमें 'क्षदन्ते'का न तो 'टुकड़े-टुकड़े करना' अर्थ घटता है, न ही 'खाना' ही। 'टुकड़े-टुकड़े करना' अर्थ तो अत्यन्त अनुचित होता। श्रीसायणने यह दोनों ही अर्थ नहीं किये। इसका आशय यह हुआ कि उक्त ब्राह्मण-वाक्यमें यह दोनों ही अर्थ अनिवार्य नहीं। सायणने इसका यह अर्थ किया है—'महति-मनुष्यभूपतौ, अन्यस्मिँश्चिद् विद्या-वृत्तादिसम्पन्नत्वेन अर्हति-पूज्ये महति ब्राह्मणेऽब्राह्मणे वा गृहं प्रत्यागते सति, अतिथिसत्कारार्थं शास्त्रकुशलाः केचिद् उक्षाणं-वृषभं वा, वेहतं-गर्भघातिनीं वृद्धां गां वा क्षदन्ति-हिंसन्ति। अयं सत्कारः स्मृतिषु प्रसिद्धो युगान्तरधर्मो द्रष्टव्यः। एवमेव सोमाय अतिथि-सत्कारार्थं क्षदन्ते, अग्नेर्देवपशुत्वात्'।

यहां पर 'शकलीकरण वा अशन' यह दोनों ही अर्थ न करके तीसरा 'हिंसा' अर्थ किया गया है। श्रीदीक्षितने जो कि श्रीसायणभाष्यके अनुसार उणादिमें क्षद्धातुका अर्थ दिया है, तब ब्राह्मणवाक्यके उद्धरणमें उसे तीसरा अर्थ 'हिंसा' भी लिखना चाहिये था, पर उसने नहीं लिखा। इससे सिद्ध हुआ कि—क्षद्-धातुके केवल उक्त अर्थ ही सीमित नहीं हैं, किन्तु अन्य अर्थ भी हैं।

परन्तु इस अर्थ करनेमें श्रीसायणकी भूल रही। जबकि वेदानुसार गाय-बैल अघ्न्य—अहन्तव्य हैं, तब उनका हिंसा अर्थ

कैसे किया गया ? अथवा-यदि 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' यह सिद्धान्त माना जावे; तब भी तो यहां हिंसा अर्थ करना ठीक नहीं रहता; परन्तु उसने उसे युगान्तरका धर्म बताकर इस युगमें उसकी कर्तव्यता निषिद्ध कर दी। बात वही निषेधकी निकली, केवल द्रविड-प्राणायामका नाटक हो गया।

अथवा 'हिंसा'से 'ताड़ना' भी कही जाती है; जैसे कि हम 'अघासु हन्यन्ते गावः' (ऋ.) इस मन्त्रके सायणभाष्यानुसार गत-निबन्धमें कह चुके हैं। निरुक्त (१।३।२)में 'हस्त'का 'हन्तेः प्राशुर्हनने' यह निर्वचन किया गया है। यहां 'हननका' अर्थ भी 'ताडन' है, प्राण-वियोजन (मारना) नहीं। क्षत्ता सारथि वा अधिष्ठाताका (अथर्वसं. ५।१७।१४, ६।११।१) नाम भी रथके अश्वके हांकने वा ताड़नसे है, जानसे मारनेसे नहीं। अतिथिके पास लानेकेलिए गाय-बैलको हांका जाता है, यह उसकी हिंसा है। इस प्रकारके तात्पर्य होने पर श्रीसायणका उसे युगान्तरका धर्म बतलाना भ्रम ही होगा। वृद्धा गायकी जब गर्भप्राप्ति नहीं, तब उसका गर्भघातन भी क्या होगा ? अतः यह अर्थ भी ठीक नहीं, इस विषयमें पहले हम कह चुके हैं।

फिर प्रकरण पर आना चाहिये—क्षद्धातुके दो अर्थोंसे भिन्न तीसरे अर्थके बतानेसे सौत्र क्षद्धातुके अन्य अर्थ भी हो सकते हैं-यह सूचित होता है। अब इस विषयमें अन्य विद्वानोंका मत भी देखना चाहिये। श्रीसायणने यहां क्षद्धातुका 'हिंसा' अर्थ क्यों किया-यह भी विचारनेकी बात है। हमारे विचारमें उसके

सामने भ्रम डालनेवाली 'खद स्थैर्ये हिंसायां च, चाद् भक्षणे' यह धातु आई थी। जब ऐसे ही है; तब उस भिन्न धातुका अर्थ यहां लिया ही क्यों जावे ? 'कहां राजा भोज, कहां भोजुआ तेली', कहां 'खद्' धातु, कहां 'क्षद्' ? यदि भिन्न धातुका अर्थ यहां ले[…] भी है, तो 'अघ्न्या' की हिंसाके असम्भव होनेसे यहां उस[…] 'हिंसा' अर्थ न लेकर उसका पहले कहा हुआ स्थिरता अर्थ ही लेना चाहिये। जैसे कि-'क्षद्म' शब्दके निर्वचनके अवसर पर श्रीस्कन्दस्वामीने लिखा है—'क्षद स्थैर्ये' (सौ.)। यही देवराज[…] यज्वाने भी 'स्वकार्ये स्थिरं भवति, जलाशयं व्याप्य स्थिरीभवतीति वा' (नि. १।१२।३) यह लिखा है। तब यहां भी अर्थ होगा कि जब अतिथि आवे; तो अतिथिकी देनेकेलिए गाय-बैलको स्थिर करें' यह भी अर्थ यहां संगत हो जाता है। सुबोधिनीकारने जल[…] वाचक 'क्षद्म' में 'क्षद गति-हिंसनयोः' धातु मानी है। 'क्षदति-हिनस्ति पिपासामुष्णतां वा अभीप्सितं वा पुरुषम्' पर यहां अघ्न्याकी हिंसा सम्भव न होनेसे 'गति' अर्थ भी हो सकता है, 'क्षदन्ति' अतिथिपार्श्वे गां गमयन्तीति' यह अर्थ भी यहां सङ्गत हो जाता है। अति-ईप्सित पुरुषकी भी हिंसा नहीं हुआ करती किन्तु 'आनयन' हुआ करता है।

'क्षत्ता' पदकी सिद्धिकेलिए अमरकोषकी सुधा-व्याख्यामें श्रीभट्टोजिदीक्षितके लड़के श्रीभानुजीदीक्षितने लिखा है-'क्षद संवरणे सौत्रः' (२।८।५६) यहाँ क्षद्-धातुका संवरण अर्थ किया गया है। यही अर्थ उसने क्षत्रियः (२।८।१) में भी लिखा है। […]

दयानन्दने भी अपने उणादि-कोषमें यही अर्थ किया है। रायमुकुटने 'क्षत्ता' की सिद्धिकेलिए अपनी पदचन्द्रिका टीकामें धातु लिखी है-'क्षद स्थैर्ये हिंसायां च'। इसका खण्डन करते हुए श्रीभानुजीदीक्षितने लिखा है—'तदपि न, उक्तपाठस्य अदर्शनात्, खद स्थैर्ये-(भ्वा.प.से.) इति पाठस्य दर्शनाच्च'। यही मुकुट वाला भ्रम श्रीसायणको भी हुआ। 'खद्' धातुका अर्थ 'क्षद्' धातुमें कैसे किया जाय ? उक्त ब्राह्मणवाक्यमें 'संवरण'का सम्यक्-वरण अर्थ भी संघटित हो सकता है। इसमें भी हिंसा अर्थ नहीं रहता।

अमरकोषके २।१०।३ पद्यमें श्रीभानुजीदीक्षितने 'क्षत्ता' यहाँ लिखा है—'क्षदति, क्षदते वा, क्षद सम्भृतौ' यहाँपर 'क्षद्' धातुका 'सम्भरण' अर्थ भी सूचित किया है। अघ्न्या (गाय) और अघ्न्य (बैल) की हिंसा असम्भव होनेसे यहाँ 'गाय-बैलको अतिथिको देनेकेलिए पालित करते हैं' यह अर्थ भी सङ्गत हो सकता है। उक्त ब्राह्मण-वाक्यमें निमित्त अर्थमें सप्तमी मानी जा सकती है।

इस अनुसन्धानसे सिद्ध हो रहा है कि-क्षद्धातुके बहुतसे अर्थ हुआ करते हैं, केवल हिंसा अर्थ, वा भक्षण अर्थ ही नहीं होता। जो अर्थ जहाँ उपयुक्त सिद्ध हो; और किसी सिद्धान्तसे विरुद्ध न पड़े; वहाँ वही अर्थ करना ठीक हुआ करता है, उससे भिन्न अर्थ करना नहीं। यदि 'गङ्गायां घोषः'में लक्ष्य अर्थ है; तो 'गङ्गायां महिषास्तरन्ति'में पूर्वकी तरह लक्ष्य अर्थ कर देना ठीक नहीं हो जाता; जबकि यहाँ कोई अनुपपत्ति नहीं होती। यही बात कुसुमाञ्जलिमें श्रीउदयनाचार्यने कही है—'श्रुतान्वयाद् अनाकाङ्क्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति। पदार्थान्वय-वैधुर्यात् तदाक्षिप्तेन सङ्गतिः' (३।१२)। अर्थात् अन्विततामें अन्य अर्थकी आकाङ्क्षा नहीं रहती; अन्विततामें ही सङ्गत्यर्थ अन्य अर्थ करना पड़ता है। सो अघ्न्याके हननमें अनन्वितता आनेसे ही वह अर्थ न करके अन्य अर्थ सङ्गत्यर्थ देखा-भाला जाता है।

अब इस विषयमें वेदकी तथा उसमें श्रीसायणाचार्यके भाष्यकी एक और साक्षी भी 'आलोक'के पाठकगण देखें, जिससे हमारा पक्ष स्पष्ट पुष्ट होता है। 'क्षत्ता वामस्य देव ! भूरेः' (ऋ.सं. ६।१३।२) यहाँपर 'क्षत्ता'में जो क्षद्धातुका ही रूप है-श्रीसायणाचार्य लिखते हैं—'ऋतस्य-उदकस्य यज्ञस्य वा क्षत्ता—क्षदतिरत्र दानकर्मा, दाता भवसि'। यहाँ श्रीसायणने स्पष्ट लिखा है कि-क्षद्धातुका अर्थ दान भी हुआ करता है। यहाँ विचारणीय है कि श्रीसायणने अपने शब्दोंसे 'हिंसा' अर्थमें प्रसिद्ध भी क्षद्धातुका 'हिंसा' अर्थ न करके क्यों उसका दान अर्थ किया ? स्पष्ट है कि-यहाँ हिंसार्थ समन्वित नहीं होता। अतः 'दान' अर्थ किया गया। यदि ऐसा है, तब उक्त ब्राह्मण-वाक्यमें भी अतिथिके आनेपर 'अघ्न्या' एवं 'अघ्न्य' गाय-बैलका भी 'दान' ही अर्थ प्रतिफलित हुआ; और प्रकृत सिद्ध हुआ; क्योंकि-अघ्न्याकी हिंसामें अनुपपत्ति पड़ती है। क्या यात्राके समयमें 'सैन्धवमानय'का 'नमक लाना' अर्थ समझदारीका होगा, और 'घोड़ेका लाना' नासमझीका ?

फलतः उक्त बह्वृच-ब्राह्मणके वाक्यमें 'उक्षाणं वेहतं वा क्षदन्ते'का अर्थ 'वृषभं गां वा ददति' यही सिद्ध एवं उपपन्न हुआ।

ऐसा होनेपर 'महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्' (१।५।१६६) इस याज्ञवल्क्यस्मृतिके तथा ऐतरेयके वचनकी एकवाक्यता भी प्रतिफलित होगई। 'उपकल्पन'का अर्थ भी दान है। मिताक्षराने इतने दानमें असम्भव देखकर उस अतिथिके सत्कारार्थ उसे वाचिक कह देने मात्रका अर्थ कर दिया है। उसमें साँडोंके दान-अर्थमें असम्भव अवश्य है; क्योंकि-श्रोत्रियों-इतने साँड एक पुरुषके पास कैसे होवें? परन्तु यहाँ तो साधारण बैल और साधारण ही गाय कही गई है, अतः यहाँ दान अर्थमें भी कोई अनुपपत्ति नहीं रहती। 'वेहत्' शब्दका विशेष गाय (गर्भ गिराने वाली) अर्थ भी यहाँ ठीक नहीं। वह किसी भी पक्षमें ठीक नहीं; क्योंकि-वैसी गौएँ भी साधारणरूपसे नहीं मिलतीं। जब 'दान' अर्थ हुआ; और दान है 'त्याग'का नाम; तो 'त्यागो वधो वा विहितः साधूनां ह्युभयं समम्' (वाल्मी. ७।१०५।१३) तो यह भी गायकी 'हिंसा' ही प्रतिफलित हुई; तब क्षद्-धातुका प्रसिद्ध अर्थ 'हिंसा' भी यहाँ सम्बद्ध रहा; जो अतिथिकेलिए अभ्यनुज्ञात किया गया है, इसी अर्थमें 'गोघ्न' भी अतिथिका नाम उपपन्न होगया; पर अघ्न्याकी साक्षात् हिंसा उपपन्न न हुई।

इस प्रकार इन प्रसिद्ध प्रमाणोंका समाधान होगया कि-'महोक्षं पचेत्'में 'व्यक्तीकुर्यात्' अर्थ है और 'उक्षाणं क्षदन्ते'का 'वृषभं ददति' यह अर्थ है। 'क्षद्' धातु यहाँ दानार्थक है। जबकि-क्षद्-धातुका अर्थ 'दान' भी वेदमें मिलता है, श्रीसायणाचार्यने उसे लिखा भी है, और गोदानकी महिमासे जब सारे वेदादि-शास्त्र भी

भरे हुए हैं; तब वही अर्थ सभी दृष्टियोंसे ठीक है, सङ्गत भी है, वही उत्तरपक्ष है। तो जो कि-गौतमधर्मसूत्रकी टीकामें श्रीहरदत्तने तथा प्रकृत-ब्राह्मणके भाष्यमें श्रीसायणने 'क्षदन्ते'का 'हिंसा' अर्थ समझा; श्रीदीक्षितने उणादिमें जो उक्त-धातुका शकलीकरण वा भक्षण अर्थ लिखा; अघ्न्यामें जिसकेलिए श्रीयास्कने लिखा है-'अघ्न्या-अहन्तव्या भवति, अघघ्नी वा (किसी से न मारने योग्य, और हमारे पापको दूर करनेवाली) (नि. ११।४३।२) श्रीदुर्गाचार्यने इसकी व्याख्यामें लिखा है-'सा हि सर्वस्यैव अहन्तव्या भवति'। श्रीदेवराजयज्वाने भी यही समर्थित किया है। 'न हन्यते'-यह भानुजीदीक्षित (अमर. २।९।६७) आदिने लिखा है-उस अघ्न्यामें उस हिंसा-अर्थका असम्भव होनेसे यहाँ अघ्न्य-वृषभ, अघ्न्या-गायका स्वीकार, स्थिरीकरण, संवरण, सम्भरण, गमन-लाना, विशेष करके श्रीसायणके (ऋ.सं. ६।१३।२) मन्त्रार्थानुसार 'क्षदन्ते'का उस अतिथिको दान, वा उसके सत्कारार्थ मौखिक दान, वा हिंसा अर्थमें भी ऋ.सं.१०।८५।१३ के सायणके अर्थानुसार अतिथिके पास लानेकेलिए हाँकना, वा डण्डेसे ताड़न करना अर्थ ही प्रतिफलित हुआ, जिससे वादियोंसे अभिमत पक्ष खण्डित हो जाता है।

क्षद्-धातुमें हिंसा अर्थ वा भक्षणार्थका भ्रम इन विद्वानोंको इसलिए पड़ा कि-धातु-पाठमें जहाँ धातुओंके अर्थ लिखे हुए होते हैं; उन्हें क्षद्-धातु तो मिली नहीं, पर 'खद स्थैर्ये हिंसायां च, चाद् भक्षणे' यह धातु सामने आगई; अतः उन्होंने 'क्षद्' धातुका 'खद्' धातु वाला अर्थ कर दिया। पर धातु-पाठमें पठित 'खद्'

धातुका जो अर्थ हो; 'ख' के स्थानमें 'त्त' अक्षरवाली सौत्र-धातुका भी वही अर्थ हो-यह कोई राजाकी आज्ञा नहीं कि-मान ली जावे। जबकि 'छद्' धातुका अर्थ 'दान' भी मिलता है, और वह अर्थ यहाँ सङ्गत भी है; जबकि शतपथ-आदिमें धेन्वनड्डुहका अशन वा हनन निषिद्ध एवं निन्दित किया गया है; जबकि-वेदादिशास्त्रमें गोदानकी महिमा भरी पड़ी है; जबकि शतपथ तथा याज्ञवल्क्य-स्मृतिके श्रीयाज्ञवल्क्यमुनि भी मधुपर्कमें गाय-बैलका दान वा प्रकाशन चाहते हैं; जबकि शतपथके १४ वें काण्डरूप बृहदारण्यक-में श्रीयाज्ञवल्क्य 'गोकामा एव वयं स्मः' (१४।६।१.४, ११।६।३।२) इस प्रकार गौओंको प्राप्त करना चाहते हैं, तब इन सबकी एक-वाक्यतासे ऐतरेयब्राह्मणके उक्त-वचनमें भी गाय-बैलका छदन 'दान' ही सिद्ध हुआ।

अथवा उसका 'वध' अर्थ भी माना जावे; तो उस वधका उस गाय-बैलका अपनेसे पृथक्करणरूप त्यागमें पर्यवसान हुआ करता है; इसलिए 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते' (यजुः ३०।५) इत्यादि-मन्त्रोंमें हिंसार्थक 'आलभ' धातुके होनेपर भी ब्राह्मणादियोंके वधका स्थानापन्न त्याग ही किया जाता है, जैसेकि यजुः ३०।२० के नरमेध-यज्ञमें श्रीमहीधराचार्यने लिखा है-'तत आलम्भन-क्रमेण यथादैवतं प्रोक्षणादि। ब्राह्मणादीनां पर्यग्निकरणानन्तरम्-इदं ब्रह्मणे, इदं क्षत्राय-इत्येवं सर्वेषां स्वस्वदेवतोद्देश्येन त्यागः। ततः सर्वान् ब्राह्मणादीन् यूपेभ्यो विसृज्य उत्सृजति' यहाँ 'त्याग' भी एक प्रकारसे 'वध' ही प्रतिफलित हुआ। भगवान् श्रीरामचन्द्रने जब

वे कालसे गुप्त बातचीत कर रहे थे भीतर—घुसनेवालेका वध प्रति-ज्ञात किया था; उस समय कार्यवश आये हुए लक्ष्मणका भी 'वध' उपस्थित हुआ। तब श्रीरामने 'विसर्जये त्वां सौमित्रे! मा भूद् धर्म-विपर्ययः। त्यागो वधो वा विहितः साधूनां ह्यु्भयं समम्' (७।१०५।१३) यह कहकर उस साधुका 'वध'-स्थानापन्न 'त्याग' कर दिया था; इस प्रकार साध्वी गायका अपनेसे पृथक्कृत करके त्याग कर देना भी उसके वधरूपमें पर्यवसित हो जाता है; इसमें कोई भी भ्रमका अवकाश नहीं रहता।

उस गायका ताडित करके लाना-जो उस समय स्वाभाविक हुआ करता है-यह भी हिंसारूप हो जाता है। अथवा छद् धातुके भक्षण-अर्थमें भी उसका तात्पर्य उपयोग-वाचकतामें भी हो जाता है, जैसाकि-'मानुषा मानुषानेव दासभावेन भुञ्जते' (महा॰ शान्तिपर्व २६२।३८) यहाँ तथा 'जीवो जीवस्य भोजनम्' इस अर्थमें सचमुच 'खाना' अर्थ नहीं हो जाता। अतः 'उपयोग' अर्थ भी सिद्ध है, इस प्रकार 'स्वीकार' अर्थ भी सिद्ध है-यह विद्वान् पाठकोंने समझ लिया होगा। इन वाक्योंमें अब हनन अर्थ की भ्रान्ति हट जानी चाहिये।

महाभारतके शान्तिपर्वमें वेदके अर्थकी इन्हीं भ्रान्तियोंकेलिए कहा है—'लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन्! नास्तिकैः संप्रवर्तितम् [गवादि-हननम्]! वेद-वादान् अविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम्' (२६३।६)। वहाँपर सत्पुरुषोंका मार्ग यह बताया है—'सतां वर्त्मानुवर्तन्ते, यजन्ते चाऽविहिंसया' (२६३।२५) वनस्पतीन् ओषधीश्च फलं मूलं

च ते विदुः' (२६)।

शान्तिपर्वके ३३६ अध्याय के ३-४-८-६ पद्योंके अनुसार हुए यज्ञमें बृहस्पति होता, मेधातिथि, ताण्ड्य, वेदशिराः, कपिल, कठ, तित्तिरि, कण्व आदि १६ वेदमन्त्रद्रष्टा ऋषि सदस्यरूपसे उपस्थित थे। उस यज्ञके वर्णनमें वहीं कहा है-'सम्भूताः सर्वसम्भाराः तस्मिन् राजन्! महाक्रतौ। न तत्र पशुघातोऽभूत् स राजैवं स्थितोऽभवत्। अहिंस्रः शुचिरक्षुद्रो निराशीः कर्मसंस्तुतः' (३३६।१०-११) ऐसे ऋषियोंकी उपस्थितिमें जब पशुवध न हुआ; तो किसी भी यज्ञमें-चाहे वह अतिथि-यज्ञ हो; वा देवयज्ञ; उसमें गोवध कैसे माना जा सकता है? जैसे 'नृयज्ञ'का अर्थ 'नृहिंसा' नहीं होता, किन्तु 'नृपूजा' ही होता है; वैसे ही गोयज्ञमें भी गायका पूजा अर्थ ही होता है, हिंसा नहीं।

शतपथके 'महोक्षं पचेत्'का अर्थ 'व्यक्तीकरण' है-यह हम सिद्ध कर चुके हैं। 'पच' धातु सदा अन्नपाक अर्थमें ही नहीं प्रयुक्त होती, किन्तु 'पक्वप्रज्ञ'की तरह परिणत, स्पष्ट, प्रवृद्ध आदि अर्थमें भी प्रयुक्त होती है। कहीं उक्षाका पाक 'सोमरसका दुग्धमें पाक' अर्थ भी हो जाता है, जैसे-'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्'में निरुक्त (२।५।४)में प्रसिद्ध है। इसीलिए 'गोपाकः'का 'गोदुग्धपाकः' भी अर्थ है; क्योंकि-यास्कानुसार 'गो' शब्द 'गोदुग्ध'का वाचक भी है। इस प्रकार 'वृषभपाक'में ऋषभ नामक ओषधिका पाक अर्थ भी यथायोग्य जान लेना चाहिये। तब 'महोक्षं पचेत्' 'उक्षाणं पचन्ते' आदिमें हिंसा अर्थ हट गया!

(६) शतपथ में पुरोहित का गवाशन निर्मूल

पूर्वपक्ष—शतपथब्राह्मण (३।१।२।२१) में एक विवाद है कि पुरोहितको बैलका मांस खाना चाहिये वा गायका? अन्तमें परिणाम कहा गया है कि—दोनों ही मांस नहीं खाने चाहिये; परन्तु याज्ञवल्क्य कहता है कि—यदि वह मांस नर्म हो; तो खाया जा सकता है। (श्रीचतुरसेनशास्त्री आदि)

उत्तरपक्ष—हम यहां शतपथका वह पाठ उपस्थित कर देते हैं; जिससे प्रतिपक्षियोंकी बनावट मालूम हो जावे कि—कैसे निर्मूल अर्थ कर दिया करते हैं; अपने नये प्रकरण बना दिया करते हैं। वह पाठ यह है—'अथ एनं (यजमानं) शालां प्रपादयति। स धेन्वै च अनडुहश्च नाश्नीयात्। धेन्वनडुहौ वै इदं सर्वं बिभृतः। ते देवा अब्रुवन्—धेन्वनडुहौ वै इदं सर्वं बिभृतः। यदन्येषां वयसां वीर्यम्, तद् धेन्वनडुहयोर्दधाम—इति। यद् अन्येषां वीर्यमासीत् तद् धेन्वनडुहयोरदधुः। तस्माद् धेनुश्चैव अनड्वाँश्च भूयिष्ठं भुङ्क्तः। तद् ह एतत् सर्वाश्यमिव, यो धेन्वनडुहयोरश्नीयात्। अन्तगतिरिव तं ह अभिद्रुतमभिजनितो जायायै गर्भं निरवधीदिति पापमकद्-इति पापी कीर्तिः। तस्माद् धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्। तदु ह उवाच याज्ञवल्क्यः—अश्नाम्येव अहम् अंसलं चेद् भवतीति' (३।१।२।२१)

जबकि इस कण्डिकामें 'मांस' का नाम ही नहीं है; तब इस प्रकारका अर्थ प्रतिपक्षी कैसे कर सकते हैं? अथवा वह अर्थ माना भी जावे; किन्तु जब श्रुति गाय वा वृषभके अशनका

निषेध उपपत्ति देकर कर रही है, वैसे व्यक्तिको गर्भ-हत्यारा, सर्वभक्षी और पापी कहती है, तो गाय-बैलके खानेका तो प्रतिपक्षीके अनुसार भी निषेध सिद्ध होगया। इसीको अनुसृत करके 'कात्यायन-श्रौतसूत्र' में भी कहा है—'धेन्वनडुयोर्नाश्नीयात्' (७।२।२२) इसका अर्थ कर्कभाष्यमें इस प्रकार किया है—'धेन्वनडुहयोर्मांसं नाशितव्यम्" तब यह जो वादीने प्रश्न उठाया है कि-पुरोहितको बैलका मांस खाना चाहिये वा गायका-यह तो बात गलत तथा उसकी अपनी गढ़ी हुई निकली! क्योंकि-ऐसा प्रश्न होने पर तो उत्तर देनेके समय दोमें एककी अभ्यनुज्ञा अवश्य होती; पर यहां तो दोनोंके ही अशनका 'तस्माद् धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्' इस उपसंहारसे निषेध सिद्धान्तित कर दिया; तब प्रतिपक्षीसे उठाया हुआ प्रश्न ही निर्मूल सिद्ध हुआ।

जोकि-प्रतिपक्षीने दोनोंमें एकके मृदु (नर्म) मांस होने पर याज्ञवल्क्यके मतमें पुरोहितके अशनकी अभ्यनुज्ञा बताई है; वह भी बनावटी ही है। वह 'अश्नाम्येव अहम्' इस मूलसे विरुद्ध ही है। यहां तो याज्ञवल्क्यका व्यक्तिगत अशन सूचित-सा हो रहा है; यहां 'अहम् अश्नामि' यह पद तथा उत्तम पुरुषकी क्रिया प्रत्यक्ष ही है। तब यह व्यक्तिगत कार्य समष्टिगत कैसे माना जा सकता है? और फिर उसमें विधि-लिङ् भी नहीं है कि-उसकी सर्वसाधारणार्थ आज्ञा हो जावे। वैयक्तिक बात जब शास्त्रीय-सिद्धान्तके विरुद्ध हो; तब सर्वसाधारणकेलिए कभी विधि नहीं बन जाती; वह अपवाद होती है। अपवाद-वचन उसी

अपने स्थलमें संकुचित हो जाता है, उत्सर्ग (सामान्य-शास्त्र)को कभी बाधित नहीं कर सकता। अपवाद किसी सिद्धान्त (उत्सर्ग) का खण्डन नहीं करता; वह उत्सर्गमें किसी विशेषकेलिए सङ्कोचमात्र कर सकता है। प्रत्येक औत्सर्गिक-वचनका अपवाद भी क्वचित् होता है। सत्य बोलना उत्सर्ग है, पर किसी धार्मिकके प्राणादि बचानेकेलिए, वा किसी अन्यायी वा उसके साथीके मारणार्थ असत्य बोल देना अपवाद है! यदि अपवाद उत्सर्गका खण्डन कर दे; तब तो 'सत्यमेव जयते' (मुण्डको ३।१।६) यह सिद्धान्त ही न रह जाय। अतः शास्त्रकारोंने अपवादको केवल इतना ही अवसर दिया है कि-वह विधिशास्त्रमें स्वातिरिक्तत्वेन सङ्कोच भर कर सके; तब प्रकल्प्य (उत्सृज्य वा) अपवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते' (महाभाष्य ३।२।१२४) इस नियमसे शेष सर्वत्र उत्सर्ग ही बच जाता है। इस प्रकार उत्सर्ग एवं अपवादकी एकवाक्यता हो जाती है। इसी तरह याज्ञवल्क्यके वैयक्तिक कथनसे-जिसमेंकि उत्तम पुरुष ज्ञापक है—न तो उसके कथनमात्रसे गवाशनका सिद्धान्त स्थिर किया जा सकता है; और न 'तस्माद् धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्' इस श्रौतसिद्धान्तका खण्डन किया जा सकता है।

यह सब हमने प्रतिपक्षीके अर्थको मानकर वादितोष-न्यायसे उत्तर दिया; वस्तुतः वादीका यह अर्थ ही गलत है। यहां प्रकरण ही भिन्न है, श्रीसायणाचार्यने उसे स्पष्ट कर दिया है। वह यह है कि-जब यजमान क्षौर कराकर स्नान करके वस्त्र पहिरे; तब

अध्वर्यु उसका शालामें प्रवेश कराये। तब प्रवेशकर्ता यज्ञदीक्षाकी पूर्त्यर्थ उपवास करे; तब गोदुग्धसे निर्मित मलाई-रबड़ी आदि, तथा बैलसे कृष्ट अन्नादि न खावे। यहां श्रीसायणके शब्द यह हैं—'अस्यापि (शालाप्रवेश-कर्तुः) अशनकालत्वाद् अत्र अशने कश्चिद् नियममाह—

धेन्वै-धेनोः क्षीरादिकम्, अनडुहः सम्बन्धि कर्षणसाध्य-मित्यर्थः, तदुभयं नाश्नीयात्।'' तद् अश्नतः सर्वाशनं भवति, तस्य च जायाया गर्भ-सम्भवे सति तत् सर्वाशनं तं रेतोरूपेण परिणतं गर्भं हिंस्यात्, तत् पापकीर्तिः स्यात्। तद् उभयोः (धेन्वनडुहयोः) (पायसम्) अन्नं (च) नाश्नीयात्। तत्र याज्ञवल्क्य-पक्षमाह=चेत्-यस्माद् उभया-(धेन्वनडुहा-) न्नाशने शरीरम् अंसलं [बलवद्] भवति, तस्मात् तयोरन्नमश्नीयासेव'। उक्त-कण्डिका में 'धेन्वै' में षष्ठी-अर्थमें चतुर्थी (२।३।६२ इस कात्यायनके-वार्तिकसे) है; यहां द्वितीया नहीं है; जोकि प्रतिपक्षी द्वितीयाका अर्थ करते हैं।

इससे स्पष्ट है कि-यहां याज्ञवल्क्यका गोदुग्धसे निष्पन्न पायस आदि तथा बैलसे कृष्ट अन्नका अपनेलिए खाना कहा है—जो शालाप्रवेशककेलिए निषिद्ध था; तब याज्ञवल्क्यके ऊपर भी कोई दोष नहीं पड़ता। कइयोंके अनुसार यह सोमयागका प्रकरण है; उसमें उपवास करना पड़ता है। यज्ञसमाप्तिसे पूर्व खाना देवताओं का अपमानकारक होता है। अब प्रश्न हुआ कि-यज्ञकर्ता सर्वथा अनशन करे; तो यज्ञके दीर्घ होनेसे कृशतावश वह यज्ञ कैसे कर

सकेगा? तब उसे खाना तो अवश्य ही कुछ चाहिये; पर वह [illegible] न खाने जैसा हो: थोड़ा पायस खावे या खेतीका अन्नविशेष? [illegible] उत्तरमें गायके दुग्धजन्य तथा बैलके कर्षणजन्य अन्न दोनोंके खाने[का] निषेध कर दिया गया। पर याज्ञवल्क्यका मत है कि-दुग्धादि[से] शरीर अंसल-बल युक्त होता है, अतः उसे अल्पमात्रामें खा लेने[में] हानि नहीं है।

फलतः यहां मांसका नाम भी नहीं है; तब उसे इसमें [कैसे] प्रक्षिप्त किया जाता है? कन्याके घरमें जब हम जावें; तो उन[का] कोई व्यक्ति हमें शिष्टाचारवश भोजनार्थ कहे; तब हम उ[त्तर] देते हैं कि-'हम कन्याका नहीं खाते'। तब क्या यहां 'कन्या[का] मांस' अर्थ कर लिया जावेगा? 'तस्मादाहुर्न दीक्षितस्य अश्नीया[त्]' (ऐतरेय० ६।९) यहां दीक्षितका खाना निषिद्ध किया गया है; [तो] क्या दीक्षितका मांस खाना कहा जावेगा?

जोकि प्रतिपक्षी कहता है कि-'यदि वह मांस अंसल-[बल] हो; तो खा सकते हैं; तो क्या 'अंसल'का अर्थ 'नरम' होता है? यदि ऐसा है; तो इसमें प्रमाण क्या है? क्या यहां कच्चे मांस [की] बात चली हुई थी कि-कड़े मांसके अर्थकी प्राप्ति उपस्थित हो [गई]? क्या मनुष्य कच्चा मांस भी खाता है? वह तो राक्षसका कार्य है; मनुष्यका नहीं। तब उसका यहां क्या प्रसङ्ग? 'अंसल'का [अर्थ] तो बलकारक होता है, देखिये पाणिनिका सूत्र 'वत्सांसाभ्यां कामबले' (५।२।९८) अमरकोष भी देख लीजिये—'मांसलोंऽसलः' (२।६।४४) तो मांसका मांसलता-कथन भी व्यर्थ था; क्या [illegible]

अमांसल भी होता है? इससे प्रतिपक्षीका अर्थ अशुद्ध और पक्ष असिद्ध हो गया। हमने तो वास्तविक अर्थ वता ही दिया है।

---

(७) वसिष्ठ-वचन।

पूर्वपक्ष—वसिष्ठस्मृतिमें लिखा है—'श्वाविच्छल्य' 'गोधा भक्ष्याः, नक्रकुलीरा अविकृतरूपाः सर्पशीर्षाश्च, गौरगवयशरभाद्याश्च अनुदिष्टाः तथा; धेन्वनड्वाहौ मेध्यौ वाजसनेयके विज्ञायेते। खड्गे तु विवदन्ति अग्रामसूकरे च' अर्थ—श्वावित् (साही) आदि अभक्ष्य नहीं। वाजसनेयकके मतमें गाय-बैल मेध्य अर्थात् भक्ष्य हैं, तब प्राचीन भारतमें गोवध सिद्ध हो गया। (रतनलाल बंसल-'सरिता'में)

उत्तरपक्ष—प्रतिपक्षीने वसिष्ठस्मृतिके १४-३०।३१।३२।३३।३४ ३५ स्थलके वचन दिये हैं। यहां पर 'सर्पशीर्षाश्च' (३२). यहां 'च' पूर्वके 'श्वावित्-शल्यक-शशक-कच्छप-गोधाः पञ्चनखानां भक्ष्याः' (१४।३०) इस सूत्रके 'भक्ष्याः' इस शब्दसे सम्बद्ध है 'सन्ति' क्रियाका अध्याहार हो जाता है। अब इसका अन्वय हुआ, 'पञ्च-नखानां मध्ये श्वाविधादयो भक्ष्याः (३०) इसी 'भक्ष्याः'की ३१ सूत्रमें भी अनुवृत्ति है, ३२ में ('सर्पशीर्षाश्च')में भी 'च' से अपकर्षण है, यह स्पष्ट है। इस अध्यायकी आदिमें लिखा है कि-'अथातो भोज्याभोज्यं च वर्णयिष्यामः' अर्थात्—इस अध्यायमें भक्ष्य और अभक्ष्य पदार्थोंका वर्णन करेंगे। (१४।१) परन्तु प्रतिपक्षीने इन प्रमाणोंमें सभी भक्ष्य बतला दिये, अभक्ष्य कोई

भी नहीं बताये। 'पञ्चनखानां भक्ष्याः'के स्थान 'पञ्चनखा नाऽभक्ष्याः' यह पाठ लिख दिया—यद्यपि इससे हमारे पक्षकी कोई हानि नहीं।

आगे 'गौरगवयशलभाश्च अनुदिष्टास्तथा' यह जो वाक्य वादीने लिखा है; यहांके 'तथा'का अग्रिम-सूत्रके 'धेन्वनड्वाहौ' पदसे सम्बन्ध है; परन्तु वादीने 'तथा' इस आगेके-सम्बद्ध पदको इस सूत्रके साथ कर दिया। 'अनुद्दिष्टाः'को 'अनुदिष्टाः' रूपसे लिखा, जिससे अर्थ ही उलट गया। हमारे पासमें स्थित 'ब्रह्मप्रेस इटावा'-में प्रकाशित अष्टादशस्मृतिमें, वसिष्ठस्मृतिमें हमारा दिखलाया ही पाठ है।

यह हम पहले कह चुके हैं कि-'सर्पशीर्षाश्च' (१४।३२) इस 'च'का 'भक्ष्याः' इस अपनेसे पूर्वके शब्दसे सम्बन्ध है, और 'सन्ति' क्रियाका अध्याहार है, सो यह तो ग्रन्थकारके-मतमें परि-संख्याविधिसे अभक्ष्य हैं। परन्तु आगेके सूत्रमें 'अनुद्दिष्टाः, यह नई क्रिया है; उससे पूर्वके शब्द 'भक्ष्याः'का तो अनुकर्षण चल रहा है; पर 'अनुद्दिष्टाः' इस नई क्रियाके आजानेसे 'सन्ति' क्रियाका अध्याहार न रहा; अब योजना हुई कि-गौरगवयशरभाश्च 'भक्ष्याः] अनुद्दिष्टाः (३४) अर्थात्-गौरगवय आदि भक्ष्य नहीं कहे गये, किन्तु अभक्ष्य हैं। इससे सिद्ध हुआ कि—यहांसे अभक्ष्य जीवोंका वर्णन जारी हुआ। अथवा 'तथा' शब्द इस वाक्यकी 'अनुद्दिष्टाः' क्रियासे भी सम्बद्ध माना जावे; तब भी 'तथा' का अर्थ होगा 'भक्ष्याः', 'अनुद्दिष्टाः'का अर्थ होगा-'न मताः' अब योजना हुई कि गौरगवयाद्याः तथा (भक्ष्या) अनुद्दिष्टाः-न

मताः' । अर्थ यही हुआ कि–ये अभक्ष्य हैं । इस प्रकार 'अनुद्दिष्टाः' क्रियासे स्पष्ट होगया कि–गौरगवयादि भक्ष्योंमें नहीं; और अब अभक्ष्योंका प्रकरण जारी हुआ । टीकाकारोंने भी इसी प्रकार लिखा है । वेद–व्याख्याता श्रीभीमसेनजीने उक्त–स्मृतिकी अपनी टीकामें 'गौरगवयशरभाश्च अनुद्दिष्टाः' (३३) सूत्र पर लिखा है— 'गौरमृग, नीलगाय और शरभ भक्ष्योंमें उद्दिष्ट नहीं हैं । अन्य प्राचीन विद्वान् श्रीकृष्ण–धर्माधिकारीकी टीका 'विद्वन्मोदिनी'में भी उक्त सूत्रकी अवतरणिकामें लिखा है–'अभक्ष्यान् आह–गौरेति' । इस प्रकार गौरगवय आदि अभक्ष्य सिद्ध हुए, पर प्रतिपक्षीने इस बातको छिपा दिया है, अर्थ ही नहीं लिखा ।

तब इस अभक्ष्योंके प्रतिपादक सूत्रसे आगेके 'तथा धेन्वनडुहौ मेध्यौ वाजसनेयके विज्ञायेते' (१४।३४) इस सूत्रके 'तथा' शब्दसे, अथवा अभक्ष्योंके प्रकरणमें स्थित होनेसे धेन्वनडुह (गाय-बैल)की अभक्ष्यता स्पष्ट अनुवृत्त हुई-हुई है । इसमें हेतु दिया गया है कि–'तौ मेध्यौ' अर्थात् मेधाके अनुकूल हैं; क्योंकि गाय मेधावर्धक दूध देती है, और बैल उस दुग्धका कारण होता है । यदि बैल गायमें गर्भ न धारण करे; तो गायका दूध ही कैसे हो ? तब दोनों ही मेध्य तथा अभक्ष्य सिद्ध होगये ।

बौधायनधर्मसूत्रमें 'वधे धेन्वनडुहोरन्ते चान्द्रायणं चरेत्' (१।१६।६) यहाँ गाय-बैलके वधका प्रायश्चित्त कहा है । यदि ऐसा है; तो वे भक्ष्य कैसे हो सकते हैं ? बिना वधके उनका भक्षण कैसे हो सके ? वहीं 'अभक्ष्याः पशवो ग्राम्याः' (१।१२।१) यहाँ भी

गाय-अश्व आदि ग्राम्य पशुओंको अभक्ष्य सूचित किया है । धर्मसूत्रोंमें विरोध नहीं हो सकता; इसलिए गाय-बैल अभक्ष्य ही हैं । 'मेध्य'का अर्थ 'पवित्र' भी है–मेधनार्हं । 'मेधृ सङ्गमे च' (भ्वा. से.) । यहाँ हिंसार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि–उसमें अपवित्रता हो जाती है । 'मेधा'का अर्थ यदि सर्वथा 'हिंसा' माना जावे; तो 'गृहमेधिनः'का अर्थ भी 'गृह-हिंसक' हो जावे, 'गृहस्थ' नहीं । 'सर्वमेध' यज्ञमें 'सर्वदान' न होकर 'सर्वहिंसा' अर्थ हो जाए; पर यह अर्थ किसीको भी इष्ट नहीं हो सकता ।

प्रतिपक्षीने वाजसनेयकके मतमें धेन्वनडुहको पवित्र अर्थात् भक्ष्य माना है । इसमें 'पवित्र'का अर्थ 'भक्ष्य' कैसे होगया ? क्या पवित्रकी भी हिंसा की जाती है; अथवा बिना हिंसाके उसे हड़प कर लिया जाता है ? वस्तुतः यह अर्थ अशुद्ध किया गया है । इस मतकी पुष्टिमें वादीने वाजसनेयका अनुमोदन माना है । वाजसनेय 'शतपथ'का नाम है; तब 'शतपथब्राह्मण'का 'तस्माद् धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्' (३।१।२।२१) यह वचन तो प्रतिपक्षीके अनुसार भी सिद्धान्तपक्ष कहता है कि–धेन्वनडुहका अशन न करना । इसीको अनुसृत करके कात्यायन–श्रौतसूत्रमें भी कहा है—'धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्' (७।२।२२) इसमें कर्कभाष्य इस प्रकार है-'धेन्वनडुन्मांसं नाऽशितव्यम् 'स धेन्वै अनडुहश्च नाश्नीयात्' इति वचनात्' । तब प्रतिपक्षीकी इससे क्या इष्टसिद्धि हो सकती है ?

आगे तो 'शतपथब्राह्मण' 'तद्ध एतत् सर्वाश्यमिव यो धेन्वनडुहयोरश्नीयात्, गर्भं निरवधीत् पापमकत्' (३।१।२।२२) यह कहकर

वादीके अनुसार भी धेन्वनडुहके भक्षककी निन्दा करता है—। गो-वृषभभक्षकको सर्वभक्षी, गर्भघातक एवं पापी कहता है; तब उसी शतपथके मतको आदरसे उद्धृत करनेवाला वसिष्ठधर्मसूत्र गो-वृषभके हननका अर्थ कैसे कर सकता है? तब 'भक्ष्यौ' यह क्वाचित्क पाठ शतपथसे विरुद्ध होनेसे उपादेय नहीं।

इसीलिए 'गौतमधर्मसूत्र'में भी 'धेन्वनडुहौ च' (२।८।३०) यहाँ पर गो-वृषभको अभक्ष्य माना गया है। श्रीहरदत्तने भी इसकी टीकामें कहा है—'धेन्वनडुहौ च अभक्ष्यौ'। आपस्तम्ब-धर्मसूत्रमें भी 'एकखुरोष्ट्रगवयग्रामसूकरशरभगवाम्' (१।१७।२६) इस सूत्रमें 'गवाम्' इस अन्तिम पदसे गौ (गाय-बैल) को अभक्ष्य माना है।

'धेन्वनडुहयोर्भक्ष्यं, मेध्यमानडुहम्–इति वाजसनेयकम् [मतम्]' (१।१७।३०-३१) यह सूत्र आपस्तम्ब-धर्मसूत्रमें अभी-अभी कहे २६ सूत्रके आगे है। इस सूत्रके अर्थमें श्रीहरदत्तमिश्रको भ्रम पड़ गया जो कि–उसने लिखा–'धेन्वनडुहोर्मांसं भक्ष्यम्' गोप्रतिषेधस्य प्रतिप्रसवः'। जबकि पूर्वसूत्रमें गाय-बैलको क्योंकि–गोशब्द लिङ्ग–भेदसे दोनोंका वाचक होता है—अभक्ष्य माना गया है; तब इस सूत्रमें उसे भक्ष्य कैसे कहा जा सकता है? यदि कहो कि–यह सूत्र उसका बाधक है; तो वह निषेध फिर कहाँ चरितार्थ होगा? तब तो पूर्व–सूत्रमें उसका कथन ही व्यर्थ हो जायगा। यहाँ उसका 'प्रतिप्रसव' शब्द कहना भी व्यर्थ है, प्रतिप्रसव वहाँ होता है, जहाँ पहले विधि हो, फिर निषेध हो; फिर निषेधको बाँधकर

विधि हो; तभी प्रतिप्रसव होता है। यहाँ इस प्रकारकी बात नहीं।

वस्तुतः यहाँ तात्पर्य यह है कि–श्रुतिने तो गायके दूध तथा बैलके कृष्ट अन्नका निषेध कर दिया था; पर वाजसनेय (याज्ञवल्क्य) का मत यह है कि–गायका दूध, तथा वृषभकृष्ट अन्न जो शाला-प्रवेष्टाकेलिए 'तस्माद् धेन्वनडुहयोर्नाश्नीयात्' (शत. ३।१।२।२१) इस श्रुतिसे अभक्ष्य था, (देखिये इसमें सायणभाष्य), वह याज्ञ-वल्क्यके मतानुसार बलकारक होनेसे भक्ष्य बताया गया है, उसका मांस नहीं। इसलिए ३१ सूत्रमें आनडुह-बैलसे कृष्ट अन्न, तथा बैलके कारणसे अनडुही (गाय) में उत्पन्न दूधको वाजसनेयके (याज्ञवल्क्यके 'अश्नाम्येव' इस) कथनसे मेध्य कहा है। हरदत्तके अनुसार यदि अनडुह का माँस मेध्य है; तो फिर गायका अमेध्य हो जायगा; तब वह भक्ष्य कैसे हो सकेगा? वस्तुतः यह उसका अर्थ भ्रमका दुर्विलसित है। धर्मसूत्रोंमें परस्पर-सम्बद्ध ही मत सङ्गत हुआ करता है; परस्पर-विरुद्ध होनेपर दोनों ही असङ्गत हो जाएँगे।

'अंसलभोजनं वा' (कात्या.श्रौ. ७।२।२४) सूत्रका अर्थ वही याज्ञवल्क्यानुसार दुग्धादि-कृष्ट अन्न आदि पोषक वस्तुओंका भोजन करना है; इसका गाय-बैलके माँसभक्षणसे कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि–उसे तो कात्यायनने पहले (७.२।२२ सूत्रमें) ही निषिद्ध कर दिया था। स्थूलत्व-कृशत्वमें धेन्वनडुह-भाव नष्ट नहीं हो जाता कि–उसके पहले निषिद्ध कर देने पर फिर उसके स्थूलत्वमें उसकी विधि हो जाए? फलतः यहाँ याज्ञवल्क्यके धेन्वनडुहके

अंसल—पोषक दुग्ध, कृष्ट-अन्नका अशन इष्ट है, मांसका नहीं—यह हम पहले सायणभाष्यकी साक्षीसे स्पष्ट कर चुके हैं। यह कात्यायनश्रौतसूत्रके सूत्र भी उसी शतपथके कण्डिकाओंकी छायारूप ही हैं। अस्तु।

अब प्राकरणिक वसिष्ठधर्मसूत्रके सूत्र पर चलना चाहिये—। पूर्व-सूत्रके आगे 'खड्गे तु विवदन्ति' इस सूत्रसे जिसका अर्थ प्रतिपक्षीने यह किया है कि—'गेंडे और ग्रामशूकरके सम्बन्धमें ऋषिगण विवाद करते हैं, अर्थात्-कोई उन्हें भक्ष्य और कोई उन्हें अभक्ष्य बताता है' इस अर्थसे तो अत्यन्त स्पष्ट हो रहा है कि—इससे पूर्वसूत्रमें स्थित धेन्वनडुह (गाय-बैल) तो निर्विवाद ही अभक्ष्य हैं। यदि प्रतिपक्षीके अनुसार गाय-बैल निर्विवाद भक्ष्य इष्ट होते; तो यह उनकी भक्ष्यता निर्विवाद न होती, क्योंकि उनकी अभक्ष्यता वा उनकी हिंसाका निषेध प्रचुरमात्रामें मिलता है। जैसेकि—'न चासां [गवां] मांसमश्नीयात्' (महा.अनुशासन.७८।१७) सर्वमान्य वेदमें ही वृषभका नाम 'अघ्न्य' (अथर्व. ६।४।१७) और गायका नाम 'अघ्न्या' (अथर्व. ६।४।१६) इत्यादि-स्थलोंमें प्रसिद्ध है। अन्य धर्मसूत्रोंके एतद्विषयक वचन हम उद्धृत कर ही चुके हैं। तब 'धेन्वनडुह' निर्विवाद भक्ष्य कैसे होते ? तब तो श्रीवसिष्ठ 'धेन्वनडुह'को भी भक्ष्य-अभक्ष्योंमें विवादास्पद होनेसे 'खड्गे तु विवदन्ते' (१४।३५) इस सूत्रमें ही रखते; पर ऐसा न करके श्रीवसिष्ठने उन्हें इस सूत्रसे पहलेके सूत्रमें रखा है—इससे वसिष्ठके कथनानुसार ही 'धेन्वनडुह' (गाय-बैल) की निर्विवाद

अभक्ष्यता सिद्ध हुई। महाभारतके अनुशासनपर्वमें (७४।३-४) गोखादककी दुर्दशा बताकर निन्दा की गई है। इस प्रकार प्रतिपक्षीके इस बड़े प्रमाणका भी समाधान ठीक-ठीक होगया।

---

(८) एक प्रश्न

(प्र.) मनु आदिने वर्जित-मांसोंमें गोमांसका कहीं भी स्पष्ट शब्दोंमें निषेध नहीं किया, तब गोमांस प्राचीनकालका भक्ष्य ही सिद्ध हुआ। (सुधारकगण)

उत्तर—मनुजीने कहीं नर-मांसका भी तो स्पष्ट शब्दोंमें निषेध नहीं किया; तो क्या नरमांस भी प्राचीनकालका भक्ष्य था ? मनुजीने तो सभी प्रकारके मांसोंका निषेध किया है। जैसेकि—'योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया। स जीवँश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते' (मनु. ५।४५) 'नाऽकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्। न च प्राणिवधः स्वर्ग्यः, तस्मान्मांसं विवर्जयेत्' (५।४८) समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्। प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् (५।४९) वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः। मांसानि च न खादेद् यः तयोः पुण्यफलं समम्' (५।५३) अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी। संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः (५।५१) 'फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानामपि भोजनैः। न तत् फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात्' (५।५४) 'मांस भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्। एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः' (५।५५) इतने स्पष्ट शब्दोंमें सभी मांसभक्षणके निषेध-

को करनेवाले मनु गोमांसकी भक्षणीयता कैसे कह सकते हैं ? वे तो मांसमात्रको घृणित समझते हैं। जब वे 'विहित'-मांसका खाना भी अभक्ष्य बताते हैं; तो निषिद्ध-मांसकी भक्षणीयता वे कैसे बता सकते हैं ?

गोहननकेलिए देखो मनुजी क्या प्रायश्चित्त बताते हैं—'गोघ्नो मासं यवान् पिबेत्। कृतवापो वसेद् गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः' (११।१०८) चतुर्थकालमश्नीयाद् अक्षारलवणं मितम्। गोमूत्रेणाचरेत् स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः' (१०९) दिवानुगच्छेद् गास्तास्तु तिष्ठन् ऊर्ध्वं रजः पिबेत्। शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत्' (११०) तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वनुसंव्रजेत्। आसीनासु तथाऽऽसीनो नियतो वीतमत्सरः' (१११) यह प्रायश्चित्त गो-सेवा बताकर (जैसेकि राजा दिलीपने कामधेनु-गायका अपमानरूप वध करके किया था) फिर गोदान कहा है—'वृषभैकादशा गाश्च दद्यात् सुचरित-व्रतः। अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत्' (११६) तब मनुजीके मतमें गो-वध कभी विहित नहीं हो सकता। जब मुख्य-स्मृतिकार श्रीमनु निषेधक हैं; तब अन्य-स्मृतिकार उसे कैसे लिख सकते हैं ?

---

(६) रन्तिदेवके गोवध पर विचार।

पूर्वपक्ष—महाभारत वनपर्वमें 'अहन्यहनि वध्येते द्वे सहस्रे गवां तदा। समांसं ददतो ह्यन्नं रन्तिदेवस्य नित्यशः' (२०८।६) 'आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः' (शान्तिपर्व) यहाँ

रन्तिदेव-राजा द्वारा अतिथियोंकेलिए अपनी पाकशालामें दो हजार गौओंके काटनेसे जिसे मेघदूतमें कालिदास महाकविने भी सूचित किया है-और इससे इतनी खालें हुईं, जिससे चर्मण्वती नदीका प्राकट्य माना गया, जिसे आज चम्बल नदी कहते हैं—से सिद्ध होता है कि-शतपथादिके प्रमाणमें महोक्ष-बैल आदिका पकाना अर्थ है; अन्य अर्थ नहीं (रतनलाल-बंसल 'सरिता' पत्रिकामें)

उत्तरपक्ष—रन्तिदेवकी कथामें उक्त पद्यमें 'गो' शब्द पशुवाचक है, गाय-वाचक नहीं। इसका प्रमाण निरुक्तादिका पहले हम दे ही चुके हैं; अब पाठक इस कथाकी ही साक्षी देखें। यही रन्तिदेव की कथा फिर द्रोणपर्वमें भी आई है। वहाँ यह पद्य मिलता है—'उपस्थिताश्च पशवः स्वयं यं शंसितव्रतम्। बहवः स्वर्गमिच्छन्तो विधिवत् सत्रयाजिनम्' (६७।४) यहाँ 'पशु' शब्द है; इससे स्पष्ट है कि-रन्तिदेवकी कथामें भी गोवध नहीं, किन्तु 'पशुवध' सम्भव है; गायके 'अघ्न्या' होनेसे यहाँ उसका नाम कैसे सम्भव हो सकता है ? बल्कि-प्रतिपक्षीसे दिये हुए पद्यसे पूर्व भी 'पशु' शब्द आया है-'राज्ञो महानसे पूर्वं रन्तिदेवस्य वै द्विज ! द्वे सहस्रे तु वध्येते पशूनामन्वहं सदा' (वन. २०८।८)। आक्षिप्त पद्यसे आगेके 'चातुर्मास्ये च पशवो वध्यन्ते इति नित्यशः' (१०) इस पद्यमें भी 'पशु' शब्द है; तब पूर्वोत्तर-साहचर्यसे तथा द्रोणपर्वकी साक्षीसे यहाँ 'गो' शब्द पशुवाचक सिद्ध हो जानेसे प्रतिपक्षीका पक्ष ही असिद्ध होगया।

अथवा–'गाय' अर्थ ही माना जावे; तो वहाँ 'रन्तिदेवस्य महानसे द्विसहस्रं गावो बध्यन्ते स्म' यह अर्थ है कि–अतिथि सत्कारकेलिए प्रतिदिन दो हजार गौएँ बांधी जाती थीं। उनका बांधना उनके दूधके दोहनेकेलिए था। उन अतिथियोंको वह दूध दिया जाता था; तथा दूधसे बनाया हुआ समांस अन्न अर्थात्–मांसल (पौष्टिक) अन्न (समांसं ददतो ह्यन्नं) खीर, मावा, रबड़ी, खुर्चन आदि रूपमें दिया जाता था–यह अर्थ यहाँपर है।

शतपथ-ब्राह्मणमें 'एतदु ह वै परममन्नाद्यं यन्मांसम्' (११।७।१।३) यहाँ 'मांस'को परमान्न (खीर) का नाम माना है–'परमान्नं तु पायसम्' (अमर. २।७।२४)। इसकी साक्षी रन्तिदेवकी द्रोणपर्वकी कथामें भी मिलती है—'गृहान् अभ्यागतान् विप्रान् अतिथीन् परिवेषकाः। पक्कापक्वं दिवारात्रं वरान्नममृतोपमम्' (६७।२) 'वरान्न' यह 'परमान्न'का साथी शब्द है—सो यह खीर-रबड़ी-मलाई-मावा आदिको बतानेवाला है। इसीलिए रन्तिदेवके महानस (पाकशाला) में बहुतसी गौओंके बांधनेकी आवश्यकता पड़ती थी।

यह अर्थ जो 'मांस'का किया गया है, यह यहां अयुक्त भी नहीं है; किन्तु युक्त एवं प्रसिद्ध है, बलिष्ठ वस्तुको 'मांस' कहा भी जाता ही है। आयुर्वेदकी पुस्तकोंमें 'चूतफलेऽपरिपक्वे केसर-मांसास्थि-मज्जानो न पृथग् दृश्यन्ते' (सुश्रुत. शारीर ३ अ.) यहां 'मांस' गूदेका नाम और अस्थि 'गुठली' (बीज)का नाम और मज्जा 'रेशे'का नाम है। 'स्वादु शीतं गुरु स्निग्धं मांसं मारुतपित्तचित्' (सुश्रुत-सूत्र. ४६।१२) यहां मातुलुङ्गके गूदेको 'मांस' शब्दसे लिखा गया है।

'समांसं मधुरं प्रोक्तम्' मदनपाल–निघण्टुके इस प्रमाणमें बेरके भक्ष्य ऊपरवाले हिस्सेको 'मांस' कहा गया है। 'मल्लातकास्थ्यग्निसदृशं त्वङ्मांसं, स्वादु शीतलम्' (चरक. सूत्र. २७।१६५) यहां मल्लातकके गुठलीको अस्थि, ऊपरके छिलकेको त्वचा, तथा गूदेको 'मांस' कहा गया है। 'खर्जूरमांसान्यथ नारिकेलं' (चरक. चिकित्सा. २०।२७)में खजूरके भक्ष्य ऊपरी भागको 'मांस' कहा गया है। इस प्रकार दूधका पौष्टिक भाग मलाई-रबड़ी आदि भी 'मांस' शब्द-वाच्य सिद्ध हुआ। यह भी न समझना चाहिये कि-महाभारत जैसी सुगम-रचनामें ऐसे कठिन शब्द कैसे आते हैं। इस पर स्वयं महाभारतकी साक्षी है—'अष्टौ श्लोक-सहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च। अहं वेद्मि, शुको वेत्ति, संजयो वेत्ति वा न वा' (१।१।८१) यहां व्यासजीने महाभारतमें ८८०० श्लोक कूट माने हैं, जिनका ज्ञान स्वयं श्रीव्यासको तथा शुकदेवको है, संजयको तो पूरा नहीं–यह बताया गया है। तब यहां भी वही कूटता है।

महाभारतके एक कूटपद्यका आदर्श 'आलोक' पाठकोंके सामने भी रखा जाता है—'गोकर्णा सुमुखीकृतेन इषुणा गोपुत्रसम्प्रेषितः गोशब्दात्मजभूषणं सुविहितं सुव्यक्तगोऽसुप्रभम्। दृष्ट्वा गोगत जहार मुकुटं गोशब्दगोपूरि वै, गोकर्णासनमर्दनश्च न ययौ अप्राप्य मृत्योर्वशम्' (कर्णपर्व. ९०।४२) यहां पाठकोंने देखा होगा कि-सुगम कहे जाते हुए महाभारतमें यहां कितनी क्लिष्टता है। इस पद्यमें 'गो' शब्द ७ बार आया है; और भिन्न-भिन्न अर्थ रखता है। इस कूट-पद्यमें कहीं भी 'गो' शब्द 'गाय'-वाचक नहीं आया।

इस प्रकार रन्तिदेवकी कथामें भी 'गो' शब्द कूट है; वहां पर वह 'पशु' अर्थमें वा गोदुग्ध-अर्थमें है, गायके वध अर्थमें नहीं है।

उपर्युक्त अर्थका कारण यह भी है कि-यदि रन्तिदेव अतिथियोंको मांस खिलाता; तो स्वयं भी खाता; क्योंकि-यज्ञाऽवशेष का खाना भी आवश्यक हुआ करता है, चाहे वह देवयज्ञका हो, चाहे पितृयज्ञ, वा अतिथियज्ञका अवशेष हो, किन्तु रन्तिदेवका तो महाभारतमें मांस न खानेका वर्णन आया है, जैसे कि-'रैवते रन्तिदेवेन...एतैश्चान्यैश्च राजेन्द्र ! पुरा मांसं न भक्षितम्' (अनुशासनपर्व. ११५।७२-७७) तब जबर्दस्ती उसपर मांसका अर्थ क्यों थोपा जाय ? अर्थ वही ठीक होता है-जो पुस्तकके सब पूर्वापर-प्रकरणोंसे सम्बद्ध हो, सङ्गत हो। इसलिए द्रोणपर्वमें कहा है—'गृहान् अभ्यागतान् विप्रान् अतिथीन् परिवेषकाः। पकापक्वं दिवारात्रं वरान्नममृतोपमम्' (६७।२) यहां अतिथियोंको अमृतोपम वरान्न, परमान्न (खोया रबड़ी आदि) खिलाना कहा है, सो वह गौओंके वधसे नहीं प्राप्त हो सकता, किन्तु बन्धनसे ही। वध माना जावे; तो 'आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः' (शान्ति. २६।१२७)में (१००० × १०० × २० =)२०,००,००० लाख गौओंका वध मानना पड़ेगा। एक गाय-बैल १०० पुरुषोंका भोजन माना जावे, तो २० करोड़ पुरुषोंको खिलाना मानना पड़ेगा; तो क्या इतने पुरुष एक स्थान पर कभी इकट्ठे हो सकते थे ? दूध-खोया आदिकेलिए इतनी गौओंका बन्धन माना जावे, तो कोई अनुपपत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि-दूध-मावा आदि थोड़ी ही मात्रामें

उतरते हैं।

द्रोणपर्वमें 'सहस्रशश्च सौवर्णान् वृषभान् गोशतानुगान्। अध्यर्धमासमददद् ब्राह्मणेभ्यः शतं समाः' (६७।१०-११) यहां रन्तिदेवका ब्राह्मणोंको गाय-वृषभोंका दान ही कहा है, जो 'महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्' (याज्ञवल्क्यस्मृति-आचाराध्याय ५।१०६)के अनुकूल है। षोडश-राजकीय इस प्रकरणमें राजाओंके दानका वर्णन करके महत्ता बताई गई है, पशु-वधसे वह महत्ता किस प्रकार हो सकती ?

वनपर्वके व्याधके वक्तृत्वमें उक्त-कथनसे 'वध्येते'का अर्थ बन्धन न करके हिंसा ही माना जावे; तो वहां भी वही भाव है, जो 'अघासु हन्यन्ते गावः'में है, यहां श्रीसायणाचार्यने लिखा है—'दण्डैस्ताड्यन्ते प्रेरणार्थम्' यह हम पूर्व लिख चुके हैं-अर्थात् वहां पीटना अर्थ है, 'वध'का प्रयोग पीटने अर्थमें भी आया है-जैसे 'उर आवधिष्ठाः' (काठ० २८।४) यहां 'उरःका वध' छाती पीटना ही है-इस प्रकारके अन्य प्रमाण हम 'अतिथिकी गोघ्नसंज्ञा' (४) में दे चुके हैं। गायका पीटना भी एक हिंसा है; जैसे कि-व्याधने उसे बताया। पर वह हिंसा अतिथिकेलिए अभ्यनुज्ञात है, इसे हम 'गोघ्नोऽतिथिः'में स्पष्ट कर चुके हैं। सो वह पीटना इसलिए होता था कि-अपने स्थानसे वह चले और अतिथि-स्थान तक पहुँचे; उसमें दण्डसे ताड़न करना स्वाभाविक है।

इसी प्रकार 'आलभ्यन्त शतं गावः' इसका भी मारना अर्थ नहीं। रन्तिदेवकी पाकशालामें प्रतिदिन २००० गौएँ कटती थीं'

यह प्रतिपक्षिप्रोक्त अर्थ अनुपपन्न है, गौएँ भला पाकशालामें कैसे कट सकती थीं ? वधशालामें काटना कहा जाता; तब तो बात कुछ बनती। पाकशालामें तो अन्न पकानेका काम होता है, पशु काटनेका नहीं। वधशालाको कभी पाकशालामें रखा भी नहीं जा सकता; उसे तो नगरसे बाहर रखना होता है। इधर रन्तिदेवके अतिथियज्ञका प्रभाव पशुओं पर भी पड़ता था। बहुतसे पशु स्वयं ही रन्तिदेवके अतिथियोंको दूध द्वारा बने कई खाद्य-पदार्थ खिलानेमें निमित्त बननेसे परलोकमें अपनी स्वर्ग की प्राप्ति मानकर उसके पास उपस्थित हो जाते थे। इसी बातको 'उपस्थिताश्च पशवः स्वयं यं शंसितव्रतम्। बहवः स्वर्गमिच्छन्तो विधिवत् सत्रयाजिनम्' (महा० द्रोण० ६७।४, १२।२६।१२२) इस पद्यसे व्यक्त किया गया है। 'पशु' शब्दसे यहां स्त्री-पशु गौ आदि और पुरुष-पशु वैल आदि भी लिये जा सकते हैं; क्योंकि वैल आदि भी गर्भकारक होनेसे दूधके निमित्त बनते हैं। सो यहां साक्षात् मारना अर्थ उपपन्न नहीं हो सकता। क्योंकि-कौन पशु भला स्वयं मरने जाता ?

प्रतिपक्षी जरा ठंडे दिमागसे सोचें कि-'ब्राह्मणेभ्यः शतं समाः' (महा० १०।६७।११) यह कर्म रन्तिदेवने १०० वर्ष निरन्तर किया। तो यदि रन्तिदेव प्रतिदिन कभी दो हजार गौएँ (वनपर्व २०८.८) कभी इक्कीस हजार गौएँ (द्रोणपर्व ६७।१६), कभी २० लाख गौएँ (शान्तिपर्व० २६।१२७) अतिथियोंकेलिए मरवाता था, और फिर हजारों गौएँ दान भी प्रतिदिन करता था, तो क्या सौ साल तक वह ऐसा कर सकता था ? इतनी गौएं कहांसे आतीं ? और फिर प्रतिपक्षी

के इस अर्थमें विरोध भी आता है, उसके दिये वसिष्ठस्मृति [illegible] शतपथके वचनसे महोक्ष (बड़ा बैल) या महाज (बड़ा बकरा) वेहत् (गर्भघातिनी गौएं) आतिथ्यकेलिए पकवाने चाहियें थे; उससे विरुद्ध यहां साधारण गौएं क्यों रखी गईं ? और [illegible] शतपथके सिद्धान्तसे विरोध भी आता है, क्योंकि-श[illegible] (३।१।२।२१)में गाय-वैलके अन्न खाने वालेको भी जब स[illegible] गर्भघातक तथा पाप-कीर्ति वतलाया है; तो गाय-वैलको ही स[illegible] खा जाने या खिलाने वालेको तो महापापी कहकर निन्दित [illegible] जाना चाहिये था, पर यहां उसी कर्मसे रन्तिदेवकी पुण्यकी[illegible] फैली, जिसके लिए श्रीकालिदासने भी मेघदूतमें अपनी [illegible] तोड़ दी। इससे स्पष्ट है कि-यहां गौओंका वध अर्थात् [illegible] ताडन कर वहां अतिथियोंके पास पहुँचाना, जोकि-गाय [illegible] दिव्य जीवके लिए 'वध'का ताडन अर्थ या वहां बान्धना [illegible] जैसेकि-'अघासु हन्यन्ते गावः' इस मन्त्रके भाष्यमें श्रीसायण[illegible] लिखा है—'दण्डैस्ताड्यन्ते प्रेरणार्थम्'-जिसकी स्पष्टता हम [illegible] अतिथिकी संज्ञा' इस निबन्धमें कर चुके हैं। वहां यह भी [illegible] बताया है कि-पाणिनि 'हन् हिंसागत्योः' इसमें वधार्थक [illegible] धातुका 'गमन' अर्थ भी बताता है। 'हन्यन्ते-गम्यन्ते' [illegible] जाती हैं। निघण्टु (२।१४)में भी गतिकर्मक-धातुओंमें 'हन्' पढ़ा [illegible] है, पर वधकर्म-धातुओंमें न तो 'हन्' पढा गया है, और न [illegible] ही। रन्तिदेवके इस प्रकरणमें इन्हीं धातुओंका प्रयोग किया [illegible] है। इस विषयमें निरुक्तका भी एक प्रमाण देखिये। 'निरु[illegible]

निर्वचन करते हुए पहले 'निगमा इमे भवन्ति' (१।१।३) यह 'गम्' धातुसे निर्वचन किया गया, फिर 'आहननादेव स्युः' (१।१।६) यहां 'गम्' धातुके स्थान 'हन्' धातुका प्रयोग समानार्थकतावश ही किया गया है। टीकाकारोंने तो यहां 'हन्' धातुका 'पठन' अर्थ दिया है। इसकेलिए प्राचीन-वृत्तिकार श्रीदुर्गाचार्यने लिखा है—'हन्तेः पाठार्थे वर्तमानस्य-अनेकार्थत्वाद् धातूनां'। इसका तात्पर्य यह है कि-धातुओंकी अनेकार्थकतावश 'हन्' धातुका 'पठन' अर्थ है। केवल उसने कहा ही नहीं, प्रमाण भी आगे दिया है—'प्रसिद्धश्च पाठार्थे हन्तेः प्रयोगः; एवं हि वक्तारो भवन्ति-'ब्राह्मणे इदमाहतम्, सूत्रे इदमाहतम्' इति। इससे सिद्ध है कि-'हन्' धातुका केवल 'हिंसा' अर्थ ही नहीं होता; अन्य अर्थ भी औचित्यवश हुआ करते हैं।

इस कारण 'सांकृते (संकृति-पुत्रस्य) रन्तिदेवस्य यां रात्रिमतिथिर्वसेत्। आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राण्येकविंशतिः' (७।६७।१६, १२।२६।१२७) इस महाभारतीय-पद्यमें भी 'गाव आलभ्यन्त'का 'गौएं मारी गईं' यह अर्थ नहीं, जैसाकि प्रतिपक्षी कहते हैं; किन्तु इतनी गौएं वहां प्राप्त कराई गईं, (डुलभष् प्राप्तौ) वा दानार्थ स्पर्श कराई गईं, क्योंकि-दानके संकल्पके समय उस वस्तुका हाथसे स्पर्श करना पड़ता है। अथवा गायके दूध निकालने के लिए गायको छुआ जाता है, उसपर हाथ फेरा जाता है; इससे आश्वस्त होकर उसका दूध भी-स्निग्ध निकलता है; यही गायके 'आलम्भ' (स्पर्श)का रहस्य है। 'आलभ्'के स्पर्श अर्थमें निम्न

प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

(क) महाभारतके उद्योगपर्वमें—'ऋषभं पृष्ठ आलभ्य ब्राह्मणान् अभिवाद्य च' (८३।१०) यहां श्रीकृष्ण-भगवान्‌का बैलकी पीठको आलम्भन अर्थात् स्पर्श करना अर्थ ही महाभारतको विवक्षित है, बैलकी पीठका मारना नहीं। (ख) 'गामालभ्य विशुध्यति' (५।८७) इस मनुके पद्यमें भी नरकंकालके छूनेसे अशुद्ध पुरुषकी गायके आलम्भ, (स्पर्श)से शुद्धि मानी गई है। (ग) इसी प्रकार 'स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भे' (मनु० २।१७६) यहां भी 'स्त्रियोंका आलम्भ' स्पर्श है, मारना नहीं। (घ) यजुर्वेदके २०।४ मन्त्रके उवट-भाष्यमें 'यजमानमालभते-कोसि' महीधरभाष्यमें भी 'यजमानमालभते, अध्वर्युर्यजमानं स्पृशति' तथा कात्यायन-श्रौतसूत्र (१६।४।१९)में भी यजमानका आलम्भन-स्पर्शाऽर्थक माना गया है, मारणार्थक नहीं। (ङ) गौतमधर्मसूत्र (१।२।२२)में श्रीहरदत्तने लिखा है-'आलम्भनं-स्पर्शनम्' (च) 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्' (यजुः वाज० ३०।५)से लेकर २१ मन्त्र तक २२ मन्त्र-स्थित 'आलभते' पदका अनुकर्षण है। 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते' (तै०ब्रा० ३।४।१-१९)में तो 'आलभते' पद स्पष्ट है, तो वहां ब्राह्मणादिका आलम्भन—लाया जाना है, मारा जाना नहीं। वे लाकर यूपमें बान्धकर फिर छोड़ दिये जाते हैं। (छ) विवाहसंस्कारमें वधूहृदयालम्भन 'अथास्यै हृदयमालभते' (पारस्कर १।८।५) उपनयनमें माणवक-हृदयालम्भन, 'अथास्य हृदयमालभते' (२।२।१६) में हृदयदेशको प्राप्त करना वा स्पर्श करना ही अर्थ है, मारना नहीं। (ज) आलभेतासकृद् दीनः

करेण च शिरोरुहान्' (सुश्रुत० कल्पस्थान १) यहां भी वालोंका स्पर्श अर्थ है। (झ) मीमांसादर्शन (२।३।१७)में सुबोधिनीकारने लिखा है—'वत्सस्य समीपे आनयनार्थम् आलम्भः स्पर्शो भवति'। (ञ) 'अक्षान् यद् बभ्रून् आलभे' ('अथर्व० ७।११४।७)में भी अक्षोंका आलम्भ-स्पर्श ही है, श्रीसायणने भी यही अर्थ किया है। (ट) 'कुमारं जातं पुरा अन्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्येन प्राशयेत्' (आश्वलायनगृ० १।१५।१) जात-कर्म संस्कारके इस वाक्यमें बच्चेको छूना ही अर्थ आलम्भका है, मारना नहीं। (ठ) 'अत ऊर्ध्वम् असमालम्भनमादशरात्रात्' (गोभिलगृ० २।७।२३)में प्रसूता स्त्रीका दस दिन तक असमालम्भ-अर्थात् छूनेका निषेध किया है। (ड) 'केशान् अङ्गं वासश्च आलभ्य अप उपस्पृशेत्' (आपस्तम्बध० २।२।३)में भी वालोंके छूनेपर आचमनका विधान किया है। श्रीहरदत्तने लिखा है—'आलभ्य-स्पृष्ट्वा। (ढ) मीमांसा-दर्शनके शाबरभाष्य (१।२।१०)में 'अज इति अन्नं, बीजं वीरुद् वा, तम् आलभ्य-उपयुज्य, प्रजाः-पशून् प्राप्नोतीति गौणाः शब्दाः' यहां आलम्भनका उपयोग अर्थ किया गया है। (ण) मञ्जूषामें श्रीनागेशभट्टने भी लिखा है—'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यत्र आलम्भनं-न हिंसनं, किन्तु स्पर्शः। अग्निहोत्रप्रकरणपठिते 'वत्समालभेत' इति वाक्ये स्पर्शार्थकत्वनिर्णयात्'।

फलतः रन्तिदेवके 'आलभ्यन्त शतं गावः' का भी दानार्थ वा सत्कारार्थ स्पर्श ही अर्थ है। तब गौवोंको अतिथियोंके पास प्राप्त कराना, और यास्कके (निरुक्त २।५।४) अनुसार 'गो'का अर्थ 'गायका

दूध' भी होनेसे उनके दूधके मावेसे-जिसे मांसल होनेके कारण [illegible] भी कहना सम्भव हो सकता है-ऐसा, गौओंका अतिथियोंके [illegible] उपयोग रन्तिदेव-जैसा राजा सौ साल तक भी कर सक[illegible] इसीसे उसकी कीर्ति फैली। यह अर्थ सभी दृष्टियोंसे ठीक है, [illegible] मारना अर्थ तो किसी भी दृष्टिसे उपपन्न नहीं बैठता। बलीसे [illegible] लेते रहनेसे उसके फूल बढ़ते हैं ? गायका दूध लेते रहने पर [illegible] भी बढ़ता है। कहा है—'गोदुग्धं वाटिकापुष्पं विद्या कू[illegible] धनम्। दानाद् विवर्धते नित्यमदानाच्च विनश्यति।' सर्वथा [illegible] देनेसे भला वृद्धि कैसे हो ? वस्तुतः रन्तिदेवका इतिहास '[illegible] थिग्वः' (२०।२१।८) इस अथर्ववेदसं.के पदरूप सूक्त[illegible] अर्थ-'अतिथ्यर्था गावो यस्य सः' यह सायणाचार्यने किया [illegible] भाष्य ही है, क्योंकि-पुराण-इतिहासमें वेदके सिद्धान्त भूता[illegible] द्वारा कहीं कल्पित और कहीं पारम्परिक-रूपसे प्रसिद्ध [illegible] करते हैं।

इससे स्पष्ट है कि-महाभारतके इन कूट-श्लोकोंका वही [illegible] अर्थ है-जो हमने किया है। जोकि प्रतिपक्षी 'सांकृते रन्ति[illegible] यां रात्रिमतिथिर्वसेत्। आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राण्येक[illegible] का यह अर्थ करते हैं कि-संकृतिके पुत्र राजा रन्तिदेवके [illegible] जिस रातमें अतिथियोंने निवास किया; उस रात इक्कीस [illegible] गौएँ मारी गईं' यह अर्थ कैसे उपपन्न हो सकता है; क्योंकि-[illegible] साथ वाले १८ वें पद्यमें कहा है-'तत्र स्म सूपाः क्रोशन्ति [illegible] मणिकुण्डलाः। सूपं भूयिष्ठमश्नीध्वं नाद्य मांसं यथा पुरा।' [illegible]

अर्थात्-वहांके रसोइये कहते थे कि-आज मांस नहीं है, आप दाल खूब खाइये'। यदि इससे प्रतिपक्षीके अनुसार पूर्वके पद्यमें २१ सहस्र गौओंका मारना कहा है, (बल्कि-उस श्लोकमें 'शतं' शब्द भी साथ है, जिससे २१ सहस्रको १०० गुना करने पर २१ लाख अर्थ हो जावेगा-) और इसमें कहा है कि-मांस आज नहीं है, दाल ही बहुत खाओ-तो यह तो 'यावज्जीवमहं मौनी' वाला व्याघात हो जावेगा। यदि एक गायको १०० पुरुषोंका भक्ष्य मान लिया जाय; तो २१ सहस्र गाय २१ लाख अतिथियोंको पूरी हो सकती हैं। एक रातमें रन्तिदेवके घर २१ लाख अतिथि जमा हो जाएँ; यह सम्भव नहीं हो सकता, कई सौ की संख्या में तो अतिथि आ सकते हैं; फिर भी उन्हें कहा जाय कि-आज मांस नहीं है-दाल खूब खाओ-यह सम्भव नहीं। इसलिए स्पष्ट है कि-पूर्व पद्यमें गायका मारना अर्थ नहीं है। 'मांस'का अर्थ यहाँ पर 'मांसल' खोया-रबड़ी अर्थ है; उसकी कमी सम्भव है। क्योंकि-एक गायका दूध ही परिमित होना हुआ; फिर उसी दूधको अग्निपर रखकर खोया बनाने पर काफी कमी हो जाती है। खोया खाया भी काफी जा सकता है।

श्रीपाददामोदर-सातवलेकरने अपनी 'महाभारत'की टीकामें यह अर्थ किया है—'महात्मा रन्तिदेवके गृहमें जो एक रात्रि अतिथियोंने निवास किया था; उसमें इक्कीस सहस्र गौवोंसे उनका सत्कार किया गया था।' इसमें कोई वधकी बात नहीं। यह अर्थ ठीक जंचता भी है, जैसेकि-मनुस्मृतिमें स्नातकका 'अर्हयेत्

प्रथमं गवा' (३।३) गायसे सत्कार करना कहा है। अग्रिम पद्यसे इस अर्थकी संगति भी लग जाती है।

इसी प्रकारका पद्य शान्तिपर्वमें भी मिलता है-'आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः' (२६।१२७) इसका भी अर्थ श्रीसातवलेकर-महाशयने इस प्रकार लिखा है—'जिसके घरमें रात्रिमें पहुँचे हुए अतिथियोंके वास्ते वीस हजार गौएँ प्राप्त की गईं'। यह भी अर्थ ठीक मालूम होता है, इससे पूर्वापरकी संगति भी लग जाती है। द्रोणपर्व तथा शान्तिपर्वके इस उपाख्यानमें १६ राजाओंकी महिमा बताई गई है। अन्य राजाओंमें किसीका भी गोवधकाण्ड नहीं दिखलाया गया; तब उनके सहचारी रन्तिदेवके आख्यानमें भी वह संघटित नहीं हो सकता। जबकि महाभारत 'न चासां मांसमश्नीयात्' (अनुशासन. ७८।१७) गो-मांसभक्षण निषिद्ध करता है, तब रन्तिदेवके आख्यानमें उसे पुण्य कैसे कह सकता है-इससे स्पष्ट है कि-प्रतिपक्षियोंसे दिये हुए रन्तिदेवके पद्योंका तदभीष्ट अर्थ नहीं। यह महाभारतीय कूटपद्य हैं; उनका यथाश्रुत अर्थ करना अपनी अनभिज्ञताका परिचय देना है। यदि रन्तिदेवके अतिथियज्ञमें जीवित पशु मारे जाते; तो वहाँ वधिकोंका वर्णन वा उनकी संख्या आनी चाहिये थी, पर नहीं आई, किन्तु रन्तिदेवके पाचकोंकी तो संख्या आई है कि-वे दो लाख थे' (द्रोणपर्व. ६७।२) तो वे इतना पायस वा रसगुल्ले आदि तैयार करते थे; कि-अतिथि लोग उतना न खा सकनेके कारण उन गुलाब-जामुन आदिकी

ऊपरी त्वचा उतारकर गिरा देते थे; और भीतरका मावा जिसे मांस भी कहा जा सकता है-खाजाते थे। उसी ऊपरी त्वचाको चर्म-सा कहकर उन ढेरोंके गिरा देनेसे कविकी भाषामें उसे 'चर्मण्वती नदी'का प्रकट होना कहा गया है। अब भी कहीं ब्रह्मभोजमें खीर बहुतसी बनाई जावे और गिरे भी; तो कहा जाता है कि इस भोजमें तो खीरकी नदी बही। विदेशोंकेलिए यही प्रतिपक्षी कहते हैं कि-'विदेशोंमें आज दूधकी नदियाँ वा नहरें बह रही हैं'। नहीं तो 'नदी महानसाद् याऽस्य प्रवृत्ता चर्मराशितः। तस्माच्चर्मण्वती पूर्वं' (द्रोण. ६७५) चर्मराशिसे चर्मण्वती नदीका प्रवृत्त होना सम्भव-कोटिमें कैसे आ सकता है ? क्या चमड़ेकी भी नदी बन सकती है जो आज तक भी बह रही है ? यदि नहीं, तो वहाँ यही हमसे कहा हुआ ही अर्थ है।

---

(१०) गोमेध-अश्वमेध आदि यज्ञ।

प्रश्न—वेद जोकि गायको 'अघ्न्या' बताता है-यह कथन यज्ञकर्म से बाहरकेलिए है या सब स्थानकेलिए ? यदि यज्ञसे बाहिर गायको 'अघ्न्या' कहा है; तो बिना यज्ञके तो सब पशुओंको अवध्य माना गया है-'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'। यदि गाय यज्ञमें अवध्य है, तो 'गोमेध' भी वैदिक यज्ञ है, उसमें कैसी व्यवस्था मानी जावे ? अश्वमेधमें अश्वको मारा जाता था; इस प्रकार नरमेधमें मनुष्यको मारा जाता होगा; इस प्रकार गोमेधमें गायको भी। तब कैसे कहा जा सकता है कि

प्राचीन भारतमें गोवध नहीं होता था ?

उत्तर—यद्यपि 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'से बिना यज्ञके सब पशु भी अवध्य हैं; तथापि अन्य पशुओंको 'अघ्न्य' इस विशेष नामसे न कहकर एकमात्र गायका नाम 'अघ्न्या' कहना उसकी विशेषता बताता है कि-अन्य पशु साधारणतया अवध्य हैं-पर गाय तो मनसा, वाचा तथा कर्मणा भी अवध्य है।

'गोमेध' अवश्य एक वैदिक यज्ञ है, अश्वमेध भी। पर 'गोमेध'में जीवित गायको मारकर उसका हवन नहीं किया जाता। यदि कहा जावे कि-अश्वमेधकी भांति 'गोमेध' शब्द भी बराबर है, तो अश्वकी भांति गायकी भी हिंसा होनी चाहिये-यह बात ठीक नहीं। फिर तो 'सर्वमेध' यज्ञमें क्या सब लोगोंकी हिंसा करदी जावेगी ? 'गृहमेध'में क्या घरके बाल-बच्चोंको मार डाला जावेगा ? कभी नहीं; सो 'गोमेध'में भी गायके मारनेका अर्थ नहीं है। उसका कारण यह है कि-'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इससे प्राणिमात्रके अहिंस्य होने पर भी 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इस विशेष वचनसे यज्ञमें पशु हुत किया जा सकता था, इस प्रकार पशुओंमें गायके हवनकी भी प्रसक्ति प्राप्त होने पर उसे 'अघ्न्या' यह पूर्वोक्त विशेष वैदिक-शब्द बचा देता था, जैसाकि हम पूर्व इस विषयमें स्पष्ट कर चुके हैं। महाभारत भी यही बात कहता है-'अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति। महच्चकाराऽकुशलं वृषं गां वाऽऽलभेतु यः' (शान्तिपर्व, मोक्षधर्मपर्व २६३।४७) फिर यज्ञकी पूर्ति कैसे हो—इसकेलिए व्रीहियों

(चावलों)का पशु बनाया जाता है। इस पर भी महाभारतकी साक्षी है—'श्रूयते हि पुराकाले नृणां व्रीहिमयः पशुः। येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः' (अनुशासनपर्व. ११५।५६)। इस-लिए महाभारतमें प्रेरणा की गई है कि-'विधिदृष्टेन यज्ञेन धर्मस्ते सुमहान् भवेत्। यज बीजैः सहस्राक्ष ! त्रिवर्षपरमोषितैः' (आश्व-मेधिकपर्व ६१।१६) यहाँ धान्यके बीजोंके हवनसे धर्मकी प्राप्ति बताई है।

यहां स्पष्ट है कि-यज्ञोंमें व्रीहि, धान, ओदनका पशु बनाया जाता था। इसलिए गोपथब्राह्मणमें भी आया है—'पशवो वै धानाः (२।४।६)। शतपथब्राह्मण (१।२।३।७०)में भी इस सम्बन्ध में वर्णन आया है। व्रीहि-धेनुका वर्णन तो हम दिखला चुके; अनुशासनपर्व (७१।४०,७३।३७)में तिल-धेनुका वर्णन आया है, इस प्रकार घृतधेनु (७१।३६), जल-धेनु (७१।४१), यव-धेनु, मृत्तिका-धेनु, सुवर्ण-धेनु आदिका भी वर्णन वा उनका दान आता है। शातातपस्मृतिमें 'शर्करा-धेनु' (२।४६), घृतधेनु (२।४८) रत्न-धेनु (२।५८) आदिका वर्णन भी आता है। दधि-धेनु (४।६) दुग्ध-धेनु (४।८), मधु-धेनु (४।१०), गुड-धेनु (४।११), रौप्य-धेनु (५।२७) का भी। कहीं पिष्ट-पशु, घृत पशु आदिका वर्णन भी आता है। 'गोयज्ञ' शब्दमें 'गोधूम' शब्द मानकर 'विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपद-लोपः' इस वार्तिकसे 'धूम'का लोप होकर भी 'गो' शब्द बचता है; सो उसी गोधूमके आटेका पशु बनाकर उसका होम किया जाता है, यही पिष्ट-पशु बन जाता है।

तब गोमेधमें भी व्रीहिनिर्मित गायका ही होम होता है, जीवित गायको मारकर नहीं होमा जाता था। नहीं तो वह 'अघ्न्या' कैसे कही जावे ? यह भी यद्यपि एक हिंसा है, पर यज्ञमें यह हिंसा अभ्यनुज्ञात की गई है। इसकी स्पष्टता अथर्ववेदके दशमकाण्डके नवमसूक्तमें है। वहां शतौदना गौका याग बताया गया है। शतौदनाका अर्थ है सौ ओदनों या बहुत ('शत' शब्द 'अनेक'-अर्थवाची भी है) ओदनोंसे बनी गाय। उसीकेलिए वहां उसका शान्त करना (मारना), पाक, स्वर्गगमन, अस्थि, लोहित आदि शब्द उपचारसे आये हैं, जैसे कि-'ये त्वा देवि ! शमितारः पक्तारो ये च ते जनाः। ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति, मा एभ्यो भैषीः शतौदने' (अथर्व. १०।६।७)। फलतः गोमेधमें जीवित गायका मारना नहीं; किन्तु वहां पिष्ट-पशुका ही होम है। यह 'प्राचीन भारतमें गोवध'का प्रमाण नहीं। इस प्रकार जहां हवनीय पशुके अङ्गोंका ऋत्विजोंकेलिए विभाग कहा गया हो, वहां भी व्रीहिनिर्मित उस पशुका विभाग समझना चाहिये, जीवित पशुका नहीं। अथवा यहां यह भी जानना चाहिये कि-सोमयाग आदिमें यजमानको अपने अङ्गोंका ऋत्विजोंको देना कहा है। जैसे कि-'ब्रह्मणे मनो दद्यात्, अध्वर्यवे प्राणं, होतृभ्यः श्रोत्रम्' (आप. श्रौसू. १३।६।६) इत्यादि। तब क्या यजमान अपने इन अङ्गोंको काटकर ऋत्विजोंको देगा ? यदि नहीं; किन्तु वहां वैसी भावना की जाती है, वैसे ही यहां भी ऋत्विजोंको उन अङ्गोंके देनेकी भावनामात्र है। यहां प्रतिपक्षी नहीं सोच सकते कि-

गायको 'अघ्न्या' की घोषणा करनेवाले वेद उसके अङ्गोंको कैसे कटवावें ? 'अन्नँ हि गौः' (शत. ४।३।४।२५) 'आज्यं मेधः' 'गावस्तण्डुलाः' (अथर्व. ११।२।५) इन प्रमाणोंके अनुसार अन्न-चावल आदिका हवन भी 'गोमेध' हो जाता है।

हां, अश्वमेध अवश्य होता था; यह तो बहुत ही प्रसिद्ध है, वह भी किसी चक्रवर्तीके राज्यप्रतिष्ठापनार्थ उसके चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न करनेकेलिए होता था। उसमें भी एक विशेषता ही होती थी। उसमें एक घोड़ा ढूँढ़ा जाता था; जिसका मिलना भी बड़ा कठिन होता था-यह महाभारतमें स्पष्ट है। जैमिनीय-अश्वमेधमें भी ऐसे विशेष घोड़ेका वर्णन है, जो राजा युवनाश्वके पास था; जिसकी हजारों रक्षक रक्षा किया करते थे—इसीसे उस अश्वकी विशेषता व्यक्त हो रही है। उसकी परीक्षा की जाती थी (महा. अश्वमेध ७२।५) इसका भाव यह है कि-वह साधारण अश्व न होता था। फिर उस घोड़ेका खिलाना-पिलाना इस प्रकारके ढंगसे होता था; और उसमें सब कार्य मन्त्रों-द्वारा किये जाते थे कि-उसकी कायाकल्प होकर उसमें साधारणता हटकर दिव्यता आ जाती थी; उसमें रक्त आदि सब धातुओंका परिवर्तन होकर दुर्गन्ध आदि हट जाते थे। वह सुफेद अंशसें होकर 'वपा' रूपमें हो जाता था। महाभारतमें लिखा है—'तं वपा-धूमगन्धं तु धर्मराजः सहानुजैः। उपाजिघ्रद् यथाशास्त्रं सर्वपापापहं तदा' (आश्व. ८६।४) इस पद्यमें उसकी वपाके धुएँका सूँघना कहा है। साधारण घोड़ेकी चर्बी वा अङ्ग आदि अग्निमें डालने पर इतनी दुर्गन्ध

होती है-वहां बैठा ही नहीं जा सकता; पर इस अश्वमेधके अश्वकी वैधानिक-प्रक्रियासे इस प्रकार कायापलट हो जाती थी; जिससे उसके होममें सुगन्ध हो जाती थी। जैसे कि-ऋ.सं.के 'ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति' (ऋ. १।१६२।१२) यहां उस अश्वमेधके अग्निपरिपक्व-अश्वको 'सुरभि' (शोभनगन्धवाला) इसी कायाकल्पके कारण सङ्केतित किया है। जैमिनीय-अश्वमेधमें उस अश्वकी परीक्षाकेलिए धौम्य मुनिने उसका बायां कान निचोड़ा, तो उसमें दूधकी धार निकली-'ततो धौम्यो हयस्याशु वामं कर्णं न्यपीडयत्। ततो दुग्धस्य धारा तु निर्गता जनमेजय ! विस्मिताः सकला लोकाः शोणितं नैव दृश्यते' (६४।१६-२०) यहां कहा है कि-उस घोड़ेमेंसे दूध तो निकला-लहू बिलकुल दिखाई नहीं देती थी, यह देखकर लोगों को बड़ा आश्चर्य होता था। फिर उसका सिर काटनेपर वह्निमय होकर वह सूर्यमें प्रविष्ट हो गया, उसके गिरे शरीरमें कर्पूरकी गन्ध आने लगी-इस विषयमें वहांके प्राकरणिक पद्य हम उद्धृत करते हैं—

'ऊर्ध्वं गतं तच्च शिरो न चाधः, सूर्यं प्रविष्टं किल वह्निरूपम्' (६४।२२) यहां उस घोड़ेके सिरका नीचे भूमिपर गिरना न होकर सूर्यलोकमें उसका प्रवेश दिखलाया है। 'शुद्धं ज्ञात्वा हयं...स्तुतोदैनमुरःस्थले। वैल्वेन कण्टकेनापि भिन्नः कृष्णेन पावनः' (२३) यहां उस घोड़ेकी 'शुद्ध' तथा 'पावन' शब्दसे भीतरी कायापलट बताई जा रही है, उसीके परिणाममें उससे दूधकी धार

निकलना कहा है कि–'निर्गता क्षीरधारा तु तुरगस्य.कलेवरात्' (६४।२४) 'एवंविधो न कस्यापि शुद्धः पूर्वं तुरङ्गमः' (२५) यहां पर उस अश्वकी भीतरी-बाहरी शुद्धि पूर्वोक्त–कारणवश बताई गई है। 'तेषां संवदतामेवं तुरङ्गम–कलेवरात्। निर्गतं सुमहत् तेजः प्रविष्टं केशवानने (२७) यहां भी पूर्वोक्त निमित्तसे घोड़ेसे एक विशेष तेजका निकलना कहा है।

'पश्चाच्छरीरं भूत्वा कर्पूरमेव तत्। विभूतिरिव रुद्रस्य च्युता गात्राद् अशोभत' (६४।२८) यहां उस घोड़ेका विशेष–विधानसे कायाकल्पताके कारण गिरनेपर कपूर जैसा सुगन्धित और रुद्रकी विभूति-जैसा श्वेत होना कहा है। इससे सभी हैरान हो गये, और उसी कपूरका हवन किया गया। जैसे कि–'विस्मिता मुनयस्ते तु कर्पूरं वीक्ष्य तेऽभवन्। कर्पूरं जुहुवुस्ते तु होमकुण्डे तु तत्क्षणात्' (६४।२६) घनसारं जुहावाग्नौ देवतानां पुरस्तदा (२७)। जो अन्य पशु इस अवसर पर बांधे जाते हैं, उनका भी वहां मारना नहीं कहा, किन्तु छोड़ देना कहा गया। जैसे कि–'मोचिताः पशवः, सर्वे ये च यूपे नियन्त्रिताः' (६४।५४)।

इसका कारण हम 'श्रीसनातनधर्मालोक' (पञ्चम पुष्प)में कह चुके हैं कि–प्राचीनकालमें हवनीय सभी पदार्थोंका संस्कार करके उनमें सूक्ष्म शक्तियां पैदा की जाती थीं। हवनीय अश्वको खिलाने योग्य अमुक प्रकारका घास, अमुक प्रकारके क्षेत्रमें, अमुक नक्षत्रमें, अमुक मन्त्रोंसे बोया जाता था; अमुक प्रकारके जलसे सींचा जाता था; उनमें अमुक प्रकारका खाद दिया जाता था।

अमुक-मुहूर्तमें उसे तोड़ा जाता था; अमुक मन्त्रोंसे उसका संस्कार कर अमुक-समयमें घोड़ेको खिलाया जाता था, उसकी अमुक प्रकारकी रहन-सहन आदि सब बातें पूरी करनी होती थीं। जिस प्रकार आजके योग्य वैद्य एक वृद्धका भी कायाकल्प कर देते हैं, वैसे यहांपर भी अनुमान कर लेना चाहिये। और उन याज्ञिक-ऋषियोंमें शक्ति भी विशेष होती थी। यह महाभारतमें स्पष्ट है। इसे हम आगे बतावेंगे।

जैसे वे लोग इस प्रकारकी योग-क्रियायें करते थे कि–वे अपनी अन्तड़ियोंको भी बाहर निकाल लिया करते थे; उस समय पीया हुआ पानी सीधा गुदद्वारसे निकलकर शरीरको शुद्ध कर दिया करता था। जैसे लोग नाकसे पानी लेकर मुखसे निकाल देते हैं; इससे उस अङ्गकी शुद्धि हो जानेसे फिर प्रतिश्याय आदि रोग नहीं हो पाते। इस प्रकार घोड़े आदिमें मानसिक-शक्तिसे विशेषता कर दी जाती है। अतः वहां आश्चर्यका कोई अवकाश नहीं।

इसके अतिरिक्त अश्वमेध-यज्ञ चक्रवर्ती राजा लोग किया करते थे; उसमें अन्य फलोंके अतिरिक्त अपने साम्राज्यका प्रतिष्ठापन तन्मूलक चक्रवर्ती लड़का पैदा होनेका उद्देश्य भी प्रायः रहता था। जैसाकि वाल्मीकि-रामायणमें–'सुतार्थं वाजिमेधेन किमर्थं न यजाम्यहम्' (१।८।२) सो यह पुत्रेष्टियज्ञ यद्यपि भिन्न भी होता था, तथापि राजाओंके चक्रवर्ती पुत्र करनेकेलिए अश्व-मेधका ही अङ्ग बनता था। जैसा कि रामायणमें कहा है–

'तुरगश्च विमुच्यताम्। सर्वथा प्राप्स्यसे पुत्रान्' (१।८।१२) हम पञ्चम-पुष्पमें 'श्रीमहीधरका भाष्य' इस विषयमें लिख चुके हैं कि-'अश्वमेध यज्ञ तत्प्रोक्त कर्मोंके व्याजसे राजाकेलिए वाजीकरणके रहस्यको भी सम्भृत करता है। 'उत्सक्थ्या अवगुदं धेहि समञ्जिं चारया वृषन्! यः स्त्रीणां जीवभोजनः' (२३।२१) यहाँ उक्त-क्रियामें जहाँ गणपति-प्रजापतिरूप अश्वसे प्रार्थना है, वहाँ अश्वरूप-पुरुषसे कहना भी सम्भव हो सकता है। प्रतिपक्षी लोग इस मन्त्रके महीधरभाष्य पर खूब हंसी उड़ाया करते हैं; पर कामशास्त्रके विषयमें कोई अश्लीलता नहीं रह जाती। 'अश्व' वाजीकरणके प्रयोग करनेवाले पुरुषका नाम भी होता है। इस कर्मकाण्डमें जो कि-अश्वके साथ रानीके सहनिवासका वर्णन आता है, प्रतिपक्षी लोग इसमें भी ज्ञान न होनेसे इस पर हंसी उड़ाया करते हैं; वस्तुतः इसमें वैज्ञानिक-रहस्य भी है। रानीके गर्भाशयके शोधनार्थ-जिसमें चक्रवर्ती लड़केका गर्भ रह सके, अश्वमेधके उस विशिष्ट घोड़ेके पृथक्-कृत अङ्गसे तैयार किये हुए पदार्थको रानी अपने अङ्गमें डालती है; 'प्रजननं प्रजनने सन्निधाय उपविशन्ति' यदि यह पाठ कहीं पर है; तो वहाँ विलास नहीं, किन्तु यह चिकित्सा है। प्रजनन-इन्द्रियमें प्रजनन-इन्द्रियका संयोगमात्र है, विलास नहीं, क्योंकि-मृतकके साथ विलास कैसा? इससे स्त्रीका वन्ध्यात्व-दोष दूर हो जाता है। इससे उसका सन्तान-बाधक दोष हटकर गर्भाशय सुसंस्कृत हो जाता है। फिर उस अश्वके अङ्गोंके हवन करनेसे-जो मान्त्रिक शक्तिसे अद्भुत

शक्तिवाले तथा सुगन्धित हो जाते हैं-वही अभिमन्त्रित-अग्निमें हुत, इसीलिए ही सूक्ष्मीभूत अङ्गोंकी गन्ध राजा-रानीके सूंघनेसे भीतर प्राप्त होकर शुक्र और योनिके दोषोंको दूर कर देती है।

यही बातें महाभारतमें 'तं वपाधूमगन्धं तु धर्मराजः सहानुजैः। उपाजिघ्रद् यथाशास्त्रं सर्वपापापहं (यहाँ पापका भाव गर्भाशयादिगत दोष भी इष्ट हो सकते हैं) तदा। शिष्टान्यङ्गानि यान्यासंस्तस्याश्वस्य नराधिपः। तान्यग्नौ जुहुवुर्धीराः समस्ताः षोडशर्त्विजः' (आश्व. ८९।४-५-६) यही वाल्मीकि-रामायणमें भी कहा है-'श्रपयित्वा' ... त्रिणस्तस्य वपामुद्धृत्य नियतेन्द्रियः। ऋत्विक् परमसंपन्नः श्रपयामास शास्त्रतः। धूमगन्धं वपायास्तु जिघ्रति स्म नराधिपः। यथाकालं यथान्यायं निर्णुदन् पापमात्मनः। हयस्य यानि चाङ्गानि तानि सर्वाणि ब्राह्मणाः। अग्नौ प्रास्यन्ति विधिवत्समस्ताः षोडशर्त्विजः' (१।१४।३६-३८) उस वक्त वही वेदके अश्लील कहे जानेवाले मन्त्रोंके वचन भी इसमें कुछ सहायक हो जाते हैं। फिर वाजीकृत किये हुए पतिरूप अश्वके रेतसे वह गर्भवती होकर चक्रवर्ती लड़केको पैदा कर सकती है। एतदादिक-रहस्य महीधरके अर्थोंमें अश्लीलता कहकर तथा पशुके अङ्गोंके काटनेमें घृणा करनेसे तथा उससे आँख मूंदनेसे नहीं मिलते। जैसे कि आयुर्वेद वा डाक्टरी पढ़नेवालेको, पशुको मारकर तथा चीर-फाड़कर अङ्गोंको पृथक्कृत करके आयुर्वेदके रहस्योंका ज्ञान होता है, इस प्रकार स्त्री-पुरुषोंके गुप्त-अङ्गोंका भी विना लज्जा और उपहासके ज्ञान करनेसे ही विशेष चिकित्सा-पद्धतियाँ जानी जाती

हैं। योनिको शुद्ध करनेवाले, तंग वा चौड़ी करनेवाले उपचारों-का भी रतिशास्त्रों द्वारा ज्ञान करनेसे ही तत्सम्बन्धी रोगोंके दूर करनेका ढंग आता है, उस विषयमें हँसी आदि करते रहनेवाला उस विषयमें कोरा-का कोरा रह जाता है; वैसे इस वैदिक-विषयमें भी उपहास न करके अर्थोंको न बदलकर इस विषयका गम्भीर अनुसन्धान करना चाहिये, जिससे वैदिक चिकित्सा-पद्धतियाँ भी लुप्त न हो जावें। अर्थोंके बदलनेसे अश्लीलताको कहाँ तक दबाया जा सकेगा? इससे पुराने विज्ञान लुप्त हो जावेंगे। एक समय आप (प्रतिपक्षी) भी तो अश्लीलतासे नहीं घबराते; यदि आप (प्रतिपक्षी) उससे घबराये और उसका ज्ञान न किया; तो सन्तानोत्पत्तिसे भी आप हाथ धो बैठेंगे, इसी तरह यहाँ भी घबरानेकी बात नहीं। यह कर्मके साथ एक वाजीकरण का वैदिक योग भी है; अतः यहाँ भी अश्लीलताका विचार ही छोड़कर अन्तस्तलमें प्रवेश करनेकी आवश्यकता है। इसीके साथ यहाँ उस राजाका स्वयं भी सार्वभौमिक चक्रवर्तित्व अक्षत होता था।

यह बात प्रकरणवश बतला दी गई है। कलियुगमें अश्वमेधके वैसे साधन नहीं बन सकते; इसलिए 'अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।···कलौ पञ्च विवर्जयेत्' इस प्रसिद्ध पद्यसे अश्वमेध-यज्ञका निषेध किया गया है। वाजीकरणमें अश्व-की आवश्यकता होनेसे अश्वमेध यज्ञ भी था; पर गोमेधमें वहाँ कोई ऐसी बात नहीं। इसके अतिरिक्त उसके अघ्न्या होनेसे

उसकी पूर्ति व्रीहिनिर्मित-गायसे कर दी जाती है। इस प्रकार सायणाचार्य आदिके भाष्यमें वर्णित वृषभ भी व्रीहिनिर्मित समझना चाहिये; हिंसा-प्राप्त जीवित पशु नहीं। फिर इस व्रीहिमय गौ-वृषभ आदि पशुओंके यज्ञसे भी कलियुगमें कई हानियाँ जानकर दूरदर्शी मुनियों द्वारा 'महाप्रस्थान-गमनं गोमेधं च मखं तथा। इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यान् आहुर्मनीषिणः' इत्यादि वचनोंसे इन्हें कलिवर्जित कर दिया गया है। इसीसे आज भी श्रद्धालु-सज्जन खांडका बना गायका खिलौना भी नहीं खाते। नरमेधमें ब्राह्मणादि मनुष्योंको यूपोंमें बांधा अवश्य जाता है, ब्रह्म-आदि देवताओंके आगे उन्हें अर्पण करके छोड़ दिया जाता है। शुनःशेपको भी तो पीछे मुक्त कर दिया था; अतः इसमें मनुष्यकी हिंसाकी कोई बात नहीं। हाँ, संग्रामरूप यज्ञमें 'नरमेध' स्पष्ट है।

---

(११) शूलगव

पूर्वपक्ष—गृह्यसूत्रोंमें शूलगवका भी वर्णन आता है, वहाँ साँड-बैलका आलम्भन (हिंसन) होता है; उसकी रुद्रको बलि दी जाती है। इससे भी पूर्वकालमें गोवध सिद्ध है। पुरुषकी मृत्युके समय अनुस्तरणी गायके वधका विधान भी आता है। देखो, आश्वलायनगृह्यसूत्र।

उत्तरपक्ष—गाय-बैलके वेदानुसार अघ्न्य-अघ्न्या होनेसे, उसका मारना तो सम्भव नहीं; अतः वहाँ 'आलम्भ'का अर्थ 'स्पर्श'

जाते हैं।

उपवेद-आयुर्वेदके ग्रन्थ चरकसंहितामें लिखा है—'आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालम्भनीया [प्राप्तव्याः] बभूवुः; न आलम्भाय (वधाय) प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नाभाग-इक्ष्वाकादीनां च क्रतुषु पशूनामेव अभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमवापुः' यहाँ पर यज्ञमें पशुओंका वध दक्षयज्ञके बाद प्रारम्भ होना बताया गया है। 'अतएतत्प्रत्यवरकाले पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजमानेन पशूनामलाभाद् गवामालम्भः प्रवर्तितः' यहां पर एक लम्बे यज्ञमें दीक्षित, पृषध्रने अन्य पशु न मिलने से गौओंका आलम्भ शुरू किया; यह बतलाया गया। इससे सिद्ध हो रहा है कि-पहले गोवधयज्ञ नहीं होते थे, हां, अन्य पशुओंके यज्ञ होते थे। पर इस नवीन कार्यसे पुरुषोंको बहुत दुःख हुआ—'तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणाः' इसका परिणाम भी खराब निकला। 'उपाकृतानां [हतानां] गवां गौरवाद्, असात्म्याद् उपहताग्नीनाम्, उपहतमनसाम् अतीसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे' (चिकित्सितस्थान १६।३) इससे अतीसार बीमारी पैदा हुई; और उससे अग्नियोंका तथा पुरुषोंके मनोंका भी उपघात कहा है। इससे ऐसे यज्ञोंकी वैयक्तिकता, क्वाचित्कता, और रोगोत्पादकता एवं मनकी उपघातकता बताई गई है। सो अन्य पशुओंके यज्ञ तो क्वाचित्क तथा कादाचित्क होते थे; पर गौवोंका साक्षात् वध न होकर व्रीहिनिर्मित-गौओंका यज्ञ गोमेध होता था। उसे भी कलिवर्ज्य कर दिया गया; तब

'प्राचीन-भारत गोभक्षक था' यह दोषारोपण अननुसन्धानका फल है।

अनुस्तरणी-गायका भी छोड़ देना वा दान देना ही उत्तरपक्षरूपमें आता है। जैसे कि बोधायनीय-पितृमेधसूत्रमें-'उत्सृजेद् वा एनां ब्राह्मणाय वा दद्यात्। दत्ता त्वेव श्रेयसे भवति' (१।१०।२) यहां पर अनुस्तरणी-गायका छोड़ देना वा ब्राह्मणको दान देना यह दो पक्ष कहे गये हैं; इनमें भी उसका दान देना उत्तमपक्ष माना गया है। इससे पूर्वपक्षका स्वयं बाध हो जाता है। 'आश्वलायन-गृह्यसूत्र'में भी 'अनुस्तरणीम्' (४।२।४) इस सूत्रपर गार्ग्यनारायणने वृत्ति की है—'अत्रापि 'एके' ग्रहणं सम्बध्यते (अर्थात् यह अनुस्तरणी एकदेशी पक्ष है) तेन अनुस्तरणी अनित्या। कात्यायनेनाप्युक्तम्-'न वा अस्थिसन्देहादिति'...तस्मान्न भवतीत्यर्थः' (अतः 'अनुस्तरणी' अनित्य है, आवश्यक नहीं। बल्कि कई संदेह उपस्थित हो जानेसे नहीं होती) कइयोंके मतमें वहां अनुस्तरणी बकरी बनाई जाती है (४।२।६-७) पर यह सब कलिवर्जित होनेसे अब कर्तव्य नहीं।

(१२) ब्रह्मवैवर्त आदिका गोमांस वा गोयज्ञ।

पूर्वपक्ष—पुराणोंमें तो गौओंके मांसका भक्षण स्पष्ट आता है। देखिये—ब्रह्मवैवर्तपुराण—(क) 'गवां द्वादशलक्षाणां दत्तौ नित्यं मुदान्वितः। सुपक्वानि च मांसानि ब्राह्मणेभ्यश्च पार्वति! षट्कोटिं ब्राह्मणानां च भोजयामास नित्यशः, (प्रकृतिखण्ड ५०।१३-१४) यह सुयज्ञ नाम वाले राजाकी करतूत है जो

ब्राह्मणोंको नित्य १२ लाख गौओंका मांस खिलाया करता था; और देखिये—(ख)'गोमेधं च चतुर्लक्षं विधिवन्महदद्भुतम्। ब्राह्मणानां त्रिकोटिं च भोजयामास नित्यशः। पञ्चलक्षगवां मांसैः सुपक्वैर्घृतसंस्कृतैः' (२।५४।४८–४६) यहां स्वायम्भुव-मनुका अतिथि-ब्राह्मणोंको पांच लाख गौवोंका मांस खिलाना कहा है। (ग) इसी प्रकार 'पञ्चकोटिगवां मांसं सापूपं सान्नमेव च। एतेषां च नदीराशीन् भुञ्जते ब्राह्मणा मुने!' (२।६१।६६) यह चैत्र राजाका पांच करोड़ गौओंका मांस ब्राह्मणोंको खिलाना लिखा है—और देखिये—'(घ) भगवती सीता कहती है कि–जब मैं वनसे सकुशल लौट आऊंगी; तो ऐ गङ्गे! तेरे लिए हज़ार गौओंका यज्ञ करूंगी, सौ मदिराके घड़े तुझ पर चढ़ाऊंगी—'यक्ष्ये त्वां गोसहस्रेण सुराघट-शतेन च' (अयोध्याकाण्ड-(५५।२०)। वेदमें तो गोयज्ञ नहीं; पर पुराणोंमें तो स्पष्ट है; अतः आपके पुराण तो अवैदिक हैं। (ङ) तभी तो ब्रह्मवैवर्त-पुराणमें रुक्मिणीके विवाहके अवसर पर 'गवां लक्षं छेदनं च हरिणानां द्विलक्षकम्। चतुर्लक्षं शशानां च कूर्माणां च तथा कुरु। दशलक्षं छागलानां भेटानां तच्चतुर्गुणम्। पर्वणि ग्राम-देव्यै च बलिं देहि च भक्तितः। एतेषां पक्वमांसं च भोजनार्थं च कारय' (४।१०५।६४) यहां पर ४ लाख गौओं, २ लाख हिरनों, ४ लाख खरगोशों और कछवों, १० लाख बकरों तथा उससे चौगुनी भेड़ोंका मांस बनवाया गया। यह है पुराणोंकी देन। हम इन्हें नहीं मानते; इसी कारण हमें पुराणोंके गन्दे

फोड़ेका आपरेशन करना ही पड़ेगा। वेदमें जो ऐसा आभास होता है, वहां पर यौगिक शब्द इष्ट होनेसे फल आदिका अर्थ होता है, पर पुराणोंमें रूढ शब्द होनेसे उनमें यौगिकता करके अर्थान्तर नहीं किया जा सकता। (ठाकुर अमरसिंह आदि आर्यसमाजी)

उत्तरपक्ष—अब तक हम सुधारकोंको उत्तर देते रहे; अब आर्यसमाजियोंको भी–जो कि निष्कारण पुराणोंको कोसा करते हैं, अनभिज्ञ-जनतामें जिन्हें कलङ्कित किया करते हैं—उनको भी हम अपने क्रमसे उत्तर देते हैं; जिनसे इन सब आक्षिप्त-पद्योंका प्राकरणिक अर्थ 'आलोक' पाठकोंको ज्ञात हो जायगा।

इसपर हमारा वक्तव्य यह है कि–पुराण वेदरूप-सूत्रका ही भूतार्थवादरूप-भाष्य हैं। उनमें वेदके उदाहरण-प्रत्युदाहरणादि दिये गये हैं। सो हम इस विषयमें पुराणोंके मूल वेद-वचनोंको उद्धृत करते हैं। जो अर्थ वेदके उन मन्त्रोंका होगा; वही पुराणके तदनुसारी वचनोंका भी होगा। यदि वहां यौगिक अर्थ किया जावेगा; तो वेदानुसारी-पुराणोंमें भी वही होगा। 'सर्वाणि आख्यातजानि नामानि' यह सिद्धान्त श्रीयास्कका केवल वेदकेलिए नहीं है, किन्तु सार्वत्रिक है। यही 'अमर-कोष' की सुधाटीका करनेवाले श्रीभानुजीदीक्षितने शाकटायनादिके अभिप्रायसे लोकमें भी माना है। वैसे तो श्रीयास्कने सभी शब्दोंकी व्युत्पत्ति मानते हुए भी 'परिव्राजकः, तक्षा, भूमिजः, अश्वः, तृणम्' आदि पदोंके द्वारा वेदादिमें भी योगरूढिता 'पश्यामः

समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषाम्' (निरु. १।१४।२) इस अपने वचनके द्वारा 'नैकेषाम्' पदसे बता दी है। व्युत्पत्ति होने पर भी सबका नाम न हो, किसी विशेषका नाम हो, तो योगरूढ हो जाता है; किसी विशेष नाम वाले उस पदका व्युत्पत्त्यर्थ उसमें न मिले; तो वह रूढ हो जाता है; यह विषय हमारे 'श्रीसनातनधर्मालोक'के भिन्न निबन्धमें देखना चाहिये। अब प्रकृत विषय पर आइये।

इसमें वादीने अतिथि-ब्राह्मणोंको मांस खिलाना दिखलाया; अब इसे वेदमें देखिये—'एते वै प्रियाश्च अप्रियाश्च ऋत्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यद् अतिथयः' (अथर्व. ९।६।२३) यहाँ अतिथियोंको स्वर्गलोकका प्रदाता कहा गया है; और अतिथि ऋत्विक्को कहा गया है। ऋत्विक् बननेका अधिकार शास्त्रोंमें ब्राह्मणका आया है, जैसेकि मीमांसादर्शनमें—'स्मृतेर्वा स्याद् ब्राह्मणानाम्' (१२।४।३८), 'ब्राह्मणानां वा इतरयोरार्त्विज्याभावात्' (६।६।१८)। इसलिए ५।१।७१ पाणिनिसूत्रके महाभाष्यमें 'ऋत्विक्-कर्म अर्हतीति आर्त्विजीनं ब्राह्मणकुलम्' यहाँ भी ब्राह्मणको ही ऋत्विक् बननेका अधिकारी सूचित किया गया है। जब वेदके अङ्ग-उपाङ्गमें ऐसा है; तो वेदको भी वही इष्ट हुआ। मनुस्मृतिमें लिखा है—'संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके। अन्नं चैव यथा-शक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम्' (३।९९)। 'शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः। सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन्' (१००) यहाँ अतिथिसत्कार न करने पर बड़े भारी तपस्वीके भी

तपोमूलक-पुण्यकी क्षीणता कही है।

'इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति, यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति' (अथर्व. ९।६।३१) यहाँपर अतिथिसे पूर्व खानेवालेके पुण्यके फलका नाश कहा है। 'एष वा अतिथिर्यत् श्रोत्रियः, तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात्' (९।६।६७) यहाँ श्रोत्रिय-अतिथिसे पहले खाना अवैदिक बतलाया गया है। 'जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर् द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते' (अत्रिस्मृति १३८) इस वेदके उपाङ्ग धर्मशास्त्रके वचनमें विद्वान् एवं संस्कृत जन्म-ब्राह्मणको 'श्रोत्रिय' माना गया है; तब वेदके उक्त मन्त्रमें भी वही ब्राह्मण इष्ट है। 'अशितवति अतिथौ अश्नीयात्' (९।६।३८) यहाँ भी अतिथिके खा चुकने पर खाना कहा है, पूर्व नहीं। उक्त वेदके दो मन्त्रों—(जिनमें कहा गया है कि अतिथिसे पूर्व न खावे; अतिथिके बाद खावे) की इस मन्त्रमें भी अनुवृत्ति आ रही है—'एतद् वा उ स्वादीयो यद् अधिगवं क्षीरं वा मांसं वा, तदेव [अतिथेः पूर्वं] नाश्नीयात्' (९।६।३९) यहाँपर अतिथिसे पूर्व गोदुग्ध वा मांसका खाना निषिद्ध किया गया है। इससे सूचित होता है कि—अतिथिको खिलाकर फिर उसके अशनका निषेध नहीं। यही मन्त्र उक्त पुराणके आक्षिप्त वचनोंका मूल है। जो अर्थ इसका होगा; वही पुराण-वचनका भी हो जावेगा।

फिर अग्रिम-पर्यायमें अतिथिको जहाँ दूध (१) घृत (३) मधु (५) उदक (६) उपहारमें देना वेदने कहा है, वहाँ

एवं विद्वान् [अतिथये] मांसमुपसिच्य उपहरति' (९।६।४३) इस मन्त्रमें अतिथिको 'मांस'का उपहार देना भी बतलाया है।

'अपूपवान् मांसवान् चरुरेह सीदतु' (अ. १८।४।२०) यहाँ मांसवाला चरु बताया है। 'यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामिते' (१८।४।४२) यहाँ ओदनके साथ मांसका भी निपरण (दान) पितृ-श्राद्धमें कहा है। 'यत् ते मज्जा, यदस्थि, यन्मांसं, यच्च लोहितम्। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु। (१०।९।१८) 'मांसमेकः पिंशति सूत्रया' (ऋ. १।१६१।१०) 'ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासते' (ऋ. १।१६२।१२) 'यन्नीक्षणं मांस्पचन्या उखायाः' (१३), इत्यादि मांस-प्रतिपादक मन्त्रोंका जो अर्थ किया जावेगा, वेदानुसारी पुराणमें भी वही अर्थ होगा। वेदमें 'अतिथिग्वः' (अ. २०।२१।८) शब्द आया है, जिसका अर्थ है कि-जिसकी गौएँ अतिथिकेलिए हैं। अब यह सब पुराणमें भी घटा लीजिये। इससे जो अर्थ वेदमें होगा, वही वेदानुसारी पुराणोंमें भी हो जावेगा।

(घ) शेष है सीताका गोयज्ञ—'यक्ष्ये त्वां गोसहस्रेण' यह वचन गङ्गा-देवताकेलिए कहा है। 'इमं मे गङ्गे यमुने' (ऋ. १०।७५।५) इस मन्त्रमें गङ्गा आदि नदियोंको भी देवता मानकर उनकी स्तुति की गई है। 'देवांश्च याभिर्यजते' (ऋ. ८।२८।३) इस 'गावो देवता'वाले मन्त्रमें कहा गया है कि-जिन गौओंसे यजमान देवताओंका यजन करता है। तो जो अर्थ यहाँ होगा, वही श्रीसीताके वचनमें भी होगा; बल्कि वह सीताका वचन इसी

वेदमन्त्रकी व्याख्या है। सीताके वचनमें सुरा-घटका भाव मद्य-घट नहीं है, किन्तु सोम-घट है, चरकसंहिताके चिकित्सित-स्थानमें कहा है-'सोमो भूत्वा द्विजातीन् या [सुरा] युङ्क्ते श्रेयोभिरुत्तमैः' (२४।५) यहाँ द्विजोंकी सुरा सोमरस कहा गया है; जिसका वेदमें वर्णन है-'सुरया सोमः' (यजुः १९।५)। उसीका गङ्गाको दान कहा है। और गोदानसे गङ्गाका यजन (पूजन) कहा है। यज्-धातुका अर्थ देवपूजन तथा दान भी हुआ करता है।

अब शेष 'मांस' शब्दके विषयमें यह जानना चाहिये कि-'मांस' शब्दसे 'अर्शआदिभ्योऽच्' (पा. ५।२।१२७) इस सूत्रसे अच्-प्रत्यय होनेपर भी 'मांस' बनता है, उसका अर्थ है-'मांसम् अस्ति अनेन इति मांसम्' जिससे शरीरमें मांस बने, उसका नाम भी 'मांस' हुआ करता है; इसीका दूसरा पर्यायवाचक शब्द 'मांसल' हुआ करता है—'मांसं लातीति' यह इसकी व्युत्पत्ति है। तात्पर्य यह है कि-जो भी पुरुषके मांसको बढाकर पुष्ट करनेवाली वस्तु हो, उसीका नाम मांसल वा 'मांस' भी हुआ करता है; सो वह केवल जीवित-पशुके मांसका ही नाम नहीं; बल्कि फलोंके सारभाग (गूदे)का नाम भी मांस हुआ करता है। गत-निबन्धोंमें हम खजूरका मांस, बेरका मांस, आमका मांस, कुमारिका (कारबूटी)का मांस आयुर्वेदके ग्रन्थोंसे दिखला चुके हैं; सो जिस फलादिका भी पोषक जो अंश है; वह भी मांस होता है।

गत-निबन्धमें हम 'गोभिः श्रीणीत मत्सरं' यह 'निरुक्तोद्धृत मन्त्र देकर बतला चुके हैं; कि-श्रीयास्क गायके दूधका नाम भी

'गौ' कहते हैं, 'गोभिः स्वादुमकर्म श्रीणन्तः'। (ऋ. ८।२।३) मन्त्र-में श्रीसायणाचार्यने भी 'गोभिः—गवि भवैः क्षीरादिभिः श्रपणद्रव्यैः, श्रीणन्तः-मिश्रीकुर्वन्तः'—यह अर्थ लिखा है। 'वृक्षे-वृक्षे'का श्री-यास्क 'धनुषि' (२।६।१) अर्थ करते हैं, वृक्षकी लकड़ीसे बने धनुषका नाम वृक्ष इसीलिए ही माना गया है, इसीलिए ही निरुक्तमें उन्होंने कहा है—'अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति' (२।५।४) इसका भाव यह है कि—मूलशब्दमें तद्धित-प्रत्यय करके जो अर्थ निकलता है, वही अर्थ, विना तद्धिती-प्रत्यय किये हुए मूल शब्दसे भी निकलता है। इसी सिद्धान्तसे वृक्षके बने धनुषको भी वृक्ष कहा जाता है, गोकी तान्तकी बनी धनुषकी डोरीको भी 'गौः' कहा जाता है, जैसेकि—'वृक्षे वृक्षे (धनुषि) नियता (वद्धा) मीमयद् (शब्दं करोति) गौः (गोर्ज्या)। (ऋ. १०।२७।२२) इसी-लिए ही निरुक्तमें 'गो' शब्द 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ. ६।४६।४) में गो-दुग्धका, 'अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि' (१०।६४।६) में गो-चर्मनिर्मित पात्रका 'गोभिः सन्नद्धो असि' (६।४७।२६) में गो-श्लेष्माका, 'गोभिः सन्नद्धा' (यजु. २६।४७) में गोस्नावका, 'वृक्षे··नियता गौः' (ऋ. १०।२७।२२) में गोके तान्तकी डोरीका नाम भी 'गौः' कहा गया है।

इसी प्रकार वेदानुसारी पुराणमें भी। (ख) 'पञ्चलक्ष-गवां मांसैः' (ग) 'पञ्चकोटि-गवां मांसैः' आदि पद्योंमें पाँच लाख वा पाँच करोड़ गौओंके दूधके मांसका तात्पर्य है। हम पहले कह चुके हैं कि—फलों आदिके सारभाग गूदे आदिका नाम भी 'मांस' होता

है, इसमें हम उपवेद-आयुर्वेदके प्रमाण भी दे चुके हैं। एक उसमें वेदका प्रमाण भी दिया जाता है—'मांसं मांसेन रोहतु' (अथर्व. ४।१२।४) यहाँ एक ओषधिके मांसको हमारा मांस उत्पन्न करनेवाला कहा है। तो इससे सिद्ध हुआ कि—कोई भी वस्तु हो, उसके सारभागका नाम 'मांस' कहा जाता है। केलेके ऊपरका छिलका 'त्वक्' कहा जावेगा; और उसका भक्ष्य सारभाग मांसवर्द्धक-मांसल होनेसे 'मांस' कहा जावेगा और गुठलीको 'अस्थि' कहा जावेगा। सो गौओंके दूधका मांस-सारभाग क्या होगा? वह रसगुल्ला, खोया, रवड़ी, मलाई, खीर ही होगा; उसीको घृत-संस्कृत करके खिलाने पर कहा जा सकता है कि—'ब्राह्मणानां त्रिकोटिं स भोजयामास नित्यशः। पञ्चलक्ष-गवां मांसैः सुपक्वैः घृत-संस्कृतैः' मावा घृतसंस्कृत करके उत्तम-वर्फी रूपमें बन जाता है। इस अर्थका कारण हम पूर्व वता चुके हैं कि—गाय 'अघ्न्या' होती है, उसके हनन-प्रयुक्त प्राप्त होनेवाला मांस तो असम्भव है; सो हमसे किया हुआ ही अर्थ वहाँ इष्ट है। अन्य अर्थ यह है कि—'गो' शब्दसे गोधूम भी लिया जा सकता है, 'गोधूम'में 'धूम'का 'विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपः' (वा. ५।३।८३) इस वार्तिकसे लोप करने पर 'गो' शब्द बचता है, उसका सार भाग आटा—उसे घृत-संस्कृत करके ब्राह्मणोंको खिलाना भी उपपन्न हो जाता है। 'गावः तण्डुलाः' (अथर्व. ११।३।५) तथा 'अन्नं हि गौः' (शतपथ. ४।३।१।२५) इन प्रमाणोंसे 'गो'का चावल वा अन्न अर्थ भी ठीक है।

उक्त-स्थानोंमें गायका मांस अर्थ कभी बन भी नहीं सकता। जिस गोमाताके कारण वसिष्ठ एवं विश्वामित्रमें परस्पर संघर्ष हुआ, जिसकी रक्षाकेलिए दिलीपने शेरको अपना शरीर भी अर्पित कर दिया था—'स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत् पिण्ड-मिवामिषस्य' (रघुवंश २।५६) जिसकी सेवासे उसने अपने वंश-प्रवर्तक प्रसिद्ध रघु-पुत्रको प्राप्त किया। जिन गौओंकी रक्षार्थ भगवान् कृष्णने इन्द्रसे भी मुकाबिला किया, इन्द्रकी पूजाकी अपेक्षा गोपूजनको विशेषता दी, घास आदि द्वारा गौओंके बढानेवाले 'गोवर्धन' पर्वतकी भी पूजा प्रचलित की, जिनको चरानेकेलिए भगवान् कृष्णने एक वनसे दूसरे वनमें गोप बनकर भ्रमण किया, कांटे आदिकी परवाह भी नहीं की; अज्ञातवासमें स्थित अर्जुनने बृहन्नलाके रूपमें होकर दुष्ट कौरवोंसे गौओंकी रक्षा की, जो 'गोधन' नामसे प्रसिद्ध हैं, जिनकी पूजा पुराण-इतिहासमें प्रसिद्ध है, जिनकी पूजा अब तक भी पुराणोंकी कृपासे व्याप्त है, जो पुराणोंके अनुसार सब देवताओंकी आश्रयस्थली है, बकरीद आदि मुसलमानोंके पर्वमें जिसके वधको सुनकर हिन्दु जोशमें आकर लड़नेकेलिए तैयार हो जाते हैं, अपने प्राणोंकी परवाह भी नहीं करते; जिसके अज्ञानपूर्वक शेरके धोखे-के वधसे भी पृषध्र को शूद्रता प्राप्त होगई, जिसके वध हो जानेपर स्मृति-पुराणादिमें कठोर प्रायश्चित्त बताये गये हैं; उसका वध पुराणोंमें कभी सम्भव नहीं हो सकता। यह पुराणोंकी ही कृपा है-जो उन्होंने अब तक गायकी रक्षा की तथा कराई, एवं गो-

पूजा जारी कराई। यदि गोवध पुराणसम्मत होता; तो अब भी हिन्दुओंमें वैसी परम्परा होती। पर न होनेसे स्पष्ट है कि—'पुराणोंमें भी गोवधका विधान है' किन्हीं लोगोंका यह कथन भ्रमपूर्ण तथा प्रवञ्चनापूर्ण है; केवल पुराणोंको बदनाम करनेके-लिए एक बड़ा भारी षड्यन्त्र है। यदि शब्दोंका सीधा अर्थ सर्वत्र माना जावे; तो 'गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिवेदमरवारुणीम्। कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः' (हठयोगप्रदीपका ३।४७) यहाँ गोमांस खानेवाला तथा मद्य पीनेवाला कुलीन; तथा वैसा न करनेवाला कुलघाती माना जावेगा; पर इसका यथाश्रुत अर्थ कोई भी नहीं मान सकता; तब हमें इसकी जब परिभाषा मिलती है कि-'गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि। गोमांस-भक्षणं प्रोक्तं महापातकनाशनम्। जिह्वाप्रवेशसञ्जात - सुषुम्णा क्षोभसम्भवः। चन्द्रात् स्रवति यः सारः संवेह्यामर-वारुणी'—(हठयोगप्रदीपिका ३।४८-४६) तब पता लगता है कि-यह एक विशेष-शब्द है और योगविद्याका एक अङ्ग है। तब भ्रम हट जाया करता है।

शब्दोंका यथाश्रुत अर्थ किया जावे; तो 'प्रस्थं कुमारिकामांसं' में कोई अनभिज्ञ 'कारी लड़कीका एक सेर मांस' अर्थ कर लेगा; जबकि यह कुवांर-बूटीके मध्यस्थित सारभागका नाम है। अनभिज्ञ पुरुष 'कण्टकारिद्वयं छित्त्वा मधुना भक्षयेन्निशि'का दो जूते काटकर रातको मधुके साथ खानेका अर्थ किया करेगा; जबकि-यह एक ओषधिका नाम है-जिसे मधुके साथ खानेका

विधान है। तब स्पष्ट है कि-शास्त्रोंमें कहीं परोक्ष-शब्दसे भी कहा जाता है; अतः सर्वत्र शब्दोंका यथाश्रुत अर्थ कर लेना हानिप्रद हो सकता है। 'इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्ष-विद्विषः' (गोपथब्रा० ११११) 'वेदा ब्रह्मात्मविषया-स्त्रिकाण्ड-विषया इमे। परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च प्रियम्' (श्रीमद्भाग० ११।२१।३५) इस सिद्धान्तानुसार देवोपम-शास्त्रकार ऋषि-मुनियोंके शास्त्रोंमें परोक्षवाद भी हुआ करता है। जैसे 'उच्छिष्ट' जूठे भोजनको कहते हैं, पर वेदको परमात्माको 'उच्छिष्ट' (अ० ११।३।२१) शब्द कहना ही अच्छा लगता है। 'व्रात्य' अधम-ब्राह्मणको कहते हैं; पर वेद परमात्माको उसी 'व्रात्य' शब्दसे कहकर उसकी पूजा बताता है (अथर्व० १५।३।१)। 'वशा' वन्ध्या-गायका नाम है, पर वेद उत्तम-गायका नाम ही 'वशा' तथा उसका दान बताता है। 'अपान' गुदाका नाम है, पर वेदमें 'व्रात्यका अपान' पौर्णमासी, अष्टका, अमावास्या, श्रद्धा, दीक्षा, यज्ञ और दक्षिणाका नाम (अथर्व० १५।१६।१-७) आया है। वृषणौ-जो लोकमें अण्डकोषवाची है; उससे अश्वियोंको सम्बोधन किया जाता है कि-'कामानां वर्षितारौ' (ऋ० १।११८।१) इसी प्रकार वेदानुसारी पुराणोंमें भी कई अर्थ लोकमें उस अर्थमें अप्रचलित-परोक्ष शब्दोंसे कहे जाते हैं। सो बिना इस बातको जाने सर्वत्र शब्दमात्रका तत्कालमें लोक-प्रसिद्ध वाच्यार्थ करने लग जाना, अपनी अल्पज्ञताका परिचय देना है। ऐसा करना, बिना मन्त्र जाने सांप-बिच्छूके बिलमें

हाथ डालना है। अतः पुराणके वचनमें भी वेदकी भान्ति ... भ्रम न करना चाहिये।

उसी ब्रह्मवैवर्त-पुराणमें-जिसके पद्योंसे प्रतिपक्षी गो... बताते हैं—'कामतो गोवधे राजन्! वर्षं तीर्थे भ्रमेन्नरः। यव... वकभोजी च करेण च जलं पिबेत्' (२।५१।२५) 'तदा धेनु... दिव्यं ब्राह्मणेभ्यः सदक्षिणम्। दत्त्वा मुच्यति पापाच्च भोजयि... द्विजं शतम्' (२६) प्रायश्चित्ते च क्षीणे च सर्वपापान्न मुच्य... पापावशेषाद् भवति दुःखी चाण्डाल एव च' (२७) इत्या... गोवधमें पाप एवं प्रायश्चित्त कहे हैं; तब ऐसा बताने वाले ... ब्रह्मवैवर्तमें गोमांस उत्तरपक्ष कैसे हो सकता है, क्योंकि-गोमां... गोवधके विना प्राप्त नहीं हो सकता-यह भी तो आक्षेप्ता ... पक्षियोंको ठंडे मस्तिष्कसे सोचना चाहिये?

(क) 'गवां द्वादश-लक्षाणां ददौ नित्यं मुदान्वितः' (४।... ब्रह्मवैवर्तपुराणके इस आक्षिप्त-पद्यका 'सुपकानि च मांस...' (१४) इस वादिदत्त-पद्यसे कोई भी सम्बन्ध नहीं; क्योंकि-... पद्यका 'च' उसे-१३ वें पद्यसे पृथक् कर रहा है, अतः ... गोमांस भी विवक्षित नहीं, किन्तु १२ लाख गौवोंका दान ... यह अत्यन्त स्पष्ट है। वहीं 'पूपमन्नं च सूपान्नं सगव्यं ... वर्जितम्। विप्रा भोजन-काले च मनुवंशसमुद्भवम्' (१६) ... पूर्वपद्यके साथके इस पद्यमें ब्राह्मणोंको मांस-वर्जित-चूष्य, ... लेह्य, पेय अन्न देना कहा है; तब पहले मांस कैसे कहा जा सकता ... यह बात समझनेमें क्या प्रतिपक्षियोंका दिमाग सक्षम नहीं!...

परस्परविरुद्ध-वचन भी प्रामाणिक हो सकता है ? अतः स्पष्ट है कि-वहां 'मांस'का तथाकथित अर्थ नहीं; किन्तु 'मांस'का अर्थ 'मांसल पदार्थ' है। 'अतो माषान्नमेवैतद् मांसार्थे ब्रह्मणा स्मृतम्' (१५२) प्रजापति-स्मृतिके इस प्रमाणसे महापौष्टिक माष मांसके अर्थमें माना जाता है, इससे कोई परस्पर-विरुद्धता नहीं रह जाती। गायका दूध भी उसके साथ होने पर 'मांस' शब्दसे 'माषकी खीर' भी ली जा सकती है।

(ख) इसी प्रकार 'पञ्चलक्षगवां मांसैः'का भी यही अर्थ है। 'गो'का अर्थ निरुक्तानुसार 'गोदुग्ध' है, उसका 'मांस'-मांसल पदार्थ—खीर-मावा आदि होता है। उसीका अवलम्बन करने वाले स्वायम्भुव राजाके 'गोपालक, कृष्णका दास्य तथा गोलोक-गमन' (५४।५५) यह कर्म आये हैं, सो वह गोभक्तिमें तो उपपन्न है, गोवधमें नहीं। इससे स्पष्ट है कि-आक्षेप्ता लोग पुराणोंका पूर्वापर तो देखते नहीं, केवल लोकदृष्टिमें उन्हें गिरानेकेलिए भ्रामक-वचन उपस्थित कर दिया करते हैं। यह केवल पुराणोंसे द्वेष तथा अपने पुराणनिन्दक-सम्प्रदायकी अन्धी भक्तिके ही कारण है, अन्य कुछ नहीं। उक्त वचनोंमें कहीं भी गौका 'वध' नहीं कहा गया।

(ग) भागका उत्तर दिया जा चुका है। (घ) 'पञ्चकोटिगवां मांसं सापूपं स्वन्नमेव च' (ब्रह्मवै० २।६१।६८) इस पौराणिक-पद्यको 'अपूपवान् मांसवान् चरुरेह सीदतु' (अथर्ववेदसं० १८।४।२०) इस वेदमन्त्रकी व्याख्या समझना चाहिये। सो पुवेके साथ 'मांस'से

'खीर'का भाव समझना चाहिये, क्योंकि-पुवेके साथ खीर ही खिलाई जाती है। तभी इस पद्यसे पूर्व उस धार्मिक-राजा (२।६१।६६) चैत्रकी 'शतनद्यो घृतानां च, दध्नो नद्यः शतानि च। शतानि नद्यो दुग्धानां, मधुनद्यश्च षोडश। मिष्टान्नानां स्वस्तिकानां लक्षराशिश्च नित्यशः' (६१।६६-६७-६८) यहां पर गायकी दूध, दही, घृत तथा मिष्टान्नकी नदियां बताई गई हैं, उनके साहचर्यसे गायके मावे तथा खीरका वर्णन ही संगत है। मांसका वर्णन अपेक्षित होनेपर तो गो-रक्त, गोमज्जा तथा गोमेदकी नदियां बताई जातीं; पर न बतानेसे गोमांसका अर्थ वहां सम्भव हो ही नहीं सकता—यह अत्यन्त स्पष्ट है। किसी पद्यका अर्थ पूर्वोत्तर-प्रसङ्गसे सम्बद्ध हुआ ही संगत होता है। यह हुआ आक्षिप्त-पद्यका पूर्वका प्रकरण; अब उसका उत्तर (आगेका) प्रकरण भी देखना चाहिये। वह यह है—'गवां लक्षं च रत्नानां मणीनां लक्षमेव च' (६१।६६) ददौ द्विजातये राजा नित्यं च जीवनावधि' (१०१) यहां पर गौओं, रत्न, सोना तथा वस्त्रादिका प्रतिदिन दान कहा है। सो गोदानके साथ गोवध नहीं कहा जा सकता, किन्तु गोदुग्धके खीर-मावा आदि ही वहां पूर्वापर-प्रकरणसे अनुगृहीत हैं।

उक्त-वचनोंमें कहीं गौका वध कहा भी तो नहीं कहा गया; तब 'पञ्चकोटि-गोमांस' शब्द पर आक्षेप्ताओंको विचारना चाहिये कि-५ करोड़ गौओंके मांसको अन्न-सहित और पुवे सहित खानेकेलिए जितने ब्राह्मणोंकी आवश्यकता हो सकती है;

उतने ब्राह्मण तो सारे भारतवर्षमें भी नहीं मिल सकते थे; क्योंकि—एक गायका मांस २०० पुरुषोंसे कमका भक्ष्य नहीं हो सकता; तब पांच करोड़ गौओंका मांस खानेकेलिए एक स्थान पर १० अर्ब ब्राह्मण एक राजाके स्थान पर कैसे बैठ सकते थे ? हां, गोदुग्धका मांस-मांसल खोया आदि यहां माना जावे; तब वहां कोई अनुपपन्नता नहीं दीखती, यह प्रतिपक्षीको स्वयं विचारना चाहिये; और फिर यह कार्य नित्यका कहा है, और फिर लक्ष-गोदान भी वहां नित्यका कहा है; अतः दान आदिमें तो यहां उपपन्नता है, गोमांस अर्थमें नहीं; क्योंकि—यहां गोवध कहीं भी नहीं कहा; वल्कि गोवधका पुराणमें सख्त निषेध ही किया है। तब विना गोवधके गोमांस कहांसे आवे ? सो यहां मांसका मांसल (खोवा) आदि ही अर्थ है, मांस नहीं। निरुक्तकारने १।१७।२ में गायको 'मुसाफिरीका भोजन' माना है; तब क्या आक्षेप्तागण यहां भी गायका मारना अर्थ कर लेंगे ? नहीं, जैसे—यहां गायसे गोदुग्धकी वस्तुएँ इष्ट हैं, वैसे प्रकृतमें भी समझ लेना चाहिये। दुग्धका मांस भी उसका दूसरा-तीसरा परिणाम रबड़ी-रसगुल्ला आदि हैं।

(ङ) ब्रह्मवैवर्त-पुराणस्थित रुक्मिणीके विवाहपर जो प्रतिपक्षियों द्वारा आक्षेप किया जाता है, वह रुक्मीका प्रस्ताव था, जो कि आसुरी प्रकृतिका था और शिशुपाल आदि दैत्योंके साथ संगति रखा करता था। सो दैत्योंकेलिए तो यह वात सम्मत हो सकती है; पर रुक्मीके पिता श्रीभीष्मक 'पुण्यात्मा, सत्यशील

तथा नारायणांश और धार्मिक थे (४।१०५।१-२)। उनको यह बात पसन्द न थी कि शिशुपाल-दैत्य मेरी लड़की रुक्मिणीका पाणिग्रहण करे। राजा भीष्मकने शतानन्दके वतानेसे (१०५।२९) भगवान् श्रीकृष्णसे ही रुक्मिणीका विवाह स्थिर किया था। उसने एकान्तमें मन्त्रीके साथ विचार करके श्रीकृष्णके पास एक ब्राह्मणको रुक्मिणीसे विवाहार्थ वारात लानेकेलिए भिजवा दिया था (१०५।६५) जब श्रीकृष्णकी वारात आगई, उस समय श्रीबलरामने रुक्मीको हराकर वांध दिया, शाल्व तथा शिशुपाल तथा दन्तवक्त्रको मार-पीटकर भगा दिया (१०७।१-१६)। तब रुक्मीका वैवाहिक पशु-हिंसाका प्रस्ताव खटाईमें पड़ गया, उसमें एक मक्खी भी नहीं मारी गई। जब दैत्यसेना ही भगा दी गई, और रुक्मीको जृम्भकास्त्रसे वांध दिया गया, इससे रुक्मीके प्रतिपक्षियोंसे उपक्षिप्त बात पूरी न हुई। तब प्रतिपक्षी लोग दैत्योंके साथी बनकर बलात् पुराणोंको बदनाम करके क्यों अपनी दैत्यताका परिचय देते हैं ? वहां तो 'समागत्य सुरान् विप्रान् भूतांश्च प्रणनाम सः। ददौ योग्याश्रमं तेभ्यो भक्ष्यपूर्णं सुधोपमम्। दिवानिशं चाप्युवाच दीयतां दीयतामिति' (१०७।३३-३४) भीष्मकका अमृतमय 'अमृतं क्षीर-भोजनम्' भोजन देना कहा है, उसमें मांसकी कुछ भी चर्चा वा गन्ध भी नहीं। बल्कि वहां 'प्रददौ मुदा। दुग्धवती-धेनूनां च सवत्सानां सहस्रकम्' (१०६।४२-४३) गोदान ही कहा है, गोवध नहीं। आर्यसमाजी यदि सचमुचका ही गोयज्ञ देखना चाहते हैं तो अपने प्रश्न-

सत्यार्थप्रकाशादि-ग्रन्थोंको देखें; जिनमें केवल तीन सालके बाद श्राद्ध की ही प्रक्षिप्तता बताई गई थी; अन्य विषयोंकी नहीं। और उस प्रथम-स.प्र.के शुद्धपत्र (पृ. ३)में भी अशुद्धियोंमें मुद्राऽशुद्धि तो बताई गई हैं; उनमें इन भागोंकी प्रक्षिप्तता नहीं बताई गई। अब स्वा.द.जीके उन उद्धरणोंको पाठक देखें। जैसे कि-'जो वन्ध्या गाय होती है, उसको भी गोमेधमें मारना लिखा है। 'स्थूल-पृषतीमग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत' यह ब्राह्मणकी श्रुति है। इसमें स्त्रीलिङ्ग और स्थूलपृषती विशेषणसे वन्ध्या गाय ली जाती है; क्योंकि वन्ध्यासे दुग्ध और वत्सादिकों की उत्पत्ति होती नहीं।...जो मांस खाय, अथवा घृतादिकोंसे निर्वाह करे, वे भी सब अग्निमें होमके बिना न खाय, क्योंकि जीवको मारनेके समय पीड़ा होती है, उसमें कुछ पाप भी होता है, फिर जब अग्निमें वे होम करेंगे; तब परमाणुसे उस प्रकार सब जीवोंको सुख पहुँचेगा। एक जीवकी पीड़ासे पाप भया था, सो भी थोड़ा सा गिना जायगा, अन्यथा नहीं' (१० समु. पृ. ३०३) अन्य भी बहुतसे स्वामीजीके उद्धरण हैं; इन्हींसे आर्यसमाजमें 'मांस-पार्टी'का जन्म हुआ।

अन्य देखिये—प्र.स.प्र.के ४५ पृष्ठमें 'मांसादिक'से हवन भी लिखा है 'मांसके पिण्ड देनेमें कुछ पाप नहीं' (पृ. १४६)। 'यज्ञके वास्ते जो पशुओंकी हिंसा है, सो विधिपूर्वक हनन है' (पृ. १७१) 'बहुत पशुओंवाला होम करके हुतशेषका भोक्ता.. प्रशंसाको प्राप्त होता है' (यजु. स्वा.द.का भाष्य १६।२०)। स्वामीजीने स.प्र.

द्वितीयावृत्तिमें भी मांसभक्षण १०म समुल्लासमें लिखा था, पर मुन्शी-समर्थदानने उसे निकाल दिया। देखिये इसमें स्वा.द.के समयसे २५ वर्ष पर्यन्त प्रधान रहनेवाले कट्टर आर्यसमाजी 'रा. ब. मूलराज एम. ए. का लेख 'दशप्रश्नी'के निम्न उद्धरणमें स्पष्ट है—(प्रश्न ६) 'क्या श्रीस्वामीजीके ग्रन्थ जैसे उन्होंने बनाये थे, वैसे ही चले आते हैं? (उत्तर ६) नहीं। स.प्र. प्रथम बार १८७५में तथा सं. वि. १८७७में छपे थे। इन ग्रन्थोंमें कई ऐसे विषय हैं, जिनका इनमें एक प्रकारका वर्णन पाया जाता है; और इन्हींके दूसरे संस्करणोंमें जो कि-स्वामीजीके देहान्तके उपरान्त छपे हैं, दूसरे प्रकारसे मिलता है। पहले स.प्र.में पृ. ३०१-३०२ में श्रीस्वामीजीने यह शिक्षा दी थी कि-'मांस तथा अन्य खाद्य-पदार्थोंको होमनेके पश्चात् सेवन किया जावे। इसी प्रकार पहली सं.वि.में (पृ. ४२) उन्होंने बच्चोंको तीतरका शोरवा पिलानेका विधान किया था।...सन् १८६१ के आरम्भमें मुन्शी समर्थदान भूतपूर्व मैनेजर वैदिक यन्त्रालय (अजमेर) मुझे अमृतसरमें मिलने आये; उन्होंने उस अवसर पर मुझे बताया कि-श्रीस्वामीजीने स.प्र.के दूसरे संस्करणके भक्ष्य-अभक्ष्य सम्बन्धी १०वें समु. में मांस खानेकी इजाजत दी हुई थी, परन्तु क्योंकि-उन दिनों वह (समर्थ-दान) मांस भोजनके विरोधी थे; उन्होंने श्रीस्वामीजीकी अनुमतिके विरुद्ध अपनी इच्छानुसार उन पंक्तियोंको छपने नहीं दिया। जब उसी वर्ष सितम्बरमें मैं (मूलराज एम. ए.) परोपकारिणीकी बैठकमें शामिल होनेकेलिए

अजमेर गया, तो उन्होंने मुझे वही मूल हस्त-लिखित ग्रन्थ निकलवाकर दिखलाया; जिसमें श्रीस्वामीजीने उन मांस-विषयक पंक्तियोंको अपने हाथसे लिखा हुआ था। ग्रन्थ इस समय वैदिक-यन्त्रालय अजमेरमें सुरक्षित है। अब तक कितने ही और व्यक्ति भी उसे देख चुके हैं' (दशप्रश्नी पृ. ६-१०)। अस्तु, उनके द्वितीय स.प्र. तथा सं.वि.में अब भी उसके संकेत हैं-यह फिर कभी बताया जायगा। फलतः पहले आर्यसमाजको अपना घर देखकर पीछे दूसरों पर आक्षेप करना चाहिये। हमने तो पुराणोंके आक्षिप्त पद्योंका समाधान कर दिया है, जिसे पाठकोंने देख लिया।

---

(१३) वधूकी गो-चर्मपर स्थिति

पूर्वपक्ष—(क) प्राचीन धर्मशास्त्रों और गृह्यसूत्रोंके अध्ययनसे पता चलता है कि-प्राचीन-कालमें सोमलता गो-चर्मपर ही रख-कर कूटी जाती थी—यह निरुक्तमें प्रसिद्ध है। (ख) विवाहकी समाप्तिमें वधूको 'आनडुहे आर्षभरोहिते चर्मणि वधूमुपवेशयति' सर्वप्रथम लाल बैलके चमड़ेपर बैठाया जाता था। कहीं 'गो-चर्मणि' पाठान्तर भी है, वहाँ गायका चमड़ा लिया जायगा। इससे स्पष्ट है कि-प्राचीन आर्य गोभक्षक थे। (सरिता)

उत्तरपक्ष—गायके चमड़े पर सोमलता कूटनेसे आर्योंके गोभक्षणका क्या सम्बन्ध ? क्या वहाँ स्वयं-मृत पशुका चमड़ा नहीं माना जा सकता, जैसाकि-आज भी ब्रह्मचारी आदि मृग-

चर्म पहरते हैं। आजकल क्या चमड़ोंके जूते हिन्दु लोग नहीं पहनते; तब क्या वे गायको स्वयं मारते वा खाते हैं ? सोमलता चर्म पर कूटी जाती हो-यह तो सम्भव है; पर गो-चर्मका वहाँ तात्पर्य आवश्यक नहीं। निरुक्तकारने यहाँ 'गो' शब्दका अर्थ पशु किया है-धेनु नहीं-यह पहले ही लिखा जा चुका है। श्री-यास्कने वहाँ लिखा है कि-पशुके अंशोंको भी 'गौः' कहा जाता है; वहीं यह भी लिखा है—'अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि'-इति अधिषवण-चर्मणः। (२।५।५) यहाँ 'गो' शब्द 'अधिषवणचर्म-या चर्म या श्लेष्मा, स्नावा, ज्या, इषु, सूर्य, सूर्य-रश्मि आदिका वाचक बताया गया है, केवल गायकी इन वस्तुओंका नाम नहीं बताया गया; वहाँ 'गो' शब्द श्रीयास्कने पश्वर्थक ही रखा है, धेन्वर्थक नहीं। आज भी चमड़ेके कुप्पे-कुप्पियाँ होते हैं-जिनमें घी वा तेल रखा जाता है-यह आवश्यक नहीं कि वह गायके ही हों; वह ऊँट आदिके चमड़ेके भी होते हैं; पशु वहाँ मृतक होता है। जीवित पशुको मारनेका इससे विधान नहीं हो जाता।

(ख) अब विवाहान्तमें प्रयुक्त 'अनुगुप्ते आगारे आनडुहे आर्षभे रोहिते चर्मणि वधूमुपवेशयति' (पार. १।८।७) विवाह-पद्धतिमें प्रयुक्त इस वचनपर विचार किया जाता है। यद्यपि इसमें भी पूर्वकी भांति उत्तर है कि-स्वयं मृत गाय-बैलके चर्मपर वधूके बैठानेमें वादीकी कुछ भी इष्ट-सिद्धि नहीं; तथापि वस्तुतः यहाँ और बात है। यहाँ बैलके चमड़ेका अर्थ हो भी नहीं सकता; क्योंकि-अनडुह् भी बैलका नाम होता है, और ऋषभ

भी; अतः यहाँ दोनोंके कहनेसे पुनरुक्ति दोष होगा। वस्तुतः रहस्य यह है–'अनड्वान् वृषभः प्रोक्तस्त्वनड्वान् मुख्य आलये। नारीयुक् प्रज्वलद्दीपमनडुत् कौतुकं गृहम्' इस रन्तिकोषके प्रमाणानुसार 'अनडुह्' शब्द मुख्य-गृहका वा विवाहमण्डपस्थित कौतुकागारका वाचक है। 'अनो वहति-इति अनड्वत्' यह अनडुह् शब्दका निर्वचन है, पति-पत्नीरूप रथको धारण करने वाले मुख्य निवासगृहका नाम भी उक्त-कोषानुसार 'अनडुह्' ठीक है। वाचस्पत्यकोषमें 'अनडुद् आसन्नदेशादौ' लिखा है, सो विवाहमण्डपासन्न-देश कौतुकागार ही है, वहीं वधूको बिठाना उपपन्न भी है।

'आर्षभे'का अर्थ है—'ऋषिभिः श्रेष्ठतया स्वीकृते, अर्थात् ऋषिसम्मत या श्रेष्ठ। 'पुरुषर्षभ'में 'ऋषभ'का अर्थ 'श्रेष्ठ' ही होता है। यदि 'ऋषभ'का अर्थ 'बैल' माना जावे; तो 'आनडुहे आर्षभे' इनमें पुनरुक्ति हो जायगी, जो अनिष्ट है। 'रोहिते चर्मणि'–मृग-चर्मपर वधूको बैठावे। 'रौहिते'के स्थान पर 'रोहिते' यह वृद्धिरहित पाठ 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' इस परिभाषासे वृद्धिकी अनित्यताके कारण है। यदि 'लोहिते' पाठ हो; तो सूर्यकी प्रथम-किरणसे लाल उस आसन पर वधूको बैठावे। श्रीनिवाहुरामने अपनी विवाहपद्धतिमें उक्त शब्दसे 'चर्म-शब्दः शाणवाचकः' इस वाचस्पत्य-कोषके अनुसार सनका 'टाट' लिया है।

कहीं यदि 'गो-चर्मणि' पाठ हो; तो वह भी वहां पारिभाषिक होगा। वह परिभाषा यह है–याज्ञवल्क्यस्मृतिकी मिताक्षरा

टीकामें 'दशहस्तेन दण्डेन त्रिंशद्-दण्डनिवर्तनम्। दश तान्येव गोचर्म' यह उसका लक्षण लिखा हैं। 'गृह्यासंग्रह'में भी कहा है—'ऋषभैकशतं यत्र गवां तिष्ठति संवृतम्। बालवत्स-प्रसूतानां गोचर्म इति संविदुः' (१।३६) (जहां १०० बैल तथा गौएँ अपने बछड़े-समेत बैठ सकें; वह भूभाग 'गोचर्म' होता है) उक्त पुस्तकके चन्द्रकान्त-भाष्यमें कहा है—'गवां शतं वृषश्चैको यत्र तिष्ठेदयन्त्रितः। एतद् गोचर्ममात्रं तु प्राहुर्वेदविदो जनाः' (जहां १०० गौएँ तथा एक बैल खुले बैठ सकें, वह भूभाग 'गोचर्म' है। 'पद्मचन्द्रकोष' (१३६ पृष्ठ)में 'गोचर्मन्'का अर्थ—'पृथिवीका परिमाण १०० गज लम्बा, ३ गजके निकट चौड़ा' यह किया है। बृहस्पतिस्मृतिमें लिखा है—'सवृषं गोसहस्रं तु यत्र तिष्ठत्यतन्द्रितम्। बालवत्सप्रसूतानां तद् गोचर्म इति स्मृतम्' (९)।

इस प्रकार यहाँ 'गोचर्म' उस स्थानका नाम हुआ, जहां एक सौ बैल-गाय समा सकें। यह अर्थ यहां संगत भी है, क्योंकि जहां 'चर्मणि वधूमुपवेशयति' यह लिखा है, वहां यह भी लिखा है—'इह गावो निषीदन्तु इह अश्वाः, इह पूरुषाः' (पार. १।८।७) अर्थात्–'यहां गौएँ, घोड़े और पुरुष बैठें'। 'गोचर्म'का अर्थ बैल वा गायका चमड़ा होनेपर उसपर गौएँ, घोड़े, पुरुष सभी नहीं समा सकते। पूर्वोक्त भूमि माननेपर संगति ठीक बैठ जाती है। फलतः, शब्दका यथाश्रुतमात्र अर्थ करना असङ्गत हो जाया करता है, पूर्वापर सब देखकर ही किया हुआ अर्थ निर्दोष हुआ करता है।

'दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वान्' (यजु २२।२२) इससे जब वाजसनेयी-संहिताने गायका वैदिक-महत्त्व सारे संसारमें स्थापित कर दिया। जबकि-मनुस्मृतिके ११ वें अध्यायमें महापातक-उपपातकोंका वर्णन करके उनकी शुद्धि एवं प्रायश्चित्तकेलिए गोदान तथा गोपूजा आदि कहकर गायकी स्मार्त महत्ता भी स्थापित की है। जबकि विवाहमें दान ली हुई कन्याके भारावतारणार्थ वर-द्वारा गोदान कराकर गायका सौत्र-महत्त्व भी स्थापित किया जाता है। जहांपर प्रेतके उद्धारार्थ गो-दान कराकर गायका धार्मिक-महत्त्व भी स्थापित किया जाता है; जबकि-नन्दनन्दनने गोपाल बनकर गौओंको चराकर गायका ऐतिहासिक-महत्त्व भी स्थापित कर दिया है, व्यावहारिक-महत्त्व तो जिसका बहुत ही प्रसिद्ध है, तब विवाह-संस्कारमें गोवध-मूलक चर्म रखा जावे-यह अश्रद्धेय बात है; अतः उसका हमसे पूर्व कहा हुआ ही अर्थ संगत है।

---

(१४) उत्तररामचरितका वत्सतरी-विशसन।

पूर्वपक्ष—उत्तररामचरितनाटकके चतुर्थाङ्कमें सौधातकि तथा दाण्डायनके संवाद-द्वारा वसिष्ठ-ऋषिकेलिए वाल्मीकि-आश्रममें वत्सतरी (बछिया) मारी गई थी; इससे भी प्राचीनकालमें आर्य गोभक्षक थे-यह सिद्ध हो रहा है (श्रीरजनीकान्त शास्त्री बी. ए. 'हिन्दुजातिका उत्थान और पतन'में)।

उत्तरपक्ष—'यह कर्तव्य है-यह अकर्तव्य है-इसमें शास्त्र ही

प्रमाण होता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें लिखा है—'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याऽकार्यव्यवस्थितौ' (१६।२४)। नाटक शास्त्रकोटिमें नहीं आ सकता। तब उसका प्रामाण्य भी क्या हो? इसके अतिरिक्त उत्तररामचरितमें यद्यपि सीता-रामचरित्र है; तथापि उसमें वाल्मीकि-रामायणसे भिन्न बहुत-सी बातें मनः-कल्पित हैं। आत्रेयी आदि बहुतसे पात्र कल्पित बनाये गये हैं। उनका वेदान्त आदि वाल्मीकिसे पढ़ना सब मनघड़न्त जोड़ा गया है। वाल्मीकिरामायणमें किसीके सत्कारमें वत्सतरीका विशसन नहीं कहा। श्रीवसिष्ठने विश्वामित्रका सत्कार फल-फूलोंसे किया; न कि गायके विशसनसे। जैसे कि रामायणमें-'स्वागतं तव चेत्युक्तो वसिष्ठेन महात्मना। आसनं चास्य भगवान् वसिष्ठो व्यादिदेश ह। उपविष्टाय च तदा विश्वामित्राय धीयते। यथान्यायं मुनिवरः फलमूलमुपाहरत्' (१।५२।२-३)। यदि वसिष्ठ अपना सत्कार वत्सतरीके मांससे कराते; तो कोई कारण नहीं था कि वे विश्वामित्र-ऋषिका वैसा सत्कार न करते। उसी नाटकमें उद्धृत किये हुए 'श्रोत्रियाय अभ्यागताय वत्सतरीं महोक्षं वा निर्वपन्ति गृहमेधिनः' इस कल्पसूत्रके वचनके 'निर्वपन्ति'का अर्थ 'ददति' है, 'घ्नन्ति' नहीं; टीकाकारोंने भी वही किया है। जब ऐसा है तो वहां वत्सतरीका दान कराना चाहिये था-विशसन (काटना) नहीं; जब वसिष्ठस्मृतिमें पाठ 'महोक्षं' 'महाजं' है; तो यहां वत्सतरी कैसे आ गई? और फिर मांस अनिवार्य होनेपर जनकका मधुपर्क भी 'समांस' होना चाहिये था, पर वहां

वत्सतरीको नहीं काटा गया।

उत्तररामचरितकारको वह व्यवहार (वत्सतरी-विशसन) इष्ट नहीं; बल्कि-वैसे करानेवालेको व्याघ्र वा वृक कहलवाकर उस अर्थका उपहास किया गया है। वसिष्ठको वहां वैसा पात्र बताकर वसिष्ठस्मृतिके पहले बताये वचनको कइयोंके मतमें वैसे अर्थ-वाला सूचित किया गया है, पर वसिष्ठकी वैसी घटना न वाल्मीकि-रामायणमें कहीं संकेतसे भी आई है, न ही वसिष्ठ-वचनका वह अर्थ है-यह हम पूर्व बता चुके हैं; तब वैसा अर्थ भी निर्मूल है।

वस्तुतः यहां और रहस्य है, गायका दूध प्रायः अतिथिके कार्यमें लग जानेसे वह वत्सतरी (बछिया)केलिए नहीं बचा होगा; इसलिए वह बेचारी भूखसे बिलबिलाती होगी। यही 'वत्सतरी मड़मडायिता'से संकेत मिलता है। सो अतिथ्यर्थ वत्सतरी-विशसन यहां भी हो जाता है। श्रीजनकने क्षत्रिय होनेसे वा वानप्रस्थ होनेसे मुनिकी गायका दूध आदि स्वीकार नहीं किया; इसलिए वहां उसकेलिए कहा है—'वत्सतरी विसर्जिता'।

——

(१५) समांस मधुपर्क।

पूर्वपक्ष—प्राचीनकालमें अतिथिसत्कारकेलिए भी मधुपर्क-निर्माणके हेतु गोहत्या आवश्यक कर्तव्य थी। 'न त्वेव अमांसोर्घः स्यात्' (पार. १।४।२६) यहां मधुपर्कके समय मांससहितता

ही आदिष्ट की गई है। (बंसल)

उत्तरपक्ष—यह भी बात ठीक मालूम नहीं होती, मधुपर्कमें दधि, घृत, मधु वा चीनी यह मीठी वस्तुएँ होती हैं, यहां गोमांसका काम भी क्या? यह मधुपर्क वरकी पूजा होती है। जब वह मधुपर्क ही सारा नहीं खाता; तो एक समूची गाय ही कैसे निगल लेगा? यह तो फिर 'चर्मतन्तौ महिषीं हन्ति' चमड़ेकी तन्तुकेलिए समूची भैंसको मारना होगा, १००-२०० आदमियोंका भक्ष्य एक वर कैसे खावेगा? और यह भी सुना जाता है कि-मांसकी वस्तुएँ नमकीन ही बनती हैं, तो मधुपेयके समय नमक वा मांसका काम ही क्या? अघ्न्या (अहन्तव्या), अदिति (अखण्डनीया), अही (न हन्यते) होनेसे वहाँ गाय गृहीत हो ही कैसे सकती है? उस समय 'माता रुद्राणां-दुहिता वसूनां ··मा गामनागामदितिं वधिष्ट, मम चामुष्य च पाप्मानं हनोमि' (१।३।२७) पारस्करगृह्यसूत्रस्थ, यह मन्त्र पढ़ा जाता है, इसमें कहा है कि-इस निरपराध अदिति (अखण्डनीया) गायको ऐ चेतनावान (समझदार) मनुष्य! मत मार, मैं अपने पापको मारता हूँ'; जबकि इसमें ऐसा अर्थ है, तो उस अदिति-गायका मारना ही कैसे सम्भव हो सकता है? और फिर वहाँ वध अनिवार्य होता; तो 'यदि उत्सिसृक्षेत्' यह उत्सर्ग (त्याग) पक्ष ही न होता। अतः वहाँ 'आलभेत'का अर्थ पूर्वरीत्या स्पर्श ही समझना चाहिये। 'समांसोऽर्घः'का हमारे विचारमें 'मधुपर्क-रूप अर्घ समांस हो' का भाव मधुपर्क-

की मांसलतासे है, अर्थात्-उस समयके दधि, मधु, नवनीत वा घृत मांसल (पौष्टिक) हों, निस्सार न हों, सपरेटेके दूधके न हों; शहद भी बनावटी चीनी आदि की न हो। गृहस्थाश्रममें सार-सहित (पौष्टिक) दधि-मधु-घृतका सेवन वरको करना चाहिये-यह सूचित हो रहा है; अतः यहाँ प्रतिपत्तिप्रोक्त अर्थ सङ्गत नहीं। इन तीनोंमें बड़ी शक्ति है, आयुर्वेदमें बिना मधुके अनुपानके कोई ओषधि ही नहीं खाई जाती। घीको तो वेदने 'आयुर्वै घृतम्' (तै.सं. २।३।२।२) कहा है। दधि भी वहुत बल और लाभ देने-वाली है-इसलिए 'पञ्चामृत'में इन्हींका उपयोग होता है। सो यदि निःसार होंगे; तो अमांसल होनेसे मांसवर्धक न होंगे। इसलिए इनकी 'समांसो मधुपर्कः' समांसता पर बल दिया गया है। मांस इसमें अप्रासङ्गिक है, क्योंकि वह मधुरान्नोंमें प्रयुक्त नहीं होता। तो हमसे दर्शित तात्पर्य ही यहाँ ठीक है। जब ऐसा पौष्टिक भोजन खिला दिया गया तो, दक्षिणा भी तो भोजनके बाद हुआ करती है; सो उस समय 'गौर्गौर्गौः' कहकर आचार्य एवं वर आदिको 'गौः' दी जाती है, यह एक बड़ी भारी दक्षिणा है; इसी कारण गृह्यसूत्रोंमें स्थान-स्थान पर 'गौर्दक्षिणा' आता है। इसीलिए गौओंको 'गो धन' कहते हैं। फिर तृणच्छेदन करके तृण गायको डाले। इसलिए कहा जाता है—'उत्सृजत, तृणानि अत्तु'। सो यहां गोवधका विचार ही अप्रासङ्गिक है।

---

(१६) याज्ञिक पश्वालम्भ।

पूर्वपक्ष—आपने समाधान तो सब वचनोंके कर दिये; पर प्रत्यक्ष अर्थका अपलाप कैसे किया जा सकता है? डाक्टर भगवानदास, जयचन्द्र विद्यालङ्कार, सत्यदेव विद्यालङ्कार, श्री. भगवतशरण उपाध्याय, कालेलकर, लक्ष्मण शास्त्री, कन्हैयालाल मुन्शी, राहुल सांकृत्यायन, डाक्टर अम्बेडकर, रजनीकान्त शास्त्री, धर्मानन्द, दुरंगे, चतुरसेन शास्त्री आदि बहुतसे विद्वान् भी इसमें सहमत हैं, तब आपके ही अर्थ कैसे माने जाएँ?

उत्तरपक्ष—पहले हम कह चुके हैं कि देवोपम शास्त्रकार परोक्षप्रिय भी थे, सो जैसे 'गोमांसं भक्षयेन्नित्यं' आदि योगके श्लोक आपाततः घृणित मालूम होते हैं; पर उनकी 'गोशब्देनोदिता जिह्वा' आदि परिभाषाएँ जान लेनेसे तब वास्तविकता का पता लगता है। जबकि गायका नाम भी वेदकालसे 'अघ्न्या' और बैलका 'अघ्न्य' नाम चला आ रहा है; और किसी पशुका नाम 'अघ्न्य' नहीं कहा; तब गोवधकी किसी भी प्रकार प्रसक्ति नहीं हो सकती। तब प्राप्त हुए विरोधके परिहारार्थ उन वचनोंके अन्दर घुसकर पूर्वोत्तर-प्रकरण तथा इतस्ततः सिद्धान्त-सूत्रोंका अवलम्ब लेकर ही सङ्गति लगानी पड़ती है। जिन विद्वानोंकी इसमें सहमति वताई गई है, उनमें बहुतों पर अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षाका रंग चढ़ा है। वे उसी भाषाके पश्चिमी चश्मेसे हमारे पौरस्त्य-साहित्यको देखते हैं। चश्मा ही जब अपना न हो; दूसरेका हो; फिर ठीक भी क्या दीखे? पूर्व...

गौरव-रविके उदयकी दिशा है; और पश्चिम अस्तकी-यह वे नहीं जानते। इनमें कई श्रीराहुल आदि बौद्ध हैं; अतः उनका हिन्दुधर्मको सदा कलङ्कित करनेका तथा अपने मांस-भक्षणको हिन्दुसमाजसम्मत दिखलानेका दृष्टिकोण रहता है, एतदर्थ ही वे नई-नई 'गङ्गाएँ' तथा 'शिलाएँ' घड़ते-खोदते रहते हैं। सुना जाता है कि-वे पशुओंकी अपनी पेटसे अभिन्नता करते रहते हैं; फिर उनको उनसे भिन्न दीखे भी क्या? अतः इनके वचन मान्य नहीं हो सकते। इसी अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षामें पले हुए हमारे भाग्यविधाता शासकोंकी भी इसीलिए ही समझाने पर भी गो-रक्षा समझमें नहीं आती। अपने धर्मके लोग लाख समझाएँ; उन्हें वह समझ ही नहीं पड़ता; अपने कई अर्बी, पारसी, अंग्रेजी मित्रोंके रूठनेका डर रहता है, अतः कई हमारे ही संस्कृतका एक अक्षर न जानते हुए भी आप्टे आदिके कोषोंके सहारे उनके नाकका बाल बनकर वंसल आदिके रूपमें दर्शन दिया करते हैं। अतः ये लोग हमारे शास्त्र-वचनोंकी सङ्गति लगानेमें समर्थ नहीं हो सकते। आक्षेप करना तो कठिन होता ही नहीं, दूसरेके बने-बनाये महलको तो एक साधारण-मजदूर भी गिरा सकता है। तब गायके अघ्न्या, अही, अदिति होनेसे गोवधकी प्राप्ति ही नहीं। 'गो' शब्द पशुवाचक भी होता है; सो वैसा वर्णन गाय-बैलसे अतिरिक्त पशुपरक ही समझना चाहिये। शेष हैं अन्य पशुओंके यज्ञ-प्रतिपादक सूत्रग्रन्थ वा स्मृतियोंके वचन; वे भी इन लोगोंके इष्ट अपंग-वृद्ध पशुओंके विनाश तथा

उदरपोषणार्थ मांस-भक्षणके पोषक नहीं। उन प्राचीन-यज्ञोंमें जो सूक्ष्मता थी; उन्हें आजका स्थूलदृष्टि मानव समझ नहीं सकता, और न वैसा कर ही सकता है।

यजुर्वेदसंहिता (२३।१८) के महीधरभाष्यमें लिखा है—'प्राणाय' आभिराहुतिभिरश्वं प्राणवन्तं करोति' तथा च शतपथ-श्रुतिः (१३।२।८।२) प्राणानेव अस्मिन् एतद् दधाति, तथो ह अस्य एतेन जीवितेन पशुना इष्टं भवतीति' इससे प्रतीत होता है कि-पूर्व-समयमें मरे हुए पशुको भी जीवित कर दिया जाता था। अथर्ववेदके 'यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव। तम् आहरामि निर्ऋतेरुपस्थाद् अस्पार्षमेनं शतशारदाय' (३।११।२) इस मन्त्रमें मृतकको भी जीवित कर देनेमें शक्ति दिखलाई गई है। क्या मृतपशुको जीवित करनेकी यह शक्ति कलियुगमें है? इसी शक्तिके न होनेसे ही तो 'अश्वालम्भं गवा-लम्भं संन्यासं पलपैतृकम्। देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्' इन बातोंको कलियुगकेलिए वर्ज्य बताया गया है। क्योंकि—देवरसे बिना मैथुनके सन्तानोत्पत्ति (जैसेकि व्यासजीने दृष्टिसे अम्बिका आदिमें की थी), तथा संन्यासके नियमोंका पालन इसी प्रकार 'अपशवो वा अन्ये गो-अश्वेभ्यः' इस प्रकार प्रशस्त-पशु गो-अश्व आदिका आलम्भ भी कलियुगमें वर्जित कर दिया गया है क्योंकि-उन नियमोंको कलियुगमें अशक्तिवश पाला नहीं जा सकता। सत्त्व, त्रेता, द्वापर आदि युगमें प्राण अस्थिगत-चर्मगत एवं रुधिरगत होते थे, उनमें किसी भी जीवकी

वपा मांस आदि निकाल लेनेपर भी अस्थियोंके पृथक्-पृथक् न होने तक वह जीव मरता नहीं था। पर कलियुगमें जहाँ अन्नगत प्राण हैं, उसमें ऐसी शक्ति कहाँ हो सकती है? जिनमें वैसी शक्ति थी, वे ही किन्हीं चक्रवर्तीके राज्य-स्थापनार्थ वा चक्रवर्ती पुत्रोत्पत्ति आदि विशेष कार्योंमें वैसे यज्ञ भी कर सकते थे, जैसेकि महाभारतमें लिखा है-'स्वयं चैषामनड्वाहो युज्यन्ति च वहन्ति च। स्वयमुस्राश्च दुह्यन्ते मनः-सङ्कल्पसिद्धिभिः। (१२।२६३।३१)। यस्तथा भावितात्मा स्यात् स गाम् (पशुम्) आलब्धुमर्हति' (३२)। ऐसे योगशक्ति-सम्पन्न मुनि पशुको जीवित कर देते थे; जैसेकि अथर्ववेदके अभी दिये गये मन्त्रसे बताया गया है। पर आज वह शक्ति नहीं। अतः इस प्रकारके यज्ञ कलिवर्जित किये गये हैं। तब उनका इस कलियुगमें उद्धरण भी नहीं हो सकता। वे जो यज्ञ उस समय थे—भी, उसमें जिह्वास्वाद वा उदरपोषणकी कोई भावना भी नहीं थी। यज्ञावशिष्ट मांस बहुतोंमें बांट देने पर प्रत्येकके भागमें वह रत्तीभर ही रहता होगा, तब वह मांस-भक्षणकोटिमें भी नहीं आसकता। जिस प्रकार अवैध-मैथुन व्यभिचार-कोटिमें आता है, पर विवाहसंस्कारसे हुआ वही मैथुन व्यभिचारकोटिमें नहीं आता; जैसे स्त्रीके पास ऋतुगमन करनेवाला भी 'पारिभाषिक-ब्रह्मचारी' माना जाता है, वैसे ही याज्ञिक रत्तीभर-मांसका सेवन करनेवाला भी मांसाशीकी कोटिमें नहीं आता, इसपर महाभारतमें ही आता है—'अत्रापि विधिरुक्तश्च मुनिनिर्मांसभक्षणे। देवतानां पितृणां च भुङ्क्ते दत्त्वापि यः सदा। यथाविधि यथाश्राद्धं न

प्रदुष्यति भक्षणात्। अमांसाशी भवत्येवमित्यपि श्रूयते श्रुतिः। भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति ब्राह्मणः' (वनपर्व २०८।१४-१५) इसपर-श्रीनीलकण्ठने लिखा है—'यज्ञियमांसभुजोपि ऋतुगामिनो ब्रह्मचर्यमिव औपचारिकमांसाशित्वमिति भावः'। इसका तात्पर्य पहले बता चुके हैं।

किसीको मार देनेपर पुरुष फांसी पाता है, पर युद्धमें बहुतोंको मार देनेपर 'विक्टोरिया क्रास' आदि प्राप्त करता है। इस प्रकार जैसे युद्धकी हिंसाको अहिंसा समझा जाता है, जैसे कि गांधीजीने मर रहे बछड़ेको विषका इन्जेक्शन देकर उसे मार दिया, इतने पर वे अपने आपको अहिंसक और उस बछड़ेका कल्याणकारक मानते रहे; जैसे कि-विशेष विषैली बीमारीवालेको विषका इन्जेक्शन देकर पूर्वका विष-प्रभाव नष्ट होकर स्वस्थ होते हुए भी देखा गया है, हितैषी डाक्टर एक गन्दे फोड़ेका आपरेशन करके उस व्यक्तिको काटनेका कष्ट देकर भी उसके स्वास्थ्यका उद्देश्य रखता है। ठीक इसी प्रकार याज्ञिक-पशुवध पशुकेलिए विषका इन्जेक्शन होता हुआ भी, काटनेवाला आपरेशन होता हुआ भी, परलोकमें उसका पशुत्व हटाकर उसे उत्तमगतिका प्राप्त करानेका हेतु होनेसे, लौकिक-दृष्टिमें हिंसा होते हुए भी शास्त्रीय-दृष्टिमें वह अहिंसा ही सिद्ध होती है। 'तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः' (५।३९) यह मनुका वचन यही तात्पर्य रखता है-जिस पर श्रीमेधातिथिने लिखा है-'यज्ञे यो वधः, सोऽवधो विज्ञेयः, हिंसाजन्य-पापनिवृत्तेः'। श्रीकुल्लूकभट्टने लिखा है—'यज्ञे वधोऽवधः

एव, वधजन्यदोषाऽभावात्'। यही श्रीयास्कमुनिने निरुक्तमें लिखा है—'आम्नायवचनाद् अहिंसा प्रतीयेत' (१।१६।६)। इसपर श्रीदुर्गाचार्यने विवृति की है—(प्र.) 'आह-कथमहिंसा ? प्रत्यक्षतो हि छिद्यते वृक्षः [हिंस्यते च पशुः], (उ०) शृणु-'इयमहिंसा, इयं हिंसा' इति आगमाद् एतत् प्रतीयते। प्रतिविशिष्टश्च अयमेव वैदिक आम्नाय आगमः, एतत्पूर्वकत्वाद् अन्येषामागमानाम्। स एष कृत्स्नस्य जगतः प्रतिविशिष्टाय श्रेयसे अभ्युद्यतः सन् हिंसायां कर्तारं विनियोक्ष्यते इति कुत एतत् [सम्भवति] ? नूनमियमहिंसैव, यतोऽस्यां नियुनक्ति कर्तारम्'। इसका तात्पर्य यह है कि—वेदसे ही हमें धर्माधर्मकी व्यवस्था मिलती है, सो वह हमें जिसका आर्डर दे रहा है, वह हिंसा दीखती हुई भी हिंसा नहीं हो सकती।

यही बात मनुजीने लिखी है—'या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिश्चराचरे। अहिंसामेव तां विद्याद् वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ' (५।४४) इस पर श्रीकुल्लूकभट्टने स्पष्टता की है—'अहिंसामेव तां जानीयात्, हिंसाजन्याऽधर्मविरहात्'। यह बात ठीक ही है। कानून जिस बात कीं आज्ञा देता है, वह हिंसा भी अहिंसा ही मानी जाती है; उसका हिंसा वाला दण्ड नहीं मिलता; जैसे कि हम युद्धके दृष्टान्तसे स्पष्ट कर चुके हैं।

'अशुद्धमिति चेद्—न, शब्दात्' (३।१।२५) इस वेदान्त-सूत्रकी व्याख्या करते हुए स्वामी श्रीशङ्कराचार्यने बहुत ही सुन्दर लिखा है—'यत् पुनरुक्तम्-पशुहिंसादियोगाद् अशुद्धमाध्वरिकं

कर्म, तस्य अनिष्टमपि फलं कल्पते-इति। तत् परिह्रियते-न, शास्त्रहेतुत्वाद् धर्माधर्मविज्ञानस्य। अयं धर्मः, अयमधर्मः-इति शास्त्रमेव विज्ञाने कारणम्, अतीन्द्रियत्वात् तयोः [धर्माऽधर्मयोः], अनियत-देशकालनिमित्तत्वाच्च। यस्मिन् देशे, काले, निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते, स एव देशकाल-निमित्तान्तरेषु अधर्मो भवति। तेन शास्त्राद् ऋते धर्माधर्मविषयं ज्ञानं न कस्यचिदिति'। श्रीवल्लभाचार्य-गोस्वामीको छोड़कर शेष सभी आचार्योंने इस सूत्रकी ऐसी ही व्याख्या की है; इसका तात्पर्य हम पूर्व बता चुके हैं।

निरुक्तमें 'अध्वर' शब्दके 'ध्वरतिर्हिंसाकर्मा, तत्-प्रतिषेधः' (१।८।१) की व्याख्यामें श्रीदुर्गाचार्यने हिंसायज्ञोंकी अहिंसाकी भी प्रश्नोत्तरकी शैलीसे विशदता की है कि—(प्र०) 'ननु अत्र हन्यन्ते पशवः, छिद्यन्ते तृणवनस्पतयः, तत् कथमहिंस्रोऽध्वरः ? (उ०) उच्यते-'अभ्युदय एव हि सः; 'न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवान् उद् एषि' (यजुः २३।१६) तस्माद् अभ्युदययोगाद् अहिंस्रः'। यह ठीक ही है—वह पशु इस निकृष्ट-जातिसे छूटकर उत्कृष्ट-देवयोनिमें जानेका अधिकारी बन जाता है। यद्यपि फिर 'पिता कस्मान्न हन्यते' यह चार्वाकोंका प्रश्न उपस्थित हो सकता है; आजकलके वैदिकम्मन्य तो चार्वाकके बाप बनकर इसको अपना संरक्षक अस्त्र बना लेते हैं—उसपर उत्तर यह है कि—हमारा सभी विधान शास्त्र पर अवलम्बित है; शास्त्र यदि पिताकेलिए वैसा विधान बताता; फिर उसे किया न जाता; तब तो प्रश्न था; अब

तो प्रश्नका अवकाश ही नहीं। समय पर तो देशरक्षायज्ञाहुतिमें अपने पुत्रकी वा भाईकी वा पिताकी वा अपनी भी आहुति दी जाती है। इसपर याद कीजिये गुरुगोविन्दसिंहको तथा तेग-बहादुरको राजपूत-गण ही समय पर अपने सारे परिवारको 'अग्नये स्वाहा' कर दिया करते थे। अभी गत पंजाबके विप्लवमें बहुतसे व्यक्तियोंने अपने धर्मके संरक्षणार्थ अपनी, अपने बाल-बच्चों-स्त्री आदिकी भी अपने हाथोंसे काटकर आहुति दे दी थी; पर वैधयज्ञमें शास्त्रानुमोदन न होनेसे वैसा 'पिता कस्मान्न हन्यते'का भी कर्तव्य नहीं होता, और फिर माता-पिता तो पुत्रका भी बलिदान चाहे कर दें; पर पुत्र अपने माता-पिताका बलिदान कभी भी नहीं करता; इस प्रकार महाभारतमें उद्धृत 'गौर्मे माता वृषभः पिता मे' (महा. अनुशासन ७६।७) इस श्रुतिसे माता-पिता रूप गाय-बैलका भी बलिदान नहीं हो सकता। और फिर चरकसंहितामें गायके होमसे अतीसार आदि बीमारियोंका उत्पन्न हो जाना भी लिखा है, यह हम अन्यत्र लिख चुके हैं। 'देवानाम्प्रियः' यह अलुक्समासका प्रयोग मूर्खवाचक है; उसका भाव है कि यज्ञमें देवताओंके प्रिय पशु होते हैं मनुष्य नहीं; सो पशुकी भांति मूर्ख-पुरुषको भी लक्षणावश, अथवा अलुक्-समासकी शक्तिवश 'देवानाम्प्रिय' कह दिया जाता है; सो यज्ञमें पशु इष्ट होनेसे 'पिता कस्मान्न हन्यते' इस चार्वाककी उक्तिका निराकरण होगया।

शेष पशुवध भी कलिवर्ज्य होनेसे अब कर्तव्य नहीं। जैसे

नैष्ठिक ब्रह्मचर्य रखना सात्त्विक और मुक्तिरूप सद्गति-प्रद और उत्तम कोटि (दर्जा) है, पर विवाह करके उस स्त्रीसे मैथुन करके पुत्रादि उत्पन्न करके स्वर्ग प्राप्त करना राजस एवं मध्यम-कोटि है, और असंस्कृत किसी लड़कीसे मैथुन कर लेना यह व्यभिचार और अधम कोटि है; वैसे अहिंसायज्ञ करना उत्तम-कोटि है, मन्त्र-संस्कृत याज्ञिक-पश्वालम्भ करना यह राजस एवं मध्यम कोटि है। याज्ञिकता छोड़कर उदरकेलिए किसी पशुको मारना यह तामसिक तथा अधम कोटि है, यही मांसभक्षण-कोटिमें आता है; अतएव हेय है—यह समझ रखना चाहिये।

उनके स्थान पर पूर्तिकेलिए व्रीहि आदिकी ही आहुति दी जा सकती है; क्योंकि वे पशुओंके प्रतिनिधि होते हैं। कृष्णयजुर्वेद-तैत्तिरीयसंहितामें लिखा है—'दधि, मधु, घृतम्, आपो, धाना भवन्ति, एतद्वै पशूनां रूपम्' (२।३।२।८)। 'पशवो वै धानाः' (गोपथ २।४।६)। यही बात 'शतपथ-ब्राह्मण'में भी सूचित की गई है—'पुरुषं ह वै देवा अग्रे पशुमालेभिरे, तस्य आलब्धस्य मेधोऽपचक्राम। सोऽश्वं प्रविवेश, ते अश्वमालभन्त, तस्य आलब्धस्य मेधः अपचक्राम, स गां प्रविवेश। ते गामालभन्त, तस्य आलब्धस्य मेधोऽपचक्राम, सोऽविं प्रविवेश। ते अविमालभन्त, तस्य आलब्धस्य मेधोऽपचक्राम, सोऽजं प्रविवेश। ते अजमालभन्त; तस्य आलब्धस्य मेधोऽपचक्राम' (१।२।३।६) स इमां पृथिवीं प्रविवेश। तं खनन्त इव अन्वीयुः, तौ इमौ व्रीहि-यवौ। स यावद् वीर्यवद् ह वा, अस्यैते सर्वे पशव आलब्धाः स्युः

तावद्वीर्यवद् ह वै अस्य हविरेव भवति' (१।२।३।७) इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यही व्रीहि-यव (जौ-चावल) इन पाँच पशुओं-के प्रतिनिधि हैं—'तवेमे पञ्च पशवो विभक्ताः-गावो अश्वाः, पुरुषा अजाऽवयः' (अथर्व. ११।२।६) यह पाँच पशु वेदने सूचित किये हैं। इन पाँच पशुओंके आलम्भसे हटा हुआ मेध पृथिवीमें जाकर व्रीहि-यवमें प्राप्त हुआ। उस व्रीहि-यवका हवन पश्वालम्भ हो जाता है; अतः इस कलियुगमें वह पशुयज्ञ पृथक् कर्तव्य नहीं। ऐतरेयब्राह्मणमें भी ऐसा ही वर्णन है। जब यजमान यज्ञमें दीक्षित होता है, तब वह देवताओंको अपना पशुरूपसे समर्पण करनेका निश्चय करता है। देवताओंको प्राप्त पशुका हविर्भाग उससे निकलकर गोमें, गोका उससे निकलकर गवयमें; फिर अज, और उष्ट्र और उसका हव्यभाग उससे निकलकर पृथिवीमें प्रविष्ट हुआ दिखलाया गया है। पृथिवीमें प्राप्त होकर वह भाग तण्डुल (चावल) बन जाता है'। इस वर्णनसे स्पष्ट हो जाता है कि-तण्डुल (चावल) ही वस्तुतः यागका पशु है; क्योंकि-पुरोडाशमें ही पशुके सब अङ्गोंका आरोप करके उसका पशु-प्रतिनिधित्व सूचित किया जाता है, और वह पुरोडाश तण्डुलोंका ही तो होता है। इस प्रकार पुरोडाशमें पशुत्वका आरोप करके तण्डुलोंके पुरोडाशसे हवन करना ही पशु-हवन है, और पशु-हवन ही देवताओंको अपने-आपको सौंपना है-इससे पृथक् पशु-हवन भी करणीय नहीं रह जाता।

---

१७ 'अश्वालम्भं गवालम्भं' 'कलौ पञ्च विवर्जयेत्'।

पूर्वपक्ष—'अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्। देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्' [अश्वका आलम्भ (हिंसा) गायका आलम्भ, संन्यास, पलपैतृक (पितरोंको मांस देना) और देवरसे पुत्र पैदा कराना—इन पाँच कार्यों को कलियुगमें छोड़दे] इस वाक्यको आप प्रमाण मानते हैं या नहीं? यदि मानते हैं; तो कलियुग को छोड़कर अन्य युगोंमें आपने गोवध स्वीकार कर लिया। यहां 'आलम्भ'का 'स्पर्श' अर्थ भी नहीं घटता। यदि आप युगान्तरोंमें गोवधको नहीं मानते; तब आप वदतोव्याघात-दोषसे ग्रस्त होगये (श्रीवृद्धदेवादि)।

उत्तरपक्ष—हम इसका उत्तर यत्र-तत्र पूर्व-निबन्धोंमें दे चुके हैं, यहां पृथक् प्रश्न होनेसे पृथक् भी उत्तर देते हैं। 'आलम्भ'का साक्षात् अर्थ तो हिंसा नहीं है। यदि होता; तो 'नारं स्पृष्ट्वाऽस्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुध्यति। आचम्यैव तु निःस्नेहं गाम् आलभ्य-अर्कमीक्ष्य वा' (५।८७) इस मनुपद्यमें भी 'गाम् आलभ्य'का 'गायकी हिंसा करके' यही अर्थ होता। सम्पूर्ण पद्यका यह अर्थ है—पुरुष मनुष्यकी गीली हड्डीको छू ले, तो स्नानसे शुद्ध होता है। यदि सूखीको छू ले, तो आचमन करके वा गायका आलम्भ (स्पर्श) करके शुद्ध होता है। किसी भी टीकाकारने यहां गो-आलम्भ'का अर्थ 'गायका मारना' नहीं लिखा किन्तु गायका स्पर्श ही लिखा है। तब स्पष्ट है कि-आक्षिप्त-पद्यमें 'अश्वालम्भ, गवालम्भ' यह शब्द एक कर्मविशेषमें पारिभाषिक

हैं; सो उस परिभाषित अश्वालम्भ एवं गवालम्भका कलियुगमें निषेध किया है। उसका कारण यह है कि-उक्त विधियां कलियुगमें सम्भव नहीं हो सकतीं। (१) अश्वमेधके प्रसङ्गमें हम लिख आये हैं कि—वहां घोड़ेकी विशेष-विधियोंसे कायापलट कर दी जाती थी; जिससे घोड़ेकी वपा दुर्गन्धित न होकर कपूरकी गन्ध वाली हो जाती थी। उससे चक्रवर्ती-राजाका वैसा ही पुत्र उत्पन्न होकर उसका साम्राज्य सुप्रतिष्ठित हो जाता था। पर कलियुगमें वैसी सामर्थ्य न होनेसे ही वैसे यज्ञकी साध्यता न हो सकनेसे उसका निषेध करना पड़ा कि-जिससे लाभके बदले हानि न हो जाय। (२) 'गवालम्भ'की विशेषता हम पूर्व कह चुके हैं कि-'अघ्न्या' होनेसे वह गाय तो उसमें साक्षात् गृहीत नहीं हो सकती, और फिर गोवधसे पृषध्रयज्ञमें अतीसार बीमारीका प्रादुर्भाव दीखनेसे हानिप्रद होनेके कारण वह अकर्तव्य भी था। पर वेदकी विधिपूर्त्यर्थ उसकी प्रतिनिधिभूत व्रीहिकी गायका आलम्भ किया जाता था। 'आलम्भ' शब्दका दोनों (अश्वालम्भ-गवालम्भ) स्थलोंमें समानता-वश समान अर्थ करनेका आग्रह करना भी ठीक नहीं; तब तो 'पशुबलिकी 'स्वा. श्रद्धानन्दकी बलि'की भान्ति 'नारायणबलि'में भी नारायण-भगवान्‌का वध भी मानना पड़ेगा, पर यह अनिष्ट है। महाभारतने स्पष्ट इसमें व्रीहिमय पशु माना है। पर उससे भी कलियुगमें कई हानियोंकी आशा थी; तब तो आजकलके समयको गोवधमें खुली छूट प्राप्त हो जाती; उसे बहाना मिल जाता।

यह सोचकर दूरदर्शी-मुनियोंने इन कार्योंको कलिवर्ज्यतामें लिया। इसके अतिरिक्त सत्ययुगादिमें जीवके प्राण अस्थि, त्वचा आदिमें रहा करते थे। सो उस पशुकी वपा निकाल तथा उसका होम करके भी उस पशुकी मृत्यु नहीं होती थी, 'कलौ अन्ने प्राणाः' इस अन्नमें प्राण-वाले इस कलियुगमें बात होनी असम्भव थी। अतः इसका भी कलियुगमें निषेध करना पड़ा। (३) संन्यासकी कलिवर्ज्यता पुत्रैषणा, वित्तैषणा लोकैषणाके इस युगसे छूट न सकनेके कारण नियमोंकी कठिन होनेसे जोकि निषिद्ध किया गया; तो क्या संन्यास भी बुरा है; जोकि-युगान्तरमें विहित भी कलिवर्जित किया गया? वह बुरा नहीं था। जिस-जिस कार्यकी, विधिकी अथवा व्यताकी कलियुगकेलिए असाध्यता वा विषमता दीख पड़ी; तदर्थ निषिद्ध कर दिया गया; इससे उस कर्मकी अधर्म्यता नहीं हो जाती। (४) 'देवरात् सुतोत्पत्तिः'से नियोग इष्ट है; नियोगकी विधिमें कामराहित्य अनुशिष्ट होनेसे, बिना काम मैथुनके सन्तान उत्पन्न करनी पड़ती थी; (इस विषयमें 'नियोग और मैथुन' निबन्ध सम्भवतः आगे दिया जायगा) तब भी कलियुगमें साध्य न होनेसे कलिवर्ज्य किया गया। (५) पैतृक-पितरोंकेलिए मांस भी कलिवर्जित किया गया है। पहले युगोंमें शास्त्रगतविधिकी पूर्तिमात्र कर दी जाती थी; उस समय जिह्वानन्दको अवकाश नहीं दिया जाता था। पर आजकल जिह्वास्वाद संलग्न-ऐदंयुगीन प्रजाको थोड़ा सहारा चाहिये;

उसे विविध बहाने बनाते देरी नहीं लगती। एतदादिक हानियां देखकर पलपैतृकको भी कलिवर्ज्य कर दिया गया। उसीके परिणाम--स्वरूप हिन्दुओंमें थोड़ी संख्या मांससे अब भी बची हुई है; नहीं तो इतनी भी न बच पाती। मांस उनके भक्षियोंकेलिए एक बड़ी अद्भुत वस्तु है। आजका युग विषयानन्दी ही है, विलासी है, दिन-रातमें अनेक-वार स्त्री-गमनसंलग्न है तदर्थ मांस एक परम-ओषधि है। इसी व्यसनके शिकार ही मांसका एक रूप अण्डा चट्ट कर जाते हैं। महाभारतमें लिखा है—'न मांसात् परमं किञ्चिद् रसतो विद्यते भुवि। क्षतक्षीणाभितप्तानां ग्राम्यधर्मरतात्मनाम्। अध्वना कर्शितानां च न मांसाद् विद्यते परम्। सद्यो वर्धयति प्राणान् पुष्टिमग्र्यां दधाति च। न भक्ष्योऽभ्यधिकः कश्चिद् मांसादस्ति परन्तप।' (अनुशा. ११६।८-६) इसीलिए श्रीयास्कने भी 'मनोऽस्मिन् सीदति (गच्छति, षद्लृ गत्यवसादन-')' (४।१।३) मांसका निर्वचन किया है, इसलिए अथर्ववेदमें भी 'एतद् वा उ स्वादीयो-यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा' (अ. ६।८।६) यहां मांसका भी दूधकी भांति 'स्वादीयः' यह विशेषण दिया है। शतपथमें भी 'एतदु ह वै परममन्नाद्यं यन्मांसम्' (११।७।१।३) उसे एक रूपसे परम अन्न कहा है; इसीलिए महाभाष्यादिमें भी 'अभोक्ष्यत भवान्-मांसेन, यदि मत्समीपमासिष्यत' (३।३।१३६) इसके बहुत उदाहरण मिलते हैं; इसलिए ऐसे रसनालौल्य वाले लोगोंकी जीभमें लगाम डालनेकेलिए कलियुग जैसे विलासी युगमें मुनियोंने रोक लगा दी; और कह दिया कि-'ओषधीभिस्तथा

ब्रह्मन्! यजेरँस्ते न तादृशाः' (महा. शान्तिपर्व २६३।३३) अर्थात् ऐसे लोग ओषधियोंके यज्ञ अर्थात् पितृयज्ञ, अथवा देवयज्ञ, अथवा अतिथियज्ञमें वे लोग ओषधियों-अर्थात्-वनके फलों-फूलों अथवा व्रीहिआदिका अथवा मुनियोंके अन्नोंका जिसके-लिए मनुजीने लिखा है-'आनन्त्याय च कल्पन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः' (मनु० ३।२७२) इनमें मुन्यन्नोंको देव वा पितरोंकी अनन्तकालकी तृप्ति करनेवाला बताया है—का उपयोग करें। अतः इस 'अश्वालम्भं गवालम्भं' पद्यको आपाततः देखकर यह अनुमान लगाना कि-प्राचीन-भारतमें गोवध होता था-यह अज्ञान वा अल्पज्ञानका फल है। हां, गोमेध आदि व्रीहि पशुके वैदिक यज्ञ-हुआ करते थे; पर कलियुगमें व्रीहिका गोयज्ञ करना भी परिणाममें अहितावह होनेसे त्यक्तव्य है-यह उसका आशय है, अतः इससे न तो आक्षिप्त-पद्यकी अप्रमाणता ही है, न ही युगान्तरोंमें गोवधकी सिद्धि है, और न ही हमारा वदतो-व्याघात है, आशा है पाठकोंने इसमें सूक्ष्मता समझ ही ली होगी।

—

१८ गोशब्दके अर्थ तथा उपसंहार।

जहाँ 'गो' शब्द हननमें प्रयुक्त हो; वहाँ उसके 'अघ्न्या' होनेसे वह अन्य पशुका नाम होता है, यह हम कह चुके हैं। 'गो' शब्द दुग्धका नाम भी होता है; जहाँ गोकी या उसके अङ्गकी आहुति लिखी हो; वहाँ गौके अङ्ग घृत-दुग्धकी आहुति इष्ट समझनी चाहिये; जैसेकि इस विषयमें श्रीयास्कका प्रमाण तो हम

दे ही चुके हैं। अब 'वेदान्तदर्शन' शाङ्करभाष्य (१।४।२) का वचन भी देखें। वहाँ लिखा है-'प्रकृति-शब्दश्च विकारे दृष्टः' (प्रकृतिके विकार उससे भिन्न नहीं होते; तब उसके विकारोंको प्रकृतिके शब्दसे भी कहा जाता है) यथा-'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ. ६।४६।४) गोभिः-गायके विकार दूध आदियोंसे मत्सर-सोमरस-को पकाओ'। सो जहाँ गोका हवन लिखा हो, वहाँ गायके दूध-घृतका हवन समझना चाहिये। जैसेकि-महाभारतमें लिखा है-'आज्येन पयसा दध्ना''संभरत्येव गौर्मखम् (यज्ञम्)' (शान्ति-पर्व. २६३।३८)।

देखिये-रघुवंशमें नन्दिनी गौको-'होतुराहुतिसाधनम्' (१।८२) होताकी आहुतिका साधन कहा है। 'धनमाहिताग्नेः' (२।४४) यहाँ भी गायको हविका साधन कहा है। उसको वहीं 'होमधेनु' (२।८) 'मुनि-होमधेनुः' (२।३६) भी कहा है; पर इससे उस गायको ही अग्निमें नहीं होमा जाता था; बल्कि-'हुतावशेषम्' (२।६६) उसके दूधका ही हवन किया जाता था, इससे भी वह 'होमधेनु' कही जाती थी। 'धेनु' शब्दमें ही तृप्तिवाचक-'धिवि' धातु है; सो यहां दूध-घीके कारण ही वह तृप्तिजनक होती है-यह स्पष्ट है।

'गो' शब्दसे तिल वा ओदनका, अश्वसे चावलोंके कणोंका ग्रहण भी वेदानुसार कहा है-'धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत्' (अथर्व. १८।४।३२) 'अश्वाः कणाः, गावस्तण्डुलाः' (श्र. ११।३।५) इसीलिए 'अन्नं हि गौः' (शत. ४।३।१।२५) यहाँ ओदनका नाम भी 'गौ' आया है। इस प्रकार महाभारतानुसार

तण्डुल-आदियोंके यज्ञ ही गोयज्ञ सिद्ध हो जाते हैं।

गो और वृषभ शब्द आयुर्वेदग्रन्थोंमें विशेष-ओषधियोंके नाममें भी आये हैं। योगशक्तिसे रहित पुरुषोंकेलिए उन्हीं ओषधियोंका हवन आया है, जैसेकि महाभारतमें कहा गया है-'ओषधीभिस्तथा ब्रह्मन्! यजेरंस्ते न तादृशाः' (शान्तिपर्व २६३।३३)। नमस्कारेण हविषा स्वाध्यायैरौषधैस्तथा। पूजा स्याद् देवतानां हि यथाशास्त्रनिदर्शनम्' (२६३।८) स्कन्दपुराणके वैष्णव-खण्डीय वासुदेव-माहात्म्यमें आया है-'अहिंसैव परो धर्मस्तत्र वेदेऽस्ति कीर्तितः। साक्षात् पशुवधो यज्ञे न हि वेदस्य सम्मतः' (६।४।४६)। स्कन्दपुराणके महेश्वरखण्डमें भी आया है-'ब्रह्मणा तु पुरा सृष्टा ओषध्यः सर्ववीरुधः। यज्ञार्थं तु भूतानां भक्ष्यमित्येव वै श्रुतिः'।

निघण्टुरत्नाकरमें लिखा है-'उक्षा ऋषभश्च ओषधिविशेषः। अष्टवर्ग-प्रकरणे ऋषभस्य गुणा एवं प्रकीर्तिताः-'ऋषभो मधुरः शीतः''वृष्यः पुष्टिकरः प्रोक्तः' इससे सिद्ध होता है कि-उक्षा, ऋषभ, वृषभ, गौः'आदि गोपर्यायवाची-शब्द जहां हों, वहां ऋषभक नामक ओषधि गृहीत होती है; उसके हवनसे भी गोयज्ञ पूर्ण होगा। अमरकोषमें 'कुरुविन्दो मेघनामा मुस्ता' (२।४।१५६) यह नागर-मोथाके नाम कहे गये हैं, जिनमें 'मेघनामा' नाम भी आया है। इसका भाव यह हुआ कि-जो मेघके नाम हैं, वे सब इस मोथाके नाम भी हो सकते हैं। इसी प्रकार वृषभके पर्यायवाचक 'अनडुह्-गो' शब्द आदि ऋषभक-ओषधिको बताते हैं। अत

जहां वृषभका पाक कहा हो; वहां ऋषभक-ओषधिको पकाना इष्ट होता है। जहां गो-पाक हो, वहां ऋषभकका, वा पूर्व प्रकारसे गोदुग्धका पाक अभिमत होता है। जहां वृषभ-मांस कहा गया हो; वहां इस ऋषभकन्दका मांस-गूदा, सारभाग लेना चाहिये। जैसे कि-'कपित्थमुद्धृते मांसे मूत्रेणाजेन पूरयेत्' यहां कपित्थके सारभागको 'खर्जूरमांसान्यथ नारिकेल' यहां खजूरके सारभागको 'मांस' कहा गया है। सो मांसका अर्थ सर्वत्र प्रसिद्ध 'मांस' न होकर, सारभाग या गूदा, 'अस्थि' का अर्थ गुठली, 'मज्जा' का अर्थ 'रेशा' तथा 'रुधिरका' 'केसर' 'वपा' का वक्कलके भीतरकी झिल्ली, 'चर्म' का अर्थ वक्कल, ऊपरी त्वचा यह अर्थ भी हो जाते हैं। 'मांस'का अर्थ 'मांसल' पदार्थ भी अर्श-आदियोंसे होनेवाले 'अच्' प्रत्ययसे माना जा सकता है।

रामायणके 'मांसभूतौदन' (२।५२।८६) का अर्थ शिरोमणि-टीकाकारने लिखा है—'मा-नास्ति अंसो-राजभागो यस्यां सा भूः-पृथ्वी च, उतं वस्त्रं च, ओदनं च एतेषां समाहारः, तेन त्वां यक्ष्ये'। योगके ग्रन्थोंमें अन्य अर्थ भी आया है-'माशब्दाद् रसना ज्ञेया, तदंशान् रसनाप्रियान्। सदा यो भक्षयेन्नूनं स भवेन्मांससाधकः' (आगमसार), मा-लक्ष्मीका अंस-भाग (अंसः स्कन्धे विभागे स्यात्' इति हैमः, अमरकोषकी भानुजी-दीक्षित टीका २।६।७७) यह भी 'मांस'का अर्थ हो जाता है। मांस प्रजापतिस्मृति (१५२-१५३) के अनुसार 'माष' का नाम भी

होता है। मीमांसादर्शन-शाबरभाष्य (१।२।१०)में 'अज इति अन्नं बीजं वीरुद् व, तमालभ्य-उपयुज्य, प्रजाः-पशून् प्राप्नोतीति गौणाः शब्दाः' माना है। महाभारतमें कहा है-'अजसंज्ञानि बीजानि' (१२।३३७।४) अतः कई लोगोंका यह कहना ठीक नहीं कि-'गो' शब्द ओषधिका नाम नहीं। इसीलिए कहा है-धान्यैर्य-ष्टव्यमित्येव' (महा. शान्ति. ३३७।१२)।

हमारे हिन्दुधर्ममें गायकी बड़ी पूजा आई है, यहां तक कि-किसीका खेत भी खा रही हो; तो उसे कहनेकेलिए मनाही की गई है, देखिये-सुश्रुत-संहिता (चिकित्सास्थान २४।८२), गौतम-धर्मसूत्र (१।९।३४)। मनुस्मृति (४।४६), याज्ञवल्क्यस्मृति १।६।१४०) वैखानस-धर्मसूत्र (३।२।१५)। गायको पांवसे छूनेका भी निषेध किया है- देखो मीमांसादर्शन (शाबरभाष्य ७।१।२)यही बात अथर्ववेदमें भी कही है-(१३।१।५६) 'स्वस्ति गोभ्यः' (अथर्व. १।३१।४) यहां गौओंका कल्याण मांगा गया है। 'पशोरन्नस्य भूमानं गवां स्फातिं नियच्छतु' (अथर्व. १९।३१।८) यहां गौओंकी वृद्धि मांगी गई है। 'अहं गोपतिः स्याम्' (सामवेद-उत्तरार्चिक २०७।१।२) यहां गौओंको अपने संरक्षणमें मांगा गया है। 'महाँस्त्वेव गोर्महिमा' (शत. ३।३।३।१) 'गोस्तु मात्रा न विद्यते' (यजुर्वेदवा.सं: २३।४८) यहां गौओंकी अपार महिमा कही गई है। 'आ गावो अग्मन् उत भद्रमक्रन् सीदन्तु गोष्ठे रणयन्तु अस्मे' (ऋ. ६।२८।१) यहां गौओंका अपने घरमें, अपनी गोशालामें आना तथा उनसे अपना शुभ मांगा गया है। 'गावो भगो गाव

इन्द्रो मे अच्छान्' (ऋ. सं. ६।२८।५) यहां गोधन मांगा गया है। 'मा वः (गाः) स्तेन ईशत मा अघशंसः' (६।२८।७) यहां गौओं-का चोर तथा अनिष्ट-चिन्तक समर्थ न हो सके-यह प्रार्थित किया गया है। इतना वा इससे बढ़कर वेदादि सभी शास्त्रोंमें गौओंका शुभ मांगा गया है; कहां आजकलके नौसिखिये गोपूजाको सबसे बड़ा देशद्रोह मानते हैं और उसके अघशंस (अनिष्टेच्छुक) बनने जा रहे हैं।

इसी गायको भारतीय-जन असत्य बोलकर भी वधिकसे बचा लिया करता था, कहां यह आजकलके शासकोंके चाटुकार गायके वधिक बनने जा रहे हैं। इसीके पञ्चगव्यसे हमारी शुद्धि होती थी, बहुतसे रोग हटते थे। इसीके पञ्चामृतसे हमारे व्रत पूर्ण होते थे, इसीका दान वैतरणी-तारक माना जाता था। इसीके घृतकेलिए 'आयुर्वै घृतम्' (कृष्णयजुर्वेद तै. सं. २।३।२।२) यह वैदिकनाद हमारे भारतमें फैला था, इसी गायके ही दधि घृत-नवनीतादिका मधुके साथ मधुपर्क बनता था। इसीकेलिए सुधारककोटिके होते हुए भी स्वा.द.जीने अपने सत्यार्थप्रकाशमें लिखा था—'एक गायके शरीरसे दूध, घी, वैल, गाय उत्पन्न होनेसे एक पीढ़ीमें चार लाख पचहत्तर हजार छः सौ मनुष्योंको सुख पहुँचता है।' (१० समु. पृ. १६७)।

हमारे कुलोंको व्यवस्थित करनेवाला 'गोत्र' शब्द गोके त्राण (रक्षण) करनेसे ही बना है। 'गोपायति' का 'रक्षण' अर्थ भी 'गोरक्षण'से बना है। रिसर्च अर्थको बतानेवाला 'गवेषणा'

शब्द भी गायकी एषणासे ही बना है। इन्हीं गौओंकी रक्षा करनेमें भगवान् कृष्णने 'गोप' बननेमें भी गौरव माना। गौओंके छिपकर विनाश करनेमें लगे दैत्यका भी संहार कर डाला, गोवर्धनपूजामें विघ्न डालनेवाले इन्द्रको भी इस प्रकार सीधा किया कि-वह चरणोंपर आ गिरा। गौओंको केवल परीक्षार्थ छिपानेवाले ब्रह्माको भी इस प्रकारका पाठ पढ़ाया कि-वह भी क्षमा मांगने आया। इसी गायके प्रतिपादक—

हिं कृण्वती वसुपत्नी वसूनां ··

दु हामश्विभ्यां पयो अघ्न्या···। (ऋ.सं. १।१६४।२७)

इस वेदमन्त्र के पूर्वार्धके आदिम अक्षर 'हिं' और उत्तरार्धके आदिम अक्षर 'दु' को लेकर हमारी जाति 'हिंदु' कहलाई (इस विषयके पूर्ण-ज्ञानार्थ हमारी 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाका चतुर्थ पुष्प ५) में मंगाइये।) इसीके नामसे हमारी धारक पृथ्वी भी 'गौ' कहलाई, हमारा पोषक गेहूँ भी इसके नामसे ही 'गोधूम' प्रसिद्ध हुआ। मीठी दाख भी 'गोस्तनी' नामसे प्रसिद्ध हुई। पहाड़ भी इसकी रक्षा करनेसे इसीके नामसे 'गोत्र' कहलाए। हमें सभ्य वनाने वाली सभा या बातचीत भी इसीके नामसे 'गोष्ठी' बनी। हमारे लक्ष्यका नाम भी 'गोचर' (विषय) वना। इसी गायकी रक्षकता-के ही नातेसे ब्राह्मणोंमें 'गोस्वामी'का अधिक आदर है। इसीके नामसे भगवान्ने अपना नाम 'गोविन्द' रखा। इसी सुख-दायिकाके नामसे स्वर्गने भी 'गो' नाम पाया। हमें लोक-व्यवहार

में लानेवाली वाक् भी इसीके नामसे 'गौ' कहलाई। इसी रश्मिकाके नामसे हमारा रक्षक सूर्य भी 'गो' नामसे प्रसिद्ध हुआ। हमारे आश्रय पृथिवी, जल आदि भी 'गौ' कहलाये।

जो गाय हमारे मृतक-पितरका पहला श्राद्ध खाती है-जो मृतकके उद्देश्यसे दान किये जानेपर उसे वैतरणी-पार पहुँचाती है—देखिये इसपर वेद-'यां ते धेनुं निपृणामि, यमु ते क्षीर ओदनम्' (अथर्व. १८।२।३०), जिसकी खीर श्राद्धमें पितरोंके नामसे हम खिलाते हैं, जिसे 'अमृतं क्षीर-भोजनम्' अमृत एवं परमान्न माना गया है, ऐसी उस घृतकी देवी, हमारी आयु और आरोग्यकी देवता, हमारे बाल-बच्चोंको पालनेवाली, हमसे बड़े-बड़े ग्रन्थ या निबन्ध लिखवाने वाली, हमसे बड़े-बड़े प्रवचन कराने वाली, हमें सब मिठाइयाँ खिलानेवाली, हमें सब अन्न और वस्त्र देनेवाली, हमारे ईंधनोंका खर्च बचाने वाली, उपलेकी भस्म दिलवाकर हमारे उच्छिष्ट-पात्रोंको शुद्ध करानेवाली, हमारे मस्तिष्कको सुरक्षित रखनेवाली, तैंतीस करोड़ देवताओंकी आश्रयस्थली, यज्ञकी नेत्री 'गावो यज्ञस्य नेत्र्यो वै तथा यज्ञस्य ता मुखम्' (महा. अनुशा. ५१।२६) ऐसी गोमाताकी असहायावस्थामें छुरेकी भेंट चढ़ानेकेलिए बूचरखाने खोलना-खुलवाना यह कई नामधारी हिन्दुओंका वा शासकोंका जघन्य अपराध है, बड़ी भारी कृतघ्नता है। यह हिन्दुत्वको नष्ट करनेका कंस आदि दैत्योंके मस्तिष्कसे उर्वरित गहरा षड्यन्त्र है।

जिस गायको वेदने 'अमृतस्य नाभिः' (अथर्व. ८।१०।१५)

'अमृतका केन्द्र' कहा, जिसका नाम वेदने अघ्न्य और अघ्न्या, अदिति (अखण्डनीया) और अही (अहन्तव्या) खुले शब्दोंमें रखा, बकरीद आदि मुसलमानी-पर्वोंमें जिसके वधको सुनकर आज भी हिन्दु अपने प्राण देनेकेलिए तैयार हो जाता है, जिस गायके वधसे शास्त्रोंमें पाप (मनु. ११।५९) तथा विविध कठोर प्रायश्चित्त (मनु. ११।१०८-१०९-११०-१११-११२-११३-११४-११५-११६) कहे गये हैं; उसी गोमाताका वध किसी भी वेद, स्मृति, पुराण वा इतिहासमें कभी भी नहीं मिल सकता। जहाँ कोई उसका आभास दीखे, वहाँ उसकी हमारे पूर्वोक्त समाधानसे व्यवस्था कर लेनी चाहिये। 'गो' शब्द अनेकार्थक (पशु-सामान्य'-वाचक) भी होता है। ऋ. १।१२१।११ में सायणने 'गवां' का अर्थ-'अश्वानां' किया है। अतः योग्य अर्थ ले लेना चाहिये।

यदि यज्ञमें गोवध प्राचीनकालमें होता; तो आज भी याज्ञिक हिन्दुओंके किसी वर्ग या सम्प्रदायमें उसकी सत्ता दीखती; पर ऐसा नहीं दीखता; अतः स्पष्ट है कि-पूर्वकालमें कई गोयज्ञोंमें 'पशुसामान्य' ही इष्ट था। ऋ.१।१२।११में यद्यपि पशुसामान्यमें गाय-बैल भी गृहीत हो सकते हैं; तथापि वेदमें उन्हें 'अघ्न्या और अघ्न्य' तथा 'माता-पिता' कहनेसे उसका वध कभी नहीं हो सकता— 'अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति। महच्चकाराऽकुशलं वृषं गां वाऽऽलभेत्तु यः' (महा. शान्तिपर्व. २६२।४७) इससे स्पष्ट है कि गोमांसभक्षण, यज्ञोंमें गोवध, हिन्दुओंमें प्राचीनकालमें कभी नहीं रहा। तब जो यह कहते हैं कि-'प्राचीन भारतमें गोवध

प्रचलित था'–उनका यह कथन भ्रमपूर्ण वा प्रवञ्चनापूर्ण है। वे लोग जो-जो इस विषयमें प्रमाण देते हैं; उन सबका प्रायः हमने पहले समाधान शास्त्रीय-दृष्टि तथा उपपत्तियोंसे कर दिया है, 'आलोक'के सहृदय पाठकगण हमारी इस ग्रन्थमालाका प्रचार करके भूले-भटकोंके मार्गप्रदर्शनका श्रेय स्वयं लें।

(१६) गायकी प्रत्यक्ष विशेषता।

शास्त्रीय-दृष्टिको न रखकर केवल लौकिक-दृष्टि रखी जावे; तब भी गायकी विशेषता सिद्ध होती है। गायके दूधसे पुरुष सात्त्विक-गुणसम्पन्न, अधिक बलवान्, स्वस्थ, और दीर्घजीवी होता है। इसका सतत सेवन करनेवाला प्रायः बीमार नहीं होता। जो अपने बच्चोंको बीमार नहीं करना चाहते; वे उन्हें गायका दूध ही पिलावें। भैंसके दूधसे बच्चे बीमार हो जाते हैं। पुरुषोंकी मानसिक स्फूर्ति मारी जाती है, आलस्य और शारीरिक आरामकी इच्छा, तथा तमोगुणकी बहुलता बढ़ती है। उससे बच्चोंको जिगरका रोग और अन्तड़ियोंके रोग हो जाते हैं। इसकी दही भी पुरुषकी शक्तिको बढ़ाती है। शारीरशास्त्रके अनुसार मनुष्यकी आंतोंमें विष पैदा करनेवाले असंख्य कीटाणु भरे रहते हैं। वे कीटाणु दहीके प्रयोगसे मर जाते हैं; इससे उनका विष भी शरीरसे बाहर निकल जाता है, और पुरुषकी आयु लम्बी हो जाती है। हमारे पूर्वज बड़े बलवान्, दीर्घकाय तथा दीर्घजीवी होते थे; उसका कारण गायकी छाछका सेवन भी है। आजकल लोग स्वादके-

लिए सख्तसे सख़्त वस्तु खा लेते हैं, उसे हज़म करनेकी चिन्ता नहीं करते। पर हरएक खानेकी चीजको हज़म करनेकेलिए मीठी छाछसे बढ़िया और कोई चीज नहीं है। श्रावण-मास छोड़कर शेष समयमें उसका सेवन करनेसे मनुष्य दीर्घजीवी स्वस्थ और बलवान् बन सकता है, बुढ़ापा भी दूर रहता है, क्योंकि—छाछमें शरीरके पोषक तत्त्व प्रचुर-मात्रामें विद्यमान हैं। इससे शरीरस्थित विषैले कीड़े नष्ट होते हैं; शरीरके पट्ठे पुष्ट होते हैं। बाल भी जल्दी सफ़ेद नहीं होते। इसीके दूधमें धारणा-शक्ति तीव्र बनती है, और टिकी रहती है।

गायका बच्चा पैदा होता जाता है, मांका दूध पीकर खूब कूदता-फांदता है, भैंसके बच्चेको मुश्किलसे उठाया जाता है। उसमें फुर्ती नहीं होती। देखनेमें भी भयानक मालूम देता है। गायके बछड़ेको देखकर मन प्रसन्न हो जाता है। इस प्रकार गायके दूध पीनेवाले भी सात्त्विक, सुन्दर तथा स्फूर्तिमान् रहते हैं। भैंसके दूध पीनेवाले आलसी मन्दबुद्धि तामसिक, स्फूर्तिरहित, प्रायः रोगी रहनेवाले सुस्त, गन्दे विचारोंवाले, विषयी होते हैं। भैंसका बच्चा मर जाए; उस मरे हुएमें भूसा डालकर भैंसके आगे रख देते हैं; और वह निर्बुद्धि उसे अपना बच्चा समझकर दूध दे देती है, पर गाय इन बातोंमें आनेवाली नहीं होती; वह समझदार होती है, अतः इस मौकेपर दूध नहीं उतारती। इस प्रकार भैंसका दूध भी ज्ञानका ह्रास करनेवाला बुद्धिको मोटा कर देनेवाला होता है, उनमें नई सूझ-बूझ एवं

नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभाकी स्फूर्ति नहीं होती, पर गायका दूध इन बातोंका अपवाद है, ज्ञानवर्धक तथा प्रतिभोत्पादक तथा सौन्दर्यवर्धक भी है। गाय अपनी मुलायम रंगविरंगी-चमड़ी द्वारा सूर्यरश्मियोंसे बलवान् प्राणतत्त्वोंका आकर्षण करके अमृतमय दूध देती है, इनमें विटामिन पर्याप्त-मात्रामें है। भैंसके दूधमें विटामिन बहुत कम है। गर्मीमें भैंसको जब तक पूरा स्नान न करावें; तब तक उसके दूधमें बहुत ऊष्मा बनी रहती है; क्योंकि-भैंस आधा जमीनका तथा आधा पानीका प्राणी है, जो कि हानि देनेवाला है, और जब तक उसे भारी खुराक न मिले; तब तक वह दूध देनेवाली भी नहीं होती; पर गायकेलिए इन बातोंकी आवश्यकता नहीं होती। एक भैंसके चारेमें चार-पांच गौवोंका पालन हो सकता है। वह हमारा स्थलचर प्राणी है। यही कारण था कि-हमारे पूर्वजोंने गो-सेवा व्रतको धारण किया था। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंने ऐसे साधन बनाये हुए थे, जिनके कारण यहांकी गौवें सुगन्धित घी-दूध देती थीं, उनका स्वाद भी बढ़िया होता था। वे गायको ऐसा भोजन खिलाते थे, जिससे उसके दूधमें विशेष-प्रकारका स्वाद उत्पन्न होता था, उसके सेवनसे मनुष्यों की स्मरण-शक्ति भी बढ़ती थी, विशेष-प्रकारके रोग भी दूर होते थे। तब ऐसी गायको जो कि-वेदोंमें 'अघ्न्या'का पद प्रदान किया है, यह सभी दृष्टियोंसे ठीक है।

अन्तमें हम 'स्वस्ति गोभ्यः' (अथर्व० १।३१।४) इस वैदिक-

नादको गुंजाकर इस विषयको समाप्त करते हैं। वेदके विषयमें हम पर्याप्त लिख चुके हैं, अब वेदके भाष्यभूत पुराणों पर जो कि प्रच्छन्न-बौद्धों द्वारा आक्रमण किये जाते हैं; कुछ उस विषय पर भी विचार किया जाता है-'आलोक' पाठक उसे भी ध्यानसे पढ़नेका कष्ट उठावें। इसके बाद यह पुष्प पूर्ण होकर अन्य नवीन पुष्पको विकसित करनेवाला बनेगा।

***

संशोधन—पञ्चम-पुष्प (पृ. ३७६)में पं. ८-९-१० हटा देनी चाहिये-'कासासिक्तो नाचामेत्' यह पाठ नहीं, किन्तु 'कासक्तिको नाचामेत्' पाठ है। पृ. ३५५में 'कुशासनविज्ञान'में 'चैलाजिन-कुशोत्तरं'में कुशोंका आसनके ऊपर रखना मालूम होता है, पर स्वामी शङ्कराचार्यजीने गीताकी टीकामें 'अत्र विपरीतः क्रमः' कहकर कुशाका आसन सबसे नीचे रखनेकेलिए कहा है। मध्यमें मृगचर्म तथा सबसे ऊपर रेशमी कपड़ा रखना कहा है।

पञ्चम-पुष्पके 'वारनामरहस्य'में यह बढ़ा लें। 'ऋ.सं.के 'सप्तचक्रे' (१।१६४।१२)में सात वारोंके चक्रका संकेत मिलता है। 'द्वादशारं नहि तज्जराय' (ऋ. १।१६४।११) यहां पर 'द्वादशारं' का श्रीसायणने 'द्वादशसंख्याकमेषादिराश्यात्मकैः, मासात्मकैर्वा अरैः-रथाङ्गावयवैर्युक्तम्'में वेदमें राशियोंका वर्णन सूचित किया है। (ऋ. १।१५५।६)में आदित्यात्मा विष्णुके ९४ अवयव दिखलाये गये हैं, इनमें 'मेषादीनि द्वादश लग्नानि' भी दिखलाकर श्रीसायणने वेदमें राशियोंकी सत्ता स्वीकृत की है।

(११) क्या पुराणोंमें वेदविरुद्ध अंश है ?

'आलोक' पाठक वेदसम्बन्धी बहुतसे विषय पढ़ चुके; अब उनके सामने कई पौराणिक-विषय उपस्थित किये जाते हैं; आशा है पाठक ध्यान-पूर्वक इधर दृष्टि डालेंगे। डाक्टर श्री-सम्पूर्णानन्दजी (उत्तरप्रदेशके प्रधानमन्त्रिमहोदय) पुराणसे वेदविरुद्ध-अंश हटाये जानेकी मांग किया करते हैं, इस प्रकार आजकल अन्य सुधारक भी मांग करते हैं। मालूम होता है कि इस विषयमें वे बल मानते हैं; हम उनकी इस चर्चाकी परीक्षा 'आलोक'-पाठकोंके समक्ष रखते हैं।

कालके प्रभावसे पुराणोंमें प्रक्षिप्त अंश मिल गये हों, यह सम्भव है; पर प्रक्षिप्तताका निश्चय करना भी कोई सुगम काम नहीं; वह भी एकदेशीय-दृष्टिकोण रखनेवालोंके कथनमात्रसे। अतएव पुराणके किसी अंशको बहिष्कृत कर देना ठीक न होगा। केवल पुस्तकमें उल्लेखमात्रसे कोई बात ग्राह्य नहीं हो जाती। 'श्रुतिस्मृति-पुराणानां विरोधो यदि दृश्यते। तत्र श्रौतं प्रमाणं तु द्वयोर् (स्मृति-पुराणयोर) द्वैधे स्मृतिर्वरा' (१।४) इस 'व्यास-स्मृति'के वचनसे वेद-स्मृति-सिद्धान्त-विरुद्ध पौराणिक-वचन स्वयं ही अनादेय-अग्राह्य हो जाता है; बल्कि वेदका अपना वैसा वचन भी अनुसरणीय नहीं रह जाता। 'जारं न कन्या' (ऋ. ६।५६।३), 'योषा जारमिव प्रियम्' (ऋ. ६।३२।५) यह वेदवचन कन्याओंका जार रखनेमें प्रोत्साहक मानकर न तो वेदमें प्रक्षिप्त मान लिया जा सकता है, न उसके बहिष्कृत करने-

की ही सम्मति दी जा सकती है। पुराणमें जो वेद-विरुद्ध अं[illegible] बतलाये जाते हैं, वे हैं पुराणोंके कई इतिहास। इतिहाससे धर्मा-ऽधर्मका निर्णय नहीं हो पाता, वैसे सैंकड़ों भी इतिहासोंको [illegible] ही विधि-वचन अनादेय बना देता है; तब उस उद्वेजक-अंश[illegible] बहिष्करणका प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

हां, किसी पौराणिक-विषयकी वेदसे विरुद्धता या अविरुद्धता[illegible] विषयमें तो विद्वानोंमें मतभेद हो सकता है, पर उस विषय[illegible] निकाल देनेका प्रश्न उठाना ही बड़ा भयावह है। एक [illegible] पुराणादिमें आयी हुई जन्मना वर्ण-व्यवस्थाको वेद-विरु[illegible] मानकर उसको वहाँसे बहिष्कृत करना चाहे, दूसरा उसमें गुण-कर्मणा प्रतीत होती हुई वर्ण-व्यवस्थाको वेदविरुद्ध एवं प्रक्षि[illegible] (पीछेसे डाली हुई) मानकर उसे वहांसे वहिष्कृत करना चाहे, अब इसमें किसका वचन माना जाय ? दोनोंकी बात मान ले[illegible] पर पुराणकी वैसी दशा होगी, जैसे कि एक मिश्रित (काले-सुफेद) बालोंवाले पतिकी युवति और प्रौढा (वृद्धा) दो स्त्रियां द्वारा हुई। युवतिने उसके सफेद बाल उखाड़ दिये और प्रौढाने उसके काले बाल, इस प्रकार पतिको गञ्जा कर दिया गया। प्रक्षि[illegible] अंशको बहिष्कृत करना स्वीकृत करने पर पुराणकी भी वही दशा होगी। इस कारण यह मार्ग ही ठीक नहीं। पहले इसमें वेदके विषयमें ही सोचना पड़ेगा कि वेद कितना है।

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह प्राचीन सिद्धान्त है, इसे [illegible] पुष्पके पञ्चम-निबन्धमें देखिये। 'गणेश' पुस्तकमें डा० सम्पूर्णा[illegible]

नन्दजीने इस सिद्धान्तको प्रश्रय दिया है। ब्राह्मणमें आरण्यक परिशिष्ट, और उपनिषद् अन्तर्भूत हो जाती हैं। मन्त्रमें ११३१ संहिताएँ अन्तर्भूत हो जाती हैं। मन्त्र मूल है और ब्राह्मण उसका उपबृंहण-रूप व्याख्यान। तब जितना मूल होगा, उतना ही व्याख्यान होगा; क्योंकि शब्द और अर्थका सम्बन्ध नित्य हुआ करता है। इस प्रकार ११३१ संहिताएँ, ११३१ ही ब्राह्मण तथा उतने ही आरण्यक और उतनी ही उपनिषदें होंगी। ऐसा होने पर 'अनन्ता वै वेदाः' (तै. ब्रा. ३।१०।११) यह उक्ति सार्थक होगी। इस सम्पूर्ण-साहित्यको पढ़कर ही तब किसी पौराणिक-अंशकी वेदविरुद्धताका उद्घोषण किया जा सकता है; वह भी एक व्यक्तिके कहनेसे नहीं; क्योंकि 'ज्ञातसारोपि खल्वेकः सन्दिग्धे कार्यवस्तुनि'। 'सारज्ञाता भी एक पुरुष 'यह ठीक है, या नाठीक' इस विषयमें सन्देहमें ही रह जाता है। इसी कारण ऐकदेशिक-दृष्टि रखनेवाले किसी समाजके कथनको भी इस विषयमें स्वीकृत नहीं किया जा सकता, तब एक व्यक्तिका तो कहना क्या ? किसी प्रकार प्रक्षिप्तता सिद्ध हो जाने पर भी उससे वह अंश निकाल देना तो कभी ठीक सिद्ध हो भी नहीं सकता; क्योंकि जिस बातको एक सामयिक-प्रवाहमें पतित कलुष-दृष्टि-पुरुष आज अयुक्त कहता है, वही अन्य समयमें उस दृष्टिकोणसे उन्मुक्त होकर उसी अंशको ठीक समझने लग जाता है; ऐसा कई बार अनुभवमें आया है।

इसके अतिरिक्त पुराणोंके समझनेमें सर्वाङ्गीण-ज्ञान की

आवश्यकता भी पड़ती है। पुराणोंमें कहीं किसी बातकी सिद्धिकेलिए अर्थवाद भी प्रयुक्त किये जाते हैं। अर्थवादोंके अक्षरमात्रका ही अर्थ नहीं लिया जाता, किन्तु उसका तात्पर्य-मात्र लिया जाता है। कहीं किसी महान्का विरुद्धाचरण भी दिखलाया जाता है; वहां उसका दुष्परिणाम भी दिखलाया जाता है। उसमें यह तात्पर्य हुआ करता है कि कोई महान् क्यों न हो; तथापि उसके सभी आचरण ग्राह्य नहीं हुआ करते; वहां पर 'यद्-यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' (गीता ३।२१) इस वचनका बाधक 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते' (गीता १६।२४) यह भगवान्से आदिष्ट वचन है। कहीं महान् लोकोत्तर-पुरुष के लोक-विरुद्ध आचरण दिखलाये जाते हैं; उसका दुष्परिणाम भी नहीं दिखलाया जाता; तथापि उसका अनुसरण ठीक नहीं होता। वहां तो उसकी लोकोत्तरता समझकर 'दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च महताम्, तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते, तद् अन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरः।' (२।१३।७-८-९) यह 'आपस्तम्बधर्म' का सूत्र ही याद रखना पड़ता है। कहीं पुराणमें धर्मोंका गौरव-लाघव भी दिखलाया जाता है। जहां व्यष्टिके आचरणसे समष्टिको हानि हो रही हो; वहां व्यष्टिको हानि भी कर देनी पड़ती है, जिससे यह व्यक्ति समष्टि की हानि करनेवाले आचरणसे दूर हो जाय, अथवा उस कण्टक-स्वरूपको वहांसे निकालकर परे फेंक देना पड़ता है अथवा जूतेसे उसका मुख तोड़ देना पड़ता है। कहीं पुराणमें वेदके सूत्रोंके उदाहरण और प्रत्युदाहरण भी दिये

जाते हैं। इस प्रकार सर्वाङ्गीण दृष्टिकोणके द्वारा विचार करनेसे ही पौराणिक-अंशोंकी आलोचनामें पुरुष अधिकृत होता हैं; आपाततः अपनी बुद्धि पर अनारूढ लोकोत्तर-इतिहासको देखकर उस पर आलोचना करना तो अपना अदूरदर्शित्व प्रकट करना है।

पुराणमें कहीं 'आयुर्घृतम्' भी कहा जाता है, 'घृतं विषम्' भी। परस्पर-विरुद्ध भी यह अंश स्वस्थ-अस्वस्थ पात्रके भेदके तथा भिन्न-भिन्न देशकालके अनुसार समाधान-योग्य होता है। इसके अतिरिक्त देवकल्प ऋषिमुनि लोग कभी 'परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः' (गोपथ १।१।१) इस प्रकार परोक्षका वर्णन भी किया करते थे, वह आपातज्ञानधारियोंसे अगम्य होता है, तब उनका उसकी आलोचनामें अधिकार ही कैसे हो सकता है? सभी अपनी बुद्धिको ही अन्तिम कसौटी मानते हैं, पर सबकी बुद्धि सदा ही अन्तिम कसौटी उतरे-यह अनिवार्य नहीं है। उनसे भी अधिक बुद्धिसे मिले हुए दूसरे पुरुष भी मिलते हैं; जो उस ज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं; पर कई लोग उसमें सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। 'लोक-प्रसिद्ध ही अधिक बुद्धिमान् हों' यह भी अनिवार्य नहीं।

फलतः पुराण-समुद्रका मन्थन करने पर सीप भी प्राप्त हो सकती हैं और मोती भी, कुलक्ष्मी भी प्राप्त हो सकती है, लक्ष्मी भी। सुरा एवं हालाहल भी प्राप्त हो सकता है। अमृत देवताओं-को मिला, दैत्योंको नहीं। 'श्रीमद्भागवत'में ठीक ही लिखा है-'एवं

सुरासुरगणाः समदेशकालहेत्वर्थकर्ममतयोपि फले विकल्पाः। तत्रामृतं सुरगणाः फलमञ्जसाऽऽपुर्यत्पादपङ्कजरजः-श्रयणान्न दैत्याः' (८।६।२८)।

पुराण एवं इतिहासमें महान्-विद्वान् रावणका दुराचार भी दिखलाया गया है, धर्मपुत्र-युधिष्ठिरका उसमें द्यूत तथा प्रसिद्ध असत्यभाषण भी दिखलाया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण की भीष्म-द्रोण-कर्ण-दुर्योधन आदिके मरवानेमें नीतियाँ भी दिखलायी गयी हैं, जिन्हें आजकलके कई महाशय दूषित मानते हैं; तब क्या सभी भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके कहनेसे पुराणसे वह निकाल दिया जाना चाहिए? यदि ऐसा है, तो 'जुआ खेलनेसे महाभारत-युद्ध भी हो जाया करता है' इस दुष्परिणामको कौन जान सकेगा? जो जगत्का कर्ता है, भर्ता है, वही जगत्का हर्ता भी हो सकता है, तब जगत्के हर्तृत्वको भर्तृत्वसे विरुद्ध होनेसे क्या प्रक्षिप्त मानकर उसे बहिष्कृत कर दिया जाय?

इन्द्र-कथा

डाक्टर महोदयने इन्द्र-कथा तथा वृन्दाके सतीत्व-भङ्गकी कथा उदाहरणके रूपमें ली है, हम उन पर विचार करते हैं। वेदका एक भाग है ब्राह्मणभाग, उसके प्रधानतः दो भेद हैं, विधि तथा अर्थवाद। इनमें अर्थवाद स्तुति-निन्दा-वचन दिखलाकर तत्तद्-विधियोंका अनुगमन वा त्याग बतलाता है। इस प्रकार विधि और अर्थवादकी एकता हो जाती है। फिर अर्थवादके गुणवाद, अनुवाद तथा भूतार्थवाद यह तीन भेद

होते हैं। इनमें भूतार्थवादमें कई कल्पित आख्यायिकाएँ होती हैं, और कई पारम्परिक-उपाख्यान होते हैं, दोनोंका तात्पर्य कर्तव्यके करने और निषेधयोग्यके निषेधमें हुआ करता है। इस प्रकार 'गुणवाद'में भी किसी की अतिशयित-प्रशस्ति और उससे अतिरिक्तकी घोर निन्दा हुआ करती है। उसमें भी गुडजिह्विका-न्यायसे 'कुनाइन' खानेकेलिए खाँडके लेपकी भांति कर्तव्य कार्यके अनुष्ठानमें प्रवृत्ति ही तात्पर्यका विषय हुआ करती है। अनुवादमें कर्त्तव्य विषयकी ही पुनः-पुनः आवृत्ति की जाती है। पुराणोंने भी प्रायः उसी वेदके भाग ब्राह्मणभागको ही वैदिक-विधानोंके प्रसारार्थ अपनी आधारभूमि बनाया है। ब्राह्मणभागके अर्थवादोंको पुराणोंमें 'माहात्म्य' शब्दसे कहा जाता है। तब अर्थवाद वा माहात्म्यमें अथवा निन्दार्थवादमें 'न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु विधेयं स्तोतुम्' (निन्दा निन्द्यकी निन्दार्थ नहीं होती, किन्तु विधेयके स्तुत्यर्थ ही हुआ करती है) इस न्यायसे उसके सभी शब्दोंका अर्थ न लेकर उसका तात्पर्य-मात्र लिया जाया करता है। वह भी सर्वसाधारणसे ग्राह्य नहीं होता। इसलिए वहाँ भी 'कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः (महा.अनुशा. ३२७।४६) यह ब्राह्मणोंसे भिन्नकेलिए कहा है कि ब्राह्मण द्वारा सुनो, स्वयं समझमें नहीं पड़ेगा। 'पुराण अविद्वानोंकेलिए हैं' यह कहना ठीक नहीं। हाँ, वेदकी भांति शूद्रोंका उनमें अनधिकार तो नहीं, पर इसका यह अर्थ नहीं कि वे शूद्रोंकेलिए ही बनाये गये हैं; यह अवश्य याद रखना चाहिए, अन्यथा उनमें द्विजोंका

अनधिकार सिद्ध हो जायगा। पुराण वेदकी व्याख्या हैं—यह तो सर्व-सम्मत है, पर कभी व्याख्या भी मूलसे कठिन बन जाया करती है, 'मघवा मूलं विडौजाः टीका' यह इसका उदाहरण है, तथा नव्यन्याय एवं नव्यव्याकरणके टीकाग्रन्थ इसमें प्रमाण हैं। फलतः वेदके व्याख्यानग्रन्थ पुराणोंको भी समझनेकेलिए बुद्धिकी परिपक्वता अपेक्षित हुआ करती है, उसमें आपातमात्रसे द्रष्टा अथवा अर्थकर्ता भ्रममें पड़ सकता है, यह अवश्य जान रखना चाहिए। पक्षपाती दृष्टिकोण रखनेवालेको तो कुछ भी ठीक नहीं दीखता। जहाँ कहीं लोकविरोध दीखे, वहाँ 'विरोधे गुणवादः स्यात्' इससे गुणवाद नामक अर्थवाद समझना चाहिए। वहाँ प्रकृत-धर्मके गुण-मात्र बतलानेमें तात्पर्य होता है, विरोध दिखलानेमें नहीं।

इन्द्र देवराज होने पर भी 'देव' हैं, देवोंमें भी सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण हो ही सकते हैं, वे उनसे अतीत नहीं हो सकते। 'भगवद्गीता'में कहा है—'न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभि-र्गुणैः' (१८।४०)। सात्त्विकोंमें भी केवल सत्त्वगुण नहीं हो सकता, जब तक साथमें रजोगुण आदि न हों। जैसे पार्थिव घटमें भी केवल पृथिवी, जल-तेज, आकाश आदि के बिना कार्य नहीं कर सकती, जैसे जलीय, वायव्य, तैजस आदि लोकान्तरीय-शरीरोंमें भी बिना पृथिवीके कार्य नहीं होता, वैसे एक गुण कभी किसीमें अकेला नहीं हो सकता। एक की प्रधानता

होने पर भी दूसरे गुणोंकी सहायता साथ हो ही जाती है, इसलिए दूसरे गुण भी कभी मुख्य-गुणको अभिभूत करते हैं, इस कारण सत्त्वप्रधानतामें भी रजोगुण-तमोगुणका मिश्रण भी कभी हो जाया करता है। 'भगवद्गीता'में भी कहा है—'रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत। रजः सत्त्वं तमश्चैव, तमः सत्त्वं रजस्तथा' (१४।१०)। ब्रह्मभाव (मुक्ति) में ही गुणहीनता हुआ करती है, देवता आदि बननेमें नहीं। जैसे कि 'गीता'में भी यह सूचित किया गया है—'स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते' (१४।२६)। यदि ऐसा है, तो देवताओंमें भी रजोगुण और तमोगुण सम्भव हैं। रज चञ्चल होता है और तम आवरक। तब देवताओंकी भी पुराणोंमें जिन घटनाओंको उद्वेजनीय मानकर बहिष्कार करना कहा जाता है, यह उन वार्तोंको भुला देना ही है। रजोगुणके परिणाम देखिये—'लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा। रजस्येतानि जायन्ते' (गीता १४।१२), 'रजसो लोभ एव च' (१४।१७), 'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः' (३।३७) इस गीतोक्तिके अनुसार 'दिव्येयमादिसृष्टिस्तु रजोगुणसमुद्भवा' (४।३७) इस 'मत्स्यपुराण'के वचनानुसार रजोगुणी देवोंमें भी काम, स्त्रीस्पृहा, स्त्री आदिका लोभ शास्त्रविरुद्ध कैसे सिद्ध किया जा सकता है ? इसलिए 'कामकामा लभन्ते' (गी. ९।२१)में स्वर्गस्थ देवोंका कामित्व भी कहा है।

वेदमें कहा है—'कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः। ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महान् तस्मै ते काम !

नम इत्कृणोमि' (अथर्व. ९।२।१९)। यहाँ 'काम' शब्दमें सभी प्रकारका काम अन्तर्भूत हो जाता है। उस कामका, देवता भी अतिक्रमण एवं पूर्ति नहीं कर सकते, यह इस मन्त्रमें संकेतित किया गया है। इस संकेतकी स्पष्टता यमीने यमके प्रति की है—'उशन्ति घा ते अमृतास एतद् एकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य' (ऋ. १०।१०।३) इसका प्राकरणिक अर्थ यह है कि 'अमृताः' देवता भी 'एतत् त्यजसं' त्यागयोग्य स्त्री आदि को 'उशन्ति' कामना करते हुए देखे गये हैं। इसी दृष्टान्तसे देवता यमी भी भ्राता यमकी कामना करनेको तैयार होगयी ? तब क्या डाक्टर-महोदय वेदमें भी वैसी बात देखकर वहाँ वेद-विरुद्धता तथा प्रक्षिप्तता मान लेंगे ?

इसीलिए ही इन्द्रदेवकेलिए 'अहल्यायै जार' (शतपथ. ३।३।४।१८), 'गौतमब्रुवाण' (तै. आ. १।१२।३-४) इत्यादि-रूपसे ब्राह्मणभागात्मक-वेदमें तथा 'जारमिन्द्रम्' (ऋ. १०।४२।२) यह मन्त्रभागात्मक-वेदमें मिलता है। कौशीतकि-ब्राह्मणोपनिषद्में प्रतर्दनके प्रति इन्द्र अपना वर्णन करते हुए कहता है—'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनम्, अवाङ्मुखान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्, बह्वीः सन्धा अतिक्रम्य दिवि प्रह्लादादीन् अतृणम्, अहमन्तरिक्षे पौलोमान् पृथिव्यां कालकाश्यानान् [अहनम्], तस्य मे तत्र न लोम च नामीयत' (३।१) यहां इन्द्रने अपने विरुद्ध-कर्मोंका वर्णन किया है।

निरुक्तकारने 'अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरुप्य मरुद्भ्य सम्प्रदि'

त्साञ्चकार, स इन्द्र एत्य परिदेवयाञ्चक्रे' (१।४।१३) यहां इन्द्र-केलिए रखी हुई हविको अगस्त्य-द्वारा मरुतोंको देनेका विचार करनेमात्रसे तथा इन्द्रको हवि पीछे देनेका विचार करनेसे ही इन्द्रको इतनी अधीरता हुई कि वह परिदेवन (मन्युपूर्वक-विलाप) करने लगा। यहां इन्द्रका शङ्कित स्वभाव दिखलाया गया है। 'शतपथ' (१४।१।१।१६) में यज्ञ-विद्या दूसरेको देनेकेलिए इन्द्रने दध्यङ्को सिर काटनेकी धमकी दी थी, फिर उसे काट भी दिया। 'तद् अस्य तद् इन्द्रः शिरश्चिच्छेद' (१४।१।१।२४)। इस प्रकार (शत. १।६।३।२ में) इन्द्रका विश्वरूपसे द्वेष करना, उसके तीनों सिरोंको काट डालना तथा उसके द्रोणकलशसे उत्पन्न होनेवाले अपने मारकका विचार करके उसके डरसे उस सोमको पी जाना (१।६।३।७), नमुचि दैत्यको तथा अन्य दैत्योंको मायासे मारना (शत. १२।७।३।३) इससे वह परोत्कर्षासहिष्णु तथा अपनी आयुके बीचमें कटनेकी शङ्कावाला सिद्ध होता है। इस प्रकार वेदमें अन्यत्र भी बहुत स्थानों पर इन्द्रका ऐसा वर्णन आया है; उसीको आश्रित करके बीजको वृक्ष बनानेवाले पुराणोंके वैसे स्थलोंको वेदविरुद्ध और प्रक्षिप्त बतलाना तो अपना अवहुश्रुतत्व प्रकट करना होगा। उक्त-कर्मोंसे भी 'मम लोम नाऽमीयत' यह कहकर देवचरित्रोंकी लोकोत्तरता और लोकसे अव्यवहार्यता दिखलायी गयी है; तो वहां प्रक्षिप्तता कैसे हो सकती है?

जो कि इन्द्रको देवराज और विष्णु तथा रुद्रको इन्द्रका

अनुयायी कहा जाता है; उसके विपरीत कहनेवाले पुराणोंको वेदविरुद्ध कहा जाता है, इसमें भी अपनी अवहुश्रुतता ही सूचित की जाती है। यह ध्यान रखना चाहिये कि वेद सूत्र हैं और पुराण वेदसूत्रोंके भाष्य हैं। अब वे वैदिक सूत्र देखने चाहियें, उनके उदाहरण, प्रत्युदाहरण स्वयं घटा लेने चाहिएँ।

वेदमें भी 'प्राच्यां दिशि त्वमिन्द्रासि राजा' (अथर्व. ६।९८।३) 'इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन्' (अ. ६।१२।२) इत्यादि स्थलोंमें इन्द्रको एक दिशाका अधिपति बतलाया है, सब दिशाओंका नहीं। जैसे कि—'इन्द्रज्येष्ठा मरुद्गणा देवासः (ऋ. २।४१।१५), आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिः' (अथर्व. २०।१२४।५)। इसके अतिरिक्त उसे 'निरुक्त'में मध्यम-लोकका स्वामी माना गया है, उत्तम-लोकका नहीं। तब यह उत्तम लोकके स्वामियों—ब्रह्मा, विष्णु, महादेव आदियोंका स्वामी भी कैसे हो सकता है? 'विष्णोर्यत् परमं पदं' (ऋ. १।२२।२१), 'तद् विष्णोः परमं पदं' (ऋ. १।२२।२१) यहां पर विष्णुका लोक परम (बड़ा) माना गया है। श्रीयास्क सूर्यलोकको विष्णुलोक मानते हैं। उसकेलिए वे 'तदुरुगायस्य विष्णोर्महागतेः परमं पदं पराध्यस्थमवभाति भूरि' (निरुक्त. (२।७।१) इस प्रकार श्रीविष्णु-भगवान्के धाम [इस मन्त्रका देवता भी विष्णु है] को महोच्च बतलाते हैं। 'व्रजत ब्रह्मलोकम्' (अथर्व. १६।७१।१) यहां पर ब्रह्मलोकका वर्णन है। महाभारतमें भी उक्त वैदिक-सिद्धान्त समर्थित किया गया है। जैसे कि 'ब्रह्मणः सदनाद् ऊर्ध्वं तद् विष्णोः परमं पदम्। शुद्धं सनातनं

ज्योतिः इदं ब्रह्मेति यद् विदुः' (३।२६१।३०) 'विष्णोर्यत् परमं पदम्' यह 'ब्राह्मण, सावधान !' (८७) में भी उद्धृत है। तब एक छोटे राज्यका अधिपति और विपत्तिके समय विष्णुकी सहायता मांगनेवाला इन्द्र विष्णु आदिका राजा कैसे हो सकता है ?

'तैत्तिरीयोपनिषद्' (ब्रह्मानन्दवल्ली) में कहा है—'ये शतं देवानामानन्दाः, स एक इन्द्रस्यानन्दः। ते ये शतमिन्द्रस्य आनन्दाः, स एको बृहस्पतेरानन्दः। ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः, स एकः प्रजापतेरानन्दः। ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः, स एको ब्रह्मण आनन्दः (२।८)। 'बृहदारण्यक'में कहा है-'ये शतमाजानदेवानामानन्दाः, स एकः प्रजापतिलोके आनन्दः। ये शतं प्रजापतिलोके आनन्दाः, स एको ब्रह्मलोक आनन्दः। एष ब्रह्मलोकः सम्राट्' (४।३।३३)। इस प्रकार इन्द्रलोकसे जब ब्रह्मलोक की उत्तमता बतलायी गई है, तब इन्द्र ब्रह्मा, विष्णु आदिकोंके भी स्वामी कैसे हो सकते हैं ?

अब विष्णुकी महत्ता मन्त्रभागात्मक-वेदमें भी देखिए-'न ते विष्णो ! जायमानो न जातो देव ! महिम्नः परमन्तमाप' (ऋ. ७।९९।२)। यहां इन्द्र विष्णुसे न्यून सिद्ध हो रहे हैं। तभी तो 'शतपथ' में कहा गया है—'तद् विष्णुः प्रथमः प्राप, स देवानां श्रेष्ठोऽभवत्। तस्माद् आहुः-'विष्णुर्वै देवानां श्रेष्ठः' (१४।१।१।५)। 'ऋग्वेदसंहिता'में विष्णुकी उच्चता देखिये-'यः पूर्व्याय वेधसे (विविधजगत्कर्त्रे) नवीयसे सुमज्जानये विष्णवे' (ऋ. १।१०६।२), 'मारुतस्य वेधसः' (५) मरुत्सङ्घातके स्रष्टा विष्णु

का यहां वर्णन है। 'सखिवान्' (इन्द्र आदि सखाओंसे मिला हुआ) प्र विष्णुरस्तु तवसस्तवीयान् (वृद्धोंसे भी अधिक वृद्ध) 'त्वेषे हि अस्य स्थविरस्य नाम' (ऋ. ७।१००।३) यहां पर भी विष्णुको वृद्धतर दिखलाया गया है।

'विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि। यो अस्कभायद् उत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधा उरुगायः' (ऋ. १।१५४।१) यहां विष्णुकी बड़ी महिमा दिखलायी गयी है। पुराणमें भी ऐसा ही है—'विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि। चस्कम्भ यः स्वरभसाऽस्खलता त्रिपृष्ठं यस्मात् त्रिसाम्यसदनाद् उरु कम्पयानम्' (श्रीमद्भागवत २।७।४०), तब इन्द्र विष्णुसे कैसे बड़े ! 'अशत्रुं मां जनिता जजान' (ऋ. १०।२८।६) यहां इन्द्रकी प्रजापति-द्वारा उत्पत्ति कही गयी है। 'देवानामस्मि वासवः (इन्द्रः)' (भागवद्गीता १०।२२) यहां इन्द्रको भगवान्-विष्णु की विभूति कहा गया है, तब वह विष्णुसे उत्तम कैसे ?

उसी देवराजको पुराणों-द्वारा सहस्र-छिद्रान्वित कहा जाता हैं, इससे वह कामी या मैथुनी इष्ट हो; पर यह भी वेदादिशास्त्रों-से विरुद्ध नहीं, किन्तु वेदानुकूलतासे ही कहा गया है। 'नैषां शिश्नं प्रदहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम्' (अथर्व. (४।३४।२) यह देवताओंके विषयमें वेदमें कहा है; तब उनकी बहुत स्त्रियाँ कहनेसे उनके कामित्वका संकेत मिलता है। इनके शिश्न (अङ्ग) को कामाग्नि जला नहीं डालती। जल जाने पर

तो वह अङ्ग निकम्मा हो जाए, यहाँ पुराण-प्रदर्शित ध्वनि मिल सकती है। 'कामः प्रथमो विविदे नैनं देवा आपुः (प्रापुः) पितरो न मर्त्याः' (अ. ६।२।१६) इस मन्त्रको इन्द्र-कथा अतिक्रान्त नहीं करती। स्वर्ग, कर्म-भूमि भी नहीं है, भोग-भूमि ही है; अन्तमें उससे पतन ही होता है। यह 'महाभारत' (३।२६१।२८-२६-३५) में स्पष्ट है। 'अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्' (६।२०) यह भगवद्गीतामें कहा है। प्रसिद्ध 'पातञ्जल-महाभाष्य'में भी इस विषयमें संकेत किया है—'इज्यायाः किञ्चित् प्रयोजनमुक्तम्। किम्? स्वर्गे लोके अप्सरस एनं [याजकं] जाया भूत्वा उपशेरते' (६।१।८४)। तब भोगयोनि-देवयोनिमें भी कर्मयोनि-मनुष्यके समान मर्यादा कैसे हो सकती है?

सूर्यदेवका कुन्तीसे संयोग डाक्टर-महाशय भी मानते होंगे-और फिर सूर्य-पुत्र धर्मराज (यम) यमका कुन्तीसे नियोगमें संयोग भी हुआ। वह कुन्ती तो यमकी माताकी भांति होगयी; तब यह संयोग कैसे ठीक हुआ? इसमें मानना पड़ेगा कि देवताओंमें मानुषी मर्यादा प्रवृत्त नहीं होती।

देवताओंके विषयमें 'मत्स्य-पुराण'में कहा है—'दिव्येयमादिसृष्टिस्तु रजोगुण-समुद्भवा। अतीन्द्रियेन्द्रिया तद्वदतीन्द्रिय-शरीरिका' (४।३), दिव्यतेजोमयी भूप! दिव्यज्ञानसमुद्भवा। न मर्त्यैरभितः शक्या वक्तुं वै मांस (चर्म) चक्षुभिः। (४।४), यथा भुजङ्गाः सर्पाणामाकाशं विश्वपक्षिणाम्। विदन्ति मार्गं दिव्यानां दिव्या एव न मानवाः। (५), कार्याकार्ये न देवानां शुभाशुभफलप्रदे। यस्मात् तस्मान्न राजेन्द्र! तद्विचारो नृणां शुभः' (४।६-१०) तब मानुषी-दृष्टिकोणसे देवताओंकी आलोचनाका दृष्टिकोण खण्डित हो जाता है।

देवताओंका जो असत्य-व्यवहार कहा जाता है; उसमें यह जानना चाहिए कि 'स एव धर्मः सोऽधर्मो देशकाले प्रतिष्ठितः। आदानमनृतं हिंसा धर्मो ह्यावस्थिकः स्मृतः' (महा. शान्तिपर्व ३६।११)। 'न तत्त्ववचनं सत्यं नाऽतत्त्ववचनं मृषा। यद् भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा' [सत्यका नाम सत्य नहीं; असत्यका नाम असत्य नहीं; जो प्राणियोंके हितार्थ है, वही सत्य है] इस कसौटीसे परीक्षा करने पर ही सत्य-असत्यकी परीक्षा हो सकती है, आपात-दृष्टिकोणसे नहीं।

इन्द्रके कामित्व-विषयमें ऋ. १।५१।१३ के मन्त्रभाष्यमें 'शाट्यायनि-ब्राह्मण'को उदाहृत किया गया है—'वृषणश्वस्य मेना भूत्वा मघवा कुले उवास। तां च प्राप्तयौवनां स्वयमेव इन्द्रश्चकमे'। यहाँ श्रीसायणाचार्यने 'ताण्ड्य-ब्राह्मण'को भी उदाहृत किया है—'तामिन्द्रश्चकमे'। यह 'मेनाऽभवो वृषणश्वस्य' इस ऋग्वेद-संहिता (१।५१।१३) के मन्त्रमें संकेतित किया गया है। 'कामी हि वीरः' (ऋ. २।१४।१) यहाँ इन्द्रको कामी वीर कहा गया है। तब वैसा वर्णन करते हुए पुराणकी वेदविरुद्धता भला कैसे कही जाती है? जब वेद ही हिंदुधर्मकी अन्तिम कसौटी है; उनमें ननु-नच, किन्तु-परन्तु नहीं किया जाता और वेदमें बीजरूपमें वर्णित वैसे वृत्तको पुराण पल्लवित करते हैं; तब पुराणोंकी वेद-विरुद्धता-

स्वयं हट जाती है। यदि वहाँ वेदके शब्दोंका अर्थ परिवर्तित किया जाता है; तो पुराणोंमें भी वैसा अर्थ परिवर्तित कर लेना चाहिए। फिर पुराणोंकी वेदविरुद्धताका ढिंढोरा पीटनेसे लाभ क्या? इसी कारण वादिप्रतिवादिमान्य 'वेदसारस्वरूपा-भगवद्-गीता'में भी देवताओंको 'काम-कामाः' (९।२१) कहा है। 'कठोप-निषद्'में 'सर्वान् कामान् [इह स्वर्गलोके] छन्दतः प्रार्थयस्व, इमा रामाः सरथाः सतूर्याः। नहि ईदृशाः [अप्सरसः] लम्भनीया मनुष्यैः' (१।१।२५) स्वर्गकी अप्सराओं एवं स्त्रियोंका लोभ दिया गया है।

'योगदर्शन'में भी देवताओंको 'सर्वे सङ्कल्पसिद्धाः, औपपा-दिकदेहाः उत्तमानुकूलाप्सरोभिः कृतपरिवाराः वृन्दारकाः काम-भोगिनः' (३।२६) कामभोगी कहा है। यहाँ 'भास्वती'में लिखा है—'काम्यविषयभोगिनः'। 'तत्त्ववैशारदी'में कहा है—'मैथुन-प्रियाः।' उसी दर्शनमें अन्यत्र भी कहा है–'स्थानिनो देवा उप-निमन्त्र्यन्ते–भोः। इह आस्यताम्, इह रम्यताम्, कमनीयो-ऽयम्भोगः, कमनीयेयं कन्या···· उत्तमा अनुकूला अप्सरसः' (व्यासभाष्य ३।५१)। इसीलिए वेदमें 'जारमिन्द्रम्' (ऋ. १०।४२।२) कहा गया है।

पुराणमें जो इन्द्रका परोत्कर्षाऽसहिष्णुत्व आक्षिप्त किया जाता है कि किसी को तपस्या करते देख वह काँप उठता है कि यह मेरे पदको छीन लेगा, उस पर यह जानना चाहिए कि पुराणोंमें कहीं किसी को लोकदृष्टिमें उन्नत दिखलानेकेलिए इस

प्रकारके अर्थवाद भी करने पड़ जाते हैं। अर्थवादका प्रत्येक शब्दके वाच्यार्थमें तात्पर्य नहीं हुआ करता; किन्तु एक विशेष आशयमें तात्पर्य हुआ करता है। ऐसा होनेमें उसकी तपस्याकी उच्चता विवक्षित होती है। कहीं देवताओंकी वैसी प्रकृति भी पुराणकारके द्वारा व्याख्यात की जाती है। उसका सूत्र वेदमें भी देखिये—'मा नो मेधां, मा नो दीक्षां, मा नो हिंसिष्ट यत् तपः' (अथर्व. १९।४०।३) यहाँ देवगण-द्वारा तपस्याकी हिंसा आशङ्कित करके उसके निषेधार्थ प्रार्थित किया है। 'किं न इन्द्र! जिघांससि ···मा नः समरणे वधीः' (ऋ. १।१७०।२) यहाँ इन्द्रकी हिंसा-प्रवृत्ति सूचित की गयी है। देवताओंका विघ्नोत्पादकत्व भी कहा गया है। जैसे कि 'बृहदारण्यक-उपनिषद्'में–'यावन्तो देवा-स्त्वयि जातवेदः! तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान्' (६।३।१) यहाँ देव-प्रकृति 'तिर्यञ्चः' शब्दसे सूचित की गयी है। वेद सूत्र हैं, पुराण वेदके भाष्य हैं। सूत्रका भाष्य भला निन्दनीय कैसे हो? वेदकी सभी संहिताओंमें स्थित इन्द्रके सूक्तों और ब्राह्मणादिके इन्द्रके वर्णनोंका यदि मन्थन किया जाय, तो वहाँ पौराणिक इन्द्रके वर्णनोंका मूल स्पष्ट मिल जायगा। हाँ, वे सूत्र होनेसे संक्षिप्त हो सकते हैं और पौराणिक-वर्णन भाष्य होनेसे विस्तृत हो सकते हैं। पुराण वेदके ही तो भाष्य हैं।

देवयोनि भोगयोनि है और मनुष्य कर्मयोनि, यह हम पहले कह चुके हैं। परन्तु देवताओंकी जाति उच्चतावश मनुष्यों से नमस्कार योग्य होती है। माता-पिता और 'यानि अस्माकं

सुचरितानि तानि त्वया उपास्यानि, नो इतराणि' (तै. उ. ११।१।३) इसका उपदेश देनेवाले गुरु जितने भी दोषोंवाले हों, वे पुत्र और शिष्योंसे नमस्कार-योग्य ही होते हैं। उनके दोषोंका उत्तरदायित्व उन्हीं पर है, हम पर नहीं। हमें तो उनके प्रति अपना कर्त्तव्य-पालन करना है। इसी प्रकार देवगणकी नमस्कर्त्तव्यता भी प्रतिहत नहीं हो सकती।

गायको वादी भी वेदानुसार पूज्य मानते ही होंगे, यदि उस गायका अपनेसे ही उत्पन्न हुए—और बैल बन गये हुए बछड़ेसे मैथुन हो जाय—या अपने उत्पादक बैलसे; तो क्या वे यह कहेंगे कि यह ऐसे चरित्रवाली है; तब इसे वेदने पूज्य क्यों कहा? हम इसे नमस्कार नहीं करेंगे। ऐसा ही तर्क क्या भोगयोनि-देवजातिकेलिए नहीं किया जाता? दोनों योनियोंकी सभी मर्यादाएँ समान नहीं होतीं। इसलिए कर्मयोनि मनुष्य, देवताओंका आचरण करनेमें समर्थ नहीं हो सकता; नहीं तो 'विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्' (श्रीमद्भागवत १०।३३।३१) वह दशा होगी। रुद्र हालाहल-पान करने पर भी नहीं मरे; पर मनुष्य तो वैसा अनुकरण करने पर मर ही जायगा।

नासत्यों (अश्विनों) पर डाक्टर-महाशयकी बड़ी श्रद्धा है (देखिये-'ब्राह्मण, सावधान')। पर वे ही अश्विद्वय वृद्ध-च्यवनकी पत्नी सुकन्याको कहते हैं-'सुकन्ये! कमिमं जीर्णि कृत्यारूपमुपशेषे? आवामनुप्रेहि' (शतपथ ४।१।५।६)। देखिये-वे देवता होकर मानुषीको कैसा मार्ग दिखलाते हैं कि 'इस बूढ़ेको छोड़

कर हमारे साथ चल'। पर उस मानुषीने उसे छोड़ना स्वीकार नहीं किया और कहा—'यस्मै मां पिता अदाद्, नैव अहं तं जीवन्तं हास्यामीति' (४।१।५।६)। अत्र मित्रा-वरुण देवोंकेलिए भी 'निरुक्त' का वचन सुन लें—'उर्वशी ह अप्सराः... तस्या दर्शनान्मित्रावरुणयो रेतः चस्कन्द। तदभिवादिनी एषा ऋग् भवति' (५।१३।१;५।१४।१)। 'प्रजापतिः स्वां दुहितरमधिष्कन्' (ऋ. १०।६१।७) यहाँ प्रजापतिका अपना दुहितृ-गमन संकेतित किया है। तब वैसा वर्णन कर रहे पुराणको वेदविरुद्ध कैसे कहा जाता है? जो अर्थ उसका वेदमें किया जायगा; वही वेदानुसारी पुराणोंमें भी किया जा सकता है, पुराणों पर ही दोष क्यों थोपा जाता है? अथवा पुराणोंमें वेदविरुद्धता कैसे अभिमत की जाती है?

वृन्दाकी कथा

जोकि कहा जाता है कि 'यज्ञो वै विष्णुः, यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।' श्रीकृष्णरूपसे विष्णु 'गीता' में शास्त्रविधि-त्यागकी निन्दा करते हैं, तब विष्णुने वृन्दाका सतीत्व-भङ्ग क्यों किया? या तो यह कथा ही मिथ्या है, अथवा विष्णु पाप-कर्मा हैं। पर कोई धार्मिक-पुरुष विष्णुके चरित्रको दुष्ट नहीं मानता। इस कारण यह जालन्धरकी कथा ही वेदविरुद्ध है, इसे पुराणसे निकाल देना चाहिए'। यहाँ पर जालन्धरके साथ तो सहानुभूति प्रकाशितकी जाती है, पर दूरदर्शित्वको प्रवृत्त न करके आपातदृष्टिसे वेद-विरुद्धता दिखलायी जाती है। यह क्यों?

यहाँ यह जानना चाहिए कि वृन्दाकी कथा पातिव्रत्य-धर्मका अर्थवाद है। उसके पातिव्रत्यके बलसे उसका पति मर नहीं सकता था—'नान्यथा स भवेद् वध्यः पातिव्रत्यात् सुरक्षितः' 'पद्मपुराणस्थ कार्तिकमासमाहात्म्य (८।१२६)। अपनी स्त्रीके पातिव्रत्य-बलका दुरुपयोग करके वह दैत्य दूसरोंकी स्त्रियोंका सतीत्व-भङ्ग कर दिया करता था। तब 'निकृत्या (छलसे) निकृतिप्रज्ञा हन्तव्या इति निश्चयः। नहि नैकृतिकं (छलीको) हत्वा निकृत्या (छलसे) पापमुच्यते' (महाभारत वनपर्व ५२।२२)। इस नीतिसे छलीसे छलका अवलम्बन पाप नहीं था। नहीं तो छलीके छलको प्रोत्साहन मिल जाता है।

श्रुति-प्रमाणो धर्मोऽयमिति वृद्धानुशासनम्। सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य बहुशाखा ह्यनन्तिका' (महाभारत ३।२०९।२), प्राणान्तिके विवाहे च वक्तव्यमनृतम्भवेत्। अनृतेन भवेत् सत्यं, सत्येनैवानृतम्भवेत्' (३), यद् भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा। विपर्ययकृतोऽधर्मः पश्य धर्मस्य सूक्ष्मताम्' (२०९।४)। इस कथनसे धर्मकी सूक्ष्मता सिद्ध होती है। भूतोंके हितको ही यहाँ सत्य-धर्म कहा है। तब वृन्दाके सतीत्व-भङ्गसे ही प्राणियोंका हित था; क्योंकि तब 'सतीत्वहानिरततपत्न्या यत्र काले भविष्यति। तत्रैव काले तन्मृत्युः' (देवीभागवत ९।१९।६१) दैत्य-जालन्धरकी मृत्यु हो जाने पर उन समष्टि-प्राणियोंकी स्त्रियोंके सतीत्वभङ्गकी आशा असम्भव थी, तब यह धर्म ही प्रतिफलित हुआ। वृन्दाकी कथासे यह सिद्ध हुआ कि जहाँ व्यष्टिके हितकी

अपेक्षा समष्टिका हित-लाभ अधिक हो, वहाँ व्यष्टिके हितकी हुई-हुई हानि भी पाप नहीं होती।

एक ग्रामके एक मुहल्लेमें एक पुरुष ऐसा था—जोकि दूसरों की स्त्रियोंको कुदृष्टिसे देखा करता था; कभी किसी स्त्रीके अस्थानमें स्पर्श कर दिया करता था, किसीका बलात् प्रधर्षण तथा किसीको पैसोंका लोभ देकर प्रधर्षित कर लिया करता था। पुरुषोंने उसे बहुत समझाया; पर वह इस काण्डसे न रुका। परन्तु उसकी अपनी स्त्री तो पतिव्रता थी। उसके पातिव्रत्यके बलसे कोई भी उसके पतिपर हाथ नहीं रख सकता था। एक बार तंग हुए-हुए मुहल्लेके पुरुषोंने सोचा कि—जब तक इसकी स्त्रीका इसीके सामने प्रधर्षण न होगा; तब तक यह शान्त न होगा—यह सोचकर उन्होंने उसकी पत्नीको उसके सामने ही प्रधर्षित कर दिया। इस काण्डसे वह इतना प्रभावित हुआ कि-फिर उसे किसीने घरसे बाहिर निकला हुआ नहीं देखा; मर कर ही वह घरसे बाहिर निकला हुआ दीखा। इस प्रकार उसकी निर्दोष-पत्नीकी प्रधर्षणामें यद्यपि उस मुहल्लेके पुरुषोंको बहुत दुःख हुआ; तथापि अन्य कोई उपाय शेष न रह जानेसे उन्हें वैसा करना पड़ा। इस प्रकार होनेपर दूसरी स्त्रियोंकी प्रतिष्ठाकी सुरक्षा हो गई। सात्त्विकके साथ सात्त्विक-व्यवहार न्याय्य होता है, और तामसके साथ तामस। तामसके साथ सात्त्विक व्यवहार होने पर वह रुकता नहीं, किन्तु बढ़ता ही है। इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझ लेना चाहिये।

जालन्धर दैत्य अपनी स्त्रीके पातिव्रत्यके बलसे सुरक्षित होकर दूसरोंकी स्त्रियोंका सतीत्वभङ्ग करनेमें लगा हुआ देव-मनुष्यादि गण आदिके विनाशके लिए तैयार रहता था। कोई भी उसे दबा नहीं सकता था। इस प्रकार वह बहुत स्त्रियोंके प्रधर्षणसे उत्साहित होकर युद्धके अवसर पर महादेवके साथ दूसरे दैत्योंको लड़नेकेलिए नियुक्त करके स्वयं महादेवका रूप धरकर पार्वतीके सतीत्व-भङ्गके लिए भी उनके घरमें पहुँचा (शिवपुराण, रुद्रसंहिता २२।३७-३८-३९)। वह सफल तो उसमें न हुआ—यह दूसरी बात है, पर उसने दूसरेकेलिए वैसा मार्ग-प्रदर्शन कर दिया जैसेकि—कार्तिकमाहात्म्यमें कहा है-'तेनैव (जलन्धरेण) दर्शितपथा वयमप्यनुयामहे। नान्यथा स भवेद् वध्यः पातिव्रत्यात् सुरक्षितः, (८।२९) तब 'कण्टकं कण्टकेनेव' इस उसीकी नीतिसे पार्वतीसे प्रार्थित विष्णु-देवने—"जिस धर्मके आवरणमें स्थित होकर कोई अधर्म कर रहा हो, वह धर्म नहीं होता, किन्तु अधर्म ही होता है, वृन्दाका पतिव्रत-धर्म उसकी अपनी पारलौकिक सुगतिकेलिए तो हो, पर वह देव तथा मनुष्यादि-गणका नाश तो न कर दे' तब धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुवर्त्म तत्। अविरोधस्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम !' (महाभारत वनपर्व १३१।११) (वृन्दाका पतिव्रत-धर्म अन्य सभी स्त्रियोंके पातिव्रत-धर्मको बाधित कर रहा है, अतः यह यहाँ धर्म नहीं) यह सोचकर जालन्धरका रूप धारण करके उसकी स्त्रीको भी वञ्चित किया। इस प्रकार उसके सतीत्वभङ्ग होने पर उसका

पति जालन्धर भी युद्धमें अनायास मारा गया। उसकी स्त्रीको भी सर्वथा दोषोन्मुक्त नहीं किया जा सकता, नहीं तो वह नीतिसे पतिको समझाकर दुर्व्यापारसे हटवा सकती थी। पर वैसा न करने पर उसे भी अपने इस दोषके फलस्वरूप हानि उठानी पड़ी—यह पुराणमें अपनी शैलीविशेषसे ध्वनित हो जाता है।

पर यहाँ पर जालन्धर दैत्यको दोषी न मानकर वैसा करते हुए विष्णुदेवकी निन्दा की जाती है, दैत्यमें यह पक्षपात क्यों? इसके अतिरिक्त वहाँ पर अन्य सुगम उपाय था ही क्या? लातोंके भूत बातोंसे सीधे नहीं होते। यहाँ स्मरण रख लेना चाहिए—'निकृत्या निकृतिप्रज्ञा हन्तव्या इति निश्चयः। नहि नैकृतिकं हत्वा निकृत्या पापमुच्यते' (छलीको छलसे मारनेसे कोई पाप नहीं होता। (महा० ३।५२।२२)। यहाँ पर वेदविरुद्धता भी नहीं है। वेद स्पष्ट कहता है—'इन्द्र ! जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियम्। मायया शाशदानाम्' (ऋ० सं० ७।१०४।२४) (हे ऐश्वर्यशाली देव ! मायावी दैत्य अथवा स्त्रीको मायासे ही मार दो) यह वैदिक राजनीति वेदने अन्यत्र भी दिखलायी है—'मायाभिरिन्द्र ! मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः' (ऋ० १।११।७) 'त्वं मायाभिरपमायिनोऽधमः' (ऋ० १।४१।५) 'त्वं मायाभिरनवद्य ! मायिनं ···· वृत्रमर्दयः' (ऋ०१०। ५७।२) यदि ऐसा है, तो जालन्धर-विष्णु-वृन्दाकी यह कथा वेद-सूत्रोंका भाष्य होनेसे उसे वहाँसे क्यों हटाया जाय?

इसके अतिरिक्त यहां विष्णुकी अपनी कामना नहीं थी,

तब 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' (गीता ५।१०) 'यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते' (१८।१७) 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः' (४।२०) इन वचनोंकी चरितार्थता हो जाती है। फिर भी विष्णुदेवने पतिव्रताके शापको भी स्वीकृत करके स्वयं प्रस्तर बनने को स्वीकृत करके पतिव्रत्यकी अलौकिक शक्तिके अर्थवाद को सत्य करके दिखलाया है। पतिव्रत्यके प्रभावसे चिड़ियाके भस्म होनेका वृत्त भी सुना गया; अग्निका शीतल हो जाना, सूर्यकी गतिको रोक देना एतदादिक चमत्कार भी सुने गये थे, परन्तु 'कर्तुमकर्तुम् अन्यथाकर्तुं शक्त' भगवान्‌को भी पतिव्रत्यके बलसे शाप मिला—वैसी अतिमानुषशक्तिवाले भगवान्‌को भी वह स्वीकार करना पड़ा—इस प्रकार भगवानने भी पतिव्रत्यके लोकोत्तर-प्रभावको व्याख्यात कर दिया।

श्रीकृष्णरूपसे विष्णुदेवने इसी वैदिकनीतिको पाण्डवोंसे करवाकर भीष्म, द्रोण, जयद्रथ, कर्ण, दुर्योधन आदियोंको असत्यसे मरवाया। इन योद्धाओंको मरवाकर उनकी निर्दोष पतिव्रता स्त्रियोंको विधवा कराया। यह क्यों? इसका यही कारण है कि-उन्होंने अन्यायरूपी कांटोंको दूर करके न्यायका साम्राज्य स्थापित करना था। जैसे खेतके रक्षार्थ कांटोंकी वृत्ति (वाड) भी आगे देनी पड़ती है, वैसे ही यहां भी सामष्टिक-हित

वा न्याय-साम्राज्य-स्थापन दृष्टिकोणमें होनेसे एतदादिक माय व्यवहार भी धर्म सिद्ध होता है। तभी तो वस्तुस्थिति सम सत्यवादी भी युधिष्ठिर 'अश्वत्थामा हतः' इस प्रसिद्ध अस बोलनेकेलिए तैयार हो गये। इससे अपने कलङ्कित हो जाने व्यष्टिके अहितकी उपेक्षा कर और गुरु-द्रोणाचार्यकी मृत्यु व्यष्टिके अहितको भी उपेक्षित करके सामष्टिक-हितकी रक्षा लिए जो उनने असत्य बोला, यह भी 'यद् भूतहितमत्यन्तं सत्यमिति धारणा' एतदादि-वचनोंसे वस्तुतः सत्यधर्म ही है तथापि भगवान्‌ने यहां भी पुराण की भान्ति पतिव्रता-गान्धारी का अपने यदुवंश-नाशका शाप भी अपने सिर-माथे लिया। यदि इस दृष्टिकोणको न रखा गया, और सभी इस प्रकार स्थलोंमें वेद-विरुद्धता मानकर, प्रक्षिप्तता ठहराकर इस- अनेक-स्थलोंको बहिष्कृत कर दिया गया, तो जहां प्राचीन इतिहासकी छीछालेदर हो जायगी, वहां इस प्रकारकी विषम- समस्याओंमें कर्तव्यता-अकर्तव्यताका भी पता न लग सकने धर्मकी भी सर्वथा हानि हो जायेगी।

इस प्रकार वृन्दाके पातिव्रत्यसे एक व्यक्ति वृन्दा तथा उसके पतिका तो हित हो रहा था; पर सम्पूर्ण देवता, दैत्य और मनुष्यगणों की समष्टिका अहित हो रहा था। तब भगवान विष्णुने—'घनाम्बुना राजपथे हि पिच्छिले, क्वचिद् बुधैर पथेन गम्यते' सड़कके गहरे जलसे फिसलनवाली बने होने कहीं समझदारोंको भी बुरे रास्तेसे जाना पड़ता है, इस न्याय

उस वैयष्टिक-हितको समष्टिके लिए अहित समझकर हटा दिया। तब सामष्टिक-हितको पूर्ण करनेकेलिए ही उन्होंने वैसा व्यवहार किया, इससे जालन्धरकी आयुकी क्षीणता होनेसे मृत्यु हुई, जगत्ने सुखका श्वास लिया, और वृन्दा सती हो गई। फिर भी उनको इस कृत्यसे एक पतिव्रताके राख हो जानेका बहुत दुःख हुआ, तब वे करुणार्द्र होकर वृन्दाकी भस्ममें लोटकर अचेत हो गये। जब देवताओंने समझाया, तब उन्होंने उससे उत्पन्न तुलसीको ही तद्रूपा मानकर उसका प्रेमसे सत्कार किया। उसके इस महान् बलिदानसे उसके पातिव्रत्यने श्रीविष्णुको प्रभावित किया, अतएव विष्णुने उसे अपनी प्रिया माना और उसकी पूजा शुरू कराई।

इस कथासे स्त्रियोंको शिक्षा भी मिलती है कि यदि तुम पतिव्रता न रहोगी, और अन्तःपुरमें न रहोगी, और तुम्हारा पतिव्रत तुम्हारे अनजानपनमें भङ्ग कर दिया गया, तब भी तुम्हारे पति की आयु न्यून हो जायगी, पर यदि तुमने जान-बूझकर अपना पतिव्रत-धर्म, अपना सतीत्व नष्ट करवा लिया. तो तुमने अपने पतिकी मानो अर्थी तैयार कराली। इसमें पुरुषोंको भी शिक्षा मिलती है कि भगवान्ने यद्यपि जनकल्याणार्थ दैत्य-स्त्रीका सतीत्व-भङ्ग किया, और उन्हें पत्थर बनना पड़ा; तो यदि आप किसी सत्पुरुषकी स्त्रीका अपनी वासनाकी पूर्त्यर्थ सतीत्व-भङ्ग करेंगे, तो आपकी भयंकर दुर्दशा होगी। शेष है श्रीविष्णु की निन्दा, तो सतीत्व-भङ्ग करनेवाला महान् भी क्यों

न हो, उसकी निन्दा होनी ही चाहिये। शेष प्रश्न है विष्णुकी पूजाका, उसमें कारण अन्य-सतियोंके सतीत्व-संरक्षणार्थ अपनी भावी हानिको भी न सोचकर उस विषम-गढ़ेमें जनकल्याणार्थ अपनेको गिरानेकेलिए उद्यत हो जाना है, तब कृतज्ञ जनताका विष्णुकी पूजा करना कर्त्तव्यमें आ पड़ता है। अब बताया जाय कि इस कथामें प्रक्षिप्तता क्या रही? इसमें प्रक्षिप्तता वाच्यार्थ-मात्रमें विश्वास-बुद्धिवाले आपातदर्शी ही मान सकते हैं, पर व्यङ्ग्यार्थ तक पहुँचनेकी बुद्धि रखनेवाले दूरदर्शी लोग भी यदि वैसा मान बैठें, तो वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थका, आपात-दर्शित्व और दूरदर्शित्वका फिर भेद ही क्या रह जायगा? तब यह डाक्टर-महाशय जैसे विद्वानोंका कर्त्तव्य है कि वे उल्टा इस विषयमें जबकि उन जैसे सुधारकका जनता पर प्रभाव है—बिगड़े दिमागवाली जनताको समझायें, उसको 'न बुद्धिभेदं जनयेद् अज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्' इस न्यायसे स्वयं ही गुमराह न करें।

इस कथामें तुलसी और शालग्रामकी पूजाका सम्बन्ध भी अर्थापित होता है और तुलसीदलकी दिव्यशक्ति शालग्रामके स्पर्शसे अनन्तगुणदायिनी हो जाती है—यह वैज्ञानिक रहस्य भी सद्ध होता है। वैदिक और पौराणिक उपाख्यानस्थल विशेष कर आध्यात्मिक आधिभौतिक तथा आधिदैविक रहस्योंको भी अपनेमें क्रोडीकृत किये हुए होते हैं, तब उनमें थोड़ी-सी उद्वेजकता देखकर उनके बहिष्कृत कर देनेका उद्घोष कर देना

यह आगेकी पीढ़ीमें वैदुष्यको समाप्त कर देनेकी ही चाल सिद्ध होगा। इसी प्रकारके विषम-स्थलोंके निकष पर बुद्धिकी परीक्षा किये जाने पर उस बुद्धिकी उत्तरोत्तर तीव्रता बढ़ेगी।

चन्द्रमाका गुरुतल्प-गमन।

आगे डाक्टर-महाशय लिखते हैं कि—'अन्य भी इस प्रकारके अंश पुराणोंमें वेदविरुद्ध हैं, जिनमें वेदप्रशस्त देवताओं-को नीच-प्रवृत्तिवाला दिखलाया गया है, उन पौराणिक-अंशोंको भी वेद-विरुद्ध होनेसे पुराणोंसे बाहर कर देना चाहिये।' यहां डाक्टर-महाशयने स्पष्ट तो नहीं बताया, तथापि अपनी 'ब्राह्मण सावधान'-पुस्तकके अनुसार उन्होंने 'चन्द्रमाका गुरुतल्पगमन' एक बड़ा पाप दिखलाया है, वही यहाँ उन्हें वेदविरुद्ध इष्ट है। हम यहाँ उसकी भी परीक्षा करना चाहते हैं, उसके बाद इस निबन्धको उपसंहृत किया जायगा।

चन्द्रमाकी यह पौराणिक-कथा प्रसिद्ध है, जिसने देवगुरु-बृहस्पतिकी पत्नी ताराका अपहरण कर लिया। माँगने पर भी गुरुको न दिया। उससे ताराको गर्भ होगया। इससे देवता चन्द्रमासे बिगड़ गये, उन्होंने उसके विरुद्ध युद्ध शुरू कर दिया। तब चन्द्रमाने दैत्यगुरु-शुक्रकी शरण ली, उसके पक्षके दैत्य चन्द्रमाकी सहायताकेलिए तैयार होगये। देव-दैत्योंका घोर संग्राम हुआ। ताराके गर्भसे बुध पैदा हुआ। तब परस्पर यह समझौता हुआ कि चन्द्रमा, तारा बृहस्पतिको लौटा दे, उसके पुत्र बुधको अपने पास रखे। ऐसा किये जाने पर देवासुर-संग्राम

समाप्त होकर शान्ति होगयी'। इस विषय पर भी पाठकगण विचार करें।

यह तत्त्व भी बहुश्रुतता न रखनेसे जाना नहीं जा सकेगा। आपातज्ञान रखनेसे तो इसमें अश्लीलता एवं उद्वेजकता ही प्रतीत होगी। तब उसे वेद-विरुद्ध भी कहा जा सकेगा। यहाँ इस आक्षिप्त-विषय पर संक्षेपसे अपना विचार पाठकोंके समक्ष रखा जाता है।

यह चन्द्र-ताराकी कथा भी वेद-विरुद्ध नहीं है, बल्कि वेद-मूलक ही है। देखिये वेदमें इसका मूल—'सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छद् अहृणीयमानः' (ऋ. सं. १०।१०९।२) इस मन्त्रका अर्थ यह है कि (सोमः राजा) चन्द्रमाने (प्रथमः) जो इस कर्मके करनेमें सबसे पहला है; उससे पूर्व किसीने भी इस प्रकारका कर्म नहीं किया, (ब्रह्मणः-जायां) बृहस्पतिकी स्त्री ताराको (अहृणीयमानः) इस कर्मसे लज्जित न होते हुए (हृणीङ् रोषणे लज्जायां च, कण्ड्वादिः) (पुनः प्रायच्छत्) फिर वापिस कर दिया।

इस मन्त्रमें 'ब्रह्म' शब्द 'बृहस्पति'-वाचक है। जैसे कि ब्राह्मण-भागमें भी कहा गया है—'ब्रह्म वै देवानां बृहस्पतिः' (तैत्तिरीय ब्रा. ३।७।३।७)। इस प्रकार ऐतरेय-ब्राह्मण (२।३८) में भी कहा गया है। 'शतपथ-ब्राह्मण'में तो स्पष्ट कर दिया गया है—'स वा एष ब्राह्मणस्यैव यज्ञो यद्-एतेन बृहस्पतिरयजत। ब्रह्म हि बृहस्पतिः' ब्रह्म हि ब्राह्मणः' (५।१।१।११)। उक्त मन्त्रमें 'ब्रह्म'

शब्दसे 'बृहस्पति' कहा गया है; उसके साथ वाले मन्त्रमें तो 'बृहस्पति' शब्द स्पष्ट है। जैसे कि—'तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीताम्' (ऋ. १०।१०६।५) 'तेन सोमेन नीतां जायां बृहस्पतिः अन्वविन्दत्' इसका अन्वय है। अर्थ वही पूर्व-जैसा है। 'यामाहुस्तारका एषा' (अथर्व. ५।१७।४) यहाँ सोमसे ले जायी गयी बृहस्पतिकी स्त्रीका नाम 'तारका' कहा गया है; और पुराणमें 'तारा' कहा गया है। इससे वेद-पुराणोंकी एक-वाक्यता प्रतिफलित होगयी। तब जब वेदमें भी यह कथा संकेत-रूपसे आयी है; तब पुराणमें उस कथाके उद्धरणसे वेद-विरुद्धता कैसे कही जाती है?

वास्तवमें जैसे वेदमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक यह तीन भाव होते हैं; और समाधि-भाषा, लौकिक-भाषा और परकीया-भाषा यह तीन भाषाएँ प्रयुक्त होती हैं, वैसे ही वेदानुसारी पुराणोंमें भी तीन भाव तथा तीन भाषाएँ प्रयुक्त हैं; क्योंकि-'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवति आख्यानयुक्ता' (निरुक्त १०।१०।२) इस वचनके अनुसार किसी भाव वा तत्त्वको लौकिक आख्यानके ढङ्गसे कहनेमें ऋषि-मुनियोंको परम-प्रीति होती है, तब इस पौराणिक-उपाख्यानमें एक आधिदैविक-तत्त्व भी प्रस्फुटित हो रहा है। वह यह है कि बृहस्पति ब्रह्मत्वसे मिला हुआ (बृहि वृद्धौ) ज्योतिर्मय-ग्रह है, उसका अभिमानी सूक्ष्म शरीरवाला देव भी बृहस्पति कहा जाता है। तारा भी—जिसका नाम (अथर्ववेद सं. ५।१७।४) मन्त्रमें स्पष्ट है—बृहस्पतिकी सहचारिणी

होनेसे उसकी पत्नी कही जाती है। वह कोई मनुष्य-शरीरवाली स्त्री नहीं है। चन्द्रमा रात्रिमें सबसे अधिक प्रकाशवाला दूसरे नक्षत्रोंका राजा है। इसलिए पूर्व-मन्त्रमें उसे 'सोमो राजा' कहा गया है। इस प्रकार अन्य मन्त्रोंमें भी कहा गया है। जैसे कि-'चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः, स माऽवत्वस्मिन्' (पारस्कर. १।५।१०) 'चन्द्रमा गन्धर्वः, तस्य नक्षत्राणि अप्सरसः' (यजु. वा. सं. १८।४०) यहाँ नक्षत्र चन्द्रमाकी स्त्रियाँ मानी गयी हैं। तदनुसार तारा चन्द्रमाकी भी स्त्री है। बृहस्पति-ग्रह सब ग्रहोंसे बड़ा (गुरु) होनेसे चन्द्रमाका भी गुरु है। जैसे किसीके अधिष्ठाता बहुत हों, वैसे ताराके अधिष्ठाता भी दो हैं। चन्द्राभिमानी-देवने सङ्कल्पात्मक-योगसे (सङ्कल्प ही काम होता है—'सङ्कल्पमूलः कामो वै' (मनु. २।३) तारामें बुधको पैदा कर दिया। अर्थात्—दोनों ज्योतियों वा देवताओंके साङ्कल्पिक संयोगसे क्योंकि—'नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः' (१२।४८) वेदा ज्योतींषि वत्सराः। द्वितीया सात्त्विकी गतिः, (१२।४९) इस कथनसे योनि-विशेष हैं,-एक तीसरी दिव्य-शक्ति 'बुध' नामकी प्रकट हुई। पुराणोंमें यही इतिहास मानुषी-इतिहासकी रीतिसे दिखलाया गया है। तब देवता होनेसे उनमें मानुषी-मर्यादा कैसे प्रसक्त हो सकती है?

इसी तत्त्वको सुगम रीतिसे यों कहा जा सकता है—चन्द्रग्रहने बृहस्पतिग्रहके निकट ठहरी हुई 'तारा'को अपनी आकर्षण-शक्तिवश अपने मण्डलमें आकृष्ट कर लिया, और वह चन्द्रमासे

सम्बद्ध होगयी। चन्द्रमा बृहस्पतिकी प्रतियोगितामें बहुत छोटा होनेसे शिष्य जैसा है, और बृहस्पति सब देवग्रहोंसे वड़ा एवं भारी होनेसे देवगुरु है—यही शिष्य-चन्द्रमाका गुरुदारापहरण प्रतिफलित हुआ। तब ध्रुवमें बंधे हुए ग्रह-नक्षत्रोंमें आकर्षण-विकर्षणवश उच्छृङ्खलता होगयी। बृहस्पति सौम्य-प्रकाश होनेसे देवग्रह है, और शुक्र तीक्ष्ण-प्रकाश होनेसे असुरग्रह है। इस विशृङ्खलताके कारण शुक्रग्रहके साथ वाले नक्षत्रोंका चन्द्रमाकी ओर झुकाव होगया; और दूसरे ग्रह-नक्षत्रोंका गुरुसे सम्पर्क होगया। तब आकर्षण-विकर्षणके योगसे दोनों मण्डलोंका विशृङ्खलतात्मक एक युद्ध-सा होगया। यही ताराके कारण देवासुरसंग्राम प्रतिफलित हुआ; जैसे कि 'श्रीमद्भागवत' (९।१४।७) में कहा है—'सुराऽसुरविनाशोऽभूत् समरस्तारकामयः'। इसमें तारकाके सम्बन्धसे यह युद्ध हुआ—यह अर्थ भी है और तारोंका विशृङ्खलतात्मक समर हुआ—यह अर्थ भी है। तब चन्द्रके आकर्षणसे खिंची हुई बृहस्पतिकी ताराके आप्यायनसे बढ़ा हुआ एक भाग जिसमें चन्द्रका कुछ भाग भी सम्मिलित होगया था, अलग होगया, जिसका नाम 'बुध' हुआ। यही ताराका चन्द्र-संयोगसे गर्भिणी होना और बुध-प्रसव करना लौकिक-रीतिसे प्रतिफलित हुआ। फिर चन्द्रके विकर्षण और बृहस्पतिके आकर्षणयोगसे तारा पुनः बृहस्पतिके पास होगयी और बुध चन्द्रमाके पास रहा, यही चन्द्रमाका गुरुपत्नीको गुरुके पास लौटाना और गुरुके क्षेत्रमें अपनेसे उत्पन्न अपने पुत्र बुधका

अपने पास रखना लौकिक-रीतिसे प्रतिफलित हुआ। तब पारस्परिक-आकर्षण-विकर्षणके सामञ्जस्य हो जानेसे विपम... हट जानेके कारण वह ग्रह वा नक्षत्रोंकी विशृङ्खलता शान्त हो गयी, यही 'समरस्तारकामयः' (९।१४।७) ताराके निमित्त... प्रवृत्त हुए देवासुर-युद्धकी शान्ति प्रतिफलित हुई। पुराणने लौकिक-शैलीसे इस आधिदैवत-तत्त्वका अर्थवादात्मक वर्णन इस प्रकार किया कि—"बृहस्पति सब देव-ग्रहोंसे गुरु होनेसे देवगुरु हैं, अत्यन्त-लघु चन्द्र उसका शिष्य है। चन्द्रमाने अपने से अनुलग्ना उस गुरु-पत्नी ताराका अपहरण कर लिया, दोनोंके मैथुनसे बुध हुआ।"

इस वर्णनमें एक स्थान पर अश्लीलता दीखती है, दूसरे प्रकारमें प्रतीत नहीं होती। इस प्रकार पुराणमें विमर्श-पूर्ण दृष्टिकोण रखने पर अश्लीलता स्वयं दूर हो जाती है। क्या देवताओंके इन्द्रिय और देवताओंका मैथुन (मिथुनीभाव) इस... जैसा कभी हो सकता है ? कदापि नहीं, किन्तु पुराणोंने एक नीरस बातकी सरसता करके साधारणजनोंके रञ्जनार्थ वा कौतूहलार्थ तथा मनुष्योंकी विविध-शिक्षाकेलिए उनका मनुष्यकी तरह कविताशैलीसे वर्णन किया है। जैसे एक साधारण सामाजिक-घटना चमत्कारार्थ विविध पात्रोंकी कल्पना द्वारा घटना... वैचित्र्यको प्रदर्शित करके उपन्यासरूपमें दूसरेके सामने रखी जाती है, तब उसका महान् प्रभाव तथा चमत्कारपूर्णता हो जाती है, वैसे ही पहले ऐसे ही अर्थवादात्मक-उपन्यास शिक्षाके...

साथ ही साथ जनमनोरञ्जन भी किया करते थे। आपात-ज्ञान रखनेवाले व्यक्ति देवताओंको मनुष्योंके समान आकृतिवाले अपने ही समान शक्तिवाले और अपने ही समान व्यवहारमें लगे हुए मानते हैं, परन्तु वास्तवमें यह अदूरदर्शियोंका अपना ही व्यामोह होता है, इसमें पुराणोंका थोड़ा भी अपराध नहीं।

इस कथाके अर्थवादकी योजनासे यह शिक्षा भी मनुष्योंके लिए प्रतिफलित होती है कि—गुरु भी अपनी युवति-पत्नीको शिष्यों पर न सौंप दे, और उन पर विश्वास न कर ले। जब वह स्वयं विद्यालयमें हो, या प्रवासमें हो, तब अपने घरमें कार्यार्थ शिष्यका निवास, या साग-सब्जी दे आनेकेलिए अपनी युवति पत्नीके पास शिष्यका गमनागमन एकान्तमें न रखे, नहीं तो भीषण परिस्थितियाँ भी कभी घट सकती हैं। यह बात परोक्ष-दर्शी मनुजीने भी जान रखी थी। तभी उन्होंने अपनी स्मृतिमें भी कहा है—'बलवान् इन्द्रिय-ग्रामो विद्वांसमपि कर्षति' (मनु० २।२१४) इसीलिए मनुजीने गुरुकी युवति-पत्नीका चरणस्पर्श भी युवा-शिष्यको निषिद्ध कर दिया। जैसेकि—वहीं कहा है—'गुरुपत्नी तु युवतिर्नाऽभिवाद्येह पादयोः। पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता'। (२।२१२) 'युवति गुरु-पत्नीको २० वर्ष का युवक चरणवन्दना न करे'। इसमें मनुजी कहते हैं—'स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्। अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः' (२१३) 'विद्वान् स्त्रीके विषयमें प्रमाद कभी नहीं करते।' आगे मनु इसीको स्पष्ट करते हैं—'अविद्वांसमलं

लोके विद्वांसमपि वा पुनः। प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशा-नुगम्' (२१४) स्त्रियाँ काम-क्रोधके वश होनेवालेको-चाहे वह विद्वान् हो अथवा अविद्वान्—कुमार्ग पर ले जा सकती हैं'।

तब इस कथासे न तो गुरुके शिष्य चन्द्रमें दोष लगाना इष्ट है, और न पुराणकारको इस प्रकार शिष्योंको प्रोत्साहन देना उद्दिष्ट है, किन्तु 'गुरुको अपनी युवति-पत्नीके विषयमें अपने विश्वस्त भी शिष्योंका विश्वास नहीं करना चाहिये' यही उक्त अर्थवादका निष्कर्ष निकलता है। अर्थवादमें सभी शब्दोंका अर्थ नहीं निकलता, किन्तु उसके तात्पर्यमें ध्यान देना पड़ता है। इसमें एक दृष्टान्त भी जानना चाहिये। ब्रह्माकी पुत्रीगमनकी कथा वेदादिमें और पुराणोंमें भी प्रसिद्ध है। उसका श्रीकुमारिलभट्ट तथा आधुनिक स्वामी-दयानन्द आदियोंने सूर्य—उषाके रूपकमें तात्पर्य माना है। तब वेद और पुराणोंमें भी सीधे ढंग से सूर्य-उषाकी कथारूपसे न कहकर क्यों ब्रह्माके पुत्रीगमनरूप-में उपाख्यान वर्णित किया? वहाँ यही कारण है कि—शास्त्र एक प्रत्यक्ष बातको कभी परोक्षवृत्तिसे तो कभी अतिपरोक्षवृत्तिसे वर्णित कर दिया करते हैं और कभी परोक्षतत्त्वको वे प्रत्यक्षकी भांति, या उपाख्यानकी रीतिसे वर्णित करते हैं—जैसे निरुक्तमें कहा है—'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवति आख्यान-संयुक्ता' (१०।१०।२) यहाँ किसी तत्त्वके स्फोरणार्थ ऋषिमुनियोंकी आख्यान लिखनेमें भी प्रवृत्ति दिखलायी गयी है। इससे पुरुषोंको कौतूहल भी हो जाता है। इससे पिताको पुत्री-गमनका प्रोत्साहन नहीं

दिया जाता, किन्तु वहाँ इस अर्थवादसे सिद्ध होता है कि—सुन्दर या युवती पुत्रीके विषयमें पिता पर भी विश्वास न कर लेना चाहिये। इसी लक्ष्यसे मनुजीने भी कहा है—'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्। बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति' (२।२-१४) 'मां, बहिन तथा लड़कीके भी साथ अकेलेमें पुरुष न बैठे, क्योंकि इन्द्रियाँ बलवान् होती हैं, विद्वान् को भी खैंच ले जाती हैं।

जो कि—'यद् यदाचरति श्रेष्ठः' इस न्यायसे छोटे लोगोंको इससे प्रोत्साहन मिलेगा' यह कहा जाता है, उस पर यह जानना चाहिये कि—यह कार्य विद्वानोंका है कि—वे सर्व-साधारणोंको समझायें कि-उक्त वचनका बाधक 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य-व्यवस्थितौ' (१६।२४) यह भगवद्-वचन है; क्योंकि—बड़ेसे बड़ोंके कुत्सित-आचरणोंका एक भी विधि-वाक्य बाधक बन जाता है। इसलिए 'वेदः, स्मृतिः, सदाचारः,' (मनु० २।१२) यहाँ सदाचारको श्रुति-स्मृतिके बाद तीसरे स्थान पर रखा गया है। उसमें पहले वेद तथा स्मृतिको रख कर सिद्ध किया गया है कि—पहले वेद और फिर स्मृतियोंके विधि-वचन-का अनुसरण करना चाहिये, न कि किसी एकके उनसे विरुद्ध आचरणका। इसलिए 'श्रीमद्भागवत-पुराण'में कहा गया है—'धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्। तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा' (बड़े लोगोंका धर्मातिक्रमण तथा साहस भी देखा गया है। पर इससे तेजस्वियोंको दोष प्राप्त नहीं होता;

सर्वभुक् (सभी-कुछ खाने पर भी) अग्निको दोष नहीं ... १०।३३।३०) 'नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः। वि... त्याचरन् मौढ्याद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्' (समर्थोंके ... व्युत्क्रमणको देखकर असमर्थ-पुरुष मनसे भी धर्मका अति... न करे। यदि करेगा, तो मूर्खताके करनेसे कहींका भी ... रहेगा। महादेवने हालाहल-विषपान कर लिया—उन्हें ... कुछ नहीं हुआ; पर अनीश्वर उसका अनुकरण करके ... जायगा १०।३३।३१)।

तब यह सब दूरदृष्टिसे न विचार कर पुराणोंको ... विरुद्ध कैसे कहा जाता है? क्या लोकनायक-विद्वा... लोकभ्रान्त्युत्पादन कभी ठीक हो सकता है? अब ... क्या वेदविरुद्धता बनती है; जिसको पुराणसे ... निकाल देनेका अवसर उपस्थित हो? इस प्रकार तो वेदों... 'मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः।' (ऋ. ६।५५।५) ... दुहितुर्गर्भमाधात्' (अथर्व. ६।१०।१२) इत्यादि वेदमन्त्र भी ... बाहर करने पड़ेंगे, यदि सीधा शब्दोंका अर्थ करना ही ... अर्थ माना जाय। वेदने इन मन्त्रोंको सरल ढङ्गसे न ... क्यों इन्हें उद्वेजक एवं अश्लील ढङ्गसे लिखा? यदि व्याख्या... यह सब जान लिया जा सकता है, तो पुराणोंमें भी ... 'व्याख्यानतो विशेष-प्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्' ... परिभाषा की चरितार्थता है। जिस पर सन्देह हो—उससे ... वहां होना बुरा नहीं हो जाता; व्याख्यान करनेसे उस ...

विषयका विशेष ज्ञान हो जाता है। यही चन्द्रमाके गुरुतल्पगमन का रहस्य है।

यह ठीक है कि इनके उक्त रहस्य सभी नहीं जान पाते, और न उनका सब तक पहुँचाना सरल होता है; पर जो इनके रहस्योंका जिज्ञासु होता है, वह तो 'तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' (गीता ४।३४) इस प्रकारको अवलम्बन कर लेता है और लाभ भी उठा लेता है; पर जो उन रहस्योंको नहीं जानना चाहते, वे समझाने पर भी उसे नहीं मानते। उनका काम ही पुराणोंको कलङ्कित करना है, अतः हम, सभीको कहां तक प्रसन्न कर सकते हैं? सबको प्रसन्न करना असम्भव है। जो पुराणोंको अपना समझेगा, तो पुराण भी उसे अपना रहस्य बता देंगे। जो पुराणोंको गैरकी दृष्टिसे देखेगा, तब पुराण उसके मित्र कैसे हो सकेंगे? अपना रहस्य उसे क्यों कर बताएँगे?

जैसे वेदमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक भाव हैं; समाधि-भाषा, लौकिक भाषा और परकीया-भाषा-यह तीन भाषाएँ प्रयुक्त हैं; वैसा ही वेदानुसारी-पुराणोंमें भी हैं। तब 'पुराण अविद्वानोंकेलिए बनाये गये हैं' यह कथन तो अनुभवसे भी विरुद्ध है। 'स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुति-गोचरः। इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्' (१।४।२५) यह कहनेवाले 'श्रीमद्भागवत'केलिए ही प्रसिद्ध है कि 'विद्यावतां भागवते परीक्षा'। उन्हीं विद्वानोंकी विद्वत्ताकी कसौटी रूप 'श्रीमद्-भागवत'

तथा 'देवी-भागवत'में आई हुई वृन्दा तथा तारा-चन्द्रकी कथा अविद्वद्गणज्ञेय कैसे हो सकती है? इसी प्रकार 'महाभारत'में भी ६ सहस्रके लगभग कूटपद्य हैं। उनको अशिक्षित शूद्रादि कैसे जान सकते हैं? अथवा पुराण अविद्वानोंकेलिए माने जांय, तथापि 'कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः' (महा. अनु. ३२७।४६) [ब्राह्मणको आगे करके सुनो] यह उनकेलिए कथन पूर्वोक्त बात सिद्ध करता है, अर्थात् ब्राह्मण ही उस रहस्यको ठीक-ठीक व्याख्यात कर सकेगा और वह व्याख्या मूलकी ही होगी। तब मूलका ज्ञान अविद्वानोंको अनायास कैसे हो सकता है? यह तो साधारण-पुराण-श्रोताओंको पता है कि सूत-जैसे विद्वानोंने तथा श्रीशुकदेवसदृश ब्रह्मज्ञानीने भी पुराण श्रीवेदव्याससे पढ़ा था; यदि वे इतने ही सुगम होते, जितने कहे जाते हैं; तो फिर उन्हें उनके पढ़नेकी आवश्यकता ही क्या थी?

इसके अतिरिक्त सूतके सामने पुराणोंके श्रोता भी कोई साधारण शूद्रादि नहीं थे, किन्तु 'ऋषयः शौनकादयः' नैमिषारण्यवासी ही महान् विद्वान् शौनकादि ऋषि-मुनि थे। पुराणों को यदि अविद्वानोंकेलिए माना जाय, तब इनके श्रोता भी शूद्र-अन्त्यज आदि दिखलाये गये होते, तब श्रीशुकदेवादिको भी उनके पढ़ानेकी आवश्यकता नहीं थी। स्वयं ही वे उनको जान जान जाते, परन्तु ऐसी बात नहीं। पात्रापात्र-विचार सर्वत्र करना पड़ता ही है। तब 'पुराण स्त्रीशूद्रादिकेलिए हैं' इस कथनका इतनातात्पर्य हो सकता है कि वेदके शब्दोंके सुननेके जैसे

शूद्रादि अनधिकारी हैं, वैसे वे शूद्रादि पुराणोंके अनधिकारी नहीं; किन्तु वे भी अधिकारी हैं। तथापि उन्हें भी वे 'कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः' (महा. शान्ति. ३२७।४६) ब्राह्मणसे सुनने चाहियें। इनसे विद्वान्-वक्ताकी प्रयोजनीयता यहां सिद्ध हो ही जाती है। तब पुराणोंके आक्षेप्तागण भी यदि अन्तर्मुखी वृत्ति करके, दोषैकदर्शित्व-बुद्धिको हटाकर पुराणोंका गम्भीर मन्थन रूप अभ्यास करें; तब उस पुराणार्णवसे उनको रत्न मिलेंगे, अमृत मिलेगा; नहीं तो ऊपर-ऊपरसे तो उन्हें कौड़ियां ही मिल सकेंगी, वा गलत मन्थन करने पर उन्हें हालाहल ही मिलेगा।

जब 'डा० सम्पूर्णानन्दजी' "मैं सिनेमा देखने जाता हूँ" इस वाक्यकी भी जिसमें किसी शास्त्रीय-तत्त्वका कुछ भी सम्बन्ध नहीं, 'आध्यात्मिक-व्याख्या' कर सकते है, तब वे पौराणिक-देवसम्बद्ध-कथाओंकी जिनमें शास्त्रीय-तत्त्व अन्तर्निहित हैं, आधिदैविक-व्याख्या तो अवश्य ही करके दूसरोंको समझा सकते हैं। तब वहांका सभी कथनोपकथन भी स्वयं व्याख्यात हो जायगा और उनकी निरर्थकता स्वयं दूर होगी। फिर बलात् पुराणोंको वेदविरुद्ध बतानेकी आवश्यकता क्या रह जाती है?

यह अवश्य ध्यान रख लेना चाहिये कि—'न चात्रातीव कर्त्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः। दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते' मनको दोषैकदर्शी ही बना नहीं लेना चाहिये, नहीं तो दोष न होनेपर भी दोष निकालनेके मनवालोंको कोई दोष

दीख ही जाता है। अब पुराणोंके श्रीकृष्णपर जो दोष लगाये जाते हैं, उनपर विचार किया जावेगा, पाठकगण इधर ध्यान देते चलें।

---

(१२) भगवान् कृष्णका सुदर्शनचक्र।

व्रजचन्द्र भगवान्-श्रीकृष्णचन्द्रकी इस युगमें जितनी पूजा बढ़ी है; उतनी तो नहीं, पर अंशतः उनके बाल्यचरित्रपर यथा-तथा आलोचना भी हुई है। यह नई बात तो नहीं कही जा सकती; क्योंकि—इसके आरम्भकर्ता शिशुपाल आदि दैत्य थे। यह उनका बड़ा भाग्य है कि—उन (दैत्यों)की सन्तान भी कहीं-कहीं अब भी दृष्टिगोचर हो जाती है। पर यह देखा गया है कि—वे सन्ततियाँ नगण्य हैं; उनका सत्पुरुषों पर लेशमात्र भी प्रभाव नहीं है, पर साधारण भ्रान्त-पुरुषों पर—जिन्हें संस्कृत-भाषाका ज्ञान नहीं, और जिन्होंने मूल-पुस्तकोंको नहीं देखा—उनका उन पर दुष्प्रभाव पड़ने की सम्भावना बनी रहती है; उस सम्भावना-के निर्मूलनार्थ निम्न शब्द हैं—

हमें 'पुराणोंके कृष्ण' डा० श्रीराम-आर्य लिखित एक ट्रैक्ट देखनेको मिला है; उसमें श्री पं० माधवाचार्यजी शास्त्रीसे लिखित 'निष्कलङ्क कृष्ण'का आर्यजीके शब्दोंमें "मुँहतोड़ प्रत्युत्तर" देनेकी चेष्टा की गई है। डा० जीके इस ट्रैक्टमें श्रीकृष्ण-भगवान् तथा उनके भक्तोंको भर-पेट गालियाँ दी गई हैं। हम गिन नहीं सके कि—शिशुपालके मार्गका अनुसरण करके सौं गालियाँ (महा.

२।४५।२४) उस ट्रैक्टमें पूरी की गई हैं, या उनमें कुछ न्यूनाधिकता हुई है, पर भगवान्‌का सुदर्शन-चक्र तो उधर जाता हुआ दिखलाई पड़ ही रहा है। अस्तु-अब विचारशील-पाठक इधर अवहित हों। हम यहाँ डा० श्रीरामका प्रायः 'वादी' शब्दसे निर्देश करेंगे।

(१) इस ट्रैक्टका प्रकाशक 'वैदिक-साहित्य प्रकाशक-संघ कासगंज' है; तव इसके लेखक भी 'वैदिकम्मन्य' ही होंगे, पर हमें देखकर खेदमिश्रित आश्चर्य हुआ कि-पुराणको वेदविरुद्ध मानते हुए भी वादीने उस पर कोई खण्डक-वेदमन्त्र उपस्थित नहीं किया; तव उनकी वैदिकसाहित्य-प्रकाशकता अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है।

गीता तथा भागवत के श्रीकृष्ण एक थे।

आप लिखते हैं—'भगवान्-श्रीकृष्णजी महाराज योगेश्वर थे। उनकी एक पत्नी रुक्मणी (?) व एक पुत्र प्रद्युम्न था। उनका जन्म यादवकुलमें हुआ था। वाल्यावस्थामें गौ चरानेका कार्य उन्होंने किया था। हम आर्यसमाजी लोग उनको अपना वा भारतीय-राष्ट्रका महान् आदर्श पूर्वज मानते हैं' (पृ. १) गीताके कृष्ण योगेश्वर महानात्मा व आदर्श-चरित्रवान् थे' (पृ. २२)

पर वताना चाहिये था कि—भगवान्‌का यह स्वोल्लिखित इतिहास वादीने कहांसे लिया है? पुराण-इतिहासके अतिरिक्त उनके पास उक्त-इतिहासका क्या प्रमाण है? यदि वेद ही प्रमाण हैं; तो उसे वेदसे दिखलाएँ। वेदमें एक स्त्रीसे दस पुत्र

दिखलाये गये हैं; आपने श्रीकृष्णका एक ही लड़का कैसे दिखलाया? यदि पुराणको वादी अप्रमाण ही मानते हैं, तव तो उन्होंने श्रीकृष्ण-भगवान्‌की सत्ता ही समाप्त कर दी, तव वे उस पर ऊहापोह करके यह 'अभित्तिचित्र' क्या खड़ा कर रहे हैं?

यदि वादी इस विषयमें 'गीता'को लें; तो गीता महाभारतसे निकली है; महाभारतके श्रीकृष्ण भी तो वही पुराण-पुरुष हैं; कोई भिन्न नहीं। देखिये—'गोविन्द! द्वारकावासिन्! कृष्ण! गोपीजनप्रिय!' (सभापर्व. ६८।४१) यहाँ 'गोपीजनप्रिय'से वह सारा रासक्रीडाका पुराण-प्रोक्त इतिहास अन्तर्गर्भित हो जाता है, जिसे वादी आक्षिप्त करते हैं। 'व्रजनाथार्तिनाशन!' (सभापर्व. ६८।४२) इस महाभारत-स्थित द्रौपदीके वाक्यमें श्रीकृष्णकी व्रज (गोकुल)में स्थिति 'पूतनाघातपूर्वाणि कर्माण्यस्य विशेषतः' (२।४१।४) में पूतना आदि वहुतसे दैत्योंको मारना—यह बाल्यकालका भागवतीय-इतिहास दिखलाया गया है। 'गोपं संस्तोतुमिच्छसि' (२।४१।६) में श्रीकृष्णका गोप-गोपियोंके साहचर्यका इतिहास दिखलाया गया है, जो गोकुल-वृन्दावनमें ही हुआ, मथुरामें नहीं। 'यद्यनेन हतो बाल्ये शकुनिश्चित्रमत्र किम्। तौ वाऽश्ववृषभौ भीष्म! यौ न युद्धविशारदौ' (४१।७) यहाँ श्रीकृष्णका बाल्यका चरित्र अङ्कित किया गया है। 'वल्मीकमात्रः सप्ताहं यद्यनेन धृतोऽचलः। तदा गोवर्धनो भीष्म! न तच्चित्रं मतं मम' (४१।६) भुक्तमेतेन वह्वन्नं क्रीडता नगमूर्धनि'। (४१।१०) यहाँ श्रीमद्भागवतप्रोक्त

श्रीकृष्णका बाल्यावस्थामें एक सप्ताह तक गोवर्धनपर्वतका उठाना और अन्नकूटका भक्षण सूचित किया गया है। यह सभी महाभारतमें संक्षेपसे सूचित सारा श्रीकृष्णका इतिहास श्रीमद्भागवतका वृत्त ही तो है। श्रीमद्भागवतमें महाभारतकी अपेक्षा श्रीकृष्णके बहुत युद्ध दिखलाये गये हैं; और जरासन्ध-कालयवनादिके वधके समय श्रीकृष्णकी कुशल-राजनीतिज्ञता भी दिखलाई गई है।

'निर्जित्य नरकं भौममाहृत्य मणिकुण्डले। षोडशस्त्री-सहस्राणि रत्नानि विविधानि च। प्रतिपेदे हृषीकेशः शार्ङ्गं च धनुरुत्तमम्' (उद्योगपर्व १५८।८) महाभारतके इस वचनमें श्रीकृष्णका नरकासुरको मारकर सोलह-सहस्र स्त्रियोंसे विवाह करना श्रीमद्भागवतकी भांति स्पष्ट है। यही वृत्त महाभारतके अनुशासन पर्व, (१५।७) स्वर्गारोहणपर्व (५।२५), मौसलपर्व (७।३८) तथा उद्योगपर्व (१३८।४४)में भी आया है। वादी तो उनकी केवल एक ही स्त्री रुक्मिणी बताते हैं, पर यहां तो श्रीमद्भागवत वाली सभी स्त्रियां आगई हैं।

'जाम्बवत्यब्रवीद्धि माम्' (अनुशासनपर्व १४।२८)में श्रीकृष्णकी रुक्मिणीके अतिरिक्त जाम्बवती भी रानी बताई गई है, जिसके लिए वादीके आचार्य स्वा.द. जीके मान्य श्रीपाणिनिने 'जाम्बवतीपरिणय' काव्य बनाया था; यह कट्टर-आर्यसमाजी श्रीब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुके शिष्य श्रीयुधिष्ठिरजी मीमांसक भी मानते हैं। देखो उनका 'व्याकरण-शास्त्रका इतिहास' (पृ० १६१-१६२-१६३)।

'प्रद्युम्न-चारुदेष्णादीन् रुक्मिण्या वीक्ष्य पुत्रकान्। पुत्रार्थि... मामुपेत्य वाक्यमाह युधिष्ठिर!' (१४।२६) यहां रुक्मिणीके प्रद्युम्नसे अतिरिक्त अन्य भी पुत्र बताये गये हैं। उनके नाम ... हैं १ चारुदेष्ण, २ सुचारु, ३ चारुवेश, ४ यशोधर, ५ चारुश्रवा ६ चारुयशाः ७ शम्भुजाति। 'यथा ते जनिताः पुत्रा रुक्मिण्यां चारुविक्रमाः (१४।३३-३०) सुतानां च शतं-शतम्, (१४।२) ... वादीकी प्रतिज्ञा कहां गई कि-'उनका एक पुत्र प्रद्युम्न था' (पृ. ...) 'यदवाप्तं च मे पूर्वं साम्बहेतोः सुदुष्करम्' (अनु० १४।२७) यहां श्रीकृष्णका लड़का साम्ब भी बताया गया है।

'सत्यभामया। उपायाद् देवकीपुत्रः' (वनपर्व १८३।७) यहां सत्यभामासे भी श्रीकृष्णका विवाह बताया गया है। 'रुक्मिणी त्वथ गान्धारी शैब्या हैमवतीत्यपि। देवी जाम्बवती चैव विविशुर्जातवेदसम्। सत्यभामा तथैवान्या देव्यः कृष्णस्य संमताः' (मौसलपर्व ७।७३-७४) यहां श्रीकृष्णकी अन्य रानियां भी बताई गई हैं; अब वादीकी वह प्रतिज्ञा कहाँ गई कि-उनकी एक ही पत्नी रुक्मिणी थी?' अब वादी बतावें कि-इतनी स्त्रियों वाले गीता-महाभारतके श्रीकृष्ण 'योगेश्वर' थे या नहीं? वह उनकी भगवत्ताका परिचायक है—या नहीं? वादी एक भी स्त्रीको प्रसन्न न रख सकें, वे १६१०८ को भी प्रसन्न रख सके। गीताने तो रुक्मिणी, प्रद्युम्न, गोप-गोपियोंके साथ गौएं चरानेका आपके प्रोक्त श्रीकृष्णकी बाल्यावस्थाका इतिहास है ही नहीं; तब एतदर्थ क्या वादीको पुराणोंके चरणोंकी शरण न लेनी पड़ेगी!

उनके आगे माथा नहीं रगड़ना पड़ेगा ?

जैसे श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्ण, परमात्माका अवतार बताये गये हैं; वैसे ही महाभारतमें भी। देखिये (२।३६।१४-१६-१८), उद्योगपर्व ५३।३, भीष्मपर्व (६६।१०-१८)। तब जो वादीने अपने विज्ञापनमें श्रीकृष्णको मनुष्य सिद्ध करनेमें सन्ध्या आदि करनेका तर्क बताया है, इसका उत्तर वे भगवान्-श्रीकृष्णके शब्दोंमें देख लें। गीतामें भगवान् कहते हैं—'न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्। संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥' (३।२२-२३-२४)। 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥' (३।२१) अब यही महाभारतमें अन्यत्र देखें—श्रीकृष्ण कहते हैं-'अहमात्मा हि लोकानां विश्वेषां पाण्डुनन्दन! तस्माद् आत्मानमेवाग्रे रुद्रं संपूजयाम्यहम्' (शान्तिपर्व ३४१।२३) यद्यहं नार्चयेयं वै ईशानं वरदं शिवम्। आत्मानं नार्चयेत् कश्चिदिति मे भावितात्मनः' (२४) मया प्रमाणं हि कृतं लोकः समनुवर्तते। प्रमाणानि हि पूज्यानि ततस्तं पूजयाम्यहम्' (२५) नहि मे केनचिद् देयो वरः पाण्डवनन्दन! नहि विष्णुः प्रणमति कस्मैचिद् विबुधाय च। ऋते आत्मानमेवेति ततो रुद्रं यजाम्यहम्' (२८-२६) श्रीकृष्ण कहते हैं कि-मैं अपने आत्माकी पूजा करता हूँ; अन्य किसी देवताकी नहीं। मुझे

किसी देवताने वर नहीं देना। केवल यह इसलिए करना पड़ता है कि-अन्य लोक भी पूजा करना सीखें। इसलिए श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः' (५।१६।५) अर्थात् परमात्मा मनुष्यावतार केवल राक्षसोंके वधार्थ नहीं लेता, किन्तु मनुष्योंकी शिक्षार्थ भी लेता है। तथापि लोकोत्तर चरित्र तो उसके भी लोकसे अनुकरणीय नहीं होते। जैसेकि-'नैतत् समाचरेद् जातु मनसापि ह्यनीश्वरः। विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्' (श्रीमद्भा. १०।३३।३१) 'तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा' (३०) रुद्र विषपान करते हुए भी नहीं मरे; पर हम-आप लोग वैसा अनुकरण करते हुए मर सकते हैं। अग्नि सर्वभक्षक होने पर भी दूषित नहीं होती। वहाँ पर 'यद्-यदाचरति श्रेष्ठः' (गीता ३।२१) इस वचनका बाधक 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते' (१६।२४) यह गीता-वचन है। फलतः श्रीकृष्ण महाभारतादिके अनुसार भी परमात्मावतार हैं। 'एवं बहुविधै रूपैश्चरामीह वसुन्धराम्'। 'ब्रह्मलोकं च कौन्तेय! गोलोकं च सनातनम्' (महा. शान्तिपर्व ३४२।१३८) में ब्रह्मलोकके साथ ब्रह्मवैवर्तप्रोक्त गोलोक भी महाभारतमें माना गया है। इस प्रकार वाल्मीकिरामायण (२।३०।३७)-में भी। तब ब्रह्मवैवर्त-वर्णित गोलोकके स्वामी श्रीकृष्ण सिद्ध हो ही गये; तब उन पर आक्षेप क्या ?

जब वादी गीता तथा उसके श्रीकृष्णको प्रमाण मानते हैं; तब गीता श्रीकृष्णको परमात्माका अवतार मानती हैं; और

आकाशकी तरह परमात्मा भी निर्लेप रहता है। आकाश मट्टीसे मैला, गर्मी से गर्म नहीं होता। परमात्मा विष्ठामें व्यापक भी उससे लिप्त नहीं होता। मद्यमें प्रतिबिम्बित भी चन्द्र अपवित्र नहीं होता। नालीमें प्रतिबिम्बित भी सूर्य अपवित्र नहीं होता। इस प्रकार परमात्मावतार-श्रीकृष्णको गन्देसे गन्दे कोई भी दोष लगावें, पर वे 'लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' (५।१०) इस अपने वचनसे दूषित नहीं हो सकते। सूर्य-चन्द्रमा वा आकाश पर थूका हुआ उन पर न पड़कर अपने पर ही पड़ता हैं। इस प्रकार उन पर आपसे लगाये दोष उन्हींके वचनसे कटकर गिर जाते हैं। अतः आप उन पर जो दोष लगाते हैं, 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति' (४।१४) 'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति' (६।६) उन सब दोषोंका वादीकी मान्य गीता-द्वारा ही परिमार्जन होगया। इसीसे डा०जीका ट्रैक्ट साराका सारा खण्डित होगया, आगे उत्तर देनेकी आवश्यकता नहीं रही; तथापि डा०जीको भ्रम न रहे; अतः आगे भी लिखा जावेगा।

(२) आप लिखते हैं—'राधा' नामकी कोई औरत कृष्णके समयमें नहीं हुई, बादके पुराणोंमें राधाका वर्णन मिलता है, जो भागवतमें नहीं है'। 'राधा' शब्द तक भागवतमें नहीं' पर श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णके बालचरितप्रसङ्गमें किसी भी गोपीके नामका उल्लेख नहीं है; अतः 'राधा'के नामका उल्लेख भी नहीं है; तब यह डा०जीका आक्षेप स्वयं खण्डित होगया। 'राधा नाम तक नहीं' यह उनका कथन गलत भी है। रासक्रीडासे पूर्व

गोपियोंको छोड़कर जिस गोपीके साथ श्रीकृष्ण चले गये थे; वही तो राधा थी, (१०।३०।३६) जिसका संकेत श्रीभागवतमें 'अनया राधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः' (१०।३०।२८) इस पद्यमें आया है। यहाँ 'राधितः' शब्दसे राधाके नामका परिचय 'यथा नाम तथा गुणः' इस न्यायसे दे दिया गया है—'राधयतीति राधा'। 'राधया सेवितः इति राधितः यह 'राधा' इस नामधातुका 'क्त'-प्रत्ययमें प्रयोग है। गर्गसंहितामें इसे स्पष्ट कर दिया गया है—'तत्र गोप्योऽतिमानिन्यो बभूवुर्मिथिलेश्वर ! तास्त्यक्त्वा राधया सार्धं तत्रैवान्तर्दधे हरिः' (वृन्दावनखण्ड १८।१०)

वेदमें भी इसका बीजरूपसे संकेत मिलता है—'इन्द्रं वयमनुराधं हवामहे' (अ. १६।१५।२) अनुराधं-राधया अनुगतम् इन्द्रं—परमैश्वर्यशालिनं भगवत्कृष्णं वयमाह्वयामः, स्तुमो वा। हम राधासे अनुगत ऐश्वर्यशाली कृष्ण-परमेश्वरकी स्तुति करते हैं। इन्द्रका अर्थ 'श्रीकृष्ण' इसलिए किया गया है कि-'देवानामस्मि वासवः (इन्द्रः)' (१०।२२) वादिप्रतिवादिमान्य-गीताके इस वचनमें भगवान् कृष्णने इन्द्रको अपना रूप माना है। वो जो लोग राधा-कृष्णकी स्तुति करते हैं; वह परमेश्वर ही तो मानकर करते हैं। हमारे पूर्वज लोग मनुष्योपासक नहीं थे; किन्तु परमात्मोपासक थे। ब्रह्मवैवर्त तथा भागवत आदिमें राधा-कृष्णकी परमात्मता स्पष्ट है। वेदका बीजरूप संकेत न माना जावे; तो चूडाकरण-यज्ञोपवीतादि संस्कार भी अवैदिक हो जावें; क्योंकि वेदमें उनका भी संकेतरूपसे वर्णन है, स्पष्ट

नहीं। शेष है उक्त वेदमन्त्रमें 'राधा'का अर्थ वादी द्वारा वदल देना, तव अर्थ तो 'सत्यार्थप्रकाश' नामका भी बदला जा सकता है, 'दयानन्द'का भी। यह परमात्माका नाम भी वनाया जा सकता है, तव क्या वादी स.प्र. तथा दयानन्दकी सत्ता नष्ट मान लेंगे?

भागवत-पुराण सब पुराणोंके अन्तमें वना है, तव शेष पुराण तो इससे पूर्वके हुए। उनमें भी राधाका वर्णन मिलता है। ब्रह्मवैवर्तमें तो वादी राधाकी सत्ता मानते ही हैं। ब्रह्मवैवर्त तो यह कहता है—'राधा' शब्दकी व्युत्पत्ति सामवेदमें कही गई है-'राधा' शब्दस्य व्युत्पत्तिः सामवेदे निरूपिता' (४।१३।१०२) वेदके दो भेद होते हैं—मन्त्र तथा ब्राह्मण। सो मन्त्रभागमें 'राधा' शब्दका मूलशब्द 'राधस्' सामवेदसं. (उ. १।६।३, पू. ३।२।५, उ. १।७।३, तथा 'राधस्पते' (उ. ५।१५।२) में संकेत-रूपसे राधाके पति भगवान्का वर्णन मिलता है। ब्राह्मणभागके अन्तर्गत उपनिषद् भी हुआ करती है। सामवेदकी किसी उपनिषद्में उसकी व्युत्पत्ति मिल जावे, वह भी सामवेदकी मानी जावेगी। उसमें 'सामरहस्योपनिषद्'में यह्र पाठ सुना जाता है—'स एवाऽयं पुरुषः स्वयमेव समाराधनमकरोत्। यस्मात् स्वयमेव समाराधनमकरोत्, अतो लोके वेदे च श्रीराधा गीयते। अनादिरयं पुरुष एक एवास्ति। तदेव रूपं द्विधा विधाय समाराधनतत्परोऽभूत्। तस्मात् तां राधां रसिकानन्दां वेदविदो वदन्ति'। राधोपनिषद्में भी कहा है—'कृष्णेन राध्यते इति

राधा। कृष्णं समाराधयति सदा—इति राधा'! इस प्रकार पुराणकी वात समूल ही सिद्ध हुई। वेदकी ११३१ संहिता होती हैं, उतनी ही उपनिषद् भी होती हैं—'एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता' (मुक्तिकोप. १।१४) सो सामवेदकी १ सहस्र शाखा होनेसे उतनी ही उपनिषदें भी होगी। सो उनमें उक्त उपनिषदें अन्तर्भूत होती हैं।

ब्रह्माण्ड-पुराणके उपोद्घातपादमें भी राधिकाका वर्णन है। देवीभागवतका नौवां स्कन्ध श्रीराधामाहात्म्यसे भरा है। महाभारतके हरिवंशपर्वमें 'हा हेति कुर्वतस्तस्य' की टीकामें 'हे राधे! हा चन्द्रमुखि!' यह इसकी नीलकण्ठने टीका की है, और उसमें एक ऋचा (ऋ. ३।५५।१४) भी उद्घृत की है। पद्म-पुराणके पातालखण्डमें ६६ से ८३ अध्याय तक श्रीराधा-माहात्म्यका अपलाप किया ही नहीं जा सकता। इसी प्रकार स्कन्दपुराण वैष्णवादि-खण्डोंमें भी राधाका वर्णन है ही। तव राधाका 'वनावटी' वनाना वादीका कथन खण्डित हो जाता है।

भागवत-पुराणको आदिमें भी माना जावे, उसमें भी तो राधाका संकेत है ही, यह हम दिखला चुके हैं। उसे ही दूसरे पुराणोंने स्पष्ट कर दिया है, तव राधाकी कल्पना उनकी नवीनता सिद्ध न हुई।

वादी याद रखें कि—पुराण-समुद्रका मन्थन करने पर सिप्पियां भी प्राप्त हो सकती हैं, मोती भी। कुलक्ष्मी भी प्राप्त हो सकती है, लक्ष्मी भी। सुरा एवं हालाहल भी प्राप्त हो सकता है, सोम

एवं अमृत भी। यह समुद्रमें स्वाभाविक है; पर यह वस्तुएँ अपने-अपने भाग्यसे या भावनासे मिलती हैं। अमृत देवताओंको मिला, दैत्योंको नहीं। दैत्योंको सुरा ही मिली। वे कामी बन गये। श्रीमद्भागवतमें ठीक ही लिखा है—'एवं सुरासुरगणाः सम-देशकाल-हेत्वर्थकर्ममतयोपि फले विकल्पाः। तत्रामृतं सुरगणाः फलमञ्जसाऽऽपुः, यत्पादपङ्कजरजः-श्रयणान्न दैत्याः' (८।६।२८)। तब वादियोंको भी उचित है कि–पुराणार्णवसे अमृत निकालकर उसका पान करें, हालाहल निकालने पर और उसका पान करके वे मर सकते हैं, वे रुद्र तो हैं नहीं कि–उसे पचा जायेंगे। सुराका उपयोग करनेसे उनको सर्वत्र भोग-विषयविलासकी दृष्टि एवं मस्ती ही व्यापेगी।

यदि वादी सचमुच ही तथा हृदयसे भी श्रीकृष्णको 'निष्कलंक' मानते हैं; और पुराणसे भी जब श्रीकृष्णकी परमात्मता तथा निष्कलङ्कता सिद्ध होती है, तब वे उधर ध्यान न देकर, क्यों पुराणके पूर्वापरको छिपाकर बलात् श्रीकृष्णको कलङ्क लगाते हैं? इससे स्पष्ट है कि–वे श्रीकृष्णकी निष्कलङ्कता ऊपरी भावसे ही कहते हैं, भीतरसे तो वे उनको कलङ्क लगानेमें ही आनन्दित होते हैं। पुराणमें जहां भी श्रीकृष्णका वर्णन है, वहां उन्हें स्पष्ट शब्दोंमें परमात्मा कहा गया है। वादी बतावें कि–कोई ऐसा भी पुराण है जिसमें श्रीकृष्णका वर्णन हो; और उन्हें भगवान् वा भगवान्का अवतार न बताया गया हो। ऐसा होने पर फिर 'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः'

इस न्यायसे विधिनिषेधसे बहिर्भूत 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!' (गीता २।४५) का उपदेश देनेवाले और स्वयं भी निस्त्रैगुण्य (त्रिगुणातीत) भगवान् श्रीकृष्णपर कोई कलङ्क नहीं रह पाता। क्या मद्यमें प्रतिबिम्बित हो रहे हुए चन्द्रमाको कोई अपवित्र कहनेका साहस कर सकता है? वह भगवान् क्या सबके जननेन्द्रियोंमें नहीं रम रहा है? आपके मैथुनादिके समय साथमें वह भी क्या शामिल नहीं है? क्या वह भी 'स नः पिता जनिता' (अ. २।१।३) होता हुआ वीर्योत्सर्जनके समय गर्भार्थ वीर्याधान नहीं कर रहा है? स्त्री भी वही है, पुरुष भी वही है-'त्वं स्त्री, त्वं पुमानसि, त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि (चलसि) त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः' (अ० १०।८।२७)।

इस प्रकार जब वादी यह पारमार्थिक अद्वैतदृष्टि रख लें; तब उन्हें कोई भी लघुशङ्का न बहा सकेगी, कोई भी दीर्घशङ्का दबा न सकेगी। अन्यथा तो वे अपनी ही की हुई लघुशङ्काओं में गोते खाते रहेंगे। यदि वादी पुराणोंमें कहे श्रीकृष्णका परमात्मत्व नहीं मानते; तब उनका 'पुराणोंके श्रीकृष्ण' पर आलोचनाका अधिकार ही क्या है? तब वे 'अवेक्षते केलिवनं प्रविष्टः क्रमेलकः कण्टकजालमेव, अतिरमणीये वपुषि व्रणमेव मक्षिकानिकरः, तिमिरे हि कौशिकानां रूपं प्रतिपद्यते दृष्टिः, 'स्तन्यं त्यक्त्वा जलौका हि स्तनात् कर्षति पूयकम्' इन पद्योंका क्यों अनुसरण करना चाहते हैं? क्यों पुराणोंके पूर्वापरको

जिसमें श्रीकृष्णको परमात्मा बताया गया है-छिपाकर उस मुसलमान की तरह बन रहे हैं, जिसने एक मौलवीका फतवा पढ़कर सुनाया था कि—'मत पढ़ो निमाज' पर उसने उसका अगला वाक्य-'जब हो नापाक' छिपा दिया था।

चोर-जार-शिखामणिका भाव।

(३) वादी लिखते हैं—'गोपालसहस्रनाम'में 'गोपालः कामिनीजारः, चौरजारशिखामणिः' श्रीकृष्णको औरतोंके लम्पट चोर और व्यभिचारियोंका शिरोमणि' कहा है। यहां 'जार' शब्दका अर्थ व्यभिचारी ही है'। वादी 'छिद्रदर्शनप्रिय' तो हैं ही, पर वे अपनी संकुचित तथा रूक्ष बुद्धिको विशाल तथा स्निग्ध नहीं बनाते, जिससे उसमें यह उपस्थित विषय अनायास प्रविष्ट हो जाय। फिर अगत्या हमें ही उनकी संकुचित-बुद्धिमें पुराणके स्थूल विषयको डालकर उसे विशाल करना पड़ रहा है-इसमें वे कुछ बुरा न मनावें। विषय-मन्थन करनेके अन्तमें वादीको इससे बड़ा आनन्द आएगा। उसका फल भी अवश्य उत्पन्न होगा।

पहले वादीको यह बताना चाहिये कि-'ब्रह्मवैवर्त वा 'नारद-पञ्चरात्र'के श्रीकृष्ण जोकि-'गोपालसहस्रनाम'में वर्णित किये गये हैं, वे वहां मनुष्य माने गये हैं या भगवान्? वादी यहांके श्रीकृष्णको मनुष्य तो त्रिकालमें भी सिद्ध नहीं कर सकते। हमारे प्राचीन महानुभाव वादीके समाजकी तरह मनुष्योपासक (मर्दुमपरस्त) नहीं थे, जिसने मनुष्य भी दयानन्दका ईश्वरसे भी

बड़ा मान बना रक्खा है, प्राचीन लोग भगवान्के उपासक थे। तब अन्तमें वादीको' गोपालसहस्रनाम' तथा 'ब्रह्मवैवर्त'के श्रीकृष्णको तत्कथनानुसार परमात्मा ही मानना पड़ेगा। यदि ऐसा है, तो परमात्मा लौकिक-बन्धनमें कैसे आ सकता है? वादी वेदको तो मानते ही होंगे कि-'इन्द्रं मित्रं' इस मन्त्रोक्त-प्रकारसे उन लोगोंके मतानुसार वेदमें परमात्माको 'इन्द्र' शब्दसे, और हमारे मतमें 'इन्द्र' रूपमें वर्णित किया गया है। 'देवानामस्मि वासवः' (इन्द्रः) (१०।२६)में वादीसे मान्य गीताके इस वचनमें भगवान् श्रीकृष्ण अपनेको 'इन्द्र' मान रहे हैं। उसी इन्द्रको वेदमें 'जारमिन्द्रम्' (ऋ. १०।४२।२) इस प्रकार 'जार' कहा है। अब तो वेदके तथा गीताके इन्द्र श्रीकृष्ण भी 'जार' बन गये। अब 'गोपाल-सहस्रनामका उक्त वाक्य वेदके इस सूत्रका भाष्य हुआ या नहीं? अब वैदिक-कृष्णको भी डा० जी जारसे 'व्यभिचारी' ही बतावेंगे क्या? अब तो वेद और पुराणमें दोनों स्थानोंमें समान ही अर्थ होगा। अब पुराणमें वेदविरुद्ध-मिथ्याकलङ्क लगाना सिद्ध न हुआ, किन्तु पुराण वेद-सूत्रका विस्तृत भाष्य ही सिद्ध हुए।

वादी जानते होंगे कि- मानुषी स्त्रियोंका पति कोई पुरुष ही होता है। उससे भिन्न उसका पति वा प्यारा उपपति अथवा जार वा पर-पुरुष कहा जाता है। पुरुष तो अपनी स्त्रीके पति होते हैं ही, इधर परमात्मा भी सबका पति होनेसे 'भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' (ऋ१०।१२१। १) स्त्रियोंका भी पति है, पर वह छिपा हुआ

पति है; किसीको वह नहीं दीखता, उनके पतिको भी नहीं दीखता। एक पतिकी विद्यमानतामें दूसरा गुप्तपति, अथवा उपपति वा परपुरुष, लोक वा वेदमें 'जार' माना गया है। तब प्रत्यक्ष-पतिकी विद्यमानतामें गुप्त (छिपा हुआ) पति, वा उपपति वा परपुरुष परमात्मा स्वयं 'जार' सिद्ध हुआ। वह साधारण-जार भी नहीं है, किन्तु बड़ा होनेसे तथा जगत्भरकी स्त्रियोंका उपपति, तथा साक्षात् विवाहित न होनेसे पर-पुरुष वह 'जारशिखामणि' है। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण 'जार' इसलिए कहे गये हैं कि-'जार' पर-पुरुष हुआ करता है। श्रीकृष्ण भी भगवान् एवं परम-पुरुष होनेसे 'पर-पुरुष' हैं, इसलिए उन्हें 'पर-पुरुष'के पर्यायवाचक 'जार'-शब्दसे कहा गया है, और 'जरयति जन्म, सांसारिक-दुःखस्य जरयिता वा' इस प्रकार संसार (जन्म) तथा सांसारिक-दुःखको जरण (नष्ट) करनेसे भी उन्हें 'जार' कहा गया है। इस प्रकार 'जारशिखामणिः, कामिनीजारः' श्रीकृष्ण-भगवान्केलिए कहे गये इस शब्दका समाधान हो गया।

अब अवशिष्ट रहा 'चोरशिखामणिः' इस पर 'नारायणो नाम नरो नराणां प्रसिद्ध-चौरः कथितः पृथिव्याम्। अनेक-जन्मार्जितपाप-चौरं चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि' इस पद्यका मनन करनेसे 'आर्यसमाजी' जी को 'बोध-प्राप्ति' हो जावेगी। हमारे पापों वा जन्मोंका चुराने वाला तथा जरण करने वाला होनेके कारण और फिर साधारण चोर-जारोंसे विलक्षण होनेके कारण श्रीकृष्णभगवान् 'चोर-जार-शिखामणि' भी होगये।

वादी आर्यसमाजी हैं, यह उनकी उक्त-ट्रैक्टकी भूमिकामें स्थित' 'हम आर्य-समाजी' इस पदसे स्पष्ट है; तब आर्य-समाजके प्रवर्तक स्वा. दयानन्दजी पर उनकी बड़ी श्रद्धा होगी; क्योंकि-'आद्य-निवेदन'में वादीने उन्हें 'ऋषि' माना है। उनका वचन भी वादीके समाधानकेलिए उपयुक्त होगा ही। स्वामीजी भी परमात्माको 'चोरशिखामणि' मानते हैं। तभी तो उन्होंने 'आर्याभिविनय'में प्रार्थना की है—'मा नः प्रिया भोजनानि प्रमोषीः' (१।१०४।८) 'हे इन्द्र-परमैश्वर्ययुक्त ईश्वर! हमारे प्रिय-भोगोंको न तो स्वयं चुरा न दूसरोंसे चुरवा'। इससे वैदिक-इन्द्र परमात्मा भी बड़ा चोर तथा बड़ा भोगी, अथवा वादीके शब्दोंमें वह योगेश्वर 'भोगेश्वर' सिद्ध हुआ; क्योंकि-वह वादीके तथा वैदिक-प्रार्थना करनेवाली उनकी स्त्रियोंके प्रिय-भोगोंको भी चुराता है। श्रीकृष्ण भी तो उसी वैदिक-इन्द्रपरमात्माके रूप हैं, इसमें वादी अपनी मान्य गीता देखें-'देवानामस्मि वासवः' (इन्द्रः) (१०।२२)। वेदमें रुद्रको भी जिसका स्वा.द.जीने 'सत्यार्थप्रकाश'के प्रथम-समुल्लासमें 'परमात्मा' अर्थ किया है—'तस्कराणां पतये नमो नमः' (यजुः १६।२१) 'स्तेनानां पतये नमो नमः' (१६।२०) इस प्रकार तस्करपति वा स्तेनपति 'चोरशिखामणि' कहा गया है। यह सारा रुद्र-सूक्त है, सो इसमें उसी रुद्रका ही वर्णन है, और रुद्र होता है परमात्मा। तभी इस सूक्तके आदिम 'नमस्ते रुद्र' (१६।१) इस मन्त्रमें मन्युस्वरूप उसे, वा उस रुद्रके मन्यु (क्रोध) 'को नमस्कार किया गया है। तब 'रुद्राणां शङ्करश्चास्मि'

(१०२३) वादीकी मान्य गीताके अनुसार वैदिक-रुद्रके रूप श्रीकृष्ण भी 'चोरशिखामणि' क्यों न हों? इसमें वादी 'मा नः प्रिया भोजनानि प्रमोषीः' इस अपने स्वामीजीके अर्थको भूल जानेके कारण व्यर्थ आक्षेप कर बैठे। जब यह रुद्र-सूक्त है; तब सर्वत्र 'रुद्र'का बराबर अर्थ होगा। 'अजायमानो बहुधा विजायते' (यजुः ३१।१६) में स्वा.द.जीने जगदीश्वरका बहुत प्रकारोंसे 'विशेषकर प्रकट होना और उसके स्वरूपका ध्यान तथा दर्शन' माना है। 'विशेषरूपसे प्रकट होना' ही अवतार हुआ करता है; सो रुद्र-परमात्माके अवतार श्रीकृष्णका 'चोरशिखामणि'त्व वेद-बाह्य नहीं।

इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण बचपनमें सबका प्रिय-भोग माखन चुराया करते थे, इसलिए भी 'चोर' प्रसिद्ध थे। गोपियाँ चाहती भी यही थीं कि-यह बच्चा हमारा माखन चुरावे। ऐसा बच्चों-का स्नेह बच्चोंवाले ही जान सकते हैं। स्वा.द. तो परमात्माको आर्याभिविनय (१।१।३।१) के अनुसार गुर्चके रसका भोग लगाते थे, अपना प्रियभोग माखन-मिशरी पौराणिक-मूर्ति-पूजाके डरसे परमात्माको समर्पण नहीं करते थे; पर गोपियां तो उन्हें माखन-मिशरी ही खिलाना चाहती थीं। बाल्यावस्थामें माखन का उपभोग करके भगवान्ने शिक्षा दी है कि-बाल्यावस्थामें बच्चों को नवनीतका सेवन कराना चाहिये। यदि न मिले, पिता कंजूसी वा अन्य किन्हीं कारणोंसे बच्चोंको माखन न खिलावे, उसे बेचकर अपने पैसे बनावे, वा अत्याचारी-राजाके पास

भेजे, वा विदेशोंमें भेजे, और बच्चे तरसते रह जावें; तो वे बच्चे उसे चुराकर भी खाएँ और 'माखन-चोर' बनें। इस-समय के माखनके उपयोगसे जवानीमें उन-द्वारा बड़े-बड़े काम होंगे। बड़ी-बड़ी स्पीचें देते हुए भी वे नहीं थकेंगे, बड़े-बड़े लेख लिखते हुए और पोथे बनाते हुए भी उनके मस्तिष्क पागल नहीं हो जाएँगे। बड़े-बड़े पहलवानोंको भी पस्त कर देंगे, अपनी बहुत सी स्त्रियोंको भी प्रसन्न रख सकेंगे। बाल्यावस्थामें माखनका खाना शरीर-रूपी महलकी नींवको सुदृढ बनाना है। आजकल वैसा न करने-करानेसे 'माखनचोर' न बननेसे भारतीय सन्तानों का जो पददलन हो रहा है, जोकि-यह जवानीमें ही बूढ़े हो रहे हैं, यह बात किसीसे भी परोक्ष नहीं है। इसमें अन्य भी एक रहस्य है। यहां जितना माखन बनता था; वह अधिकांश अत्याचारी राजा कंसके डरके मारे उसके पास गुप्तरूपसे भेजना पड़ता था, जोकि डरपोक, भोले-भाले, नन्द आदि गोपोंकेलिए स्वाभाविक था। इससे कंस तथा उसके अत्याचारी दैत्य ही मुसंडे हो रहे थे; प्रजाके आधारभित्ति-बच्चोंको मिलता ही नहीं था; तब उसे स्वयं चुराकर खाना, दूसरे बच्चोंको खिलाना तथा शेष गिरा देना-यह सब दैत्य-कंसकी दुर्बलताकेलिए करना श्रीकृष्णका दूरका लक्ष्य था-जिसे आजकलके स्थूलदर्शी नहीं समझ पाते; और दोष लगानेमें लगे रहते हैं। इसलिए भी श्रीकृष्ण 'माखन-चोर' थे, इन्हीं बातोंसे खीझकर कंस बच्चोंको मरवाने लग गया था।

इसके अतिरिक्त गोपबालाओंके वस्त्र चुरानेसे भी श्रीकृष्ण चोर प्रसिद्ध होगये थे। कपड़े चुरानेसे उन बालाओंको शिक्षा देनी थी कि— "तुम लोग नदीमें नंगी होकर स्नान न किया करो। इससे जहाँ जलदेव-वरुणकी अवहेलना है, वहाँ तुम लोगोंकी लौकिक-हानि भी है। तुम लोग नदीमें स्नान कर रही होओ; और कोई मन-चला किनारे पर रक्खे तुम्हारे कपड़ोंको लेकर चलता बने; तब क्या तुम नंगी होकर घर पहुँचोगी? इधर नदी-तटसे लाँघते हुए कामुक-पुरुष भी तुम लोगोंकी नग्नता देख सकते हैं, जोकि तुम लोगोंके पक्षमें उत्तम नहीं"।

उस समय इस प्रकारके व्यवहार किये विना और उन्हें अधिक लज्जित किये बिना, उनकी यह चिराभ्यस्त नंगा नहानेकी प्रकृति छूटनी नहीं थी। इस पर यह भी याद रखना चाहिये कि-श्रीकृष्ण उस समय सात वर्षकी आयुसे भी छोटे थे। यह गोवर्धन उठाने-से भी पहलेकी घटना है। गोवर्धन श्रीकृष्णने सात वर्षकी अवस्थामें उठाया था, यह बात 'क सप्तहायनो बालः' (१०।२६।१४) इस श्रीमद्भागवतके पद्यसे प्रकट है। इधर वे गोपाल-बालाएँ भी उतने ही वर्षोंकी अवस्थाके लगभग थीं। उक्त पुराणमें 'नन्दव्रज-कुमारिकाः' (१०।२२।१) यही पाठ आया है। लड़कियोंका विवाह उस समयमें आठ वर्षकी आयुमें हुआ करता था—यह वादी लोग भी 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी'की पौराणिकता बताकर स्वयं सिद्ध किया ही करते हैं। यहाँ पर उन्हें 'कुमारी' (अविवाहिता) कहनेसे वे गोप-बालाएँ आठ वर्षसे भी कमकी थीं-यह प्रकट है।

श्रीकृष्णके ब्रह्मचर्याश्रमका आरम्भ तो कंसके मारनेके बाद प्रारम्भ हुआ है। तब यहाँ लौकिक-दृष्टिसे भी कोई दोष नहीं। यही श्रीकृष्णके 'चोर-जारशिखामणि' कहनेका रहस्य है। शेष है श्रीकृष्णका 'उनके गुप्तांगोंके नग्नदर्शन' करनेका वादीका आक्षेप (पृ. ३३), इसका उत्तर सम्भवतः इस निबन्धके अन्तमें दिया जाएगा। यही 'सनातनी-पण्डितोंके किये गये हुए 'चोर-जार-शिखामणि' शब्दके अर्थका तात्पर्य है। यह बात वादी स्वयं भी सोच-समझ सकते हैं कि-गोपालसहस्रनाम श्रीकृष्णका स्तावक स्तोत्र है या निन्दक? निन्दक तो वादी उसे त्रिकालमें भी सिद्ध नहीं कर सकते; अन्यथा वह स्तोत्र क्यों कहा जाता? तब हारकर वादीको उसे श्रीकृष्णका स्तावक ही मानना पड़ेगा; तब वादी स्वयं समझ सकते हैं कि-वह स्तोत्र 'चोरजारशिखामणि' शब्दसे भगवान्-कृष्णकी निन्दा भला क्योंकर करेगा? वह उसकी इस शब्दसे स्तुति ही तो करेगा! सो इस शब्दसे स्तुति तभी होगी, जब वहाँ हमारा किया हुआ अर्थ हो। सो उस स्तोत्रमें उक्त विशेषणसे श्रीकृष्णकी स्तुति होनेसे वहाँ हमारा किया हुआ अर्थ वास्तविक तथा प्राकरणिक भी सिद्ध हुआ। परं निन्दक होनेसे वहाँ वादीका इष्ट अर्थ कैसे हो सकता है? अनिष्ट होनेसे वादीका पक्ष स्वतः खण्डित होगया।

(४) वादी जो कहते हैं कि—'वास्तवमें यहाँ 'जार' शब्दका अर्थ 'व्यभिचारी' है, और वे पुराणप्रोक्त परमात्मा-श्रीकृष्णको सचमुच ही 'व्यभिचारी' मानते हैं, सो व्यभिचारीका अर्थ पता

नहीं-वादी क्या करते हैं ? यदि 'विना विवाह किये दूसरोंकी स्त्रियोंमें रमण करनेवाला' ही इसका अर्थ है, तो वह परमात्मा सचमुच ही व्यभिचारी, व्यभिचारी तो क्या 'व्यभिचारिशिरोमणि' ही है। सारे आर्यसमाजियोंकी स्त्रियोंमें भी वह विना विवाह किये रमण करता ही है; उनकी क्या, किन्तु भूमण्डलभरकी स्त्रियोंमें जब वह विना विवाह किये ही उनके अङ्गोंमें रमण कर रहा है, वही मानुषी-स्त्रियों तथा पशु-पक्षी स्त्रियोंके प्रजननाङ्गोंमें रम रहा है, उनको देख रहा है; तब बोलिये वह परमात्मा सचमुच व्यभिचारि-शिरोमणि हुआ, या नहीं ?

श्रीकृष्णको गोपालसहस्रनाम तथा ब्रह्मवैवर्त और श्रीभागवत आदि परमात्मा मानते ही हैं। देखिये पृ० ७ में वादीका ही उद्धृत 'तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः' यह पद्य। यह परमात्मा कृष्णसे ही यहाँ जार-बुद्धि कही गई है; तब वे क्या दोष लगा सकते हैं ? 'व्यभिचारी'का लक्षण साहित्यकी पुस्तकोंमें आता है—'विशेषादाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः।' (साहि. ३ परि.) यह अर्थ व्यभिचारी-परमात्मामें घटा लीजिये, घट जायगा। तब 'माधवाचार्य अपना सारा पाखण्ड फैलाकर भी इस अर्थको मिथ्या नहीं कर सकता है, बकवास भले ही करता रहे' यह 'आर्य'जीके 'सुमधुर-शब्द' तो उन्हींके अपने गलेमें 'हार' डालनेवाले बन गये।

राधा एवं श्रीकृष्णका विहार।

पुराण जहाँ इतिहासरूप हैं, वहाँ काव्यरूप भी हैं। काव्यमें

कई लौकिक-बातोंको कविता-रूपमें भी कहा जाता है। कवितामें शब्दार्थ न देखकर उसके तात्पर्यको देखना पड़ता है। कवि काव्य-संसारका ब्रह्मा होता है—'अपारे काव्य-संसारे कविरेव प्रजापतिः। यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते॥ शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्। स चेत् कविर्वीतरागो नीरसं व्यक्तमेव तत्' सो कवि लोग सरसता लानेकेलिए किसी कठिन वा रूक्ष विषयको मधुर बनाकर, उसमें रसकी पुट देकर 'गुडजिह्विका' न्यायसे शृङ्गारके ढंगसे भी काव्याङ्ग बनाकर वर्णन कर देते हैं। इसमें कविका दोष नहीं माना जाता। श्रीरुद्रटने यही अपने काव्यालङ्कारमें लिखा है—'नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्या। कर्तव्यतयाऽन्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः॥ किन्तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति। आराधयितुं विदुषः, तेन न दोषः कवेरत्र' कवि, जनताके आराधनार्थ स्त्रियोंका वर्णन काव्याऽङ्ग बनाकर वर्णित कर देते हैं। इसमें कविका दोष नहीं माना जाता।

परमात्मा जब वर्णित किया जाता है; तब वह भक्तको कैसे प्रिय लगता है—यह बतानेकेलिए 'कामी नार पियार जिमि' इत्यादिरूपसे शृङ्गाररूपसे भी वर्णन किया जाता है। यह तो हुआ लौकिक उदाहरण, अब 'वैदिकसंघ'के आगे वेदका उदाहरण देना भी उचित है। उसे भी वादी कान खोलकर सुन लें। वेदमें भी वह शैली दीखती है। कुछ उदाहरण यह हैं—'जारं न कन्या' (ऋ. ९।५६।३) 'गच्छन् जारो न योषितम्' (९।३८।४) 'सरज्जारो न

योषणां, वरो न योनिं' (६।१०१।१४) 'योषा जारमिव प्रियम्' (६।३२।५) 'प्रियां न जारो' (ऋ. ६।६६।२३) इन मन्त्रों में कैसी अश्लील उपमाएँ हैं ? यहाँ सोमकी उत्कट अभिलाषार्थ यह उपमाएँ दी गई हैं। यदि वेद चाहता, तो वह यह अश्लील-उपमाएँ न देकर अन्य अच्छी उपमा दे सकता था, पर यहां गुडजिह्विकान्यायसे इस अलङ्कार-द्वारा वह तीव्र-लालसा स्पष्टतया समझमें आ जाती है। इस प्रकार वेद-सूत्रोंके विस्तृत भाष्य पुराणोंमें भी नीरस एवं रूक्ष-विषयके विशदीकरणार्थ यह शैली कहीं-कहीं अपनाई गई है। इसी कारण भक्त लोग आज भी श्रीकृष्णसे गोपीभाव वाली भक्ति रखना चाहते हैं। वहां कोई परमात्मासे लौकिक-मैथुन इष्ट नहीं होता; किन्तु जैसे पतिको उसकी प्रिय स्त्री पूर्णतया आत्म-समर्पण कर देती है; उससे कुछ भी गुह्य नहीं रखती; उससे सर्वाङ्ग-आश्लिष्ट होकर उसका सच्चा प्रेम पानेमें ही संश्लिष्ट हो जाती है, उसी प्रकार परमात्माको भी कान्तरूपसे अपना पूर्ण आत्म-समर्पण कर देना और उसके विशुद्ध एवं सात्त्विक-प्रेमका रस चाखना गोपीभावमें इष्ट होता है। इसलिए प्रेमी लोग संभोगशृङ्गारकी अपेक्षा विप्रलम्भ-शृङ्गारको ही अधिक पसन्द करते हैं; क्योंकि 'संगमविरह-विकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः। संगे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे'। जिसको वादी मैथुन-विषयविलास कहते हैं, वह ग्राम्यधर्म होता है। उसमें स्वार्थ-भावना आ जातीं है, पर शेष विशुद्ध-प्रेममें निःस्वार्थता हुआ करती है। यही

गोपियोंके श्रीकृष्ण-प्रेममें भी समझ लें।

पतिसेवा-व्रतसे अतिरिक्त अन्य सब व्रत स्त्रीको वर्जित होते हैं। वह पतिको ही परमेश्वर समझे, पतिसे भिन्न किसीको परमेश्वर न समझे। पतिकी सेवासे कुछ समय काटकर गुप्तरूपसे या एकान्तमें भगवान्से प्रेम लगाना, उसकी उपासना करना यह स्त्रीकी परमेश्वरसे जारभावकी भक्ति हो जाती है। ऐसे सम्बन्धकी स्पष्टताकारक उपमा इससे अन्य मिल नहीं सकती। यही पुराणोंके गोपीभावका रहस्य है; पर यह शुद्ध हार्दिक भक्तिभाव रखनेसे तो समझमें आ सकता है, कलुषित-विचार रखने पर वा शून्य हृदय-हेतुक ऊपर-ऊपरसे तैरनेपर तो कुछ भी समझमें नहीं आता। शेष जो उसमें कामियोंकी सी बाह्य-लीला प्रतीत होती हैं, वह तो अलङ्कार होता है। अलङ्कारके तात्पर्यको साधारण बुद्धिवाले नहीं समझ पाते।

हम वादीकी संकुचित-बुद्धिमें बैठानेकेलिए एक वादीके अनुसारी उदाहरण देते हैं—स्वा.द.जी आर्यसमाजके प्रवर्तक हैं। वादीकी स्त्री भी उन्हें 'स्वामीजी' कहती हैं, वादीको भी। अब यदि कोई स्वामीजीको वादीकी स्त्रीका 'जार' कह दे कि-'वे दूसरोंकी पत्नियोंके भी स्वामी हैं' यह कहकर वह आलङ्कारिक-कवितामें कह दे कि—'अँग्रेजी विचारवाली हिन्दु-स्त्रियां अपने पतियोंके निषेध करने पर भी रातमें उनकी सभामें चली जाती थीं, जार स्वामी उनसे खूब रमण करते थे, विविध-विषयानन्दमें मस्त होकर विषय मथ-मथकर उनमें ऐसा अपना रेत (तेज)

डालते थे कि-इससे वे स्त्रियां व्यभिचारिणी (भिन्न-विचारवाली) बन कर अपनेमें स्वामीजीका गर्भ स्थिर लेती थीं। उनसे उन्हीं (स्वामी)के विचारके हजारों लड़के पैदा हो जाते थे' ऐसी कविताको एक अनभिज्ञ आर्यसमाजी शृङ्गार कह देगा, वैसी कविताके निर्माताको गाली भी दे देगा। पर क्या यह बात दूरदर्शी-कविके लिए ठीक रहेगी ? वैसी ही बात वादी यहाँ पर कर रहे हैं।

पुराणका नाम है 'ब्रह्म-वैवर्त', उसका अर्थ किया गया है—'तद् ब्रह्म विवृतं यत्र तद्विभूतिमनुत्तमम्। तेनेदं ब्रह्म-वैवर्तमित्येवं च विदुर्बुधाः' (४।१३१।३१-३२) कि-इसमें ब्रह्मका विवरण है। सो श्रीकृष्ण यहाँ 'ब्रह्म' हैं, राधा उनकी (विवर्त) प्रकृति है। जैसे कि 'शिवलोके शिवा, त्वं च मूलप्रकृतिरीश्वरी' (६७।६१) अहं सर्वस्य प्रभवः सा (राधा) च प्रकृतिरीश्वरी' (७३।५१) 'प्रकृतिर्मद्-विकारा च साऽप्यहं प्रकृतिः स्वयम्' (७३।४७) यहाँ राधाको प्रकृति और प्रकृतिको अपना (ब्रह्म-श्रीकृष्णका) विवर्त (रूपान्तर) बताया है। 'यथा दुग्धे च धावल्यं न तयोर्भेद एव च।...यथा जीव-स्तथात्मानं तथैव राधया सह। त्यज त्वं गोपिकाबुद्धिं राधायां मयि पुत्रताम्' (५०) यहाँ अद्वैतवाद बता दिया गया है। फलतः इस ब्रह्मवैवर्तमें श्रीकृष्ण ब्रह्म और राधा उनसे अभिन्न मूल-प्रकृति है—यह बताया गया है। इसीलिए इसमें ब्रह्मखण्ड तथा प्रकृतिखण्ड यह दो स्वतन्त्र खण्ड आये हैं। उसमें 'वन्दे कृष्णं गुणातीतं परं ब्रह्माच्युतं यतः' (१।१।४) यहाँ ब्रह्मखण्डमें श्रीकृष्ण को ब्रह्म और प्रकृतिखण्डमें 'राधा, लक्ष्मीः, सरस्वती। सावित्री

च सृष्टिविधौ प्रकृतिः पञ्चधा स्मृता' (२।१।१) राधाको प्रकृति बताया गया है। सो प्रकृति-पुरुष पति-पत्नी तो कहे जा सकते हैं; पर लौकिक नहीं, किन्तु दिव्य। उन्हींका श्रीकृष्णखण्डमें स्पष्टतासे विवरण है। ब्रह्मवैवर्तके अन्य भी बहुत स्थलोंमें पदे-पदे यह बात विवृत कर दी गई है। यदि हम सबका संग्रह करें; तो छोटा-मोटा एक अन्य पुराण बन जावे; पर वादीने उन्हें छिपाया है; तब उसकी क्या शक्ति है कि-राधा और श्रीकृष्ण पर पुराणसे दोष लगा सकें। वे ब्रह्मके इस विवर्तमें लौकिक-ग्राम्य-शृङ्गाराभास सूंघते हैं, इसका कारण क्या ?

सो उन्हीं प्रकृति-पुरुषका रमण एवं सृष्टिविधान इसमें बताया गया है। देखिये—'यथा त्वं च तथाऽहं च समौ प्रकृति-पूरुषौ। नहि सृष्टिर्भवेद् देवि ! द्वयोरेकतरं विना।' (६७।८०) इत्युक्त्वा परमात्मा च राधां प्राणाधिकां प्रियाम्' (८१) यहाँ श्रीकृष्णको परमात्मा और राधाको उसकी प्रकृति बताया है। इसी बातको अन्य बहुत-स्थलोंमें स्पष्ट किया है—'तेन राधा समाख्याता पुराविद्भिः प्रपूजिता। प्रकृष्टा प्रकृतिश्चास्य तेन प्रकृतिरीश्वरी' (८४।७४) शक्ता स्यात् सर्वकार्येषु तेन शक्तिः प्रकीर्तिता। सर्वाधारा सर्वरूपा मङ्गलार्हा च सर्वतः' (७५) वादी एतदादिक-श्लोकोंको या तो देखते नहीं; या लोकदृष्टिसे छिपा देते हैं, यह क्यों ? ग्रन्थकारका तात्पर्य उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास (पुनः-पुनः वैसा कथन) इत्यादि छः बातोंसे जाना जाता है, पूर्वापर-प्रकरण-रहित दो-चार बीचके श्लोकोंसे नहीं।

इसी प्रकार 'राधा-कृष्ण नामके विषयमें कि-पहले राधाका नाम क्यों; यह नारद द्वारा प्रश्न करने पर ब्रह्मवैवर्तमें नारायण द्वारा कहा गया है—'जगन्माता च प्रकृतिः, पुरुषश्च जगत्पिता।' (४।५२।३४) गरीयसी त्रिजगतां माता शतगुणैः पितुः। राधा-कृष्णेति, गौरीशेत्येवं शब्दः श्रुतौ श्रुतः। कृष्णराधेशगौरीति लोके न च कदा श्रुतः' (५२।३५) यहाँ तो बहुत स्पष्ट कर दिया है कि-राधा प्रकृति है, जगत्की माता है, श्रीकृष्ण परमपुरुष हैं, जगतके पिता हैं। इस प्रकार गौरी प्रकृति है, शङ्कर ब्रह्म हैं। यह दोनों सृष्टिके माता-पिता हैं, सृष्टि-विधाता हैं; यद्यपि प्रकृति जड़ है, तथापि उसकी अधिष्ठात्री देवी चेतन-शक्ति राधा है। मनुस्मृति (२।१५) में माताको पिताकी अपेक्षा-अभ्यर्हित माना गया है। अतएव सन्तान पहले माता-राधाका, पीछे पिता-कृष्णका नाम लेती है। इसी प्रकार 'गौरीशंकर, सीता-राम, प्रकृति-पुरुष, माता-पिता आदि शब्द भी कहे जाते हैं। तब जो कहीं राधा-कृष्णका लौकिक-दृष्टिसे विहार दीखता है, जैसाकि-वादीने पृ. १८-१९ में दिखलाया है, और गौरीशङ्करका, जैसेकि पृ. १३ में दिखलाया है; सो यह पुराणकी शैलीसे प्रकृति-पुरुषका सृष्टि-निरूपण है, कोई लौकिक शृङ्गार नहीं। जैसे भारतवर्षके नक्शे आदि होते हैं; उसमें टेढी-मेढी लकीरें ही होती हैं; उनको कोई नहीं देखना चाहता, तब उसमें कई तरहके रंग देने पड़ते हैं—जिससे वह नक्शा दूसरों को अच्छा लगे; सो वैसे यहाँ पर भी इस नीरस-विषयमें सजीवता-सरसता लानेके लिए रसका पुट भी दे देना

पड़ता है; जिससे पुराणकारके शब्दोंमें 'कामिनां कामदं चैव मुमुक्षूणां च मोक्षदम्। भक्तिप्रदं वैष्णवानां कल्पवृक्षस्वरूपकम्' (१।१।४४) इस प्रकार 'सर्वेषामीप्सिततमं सर्वाशापूर्ण-कारणम्। ब्रह्मवैवर्तकं नाम सर्वाभीष्टफलप्रदम्' (५७) सबके अपने-अपने भावानुसार फल देनेवाला सिद्ध हो जाए। वस्तुतः यहां लौकिक प्रतीत हो रहे हुए शृङ्गारको लौकिक न समझकर उसे दिव्य-दृष्टिसे समझनेका प्रयास करना चाहिये। पर वादीने उसमें ग्राम्य 'काम'को ढूंढकर अपने आपको 'कामी' सिद्ध कर दिया है, फिर भी दोष उस पर दे दिया! इसमें पुराणका कोई अपराध नहीं; उसमें तो उसे 'सद्यो वैराग्यजननं' (१।१।३६) कहा गया है; पर वादीने उसमें विगत-राग न होकर विशिष्ट-राग अपना लिया। पुराणके पृथक् किये हुए दो-चार पद्यों पर दृष्टि न डालें वा डलवावें; किन्तु समूची पुस्तक पर दृष्टि डालें। तब वादीको यथार्थ-तात्पर्य हृदयङ्गम होगा; पर खेद है कि-वादी वैसा नहीं करते; वा करना नहीं चाहते। अब यह किसका दोष हुआ-यह वादी ही विचार लें 'अतिरमणीये वपुषि व्रणमेव मक्षिकानिकरः' को चरितार्थ न करें। १८००० पद्योंमें वादीके दिये दो-चार पद्य तो छिप जाएँगे, ढूँढने पर भी न मिलेंगे।

देवकल्प ऋषि लोग 'परोक्षवादा ऋषयः... परोक्षं मम च प्रियम्' (श्रीमद्भागवत ११।२१।३५) 'इत्याचक्षते परोक्षेण, परोक्ष-प्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षविद्विषः' (गोपथब्रा. १।१।१, शतपथ, ७।५।१।२२) उस परोक्ष-वर्णनको जनसाधारणके लिए

प्रत्यक्षरूपसे, वस्तुतः अतिपरोक्ष-वृत्तिसे वर्णन करते हैं; क्योंकि-'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवति आख्यानयुक्ता' (१०।१०।२) इस निरुक्त-के कथनानुसार ऋषियोंको परोक्षका वर्णन आख्यानके ढंगसे कहनेमें आनन्द आता है।

इसके एक-दो उदाहरण भी सुन लीजिये—ब्रह्माकी पुत्री-गमनकी कथा 'प्रजापतिः स्वां दुहितरमधिष्कन्' (ऋ. १०।६१।७) वेदोंमें तथा पुराणोंमें भी प्रसिद्ध है। इस प्रकार 'अहल्यायै जार' (शत. ३।३।४।१८) 'अहल्याया ह मैत्रेय्या [इन्द्रो] जार आस' (षड्विंश ब्रा. १।१) आदिमें अहल्याकी इन्द्रसे जारताकी कथा भी प्रसिद्ध है, इसमें बाहरसे अश्लीलता प्रतीत होती है, पर श्रीकुमारिलभट्ट आदिने तथा वादीके मान्य स्वा.द.जीने सूर्य-उषा आदिके रूपकमें तात्पर्य माना है; तब वेद और पुराणमें भी सूर्य-उषा आदि की कथाको सीधे न कहकर क्यों इस रूपमें वर्णित किया है, जिसे कई आपात-ज्ञानधारी लोग अश्लील समझते हैं ? मानना पड़ेगा कि-पुराण-इतिहास आदिने तथा वेदने वहाँ शृङ्गार अलङ्काररूपसे लिखा है। इस प्रकार 'मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः' (ऋ. ६।५५।५) 'पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' (अ. ६।१०।१२) इत्यादि वेदमन्त्र क्यों अश्लील-रूपसे लिखे गये, जिससे आपात-ज्ञानधारियोंको शङ्का उपस्थित हो जाती है ? इससे स्पष्ट है कि-जिनकी गति केवल वाच्यार्थ तक सीमित है, व्यङ्ग्यार्थका ककहरा भी जिन्होंने नहीं जान पाया, उनका शास्त्रमें प्रवेश, विशेषतः उनका गलत-आलोचना मार्गमें प्रवेश

अवान्तव्य है। इन सब बातोंसे वादीका आगेका अश्लीलता-प्रदर्शन तथा उस पर उपहास खण्डित होगया। इससे उसने अपना आपातदर्शित्व व्यक्त कर दिया है। यहाँ हमने विस्तार इसलिए किया है कि-वादी तथा उनके सहवर्गियोंको वस्तुस्थितिका पता लग जाय।

(५) गोपियोंसे श्रीकृष्णका भोग करना सिद्ध करते हुए वादी लिखता है-'ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृभिस्तथा। कृष्णं गोपांगना रात्रौ रमयन्ति रतिप्रियाः। सोऽपि कैशोरक-वयो मानयन् मधुसूदनः। रेमे ताभिरमेयात्मा क्षपासु क्षपिताहितः' (विष्णु-पुराण ५।१३) यहाँ वादी 'रति' तथा 'रेमे'का अर्थ करते हुए लिखता है—'गोपियाँ विषयभोगकी इच्छा रखने वाली कृष्णके साथ रमण (भोग) किया करती थीं। कृष्ण भी अपनी किशोर-अवस्थाका मान करते हुए रात्रिमें उनके साथ रमण किया करते थे' यह वादीका किया हुआ अर्थ उसीके अनुसार ही अशुद्ध है, क्योंकि-पृ० १ में वादीने लिखा है-'भगवान् श्रीकृष्णजी महाराज योगेश्वर थे, उनका जन्म यादवकुलमें हुआ था। बाल्यावस्थामें गौ चरानेका कार्य उन्होंने किया था। आज भी ग्रामोंमें लड़के-लड़कियाँ (ग्वाले वा ग्वालिनें) साथ-साथ गौ चरानेका कार्य करते हैं' इस अपने लेखसे वादीने भी श्रीकृष्णकी इस समयकी अवस्था बाल्यावस्था मानी है, पुराणमें भी श्रीकृष्णकी यहाँ बाल्यावस्था ही कही है। तब वादी 'रमु क्रीडायाम्'का बाल्या-वस्थामें 'विषयभोग' अर्थ कैसे कर सकते हैं ? क्या यहाँ 'यभ

मैथुने' धातुका प्रयोग है, जो वादी यह अर्थ कर रहे हैं ? स्वयं वादी निग्रहस्थानमें हैं। अपने (पृ० १के) कहे अनुसार वादीने ही 'रसिकधूर्त' बनकर श्रीकृष्णको शृङ्गाररसका नायक और उन ग्वालिनोंको शृङ्गाररसकी नायिका बनाकर, श्लोकोंके पुराणकार-से विरुद्ध गन्दे अर्थ गढ़कर लिख मारे हैं। क्या बाल्यावस्थामें भी वादी 'रमण'का 'विषयभोग' अर्थ कभी कर सकता है ? 'रमयन्ति'का अर्थ 'प्रसन्न करना' होता है मैथुन नहीं-इस पर आगे लिखा जावेगा।

और तो और, उक्तश्लोकके 'कैशोरक-वयो मानयन्' का अर्थ वादीने भी 'अपनी किशोर-अवस्थाका मान करते हुए' यह लिखा है। अब बतलाइये कि-किशोर-अवस्था बाल्यावस्था होती है, या यौवनावस्था ? 'धावता हरिणकैर्यथा प्रतिमल्लौ किशोर-सिंहा-नाम्' (२।१) कुन्दमालाके इस पद्यमें शेरके बच्चोंको 'किशोर'-शब्दसे लिया गया है, और उनसे बच्चे-लवकुशका वर्णन किया गया है। यौवनावस्था तो आप लोगोंके अनुसार भी २५ वर्षकी मानी जाती है। श्रीकृष्ण १०-वर्ष तक ब्रह्मवैवर्त और श्रीभाग-वतके अनुसार गोकुल-वृन्दावनमें रहे। ११ वें वर्षमें तो वे मथुरामें गये-'एकादशेऽब्दे स-बलः (बलराम-सहितः)' (ब्रह्म. ४।६१।८) उनका क्षत्रियोचित ११ वर्षकी अवस्थामें उपनयन हुआ, फिर वे कभी गोकुल गये ही नहीं। तब यह अवस्था उनकी ८-६ वर्षकी प्रतिफलित हुई। तब उसमें 'विषय-भोग' अर्थ वादी बलात् क्यों करते हैं ? इससे स्पष्ट है कि-वादी श्रीकृष्णको बलात्

निन्दित करना चाहते हैं। जबकि पुराणकार श्रीकृष्णकी बाल्या-वस्था बता रहा है; तब उस समयकी क्रीड़ा विशुद्ध ही होगी, और इस पद्यमें 'अमेयात्मा, क्षपिताऽहितः' यह दो विशेषण श्रीकृष्णके हैं-वादीने इनका अर्थ नहीं किया। 'अमेयात्मा'का अर्थ 'परमात्मा' है, 'क्षपिताऽहितः'का अर्थ है 'अहित-अशुभको दूर करनेवाला'। तब वादी परमात्माका 'रमण' क्या मैथुन मानेगा ?

आर्यसमाजिन स्त्रियाँ 'आर्याभिविनय' (पृ. ४६) में स्थित 'सोम रारन्धि नो हृदि' इस मन्त्रसे स्वा.द.जीके अनुसार पर-मात्मासे प्रार्थना करती हैं—'आप हमारे हृदयमें यथावत् रमण कीजिये'। यह वही वैदिक 'सोम' है, जिसे वेदने 'जार'की उपमा दी है, देखिये हमसे पूर्वके लिखे-हुए वेदमन्त्र-'जारं न कन्या' (ऋ. ६।५६।३) 'गच्छन् जारो न योषितम्' (६।३८।४,६।१०।१४) (६।३२।५,६।६६।२३) इत्यादि। इन सब मन्त्रोंमें 'पवमान सोम' देवता (वर्ण्यमान) है, देख लीजिये अपनी अजमेर-वैदिक-यन्त्रालयकी ऋ. सं.। स्वा.द.जीने 'सोम' यहां 'परमात्मा' माना है, सो वेदने उसे 'जार' की उपमा दी है, पुराणने भी श्रीकृष्णको 'परमात्मा' 'बताया है, और-वादीकी मान्य भगवद्गीता श्री-कृष्णको 'सोम' कहती है। देखिये—'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा। पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसा-त्मकः (१५।१३) तब जब उस सोम वैदिक-परमात्माको जो वेदानुसार 'जार'की उपमा वाला है, जो वादीकी-मान्य गीताके

अनुसार 'कृष्ण' है, आर्यसमाजिन स्त्रियाँ उससे 'रमण' की प्रार्थना करती हैं; तो क्या वहां वादी 'मैथुन' अर्थ करते हैं? यदि ऐसा है तो फिर वेदके भाष्य पुराण पर ही वे क्यों बिगड़ते हैं? दोनों स्थान समान अर्थ होगा। ऋ.भा.भू.के 'वेदविषय-विचार' (६५ पृ.)में 'परमेश्वर एव रथो रमणाधिकरणम्' यहां परमेश्वरको सब स्त्रीपुरुषोंके रमणका आश्रय कहा है। यहां भी वादी परमात्माके मैथुनका अर्थ करेंगे? फिर परमात्मा-श्रीकृष्ण पर वे क्यों दोष देते हैं? ऋ भा. भू. में 'दैवेन चक्षुषा मनसा एतान् कामान् पश्यन् रमते' वह जीव शुद्ध-मनसे इन आनन्द-कामोंको देखता और भोगता हुआ उसमें सदा रमण करता है?' (मुक्तिविषय पृ. १६५) तब क्या डा० जी मुक्तात्माओंका कामोंको भोगना और रमण वही मानेंगे, जो यहां नित्यमुक्त-श्रीकृष्णपक्ष में कर रहे हैं?

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' इसके अर्थमें स्वा. द.जीने प्रथम-सत्यार्थप्रकाशमें लिखा है-'जिस कुलमें नारी लोग रमण नाम आनन्द-क्रीड़ा करती हैं' (४ र्थ समु. पृ. ११२) इस प्रकार द्वितीय स.प्र.पृ. ५८ में भी। यहां भी 'रमण' का वादी 'विषयभोग' अर्थ मानेंगे क्या? 'आत्मारामा विहित-रतयो निर्विकल्पे समाधौ' (१।२३) इस वेणी-संहारके पद्यमें योगियोंके 'रमण' और 'रति'का वे 'विषयभोग' अर्थ करेंगे कि-वे योगी अपनेसे रमण-मैथुन करते थे। श्रीसीता श्रीरामको कह रही है कि 'शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी। सह रंस्ये त्वया

वीर! वनेषु मधुगन्धिषु' (वाल्मी. २।२७।१३) यहां श्रीसीताका वनमें ब्रह्मचारिणी रहकर श्रीरामके साथ वनोंमें रमण करना कहा है, क्या यहां भी ब्रह्मचारिणीका 'रमण' वादीके मतमें विषय-भोग ही होगा? वादीका अपना ही नाम 'श्रीराम' है। 'यथा नाम तथा गुणः' तो उनमें होगा ही, और 'राम'का अर्थ है 'रमन्ते-ऽस्मिन्,' 'रमण'का अर्थ वादी 'मैथुन' करते हैं। तब वादीमें दूसरे वैदिक-संघी कौनसा 'रमण' करते हैं? क्या वही वादी वाला? यदि नहीं; किन्तु क्रीड़ा, प्रसन्नता आदि ही; सो यहां भी बालक श्रीकृष्णकी वा उसके साथ गोपियोंकी रति, रमण क्रीडा-मात्र ही होगी। बाल्यावस्थामें मैथुन कैसे सिद्ध किया जा सकता है? यदि कहा जाए कि-'उस बालकने गोवर्धन-पर्वत कैसे उठा लिया' तो इस पर यह उत्तर है कि-परमात्माका अवतार होनेके कारण। उसकेलिए यह खेलमात्र है, जैसे कि-स्वा.द.ने भी स०प्र० में इसका संकेत दिया है-'क्या ईश्वरके पृथिवी आदि धारण कर्मोंसे कंस रावणादिका वध और गोवर्ध-नादि पर्वतोंका उठाना बड़े कर्म हैं? जो कोई इस सृष्टिमें परमे-श्वरके कर्मोंका विचार करे, तो 'न भूतो न भविष्यति' (७ समु० पृ० ११७)। यदि वादी श्रीकृष्णको परमात्माका अवतार न मानें; यह तो उनकी इच्छा; पर पुराण तो मानता है! तब कदाचित् यह प्रश्न हो कि-'वह बालक मैथुन भी कर सकेगा' इस पर यह उत्तर होगा कि-परमात्मा क्या केवल एक तुच्छ मैथुन-केलिए ही अवतार लेगा? उसे अप्राप्त क्या है-जो वह साधारण

मैथुन प्राप्त करनेकी चेष्टा करेगा वह भी बाल्यावस्थामें ? वह तो आप्तकाम है। श्रीदामाने श्रीकृष्ण-परमात्माकेलिए ठीक ही कहा था, 'भूभङ्गलीलया कृष्णः स्रष्टुं शक्तश्च त्वद्विधाः। कोटिशः कोटिदेव्यस्त्वं न जानासि च निर्गुणम्' (ब्रह्म. ४।३।८०)।

स्वा.द.जीने रमादेवीको पत्र लिखा था—आपका प्रेमास्पद आनन्दप्रद पत्र मिला। यदि आप इस समयके बीचमें आवेंगी, तो मेरा समागम होगा'। इसके संस्कृत-शब्द वहाँ यह हैं—'एतदन्तराले समये अत्रागमिष्यति चेत्, तर्हि मत्समागमो भविष्यति' (म. दयानन्दका जीवनचरित्र-आत्माराम अमृतसरिविरचित पृ० ३१८)। तब वादी स्वामीजीका 'रमा'के साथ-जिसका अर्थ 'रमते इति रमा' है—समागम-मैथुन मान लेंगे ? 'समागम'का अर्थ स्वा.द.जी 'मैथुन' मानते हैं। देखिये-'स्त्रीसे अश्वके लिंगका ग्रहण कराके उससे समागम कराना (स.प्र. १२ पृ. २५६) तब वादी स्वामीजीको 'रमा'का सचमुचका 'स्वामी' मान लेंगे ? यदि ऐसा हो, तो वधाई हो, जो अपने शब्दोंमें बालब्रह्मचारीका आपने भी समागम, रमण, मैथुन मान लिया; और २३ वर्षकी विधवा 'रमा'का भी ! यदि ऐसा नहीं; तो बालक कृष्ण, या योगिराज वा परमात्मावतार श्रीकृष्णका रमण, मैथुन कैसे होगा ? वादी 'अर्धजरतीय' न करें कि-पुराणसे श्रीकृष्णका बाल्यावस्थामें मैथुन तो मान लें, पर वहाँ जो श्रीकृष्णका परमात्मत्व कहा है—जिससे वादीका कल्पना-प्रासाद धराशायी हो जाता है-उसे चुराकर वादी भी 'चोरशिखामणि' बननेका प्रयत्न करें ! गोपियाँ तो

श्रीकृष्णको कहती हैं-'सन्त्यज्य सर्वविषयान् तव पाद... (भाग. १०।२६।३१) हम सभी विषयोंको छोड़कर भक्त... तुम्हारे चरणकी शरण आई हैं, और वादी अर्थ करते हैं... वे विषय-भोगोंकेलिए वहाँ आईं। बहुत खेद !!!

(ख) आगे वादी विष्णुपुराणसे एकदम कूदकर श्रीमद्भागवत... में जा पहुँचता है। लिखता है—'एवं परिष्वङ्ग-कराभिमर्श... स्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः। रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः' इस पद्यकी वादीने 'कृष्ण गोपियोंके... किस प्रकार रमण किया करते थे' यह भूमिका बाँधी है, ... अर्थ लिखा है—'कृष्ण कभी उनका शरीर अपने हाथोंसे ... करते थे, कभी प्रेमभरी तिरछी (यह 'तिरछी' शब्द वादीने बढ़ाया है) चितवनसे उनकी ओर देखते थे, कभी मस्त होकर उनसे खुल... कर (यह शब्द भी वादीने अपनी ओरसे बढ़ाये हैं) मजाक करते थे' ['हास'का अर्थ हँसना होता है, 'मज़ाक' नहीं], वादीने कृष्ण... का भोग सिद्ध करनेकेलिए यह पद्य प्रमाण दिया है, यहाँ 'भोग' है कहाँ ? वादीको भोगके स्वप्न सर्वदा आया करते हैं, वह ... बात ? क्या वादीके नाम 'राम'के 'रमण'का 'यथा नाम त... गुणः'के अनुसार तो सब जगह प्रभाव नहीं पड़ रहा ? ... 'उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतैव भूः' वाली बात तो नहीं ! वादी अपने चित्तको जब तक कलुषित रखेंगे, तब तक उन्हें कलुषित-अर्थ ही सर्वत्र सूझेगा।

इस पद्यके उत्तरार्धका अर्थ वादी करता है—'जिस प्रकार...

बालक तन्मय होकर अपनी परछाईंसे खेलता है, वैसे ही मस्त होकर कृष्णने उन व्रज-सुन्दरियोंके साथ रमण, काम-क्रीडा (विषय-भोग) किया'। वादी धन्य हैं, वह दिन-दहाड़े, साधारण-जनताकी आंखोंमें धूल झोंकता है। 'जैसे बालक अपनी परछाईं से खेलता है'। यहां पर 'खेलता है' यह 'रेमे' का ही अर्थ वादीने किया है, यहाँ उसने उसका 'मैथुन करता है' यह अर्थ क्यों नहीं किया ? तब उसी 'अर्भको रमेशो व्रज-सुन्दरीभिः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमाभिः सह रेमे' यहाँ 'रेमे'का अर्थ 'विषय-भोग' कैसे कर दिया ? इसीसे तो यह स्पष्ट है कि—वादी बलात् श्रीकृष्णको कलङ्कित करना चाहता है। पुराण गोपियोंको श्रीकृष्णका प्रतिबिम्ब (अपना ही रूप, अपनी ही परछाईं) बतलाकर उनसे क्रीड़ाका वर्णन कर रहे हैं; और वादी यहाँ विषयभोग अर्थ कर रहा है, यह क्या बात ? क्या अपनेसे वा अपनी परछाईंसे भी कभी विषयभोग हो सकता है ? क्रीडा तो हो सकती है।

अर्भक (बालक) श्रीकृष्णका उपमान-उपमेयभाव ही वादीके मत-चाहे अर्थको काट रहा है। उसके अनुसार तो उपमा किसी युवककी, कामीकी होनी चाहिये थी, बालककी नहीं। वस्तुतः यहाँ गोपियोंको श्रीकृष्णका अपना ही प्रतिबिम्ब बताकर उनका परस्पर अद्वैतवाद बताया गया है। बृहदारण्यक-उपनिषद्में कहा है—'यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं जिघ्रति, शृणोति, अभिवदति। यत्र त्वाऽस्य सर्वमात्मैव अभूत्, तत् केन कं जिघ्रेत्, पश्येत्, शृणुयाद्, अभिवदेत' (४।५।१५) सो यहाँ गोपियोंको

भी श्रीकृष्णसे अभिन्न, श्रीकृष्णकी परछाईं ही बताया गया है; अब सोचना चाहिये कि—अपनेसे भी किसीका मैथुन हो सकता है ? यदि हो सकता है; तो वहां परकीयात्व न होनेसे व्यभिचार तो न हुआ, तब वादी श्रीकृष्णको कलङ्कित कैसे करता है ? जिस पुस्तकका प्रमाण दिया जावे, तब पूर्वापर भी उसका मानना ही पड़ेगा। उसी अध्यायमें लिखा है—'गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्। योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्' (१।३३।३६) इसका अर्थ यह है—'गोपियोंके, उनके पतियोंके, समस्त-शरीरधारियोंके अन्तःकरणोंमें जो आत्मारूपसे विराजमान है, जो सबका साक्षी और परम-पति है, वही तो अपना दिव्य चिन्मय श्रीविग्रह प्रकट करके यह क्रीडा कर रहा है'। जब ऐसा है-तब इसमें विषयभोगका क्या काम ? यह तो कविता होती है। कई लोग परमात्माको आशिक-माशूकरूपसे भजते हैं, अपने-आपको वे आशिक मानते हैं, और परमात्माको माशूक। तब क्या वादी उसका उससे अपना-इष्ट भोग मान लेगा ? एक बार आर्यसमाजके श्रीचमूपतिजीने स्वा.द. की मूर्तिकी कविता लिखी थी; उसे स्त्रीलिङ्गसे सम्बोधित किया था। उसमें कहा था—'हे दयानन्दकी तस्वीर ! तू क्या है, एक कागज और रंगकी पुड़िया ही तो है, पर तू बड़ा गजब ढाती है, मैं तेरी एक-एक अदापर आशिक हूँ 'इस कदर प्यारी जो फिर लगती है सच कह क्या है तू। दिल नहीं तुझमें दिलराई पर तासीर है, हाँ नहीं प्यारा, मगर प्यारेकी तू तसवीर है।

रोशन आँखोंमें सरूरे सरमदीकी है ज़या; फूल से हैं गाल दिखलाते तजर्रुदकी बहार। इस लवे मौजिजनुमासे टपका अमृत चारसू, चाहता जी तेरे कदमोंमें दे शिरको झुका, और न हो सूझे अदव तो लें गले से भी लगा। तुझको आंखों पर रख दे इश्ककी लड़ियां पिन्हा। फूलसे बढ़कर है तू मोतीमें कमतर ज़या। इस कदर जलवे मुसव्विरकी कहां तसवीर में। जलवा गर प्यारा है अपने प्यारकी तनवीरमें' इत्यादि। यह कविता 'प्रकाश'में छपी थी, इसमें स्वामीकी मूर्तिके नखशिखका वर्णन है। तब वादी क्या चमूपतिजीको आशिक-पति और स्वामीजीकी तस्वीरको उनकी प्रेयसी माशूक-स्त्री मानकर उनका उससे विषयभोग मान लेगा कि-चमूपतिजी-स्वामीजीको स्वामिनी बनाकर उसका अधरामृत-पान किया करते थे, उसका आलिंगन-चुम्बन करते थे। महाशय जी, यह कविता होती है, यह आप समझ लें। आशिक-माशूकवाली परमात्म-सम्बन्धी कविताओंका मनन करें। तब श्रीकृष्णको गोपियोंका कान्त बनाना-जिससे भगवान्का नाम 'कान्ह' वा 'कन्हैया' हो गया—आप (वादी)को निर्दोष मालूम होगा। उसमें वादीको भक्तिकी पराकाष्ठा निहित हुई मिलेगी। भगवान्की निरतिशय अनुरक्ति ही भक्ति हुआ करती है।

अब अर्भक (बालक)का अपनी तसवीर (प्रतिबिम्ब)से क्या वादी मैथुन मान सकता है? जब उसकी अपनी परछाईं वा तसवीरसे इस उपमान-वाक्यमें वादी क्रीडा ही मानेगा; वैसे ही

उपमेय-वाक्यमें अर्भक-श्रीकृष्णका भी अपनी परछाईं वा तसवीर गोपियोंसे विषयभोग न होकर क्रीडा ही होगी। वादी यदि साहित्यज्ञ हैं; तो जानते होंगे कि—उपमामें चार बातें होती हैं, १ उपमान, २ उपमेय, ३ वाचक-शब्द और ४ साधारणधर्म। यही पूर्णोपमा होती है। सो अर्भकका अपने प्रतिबिम्बसे रमण और अर्भक-श्रीकृष्णका अपनी प्रतिच्छाया गोपियोंसे रमण-यह समानार्थ ही होगा। 'साधारणधर्म'का अर्थ 'समानधर्म' ही होता है। यदि अर्भक (बालक) के पक्षमें 'रेमे'का रमण-क्रीड़ा अर्थ माना जावे; और अर्भक (बालक)-कृष्णके पक्षमें 'रेमे'के रमणका क्रीड़ा अर्थ न करके विषयभोग अर्थ किया जावे; तो यह 'साधारण (समान)-धर्म' न होकर विषम-धर्म होकर उपमाका दोष हो जायेगा। आशा है-यदि वादी साहित्यशास्त्रज्ञ है; तो यहाँ अर्थभेदमें अपनी भूल समझ गया होगा; पर यदि केवल शृङ्गारशास्त्रज्ञताके 'डाक्टर' होनेकी डिग्री उन्हें मिली हुई है, तो भिन्न बात है।

(ग) पृ० १२में वादी लिखता है-'पंडितास्तु कलत्रेण रमन्ते महिषा इव' कलियुगके पौराणिक पंडित औरतोंसे भैंसेके समान रमण करते हैं' यहाँ 'रमण'का अर्थ 'विषयभोग' है, फिर पृ० १४ में आप लिखते हैं—'अतः 'रमण'का अर्थ पुराणोंमें जहाँ राधा वा गोपियोंकेलिए आया है, वहाँ 'विषय-भोग' ही अर्थ होगा, जहाँ रमण योगी अथवा भक्त वा ईश्वरके सम्बन्धके अर्थमें आता है, वहाँ भक्त वा योगीका ईश्वरके

ध्यानमें मग्न होनेके अर्थमें आता है'। यदि वादीकी यह बात ठीक है, तब गोपियोंकेलिए श्रीमद्भागवतमें 'श्रीकृष्णकी कलत्र गोपियां' यह शब्द तो वादीसे दिये पद्यमें 'कलत्रेण रमन्ते' की भान्ति आया नहीं है, किन्तु वे यहां श्रीकृष्णकी भक्त बताई गई हैं; और श्रीकृष्ण वहां पर 'ईश्वर' बताये गये हैं, इस विषयके प्रमाण वादीके दिये उद्धरणोंमें भी हैं, जैसे कि-'तमेव परमात्मानम्' (पृ. ७) 'भगवानपि ता रात्रीः' (भाग. १०।२९।१) 'भक्ताः' (१०।२९।३१) यह—गोपियोंकेलिए आया है। 'न खलु गोपिका-नन्दनो भवान् अखिल-देहिनामन्तरात्मदृक्' (भाग १०।३१।४) इत्यादि। यह श्रीकृष्णकेलिए आया है। अन्य भी बहुतसे प्रमाण दिये जासकते हैं; तब उसमें भी व्यभिचार देखना वादीकी अपने ही शब्दोंमें 'हियेकी फूटना' है; तथा मस्तकके चन्दन-शून्य होनेसे उसमें निन्दाकी गर्मी पहुंच जाना है। तिलकको १११ नम्बर बताकर वादीने अंग्रेजोंकी अपनी—मानसिक-दासता भी प्रकट कर दी है; क्योंकि—हिन्दी-अङ्क अंग्रेजी-अंकोंसे भिन्न ढंगके होते हैं। वह ऊर्ध्वपुण्ड्र-तिलकमें नहीं घट सकते हैं। १११ नम्बर तो नहीं, वादीने दस नम्बरको अपना लिया मालूम होता है। तभी तो 'पपात धरणीपृष्ठे तैर्व्याप्तमखिलं जगत्। पाताले भूतले स्वर्गे शिवलिङ्गास्तदाऽभवन्'का डा०जीने 'तीनों लोकोंमें योनियों समेत शिवलिङ्ग पैदा हो गये' यह अर्थ कर लिया। यहां 'योनि-योंसमेत' किसका अर्थ है? इसका भाव तो यह है कि-दोनोंके तेजके पतनसे सर्वत्र शिवलिङ्ग फैल गये'। शिवलिङ्गका अर्थ

अण्डकार शिवमूर्तियाँ हैं। अब भी पाताल देश-अमेरिका, रूस, भारत, तिब्बत, हड़प्पा, मुहञ्जोदाडो-आदिमें जहां भी खुदाई हुई, वहां शिवलिङ्ग मिले-यह तात्पर्य है। अतः दोनों-गौरी-शङ्करका मैथुन-मिथुनीभाव ही है, जैसे प्रकृति-पुरुषका सृष्ट्यर्थ मैथुन हुआ करता है। हम पीछे सप्रमाण लिख-चुके हैं कि-शिव-शिवा भी प्रकृति-पुरुष हैं, उनका रमण भी लौकिक स्त्री-पुरुषोंकी भान्ति नहीं होता, जैसा कि वादी समझते हैं। इसी लिए वहां 'तेज' शब्द लिखा है, लौकिक 'वीर्य' नहीं। कविकी कविताका तात्पर्य समझनेकेलिए उसके साहित्यका पूर्णज्ञान अपेक्षित होता है। अब बतलाइये कि-भैंसेकी भान्ति सूंघ-सूंघ कर यहां अपना मन-चाहा 'रमण' वादीने निकाला, या पौराणिक पण्डितोंने? अब कलियुगी पौराणिक 'भैंसा-पण्डित' तो डा० जी ही बने। वस्तुतः उक्त पद्यमें मुक्तिके साधनमें दक्षता ही पण्डितत्व है, इस भावमें तात्पर्य है।

(घ) आगे वादी 'कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य मुमुहुः खेचरस्त्रियः। कामार्दिताः, यह पद्य देकर 'कामार्दिताः'का अर्थ करते हैं—विषयभोगकी उग्र इच्छाएँ उत्पन्न हो जानेसे देवपत्नियोंके शरीर कामरससे अर्दिता अर्थात् गीले हो गये'। वादी संस्कृतका भी भारी विद्वान् मालूम पड़ता है—'अर्दिताः'का वादीने 'आर्द्र' अर्थ कर डाला। पद्यमें 'कृष्णविक्रीडितं' शब्द है-'कृष्णकी क्रीडा', पर वादीने 'कामक्रीडा' अर्थ कर दिया! क्या कामक्रीड़ा मैदानमें और वह भी सबके सामने हो रही थी कि-देवस्त्रियोंने

भी उसे देख लिया, और चन्द्रमाने भी ?' वादी धन्य है !!! क्या वादीको अधिकार है कि-उसमें अविद्यमान-शब्दोंको भी प्रक्षिप्त कर दे ? 'देवपत्नियां विषयभोगकी इच्छाएं उत्पन्न हो जानेसे' यह वादीने श्लोकके किस पदका अर्थ किया ? हमें तो वादीके मस्तिष्कमें 'कामक्रीड़ा' घुसी हुई प्रतीत होती है, तभी तो वे अविद्यमान भी विषयभोग-सम्बन्धी बातोंको बीचमें बलात् ठोंस रहे हैं। यहां 'कामार्दिताः'में 'काम'का अर्थ 'कामना-इच्छा' है कि-काश हम भी इस बच्चे श्रीकृष्ण-भगवान्से खेलतीं। शिशु रास (नृत्य) क्रीड़ा कर रहे हों, तो जिन बेचारियोंके बच्चे नहीं होते, उनको तीव्र कामना-इच्छा होती है कि-हमारे भी बच्चे होते, हम भी उनसे इसी प्रकारकी क्रीड़ाएँ करतीं। देवस्त्रियोंके बच्चे नहीं हुआ करते-यह आप पुराणानुसार जानते होंगे; अतः वे देवस्त्रियाँ बच्चे कृष्ण और फिर भगवान्‌की क्रीड़ाओंसे मुग्ध हो गईं। उनकी बच्चे श्रीकृष्णसे खेलनेकी तीव्र-इच्छा हो गई-यही 'कामार्दिताः'का अर्थ है कि-तीव्र कामना-इच्छासे युक्त। 'इच्छा कामः' (तर्कसंग्रह) 'कथं कामं न संदध्यात्' (महाभारत १।१६६।३८)। यहां ऋत्विक्ने द्रुपदकी पत्नीसे हव्यको काम-सन्धाता (इष्टप्रद) कहा है। 'शशाङ्कः सगणो विस्मितः' यह तो स्पष्ट अलङ्कार है ही।

(ङ) अग्रिम पद्य वादी यह लिखता है—'कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः। रेमे स भगवान् ताभिरात्मारामोऽपि लीलया' (२०) इसका अर्थ वादी यह लिखता है—'कृष्णने

जितनी गोपियां थीं; उतने ही रूप रखकर उनके साथ हर प्रकारसे रमण किया' यहां पर वादीने 'भगवान्' आत्मारामः' इन पदोंका जो श्रीकृष्णके विशेषण थे-अर्थ नहीं दिया, यह क्यों ? इसलिए कि-बना बनाया उसका महल गिरता है। फिर श्रीकृष्णकी निन्दा कैसे होसके ? वादी याद रखें कि पुराणकारको यहां भगवान्से 'परमात्मा' इष्ट है, 'आत्मारामः'का अर्थ है—अपने आपसे रमण करने वाला; तो क्या परमात्मा अपनेसे रमण-ग्राम्य-मैथुन किया करता है ? जब वह परमात्मा है, और गोपियां भी उसीका रूप-प्रतिबिम्ब बताई गई हैं; तो परकीया तो कोई हुई ही नहीं; तब वादी 'व्यभिचार' अर्थ कैसे करता है ? व्यभिचार तो परकीयासे होता है। जब कि क्षत्रिय दुष्यन्त-शकुन्तलाके, बिना किसीकी अनुमतिके, परस्पर मैथुन हो जानेपर भी वादी लोग उसे व्यभिचार नहीं मानते, किन्तु उसे गान्धर्व-विवाह जो कि-क्षत्रिय-धर्म है—ही मानते हैं 'गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ' (मनु० ३।२६) और उस गान्धर्वका लक्षण 'सकामायाः सकामेन निर्मन्त्रो रहसि स्मृतः' (महा. १। ७३।२७) यह मानते हैं; यहां भी श्रीकृष्ण क्षत्रिय थे; तब जब यहां कोई मैथुन नहीं, किन्तु विशुद्ध-प्रेम है; तब वादीको यहां व्यभिचारके स्वप्नदोष क्यों हो रहे हैं ? स्पष्ट है कि-यहां 'रमण' का अर्थ 'क्रीड़ा' है। यहां 'जितनी गोपियां उतने कृष्णके रूप' यह कथन भी सिद्ध करता है कि-वे योगेश्वरेश्वर-परमात्मा हैं। नहीं तो यदि वह कोई साधारण-पुरुष था; तो उसने गोपियों-

इतने रूप कैसे बना लिये ? वादी तो ऐसे अवसरोंपर आत्माके टुकड़े हो जानेकी शङ्का करता है, तब इस बात पर वादीने विश्वास कैसे कर लिया ? यदि वादी कहे कि–यह पुराणकी गप्प है; तब तो वहीं कहा हुआ वादीके अनुसार बच्चे कृष्णका सभी गोपियोंसे एक साथ मैथुन कहना भी गप्प है। तब वादी यहाँ 'अभित्तिचित्र' कैसे खड़ा कर रहा है ? (च) 'तासामतिविहारेण'-जब अतिरमण करनेसे वे सब बहुत थक गईं; तो करुणा करके कृष्णने कोमल हाथोंसे उन प्रेमिकाओं (यह शब्द वादीने स्वयं बढ़ाया है) के मुंह पोंछे'। अब देखिये कि–गोपियां तो अति-विहारसे थक गईं; पर बच्चा कृष्ण नहीं थका ? यह क्या उल्टी बात ? अतिविहार बच्चे कृष्णने किया; वा गोपियोंने ? अतः स्पष्ट है कि-यहां 'विहार'का अर्थ भी 'क्रीड़ा' ही है। 'विहार'का अर्थ 'मैथुन' नहीं हुआ करता। विहार=घूमना–फिरना, भाग-दौड़, सैर-सपाटेका ही नाम होता है। रासक्रीड़ामें वैसी क्रीड़ा हुई, जैसेकि-आजकल विवाहोंमें गोलाकार चक्कर काटकर परस्पर डण्डे बजाते हों, उनमें लड़कियाँ अबला होनेसे थक गई हों, उनका पसीना श्रीकृष्णने पोंछ लिया हो, तो क्या यह मैथुन मान लिया जायगा ? 'शं-तमेन'का अर्थ है—'कल्याणकारक हाथ' और वादीने अर्थ कर डाला 'कोमल हाथ' और 'प्रेमिका' अर्थ भी बीचमें प्रक्षिप्त कर दिया। इन पद्योंमें कुछ भी उद्वेजकता नहीं। वादी क्यों बलात् उद्विग्न हो रहा है ?

आगे वादी लिखता है–'नद्याः पुलिनमाविश्य'' 'वहाँ कृष्णने

गोपियोंके साथ रमण (भोग) किया'। वादी यह नहीं जान सकता कि–कोई भी ग्रन्थकार मैथुनका वर्णन नहीं किया करता; 'रमण'के अर्थ पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं।

(घ) वादी आगे 'बाहुप्रसारपरिरम्भ'' 'उत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार' (४६) इस श्लोकका अर्थ करते हुए लिखता है—'इन क्रियाओं द्वारा नवयौवना-गोपियोंमें कामदेवको खूब जाग्रत करके उनके साथ कृष्णने रातमें विषयभोग किया'। यहाँ 'नव-यौवना' शब्द वादीने प्रक्षिप्त किया है और 'रात' शब्द भी।

'नीवी-आलभन'का वादीने 'लहंगेका नाला खींचना' अर्थ कैसे कर लिया ? क्या 'आलभन'का अर्थ 'खींचना' होता है। 'स्पर्श' अर्थ तो प्रसिद्ध है, पर उससे वादीकी कुछ भी इष्टसिद्धि नहीं। लहंगेमें नाड़ा खींचनेकी व्यर्थता भी है। 'नखाग्रपात'का भी अर्थ वादीने खूब किया कि–'नाखूनोंसे अंगोंको नोच-नोचकर जख्मी करना'। तब यह वादीके अनुसार ही शृङ्गार-रस कहाँ हुआ ? यह तो रौद्ररस वा बीभत्स होगया। इस नोच-नोचकर जख्मी करनेसे तो शृंगार रुकेगा ! 'हसित'का अर्थ वादीने 'मुसकराना' कर डाला, जबकि उसका अर्थ 'विशुद्ध हंसना' यह होता है। वस्तुतः वादी अर्थमें प्रक्षिप्तता कर डालनेका बहुत अभ्यासी है। इससे उसके पक्षकी निर्बलता स्पष्ट है।

'उत्तम्भयन् रतिपतिं'का वादी अर्थ करता है–'कामदेवको जाग्रत करके' वाह ! वादी अर्थ खूब करता है ! मालूम होता है कि—आजकलकी टीकाओंको देखकर वादी ठगा गया है।

'रतिपतिम् उत्तम्भयन्'का अर्थ है कि-'कामदेवको स्तब्ध-जड करते हुए-तिरस्कृत करते हुए। 'उत्तम्भयन्'में 'स्तन्भू' धातु वा 'ष्टभि' धातु है, उसका अर्थ 'जाग्रत् करना' नहीं, किन्तु 'रोकना' है। सो देखिये सिद्धान्तकौमुदी—'ष्टभि प्रतिबन्धे' (भ्वादि० आ०से०) 'प्रतिबन्ध'का अर्थ 'रोकना' ही होता है। इसमें यदि विश्वास न हो, तो स्वा.द.जीसे प्रकाशित धातुपाठका ७ पृ. १४ पं. देख लीजिये। अब कौमुदीके क्र्यादिगणमें देखिये—'स्तन्भ्वादयः सर्वे रोध-नार्थाः।' यदि वादी कौमुदीको 'जालग्रन्थ' माने; तो स्वा.द.जीकी 'आख्यातिक'का १८३ पृ. देखें। उसमें लिखा है-'स्तम्भ आदि धातु रोकने अर्थमें हैं'।

अब इस विषयमें प्रमाण भी देखिये-'उत् ते स्तभ्नामि पृथिवीं' (ऋ. १०।१८।१३) यहाँ पृथिवीका 'उत्तभ्नामि'का 'रोकता हूँ' अर्थ है। इसी प्रकार अथर्व. १८।३।५२ में भी 'ऊपर थामता हूँ' यह अर्थ है। 'दिवमुत्तभान' (यजुः १७।७२) का भी द्युलोकको ऊपर निश्चल कर' 'उत्तम्भय' यह अर्थ है। 'स्तभान पृथिवीम् उत द्याम्' (अ. ६।५।१५) में 'स्तभान'का भी वही अर्थ है। 'सत्येन उत्तभिता भूमिः(ऋ. १०।८५।१) यहाँ भूमिका सत्यसे उत्तभित 'ऊपर रोककर निश्चल कर देना' अर्थ है। घोड़ेके कानोंकेलिए आता है-'उत्तब्ध-कर्णः' जब वह अपने कान 'ऊपर निश्चल कर लेता है'। इस प्रकार यहाँ पर भी 'रतिपतिम् उत्तम्भयन्'का 'कामदेवको ऊपर ही रोक कर' यह अर्थ है। सो जो 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' (भाग. १०।३२।२) कामदेवका मथन करनेवाला है; वह कामको रोकेगा

ही। खम्भेका नाम 'स्तम्भ' इसलिए है कि—वह रोकता है। देखिये अथर्व. (१६।३३।७)। 'सन्ततेः स्तम्भ. (प्रतिबन्ध) कारणम्' (रघुवंश १।७४) यहाँ पर भी 'स्तम्भ'का अर्थ रुकना है। एक 'स्तम्भन' दवाई होती है, उसका भी अर्थ 'शुक्रको रोकना' है। 'संस्तभ्यात्मानमात्मना (३।४३) इस गीताके वचनमें 'स्तम्भ' धातुका 'रोकना' अर्थ है। इस प्रकारके पचासों प्रमाण दिये जा सकते हैं। 'जाग्रत् करने' अर्थमें मूल प्रमाण वादीको नहीं मिलेगा। तब 'रतिपतिम् उत्तम्भयन्'का 'कामदेवको जाग्रत करके' यह वादीका अर्थ करना शब्दशास्त्र पर आक्रमण करना है।

भगवान्‌का यह वाक्य है कि मुझमें जिनकी बुद्धि आविष्ट हो जाती है, उनमें यदि कामबीज है; तो मैं उसे भून देता हूँ; तब उसमें अंकुर उगनेकी सम्भावना नहीं रहती; देखो श्रीमद्भाग. (१०।२२।२६) तब भगवान्ने व्रजसुन्दरियोंके कामको उत्तब्ध कर लिया, भूनकर उसे रोक दिया; वा बढ़ाकर उसे रोक दिया। जैसे कहते हैं कि-'दिया बढ़ा दो, इसका भाव होता है 'बुझा दो' बुझनेके समय पहले वह बढ़कर फिर एकदम बुझ जाता है। मोटरकी स्टीम जब रोकी जाती है; तो वह पहले खूब बढ़कर फिर एकदम रुक जाती है, इस प्रकार यहाँ अर्थकी पूर्वापर-संगति ठीक लग जाती है, क्योंकि-भगवान्-श्रीकृष्णको पुराणमें 'योगेश्वरेश्वर' कहा गया है, तब इसमें विस्मयका कोई अवकाश नहीं। जब वह योगेश्वरोंका भी ईश्वर है; तब भला वह काम कैसे रहने दे सकता है ? देखिये श्रीमद्भागवतमें ही इसका वर्णन-

'कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृद्यमेव च। नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते'। न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे। योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते' (१०।२६।१५-१६)। यह हैं पुराणके भाव, पर वादी जोंककी भांति बनकर स्तनोंसे दूध न खींचकर उसकी पीप निकालकर पीते हैं? यह सब खण्डन-व्यसनिताका फल है। हम उन्हें सत्सम्मति देते हैं कि-वे इस कुदृष्टिको छोड़ दें। जो भगवान्के भगवत्ता तथा समाधानकारक पद्य हैं, वादी उनको छिपाकर बीचके, जनताको भ्रममें डालने वाले, पद्योंको लिख देते हैं; इससे वादीका अपना चरित्र ही बिगड़ेगा, भगवान्का कुछ नहीं बिगड़ता।

अथवा 'दुर्जनतोष-न्याय'से यहाँ 'रतिपतिमुत्तम्भयन्'का अर्थ यह भी मान लिया जाय कि-श्रीकृष्ण गोपियोंके कामको बढ़ा रहे थे; सो बढ़ाना भी समाप्त करनेकेलिए होता है, जैसेकि हम पहले इसका संकेत दे चुके हैं, क्योंकि-'पतनान्तः समुच्छ्रयः' (उन्नतिका अन्त पतन होता है) कभी कोई रोगादि दबानेसे भिन्न-शाखारूपमें बढ़ जाता है, और बढ़ानेसे खतम हो जाता है। जैसे कफ किसीको हो और उसे हटाना इष्ट हो; तो उसे गुड़ खिलाया जाता है, इससे वह बढ़कर फिर समाप्त हो जाता है—'गुडेन वर्धितः श्लेष्मा सुखं वृद्ध्या निपात्यते' यह एक उदाहरण है। इसमें एक अन्य उदाहरण भी सुन लें—

एक स्त्री थी, उसकी योनिमें एक कीट रहता था, उससे उसका काम इतना बढ़ा रहता था कि-उसको दश पुरुष भी तृप्त नहीं कर सकते थे। जैसेकि किसीको भस्मक रोग होता है, वह बहुत भोजन करने पर भी तृप्त नहीं होता, उसके अन्दर एक कीट रहता है। जो सभी कुछ-खाया हुआ भस्म कर देता है, और उस पुरुषको फिर भूख लग जाती है। उस स्त्रीका पति बहुत तंग था। बहुत डाक्टरोंसे इलाज कराया, पर सफलता नहीं मिली। तब एक पुरुषने इस बातका बीड़ा उठाया कि-मैं इसे ठीक कर दूंगा। वह पुरुष पूर्ण-संयमी था। उस स्त्रीके काम निकालनेका काम भी संयमीका था। यदि कोई असंयमी वहाँ होता; वह इस अवसरसे लाभ उठाकर उस स्त्रीसे मैथुन कर लेता। इससे कुछ लाभ न होता, इससे उस स्त्रीका कामका भीतरी कीट न निकलता, किन्तु उल्टा तृप्त होकर अन्दर बना रहता। उससे उस स्त्रीकी कामप्रवृत्ति और भड़कती। क्योंकि— 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते' (मनु. २।६४) अस्तु।

वह संयमी एकान्तमें उस स्त्रीसे इस प्रकारकी क्रियाएँ करने लगा कि—जिससे उसका कामदेव खूब जागरित होवे। यों समझिये कि-वह उस स्त्रीसे आलिङ्गनादि प्रारम्भ करके उसके सामने शिश्न निकालकर तथा शिश्नोत्थान आदि तक क्रियाएँ करके बैठ गया। यह ध्यान रखनेकी बात है कि-वह यह क्रियाएँ अपनेलिए नहीं कर रहा था, किन्तु एक दयनीय-दशावाली कृपापात्र उस स्त्रीके हितकेलिए ही। अब तो वह स्त्री अत्यन्त कामोन्मत्त हो उठी। उस पुरुषने उससे क्रियानिर्वृत्ति अर्थात

मैथुन एवं अपना शुक्रपात नहीं होने दिया; शेष सब उत्तेजित करनेवाली क्रियाएँ कर डालीं। इससे जब उस स्त्रीकी कामातुरता चरम-सीमा तक पहुँच गई; और वह उस पुरुषसे बलात् लिपट गई; पर उस गजबके संयमीने उससे अन्तिम कार्य नहीं ही किया। इसके परिणामस्वरूप स्खलित होगई हुई उस स्त्रीकी योनिसे वह कामकीट निकल पड़ा और मर गया, वा मार दिया गया। स्त्री वेहोश होगई। कई उपचारोंके बाद जाकर वह ठीक होगई। अब वह कामातुरता उसकी नष्ट होगई; वह शुद्ध हो उठी। तब क्या वादी आडम्बरकी कामक्रियाएँ करते हुए उस पुरुषको व्यभिचारी मान लेंगे! यदि वादीको उसकी उन क्रियाओंके करनेका रहस्य मालूम न होगा; तो वह उसको सचमुच व्यभिचारी कह भी देगा। परन्तु जब वादीको उसकी यथार्थताका रहस्य ज्ञात हो जायगा, तब वह उसको 'गजबका संयमी' समझेगा; और उसके इस कठिन अवसरमें भी संयमकी अन्तिम कोटि भंग न करनेसे बहुत विस्मयान्वित होगा।

इस प्रकार वादी प्रकृतमें भी समझ लें। वे गोपियाँ वादीके अनुसार छिपा कामभाव सुन्दर श्रीकृष्णसे रखती थीं; तब श्रीकृष्णने उस छिपे भावमें उनकी हानि समझकर 'बाहुप्रसारपरिरम्भ' आदि वादीकी मनचाही क्रियाओंसे उनका काम वादीके अनुसार बढ़ाया - 'व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिपतिं' पर 'आत्मन्यवरुद्ध-सौरतः' (भाग. १०।३३।२६) 'यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न-शेकुः' (१।११।३६, ११।६।१८) गजबके संयमी, अस्खलित-वीर्य

भगवान् पूर्ण संयमी रहे; तब 'न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते। भर्जिता कथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते' (१०।२२।२६) इस भगवान्के कथनके अनुसार परिणाम यह निकला कि-उन व्रजसुन्दरियोंका कामकीट जल गया, उनकी रागदृष्टि अब शुद्ध-भक्तिरूपमें परिणत होगई। भगवान् श्रीकृष्णने इससे 'कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम्' (१०।३०।३५) स्त्रियोंका दौरात्म्य तथा अपना निर्लेपत्व दिखलाया, आप उनमें लिप्त न हुए। फिर विशुद्ध-प्रेमकी उत्पत्ति उनकी देखकर उनसे रासक्रीडा की। यहाँ योगेश्वरेश्वर होनेसे उन्होंने बहुत रूप धारण कर लिये। यह कार्य जितेन्द्रिय योगी कर सकते हैं, विषयी पुरुष नहीं कर सकते। सो श्रीकृष्ण जितेन्द्रिय एवं परमयोगी होनेसे ही वे स्थूल-सूक्ष्म तत्त्वों पर अधिकार जमाकर हजारों स्थूल-सूक्ष्म शरीर धारण कर सके थे; अन्यथा ऐसा न हो सकता। इस प्रकार वादीकी बात मानकर भी हमारे पक्षका कुछ नहीं बिगड़ता।

जब इस प्रकार कामको रोकना ही संयमी भगवान्का लक्ष्य था; तो 'रमयाञ्चकार'का भी 'मैथुन' अर्थ नहीं है। 'रमयाञ्चकार' यहां 'रम्' धातुका णिच्में प्रयोग है, सो णिच्में कभी 'मैथुन करना' अर्थ हो भी नहीं सकता, रमण करवाना-अर्थ तो कदाचित् होता; वस्तुतः 'प्रसन्न किया' यही अर्थ है। कुछ इसके उदाहरण देखिये-'इमे तुरं मरुतो रमयन्ति' (ऋ. ७।५६।१६) यहां भी 'रमयन्ति'का 'प्रसन्न करते हैं, वा 'क्रीडयन्ति'—यह अर्थ है,

'मैथुन' अर्थ सर्वथा नहीं। 'नि रमय जरितः ! सोम इन्द्रम्' (ऋ. १०।४२।१) हे जरितः ! त्वं सोमे-सोमयागे इन्द्रं रमय-'क्रीडय' अर्थ है, 'मैथुनं कारय' अर्थ नहीं। 'वित्ते रमस्व' (ऋ. १०।३४।१३) यहाँ भी 'रमस्व'का 'रतिं कुरु, 'क्रीडा' अर्थ है, मैथुन नहीं। 'वसोष्पते नि रमय' (अ. १।१।२) यहाँ आर्यसमाजिन-स्त्रियोंकी इस 'रमय'की प्रार्थनामें क्या 'तू मैथुन कर' यही अर्थ होगा ? 'ज्येष्ठो रामोऽभवत् तेषां रमयामास हि प्रजाः' (महा. वन. २७७६) क्या यहाँ वादी श्रीरामका प्रजाजनोंसे 'रमण' मैथुन मानेंगे। 'स तथा सह पुत्रेण रममाणो महीपतिः' (महा. १।१००।४४) यहाँ शान्तनुका अपने पुत्र देवव्रतसे रमण वादी मैथुन मानेगा ? यदि नहीं, तब आठ वर्षके लड़केकेलिए यहाँ वादीने 'भोग' अर्थ कैसे कर लिया ? हम इस रमणकी मीमांसा पहले भी कर चुके हैं।

इस प्रकार 'गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्' (१०।२६।४२) भी णिजन्त 'रम्' धातुका प्रयोग है, सो उसका अर्थ प्रसन्न करना ही है, 'भोग' नहीं। और फिर यहाँ वादीके दिये हुए ही पद्यमें 'तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः' (पृ. ७) (भाग. १०।२६।११) यहाँ श्रीकृष्णको परमात्मा कहा गया है, सो परमात्माके लिए कौन परकीया है, जिसकेलिए वादीका प्रश्न उपस्थित हो ? 'परमात्मानं'का अर्थ वादी छोड़ गया, अपने विज्ञापनपत्रमें भी, अपने इस ट्रैक्टमें भी। क्यों ? इसलिए कि-इससे उसका बना-बनाया यह महल धराशायी हो जाता है ! इसलिए

शतपथमें लिखा है-'स न साधुना कर्मणा भूयान्, नो एव असाधुना कनीयान्, एष भूताधिपतिः' (१४।७।२।२४) इसीको एक कविने इस प्रकार लिखा है-'गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः। राजहंस ! तव सैव शुभ्रता चीयते न च, न चापचीयते' हे राजहँस ! गङ्गाके सुफेद पानीमें नहानेसे तेरी सुफेदी बढ़ नहीं जाती, यमुनाके काले पानीमें नहानेसे तुम्हारी सफेदी घट नहीं जाती। यही आगे शतपथमें कहा है-'इति उभे (पाप-पुण्ये) हि एष एते तरति अमृतः साध्वसाधुनी' (१४।७।२।२७) यही बात श्रीमद्भागवतमें भी कही है—'तस्यैकस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणः परमात्मनः। कर्मभिर्वर्धते तेजो ह्रसते च यथा रवेः' (१०।७४।४)।

जार वह वहाँ रहना ही हुआ, क्योंकि-उनके पति तो थे ही; फिर श्रीकृष्ण परमात्माको उन्होंने छिपा पति बना लिया, अतः यही जारभाव है। पतिव्रता-स्त्रीको पतिके व्रतके अतिरिक्त किसी का भी व्रत नहीं लेना पड़ता, पति ही स्त्रीका देव परमेश्वर होता है, भिन्न परमेश्वर नहीं। 'नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्। पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते' (मनु० ५।१५५) 'उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत् पतिः (५।१५४) 'स्त्रिया हि परमो भर्ता दैवतं परमं स्मृतम्' (महा. शान्ति. २६६।३६) यहाँ पतिको ही परम देव (परमात्मा) बताकर पतिव्रता-स्त्रीको पतिपूजाके अतिरिक्त देव-पूजा व्रत आदि भी निषिद्ध कर दिया गया है। पर जब गोपियोंने पतिकी पूजाके अतिरिक्त परमात्मा

श्रीकृष्णकी पूजाका व्रत ले लिया, उसे गुप्त-पति बना लिया; तो यही जार-बुद्धि हो गई। तब क्या वादी पतिव्रता-स्त्रीको परमात्माकी पूजा नहीं बताया करते? 'प्रभुकी भक्तिमें तन्मय होनेकेलिए' प्रेरणा नहीं करते? जब करते हैं, तो पतिव्रताकी यह उपासना भी 'जार-बुद्धि' हो जाती है। यदि इस जार-बुद्धिको आप पसन्द करते हैं; तब यहाँ उपालम्भ क्यों? पतिव्रता-स्त्रियोंके भी प्यारे होनेसे ही तो भगवान्‌को 'जार-शिखामणिः' कहा जाता है।

(६) आगे वादी कृपा करता है—'विष्णुका अवतार ही इस पृथ्वी पर व्यभिचार करनेकेलिए होता है' यह बात वादीकी ठीक भी है। 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' 'वेवेष्टि सर्वं जगद्-इति विष्णुः'। जब ऐसा सिद्धान्त है; तो विष्णु स्त्री-पुरुषोंके प्रजनन-नांगोंमें एक-दो के नहीं, भूमण्डलभरके—व्याप्त है; उनमें रमण कर-करा रहा है; उनको देख रहा है, तब वह 'महाव्यभिचारी' हुआ। यदि वादी उस महाव्यभिचारी विष्णुको पसन्द नहीं करते; तब वे उस विष्णुको अपनी स्त्रियोंके अंगोंसे निकाल डालें। जब तक वादी उसे निकालेंगे नहीं; तब तक वह महा-व्यभिचारी उनमें बना रहेगा; बल्कि वादी उससे अपनी स्त्रीमें गर्भाधान कराकर सन्तानें भी प्राप्त कर लेते हैं; लीजिये देखिये वादी स्वयं प्रार्थना करते हैं—'बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु' (दयानन्दीय-संस्कारविधि-विवाह. पृ. १५४) 'ब्रह्म—सबसे बड़ा परमात्मा इमां नारीं—इस मेरी स्त्रीको प्रजासे

बढ़ाया करते हैं' यह इसमें अपने स्वामीजीका अर्थ भी देख लें। अब छोड़िये अपनी सन्तानोंको भी, क्योंकि यह उसी महा-व्यभिचारी ब्रह्म-विष्णुकी सन्तानें हैं, वादी स्वयं भी।

वादी पौराणिक-विष्णुको व्यभिचारी बताते हैं; पर वैदिक-विष्णु भी तो वही हैं, कोई भिन्न नहीं। देखिये—जरा खोलिये वेदोंके पृष्ठ—'विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते' (ऋ. १।१८४।१) यहाँ वैदिक विष्णुजी वादीकी संस्कारविधिके अनुसार भारतभरकी स्त्रियोंकी योनिको ठीक-ठाक कर देते हैं; उनमें प्रजापति बनकर रेतका सेचन करके गर्भाधान करते हैं। अब बोलिये—अब बन गईं—उनकी ३० करोड़ गोपियाँ!!!

वादी 'पुराणोंके कृष्ण'को 'कामी' बताकर—उसे गालियां देते हैं, पर 'गीताके कृष्ण'को 'आदर्श—चरित्रवान्' तथा 'अपना-पूर्वज' मानते हैं (पृ० १,२२); सो यदि पुराणोंके कृष्ण 'गीता-वाले कृष्ण' बन जाएँ; तब तो वादी उन्हें अपना पूर्वज मानही लेंगे! अब वे गीताको खोलें। उसके श्रीकृष्ण कहते हैं—'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः' (१०।२८) गर्भाधानका निमित्त 'कामदेव' मैं ही हूँ। जब 'गीताके कृष्ण' कामस्वरूप बन गये; सब स्त्रियोंमें शुक्र-निषेक वही कर रहे हैं; तब वे वही 'पुराणके कृष्ण' ही सिद्ध हुए। 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोस्मि भरतर्षभ!' (७।११) यहां भी गीताके श्रीकृष्णने अपने आपको 'काम' बताया है। 'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय!' (७।७) इसमें सब स्त्री-

पुरुष श्रीकृष्णसे भिन्न नहीं हैं, यह बताया गया है; तब यहां परकीया कोई न होनेसे धर्मविरुद्धता भी न हुई। तब गीता-महाभारत तथा पुराणोंके कृष्ण एक सिद्ध हो जानेसे वादीकी-ऊनपर डाली हुई-थूक वादीके मुख पर ही जा पड़ी। उसका अपने आपसे ही खण्डन हो गया।

आगे वादी भागवतसे उछलकर शिवपुराण पर जा गिरता है—और उससे विष्णु-निन्दाके पद्य उद्धृत करता है। पर वह शास्त्रकी शैलीसे अनभिज्ञ प्रतीत होता है। यह एक न्याय प्रसिद्ध है—'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु विधेयं स्तोतुम्' शास्त्रमें किसीकी निन्दा उसकी निन्दार्थ नहीं होती, किन्तु विधेय-जो प्रकृत है-उसकी स्तुतिमें उसका पर्यवसान हो जाया करता है। तब स्पष्ट है कि-'यद्विवाहस्तद्गीत-गानम्' 'जिसका विवाह उसीके सोलहरे'। शिवपुराणमें शिवकी ही महत्ता होगी, अन्यकी निन्दा। इस प्रकार विष्णुसम्बन्धी-पुराणमें विष्णुकी स्तुति होगी, और अन्यकी निन्दा। यही बात मन्त्रभाग-ब्राह्मण-भागात्मक वेदमें भी स्पष्ट है—हमने भिन्न-निवन्धोंमें इसे वहुतसे वेदमन्त्र देकर स्पष्ट किया है। अस्तु—निन्दाका भाव वास्तवमें निन्दित किये जा रहे हुए की निन्दामें नहीं होता; किन्तु अपनेसे प्रशंसित किये हुए को उस निन्दित किये हुए की अपेक्षा वढ़ानेमें तात्पर्य होता है। ज्ञानकाण्डमें कर्मकाण्डकी बहुत बुरे शब्दोंसे निन्दा आई है; देखिये ऋ.सं. (१०।८२।७) पर इससे कर्मकाण्ड सचमुच निन्दित नहीं हो जाता। ऐसा होने पर तो फिर कर्म-

काण्डके साधन यज्ञोपवीतसूत्र आदि व्यर्थ हो जावें! इस प्रकार भक्तिमें ज्ञान-यज्ञ तथा वेदादिकी निन्दा आती है, जैसेकि-'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवं-विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा। (११।५३) 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन! ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन' (११।५४) यहाँ वादीसे मान्य गीताके भगवान्-श्रीकृष्णने भक्तिसे तो अपना विराट्रूपदर्शन हो सकना कहा है, पर वेद, तप, यज्ञ आदिसे अपना दर्शन हो सकना निषिद्ध कर दिया है; तब क्या वादी अपने 'वैदिक-संघ'को काटकर अपने घरोंमें यज्ञ कराना वन्द करके अब 'भक्ति-संघ' स्थापित कर 'कल्याण'के अनुगामी बनेंगे? अब तो वादीकी मान्य गीता भी श्रीकृष्णकी निन्दा करनेसे उनसे विगड़ पड़ी।

यह याद रखना चाहिये कि-'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः' गाय-घोड़ेसे भिन्नोंको 'अपशु' कहा जाता है। सो इस अर्थवादमें जैसे अन्य पशुओंके पशुत्वाभाव वा कुत्सितत्वमें तात्पर्य न होकर गाय-घोड़ेकी प्रशंसामें ही तात्पर्य होता है; नहीं तो कुम्हार भी गधा न रखे, वादी बकरी-भैंस आदि न रखें! इसी अर्थ-वादकी शैलीको वादी पुराणमें भी समझें। वहाँ दूसरे देवकी निन्दा इसलिए करनी पड़ती है, कि-जो जिसका उपास्य हो, उपासक उसीमें अचल रहे; अन्यकी ओर न दौड़े। अन्यकी ओर दौड़ा, तो उसकी चलचित्तता होगई। चलचित्ततामें 'इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः' वाली कहावत उसकेलिए चरितार्थ हो जाती है। अतः साधारण-कोटिकेलिए अपने उपास्य-देवके पुराणमें उससे भिन्न देवकी

ओर चित्तकी चलायमानता न हो जावे, अतः उसकी भरपेट निन्दा कर दी जाती है। जैसे पतिव्रता-स्त्रीके आगे उसके पतिके अतिरिक्त पर-पुरुषको घटिया बताकर, उसे अस्पृश्य तक बताकर उसे निन्दित किया जाता है, इसलिए कि—वह अपने पतिके व्रतवाली हो, उसीकी भक्त बने, उससे भिन्न प्रशंसित भी पुरुषकी प्रशंसा तक न करे, बल्कि उसे 'अपुरुष' मानकर निन्दित करे अर्थात् वह अन्यनिष्ठ न बने, अनन्यनिष्ठ हो। इसलिए भगवान्‌ने अपने भक्तको भी 'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्' (९।२२), 'अनन्यचेताः' (८।१४) 'अनन्यभाक्' (९।३०) 'अनन्यमनसः' (९।१३) 'भक्त्या त्वनन्यया' (८।२२, ११।५४), 'अनन्येनैव योगेन' (१२।६) 'अनन्ययोगेन' (१३।१०) इस प्रकार अनन्यनिष्ठ होनेकेलिए कहा है—'भक्तिरव्यभिचारिणी' (१३।१०) 'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते' (१४।२६)। वे अन्यनिष्ठ-भक्तिको व्यभिचारिणी मानते हैं। इसलिए पतिव्रता भी जब पतिको परमेश्वर न मानकर उससे पर-पुरुष परमेश्वरकी भक्ति करने लग जाती है, तो वह भक्ति व्यभिचारिणी हो जानेके कारण उसकी जारबुद्धि-जारभाववाली भक्ति हो जाती है; जो कि वादीसे आक्षिप्त-पद्योंमें कही गई है। अतः एक देवताके पुराणमें अन्य देवकी निन्दा केवल एक देवमें एकचित्ततार्थ होती है। वस्तुतः वह निन्दा वहाँ अर्थवादमात्र होती है।

वादीके लिखे हुए ही एक पद्यमें लिखा है—'बालस्तु गोपकन्याभिर्वने क्रीडां चकार सः। दश लक्षाणि पुत्राणां गोपालानां

ससर्ज ह' (शिव. धर्मसंहिता) सो एक बच्चेके गोपकन्याओंसे जो कि कन्या-शब्दसे कुमारी मालूम हो रही हैं-दस लाख पु[त्र] कैसे हों? और किसी कृष्ण-सम्बन्धी पुराणमें गोपियोंसे श्रीकृष्णसे बच्चे उत्पन्न होना लिखा भी नहीं। 'विरोधे गुणवादः स्यात्' इस न्यायसे जहाँ विरोध प्रतीत होता हो; वहाँ गुणवादः अर्थवाद हुआ करता है। गुणवादका भाव गौण-कथन हुआ करता है। गुणवादका फल निन्दा वा स्तुति हुआ करता है। वे कहीं हुई गुणवादकी सभी-बातें सर्वांशमें ठीक हों, यह अनिवार्य नहीं होता। जब वादी यह शास्त्रीय-दृष्टि रख ले; तब उसे कोई भी गड्ढेमें न डाल सकेगी। पूर्वापरका पता दूसरेको न लगजावे, अतः वादीने इस प्रकारके स्थलोंके पते भी जान बूझकर नहीं लिखे, बल्कि इन पद्योंके साथ जो 'धर्मसंहिता'का पता दिया था; वादीने उसे भी हमारे पास भेजे हुए अपने ट्रैक्टमें अच्छी तरहसे स्याहीसे मिटा दिया है। वस्तुतः वहां प्रकरण यह है कि-अमृतकी बिन्दुओंसे निकली हुई अप्सराओंको जिन्हें दैत्य हर ले गये थे-और विष्णु उन दैत्योंको मारकर ले आये थे, जिस प्रकार अमृत पर देवताओंका अधिकार था;—उद्वृत्त दैत्योंका नहीं, वैसे ही अमृतोत्पन्न अप्सराओं पर भी देवताओंका अधिकार था, दैत्योंका नहीं, उनके पास विष्णु-भगवान् रहते थे—उनको विष्णुसे विरक्त करने केलिए पार्वतीने वहां विष्णुकी इन शब्दोंसे निन्दा की है कि-तुम लोग शिवगणोंको भजो, विष्णुका भजन मत करो। वहीं महादेवने 'आत्मानं किं न जानीषे त्वं हि

विश्वस्य कारणम्। त्वया नात्र रतिः कार्या निवर्तस्व ममाज्ञया' (६। ३६) यहां विष्णुको जगत्का कारण परमात्मा बताया है; पर वहां शिवका पुराण होनेसे शिवकी विष्णु पर भी प्रभुता बताई है। इसमें सब वही पूर्वप्रोक्त कारण शिवमायाका अर्थवाद है। अर्थवादमें शब्दार्थमात्र नहीं लिया जाता, किन्तु तात्पर्यमात्र लिया जाता है, यह वादी ध्यानमें रख ले। वादीने श्रीकृष्ण और शिवकी निन्दा पुराण-सम्मत दिखलानेकेलिए तरीका भी यही अपनाया है कि-विष्णुकी निन्दाकेलिए शिवपुराणस्थित विष्णुकी निन्दाके वचन उद्धृत कर लिये हैं; और 'शिवलिङ्ग-पूजारहस्य'में विष्णु-सम्बन्धी पुराणोंमें स्थित शिवनिन्दाके वचन उद्धृत कर लिये होंगे। जैसे दो डाक्टर, लोगोंमें अपनी धाक जमानेकेलिए लड़ रहे हों; एक दूसरेके विद्यमान–अविद्यमान दोषोंका उद्घाटन कर रहे हों; तब वादी–जैसा तीसरा व्यक्ति उन दोनोंके वचनोंसे दोनोंकी निन्दाकी बातें बताकर अपने पास जनताको आनेके लिए कह दे–यहां वादी भी वैसी बात कर रहा है। वस्तुतः इस प्रकारके दोष-दर्शन दूसरेकी निन्दार्थवादमें विश्रान्त हो जाते हैं–उन दोषोंका यथार्थ अर्थ नहीं होता; केवल अपनेसे वर्ण्यमान-की प्रशंसामें वैसे वचन पर्यवसित हो जाते हैं; उनका अनन्य-निष्ठामें तात्पर्य हुआ करता है, जैसे कि–हम पहले स्पष्टीकरण कर चुके हैं। वस्तुतः यह अर्थवाद होता है।

अपनी समझमें आनेकेलिए वादी इसका एक उदाहरण भी देख लें–'दयानन्दने अपना उद्वृत्त लिङ्ग (स.प्र.) अपने हाथमें

पकड़कर अंग्रेजी-शिक्षित जनताको दिखलाया; तब तो वह दयानन्द पर लट्टू होगई; और उसे अपना 'स्वामी' मान लिया। तब स्वामीने उस अंग्रेजी-शिक्षित हिन्दु-जनताको व्यभिचारिणी (अपने विचार वाली) बनाकर उसमें मथ-मथकर ऐसा अपना सत्यार्थ-प्रकाशी रेत डाला; कि-उससे उनकेसे 'गालीगलौजपण्डित' कई विद्यालङ्कार पुछल्ले वाले निकल पड़े, कई बिना पूछके भी। उनमें डा० श्रीराम तो ऐसे पक्के दयानन्दी निकले कि–वे अपने पिता वा गुरुकी ही सत्यार्थ-प्रकाशी कई हजारकी गाली-रानियों पर जो उनकी भगिनियाँ थी—अनुरक्त हो गये। उन्हें एकान्तमें बार-बार-देखकर उनसे इतना व्यभिचार किया कि–उनसे पुराण-खण्डनी ग्रन्थमाला–कन्याएँ पैदा हो पड़ीं। इस गालीलम्पटने फिर श्रीमाधवाचार्य-सम्मानित पुराण-देवीको देख लिया। उसे अपने अनुकूल न देखकर उसे गाली-रानीसे भिड़ा दिया। डा० जी स्वयं भी उन गालीरानियोंकी योनि (स. प्र.)में घुस गये और श्रीमाधवाचार्यजीको भी अपनी गालीरानियोंसे स्तनोपपीड आलिङ्गन करवाकर अपनी सफलता मानी।" एतदादिक प्रकार अलङ्कारके वा अर्थवादके हुआ करते हैं, तो क्या इन वाक्योंसे अपने स्वामीको वा अपनेको डा०जी सचमुच व्यभि-चारिशिरोमणि ही मान लेंगे? जिसको शास्त्रकी आंख प्राप्त हो गई है, वह तो एतदादिक अर्थवादोंको जान सकता है; पर जो शास्त्रीय गम्भीर-ज्ञान नहीं रखता, केवल शास्त्रोंके ऊपर-ऊपर तैरता है, केवल खण्डन-व्यसनी होकर दोष-मात्र ही ढूंढने

में लगा रहता है, उससे तो 'बिभेत्यल्प-श्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति' वेद भी डरते हैं; पुराणोंकी तो गिनती ही क्या ?

जब उक्त आक्षिप्त-पद्य अर्थवाद सिद्ध हो गये, और अर्थवादमें शब्दोंका यथाश्रुत अर्थ नहीं देखा जाता, तब 'भारतके सारे पौराणिक पंडित मिलकर भी इसका और कुछ अर्थ नहीं कर सकते हैं, (पृ. ६) यह वादीका 'दावा' 'खारिज' हो गया। अच्छा तो यही है कि-वादी मुसलमान-ईसाइयोंकी आलोचना तक तो रहें, पुराणके छत्तेमें हाथ न डाले। वस्तुतः गोपियाँ परमात्माका अपना ही विवर्त थीं। 'स नः पिता जनिता' (अ. २।१।३) यहां वैदिकोंका पिता 'अहं प्रजा अजनयं पृथिव्याम् अहं जनिभ्योऽपरीषु पुत्रान्' (१०।१८३।३) वर्णित किया गया है। यहां पर उसी परमात्मा द्वारा जाया (अपनी स्त्री) तथा दूसरी स्त्रियोंसे सन्तानें उत्पन्न करना कहा है। अब वह वैदिक-परमात्मा बिना-व्याही स्त्रियोंसे सन्तानें उत्पन्न करता हुआ 'व्यभिचारी' है क्या ? यदि नहीं, तो वही पुराणमें व्यभिचारी कैसे हो गया ?।

वादीको यह भी पता होना चाहिये कि-गोपियां पुराणानुसार वेदकी श्रुतियां थीं, वे श्रुतिरूपसे भगवान्की पत्नियां थीं। देखिये ब्रह्मवैवर्त-पुराण-'गोलोकादागता गोप्यश्चायोनिसम्भवाश्च ताः। श्रुतिपत्न्यश्च ताः सर्वाः स्वशरीरेण नारद !' (४।१२६। ४३) सो भगवान्-कृष्णका उन गोपियोंसे रमण अपनी वेद-श्रुतियोंसे रमण है। यह बात श्रीमद्भागवतमें भी श्रुतियां संकेतित

करती हैं—'स्त्रिय उरगेन्द्रभोग-भुजदण्ड-विषक्तधियो वयमपि ते समाः' (१०।८७।२३)। तब यह रमण लौकिक-रमण कैसे हो सकता है—इतना भी वादी नहीं समझ पाते ! इसका कारण दृष्टिमें पक्षपातका आवरण है; उसका ऑपरेशन हो जाने पर दृष्टि विमल बन जायगी। वेदानुसार विवाहसे पूर्व कुमारीके सोम, गन्धर्व, अग्नि यह तीन देवता पति होते हैं, देखिये-ऋ. सं. १०।८५।४०-४१, तथा पारस्करगृह्यका विवाह-संस्कार (१।४।१६) इन देवताओंका भोग भी स्मृतियोंमें आया है—'स्त्रियः पूर्वं सुरैर्भुक्ताः सोमगन्धर्ववह्निभिः'। तब क्या वादी वहां दिव्य-संयोग न मान कर यही ग्राम्य-भोग मान लेंगे; जो वादीके स्वामीको सूझा ? और इन तीन देवताओं तथा सभी कुमारियोंको व्यभिचार-युक्त मान लेंगे ? यदि वादीको दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो जावे, तो इस दिव्य-संयोगमें भी उसे कोई दोष नहीं दीखेगा। यदि वादी विना-विवाहके किसी स्त्रीसे मैथुन कर लेना व्यभिचार मानता है; तो उसका प्रिय नियोग भी व्यभिचार हो जायगा, क्योंकि-उसमें भी बिना-विवाहके दूसरे-चाहे मरे चाहे जीते हुए-पुरुषकी स्त्रीको लेकर नियोगी उससे मैथुन करता है।

वादी सावधान हो जाए। गीताके उसके मान्य श्रीकृष्ण भगवान् तो कहते हैं-'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय !' (९।९) कि-मुझे कोई भी कर्म बन्धनमें नहीं डालता। 'योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः। सर्वभूतात्म-भूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते' (५।७) 'यथा सर्वगतं सौक्ष्म्याद् आकाशं नोप-

लिप्यते। सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते' (१३।३२) 'यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निवध्यते' (१८।१७) 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोपि नैव किञ्चित् करोति सः' (४।२०) 'निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः। शारीरं केवलं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्विषम्' (४।२१) 'कृत्वापि न निवध्यते' (४।२१) 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' (५।१०) इन पद्योंके वक्ता श्रीकृष्ण हैं। यहां यह वताया गया है कि-यदि कर्मकर्ता कर्मका अपनेसे सम्वन्ध नहीं रखता, उनका मनसे कोई सम्वन्ध न रहे; उसमें अहम्भाव नहीं, वासना नहीं, कुछ स्वार्थसिद्धि, फलविशेष-सिद्धि नहीं, उसका आत्मा शुद्ध है; तव उसका वह कर्म शारीर-रूपसे हो रहा हुआ दीखनेपर भी वह 'कर्म' नहीं रहता। एक वच्चा अपनी माताके वा किसी अन्य स्त्रीके स्तनको पकड़ कर खींच लेता है; वा उसके किसी अङ्गको छू लेता है; नखोंसे उसे क्षत कर देता है, वह वासना न होनेके कारण पापी नहीं मान लिया जाता। उसका वह कर्म वन्धनकारक नहीं होता। योगवासिष्ठमें कहा गया है—'मनः-कृतं कृतं राम! न शरीरकृतं कृतम्। येनैवालिङ्गिता कान्ता तेनैवालिङ्गिता सुता' अर्थात् लड़कीको भी आलिङ्गन किया जाता है, स्त्रीको भी; पर मानसिक-भावके भेदसे लड़कीके आलिङ्गनको आलिङ्गन नहीं माना जाता; मिलना माना जाता है। इसीका संकेत वेदने भी किया है-'न

कर्म लिप्यते नरे' (यजुः ४०।२) अर्थात्-निष्काम कर्म चाहे लोकदृष्टिमें पुण्य हो वा पाप, जिसमें कामना नहीं; वह कर्म पुरुषको लिप्त नहीं करता। इसी सिद्धान्तसे श्रीकृष्णने पाण्डवों-द्वारा भीष्म-द्रोणादि गुरुओंको मरवाया। इसीलिए अष्टावक्र-गीतामें भी कहा गया है—'निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते। प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्ति-फलभागिनी' (१८।६१)।

भगवान श्रीकृष्णमें भी यही वात थी-देखिये श्रीमद्भागवत-'यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः' (१।११।३६) 'आत्मन्यवरुद्ध-सौरतः' (१०।३३।२६) 'आत्मारामः, अखण्डितः' (१०।२०।३५) 'योगमायामुपाश्रितः' (१०।२९।१) 'आत्मारामः' (१०।२९।४२) 'मन्मथमन्मथः' (१०।३२।२) 'यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न विभ्व्यः' (११।६।१८)। 'न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते। भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते, (१०।२२।२६) 'सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्। भक्ता भजस्व दुरवग्रह! मा त्यजास्मान्' (१०।२९।३१) 'न खलु गोपिकानन्दनो भवान्, अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्' (१०।३१।४) 'भद्रा वधूर्भवति यत् सुपेशा स्वयं सा मित्रं (इन्द्रपरमात्मानं) वनुते जने चित्' (ऋ. १०।२७।१२) इसका अर्थ यह है कि-'सा वधूः-स्त्री गोपीसदृशी भद्रा-श्रेष्ठा भवति, या जने चित्-मनुष्यरूपे वर्तमानं मित्रं—स्व-मित्ररूपमिन्द्रपरमात्मानं वनुते-प्रार्थयते। इन्द्र कहता है—'स प्रीयमाणो वरजनोऽहमिन्द्र एव'।

जब इस प्रकार वेदमें इन्द्रको सव वधुओंका वर कहा

गया है, और गीतामें 'देवानामस्मि वासवः' (इन्द्रः) (१०।२२) इन्द्रका अवतार श्रीकृष्णको माना जाता है; तब वादीका कोई भी शङ्कापङ्क श्रीकृष्णको कलङ्कित नहीं कर सकता। इसका उत्तर श्रीमद्भागवतने स्पष्टतया दे दिया है—'एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोपि तद्गुणैः। न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया' (१।११।३८) तं मेनिरेऽबला मूढाः स्त्रैणं चानुव्रतं रहः। अप्रमाणविदो भर्तुरीश्वरं मतयो यथा' (३६) अर्थात्—मूढतया स्त्रियोंकी भांति चित्तबलकी शक्तिसे रहित लोग श्रीकृष्णको स्त्रैण समझ लिया करते हैं; क्योंकि—वे श्रीकृष्णकी ईश्वरता (सामर्थ्य) नहीं जानते।

भगवान् श्रीकृष्णके शरीरको दिव्य बताया गया है, भौतिक नहीं। देखिये—'अस्यापि देव ! वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य, न तु भूतमयस्य कोपि' (१।१४।२) तभी वादीकी मान्य गीतामें भी यही कहा है—'जन्म कर्म च मे दिव्यं' (४।९) यह बात वादी तत्त्वतः जान रखे। तब वादीकी उसमें सम्भावित आशङ्का निकम्मी है, वह भौतिक-शरीरमें तो कथञ्चित् सम्भव हो सकती है, अभौतिक-शरीरमें नहीं। भगवान्के यह शब्द हैं कि—जो मुझमें कामबुद्धि भी करता है, उसके कामके बीजको मैं जला देता हूँ; जैसे भुजे हुए धानसे चावल नहीं पैदा होता, वैसे जलाया हुआ कामबीज भी अंकुर पैदा नहीं कर सकता। इसका मूल-पद्य हम पूर्व लिख चुके हैं। इसी तरहसे श्रीभागवतमें अन्यत्र भी कहा है—'ध्यानप्राप्ताऽच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः।

जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः' (१०।२६।१०-११) फल... कामनावर्जित कर्म करना अकर्म होता है, कामना रखने पर... बाहरसे मालूम हो रहा हुआ अकर्म भी कर्म होता है। ... श्रीकृष्ण-जैसा पुरुष युवतियोंके पास ठहरा हुआ भी 'विशुद्ध प्रेमका प्रतीक' होनेसे खतरनाक नहीं होता, और उनसे पृथक् रहते हुए भी, परन्तु मनमें कामानुरक्त लोग खतरनाक होते हैं, वे 'बाह्येन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते' (३।६) इसके उदाहरण बने हुए 'हरामखोरी'में (पृ. ३३) संलग्न होते हैं। इस विषयमें बहुत विस्तारसे समझाया जा सकता है, परन्तु बुद्धिमानोंकेलिए संकेत ही पर्याप्त होता है।

(७) आगे वादी विष्णुके स्थानका पता सोलह करोड़ योजन ऊपर आकाशमें विष्णुलोक बताकर उसे हमारे लिए विदेश बताते हैं। यह बात तो उपहाससे अधिक मूल्य वाली नहीं। मरने पर पुरुषकी गति पुण्यात्मा होने पर द्युलोकमें 'विष्णुलोकं स गच्छति' मानी जाती है, वही तो हमारा गन्तव्य, लक्ष्य स्थान है, यहाँ हम स्थूल-शरीरधारी होकर सीमित-शक्तिवाले होते हैं; पर वहाँ सूक्ष्म शरीरवाले होकर बहुत शक्तिवाले हो जाते हैं, वही तो मुक्तिका लोक है। वह हमारा विदेश नहीं। उसीकेलिए ही तो हमारी तपस्याएँ होती हैं। देखिये इस पर वेदकी साक्षी—'तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत् परमं पदम्' (ऋ. १।२२।२१) 'तद् विष्णोः परमं पदं सदा

पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्' (२०)। गोलोकका भी संकेतसे वर्णन वेदमें आया है—देखिये-'यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः (विष्णोः) परमं पदमवभाति भूरि' (ऋ. १।१५४।६) यहाँ सूर्यलोकमें विष्णुका गोलोक बताया गया है। वह द्यु लोकमें है-'दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' (ऋ. १०।१६०।३) यहाँ द्यु लोकका स्पष्ट वर्णन है। वेदकी परिधिमें आया हुआ लोक हमारा विदेश नहीं होता। आजकल उस द्यु लोककी निम्नपरिधिमें ठहरे हुए चन्द्रलोकमें जानेकी भी तैयारी हो रही है।

(८) आगे वादी 'राधाका कृष्णको शाप' बताकर ब्रह्मवैवर्त-के कई 'कृष्ण वृजा (विरजा) कान्त !' आदि श्लोक उद्धृत करता है, और अर्थ करता है—'हे कृष्ण, अतिलम्पट कामचोर, तू मेरे घरसे चला जा। तू मनुष्योंकी भांति मैथुन करनेमें (यह शब्द वादीके अपने हैं) लम्पट है'। इस प्रकार गोलोककी कृष्ण-की वीवी राधाने कृष्णको व्यभिचारमें पकड़कर औरतोंसे धक्के लगवाकर बाहर किया'। अब वादी इस पर भी सुनें—उसने नमक-मिर्च लगाकर श्रीकृष्णको 'व्यभिचारी' तथा 'चरित्रहीन' तो लिख डाला, पर जिस ब्रह्मवैवर्त-पुराणसे उसने यह पद्य उद्धृत किये, वह पुराण तो श्रीकृष्णको वादीके लगाये दोष नहीं लगाता। तब वादी 'निष्कलङ्क कृष्ण'को बलात् कलङ्क लगाता हुआ शोचनीय है। हमें तो इसमें आक्षेप-योग्य कोई बात नहीं मालूम होती, और वादीने भी नहीं सिद्ध

किया कि—इसमें आक्षेपार्ह वा वेदविरोध क्या है ? हो सकता है कि-वादी स्वा. दयानन्दजीका अनुसरण करके मानसिक संन्यासी बने हुए हो, अतः उसे स्त्री-सम्बन्धी प्रकृतिका ज्ञान न हो-यह सम्भव है। तब अगत्या हम ही वादीको बताते हैं। एक पुरुष हो, उसकी स्त्रियाँ बहुत हों, वे आपसमें सपत्नियां (सौत) हुआ करती हैं-यह तो वादी जानते ही होंगे। यह भी जानते होंगे कि-एक पुरुषकी बहुत स्त्रियां वेदविरुद्ध भी नहीं होतीं, उनसे अचतुर और बलहीन पुरुषको कुछ कष्ट हो-यह अन्य बात है। 'एक पुरुषकी बहुत स्त्रियों' की वेदानुकूलता बतानेकेलिए कुछ वेदमन्त्र भी उपस्थित किये जाते हैं।

कृष्णयजुर्वेदमें कहा है—'एकस्मिन् यूपे द्वे रशने परिव्ययति, तस्माद् एको द्वे जाये विन्देत' (तै. सं. ६।६।४ (३) 'तस्माद् एकस्य बह्वयो जाया भवन्ति' (ऐत.ब्रा. ३।२३) 'जनीरिव पतिरेकः समानः' (ऋ. ७।२६।३) 'पतिर्जनीनामुपयाति' (ऋ. ६।८६।३२), इत्यादि बहुतसे मन्त्र हैं। इसमें इतिहास भी अनुकूल है। राजा हरिश्चन्द्रकी सौ स्त्रियां थीं, देखिये ऐतरेय ब्रा. (७।१३)। महाराज दशरथकी साढ़े तीनसौ स्त्रियां तथा तीन पटरानियां थीं। देखिये-वाल्मीकि. (२।३६।३६)।

सौतोंमें आपसमें ईर्ष्या हुआ करती है, यह तो वादी जानते ही होंगे; इसीलिए वेदमें भी 'सपत्नी-प्रणुदन' 'सपत्नीघ्न' आदि सूक्त प्रसिद्ध हैं, जो वेदमें भी इस प्रकारके व्यवहारको सूचित कर रहे हैं। यही बात 'ब्रह्मवैवर्त'के उस स्थलमें भी समझनी

चाहिये। उसमें भगवान् कृष्ण गोलोकमें स्वामी कहे गये हैं, उसमें कई कोटि (कोटि-शब्द यहां 'बहु' वाचक है) गोपियां उनकी पत्नी कही गई हैं। कभी भगवान् एकके पास जाते हैं; कभी दूसरीके। परन्तु प्रायः वे अपनी नित्य-शक्ति राधाके पास रहते हैं। एक दिन भगवान्, राधाकी सपत्नी 'विरजा' गोपीके पास गये। यह जानकर राधा कोप-भवनमें जा घुसी। पहले वह सौतके घरमें गई; पर वहां उसे न तो वह, और न श्रीकृष्ण ही मिले। तब वह अपने भवनमें बैठ गई। सखियोंको द्वार पर बैठा दिया। प्रणय-कलहसे उनसे कहा—'यदि श्रीकृष्ण यहां आना चाहें; तो उन्हें यहां न आने देना। भगवान् भी उसका स्वभाव जानते थे; वे उसके भवनमें घुसने लगे। सखियोंने रोका और भीतर सूचना भेज दी। तब प्रणय-कुपित हुई-हुई श्रीराधाने अपनी सपत्नीकी ईर्ष्यासे उक्त वाक्य कहे, जिन्हें वादीने उद्धृत किया है। परन्तु उसने पूर्वापर-प्रकरणको छिपा दिया था और हमने उसे प्रकट कर देनेका अपराध कर दिया है।

वास्तवमें गोलोकमें भगवान्-कृष्ण ब्रह्मस्थानीय हैं, और उनकी शक्ति राधा प्रकृति-स्थानीय है। प्रकृति त्रिगुणात्मक हुआ करती है। जहां उसमें सत्त्वगुण होता है, वहां रजोगुण और तमोगुण भी हुआ करता है। पुराणकारने उस लीलाका लौकिक-दृष्टिकोणसे निरूपण किया है। श्रीकृष्ण वहां पर नायक हैं, श्रीराधा वहां नायिका हैं; शेष विरजा आदि वहां उसकी सपत्नियां बताई गई हैं। तब लौकिक-दृष्टिमें जो सपत्नियोंमें

ईर्ष्या हुआ करती है, उसका आभास भी पुराणकारने बता दिया है। पुराण मित्रोपदेश कहे जाते हैं; पर पुराण जहां मित्रोपदेश हैं, वहां स्थान-स्थान पर प्रभु-उपदेश भी बन जाते हैं, कान्ता-उपदेश भी। प्रभु-उपदेश वेद माने जाते हैं, और कान्ता-उपदेश काव्य। तब पुराणमें यह सब होनेसे स्थान-स्थान में काव्यरूपता भी आगई है। उसमें लौकिक-दृष्टिकोण भी जहां-तहां दिखलाया गया है। तो क्या काव्योंमें नायक-नायिकाओंके प्रणय-कोप नहीं हुआ करते? वादीने कदाचित् ध्वन्यालोक, काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पणादि साहित्य-ग्रन्थ न देखे हों; और स्वा.द.जीके निषेधसे कदाचित् उसने काव्य भी न देखे हों; कदाचित् ब्रह्मचारी होनेसे वादीने विवाह भी न किया हो; तब उसे स्त्री-प्रकृति-सम्बन्धी ज्ञान कैसे हो सकता है!

'काव्य-प्रकाश'में रस-दोषोंमें कहा है कि—कभी नायिका प्रणय-कोपमें आकर नायकको पाद-प्रहार भी कर देती है, वा रूठ बैठती है; तब नायकको कोप नहीं करना पड़ता। नहीं तो यदि नायक भी उसे पीटना शुरू करदे, तो रसभङ्ग हो जायगा। यह काव्य-दोष हो जाता है। यही लक्ष्यमें रखकर ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्यने भी कहा है—'अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्। औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा'। इस अवसर पर नायक नर्म बल्कि उसके आगे नम्र भी हो जाता है, प्रत्युत वह कभी नायिकाके पैरों पर भी गिर जाता है। परन्तु यह व्यवहार जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है, काव्यके दृष्टिकोणसे

किया जाता है। तब तदनुसार विरजा-नामक राधाकी सपत्नीके पास जाकर श्रीकृष्ण जब "स्वामी विरजानन्दजी" बन गये, और बहुत दिन बाद राधाके पास गये; तब राधाने उनका 'स्वामी विरजानन्द' बनना सहन न करके, प्रणय-कोपमें आकर श्रीकृष्णकेलिए सखीके सामने वादीसे उद्धृत यह शब्द कहे— 'हे कृष्ण ! विरजाकान्त ! गच्छ मत्पुरतो हरे ! कथं दुनोषि मां लोल ! रति-चौरातिलम्पट'।

यहांपर स्त्रीका स्वभाव अङ्कित किया गया है। श्रीकृष्ण जिसके पास गये थे, वह भी उन्हींकी अपनी शक्ति थी, राधा भी। मानवीय-दृष्टिकोणसे यह सूचित किया गया है कि-श्रीकृष्ण यदि सदा राधाके पास रहते; तो वह उनको 'अति-लम्पट' न कहती। परन्तु श्रीकृष्णके उसकी सौतके पास जानेसे स्त्रीस्वभाववश उसने उक्त-शब्द कह डाले। स्त्रीके स्वभावका यदि वादी व्यवहारमें अनुभव न रखते हों; तो उन्हें वेदादि-शास्त्रों द्वारा उसे जान रखना चाहिये।

वेदमें कहा है—'स्त्रिया अशास्यं मनः, उतो अह क्रतुं रघुम्' (ऋ. ८।३३।१७) अर्थात्-स्त्रीके मनपर शासना नहीं हो सकती। उसकी बुद्धि लघु हुआ करती है। सुप्रसिद्ध श्रीसायणाचार्यका इसपर भाष्य देखें-'स्त्रिया मनः-चित्तम् अशास्यं-पुरुषेण अशिष्यं, शासितुमशक्यम्, प्रबलत्वादिति। उतो-अपि स्त्रियाः, क्रतुं-प्रज्ञां, रघुं-लघुम्, अह-आह'। इस मन्त्रके अर्थपर आर्यसमाजके निष्पक्ष विद्वान् श्रीपाददामोदर-सातवलेकरका

भाष्य उनके बनाये 'ऋग्वेदके सुबोध भाष्य'में 'मेधातिथि-ऋषिके दर्शन' ७२ पृष्ठमें देखें। वह यह है-'स्त्रियोंके मनको संयममें रखना कठिन है, स्त्रियोंके मन पर काबू करना अशक्य है। स्त्रियोंके कर्म छोटे होते हैं, उनका सामर्थ्य कम होता है, उनकी बुद्धि छोटी होती है'। इसी मन्त्रको लक्ष्य करके प्रसिद्ध बौद्ध-कवि अश्वघोषने भी 'सौन्दरनन्दकाव्य'में कहा है-'अकृतज्ञमनार्य-मस्थिरं वनितानामिदमीदृशं मनः' (८।४६)। इसी प्रकार चाणक्य-सूत्रोंमें भी कहा है-'स्त्रीणां मनः क्षणिकम्' (४७८) 'न समाधिः (चित्तस्थैर्यं) स्त्रीषु, लोकज्ञता च' (३६०)।

वेद अन्यत्र भी स्त्रीकेलिए कहता है—'न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति, सालावृकाणां हृदयान्येता' (ऋ. १०।९५।१५)। इसी प्रकार 'शतपथ-ब्राह्मण'में भी कहा है—'मा एतद् (स्त्रैणम्) आदृथाः, न वै स्त्रैणँ सख्यमस्ति' (११।५।१।९)। इसीका अनुवाद श्रीमद्भागवतमें भी आया है-'क्वापि सख्यं न वै स्त्रीणां वृकाणां हृदयं यथा' (९।१४।३६-३७)। 'महाभारत'में भी कहा है-'स्त्रियो हि मूलं दोषाणां लघुचित्ता हि ताः स्मृताः' (अनु-शासनपर्व ३८।१७)।

प्रकरण हमने रख दिया है, अब वादीका इसमें आक्षेप क्यों? वह इससे अपना पक्ष कैसे सिद्ध करना चाहता है? क्या वादी भी प्रणय-कुपिता नायिकाके पक्षवाला बनकर, परप्रत्ययनेय-बुद्धि होकर श्रीकृष्णको दोषी सिद्ध करना चाहता है? अपनी अन्य पत्नीसे मिलना जो राधाकी सपत्नी है, उसे

'व्यभिचार' वा 'कुकर्म' कैसे कहा जा सकता है ? कदाचित् वादीका अभिप्राय भी यही हो कि–श्रीकृष्ण दोषी सिद्ध हों ? परन्तु यहां स्पष्ट है कि–श्रीकृष्ण निर्दोष हैं। शेष रही राधा, उसके तो सपत्नीकी ईर्ष्यासे उत्पन्न हुए कोप का यह चित्र-चित्रण ही किया गया है। क्रोधमें आया हुआ कोई भी व्यक्ति हो, उचित-अनुचित सब कह बैठता है। इसी क्रोधके वशमें आकर ही वादीके परमगुरु स्वा.द.जीने भी 'सत्यार्थप्रकाश'में सनातन-धर्मियोंको बहुत गालियां दे डाली हैं। कुछ नमूना देख लीजिये—

'तुम कुंआमें पड़ो' (पृ. ३ समु. पृ. ४४) 'देखो इन गवर्गंडों की पोपलीला' (स.प्र.पृ. १७७) 'अपने-अपने शरीरोंको भाड़में झोंकके सब शरीरको जलावें' (पृ. १६३) 'सुनो अन्धो ! (पृ. १६६) 'आप पराधीन भटियारेके टट्टू और कुम्हारके गदहेके समान शत्रुओंके वशमें होकर' (पृ. १६६) इत्यादि। वादीने भी गुस्सेमें आकर श्रीमाधवाचार्यजी और सनातनधर्म तथा श्रीकृष्ण-भगवानको इस अपने ट्रैक्टमें बहुत सी गालियां दी हैं। कुछ नमूना देखिये—'माधवाचार्य अपना सारा पाखण्ड फैलाकर भी...,बकवास भले ही करता रहे' (पृ. ४) इस १११ नम्बरके तिलकधारी पाखण्डी पंडितने' (पृ. १२) 'पर जिसके हियेकी भी फूट चुकी हो, ऐसे १११ नम्बरी पाखण्डीकी समझमें कैसे आवे। 'ढोंगी पण्डित' (पृ. १४) विचारा वैसे ही १११ नम्बरका तिलक लगाकर ढोंग बनाकर पाखण्डाचार्य बन बैठा

है' (पृ. १६) 'पाखण्डी-शिरोमणि' (पृ. २३) 'वे सनातनी पंडित महान् पापी हैं' (पृ. २६) 'संसारके सारे दुराचारोंकी जड़ इस सड़ातनधर्ममें मिट्टीका तेल डालकर आग लगा देनी चाहिये' (पृ. ३३) 'गोपियोंसे हरामखोरी करनेको पवित्र-प्रेमका प्रतीक मानते हैं' (पृ. ३३) इत्यादि।

पुराणकार राधाको मानमें कुपिता बता रहे हैं। जैसे कि-'राधाकोपापनयने' (३।६५) 'मानापनयनावधि' (३।६७)। आप-लोगोंकी पुराणपर तो वक्रदृष्टि है, परन्तु रामायणमें आप लोगोंकी श्रद्धा है। उसमें भी इस प्रकारका वृत्त है। प्रकरणका कुछ भेद है। जब श्रीराम मारीच-राक्षसको मारने गये, और लक्ष्मण सीताकी रक्षाकेलिए रह गये; तब शब्दविशेष सुनकर सीताने श्रीरामको संकटापन्न समझा। उसने लक्ष्मणको प्रेरणा की कि–जाओ, भ्राताकी सहायता करो। परन्तु वह श्रीरामकी शक्तिको जानकर वहां नहीं गये। तब श्रीसीताकी कोपाग्नि भड़क उठी। उससे उसकी बुद्धि विपरीत हो गई। कहने लगी–'सुदुष्टस्त्वं वने राममेकमेकोऽनुगच्छसि। मम हेतोः प्रतिच्छन्नः' (३।४५।२४) कितने कठोर शब्द हैं यह ? तब क्या इस सीताके वचनमात्रसे वाल्मीकि-रामायणको ही वादी अप्रामाणिक समझने लग जायेंगे ? वा लक्ष्मणको ही दुश्चरित्र मानने लग जायेंगे ? लक्ष्मणने कहा—'भवती दैवतं मम'। अन्तमें उन्होंने स्त्री-प्रकृतिका खाका खींचा–'विमुक्तधर्माश्चपलाः तीक्ष्णा भेदकराः स्त्रियः' (३।४५।२९-३०)।

यहांपर स्त्रियोंके स्वभावकी तीक्ष्णता बताई गई है। वादीके स्वामीजी भी स्त्रियोंकी तीक्ष्णता मान गये हैं। देखिये उनके शब्द-'प्रायः स्त्रियोंका स्वभाव तीक्ष्ण और मृदु होता है' (स.प्र. पृ. ४७)। यही तीक्ष्णता सपत्नीकी ईर्ष्यावश श्रीराधाकी भी यदि पुराणकारने स्वाभाविकतासे दिखाई है; तब यहां न तो पुराणकारका दोष सिद्ध हुआ, न श्रीकृष्णका, और न ही स्वाभाविकतावश श्रीराधाका दोष हुआ, दोष हुआ केवल वादीकी अल्पश्रुत तथा अत्यन्त-संकुचित बुद्धिके आत्म-विश्वासका, जिसने यह मिथ्या विश्वास कर लिया है कि हम द्वारा श्रीकृष्ण पर लगाये दोषका कोई प्रत्युत्तर दे ही नहीं सकता; या दोष है उनके खण्डन-व्यसनका। वास्तवमें डा० श्रीरामजी पूरे ब्रह्मचारी हैं। जिन स्त्रियोंके स्वभावको उनके संन्यासी स्वामी दयानन्दजी परख गये; तथा अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आर्यसमाजके पञ्चमवेद'में उसका उल्लेख कर गये, पर वादी उसे न जान सका; परन्तु 'सत्यार्थप्रकाश' तो उन्हें अक्षरशः याद होगा, तथापि उक्त-वाक्यपर उनकी दृष्टि न पड़ी; अथवा पुराणोंके द्वेषसे आँखों पर आवरण आ पड़ा हो। होगया उनके आक्षेपका समाधान, जिसको वादी असम्भव समझता था, वह सम्भव होगया।

'ब्रह्मवैवर्त'के प्रकरण-निर्देशक पद्य निम्न हैं। वादी साव-धानतापूर्वक देखें। पुराणने राधिकाका उक्त वचन समर्थित नहीं किया, किन्तु उसकी तीव्र आलोचना की है। देखिये-'पुरः-स्थितं

तं प्राणेशं राधा पुनरुवाच ह। नानुरूपम्, अत्यकथ्यम्, अयोग्यमति-कर्कशम्' (४।३।५७) वादीने ग्रन्थकारका यह वचन छिपा दिया है। 'नानुरूपम् (राधाका आक्षेप श्रीकृष्णके कार्यके अनुरूप नहीं था) अतिअकथ्यम् (सर्वथा कथन-योग्य नहीं था) अयोग्यम् (और फिर युक्त भी नहीं था) अतिकर्कशं (बहुत कड़ा था)। यह ग्रन्थकारके शब्द वादीके प्रयास पर पानी फेर रहे हैं। ग्रन्थकार उन आक्षेपोंको श्रीकृष्ण पर लागू होनेके योग्य नहीं समझते। पर उन्हीं आक्षेपोंको अपनेसे निन्द्यमान-राधाके वकील बनकर वादीने बिना कान-पूँछ हिलाये मान लिया, और निष्कलङ्क-कृष्णको सकलङ्क करनेकेलिए इन्हें होशियारी आगई। राधाने केवल 'लम्पट' कहा था, डा०जीने 'व्यभिचारी' कह दिया !!! इसमें उनका हृदय पहचाना जा रहा है।

फलतः उक्त पुराण श्रीकृष्णमें उक्त आक्षेपोंको नहीं लगाता। राधा मानभङ्गसे प्राप्त क्रोधके कारण बिना सोचे-विचारे बोल गई, जिसका पीछे उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसमें भी श्रीदामाने उसके उन वचनोंकेलिए श्रीराधाकी तर्जना की है। वादीने उन पद्योंको छिपा लिया, केवल इसलिए कि-किसी प्रकार कृष्णको कलङ्क लगाया जावे। वे श्रीदामाके पद्य यह हैं—

'कथं वदसि मातस्त्वं कटुवाक्यं महीश्वरम्। विचारणां विना देवि ! करोषि भर्त्सनं वृथा' (३।७७) ब्रह्मानन्तेशदेवेशं जगत्कारण-कारणम्। वाणी-पद्मालयामाया-प्रकृतीशं च निर्गुणम्। (७८)। स्वात्मारामं पूर्णकामं करोषि त्वं विडम्बनम्। देवीनां प्रवरा त्वं

च निबोध यस्य सेवया'।

[यहाँ गोलोकके श्रीकृष्णकी बहुत-सी देवियों (रानियों)में राधाको प्रवर (श्रेष्ठ) बताया गया है। इससे विरजा आदि अन्य भी देवियाँ श्रीकृष्णकी ही हैं। उनके पास गमन कभी व्यभिचार सिद्ध हो ही नहीं सकता। जैसेकि-वादीने इस विषय-में एडीसे चोटी तकका पसीना बहाया है। राधाने भी व्यभि-चारका कहीं दोष लगाया ही नहीं। यह वादीकी अपनी ही 'कारस्तानी' है।]

(७९) यस्य पादार्चनेनैव सर्वेषामीश्वरी परा। तन्न जानासि कल्याणि! किमहं वक्तुमीश्वरः' (८०) भ्रूभङ्गलीलया कृष्णः स्रष्टुं शक्तश्च त्वद्विधाः। कोटिशः कोटिशो देव्यः तं न जानासि निर्गुणम् (८१)

यह सुगम श्लोक हैं। आशा है-वादी इनका अर्थ समझ सकते होंगे, और उन्होंने जान लिया होगा कि-इन श्लोकोंने वादीके पक्षको जीर्ण-शीर्ण कर दिया है। यहाँ पर पुराणने श्रीकृष्ण-भगवान्के विषयमें अपने हार्दिक भावमय शब्द श्रीदामा-द्वारा कहलवाये हैं। यह पुराणाभिमत-शब्द वादीने लोक-दृष्टिसे छिपा लिये हैं, इसलिए कि—श्रीकृष्ण कलङ्कित सिद्ध हों। तब वादी अपने पर दोष न देकर पुराणकार वा पुराण वा श्रीकृष्ण-भगवान् पर ही क्यों दोष दे रहे हैं? यह तो वादीने वैसा किया है जैसाकि-एक मुसलमानने 'मत पढ़ो निमाज' यह किसी मौलिवीका आधा वचन तो सुना दिया, पर 'ज़ब हो नापाक'

यह उसका अग्रिम आधा वचन छिपा लिया। इससे वे मुसल-मान उस मौलिवी पर बरसने लगे। वादीकी यह पुराणदूषक-नीति वस्तुतः दूषित है। 'व्यभिचारमें पकड़कर' 'औरतोंसे धक्के लगवाकर वहांसे बाहर निकलवा दिया, व्यभिचार-कामना पूरी करनेका शाप देकर' यह शब्द वादीने झूठे एवं अपने मन-गढन्त लिखे हैं, पुराणके किसी भी पद्यके किसी भी पदका यह अर्थ नहीं है। 'मनुष्याणां व्यवहारस्य' 'लभतां मानुषीं योनिं'का व्यभि-चार अर्थ करना मनुष्य-वादीका अपने आपको भी व्यभिचारी बनाना है। 'उनके अवतार लेनेका कारण भी लोककल्याण नहीं था' (पृ. १०-११) यह कहना भी द्वेषवश ही है। पूतना, तृणावर्त, वक, प्रलम्ब, केशी, धेनुकासुर, कंस, कालयवन, जरासन्ध, शिशुपाल आदि अनेकों लोकहानि करनेवाले दैत्योंको मारकर भगवान्ने भारतको निष्कण्टक करके लोक-कल्याण किया, पर वादीको यह कैसे दीखे? कदाचित् 'अतिरमणीये वपुषि व्रणमेव मक्षिकानिकरः' को चरितार्थ करना ही वैदिकता हो! वादी जनतामें इन अपनी चोरियोंको कब तक छिपावेंगे?

(९) आगे वादी 'लिंग' शब्दकी व्याख्यामें-महादेव और सतीके रमणका प्रकार बताते हैं, पर यह तो प्रकृति-पुरुषका मैथुन-मिथुनीभाव अलङ्काररूपसे वर्णित किया गया है—जैसे वेदमें 'जार आ भगम्'केलिए निरुक्तमें 'आदित्योऽत्र जार उच्यते' रात्रेर्जरयिता, भगम्-स्वं ज्योतिः' (३।१६।५) कहा है। 'उमाख्या सा महादेवी, त्रिदेवजननी परा। मूलप्रकृतिराख्याता

सुरामा गिरिजा मता' (शिवपुराण रुद्रसंहिता २६।१६) 'शिवलोके शिवा त्वं च मूल-प्रकृतिरीश्वरी। सा एव दक्षकन्या च सा एव शैलकन्यका' (ब्रह्मवैवर्त-पुराण ६७।६१-६२) तब इस प्रकृति-पुरुषकी आलङ्कारिक-क्रीडासे वादी क्यों हडवडा गये? इसीसे उनका 'शिवलिङ्गपूजारहस्य' भी उत्तरित होगया। ऐसी आलङ्कारिकता हम पूर्व बता चुके हैं।

पृ० १४ में वादी लिखता है-'पुराणोंके अनुसार कामशास्त्र-विशेषज्ञ कृष्ण गोपियोंसे किस प्रकार प्रेम करते थे-इसे खुलासा करनेकेलिए भागवतकारने लिखा है-'रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिः' अर्थात् कृष्ण उन प्रेयसी [यह शब्द वादीने स्वयं बढ़ाया है]-व्रजसुन्दरियोंके साथ विषयभोग (रमण) किया करते थे'। यह 'विषयभोग' वादीको बहुत भाता है। इसे उसने अपने विज्ञापनमें भी लिया है, वहाँ 'रमणका' अर्थ 'व्यभिचार' कर दिया। इस निबन्धमें पृ० ५ पर इसे लिखा, यहाँ पर भी। इनकी बुद्धिका अति-प्रिय यह पद्य उसको खण्डित करके इन्हें लज्जित करवाता है। हम पूर्व इसका उत्तर दे चुके हैं। यहाँ पर वादी इस तृतीय-पादको स्पष्ट करनेवाला जो चतुर्थ पाद था-उसे चुराकर 'चोर-शिरोमणि' बन गया, इससे उसकी बुद्धि भी व्यभिचारिणी बनकर खण्डित होगई। चतुर्थपाद था 'यथार्भकः स्वप्रतिबिम्ब-विभ्रमः' इससे श्रीकृष्णका बालकपन तथा परमात्मापन तथा गोपियाँ श्रीकृष्णका प्रतिबिम्ब (परछाईं) सिद्ध हो रही हैं—सो बच्चे श्रीकृष्णका गोपियोंसे खेलना, बच्चेका अपनी परछाईंसे

खेलना कहा है-इसमें विषयभोगकी कोई बात भी नहीं।

वादी लिखता है—'गीताके श्रीकृष्णजीने जीवनमें कभी व्यभिचार नहीं किया, पर पाखण्डी-पोप पण्डितोंको इसीमें मजा आता है कि-योगीराजको व्यभिचारी बताया जावे'। महाशय! यह बात बिल्कुल आप लोगोंमें ही लागू हो रही है-हममें नहीं। गीताके श्रीकृष्णका इतिहास गीतामें लिखा है या महाभारतमें? यदि महाभारतमें; तो हम उसीसे सिद्ध कर चुके हैं कि-यह वही पुराणोंवाले श्रीकृष्ण हैं। हम भी यही कहते हैं कि-ब्रह्मवैवर्त वा श्रीमद्भागवत आदिके श्रीकृष्ण गीता-महाभारतवाले श्रीकृष्णकी ही बाल्यावस्था थी, जिसके संकेत महाभारतमें भी पाये जाते हैं। उन्होंने जीवनमें कोई व्यभिचार नहीं किया। तभी तो उन्होंने परीक्षित्के जीवनकेलिए कहा था-'यथा सत्यं च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ। तथा मृतः शिशुरयं जीवताद् अभिमन्युजः' (महा. आश्र. ६६।२२) सो उन्होंने वादीके अनुसार कोई व्यभिचार वा कुकर्म किया होता; तो उनके इस भाषणसे मृत-शिशु परीक्षित्का जीवन न हुआ होता। इसी प्रकार गर्गसंहितादिके अनुसार ऐसे वचनोंके कहनेसे चढ़ी हुई यमुना नीची न हो जाती। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मवैवर्तादिमें भी 'रमण'का अर्थ विशुद्ध-प्रेमकी क्रीडा है, विषयभोग नहीं-'रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः' (भाग. १०।३०।३५) में इसीलिए श्रीकृष्णको 'आत्माराम' एवं 'अखण्डित' कहा है। 'अखण्डित'का 'रमण' विशुद्ध-क्रीडा ही होती है। तब वहाँ

वादी बलात् विषयभोग वा अपना इष्ट व्यभिचार अर्थ करते हुए स्वयं ही अपने शब्दोंमें 'पोप-पाखण्डी' सिद्ध होगये।

कुब्जा और श्रीकृष्ण।

(१०) आगे वादी कुब्जाके साथ श्रीकृष्णका व्यभिचार सिद्ध करता है। 'निशावसान-समये वीर्याधानं चकार सः। सुख-भोगेन भोगेन मूर्छामाप च सुन्दरी' यह उसके दिये पद्योंमें अन्तिम श्लोक है। इस पर वादी यह जानें—श्रीकृष्णकी अवस्था ब्रह्मवैवर्त-के अनुसार उस समय १०-११ वर्षकी थी। 'एकादशेऽब्दे सबलः (बलदेव-सहितः) स्थित्वा ते मन्दिरे सुखम्' (४।६।१।८) यह उनका वर्णन यज्ञोपवीतसे पूर्वकालका है। क्षत्रियका यज्ञोपवीत ११ वें वर्षमें होता है, तब श्रीकृष्णने गुरुके पास जाकर विद्या पढ़ी (देखिये ब्रह्मवैवर्त ४।५४।१२)। उसके बाद श्रीकृष्णका विवाह हुआ; क्योंकि-विद्या-समाप्तिके बाद विवाहका क्रम होता है। यज्ञोपवीतसे पूर्व कामचार, कामभक्ष, कामवादके होने पर भी कहीं पाप नहीं माना गया। महाभारतमें कहा है—'आ चतुर्दश-काद् वर्षाद् न भविष्यति पातकम्। परतः कुर्वतामेव दोष एष भविष्यति' (१।१०८।१७) तब १४ वर्षसे भी छोटे किशोर पर दोषोंका लगाना अपनी शूद्रताकारक है। जैसे कि महाभारतके इस प्रकरणमें यमराजको विदुर-रूपमें शूद्रयोनि ग्रहण करनी पड़ी। 'कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते' (२।१७३) 'उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेत् शौचमादितः।' (२।६९) इन मनुवचनोंसे

उपनयनके बाद ही ब्रह्मचर्यव्रतके आरम्भका अनुशासन किया जाता है, पूर्व नहीं। तब क्षत्रियका ११ वर्षके बाद ही ब्रह्मचर्यव्रत आरम्भ होता है। उस अवस्थाके बाद व्रतमें व्यतिक्रम होने पर 'अवकीर्णी' प्रायश्चित्त करना पड़ता है, पूर्व नहीं। सो यहां पुराण-दृष्टिसे भी कोई शास्त्रीय-दोष सिद्ध नहीं होता।

ऐतिहासिक पक्षका दृष्टिकोण भी स्पष्ट है। जो यौवनसे पूर्व बाल्यावस्थामें विषय-क्रीडा वा विषयचिन्तनादि करने लग जाता है, उसे स्वप्नदोष, शीघ्रपतन वा नपुंसकत्वादि दोष उपस्थित हो जाते हैं। तब ऐसा व्यक्ति अपनी एक भी स्त्रीको प्रसन्न नहीं रख सकता; तब वह १६१०८ स्त्रियोंको प्रसन्न कैसे रख सकता है, क्योंकि—'भोगे रोगभयम्' भोगी प्रायः रोगी रहता है। बल्कि-वह दूसरी भी स्त्रीसे विवाहका साहस नहीं कर सकता, और वैसा व्यक्ति दीर्घजीवी न होकर अकालमें कालके गालमें समा जाता है; पर भागवत, ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों तथा महाभारतादिमें यौवनमें श्रीकृष्णका बहुत स्त्रियोंसे विवाह तथा सभी स्त्रियोंको प्रसन्न रखना, नीरोग रहना एवं दीर्घ-जीवन कहा है। तब आक्षेप्ता लोग किसी भी दृष्टिकोणसे श्रीकृष्ण पर इस प्रकारका कोई भी दोष लगानेमें समर्थ नहीं हो सकते। तब यहां वादीका इष्ट वीर्याधान कैसे हो सकता है? क्या डाक्टरी-असूल में ८-९-१० वर्षमें ही लड़केके वीर्यका प्राकट्य हो जाता है! यदि ऐसा है; तो विवाहकी आयु भी आप लड़केकी १०-११ सालकी क्यों नहीं मान लेते? यदि वैसा नहीं मानते, तब

वादीने क्यों नहीं सोचा कि–यहां कौनसे वीर्यका आधान है ? श्रीकृष्ण ब्रह्मवैवर्तके अनुसार परमात्मा थे। उनका शरीर भौतिक नहीं था। इसका वादी कभी अपलाप नहीं कर सकते। तब परमात्माका 'वीर्य' क्या होगा, जिसका उस परमात्माने आधान कुब्जामें किया, यह वादीको समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। क्या परमात्मामें प्राकृत वीर्य होता है ? महाशय ! सँभल जाइये, यह वही दिव्य 'वीर्य' है; जिसे आप वा आपकी स्त्रियाँ निशावसान-समय (प्रातःकाल) में नग्न, आवरण-रहित एवं स्नात होकर 'वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि' (यजुः १९।९) इस मन्त्रसे अपनेमें आधान कराती हैं। यह वही 'भोग' है, जिसे आप और आपकी स्त्रियाँ 'छेरी आदि पशुसे, वाणीकेलिए मेढासे, और परम ऐश्वर्यकेलिए बैलसे भोग' (दयानन्दयजुर्भाष्य २१।६०) करती-कराती हैं। यह वही 'मोहन-भोग' (मोहन-श्रीकृष्णका भोग) है; जिसकी स्मृतिकेलिए संस्कार-विधि पृ० १७ के अनुसार अपनी स्त्रियोंको आप लोग प्रतिदिन 'मोहन-भोग' लेने भेजते हैं। 'मैथुन'का अर्थ 'मिथुनीभाव' 'सङ्गति' 'सम्बन्ध' अर्थ भी होता है–'मैथुनं सङ्गतौ रते' (अमर. ३।३।१२२) 'सम्बन्धे सुरते युग्मे राशौ मिथुनमिष्यते' (व्याडिः) सो प्रतिदिन अपने स्त्री-पुरुषोंसे 'मोहनभोग'का उपभोग करावें–आप, और आक्षिप्त करें पुराणोंको, सो बड़े वा छिपे पौराणिक तो आप ही निकले; और समाधान करना पड़ता है हमें। वादी यह याद रखें कि–कुब्जा दासी थी, किसी की स्त्री नहीं थी।

'रामा रमणाय उपेयते न धर्माय कृष्ण (दास) जातीया' (१२।१३।२) इस 'निरुक्त'के वचनानुसार दासी-गमनमें कोई दोष नहीं आता।

यहाँ प्रष्टव्य है कि–आपका आक्षेप श्रीकृष्ण पर ब्रह्म-दृष्टिसे है, वा पुरुष-दृष्टिसे ? यदि ब्रह्म-दृष्टिसे; जैसाकि–'ब्रह्मवैवर्त' नाम ही बताता है कि–इसमें ब्रह्म श्रीकृष्णका विवरण है; तब तो कोई दोष नहीं रह जाता। उस परमात्माके वीर्य वा तेजका आधान वही 'वीर्यं मयि धेहि, तेजो मयि धेहि' यजुर्वेद वाला ही है। शेष कथन तो आलङ्कारिकता है, कविता है। आर्यसमाज-शिरोमणि श्रीब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुने 'वेदवाणी'के सम्पादकीयमें लिखा था कि—'भारतके शत्रु–इंगलैण्ड और अमेरिका नंगे होगये' (९।५ पृ. ३९) तब क्या आप यहाँ 'नंगे'का अर्थ आलङ्कारिक न करके 'अपने अधोवस्त्र उतार दिये' यह अर्थ कर देंगे ? 'मौत नंगा नाच नाच रही है' का भी वही 'वस्त्रहीन' अर्थ करेंगे ? तब 'नग्नां चकार'का भी 'आवरण-रहितां चकार' यह अर्थ है, आवरण 'मल, आवरण, विक्षेप'में एक दोष होता है, उससे रहित कर दिया। जो भी 'वीर्याधान' बतलाया जावे; वहाँ आलङ्कारिकता भी क्यों न हो, वहाँ सुरत भी अलङ्काररूपसे वर्णित करना ही पड़ता है। एक वाक्य इस पर देखिये—

'करशनलाल तिवारीके वीर्यने दयानन्द बनकर जगतमें हलचल मचा दी। तिवारीका वीर्य एक योनिमें पड़ा, पर वह उस योनिसे निकला हुआ वीर्य दयानन्द तो बड़ा भोगी निकला।

संन्यासी बने हुए भी उस विलासीके लिङ्गने व्यभिचारी बनकर बहुत-से स्त्री-पुरुषों से जोरदार मैथुन करके मथ-मथकर उनकी योनिमें अपना ऐसा वीर्याधान किया कि–उससे डा० श्रीराम-आर्य, रामसहाय, प्रेमचन्द आर्य आदि बहुतसे 'व्यभिचार-पसन्द' पुत्र निकल पड़े। उन्होंने सब जगह 'रमण'का 'व्यभिचार' अर्थ ही पसन्द कर लिया। उनको पुराणोंमें सर्वत्र विषयभोग ही दीखने लगा। उन्होंने अपनी ग्रन्थमालाओंमें अपनी पूरी नग्नता (नंगापन) दिखला दी'। अब क्या इस अलङ्कारको वादी वास्तविक ही मानकर दयानन्दको सचमुच व्यभिचारी ही मानकर कविको गालियाँ देना शुरू कर देंगे ?

सर्वत्र अभिधावृत्ति तथा वाच्यार्थका ही साम्राज्य नहीं होता, प्रतिभाका परिष्कार करके व्यङ्ग्यार्थको जाननेकेलिए दिमागका पसीना भी बहाना पड़ता है। यदि वादी साहित्यज्ञ होंगे; तो उस अलङ्कारका तात्पर्यमात्र लेंगे। नहीं तो, यदि वे कामशास्त्रके अभ्यासी होंगे; तो विषयानन्द लेने लग जायँगे। नैषधचरितमें नलकी सुन्दरता तथा मोहकताको आलङ्कारिकतासे बताते हुए कविने सरस्वतीका तथा लक्ष्मी आदिका नलसे आलिङ्गन तथा संभुक्त कराना दिखाया है (३।३०-३१); अन्यत्र लक्ष्मीका पुराण-पुरुष (वृद्ध) विष्णुको छोड़कर नवयुवक सुन्दर राजाके पास अभिसार दिखलाया जाता है; तो क्या वहां वादी नलके सौन्दर्य तथा स्त्री-मोहकतामें तात्पर्य न लेकर लक्ष्मी-सरस्वती आदिका नलसे व्यभिचार मान लेगा ? यदि

ऐसा है, तो वे सचमुच प्रतिभाशाली धीवर हुए। यदि नहीं; तब वादी पुराण-वर्णित सुरतमें भी समझ लें कि–वहां भी अलङ्कार है। यदि वादी दयानन्दके लिङ्ग 'सत्यार्थप्रकाशके' वीर्यसे उत्पन्न होनेके कारण 'आत्मा वै जायते पुत्रः' के अनुसार केवल खण्डनके ही रसिक हैं, और हमारी बात नहीं मानते; तो हमें विवशतासे कहना पड़ेगा कि–'ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रञ्जयति'। वस्तुतः एतदादि-रहस्य साहित्य-शास्त्रज्ञ तो जान सकते हैं, काम-शास्त्रज्ञ नहीं। यदि वादी कामशास्त्रमें बहुत कुशल हैं; और अपने ही शब्दोंमें वे 'कलियुगी पण्डित' बनकर पृ. १२ के अनुसार 'भैंसेकी तरह सूँघ-सूँघकर' अपने शब्दोंमें अपनी बुद्धिसे अन्धाधुन्ध अपने मनचाहे 'रमण'में प्रवृत्त हो रहे हैं; तो भिन्न बात है।

अथवा यदि वे पुराणका व्यङ्ग्यार्थ न समझ सकनेके कारण उसका वाच्यार्थमात्र ही लेते हैं, और श्रीकृष्णको पुराण-प्रोक्त ब्रह्मदृष्टिसे न देखकर पुरुषदृष्टिसे देखते हैं, तो वे १०-११ वर्षके लड़केका शुक्रोदय मान लेंगे क्या ? यदि नहीं; तब वीर्याधान उसका कैसे मान लेंगे ? अथवा वे अपनी मर्जीसे श्रीकृष्णको पुराणमें १०-११ वर्षका बालक न मानकर उसे युवक ही मान लें; तब भी उसका कुब्जासे व्यभिचार पुराणसे कैसे सिद्ध करते हैं ? वहां तो पुराणका यह श्लोक वादीने भी लिखा है—'दम्पती रति-पण्डितौ' (४।७२।६१) यहां उनको पति-पत्नी बताया है। वादीने अपने अर्थमें दोनोंका जोड़ा तो लिख दिया,

पर पति-पत्नी शब्द स्पष्ट नहीं लिखा, जो दम्पतीका वास्तविक अर्थ था; क्योंकि उस अर्थके लिखनेसे वादीका वना बनाया महल ढहता था। पति-पत्नीके शृङ्गारको वादी व्यभिचार कैसे कहते हैं? वे दुष्यन्तके शकुन्तलासे गान्धर्व-संयोगको क्या व्यभिचार मानते हैं? ऐसा है; तो वादी बड़े प्रेमसे स्वयंवरका अपने शब्दोंमें-व्यभिचारका क्यों प्रचार करते हैं? क्या यह उन्हें क्षम्य है? यदि वे कहें कि-'कृष्णको कुब्जाका पति उस पुराणमें कहां कहा है कि-हम उसे व्यभिचार न मानें' तो इस पर हमने वादीके कहे ही पद्यमें वह बात दिखला दी। यदि वादी उसमें साक्षी अन्य-प्रमाण उसी पुराणमें देखना चाहें; तो उन्हें भी देख लें—'ब्रह्मविष्णुशिवादीनामीश्वरं प्रकृतेः परम्। जन्मान्तरे च भर्तारं प्राप्स्यसि त्वं वरानने' (६२।५२) यहांपर शूर्पणखाको जिसकी भगवानसे मिलनेकी उत्कण्ठा रह गई थी; तपस्या करनेपर ब्रह्माजीने वरदान दिया है कि-दूसरे जन्ममें कुब्जापनमें श्रीकृष्ण तेरे भर्ता होंगे। 'देहं तत्याज सा (शूर्पणखा) वन्हौ सा च कुब्जा बभूव ह' (६२।५३)। 'पुरा शूर्पणखा त्वं च भगिनी रावणस्य च। तपः-प्रभावान्मां कान्तं (पतिं) भज श्रीकृष्ण-जन्मनि। रामजन्मनि मद्धेतोः त्वया कान्ते! तपः कृतम्'। (७२।५६-५७)। सो उस उत्कण्ठाको उसने इस दासी-जन्ममें आकर पूर्ण किया (ब्रह्म. ४।६२।५३,११५।६६)। तभी यहांपर 'कान्त' तथा 'कान्ता' शब्द आये हैं। व्यभिचारमें 'कान्त-कान्ता' शब्द, दम्पती शब्द, भर्ता आदि शब्द कभी नहीं

आते। तव जिस ग्रन्थकी कोई बात आक्षिप्त की जावे, तो उसका कहा हुआ पूर्वापर-प्रकरण भी मानना ही पड़ेगा। नहीं तो वादीका यह अभित्तिचित्रका अकाण्ड-ताण्डव होगा; शशशृङ्गका तेज करना होगा, मृगतृष्णाके जलमें स्नान करना होगा, कौएके दांतोंकी परीक्षा करना होगा, वन्ध्याके पुत्रको अपना दत्तक-पुत्र वनाने पर विचार करना होगा।

(ख) पृ. २२में वादी आक्षेप करते हैं—'साक्षाज्जारश्च गोपीनां दुष्टः परम-लम्पटः। आगत्य मथुरां कुब्जां जघान मैथुनेन च' कृष्ण गोपियोंका जार (व्यभिचारी). दुष्ट, वड़ा लम्पट था। मथुरामें आकर उसने मैथुन करके कुब्जाको मार डाला'।

परन्तु यहां आक्षेप-योग्य क्या बात है, यह हम नहीं जान सके। यह ब्रह्मवैवर्त-पुराणके अपने शब्द तो हैं नहीं; यह वाक्य वहांपर बाणासुर-दैत्यके हैं। वह भगवान्-कृष्णका विरोधी था। विरोधी क्रोधमें आकर भला कौन-कौनसा कुवाच्य नहीं कहता। वादीके परम-स्वामी श्रीदयानन्दजी पुराणोंके विरोधी थे। उन्होंने पुराणके प्रणेताकेलिए क्रोधमें आकर कैसे कुवाच्य शब्द कहे हैं? देखिये उनका आदर्श—'इन भागवतादि-पुराणोंके बनानेवाले क्यों नहीं गर्भ ही में नष्ट हो गये! वा जन्मते समय मर क्यों न गये? 'वाह रे वाह भागवतके वनानेवाले लाल-बुझक्कड़! क्या कहना तुमको, ऐसी-ऐसी मिथ्या बातें लिखनेमें तनिक भी लज्जा और शरम न आई, निपट अन्धा ही बन गया!!!' (स. प्र. पृ. २११)।

इस प्रकार पुराणों वा पौराणिकोंके विरोधी आप अपने कुवाच्योंका भी कुछ आदर्श देख लीजिये—'चाहे शूकर अवतारके यह चेले सनातनी-पंडित कितना ही जोर क्यों न लगावें, पर इस सत्यको काट नहीं सकते हैं कि-पुराणोंने कृष्ण-महाराजको धूर्त, व्यभिचारी-शिरोमणि माना है' (पृ. २२)। 'कैसी धूर्तताकी बातें बदमाशोंने गढ़-गढ़कर लिखी हैं, पौराणिक पंडित-मण्डल तथा उनका गुरु पाखण्डी-शिरोमणि पं० माधवाचार्य इन बातोंको सही मानता है' (पृ. २३) इत्यादि।

जैसे वादीने अपने परमगुरु-शिवरात्रिके मूषकके परम-प्रशिष्य (पक्के-चेले) बनकर उससे केवल खण्डन (कुतरने) की शिक्षा प्राप्त करके पुराणोंके पूर्वापरको कुतर कर उनके अभिप्रायसे विरुद्ध झूठी-झूठी बातें गढ़ी हैं, और कुवाच्य कहे हैं; वैसे बाणासुर दैत्यने भी कहे थे। वादीका ऊपर दिया हुआ 'साक्षाज्जारश्च गोपीनां, परमलम्पटः, कुब्जां जघान मैथुनेन च' यह वाक्य उसी बाणासुर-दैत्यका है, जो कि क्रोधमें भरा हुआ है। उसके वचनके लिए पुराणकारने कहा है—'घोरसंग्राममध्ये च विषोक्तिं प्रज्वलन्निव (क्रुध्यन्निव)' (११५।५७) सो 'विषोक्ति' शब्द कहनेसे यह उसकी जहरीली-उक्ति, गलत-उक्ति है-यह उक्ति ठीक नहीं है, यह कहकर पुराणने उसको अमान्य बतला दिया। इस प्रकार 'साक्षाज्जारश्च गोपीनां गोपोच्छिष्टान्न-भोजकः। कुब्जा मृता च सम्भोगात्' (ब्रह्म. ४।१०६।२०-२३) यह शब्द दैत्योंके साथी रुक्मीके हैं। उसकेलिए पुराणमें कहा है—'उवाच निष्ठुरं

वाक्यं श्रुतितीक्ष्णं सुदुष्करम्। उपहास्यं' (१०६।१७) इसीसे उस वाक्यकी उपहास्यता तथा निष्ठुरता सिद्ध हो जानेसे असत्यता एवं अमान्यता ही सिद्ध हो गई। तो क्या वादी, तथा इन वचनोंको उद्धृत करने वाले अन्य आर्यसमाजी भी दैत्य वा दैत्योंके साथी हैं; जो कि-उन्होंने बाणासुर-दैत्यके वचन पर विश्वास कर लिया। 'मैथुनसे कुब्जाको श्रीकृष्णने मार डाला' यह किस पुराणमें तथा पुराणके अपने किस वचनमें लिखा है-यह वादीने सिद्ध नहीं किया। केवल दैत्यके वाक्य पर सहसा विश्वास कर लिया। केवल विश्वास ही नहीं कर लिया; बल्कि दैत्यके वचनको अपना वचन बना लिया; क्योंकि-दैत्यका नाम वादीने छिपा लिया; अब स्वयं ही दैत्यरूपमें उन्होंने अपनी नग्नता दिखला दी।

यहां पर 'मैथुनेन जघान'का अर्थ वादीने 'मैथुनसे मार डाला' यह कर दिया; तब तो वादी पुरूरवाके विषयमें उर्वशीके कहे हुए 'त्रिः स्म माऽन्हः श्नथयो वैतसेन' (१०।९५।५) इस ऋग्वेद-सं. के मन्त्रमें-जिसके ऋषि-देवता पुरूरवा-उर्वशी हैं;—वधकर्मा धातुओंमें (निघण्टु २।१९) कहे हुए 'श्नथयः' क्रिया-शब्दका जिसका अर्थ 'त्रिः स्म मा अह्नो वैतसेन दण्डेन हतात्' (शत० ११।५।१।१) इस ब्राह्मणके वाक्यने 'हतात्' किया है, वादी, मुझ उर्वशीको पुरूरवाने वैतस-दण्ड (शिश्न)से मार डाला' यह अर्थ करेंगे? 'वैतसदण्ड'का 'पुंस्प्रजनन' (शिश्न) अर्थ है, देखिये इसपर निरुक्त—'शेपो वैतस इति पुंस्प्रजननस्य' (३।२१।३)। तब

तो उक्त पुराण-वचन उक्त वेद-मन्त्रका भाष्य सिद्ध हुआ; तब 'वैदिक-संघ' उसपर आक्षेप करनेका अधिकारी कैसे है? इस प्रकार वेदमें 'अघासु हन्यन्ते गावः' (ऋ. १०।८५।१३) में 'हन्यन्ते गावः' का अर्थ वादी 'गौएं मारी जाती हैं'-यह करेंगे ? 'मा त्वं विकेशी उर आवधिष्ठाः' (काठकगृह्यसूत्र २८।४) क्या वादी यहां 'छातीका मार डालना' अर्थ करेंगे ? 'मा त्वँ रुदती उर आवधिष्ठा जीवपत्नी' (विवाह. पृ. १५२) इस अपनी-संस्कारविधिके शब्द 'आवधिष्ठाः'का 'छातीको मार डालना' अर्थ करेंगे ? यदि नहीं; तब वादीने 'मैथुनेन जघान'में उसी धातुका 'मार डालना' अर्थ कैसे कर डाला ?

अब हम दैत्य-वचन-विश्वासी वादीको देवपक्षी मानें; वा दैत्यपक्षी ? किसी भी पुराणमें श्रीकृष्ण-द्वारा कुब्जाको मैथुनसे मार डालना दिखलाया भी नहीं। हां, भगवान्ने उसकी क्रीडासे प्रसन्न होकर अन्तमें उसे गोलोक अवश्य दिया है। देखिये ब्रह्मवैवर्त—'कुब्जया सह शृङ्गारं कृत्वा च कौतुकेन च। तां च प्रस्थापयामास गोलोके गोपिकापतिः' (४।५४।१०) 'अथाजगाम गोलोकाद् रथो रत्नविनिर्मितः। जगाम तेन तं लोकं धृत्वा दिव्य-कलेवरम्' (७२।६६) 'तेन पुण्येन तं लब्ध्वा गोलोकं सा जगाम ह। गोपी बभूव गोलोके कृष्णस्यालिङ्गनेन च'। (४।११५।८८) तब 'गोलोकमें भेजने'का आप दैत्यपक्षीय 'मार डालना' अर्थ कर डालें; इसमें आप ही उत्तरदायी हैं। फिर आप श्रीमाधवाचार्यजी पर क्यों बिगड़ते हैं कि उन्होंने—

'श्रीकृष्णने कुब्जासे ऐसी धींगा-मस्तीकी कि-वह मर ही गई, कुब्जा-कुब्जा ही न रही, संश्लेषसे कुब्जाके मार डालनेका व्यङ्ग्यार्थ कुबड़ेपन की निवृत्ति है' यह अर्थ किया है। दम्पतीका मैथुन आप 'व्यभिचार' तो कभी सिद्ध कर नहीं सकते; कुब्जाका कुब्जापन न रहा; यह 'धृत्वा दिव्यकलेवरम्' (ब्रह्म. ७२।६६) से व्यक्त हो रहा है। तब वादी क्यों खिसियाते हैं ?। हो गया सब दृष्टियोंसे उनके आक्षेपोंका समाधान।

स्त्रियोंकी संख्या।

(११) अपने विज्ञापनमें वादीने लिखा था—'भागवत कृष्णके १६१०८ बीवियां [यह शब्द लिखने पर आपको लज्जा आनी चाहिये थी, यह आपने वैसे लिखा है, जैसे कि-एक कांग्रेसी हिन्दी-लेखकने लिखा था 'शाहजादा रामकी बेगम सीता थी, यह हाल मौलिवी-वाल्मीकिने अपने कुतब रामायणमें दर्ज किया है] लिखता है; तो ब्रह्मवैवर्त 'त्रिंशत्कोटिं च गोपीनां गृहीत्वा भर्तुराज्ञया' कृष्णकी ३० करोड़ पत्नियां बताता है। कुछ ठीक है इस बदमाशीका ?' इसपर वादी यह याद रखे कि-भागवतमें भी गोपियोंकी संख्या तो नहीं बताई। सो गोपियोंकी संख्या उसमें भी ब्रह्मवैवर्त-इतनी मान ली जावे, तो इसमें क्या दोष आता है, यह वादीने नहीं लिखा। वस्तुतः 'कोटि' शब्द 'अनेक' वाचक है। जो कि वादीने भागवतमें १६१०८ संख्या लिखी है, यह गोपियोंकी नहीं-यह तो रुक्मिणी आदि श्रीकृष्णकी रानियोंकी है। ब्रह्मवैवर्त रुक्मिणी आदियोंको गोपियोंसे

भिन्न बताता है। इनमें १६१०० तो वे थीं-जो नरकासुरके बन्दीखानेसे मिली थीं; जिनकी प्रार्थनासे श्रीकृष्णने उनसे विवाह किया; जिसका सङ्केत 'उद्वाहं राजकन्यानां सहस्राणां च षोडश' (ब्र. ४१६।४३) यहां आया है; यह 'दुर्बलं नरकं हत्वा स्त्री-समूहं मनोहरम्। जग्राह योनिलुब्धश्च स्वपुत्रमतिनिष्ठुरः' (११५।६३) बाणासुर-दैत्यके आक्षेपमें भी प्रकट है; जिसका उत्तर अनिरुद्धने यह दिया था—'नरको हरिवध्यश्च स्वपूर्व-प्राक्तनेन च। पाणिं जग्राह कन्यानां साक्षिणौ शशिभास्करौ (११५।६७) शेष रुक्मिणी (६८) सत्यभामा (६६) जाम्बवती (६।१६६) आदिका वर्णन भी संक्षेपसे बता ही दिया गया है। अब यहां भागवत और ब्रह्मवैवर्तकी 'बदमाशी' तो न निकली, किन्तु यह वादीकी अपनी ही नासमझीकी 'बदमाशी' निकल पड़ी।

विज्ञापनमें वादीने 'त्रिंशकोटिं च गोपीनां'का ब्रह्मवैवर्तका पता ४।८०।८७ यह दिया है; इसपर श्रीमाधवाचार्यजीने लिखा कि-८० अध्यायमें केवल ३८ श्लोक-हैं, फिर ८७ वां श्लोक कहांसे आया ?' इसपर वादी गर्म होकर पृ. १६ में लिखता है कि—'कृष्णके ३० करोड़ पत्नियां थीं, यह 'त्रिंशकोटिं च गोपीनां' ब्रह्मवैवर्त पुराणोंमें साफ लिखा है'। फिर आगे वादीने गाली तो दे दीं; पर उक्त-श्लोकका पता नहीं लिखा। तभी तो पं. माधवाचार्यजी उनकी पतेकी 'मिथ्या धोखाबाजी और बदमाशी ('बदमाशी' शब्द भी उन्होंने नया नहीं गढ़ा, आपके विज्ञापनका था, जो बिना सूदके वापिस लौटा दिया गया) बता रहे थे,

वादीने उनकी बात सचमुच ही स्वीकार की; अबके इस ट्रैक्टमें उस स्थलका पता भी छिपा ही दिया। इससे स्पष्ट है कि-वादीने यह सब प्रमाण पुराणादिमें-स्वयं देखकर नहीं लिखे, किन्तु अन्य आर्यसमाजियोंके ट्रैक्टोंकी उन्होंने जूठन बटोरी है। यदि पं० माध.जीने उक्त पुराण न देखा होता; तो वादीके पतेकी गलती उन्होंने कैसे बताई ? वस्तुतः वादी पं. माधवाचार्यजीके फैंके हुए पाशमें अपने-आप फँस गया, और अपने पक्षका उसने स्वयं ही खण्डन कर दिया। वादीके इस पद्यमें ३० कोटि गोपियाँ लिखी हैं; वादीने उनको 'कृष्णके ३० करोड़ पत्नियाँ थीं' यह लिखकर स्पष्टरूपसे गोपियोंको ब्रह्मवैवर्तके मतमें श्रीकृष्णकी पत्नी माना है। इस वादीकी बातसे तथा उसके इस प्रमाणसे उसकी अब तक की करी-कराई हुई सारी मेहनत पर चौका फिर गया। यह कैसे ? यह वे कानोंको निश्चल करके सुनें।

वादीने स्थान-स्थान पर गर्जकर श्रीकृष्णका गोपियोंसे व्यभिचार बताया है, पर जब वही गोपियाँ—जो गोलोकसे राधाके साथ आई थीं; वादीके भी अनुसार श्रीकृष्णभगवान्‌की अपनी पत्नियाँ थीं; क्योंकि—गोलोकमें भगवान् हरि स्वामी थे, गोपियाँ उनकी पत्नियाँ थीं; तब उनसे रमण (आपके अनुसार मैथुन भी सही) हुआ; तो वह व्यभिचार कैसे हुआ ? क्या अपनी पत्नियोंसे मैथुनको भी वादी व्यभिचार मानते हैं ? यदि ऐसा है; तो वादीने जहाँ अपने-आपको, अपने समाजको व्यभिचारी एवं व्यभिचारि-समाज बना दिया; वहाँ सारे

संसारको भी।

देखिये-जो बाणासुर दैत्यने-जिन्हें वादीने अपना बुजुर्ग या साथी बनाया है, जिसकी बातको वादीने वेद-वाक्य माना है-श्रीकृष्णके सम्बन्धमें ब्रह्मवैवर्तके शब्दोंमें 'विषोक्ति' (११५।७५) कही; जिसे वादी 'अमृतोक्ति' मान कर कृतकृत्य हो रहे हैं, श्रीकृष्ण पर 'साक्षाज्जारश्च गोपीनां दुष्टः परमलम्पटः' (११५।६१) यह आप दोनोंने दोष लगाया; तब श्रीकृष्णके पौत्र अनिरुद्धने उसका 'ब्रह्मवैवर्त'के शब्दोंमें 'पारमार्थिक' (वास्तविक) और 'योग्य' (ब्र० ११५।७६) प्रत्युत्तर दिया, वादी भी उसे कान निश्चल करके सुने—

'वृषभानुसुता राधा सुदाम्नः शापकारणात्। त्रिंशत्कोटिं च गोपीनां गृहीत्वा भर्तुराज्ञया। पुण्यं च भारतं क्षेत्रं गोलोकाद् आजगाम सा' (११५।८६-८७) ताभिः सार्धं स (कृष्णः) रेमे च स्वपत्नीभिर्मुदाऽन्वितः। पाणिं जग्राह (यह अन्तर्भावितण्यर्थ है) (ग्राहयामास) राधायाः स्वयं ब्रह्मा पुरोहितः' (८८) यहाँ पर ब्रह्मवैवर्तके शब्दोंमें बताया गया है कि-'वे ३० कोटि गोपियाँ गोलोकसे भारतमें आई हुई श्रीकृष्णकी पत्नियाँ थीं'। यदि ऐसा है; तो उनसे रमण, व्यभिचार कैसे हुआ? इस पद्यसे-जिसे वादीने स्वयं उद्धृत करके मान्य किया था-उष्ट्रलगुड-न्यायसे वादीका अपना ही गर्जन-तर्जनपूर्वक फर्माया हुआ पक्ष कट गया। जार तो श्रीकृष्णको दैत्यने तथा दैत्योंके साथी रुक्मी वा झोलीझुक आपने बताया; पर पुराणने तो गोपियोंको 'पत्नी' और श्रीकृष्ण-

को 'पति' बताया। राधाने ही गोलोकमें स्वयं श्रीकृष्णको कहा था—'मत्तो बहुतराः कान्ता गोलोके सन्ति ते हरे! याहि तासां (स्वकान्तानां) सन्निधानं मया ते किं प्रयोजनम्' (४।३।४१) 'हरेरपि। गोपीनां कोटिशो दृष्ट्वा सुरास्ते विस्मयं ययुः' (४।५०) यहां गोपियाँ श्रीकृष्णकी स्त्रियां बताई गई हैं। वेद एवं इतिहासादिके अनुसार एककी बहुत पत्नियां भी विहित हैं—यह हम पहले लिख ही चुके हैं। और जो बाणासुरने नरकासुरसम्बन्धी श्रीकृष्णपर दोष लगाया था कि-'दुर्बलं नरकं हत्वा स्त्रीसमूहं मनोहरम्। जग्राह योनिलुब्धश्च' (११५।६३) वादीने भी 'शिव-पुराणके 'तथापि नरकं दैत्यं प्राग्ज्योतिषपतिं बलात्। हत्वा स्त्रीणां सहस्राणि षोडशैव जहार सः। तासां रतिफलं भुक्त्वा पुत्राणां नवतिं तथा। सहस्राणि ससर्जांशु' इस पूर्वपक्षके श्लोकको उद्धृत किया, और उस पद्यकी यह टीका की कि-१६००० औरतें बदमाशीकेलिए पकड़ लाना और विषयभोग द्वारा ९० हजार लड़के पैदा कर डालना क्या मानी रखता है' (पृ. ६) इसका उत्तर अनिरुद्धने ठीक ही दिया कि-'नरको हरिवध्यश्च स्वपूर्व-प्राक्तनेन च। पाणिं जग्राह कन्यानां साक्षिणौ शशिभास्करौ' (११५।६७) इसमें यह बताया गया है कि-नरकासुर दैत्य १६१०० लड़कियां बदमाशीकेलिए अवश्य ले आया, पर जब उसे उनसे सफलता नहीं मिली, और दैत्यको उन्होंने स्वीकार नहीं किया; और उन स्त्रियोंको उसने जेलखानेकी यातना देनेकेलिए बन्दी कर दिया, देखो श्रीमद्भागवत (१०।५९।१); तब श्रीकृष्णने नरक-

दैत्यको मारकर उन कुमारियोंका उद्धार किया, और उनकी प्रार्थनासे-जैसे कि महाभारतके हरिवंश (विष्णु) पर्वमें भी कहा है—'तिष्ठन्तीरपराजिताः।.. सुखिन्यः कामवर्जिताः' (६४।२६) सर्वासामेव संकल्पः पतित्वे चाऽभवत्ततः' (३१) इत्यादि) उनसे विवाह किया-यह यहां और श्रीभागवतमें स्पष्ट है, वहां लिखा है-'सर्वशक्तिमान् अविनाशी भगवानकेलिए इसमें आश्चर्यकी क्या बात है' (१०।५६।४२)। एक पुरुष दो स्त्रियोंको भी प्रसन्न नहीं रख सकता; पर कई सहस्र स्त्रियोंको अपनी इच्छासे नहीं, किन्तु उनकी प्रार्थनासे स्वीकार करना और उनको प्रसन्न रखना उनकी भगवत्ताका परिचायक है, पत्नियोंको प्रसन्न रखना व्यभिचार नहीं, सदाचार है। तब क्या अपनी स्त्रियोंसे वेदानुसार दस-दस लड़के पैदा करना भी व्यभिचार है? यदि ऐसा है तो फिर वेद भी व्यभिचार-धर्मके प्रवर्तक हुए। क्या 'वैदिक-संघ'को यह स्वीकार है?

वादीने सर्वत्र पूर्वपक्षकी बातें ही केवल श्रीकृष्णको बलात् बदनाम करनेकेलिए दे दी हैं, उनका जो उत्तरपक्ष पुराणमें था, उसको छिपा लिया। यह क्यों? पूर्वापरको कुतरकर वा छिपाकर बीचके पद्य दे देना—यह सम्पत्ति आपको गुरुपरम्परासे मिली हैं। आपके स्वामीजी भी ऐसा ही करते थे, तथा उनके बोधोत्सवके गुरु (उन्दुरु) भी ऐसा ही करते हैं; आपके साम्प्रदायिक-भाई भी ऐसा ही करते हैं; पर अब उनका युग नहीं रहा, जब लोग ग्रन्थोंके पूर्वापर नहीं देखते थे, और उनकी

बात पर विश्वास करके भौंचक्के हो जाते थे। हमें आर्यसमाजियोंके आक्षेपोंका निरन्तर उत्तर देते हुए ३५ वर्ष होगये हैं। जब हम उनके भीषण-आक्षेप देखते हैं; तो हम घबरा नहीं जाते। समझ लेते हैं कि-इन्होंने उस ग्रन्थका पूर्वापर अवश्य छिपाया होगा। अनुसन्धान करनेपर वही बात ठीक निकलती है। उत्तर उसीमें होता है; जिसे छिपा दिया जाता है।

वादीकी भी यही कुटेव चल रही है; तभी तो उसने आक्षिप्त श्लोकोंकी स्थल-संख्या भी प्रायः नहीं लिखी। जहाँ लिखी भी थी, वहां हमारे पास भेजे अपने विज्ञापन और ट्रैक्टमें उसने उसे प्रयत्नसे स्याहीसे मिटा दिया है। इसलिए कि इतने बड़े पुराणमें कौन विना पतेके उन श्लोकोंको ढूंढ सकेगा? इस प्रकार विजय हमारी हो जावेगी'। पर अब वे दिन लद गये। अब तो अनुसन्धानका युग आ गया है।

इसी हमसे पूरे दिखलाये हुए वादीके पद्यमें राधाका भी ब्रह्मा द्वारा श्रीकृष्णसे दिव्य-विवाह दिखलाया गया है। यह ठीक भी है, तब उसके भी व्यभिचारकी जो वादीने आगे चलकर चिल्लपों मचाई है—उसका भी खण्डन हो गया। 'ब्रह्मवैवर्त' स्पष्ट कह रहा है—'सुदाम्नः शापतो दैवाद् वृषभानु-सुताऽधुना। धर्मपत्नी च कृष्णस्य पुण्ये वृन्दावने वने' (११८।२६) यहां राधाको श्रीकृष्णकी धर्मपत्नी कहा गया है; तब क्या अपनी धर्मपत्नीके साथ हुई रतिको भी कोई व्यभिचार कह सकता है?। वादी भी तो विवाहित होंगे, तो क्या अपनी धर्मपत्नीसे रतिमें वे भी अपने-आपको

व्यभिचारी मानते हैं ? यदि ऐसा है तो पहले वे अपने व्यभि-चारी होनेका ढंढोरा पीटें, फिर संसारका। तब इस व्यभिचार-को छोड़कर संन्यासी बन जाएँ।

राधा और कृष्ण।

(१२) आगे वादी राधासे कृष्णका व्यभिचार बताते हुए ब्रह्मवैवर्तके कुछ श्लोक लिखता है। श्लोकोंको लिखनेमें वादीने चालाकी की है; श्लोक-संख्या तो इसीलिए उसने दी नहीं कि-इसका कहीं भांडा-फोड़ न हो जावे ?। आपसमें बहुत व्यवधानमें स्थित श्लोकोंको इकट्ठा रखकर, उनने उनका अर्थ इकट्ठा कर दिया है, जिससे अर्थका अनर्थ हो गया। वादीने श्लोकोंकी २३ पंक्तियां लिखी हैं। यह श्रीकृष्ण-जन्मखण्डके १५ वें अध्यायकी हैं। पहली पंक्ति उसके पहले पद्यका अर्ध है, और दूसरी ८ वें, तीसरी ५५-वें की। फिर ६१,८२,१३६,१४३,१४४,१४८,१५०-१५६,१५६,१७७ यह पद्य लिखे गये हैं। १२०-१२१-१२२ से लेकर १३३ पद्य तकके श्लोक वादीने छिपा लिये, इन्हींमें श्रीकृष्णके साथ श्रीराधाका ब्रह्माने विवाह-संस्कार कराया है। देखिये—

'तदा ब्रह्मा तयोः (राधा-कृष्णयोः) मध्ये प्रज्वाल्य च हुता-शनम्। हरिं संस्मृत्य हवनं चकार विधिना विधिः (१२०) प्रणमय्य पुनः कृष्णं राधां तां जनकः स्वयम्। कौतुकं कारयामास सप्तधा च प्रदक्षिणम् (१२२) पुनः प्रदक्षिणां राधां कारयित्वा हुताशनम् (१२३) तस्या हस्तं च श्रीकृष्णं ग्राहयामास तं विधिः (१२४)। वेदोक्त (सप्त-पद्याः) सप्त मन्त्रांश्च पाठयामास माधवम्। संस्थाप्य राधिका-हस्तं हरेर्वक्षसि वेदवित्...(१२५) तद्वामपार्श्वे राधां च सस्मितां कृष्ण-चेतसम् (१२६) प्रणमय्य पुनः कृष्णं समर्प्य राधिकां विधिः (१३०) कन्यकां च यथा तातो भक्त्या तस्थौ हरेः पुरः। एतस्मिन्नन्तरे देवाः सानन्द-पुलकोद्गमाः। दुन्दुभिं वादयामासुश्चानकं मुरजादिकम्' (१३१-३२) यहां तक राधा-कृष्णका पूरा दिव्य विवाह-संस्कार जिससे उनका अलौकिक-दम्पतित्व सिद्ध होता है, वादीने छिपा लिया है, उसीके बाद ही वादीसे अपूर्ण उद्धृत यह पद्य आया है—'गते ब्रह्मणि सा देवी कामदेव-प्रपीडिता। प्रणम्य श्रीहरिं भक्त्या जगाम शयनं हरेः' (१३६)। अब बोलिये वादि-महाशय ! राधा-कृष्णके विवाहके तथा ब्रह्माके चले जानेके यह पद्य छिपाकर फिर जो आपने उसका हरिके शयनपर जाने पर व्यभिचारका निर्मूल शोर मचाया है; यह आपकी ही प्रवृत्तिका व्यभिचार है या राधाकृष्णका; यह अब आप स्वयं ही सोच सकते हैं। 'भवद्विधं पतिं प्राप्य कामदग्धा च राधिका' (६८।३१) यहां भी श्रीकृष्णको राधाका पति लिखा है, तब पतिकी पत्नीसे रति-क्रीडा किस शास्त्रके वचनसे व्यभिचार है ? इतना सुफेद झूठ किस लिए ? अब वादी ही बतावें कि-यह व्यभिचारियोंका 'कोकशास्त्र' हुआ, या दिव्य-दम्पतियोंका दिव्य रतिशास्त्र ? व्यभिचार-शास्त्र तो यह वादीके अनुसार भी न हुआ। यदि अपनी सौभाग्यवती माताका शृङ्गार देखकर कोई वादी-जैसा पुत्र उत्तेजित हो उठे, वा उसे व्यभिचारिणी कह उठे, तब इसमें किसका दोष माना जावे ? याद रखिये कि-

राधा-कृष्ण परस्पर दिव्य-दम्पति हैं, और जगत्के माता-पिता हैं। पुत्रस्थानीय बनकर वादी उनके विषयमें कलुषित भाव न रखें, नहीं तो वादी पिता-माताके घरमें रहने योग्य सिद्ध न हो सकेंगे।

मुनि गोपी बने।

(१३) अब वादी यह अकाट्य (?) प्रमाण देकर तो जनतामें यश प्राप्त कर ही चुके, अब पद्म-पुराणके पाताल-खण्डसे यह श्लोक देते हैं—'पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः। दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमिच्छन्सु विग्रहम्। ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूतास्तु गोकुले। हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्' इसका अर्थ आप करते हैं—'सारे ऋषि-मुनि रामके सुन्दर-रूपको देखकर उनसे भोग करनेकी इच्छा करने लगे' पर यहां 'सुन्दर-स्वरूपको देखकर' यह अर्थ वादीने किस शब्दका किया? वहां तो है—'दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र' इसका अर्थ है—'हरि-परमात्मा रामको देखकर' तब वादीने भिन्न अर्थ कैसे कर डाला? 'भगवान्के विग्रहका भोग चाहते थे,' तो 'भोग' का अर्थ वादीका इष्ट भोग हो, यह आवश्यक नहीं। वादी भी 'मोहन-भोग' का उपयोग करते हैं। 'मोहन' नाम श्रीकृष्णका है, मोहनका भोग-मोहनभोग। देखिये अपनी संस्कारविधि (पृ. १७)। वादी तथा वादियोंकी स्त्रियां भी मोहन (श्रीकृष्ण) के भोगको जब पा रही हैं, फिर आक्षेप दूसरों पर करते हैं !!! मुनियोंका भी वही भोग समझ लें; और फिर आप 'दुःखविनाशार्थ' अपने वैदिक-

स्वामीकी आज्ञासे 'छेरी आदि पशुसे 'भोग' किया ही करते होंगे, आपकी स्त्रियां भी वाणीकेलिए मेढासे 'भोग' करती ही होंगी, परम ऐश्वर्यकेलिए 'बैलसे भी भोग' करती ही होंगी। यदि वादीको यह 'वैदिक-भोग' पसन्द है; तो मुनियोंको भगवान्का भोग पसन्द था। 'ठाकुरजीका भोग' अब भी लिया जाता है, तब क्या वादीका मनचाहा वही भोग है? यदि भोगका वही अर्थ है; तब वे मुनि स्त्री क्यों बने? पुरुष बनते? स्त्री तो भोग नहीं करती, किन्तु भोग पाती है।

जब बैल आदि पशुओंसे 'भोग'का अर्थ वादी उनका 'उपयोग' मानें, तो यहां भी 'उपयोग' अर्थ ही मानें। उपयोगका भाव है-स्पर्श। शकुन्तला-नाटकमें राजा दुष्यन्त कह रहा है—'इह प्रियाभुक्ते लतामण्डपे मुहूर्तं तिष्ठामि' (तृतीयाङ्क) तब आप क्या यहां यह अर्थ करेंगे कि—'शकुन्तलासे मैथुन किये हुए लतामण्डपमें बैठूँ, तो क्या शकुन्तला लतामण्डपसे मैथुन करती थी? जिसकी जिस पर श्रद्धा होती है, वह चाहता है कि-यह मुझे स्पर्श करे। यदि स्वा.दयानन्द अब होते, तो उनसे अपने हाथ आदिके स्पर्शसे आप वा आपकी-स्त्री अपनेको धन्य समझते। यही आपका उनसे वा उनका आपसे भोग होता।

यदि वादी 'भोग'का अर्थ अपना मनचाहा 'संभोग' अर्थ केवल मानते हैं; और कुछ नहीं; तब 'सम्भोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित्' (मनु. ८।२००) इस वचनमें वादी वही अर्थ करेंगे? 'पृथिव्याः पर्जन्येन च वाय्वादित्याभ्यां च सम्भोगः'

(७।४।२) इस 'निरुक्त'के वचनमें भी पृथिवीका बादलसे वही भोग मान लेंगे? 'राजाका पृथिवीसे भोग' में भी आप क्या 'भोग'का अर्थ 'मैथुन' करेंगे? 'स्नेहप्रणय-सम्भोगैः समा हि मम मातरः' (वाल्मी. २।२६।३२) यहां श्रीरामने अपने 'स्नेह-प्रणय-संभोग'से माताओंको समान बताया है; तो क्या यहां वादी मातृसम्भोग भी वही मानते हैं; जो उनके मस्तिष्कमें घुसा है? यदि नहीं तो यहां भी मुनि भगवान् श्रीरामके श्रीविग्रहका भोग-उपयोग-स्पर्श चाहते थे, उसका सङ्ग चाहते थे, उसीसे तर गये। 'करते रहो तुम सदा सत्पुरुषोंका सङ्ग' तब क्या यहां भी आप सत्पुरुषोंका 'मैथुन' मानेंगे? मैथुनका यदि 'मिथुनीभाव' (मेल) अर्थ मानें; तब तो ठीक है। तो यदि भगवान्का अङ्गसङ्ग मिल जावे; तो फिर मुक्तिमें सन्देह ही क्या? 'गोपीभाव' की हम स्पष्टता पहले कर चुके हैं। सुप्रसिद्ध मीराने श्रीकृष्णसे वही 'पतिभाव' अपना लिया था; जिसे उसने लौकिकपति-भोजराजको भी कह दिया था; तब क्या आप मीराका श्रीकृष्णसे मैथुन मानकर उसे व्यभिचारिणी मान लेंगे? यदि ऐसा है तो वे धन्य हैं! ब्रह्मवैवर्त हो, चाहे पद्मपुराण, चाहे श्रीमद्भागवत, चाहे विष्णुपुराण, सर्वत्र वादी राम वा कृष्णको परमात्मा वा उसका अवतार देखेंगे।

इस विषयमें ब्रह्मा आदिकी स्तुति 'ब्रह्मवैवर्त'में देखी जा सकती है—'जगद्योनिरयोनिस्त्वम् अनन्तोऽव्यय एव च। ज्योतिःस्वरूपो ह्यनघः सगुणो निर्गुणो महान्। भक्तानुरोधात्

साकारो निराकारो निरङ्कुशः। स्वेच्छामयश्च सर्वेशः सर्वः सर्वगुणाश्रयः (४।७।५३-५४) आदि। तब अग्रिम-जन्ममें यदि भगवान्की स्त्री भी बनना पड़े तो यह पुरुषका अहोभाग्य है। विशुद्ध-प्रेमवाली पतिव्रता स्त्री भी पतिका निष्कपट प्रेम चाहती है-केवल ग्राम्यधर्मसे प्रसन्नता विलासिनियोंको होती है, पतिव्रताओंको नहीं। और फिर यहां श्रीराम-श्रीकृष्णकी मनुष्यता तो दिखलाई नहीं गई, तब वह भी दिव्य-पुरुष और उनका सम्मेलन भी दिव्य होगा। वादी ग्राम्यधर्म, एक तुच्छ वस्तुको बहुत पसन्द करता है, उसका विचार वह हटा दे, निष्कपटतासे भक्तिभावकी ओर प्रवृत्त हो जावे; तो वादीका कामभाव भी दग्ध होकर विशुद्धभाव उत्पन्न होगा। तब उन्हें कोई भी आशङ्का घेर न सकेगी। जब शिशुपालकी भगवानसे शत्रुता भी मुक्तिका कारण हुई; तब भगवान्का गोपीभावमें विशुद्ध-प्रेम प्राप्त हो जावे, चाहे स्त्रीरूपमें सही; तब तो क्या कहना? जिसे वादी जगद्वन्द्य मानते हैं, उसकी जो स्त्री होगी वह भी अपने-आपको उसकी स्त्री होनेसे धन्य मानेगी, वा नहीं? इसलिए बहुतसे लोग भगवान्को आशिक-माशूकके रूपसे भजते हैं, अथवा अपने-आपको गोपी समझकर भजते हैं। इसमें कोई बुरा भाव नहीं आता। यदि वादी 'छिद्रदर्शनप्रिय' हैं; तब तो उनके बुरे भाव होंगे। वादी भी भगवान्के ऐसे भक्त बन जावें, जैसे स्त्री पति की। 'कामी नार पियार जिमि' इससे वादीका सौभाग्य होगा, या दौर्भाग्य—यह वे ही समझ सकते हैं।

सृष्टिक्रियाया ब्रह्मणः क्रीडारूपेण प्रतिपादितत्वात्' इत्यादि सृष्टिक्रियाया ब्रह्मणः क्रीडारूपेण प्रतिपादितत्वात्' इस विषयमें ब्रह्म-भाष्य झूठा कैसे ठहराया जा सकता है? इस विषयमें ब्रह्म-वैवर्त-पुराणका 'तेन राधा समाख्याता पुराविद्भिः प्रपूजिता। प्रहृष्टा प्रकृतिश्चास्याः तेन प्रकृतिरीश्वरी।' (८४।७४) 'सृष्टिं करोषि च यया तात! शक्त्या पुनः पुनः। दृष्ट्वा तां रासमध्यस्थां मम क्रीडा तया सह' (८२) जलपूर्णं, पुरा सर्वं सृष्टिशून्यं व्रजेश्वर! शृङ्गारान्ते च तस्यां च वीर्याधानं मया कृतम्' (८६) दधार गर्भं सा राधा यावद् वै ब्रह्मणः शतम्। सुस्राव सा तदन्ते च डिम्बं च परमाद्भुतम्' (८४।८७) यह यहां राधा-कृष्णका मिलन सृष्टि-प्रक्रिया ही तो बतला रहा है। तभी श्रीकृष्णने राधा-को कहा था—'यथा क्षीरे च धावल्यं, यथाऽग्नौ दाहिका सती। यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाऽहं त्वयि सन्ततम्' (१५।५८) विना मृदा घटं कर्तुं, विना स्वर्णं न कुण्डलम्। कुलालः स्वर्णकारश्च नहि शक्तः कदाचन। तथा त्वया विना सृष्टिमहं कर्तुं न च क्षमः। सृष्टेराधारभूता त्वं बीजरूपोऽहमच्युतः।' (१५।६०, ६७।८०) ममा-ङ्गांशस्वरूपा त्वं मूलप्रकृतिरीश्वरी (६६) 'अधिष्ठानकर्त्र्यै च प्रकृत्यै च नमो नमः (६२।७४, ६३।३२) इत्युक्त्वा परमात्मा च राधां प्राणा-धिकां प्रियाम्' (६७।८१) इस प्रकार सारे 'ब्रह्मवैवर्त' में राधा-कृष्ण' का प्रकृति-पुरुषत्व स्पष्टरूपसे वर्णित है। वादीने क्या इन्हें साधारण लौकिक पति-पत्नी समझ रखा है?

तब वादी उस 'भद्रभाष्य' को झूठा इसीलिए कहते हैं कि-उससे उनकी रेतीली दीवार गिरती है। महाशय! आप 'चोर-

शिखामणि' बनकर पुराणोंके पूर्वापरकी चोरी करके कुछ बीचके पद्य दे दिया करते हैं, और 'जारशिखामणि' बनकर शब्दोंका गलत अर्थ करके वाणीसे व्यभिचार—बलात्कार करते हैं, जिससे साधारण-जनोंको कुमार्ग एवं भ्रममें डालनेका पाप कर रहे हैं। सम्भल जाइये, तो अच्छा है, नहीं तो इस असत्य-व्यवहारसे समयपर आपको अथर्ववेदके वरुणके पाश बान्धेंगे। 'ये ते पाशा वरुण! सप्त-सप्त छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तम्, यः सत्यवादी अति तं सृजन्तु' (अ. ४।१६।६) 'मा ते मोचि अनृत-वाङ् नृचक्षः!' (७)। यदि वादी राधाको ब्रह्मवैवर्तके अनुसार श्रीकृष्णकी विवाहित स्त्री मानें; तब भी व्यभिचारकी कोई आशङ्का नहीं—इसे हम पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं। यदि वादी पुराणा-नुसार श्रीकृष्णको ९-१० वर्षका बालक समझ लें; तब भी उसकी विशुद्ध क्रीडा ही मानी जावेगी-वादी कहींसे भी नहीं छूट सकता। 'आगत्य मथुरां कुब्जां जघान मैथुनेन च' यह 'पुराण-का लिखना' नहीं, जैसे कि—वादीने पृ. २१-२२ में लिखा है, यह 'दैत्यका कहना' है, यह हम पूर्व ब्रह्मवैवर्तसे ही स्पष्ट कर चुके हैं।

राधा कृष्णकी मामी (?)

(१५) आगे वादी लिखता है—'राधा कृष्णके वामाङ्गसे उत्पन्न होनेसे कृष्णकी पुत्री थी, रायाणसे विवाह होनेसे वह कृष्णकी पुत्रवधू थी, क्यों कि—रायाण गोलोकमें कृष्णके अंशसे उत्पन्न होनेसे उनका इस रिश्तेमें पुत्र था। रायाण कृष्णकी माता यशोदाका भाई होनेके कारण कृष्णका मामा लगता था; अतः

पुरुषके साथ देवीकी अंशभूत जिस-जिस स्त्रीका सम्बन्ध तथा पति-पत्नीभाव हुआ; तो जैसे वहां व्यभिचार नहीं माना जाता; वैसे ही श्रीकृष्णके अंश रायाणका महाशक्ति राधाकी अंशभूत राधासे विवाह हुआ; और साक्षात्-श्रीकृष्णका साक्षात्-शक्ति राधासे विवाह हुआ। यद्यपि उनकी वह नित्य शक्ति थी; अतः वहां विवाह की आवश्यकता तो नहीं थी; तथापि भारतमें दोनोंका शापादिवश अवतरण होनेसे लौकिक-दृष्टिवश विवाह भी भारतीयमर्यादा-संरक्षणार्थ आवश्यक था। इधर श्रीकृष्णने यद्यपि वसुदेवके यहां अवतार लिया; तथापि वे नन्द-यशोदाके पास रखे गये; और रायाण श्रीकृष्णके अंशसे यशोदाके पितासे उत्पन्न वैश्य लड़का था, यशोदाका भाई था; श्रीकृष्णका लौकिक-दृष्टिवश धर्म-मामा था; वास्तविक मामा नहीं; क्यों कि-यशोदा श्रीकृष्णकी वास्तविक माता नहीं थी; किन्तु धर्म-माता थी। वह वैश्य थी, श्रीकृष्ण क्षत्रिय थे। इधर राधा वृषभानुसे कलावतीमें प्रकट हुई। श्रीकृष्ण और राधाका गर्भ-सम्बन्ध नाममात्रको था; केवल अभिनय था-इसलिए कि हम पहले बता चुके हैं कि उनका शरीर भौतिक नहीं था। गर्भमें वायु पूर्ण हो जाती है, लौकिक-दृष्टिमें गर्भ हो गया हुआ मालूम होता है; दसवें मासमें गर्भकी वायु जब निकलती है; तो उस समय राधा-कृष्ण आदिका अवतार हो जाता है। इसीको वैदिकभाषामें यह कहा जाता है- 'प्रजापतिश्चरति गर्भे, अन्तरजायमानो बहुधा विजायते' (यजुः ३१।१९) प्रजापति-परमात्मा गर्भमें विद्यमान होता है, पर

अन्दर पैदा नहीं होता; किन्तु बहुत रूपोंमें प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार राधा वहां दो रूपोंमें प्रकट होगई। एक छायारूप में, दूसरे असली रूपमें। असली रूपमें तो वह श्रीकृष्णके पास चली गई; पर छायारूपमें वह कृत्रिम-राधाको वृषभानुके यहां छोड़ गई। उसी छाया-राधाके साथ रायाणका विवाह हुआ। और वास्तविक-राधाका दिव्य-विवाह ब्रह्माजीने पिता बनकर (क्योंकि यहां उसका वृषभानु प्राकृत होनेसे पिता नहीं बन सकता था) श्रीकृष्णसे कराया। अब इसमें व्यभिचारकी बात क्या रही ? जिस पुस्तक पर जो दोष लगाया जा रहा हो; पूर्वापर भी उसी पुस्तकका मानना ही पड़ता है; उसमें अपनी मनमानी नहीं करनी पड़ती; नहीं तो 'अर्धजरतीय' न्याय उपस्थित हो जाता है, और राधाका अस्तित्व ही विलुप्त हो जाता है, और उसपर कोई शङ्का करनेका अधिकार ही नहीं रह जाता। इस विषय में हम ब्रह्म-वैवर्तके वे पद्य उद्धृत करते हैं—

'वृषभानोश्च वैश्यस्य सा च कन्या बभूव ह' (ब्रह्मवैवर्त-प्रकृति. ४९।३६) 'अयोनिसम्भवा देवी वायुगर्भा कलावती। सुषुवे मायया वायुं सा तत्राविर्बभूव ह' (३७) 'अतीते द्वादशाब्दे तु दृष्ट्वा तां नवयौवनाम्। सार्धं रायाण-वैश्येन तत्सम्बन्धं चकार सः' (३८) 'छायां संस्थाप्य तद्गेहे सान्तर्धानमवाप ह। बभूव तस्य वैश्यस्य विवाहश्छायया सह' (३९) 'कृष्णमाता यशोदा या रायाणस्तत्सहोदरः। गोलोके गोपकृष्णांशः सम्बन्धात् कृष्ण-मातुलः' (४९।४१) इन श्लोकों द्वारा यह स्पष्ट होगया कि-

रायाणका राधाकी छायाके साथ विवाह हुआ, साक्षात् राधासे नहीं। जैसे कि-'स्वयं राधा हरेः क्रोडे छाया रायाणमन्दिरे' (२।४६।४३)। तब किसी भी दृष्टिसे श्रीकृष्ण पर मातुलस्त्री-गमनका दोष नहीं आता। तब वस्तु-स्थितिसे अनभिज्ञ व्यक्ति ही वास्तविक-राधाको रायाणकी पत्नी मानते हैं। इसी कारण उसी ब्रह्मवैवर्त-पुराणमें कहा है—'मूढा रायाण-पत्नीं त्वां वक्ष्यन्ति जगतीतले। रायाणः श्रीहरेरंशो वैश्यो वृन्दावने वने' (४।३।१०४) यह श्रीदामाका शाप था, कि-मूढ लोग उस राधाको रायाणकी पत्नी कहेंगे। तब वादी भी यह कहकर बलात् अपने-आपको श्रीदामाके शब्दोंमें 'मूढ' क्यों बना रहे हैं? जब वादी उक्त दोष ब्रह्मवैवर्तके द्वारा लगा रहे हैं और ब्रह्मवैवर्तमें स्थिति स्पष्ट कर दी गई है, तब यह दोष वादीकी अपनी कपोल-कल्पनासे प्रसूत है, इसका कुछ भी मूल न होनेसे निर्मूलतावश माननीयता नहीं।

४।५२।३४-३६ में 'राधा-कृष्ण' शब्दमें 'राधा'के पहले कहने-का कारण जगत्‌की माता होना तथा कृष्णका जगत्‌के पिता होनेसे उस नामका पीछे कहना है; पिताके दर्जेसे माताका दर्जा हजार दर्जे अधिक होनेसे उसका नाम पहले कहा जाता है-यह हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं। इससे स्पष्ट है कि-जैसे प्रकृति-पुरुष-का नित्यका सम्बन्ध है, वैसे राधा-कृष्णका भी नित्यका सम्बन्ध है। राधा प्रकृतिरूप है, कृष्ण पुरुषरूप हैं। तब राधा श्रीकृष्णकी नित्य-पत्नी होनेसे वह परकीय-स्त्री न रही; अतएव राधाके

सम्बन्धसे श्रीकृष्णपर किया गया मातुलानी-गमनका आक्षेप भी निर्मूल हो गया।

राधा श्रीकृष्णकी नित्य-शक्ति होनेसे इनमें पति-पत्नीभाव भी लौकिक पति-पत्नीकी भांति न समझकर प्रकृति-पुरुषकी भांति दिव्य ही मानना चाहिये। चाहे पुराण-कवि लौकिक-ढंगसे उसे वर्णित भी क्यों न करे? कारण यह है कि-उस समय तो श्रीकृष्ण वृन्दावनमें दस वर्षकी अवस्था तक रहे। रासलीलाके समय तो उनकी आयु सात वर्षके लगभग थी। फिर मथुरामें जाकर उनका ११वें वर्षमें उपनयन तथा विद्यारम्भ हुआ है, फिर अपने यौवनकालमें उनके रुक्मिणी आदियोंसे विवाह हुए हैं, अतः स्पष्ट है कि-श्रीकृष्णका श्रीराधासे पति-पत्नीत्व-सम्बन्ध लौकिक पति-पत्नीकी भांति न मानकर स्वस्वामि-सम्बन्धकी तरह अथवा 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' (यजुर्वेदसं. ३१।२२) की भांति समझना चाहिये। मानुषी दृष्टिसे श्रीकृष्ण उस समय बाल्या-वस्थाके थे, परमात्म-दृष्टिसे उनकेलिए परकीया कोई भी नहीं; वे सबमें व्यापक हैं; सब उन्हींके अंश हैं, उसमें ग्राम्य-धर्मताका कोई अवसर नहीं। अतः राधा-विषयक कोई भी वादीका आक्षेप इस विषयमें सफल नहीं हो सकता।

राधाको मुख्यतया वर्णित करनेवाला पुराण 'ब्रह्मवैवर्त' माना जाता है, दोष भी वादी उसी पुराणसे लगाते हैं। यदि वे इस विषयमें उस पुराणको वस्तुतः ही प्रमाण मानते हैं; तो उसका निष्कर्ष यह है कि-श्रीकृष्ण गोलोकके अधिष्ठाता हैं;

राधा उनकी नित्यशक्ति है। श्रीकृष्णके सखा श्रीदामाके शापवश जब राधाने भारतमें जन्म लेना था; और इस विषयमें वह श्रीकृष्णकी शरण गई; तो श्रीकृष्णने कहा कि-तुम्हारे दो रूप होंगे, एक-वास्तविक, दूसरा रूप तुम्हारी छाया होगी। मेरे भी दो रूप होंगे। एक वास्तविक; दूसरा मेरी छाया। मेरी छाया रायाण (धर्म-माता यशोदाका भ्राता) होगा, उसकी स्त्री तेरी छाया राधा बनेगी। इधर मैं वास्तविक श्रीकृष्णरूपमें मनुष्य-लोक-गोकुलमें रहूँगा, और तू (राधा) भी वास्तविक-रूपमें मेरी नित्य-शक्ति राधा बनी रहेगी। यह है ब्रह्मवैवर्त-पुराणका निष्कर्ष। वह रायाणको श्रीकृष्णका अंश बताता है, और उसकी स्त्री राधाको वास्तविक-राधाका अंश। यह श्रीदामाके शापकी चरितार्थताकेलिए किया गया। इससे राधाकी छायाका पति भी श्रीकृष्णकी छाया था, इस छायामें भी उपपतित्वकी आशङ्का नहीं रही। गोकुलके श्रीकृष्णको ब्रह्मवैवर्त गोलोकके श्रीकृष्णका रूप बताता है, और गोकुलकी राधाको गोलोककी राधाका रूप बताता है। इसमें श्रीकृष्णकी भी पत्नी निज-शक्ति राधा रही। छाया-राधा रायाणकी पत्नी रही—तब श्रीकृष्णकी पर-स्त्री-गमनकी आशङ्का भी न रही। यह गोलोककी राधाका श्रीदामाके शापसे श्रीकृष्णके वियोगसे त्रस्त होने एवं श्रीकृष्णकी शरणमें आनेसे उसकी सान्त्वनार्थ किया गया है। फिर मथुरा आने तथा रुक्मिणी आदिके विवाहमें तथा ऐहिक-लीला-संवरण तक श्रीकृष्णके साथ राधाका दिखाई न देना—यह श्रीदामाके शत-

वर्ष-विच्छेदके शापके कारणसे है। केवल वहां स्वप्न-समागम उसकी सान्त्वनार्थ होता था। इस प्रकार यहां मातुलानी-गमनका दोष प्रसक्त ही नहीं हो सकता। आशा है-आपाततोदर्शनसे प्राप्त हुई भ्रान्तिको वादी हमारी इस विवेचनासे दूर कर लेंगे।

शेष है 'राधा श्रीकृष्णके वामाङ्गसे उत्पन्न होनेसे उसकी पुत्री हुई'—यह आक्षेप, यह सर्वथा उपहासास्पद है, वामाङ्गिनी भी क्या कभी पुत्री होती है? उसे तो 'अयोनि-सम्भवा देवी' (२।४९।३७) कहा गया है, तब पुत्री कैसी? 'द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्। अर्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः' (मनु. १।३२) यहां ब्रह्माने अपने देहके अर्धभागसे जो नारी पैदा की; उसी नारीसे उसने विराट्को पैदा किया; तो क्या उस नारीको वादी ब्रह्माकी पुत्री मान लेंगे? लड़कीसे उसने सृष्टि पैदा की? 'योगेनात्मा सृष्टिविधौ द्विधारूपो बभूव सः। पुमांश्च दक्षिणार्धाङ्गः, वामाङ्गः प्रकृतिः स्मृतः' (ब्रह्म. प्रकृ. १२।९) तब परमात्माके वामाङ्गसे उत्पन्न प्रकृतिको वादी उसकी लड़की मान लेंगे कि-अपनी लड़कीसे उसने सृष्टि पैदा की? 'स द्वितीय-मैच्छत्। स एतावान् आस, यथा स्त्री-पुमांसौ संपरिष्वक्तौ। स इममेव आत्मानं द्वेधा अपातयत्। ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्' (बृहदारण्यक १।४।३) तब वादी पुरुषविध-आत्माके दूसरे भागको पत्नी न मानकर उसे पुत्री मान लेंगे? सृष्टिकी आदिमें वादीके परमात्माने जो जोड़े अपने शरीरसे बनाये, उन्हें भी वादी पति-पत्नी न मानकर भाई-बहन मान लेगा?

तब वह श्रीकृष्णके वामाङ्गसे पैदा हुई राधा भी 'प्राणाधिष्ठात्री च सा देवी कृष्णस्य परमात्मनः' (१।५।२७) पत्नी हुई।

शेष रहा रायाण श्रीकृष्णका अंश; सो श्रीकृष्ण स्वयं पति थे, राधा भी स्वयं पत्नी। पर रायाण श्रीकृष्णका अंश था, और उसकी स्त्री राधा, राधाका अंश थी—'स्वयं राधा हरेः क्रोडे छाया रायाणमन्दिरे' (ब्रह्म. २।४९।४३) इस सम्बन्धमें कोई पुत्रवधू आदिके सन्देहकी गुंजायश नहीं रही। जाया इसलिए स्त्रीका नाम होता है कि—पुरुषका उसमें जन्म होता है। (देखिये इसपर मनुस्मृति ९।८, तथा ऐत. ब्रा. ७।३) तब क्या वादी उस जायाको पतिकी माता मान लेगा? महाशय, वह तो माता उस पुत्रकी होगी, जो पतिके अंशसे पैदा हुआ है। वस्तुतः अयोनिज-उत्पत्तिमें पुत्र-पुत्री आदि सम्बन्ध नहीं माने जाते; नहीं तो सृष्ट्यादि-जात अयोनिज जोड़े भी बहिन-भाई माने जावेंगे? फिर उनका विवाह कैसे हो? हां, यहां असली राधा रायाणकी स्त्री होती; और श्रीकृष्ण उसकी स्त्री राधाको अपने पास रखते; तब वहां कथंचित् मातुलानी-गमनका आभास होता; पर ब्रह्मवैवर्त जिससे वादी राधाका जन्म मानता है—स्पष्ट कह रहा है कि—रायाणकी स्त्री राधाकी छाया थी, साक्षात् राधा नहीं, हां उसका नाम भी राधा था। नाम-सादृश्यसे वह वस्तु वह नहीं हो जाती। जिस पुस्तकसे जिसकी सत्ता सिद्ध हुई हो; उसका सभी-कुछ उसी पुस्तकसे देखना पड़ेगा, उसमें अपनी कल्पना करना अनधिकार-चेष्टा होगी। तब वादीका इसमें

व्यभिचार की सिद्ध्यर्थ एडीसे चोटी तकका पसीना बहाना-ही 'वेहूदा-बात' सिद्ध हुई; उसकी बुद्धि ही यहां 'व्यभिचारिणी' सिद्ध हुई। ब्रह्मवैवर्तमें कोई 'वेहूदगी' सिद्ध न हुई। अपनी बुद्धिकी वादी 'शुद्धि' करा लें, तव उसका उपयोग लें। आशा है, हमारे इस दीर्घ-मथनसे वादीकी संकुचित बुद्धि शुद्ध तथा विशाल हो गई होगी, और उनकी शङ्का दूर हो जानेसे उन्हें इस विषयमें बड़ा आनन्द आया होगा। अब आशा है-इसका फल भी यथा-समय उत्पन्न होगा।

(१६) इस 'राधाकी छाया' की बात वादीने भी देखी; और जब इससे अपने व्यभिचार-पक्षका प्रबल खण्डन देखा; तब वे अन्य मार्गमें घुसते हैं, पृ. १७ में वे लिखते हैं-'इस पागलपनकी बातको कोई बुद्धि-हीन ही मान सकता है'-यह कहकर वे प्रश्न करते हैं—'उन दो राधाओंकी आत्मा एक थी, या पृथक्-पृथक् थी? यदि एक थी; तो आत्माके दो टुकड़े होना गीता वा कोई शास्त्र नहीं मानता। यदि पृथक्-पृथक् थी; तो यह कहना मूर्खताकी बात है कि—नई राधा पुरानी राधाकी छाया थी। पता नहीं—सनातनी पंडितोंने अपनी अकल कहां बेच खाई है, जो ऐसी चंडूखानेकी बेतुकी असम्भव बातों पर विश्वास करते हैं कि—कलावतीके गर्भाशयसे हवा निकल पड़ी और बजाय पञ्चतत्त्वोंके केवल वायुसे राधा नामकी औरत बन गई। इसीलिए हम कहते हैं कि-पुराण बनाने व उनपर ईमान लाने वाले दोनों अज्ञानी हैं, और भंगके नशेमें रहते हैं'।

इन गालियोंसे मालूम होता है कि-वादीने कभी शास्त्रों वा दर्शनोंके दर्शन नहीं किये। परमात्मा तथा देवताओं तथा योगियोंकी शक्तियां विलक्षण ही हुआ करती हैं। उनमें 'अणिमा, महिमा, कामावसायित्व, आदि आठ सिद्धियाँ होती हैं। इनमें कामावसायिताका भाव है कि-सत्य-संकल्पता, अर्थात्-जैसा उसका संकल्प होता है, उसकी सत्यता हो जाती है, वैसे ही हो जाता है। जैसा रूप वा जितने रूप बनाना चाहे, बना सकता है। इसलिए जन्म-सिद्ध योगी देवताओंकेलिए निरुक्तमें लिखा है-'यद्-यद् रूपं कामयते, तत्तद्-देवता भवति-'रूपं-रूपं मघवा बोभवीति' (१०। १७।१)। इस प्रकारका अन्य वेद-मन्त्र भी है-'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋ. ६।४७।१८) 'पुरुरूप'का अर्थ है 'बहुरूप'। इसलिए महाभारतमें इन्द्रदेवताकेलिए आया है—'एक इन्द्रोऽनेकस्मिन् क्रतुशते आहूयमानो युगपत् सर्वत्र भवति' (१।२।६४) अर्थात् एक भी इन्द्र अनेक-यज्ञोंमें आह्वान करनेपर एकदम ही सभी स्थानोंमें भिन्न-भिन्न रूपोंमें पहुँच जाता है। इस प्रकार न्यायदर्शनके वादि-प्रतिवादिमान्य वात्स्यायनभाष्यमें भी कहा है—'योगी खलु ऋद्धौ (अणिमादि-सिद्धौ) प्रादुर्भूतायां विकरणधर्मा (इन्द्रियाणां विशिष्ट-सामर्थ्यवान्) निर्माय सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि तेषु-तेषु युगपद् ज्ञेयानि उपलभते' (३।२।१९) 'विकरणधर्मा'का अर्थ 'तात्पर्य-टीका'में कहा गया है-'अस्मदादिकरण-विलक्षणकरणो येन व्यवहित-विप्रकृष्ट-सूक्ष्मादि-वेदी भवति' यहांपर भी योगियोंका बहुशरीरनिर्माण कहा है। मार्कण्डेय-पुराणमें भी

यही कहा है—'योगीश्वराः शरीराणि कुर्वन्ति बहुलान्यपि' (५।३५)।

वेदान्तदर्शन शाङ्करभाष्य (१।३।२७) में तो इस विषयमें बहुत स्पष्टता की गई है। उसे भी देखना चाहिये-'आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ! कुर्याद् योगी बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्। प्राप्नुयाद् विषयान् कैश्चित्, कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्। संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव' इत्येवं-जातीयका स्मृतिरपि प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां योगिनामपि युगपदनेक-शरीरयोगं दर्शयति, किमु वक्तव्यम् आजन्मसिद्धानां देवानाम्' (१।३।२७) अर्थात् योगी अपनी योगसिद्धि तथा देवता अपनी स्वाभाविक जन्म-सिद्धिसे एक साथ बहुतसे शरीरोंको बना लेते हैं। जब प्रकृति अपने एक कालमें कई शरीर बना लेती है, तो प्रकृतिरूपा राधा तथा भगवान् श्रीकृष्ण यदि एक साथ अनेक शरीर बना लें; तो आश्चर्यकी क्या बात?

वादीको यह भी पता होना चाहिये कि-शरीर भी दो प्रकार के होते हैं, योनिज और अयोनिज। वादी जो पञ्चतत्त्वोंकी बात कह रहा है; वह योनिज शरीरोंकेलिए तो कथंचित् कह सकता है, पर अयोनिजोंकेलिए सर्वथा नहीं। अयोनिज-शरीरोंकी सिद्धिकेलिए वैशेषिक-दर्शनके सूत्र तथा वादीके स्वा.द.जीका मान्य प्रशस्तपादभाष्य देखें—

'तत्र शरीरं द्विविधम्-'योनिजमयोनिजं च' (१४।२।५) इस वैशेषिकदर्शनके सूत्रके उपस्कारमें कहा है—'आप्य-तैजस-

वायवीयशरीराणां वरुणादित्य-वायुलोकेषु प्रसिद्धानाम् अयोनिजत्वमेव। अयोनिजत्वं शुक्रशोणित-सन्निपाताऽनपेक्षत्वम्। अयोनिजं देवानाम् ऋषीणां च। कारणमन्तरेण कथं कार्यमिति चेद्, योनेः शरीरत्वावच्छेदेन अकारणत्वात्—देव-ऋषि शरीराद्यपेक्षया अस्मदादि-शरीराणामन्यादृशत्वात्' यहांपर देवताओं तथा ऋषियोंके अयोनिज शरीरको हम लोगोंके शरीरोंसे विलक्षण बताया गया है। फिर इस प्रश्नको कि—अयोनिज-उत्पत्ति, विना शुक्र-शोणितके परमाणुओंके कैसे हो जाती है—उत्तरमें वहां कहा है—'अनियत-दिग्देशपूर्वकत्वात्' (४।२।६) अर्थात्—पार्थिव, जलीय, वायव्य परमाणु सर्वदिग्देशवृत्ति हैं; तव अयोनिजशरीरोत्पत्तिमें परमाणुओंका दुर्भिक्ष नहीं है।

अब स्वा.द.जीके मान्य 'प्रशस्तपादभाष्य'में भी देखें—'तत्र अयोनिजम् अनपेक्ष्य शुक्रशोणितं देव-ऋषीणां शरीरं धर्मविशेष-सहितेभ्योऽणुभ्यो जायते। तत्र अयोनिजमेव शरीरं मरुतां लोके, पार्थिवावयवोपष्टम्भाच्च उपभोगसमर्थम्' (पृथिवी-वायुनिरूपण) यहां भी देवतादियोंके वायव्य आदि शरीर अयोनिज बताये गये हैं; उसमें पृथिवी आदिकी सहायता भी साथ हो जाती है। 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे प्रधान-भूतका नाम ही कहा जाता है। जैसेकि—हमारे पाञ्चभौतिक-शरीरको भी 'पार्थिव' कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भूतोंके सहित भी शरीरमें वायुकी प्रधानतासे वायव्य कहा जाता है। तव राधाकी वायुमय-उत्पत्तिमें क्या सन्देह! इसी प्रकार श्रीकृष्णके अवतरणमें भी

यही कहा गया है—'गर्भे च वायुना पूर्णे निर्लिप्तो भगवान् स्वयम्। हृत्पद्मदेशे देवक्या ह्यधिष्ठानं चकार ह' (ब्रह्म. ४।७।४४)। यही बात 'जन्म कर्म च मे दिव्यं' (४।९) वादि-मान्य गीताके इस वचनमें 'दिव्यं' शब्दसे भगवान्ने कही है। 'दिव्य' कहनेसे लौकिक-जन्मका यहां निरास कर दिया है। तब उसमें लौकिक ग्राम्य-धर्मका सन्देह व्यक्त करना दिव्यताकी शक्ति तथा उसके प्रकार-भेदका अज्ञान ही है।

न्यायदर्शनमें मानुष-शरीरको तो पार्थिव बताया गया है, पर अन्य लोकके शरीरोंको वायव्य, जलीय, एवं तैजस माना है—'तत्र मानुषं शरीरं पार्थिवम्। ...आप्य-तैजस-वायव्यानि लोकान्तरे शरीराणि। तेष्वपि भूतसंयोगः पुरुषार्थतन्त्रः' (३।१।३८) सो राधा-कृष्ण भी लोकान्तर (गोलोक)के शरीर वाले होनेसे उनका वायव्य-शरीर हो-इसमें असम्भव कुछ भी नहीं। सो वायुकी प्रधानतासे 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे वायुका प्रसव कहा जाता है, शेष पृथिवी आदि तत्त्व उसमें गौणरूपसे सहायक होते हैं। तब पार्थिवसे भिन्न शरीरोंमें विलक्षणता तथा सूक्ष्मतावश कई प्रकारके रूप बना लेनेकी शक्ति अव्याहत होती है; क्यों कि—वे भूत पृथिवीसे सूक्ष्म होनेसे, सूक्ष्ममें स्थूलकी अपेक्षा महती शक्ति विद्यमान होनेसे उसमें विलक्षणताएं उत्पन्न हो जाती हैं।

इसीलिए द्युलोकान्तर्गत गोलोकके अधिनायक श्रीकृष्णकी ऐसी दिव्य उत्पत्ति बताते हुए ब्रह्मवैवर्तमें कहा गया है—'एतस्मि-

त्येवान्तरे तत्र पपात देवकी सती। निःससार च वायुश्च देवकी-जठरात् ततः। तत्रैव भगवान् कृष्णो दिव्यरूपं विधाय च। हृत्पद्मकोषाद् देवक्या हरिराविर्बभूव ह' (४।७।७१-७२) यही दिव्य जन्म 'अवतार' कहा जाता है। इसीको वैदिक-भाषामें कहा जाता है—'अजायमानो बहुधा विजायते' (यजुः ३१।१९)।

इस अयोनिज-शरीरकी सिद्धिमें 'धर्मविशेषाच्च' (४।२।९) 'समाख्या-भावाच्च' (८) 'संज्ञाया आदित्वाद्' (९) 'सन्ति अयोनिजाः' (१०) 'वेद-लिङ्गाच्च' (११) इत्यादि वैशेषिक-सूत्र भी स्पष्टता-कारक हैं। विस्तारभयसे उनका विवरण नहीं लिखा जा रहा। यदि अयोनिज शरीर न होते; तो सृष्टिकी आदिमें अमैथुनोत्पन्न बहुतसे शरीरोंकी उत्पत्ति न होती। सो सृष्टिकी आदिमें अयोनिज-शरीरोत्पत्ति सामान्यतः होती है, सृष्टि हो जाने पर अपवादरूपसे क्वचित्, कदाचित् देव, ऋषि, मुनियों, योगियोंमें होती है। सामान्य-शास्त्रका अपवाद भी अवश्य हुआ करता है, हां, वह क्वाचित्क तथा कादाचित्क होता है, सार्वत्रिक, वा सार्वदिक नहीं होता। (ख) ऐसे दिव्य-शरीरोंमें शक्तिविशेषवश बहु-शरीर-निर्माणकी शक्ति होती है; उसका निर्देश हम पूर्व कर चुके हैं, उनमें मन वा आत्मा एक होता है वा अनेक, इसपर वेदान्तदर्शन-शाङ्करभाष्यमें बहुत स्पष्टता आई है। हम उसे भी उद्धृत करते हैं। वादी सावधानतासे देखें।—'यथा प्रदीप एकोऽनेक-प्रदीपभावमापद्यते विकार-शक्तियोगात्, एवमेकोपि सन् विद्वान् (मुक्तात्मा योगी वा) ऐश्वर्ययोगाद् अनेकभावमापद्य

सर्वाणि शरीराणि आविशति। कुतः? तथाहि दर्शयति शास्त्रम् एकस्य अनेकभावम्—'स एकधा भवति, त्रिधा भवति, पञ्चधा भवति, सप्तधा, नवधा, (छान्दो. ७।२६।२) इत्यादि। नैतद् दारुयन्त्रोपमाऽभ्युपगमे अवकल्पते, नापि जीवान्तरावेशे। न च निरात्मकानां शरीराणां प्रवृत्तिः सम्भवति। यत्तु आत्ममनसोर्भेदाऽनुपपत्तेरनेक-शरीराऽसम्भव इति? नैष दोषः, एकमनोनुवर्तीनि समनस्कान्येव अपराणि शरीराणि सत्यसंकल्पत्वात् स्रक्ष्यति। सृष्टेषु च तेषु उपाधिभेदाद् आत्मनोपि भेदेनाधिष्ठातृत्वं योक्ष्यते। एषैव च योगशास्त्रेषु योगिनामनेकशरीरयोगप्रक्रिया' (४।४।१५) अर्थात् जो कि एक देहमें स्थित अनादि मन है, उसीका अनुसरण करने वाले मन उस योगीके योग-विद्याके बलसे अन्य देहोंमें प्रकट हो जाते हैं, वे भिन्न नहीं होते। उस अवस्थामें उन मनोंका नियामक वही एक अनादि मन होता है। अनेक मनोंके प्रवृत्ति-विशेषमें एक ही चित्त प्रयोजक होता है। योगशास्त्रमें भी योगियोंके अनेक-शरीरोंके निर्माणकी प्रक्रिया यही कही गई है, उन मनोंको निर्माणचित्त कहा करते हैं। उन मनोंमें उसी एक आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ता है, जिससे सब शरीरोंका संचालन होता है, इसमें आत्मिक-बल तथा मनोबलकी शक्ति विशेष हुआ करती है, जो कि-सर्वसाधारणमें नहीं होती। मनोबलकी महिमा योगदर्शन व्यासभाष्य (४।१०)में देखिये। इसी मनोबलसे मानस-सृष्टि दक्षप्रजापतिसे पूर्व हुई। इसमें अविश्वासका कारण वादीका मानसिक-दौर्बल्य ही है।

छान्दोग्य-उपनिषद्में भी कहा है—'यं यं कामं कामयते, सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति; तेन सम्पन्नो महीयते' (८।२।१०) 'स यदि स्त्रीलोककामो भवति, सङ्कल्पादेव अस्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति' (८।२।१-९) यह बात भगवान् श्रीकृष्णकी राधाआदि बहुत सी स्त्रियोंकी प्राप्तिमें भी समझ लेनी चाहिये। स्त्रीलोकका अर्थ स्त्री-समूह होता है। गोलोककी गोपियोंका विषय भी इससे समझ लेना चाहिये।

अब वादी वादिप्रतिवादि-मान्य योगदर्शन तथा उसके व्यासभाष्यका भी मनन करें। वहां कहा है—'यदा तु योगी बहून् कायान् निर्मिमीते, तदा किम् एकमनस्कास्ते भवन्ति; अथ अनेकमनस्का इति? इसी आशङ्का पर सूत्र है—'निर्माणचित्तानि अस्मितामात्रात्' (४।४) अर्थात्—अहङ्कार-सिद्ध सङ्कल्पसे चित्त भी देह-इतने होते हैं, परन्तु नियामक चित्त एक ही होता है—'प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकचित्तम् एकम् अनेकेषाम्' (४।५) इस सूत्र पर व्यासभाष्य है—'सर्वचित्तानां प्रयोजकं चित्तमेकं निर्मिमीते, ततः प्रवृत्तिभेदः'। इसपर 'योगवार्तिक' में प्रमाण भी दिया गया है—एकस्तु प्रभुशक्त्यैव बहुधा भवतीश्वरः। भूत्वा यस्मात्तु बहुधा भवत्येकः पुनस्तु सः। तस्माच्च मनसो भेदा जायन्ते एत एव हि। एकधा तद् द्विधा चैव त्रिधा च बहुधा पुनः। योगीश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च। प्रापुन्या विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्। संहरेत्तु पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव' (४।४) पञ्चम-सूत्रके योगवार्तिकमें तो श्रीविष्णुके बहुशरीर-

निर्माणमें स्पष्टता भी की गई है—'एतेन विष्णवादीनामंशावतारा अपि व्याख्याताः। तथाहि आत्मन एकत्वेपि अंशांशिव्यवहार उपाध्योरंशांशिभावेन औपाधिको न पुनरितरजीवेष्विव स्वत एवेति'। इसका एक लौकिक दृष्टान्त भी देख लें। वादीने टेली-प्रिंटरको देखा होगा। एक शीशेकी सन्दूक होती है, उसके छेदमें जन्मपत्रीकी भांति एक कागज अपने-आप टाइप हो रहा होता है। जब उसकी पंक्ति समाप्त हो जाती है, तब वह अपने-आप ऊपर उठ जाता है। उसका सञ्चालन बम्बईसे विना तारके हो रहा होता है। वहाँ बैठा आदमी टाईप करता है। फिर अन्य सब शहरों में अपने-आप एक जैसा टाईप हो रहा होता है। यह यहाँ प्रकृतिवश होता है, पर प्रकृतिसे भी पर परमेश्वर अपने आत्मस्वरूप वा मनसे, तथा परमात्मामें एकनिष्ठ महायोगी अपने मनोबलसे उत्पन्न अनेक शरीरोंको क्रियावान् कर देता है। वैसे यहाँ भी एक मुख्य आत्मा वा मनसे अन्य शरीर भी क्रियावाले हो जाते हैं। इसमें आत्मा वा मनके टुकड़े करनेकी कोई बात ही नहीं। यह तो क्रियात्मक-योगशास्त्रकी बात नित्य-योगी श्रीराधा-कृष्णमें शङ्का है नहीं।

'श्रीमद्दयानन्दप्रकाश'के ४६५ पृष्ठमें लिखा है—'एक सज्जनने स्वा.द.जीसे निवेदन किया—भगवन्! पातञ्जलशास्त्रका विभूति-पाद क्या सच्चा है? उन्हों (स्वामी) ने कृपा की 'आप यों ही सन्देह करते हैं। योगशास्त्र तो अक्षरशः सत्य है, क्रियात्मक और अनुभव-सिद्ध शास्त्र है' (राजस्थानकांड २य सर्ग)। जब ऐसा

है, तो श्रीराधाका स्वकीय-छायानिर्माण 'पागलपन'की बात न हुई; किन्तु क्रियात्मक बात हुई। योगविद्या न माननेवाला इसे 'पागलपन'की बात कहे, यह सम्भव है।

इस प्रकार जब मुक्तात्माओंमें आत्माके विभुत्वसिद्धान्तवश, तथा योगियोंके योग-सामर्थ्य तथा सत्य-संकल्पवश अनेक शरीरोंका निर्माण हो जाता है, तो नित्यमुक्त, सत्यसंकल्प, योगेश्वरेश्वर (भाग. १०।२२।८) परमात्मा (पृ. ७) श्रीकृष्ण तथा उनकी नित्यशक्ति राधामें स्वतः योगशक्ति होनेसे उसमें निर्मूल-तर्कका उपस्थापन परमात्माकी सर्वशक्तिमत्ताका अपलाप तथा दर्शनोंसे अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है। यदि वादीके अनुसार परमात्मा भी सृष्टिनियमविरुद्ध कार्य नहीं कर सकता; तब तो वह वादीके अनुसार सृष्टिमें व्यापक भी नहीं हो सकता। क्योंकि-वादी उसे अभिन्न-निमित्तोपादान कारण तो मानते नहीं, किन्तु केवल निमित्तकारण मानते हैं; तब निमित्तकारण कार्यमें व्यापक नहीं हुआ करता। भूषणका निमित्तकारण सुनार तथा घड़ेका निमित्तकारण कुम्हार भूषण तथा घड़ेमें सर्वव्यापक नहीं होते; तब निमित्तकारण-परमात्मा भी सृष्टिरूप-कार्यमें कभी सर्वव्यापक नहीं हो सकता। यदि वह सर्वशक्तिमत्तासे निमित्त-कारण होनेपर भी सृष्टि-नियमविरुद्ध सृष्टि-कार्यमें व्यापक हो सकता है, तब वह अपनेसे निर्मित बहुशरीरोंको भी अपनी शक्तिसे सञ्चालित कर सकता है; जब योगी पुरुषमें ऐसी शक्ति प्रतिहत नहीं; तब योगेश्वरेश्वर (भागवत १०।२६।१६) श्रीकृष्ण

एवं राधामें वह शक्ति प्रतिहत कैसे हो सकती है?

वादीके श्रद्धेय स्वा. द. जीने भी 'अग्ने! सहस्राक्ष! शतमूर्धन! शतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः। त्वँ सहस्रस्य राय ईशिषे' (यजुः १७।७१) इस मन्त्रके संस्कृत तथा हिन्दीभाष्य एवं भावार्थमें कहा है— 'यो योगी तपआदि-साधनैर्योगबलं प्राप्य अनेक-प्राणिशरीराणि प्रविश्य अनेकनेत्रादिभिरङ्गैर्दर्शनकार्याणि कर्तुं शक्नोति, अनेकेषां पदार्थानां धनानां च स्वामी भवति'। 'जो योगी पुरुष तपः-स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान आदि योगके साधनोंसे योग-के बलको प्राप्त हो अनेक प्राणियोंके शरीरोंमें प्रवेश करके अनेक कार्योंको कर सकता है। जो योगी होता है, वह योगके साधनोंको प्राप्त करके सहस्रों जीवोंके शरीरमें प्रवेश कर जाता है। सहस्रों नेत्रोंसे देखना आदि चेष्टाको एक ही समय करता है, सहस्रों पदार्थोंका स्वामी एक ही समय होता है'। तब रासक्रीडामें प्रत्येक गोपीके साथ श्रीकृष्णका होना, १६१०८ स्त्रियोंका एक साथ स्वामी होना, उनके घरमें एक साथ रहना—यह श्रीकृष्णकी सत्यसंकल्पता वा आप्तकामता तथा पूर्णकामतावश सिद्ध हो जाता है, इस प्रकार उसकी नित्यशक्ति-राधाका भी अपनी दूसरी छायाका निर्माण तो क्या कठिन है? इसमें किसी दीर्घदर्शीको किसी शङ्कापङ्कमें निमग्नताका अवकाश प्राप्त नहीं, हाँ अल्पश्रुतता हो, वा अल्पज्ञता, अथवा बुद्धि संकुचित हो; वा उसमें साम्प्रदायिक-पक्षपातका आवरण हो; वा खण्डनका चसका लगा हो; तब तो क्या कहना? जैसे सृष्टिकी आदिमें अयोनिज उत्पत्ति-

वालोंकी अपनी अयोनिज-भगिनियोंसे विवाह होनेपर भी उसे दोष नहीं माना जाता; क्योंकि-उसमें भला मैथुनोत्पत्तिवाले पुरुषोंकी मर्यादाओंका बन्धन कैसे लागू हो ? वैसे दिव्य अयोनिज शरीरवाले श्रीकृष्ण-राधा तथा गोपियोंमें लौकिकमर्यादा-विरुद्ध कोई कृत्य प्रतीत होनेपर भी वहाँ लौकिक-उत्पत्ति न होनेसे मानुष-दृष्टिकोणवाला कोई भी दोष नहीं लगाया जा सकता है, नहीं तो आजकलके मनुष्योंको भी परम्परया आरम्भिक अमैथुन-योनिक स्त्री-पुरुषोंकी सन्तान होनेसे भाई-बहनके मैथुनसे उत्पन्न अतएव व्यभिचारज मानना पड़ेगा। पर जब उस अमैथुनयोनितामें यह दोष नहीं लगाया जा सकता; वैसे दिव्य-जन्मवाले श्रीकृष्ण पर भी कोई दोष नहीं लगाया जा सकता।

(१७) आगे वादी यवन आदि शब्दोंके प्रयोगसे पुराणोंको मुसलमानी वा अंग्रेज़ी जमानेमें बने हुए मानता है, यह भी उसकी अल्पश्रुतताका फल है। 'यवन' शब्द 'अष्टाध्यायी' (४।१।४९) में भी आता है, तो क्या वह मुसलमानी जमानेमें बनी ? स्वा.द.जी (स.प्र. ११ समुल्लास)के आरम्भिक—कथनके अनुसार सृष्टिकी आदिमें बनी हुई मनुस्मृतिमें भी 'यवन' शब्द (१०।४४) आया है, जो यहांकी धर्मभ्रष्टा क्षत्रिय-जातिको बता रहा है, तो क्या मनुस्मृति भी मुसलमानी जमानेमें बनी ? भगवान् कृष्णने 'कालयवन' को मरवाया था, जिसने मथुराको घेर लिया था; आश्रमों और यमुना आदि नदी-तीर्थों पर

अधिकार कर लिया था (भाग. १०।५२।५), तब क्या वह मुसलमान था, वा मुसलमानी जमाना था ? 'यवनैः सहितो राजा भगदत्तो महारथः' (महाभा. सभापर्व ५१।३) यहां भगदत्तका यवनोंके साथ राजसूययज्ञमें आना लिखा है। स्वा.द.ने स.प्र. ११ समु.के आरम्भमें यवनराजाका महाभारत युद्ध तथा राजसूययज्ञमें सेवार्थ आना लिखा है। तब क्या महाभारतका जमाना मुसलमानी ज़माना था ? आश्रमोंको अपने ही जाति-भ्रष्ट उन्हीं यवनोंने छीना हो, जिनका वर्णन मनुस्मृति तथा महाभारतमें आया है, इनमें क्या असम्भव है ? जैसे कि आजकल मद्रासमें अब्राह्मण ब्राह्मणोंकी हानि कर रहे हैं, उनकी जायदादें मठ आदि छीन रहे हैं, या फूंक रहे हैं; तब क्या वे मुसलमान हैं ? मुसलमान तो 'मौहम्मद' हैं। 'यवन' नहीं, यह वादी अवश्य याद रखें। आज अन्त्यज, द्विजोंके देव-मन्दिरोंमें प्रवेश करके उनसे उन्हें एक ढंगसे छीन रहे हैं, क्योंकि-वे अनधिकारियोंका प्रवेश हो जानेसे हिन्दुओंकेलिए नहीं रह गये। आर्यसमाजी भी वैसा करनेमें सहमत हैं, और इस मूर्तिपूजाका प्रचार करते हुए शास्त्रार्थ करनेकेलिए लंगोटी बांधकर अपने तैयार होनेकी झांकी दिखलाया करते हैं ? तब क्या वे मुसलमान हैं ? यद्यपि आजकल इन्हें यवन नहीं कहा जाता; क्योंकि यह अपनी ही प्राचीन धर्मभ्रष्ट जाति थी, कई क्षत्रिय-जातियोंको ही धर्मभ्रष्टतावश 'यवन' कहा गया था, जैसे कि-'कम्बोजा यवनाः शकाः। शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः

क्षत्रियजातयः। वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणानामदर्शनात्' (मनु. १०।४३-४४) परन्तु मुसलमान आदि जातियां वैदेशिक तथा अर्वाचीन हैं-यह 'यवन' नहीं। पुराणका काल तो द्वापर है, जो महाभारतसे पूर्व है। यहां वादीका पक्ष दुर्बल है।

(ख) स्वा.द.जीने 'तरुतारं रथानाम्'में 'तारयन्त्र'का वर्णन किया है-देखिये उनकी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (पृ. २१०)में। तो क्या वेद भी अँग्रेजी जमानेमें बने मान लिये जायेंगे, क्योंकि-तार-यन्त्रका निर्माण अंग्रेजोंने इसी शताब्दीमें विक्टोरियाके समय किया। धूम्रपानके विषयमें अमरीकन पादरीका तमाखू लाना वादी अकबरके राज्यमें कहते हैं, पर वादीके गुरु सत्यार्थप्रकाशके ११वें समुल्लासके आरम्भमें युधिष्ठिरके यज्ञमें अमेरिकाके राजा बभ्रुवाहनका आना कहते हैं-इसकी माता अर्जुनसे विवाही थी, यह पुराण-महाभारतका जमाना था। व्यासजी भी अर्जुनके इस विवाह-समयमें बारात-के साथ अमेरिका गये हों, वा अर्जुनसे ही वहां तमाखूकी लतका वृत्त सुना हो, और पुराणोंमें उसका खण्डन कर दिया हो; तब पुराण आजकलके कैसे हो जायेंगे? धूम्रवर्तिका पीना चरक-संहितामें भी आया हैं, तब वादी वेदके उपवेद आयुर्वेदको भी आजकलका बना हुआ मान लेंगे?

(ग) जो कि वादीने 'रविवारे च सण्डे च फाल्गुने चैव फर्वरी' यह अंग्रेजी-शब्द पुराणमें बताये हैं; यह वादीने भविष्य-पुराणका उद्धरण दिया है। वादी जानते हैं कि-'भविष्य' किसे

कहते हैं? सो पुराणने उस भविष्यमें आनेवाली अंग्रेजीका पांच हजार वर्ष पहले ही निरूपण कर दिया; इससे पुराणकी महत्ता सिद्ध हो जाती है, वा अंग्रेजी राज्यमें बनना? वादी वेदोंमें 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता'में सूर्य-चन्द्र आदिका वर्णन देखकर वेदको सूर्यचन्द्रके बाद बना हुआ अतएव आदिमान् मान लेंगे? तब तो स्वा.द.के अनुसार तारयन्त्रका ऋग्वेदसं.में वर्णन आनेसे विक्टोरियाके समयमें वादी ऋग्वेदका निर्माण मान लेंगे! इस तरह तो वेद पुराणसे भी पीछेके सिद्ध हुए, साधु!!!

(१८) आगे वादीने कई अप्रकृत बातें लिख डाली हैं कि-'भागवतमें १८००० पद्योंकी जगह १४१८० श्लोक मिलते हैं, ४००० श्लोक निकाल डाले गये' इससे तो वादीने अपने पक्षका खण्डन कर दिया; क्योंकि-वादी उसमें प्रक्षिप्तताएँ मानते हैं; यहां तो उल्टा न्यूनता हो गई। हां, १८००० के स्थान २०००० हो जाते; तब तो वादीका प्रक्षिप्तताका बहाना बन सकता था; अब कैसे बने? वस्तुतः आपको इस विषयमें शास्त्रीय-शैलीका ज्ञान मालूम नहीं होता। श्लोककी अक्षर संख्या ३२ होती है। तो सब अक्षरोंको जोड़कर, जिनमें पुष्पिका भी होती है, 'उवाच' भी साथ होता है, उन सबको गिनकर ३२ से भाग दें, तो वह संख्या पूरी हो जाती है। 'वृत्तरत्नाकर'में श्लोकसंख्या १३६ लिखी है, वह इसी शैलीसे पूरी होती है।

वादी लिखता है—'व्यास ऋषिने पुराणोंको बनाया' एक पागलपनकी बात है; क्योंकि पुराणमें स्वयं लिखा है—'धूर्तैः

पुराणचतुरैः हरिशङ्कराणां सेवापराश्च विहिताः तव निर्मितानाम्' (देवीभागवत) यदि वादी यह बात ठीक मानते हैं; तब क्या पुराण बनानेवालोंने ही अपने आपको 'धूर्त' लिख दिया ? यदि वादी पुराणकी बात ठीक मानते हैं; तो उनमें 'अष्टादश-पुराणानां कर्ता (वक्ता) सत्यवती-सुतः' यह स्थान-स्थान पर आता है; तब उसका एकदेशीवचन—जो निन्दार्थवादरूपसे कहा गया है-प्रत्युक्त हो जाता है। वस्तुतः पुराण अनादि हैं, प्रत्येक द्वापरमें श्रीव्यास तो उनका सम्पादन करते हैं। अनादि होनेसे ही वेदोंमें भी पुराणका निर्देश आता है। देवीभागवतका उक्त कथन देवीका प्रशंसार्थवाद है; पर वादी इन शास्त्रोंके वचनोंका रहस्य क्या जानें ? अथवा जानकर भी उन्होंने उन्हें छिपा लेना ही है। क्योंकि-उनने तो केवल खण्डन ही करना है।

(ख) आगे वादी नामकीर्तन-प्रणालीको गलत कहते हैं; और 'अपहाय निजं कर्म कृष्ण-कृष्णेति वादिनः। ते हरेर्द्वेषिणः पापाः' यह पुराणका पद्य देते हैं-यह भी कर्मका प्रशंसार्थवाद है कि-कर्म भी करो और कृष्णनामकीर्तन भी करो; पर आप इन बातोंको क्या जानें ? आपके मान्य गीतोपदेष्टा भगवान्-कृष्णने भी स्वयं 'मामनुस्मर युध्य च' (गीता ८।७)में संसारी कारोवार (युद्ध) के साथ अपना स्मरण भी आदिष्ट किया है। 'सततं कीर्तयन्तो माम्' (९।१४) कहकर भगवान् कृष्ण, कृष्णका कीर्तन भी आदिष्ट करते हैं; 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (१८।४६) में अपने कर्मका आचरण भी बताते हैं।

नाम-कीर्तन तो वैदिक है। देखिये इसपर वेदकी साक्षी—'आस्य नाम चिद् विवक्तन' (ऋ. १।१५६।३) यहां विष्णुका नाम-कीर्तन कहा है। स्वा.द.जीने भी यजुः १०।२० मन्त्रके अर्थमें लिखा है कि-'आपका जो दुःखोंसे छुड़ानेका हेतु उत्तम नाम है'। कुछ अन्य वेदमन्त्रोंकी साक्षी भी देख लीजिये—'सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि' (सामवेदसं० २०।३।४।२) यहां परमात्माका नामकीर्तन कहा गया है। 'मनामहे चारु देवस्य नाम' (ऋ. सं० १।२४।१)'मर्त्या अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे' (ऋ. ८।११।५) यहां परमात्माके नामका आम्नान-अभ्यास 'अर्थात् कीर्तन सूचित किया गया है। 'विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि' (ऋ. १०।६३।१) यहां पर परमात्माके सभी नामोंका वन्दन-कीर्तन माना गया है। 'चारु इन्द्रस्य नाम' (ऋ. ६।१०९।१४) यहां पर इन्द्रके नामकी मनोहरता मानी गई है। 'यत् ते अनाधृष्टं नाम यज्ञियम्' (यजुः ५।९) यहां नामकी अधृष्यता-दुर्दमनीयता तथा यज्ञयोग्यता बताई गई है। 'नामानि ते शतक्रतो! विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे' (अथर्व० २०।१९।३) यहाँ भी भगवान्का नाम-कीर्तन समर्थित किया गया है। अथर्ववेदसंहितामें भी कहा है—'नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात्पुरा उषसः' (१०।७।३१) यहां ब्राह्ममुहूर्तमें नामसंकीर्तन कहा गया है। 'यत् ते नाम सुहवं' (अथर्व. ७।२०।२१) 'नाम उपास्व' (छान्दोग्य ७।१।४) यहां पर नामोपासना बताई गई है। जब वेद इस प्रकार नाम-कीर्तनकी आज्ञा दे रहा है; तब वेदकी व्याख्या-रूप पुराण उससे

विरुद्ध कैसे लिख सकता है ?' तब स्पष्ट है कि-उक्त पुराणपद्य 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः' (यजुः ४०।२) इस मन्त्रमें प्रोक्त स्वकर्मानुष्ठानका प्रशंसार्थवाद है, नाम-कीर्तनका निषेधक नहीं।

(ग) आगे 'अवतारोंकी फेहरिस्त'के विषयमें वादीकी कई निकम्मी बातें हैं, उनका मूल्य उपहाससे अधिक नहीं। श्लोकोंमें छन्द आदिके कारण अवतारोंके नाम आगे-पीछे हो सकते हैं, इसलिए वहाँ कहा जाता है कि-'प्रथमद्वितीयादि-शब्दा निर्देश-मात्रापेक्षया, न तु क्रमापेक्षया'। वादी पुराणोंके निष्पक्ष पाठक बनें, यह सब बातें उनकी समझमें आजाएँगी। और जो वादीने 'पौराणिकानां व्यभिचारदोषो' 'पुराणकर्ता व्यभिचारजातः' आदि लिखा है; सो उनका नियोग भी व्यभिचार सिद्ध होगया। और यह श्लोक किसी प्राचीन मान्य-पुरुषका तो है नहीं; तब मान्य कैसे हो सकता है ? इसी तरहके श्लोक तो और लोग भी और ढंगसे बना दिया करते है जैसे-'सामाजिकानां व्यभिचार-दोषो नाशङ्कनीयः कृतिभिः कदाचित्। दयादिनन्दो व्यभिचार-जातः; तस्यानुगाश्च व्यभिचारजाताः' (देखिये शास्त्रार्थ-पञ्चक) तब क्या आप इस श्लोकको प्रमाण मान लेंगे ? शेष हैं पुराणोंके आध्यात्मिक अर्थ, सो जैसे वेदमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक अर्थ तथा समाधि-भाषा, परकीया तथा लौकिकभाषा यह तीन भाषाएँ होती हैं, वैसे पुराणोंमें भी। तब उनकी आध्यात्मिक व्याख्या भी हो सकती है। उसका उत्तर न

बन सकनेपर वैसे अर्थ करनेवालेको गाली देने लग जाना 'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते' इस लोकोक्तिका अनु-सरण करना है, और प्रत्युत्तर दे सकनेमें अपनी अशक्ति प्रकाशित करना है।

(१६) वादी यह भी लिखते हैं—'पुराणोंने एक ईश्वरके स्थानपर हजारों देवी-देवताओंकी पूजा कौममें जारी की' यह कहना अपना वेदका अनध्ययन सूचित करना है। देवता परमात्माके अङ्ग होते हैं। देखिये आपकी मान्य भगवद्गीता क्या कहती है—'इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। मम देहे गुडाकेश !' (११।७) यहाँ भगवान्‌के देहमें सब जगत्‌की स्थिति बताई गई है। उसमें 'पश्यादित्यान् वसून् रुद्रान् अश्विनौ मरुतस्तथा' (११।६) यहाँ उसी परमात्माके शरीरमें विविध देवताओंकी स्थिति बतलाई गई है। 'पश्यामि देवाँस्तव देव ! देहे' (११।१५) यहाँ भी भगवानके शरीरमें अङ्गभूत देवताओंकी स्थिति मानी गई है। 'यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अंगे गात्रा विभेजिरे। तान् वै त्रयस्त्रिंशद्-देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः' (१०।७।२७) इस अथर्ववेदसं०के मन्त्रमें भी देवता अङ्गी-परमात्माके अङ्ग बताये गये हैं। सो अङ्गीको पूजा, बिना अङ्गोंके नहीं हो सकती। आपकी ही किसीने पूजा करनी हो; तो आपका शरीर तो आप नहीं है, आत्मा ही आप हैं। सो आत्माकी पूजा होनी तो सम्भव नहीं, तब आत्माके शरीरके किसी अङ्गके द्वारा ही उसकी पूजा होगी। इसी प्रकार देवता भी अङ्गी परमात्माके

अङ्ग हैं; उन्हीं अङ्गी-देवताओंके द्वारा भगवान्की पूजा होत ी है-इस बहुदेवतावादका प्रवर्तक वेद ही है। यहाँ अवकाश नहीं कि-इस विषयको हम वेदसे प्रतिपादित करें, इस विषयमें हम वेदसे ही न्यूनसे न्यून २५ पृष्ठका मैटर दे सकते हैं; पर स्थानाभाव होनेसे हम उसे नहीं लिख रहे।

वेद स्वयं कहता है—'न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु मे अधिकामा अयंसत' (ऋ० १०।६४।२) अर्थात्—देवताओं-जैसा सुखदायक कोई अन्य नहीं, इसलिए मेरी कामनाएँ देवताओंमें हैं। 'सर्वान् स देवान् तपसा पिपर्ति' (अथर्व० ११।५।२) यहाँपर देवताओंकी तपस्या करनी सूचित की गई है। 'यजाम देवान् यदि शक्नवाम' (ऋ० १।२७।१३) यहाँ शक्ति होनेपर देवताओंकी पूजा करना बताया गया है। मनुस्मृति भी देवपूजा पर बल देती है—'नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्। देवताभ्यर्चनं चैव' (२।१७६) 'तेन मां देवाः! तपसा अवत इह' (अथर्व. १६।७२।१) यहाँपर देवताओं-से रक्षा माँगी गई है। 'प्रगायत अभ्यर्चाम देवान्' (ऋ. ६।६७।४) यहाँपर भी देवपूजा देवताओंका संगीतसे कीर्तन एवं पूजन माना गया है। 'एष ह वा अनद्धापुरुषो यो न देवान् अर्चति' (शतपथ. ६।३।१।२४, ऐतरेयब्रा. ७।२।८) यहाँपर देवपूजन न करनेवाले पुरुषकी निन्दा की गई है। 'देवान् वसिष्ठो अमृतान् ववन्दे' (ऋ. १०।६५।१५) यहाँपर वेदने देवपूजनमें वसिष्ठका उदाहरण भी दिखला दिया। वादिप्रतिवादि-मान्य भगवद्-

गीतामें तो इस विषयमें बहुत स्पष्टता है। 'देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनं शारीरं तप उच्यते' (१७।१४) यहां विद्वानोंसे भिन्न देवताओंकी पूजा करना शारीरिक-तप माना गया है। यज्ञ करना भी देवपूजा होती है, उसमें भिन्न-भिन्न देवताओंके नामसे आहुति देनी पड़ती है। उसी वेदादिशास्त्रप्रोक्त देवताओंकी पूजा पुराणोंने बतलाई है। वादी भी तो ३३ देवता मानते तथा उन्हें पूजते हैं, उनके नाम हवि तथा ग्रास देते हैं, हवनमें तथा नामकरणादिमें वादी भिन्न-भिन्न बहुत देवताओंका नाम बोलकर उन्हें हवि देकर उनकी पूजा करके वैदिक-बहुदेवतावाद को अपनाते हैं, अपना उपालम्भ भी हमें देते हैं, खूब!!! सो इसको केवल पौराणिक कहना अपना अल्प-श्रुतत्व प्रकट करना है।

(ख) जोकि वादी लिखते हैं—'परमात्माके स्थानपर महादेवका लिङ्ग (मूत्रेन्द्रिय) जनतासे पुजवा डाला' तो क्या वादी महादेवके सिरकी पूजा करेंगे-यदि हम इसकी आज्ञा दे दें? क्या वादी 'लिङ्ग'का अर्थ केवल 'शिश्न' ही जानते हैं? महादेव महान् देव परमात्मा ही तो हैं, उनका लिङ्ग ब्रह्माण्डका प्रतीक है। स्वा.द.जीने लिखा है—'परमात्माकी रचनाविशेष लिङ्ग देखकर परमात्माका प्रत्यक्ष होता है। (स.प्र. १२ पृ. २६८) सो शिवलिङ्ग शिवपरमात्माकी रचना ब्रह्माण्ड है, उसकी पूजा महादेवकी पूजा होती है। उस लिङ्गमें वादी भी तो शामिल हैं। तब महादेवके लिङ्गसे वे क्यों डरते हैं? अथवा शिवलिङ्गको

शिवका लिङ्ग तथा जलहरीको पार्वतीका 'भग' भी आप लोगोंके अनुसार मान लिया जावे, और उनके पूजनीय होनेमें शङ्का की जावे, तो उसपर वादी यह जानें कि-'जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ' गौरी-शङ्कर परमात्मा होनेसे जगत्के जननी (माता) जनक (पिता) हैं। जननी-जनकको पूजनीय कौन नहीं मानता ? वादी भी तो माता-पिताको पूजनीय मानते हैं। (देखिये स.प्र.का पञ्चायतन-देवपूजाप्रकरण) यदि ऐसा है तो उनकी पूजा किसी अङ्गके द्वारा ही तो होगी। बतलाइये कि-पिताका जनकत्व वस्तुतः किस अङ्गमें होता है ? और माताका जननीत्व वस्तुतः किस अङ्गमें होता है ? आपका उत्तर भी यही होगा कि-यही दो अङ्ग भग-लिङ्ग ही वस्तुतः जननी-जनक हैं। तब माता-पिता को यदि पूजनीय माना जाता है, और उनकी पूजा उनके किसी अङ्गकी पूजासे होती है तो उनकी वास्तविक पूजा इन्हीं अङ्गोंकी पूजासे सम्पन्न होगी। पर प्राकृत शरीर होनेसे अपवित्रतावश लोकमें इन अङ्गोंकी पूजा व्यवहारमें नहीं होती, अतः लोकमें नहीं की जाती, (छुआछूत न माननेवाले होनेसे आप लोगोंको तो इन अपवित्र-अङ्गोंकी पूजासे कोई घृणा होगी नहीं) पर जगत्के जननी-जनक पार्वती-परमेश्वर पवित्र देवता होनेसे उनके यह दोनों अङ्ग भी पवित्र हैं, अतः उनकी पूजामें भी कोई न तो दोष है, और न उपहसनीयता। यह लिङ्ग-योनि अङ्ग कहां नहीं हैं ? सर्वत्र हैं; पर मनुष्योंके इन अङ्गोंमें लज्जा मानी जाती है, अन्यत्र नहीं। इस प्रकार देवताओंके अङ्गोंमें भी कुछ

उपहसनीयता वा लज्जाकी बात नहीं; क्योंकि-वे मनुष्य नहीं। इससे वादीका 'शिवलिङ्ग-पूजारहस्य' भी प्रत्युक्त होगया।

(ग) आगे वादी लिखते हैं कि-'विदेशी-देवता विष्णु-शिव वा गणेश जो कि सर्वथा कल्पित हैं; हिन्दुओंको उनका गुलाम बना डाला' यह कहना भी गलत है। ऊपरके लोक द्यु लोक हैं, वे उच्च हैं; उनमें इन देवताओंका निवास है। हम उन्हींमें गमनार्थ जप-पाठ-तपस्या करते हैं; अतः वे हमारे लिए विदेश नहीं। विष्णु, शिव, गणेश कल्पित विदेशी-देव नहीं, किन्तु वैदिक तथा आर्य देव हैं, इस विषयमें पञ्चम-पुष्प देखिये।

नाम-कीर्तन बहुत लाभ देता है, 'यथा नाम तथा गुणः' भगवान्के गुणानुसार ही भगवान्के नाम होते हैं। नामकीर्तन करनेसे नामके उन गुणोंका हम पर भी प्रभाव पड़ता है। नामके विना तो संसारमें व्यवहार ही नहीं चल सकता। वादीने भी अपनी पुस्तकमें अपना नाम अपनी पूजार्थ ही लिखा है। नामीके साथ नामका अनिवार्य सम्बन्ध हुआ करता है। सनातनधर्म मनुष्यके नामका जप नहीं बताता; किन्तु परमात्माके नामका जप बताता है; ओंका जप भी परमात्माके नाम होनेसे ही होता है।

यह जो वादी कहते हैं कि-'महापुरुषोंका आदर्श अपने जीवनमें उतारना ही उनका भक्त होना है' यह बात वादीकी प्रायः ठीक नहीं, महापुरुषोंके भी सारे आचरण गृहीत नहीं होते। इनके महापुरुष स्वा.द.जी हैं; वे हुक्का पीते थे, भांग पीते थे,

आप क्या पी सकते हैं ? वे बाल्यावस्थामें मूर्तिपूजक रहे; तो आप अपने लड़केसे भी शिवलिङ्गकी पूजा करावेंगे न ? स्वामीजी पूर्व आयुमें संन्यासी बन गये थे; आप क्यों नहीं उनका यह आदर्श लेते ? एतदादिक वादीकी बातें केवल समयके नाशार्थ तथा साधारण-जनताको भ्रान्तिमें डालनेकेलिए हैं—इनका अन्य कुछ भी लाभ नहीं। किसी भी महापुरुषके लोकोत्तर एवं लोक-विरुद्ध चरित्र अनुकरणीय नहीं होते। शेष लोकोचित उनके चरित्रोंका सभी अनुकरण करते ही हैं। इसमें कहने-सुननेकी कोई बात नहीं। परन्तु भक्ति महापुरुषकी भी नहीं होती, किन्तु परमात्मा वा उनके अवतार वा अङ्ग किसी देवताकी भक्ति हुआ करती है। सनातनधर्म मनुष्यकी भक्ति-उपासना नहीं बताता। श्रीमाधवाचार्यजीने 'राम'का अर्थ 'विषयानन्दी' कहीं भी नहीं किया। वे तो कहते हैं कि—रमणका अर्थ क्रीडा होता है, मैथुन नहीं। अतएव सनातनधर्मी 'हरे राम हरे राम' का कीर्तन करते हैं; क्योंकि—भक्त उसमें रमण क्रीडा करते हैं। अतएव यहां 'राम' परमात्मा हैं। पर आप कहते हैं कि—नहीं, 'रमण' का अर्थ 'मैथुन' है। तब आक्षेपकर्ता आपको उन्होंने कहा कि—आपका नाम 'श्रीराम' है, तब 'रमन्तेऽस्मिन्' इसकी व्युत्पत्ति होनेसे 'लोग आपमें मैथुन करते हैं' यह अर्थ होगा क्या ? इस प्रकार वादीके सहवर्गी 'रामसहाय'जीका क्या 'मैथुन-सहायक' अर्थ होगा ? यदि नहीं; तब वादी 'हरे राम हरे राम' का गन्दा अर्थ कैसे कर सकता है ? सनातनधर्मी तो श्रीकृष्ण वा

श्रीरामके 'रमण'का वादीके अनुसार गन्दा अर्थ नहीं करते; आप लोग ही वैसा अर्थ करते हैं ? अतः सनातनधर्मियों पर तो इस विषयमें कोई दोष नहीं आता। पर वादीके नाम पर तो वही दोष सवार हो जाता है। इस प्रश्न का उत्तर वादी न दे सका; अन्तमें गाली देने पर उतर आया। यदि ऐसा अर्थ 'रमण' का नहीं; तब वादी भी श्रीकृष्ण तथा श्रीरामके विषयमें पुराणोंमें 'रमण' का अर्थ मैथुन नहीं कर सकता।

(२०) गोपियोंके वस्त्र उठानेका उत्तर पूर्व दिया जा चुका है। जो कि वादी कहता है कि—'जमुनामें स्नान करती हुई गोपियोंके वस्त्र चुराने वा उनके गुप्ताङ्गोंके नग्न दर्शन करने, उनसे मजाक करनेको यह उनका पवित्र उपदेश देना मानते हैं' (पृ. ३३)। जबकि श्रीमद्भागवत श्रीकृष्णको परमात्मा कहता है, तब क्या परमात्मा 'पश्यत्यचक्षुः' (श्वेताश्व० ३।१६) सब स्त्री-पुरुषोंकी नग्नता नहीं देख रहा ? तो क्या इससे परमात्मा पापी होता है ? वह तो पशु-पक्षियों, मनुष्यों आदि सब स्त्री-पुरुषोंकी जननेन्द्रियां देखा करता है, और उनमें रहता भी है; तब क्या वह पापी वा व्यभिचारी है ? यदि है, वा नहीं है; तब परमात्मा-श्रीकृष्णपर भी वादीका दिया दोष व्यर्थ है। मानुषी-दृष्टिसे भी उस समय श्रीकृष्णकी आयु ६–७ वर्षकी थी, व्रजबालाओंकी भी यही आयु थी—यह हम पूर्व बता चुके हैं; तब इसमें वादीके सब आक्षेप कट जाते हैं। इस बाल्यावस्थाकी नग्नता कोई मायने नहीं रखती। बल्कि—वहां तो लिखा है—

'बद्ध्वांऽजलिं मूर्ध्नि अपनुत्तयेंऽहसः, कृत्वा नमोऽधो, वसनं प्रगृह्यताम्' (१०।२२।१६) इसका अर्थ है—'अधः अधस्ताद् भूमौ नमः कृत्वा—नीचे भूमिपर झुककर जलदेव वरुणको माथेमें अञ्जलि जोड़कर नमस्कार करो, जिससे तुम लोगोंका जलमें वरुणदेवकी उपस्थितिमें उनकी अवहेलना-स्वरूप नग्न-स्नान करनेका पाप मिट जावे; और अपने वस्त्र ले लो'। इस पद्यका अन्वय यह है—अंहसः अपनुत्तये, अधः [भूत्वा] मूर्ध्नि अञ्जलिं बद्ध्वा, नमः कृत्वा, [स्वकीयं] वसनं प्रगृह्यताम्'। तब भूमिपर झुककर जलदेव-वरुणके आगे-जिसे वेद भी मानता है—'यासां [अपां] राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्' (ऋ.सं. ७।४९।३) [इस मन्त्रका देवता 'आपः' है] नमस्कार करो, क्योंकि-तुमने नग्न स्नान करके उस वैदिक-देवता जलदेव वरुणकी अवहेलना की है, जैसे कि—श्रीमद्भागवतमें कहा है—'यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतैतत् तदु देव-[वरुण]हेलनम्' (१०।२२।१९) सो नमस्कार करनेसे वह जलदेव वरुण तुम्हारा अपराध क्षमा कर देगा। यही बात वेदमें भी स्पष्ट शब्दोंमें कही है—'यो मृलयाति चक्रुषे चिद् आगो वयं स्याम वरुणे अनागाः' (ऋ.सं. ७।८७।७) अर्थात् जो वरुणदेव अपराध करने वाले पर भी नमन करनेसे मृलयाति-दया करता है; हम उस वरुणदेवमें निरपराध हों, यह उस वरुणदेवसे प्रार्थना करें'। सो उस प्रकरणमें 'कुमारिकाः [भाग. १०।२२।१) दारिकाः [१०।२२।१७] 'कुमार्यः' (१०।२२।५) यह शब्द वहां 'छोटी लड़कियां' बतला रहे हैं कि—वह युवतियां नहीं थी, तब इसपर वादीकी की हुई आलोचना उसीके अपने दुर्भावको सूचित कर रही है, प्रकरणमें कोई ऐसी बात नहीं। कोई इसमें छल वा अनुचित व्यवहार भी नहीं है। इधर वहीं श्रीकृष्णको 'योगेश्वरेश्वर' (१०।२२।८) कहकर परमात्मा कहा है; तब इसमें अनौचित्य क्या है ? आशा है, यहां वादी अपनी भूल समझ गया होगा। अब वादी बतावे कि—यह पवित्र प्रेमका प्रतीक है ? या वादीके शब्दोंमें 'हरामखोरी' ? जैसी वादीकी बुद्धि होगी, वह वैसा ही उत्तर बताएगी। थोड़ी देरकेलिए मान भी लिया जाय कि—गोपियोंका श्रीकृष्णमें 'काम' था; और श्रीकृष्ण उस कामका 'वर्धन' करते थे, इसपर उत्तर पूर्व दिया जा चुका है। श्रीकृष्ण 'हृषीकेश' (गीता २।१०) थे—'इन्द्रियोंके स्वामी' इन्द्रियां उनके वशमें थी। वे संयमी थे, उनका 'काम' तो गोपियोंमें नहीं था। वे गोपियोंके 'अनङ्गका वर्धन' वस्तुतः 'छेदन' करते थे, जैसे कि—'नाभिवर्धन' (मनु. २।२९) का अर्थ 'नाभिछेदन' होता है, 'दिया बढ़ा दो' का अर्थ 'दीया बुझा दो' है, वैसे यहां भी 'कामका छेदन' अर्थ है। 'वर्ध छेदनपूरणयोः' इस 'वर्ध' धातुका 'छेदन' अर्थ भी प्रसिद्ध है। इस विषयमें स्पष्टता पूर्व की जा चुकी है।

(२१) डा. श्रीरामजीके निबन्धका सर्वाङ्गीण, प्रत्यक्षर, प्रत्युत्तर समाप्त हो चुका; अब उनके आरम्भिक 'चैलेञ्ज' में स्थित आलोचनासे बची हुई दो-तीन बातों पर कुछ लिखकर इस

निबन्धको समाप्त किया जाता है। वे यह हैं—'सनातनी विद्वान् हमको गालियां देना, मुर्दोंके नामपर जनताको ठगकर मृतक-श्राद्ध खाना, ईश्वरावतारके नामपर भोले हिन्दुको सर्व-व्यापक परमात्मासे विमुख बनाना, अथवा जड़ मूर्तियां पुजवाकर मनुष्योंमें मूर्खताका प्रचार करना और ईश्वरपूजाके नामपर योनि-लिङ्गकी पूजा करना ही सीखे हैं, उन्होंने धार्मिक साहित्य-का विधिवत् स्वाध्याय नहीं किया है'।

(क) इस पर निवेदन यह है कि-यह जितने भी आक्षेप किये गये हैं; वे सनातनी-विद्वानों पर नहीं किये गये हैं, किन्तु वेदादि धार्मिक-साहित्यपर किये गये हैं; क्योंकि वादीने वेदादि-शास्त्रोंका विधिवत् पर्यालोचन किया हुआ मालूम नहीं होता। हमने इसपर विवेचन अपने इस 'श्रीसनातनधर्मालोक' महा-ग्रन्थमें यत्र-तत्र किया है। यदि वादी इस ग्रन्थमालाको मँगाकर देखे, तो उसके यह सभी भ्रम दूर हो सकते हैं। योनि-लिङ्ग-पूजाका संक्षिप्त उत्तर इस निबन्धमें पूर्व दिया जा चुका है। मृतक-श्राद्ध तथा मूर्तिपूजा यह दोनों सिद्धान्त वेदादिशास्त्रोंसे अनुगृहीत तथा तर्कसे सिद्ध हैं। कोई भी सम्प्रदाय इनसे छूट नहीं सका है। वादीका सम्प्रदाय भी इनसे नहीं छूटा। मृतकके नामसे जो कुछ अन्नदान-विद्यादान आदि किया जाता है, वह सब 'मृतक-श्राद्ध' होता है। वादी लोग मृतक-दयानन्दके नामसे जो विद्यालय, गुरुकुल आदि खोलते हैं; उनके नामसे जो एक बड़ी दुकान (आ.स.) खोल रखी गई है, उसमें मृतक-स्वामीके

इष्ट वेदप्रचारके नामसे जो धन खींचा जाता है, यह सब दयानन्दकी आत्माकी तृप्तिकेलिए होनेसे मृतक-श्राद्ध है। दयानन्द एक शरीर था; वह मर चुका। वादी लोग जो कि अपनी संस्थाओंका उस मुर्दा-दयानन्द से अभी भी सम्बन्ध जोड़े हुए हैं; उसका जो स्थान-स्थान गुणकीर्तन करते हैं, उनकी पुस्तक स०प्र०के कई प्रकारके संस्करण निकालकर वेदके समान, बल्कि उससे भी बढ़कर उसे मान दे रहे हैं, यह सब मृतककी उपासना होनेसे वादी लोग अपने आपको प्रेतपूजक-मुर्दापूजक सिद्ध कर रहे हैं; अथवा यदि मृतक-दयानन्द के आत्मा से सम्बन्ध रखकर वे यह सब कृत्य श्रद्धासे कर रहे हैं; तब भी वे मृतक-श्राद्धके सिद्धान्त वाले स्वतः ही बन गये।

जितनी डी. ए. वी. संस्थाएँ हैं; तथा दयानन्द-मठ आदि हैं; जो दीपमालाके दिन दयानन्दनिर्वाणोत्सव आदि करते हैं; यह सब मृतकश्राद्ध हैं। मृतकके नामसे दूसरेको अन्न देना, विद्या देना, मृतकको स्मरण करना, मृतकको श्रद्धाञ्जलि देना, मृतकके उपलक्ष्यमें हवन करना, उस दिन उपदेशकोंको खिलाना-पिलाना यह सब मृतक-श्राद्ध ही है। अपने ग्रामोंमें वार्षिकोत्सव वाले दिन वादी जो 'ऋषि-लंगर' खोलकर बाहरसे आये हुए विद्वानोंको, उपदेशकोंको तथा जनताको भोजन खिलाते हैं, यहाँ वादी 'ऋषि' मृतक दयानन्दको ही कहते हैं; सो उस मृतक-ऋषिके नामसे 'लंगर' खोलकर जो दूसरोंको अन्न जिमाते हैं। जो कि पुस्तक बनाकर मृतक-दयानन्दको अपनी श्रद्धाका प्रतीक अर्पण करते

हैं, देखिये-आर्यसमाजी विद्वान् श्रीचन्द्रमणि-पालीरत्नका निरुक्तकी भूमिकामें स्वा.द.जीको अपनी पुस्तकका समर्पण; तथा दयानन्द-जन्मशताब्दीमें आर्यप्रतिनिधिसभा पंजाबका ऋषि-तर्पणार्थ 'वेदामृत'-प्रकाशन आदि; तथा गुरुकुलमें पुत्रका मृतक-पिताके नामसे कमरा बनवाना-चाहे वादी लोग कितना मुकरें-यह सब मृतक-श्राद्ध ही है। वादीके 'ऋषि' ही संस्कारविधिके अन्तमें आदेश दे गये हैं कि-'मरे-पीछे उनके सम्बन्धी'' जितना धनदान करें, बहुत अच्छी बात है' सो वह मृतकके नामसे पुत्रादि-द्वारा दिया जाता हुआ धनदान भी यदि मृतक-श्राद्ध नहीं; तो 'किमाश्चर्यमतः परम्'। यह तो 'यावज्जीवमहं मौनी' न्यायकी चरितार्थता है। इससे जो मृतकके आत्माका तर्पण होता है—वही तो मृतक-श्राद्ध है।

मृतककी आत्माकी शान्त्यर्थ सब आर्यसमाजियोंका मिलकर प्रार्थना करना वा प्रस्ताव पास करना-यह सब मृतक-श्राद्ध ही तो है। जब वादी मृतक-दयानन्दमें बड़ी श्रद्धाका व्यवहार करके उन्हें अपनी श्रद्धाञ्जलि देते हैं, गांधीजीको उनके भक्त सूताञ्जलि देते हैं-यह सब मृतक-श्राद्ध है। मृतक-श्राद्धसे अथर्ववेदसं.का सारा १८वाँ काण्ड, तथा ऋ.सं. तथा यजुर्वेदसं.के भी बहुत सूक्त भरे पड़े हैं, पर अपनी जमातका पक्षपातका आवरण यह सब देखने नहीं देता; अतः मृतक-श्राद्ध पर आक्षेप व्यर्थ हैं। वे वेचारे ब्राह्मण-जिनपर वादी आक्षेप करते हैं-श्राद्धके दिन कितना खा जाते होंगे, पर वादी लोग तो मुर्दा-दयानन्दके नाम

पर (क्योंकि दयानन्द तो अब मर चुके) एक बड़ी दुकान खोलकर जनताका लाखों रुपया डकार जाते हैं—यह उनका मुर्देका श्राद्ध है। निमित्त होता है वेदप्रचारका; पर केवल ब्राह्मणों-सनातनधर्मियोंको पोप-पाखण्डी आदि सैंकड़ों गालियाँ निकाल देना ही वेदप्रचार हो जाता है-और वह रुपया बड़े सुन्दररूपसे अपने वा अपनोंकी 'पेटशालाका चन्दा' बना दिया जाता है। यह बात वादियोंकी बिल्कुल ठीक है कि-'हिन्दु भोला है'। तभी तो वह अपनेको गाली देनेवालोंको भी बड़ी-बड़ी बिल्डिंग्ज़ बनवा देता है। वह नागपञ्चमीमें अपने शत्रु 'नाग'की भी पूजा करता है।

(ख) शेष रही मूर्तिपूजा; सो सर्वव्यापक परमात्माकी उपासना कर सकना, देवपूजा तथा मूर्तिपूजाके प्रकारके बिना सम्भव ही नहीं। वादी सन्ध्यामें भगवान्का ध्यान करते हैं और भगवान्को फिर सर्वव्यापक मानते हैं; तो जब वे 'प्राचीदिगग्निः' मन्त्रसे उस सर्वव्यापकको 'पूर्व' दिशामें पधराते हैं; तो उन्होंने भी उसे मूर्तिकी भांति एक दिशामें बाँध दिया-सो यह स्पष्ट मूर्तिपूजा हुई। इस प्रकार जब 'दक्षिणा दिक्' मन्त्रसे उनने उस सर्वव्यापकको दक्षिण दिशामें प्रतिष्ठित किया; तो यह भी मूर्ति-पूजा ही होगई; क्योंकि-अपने ध्यानके समय तक उन्होंने उसे दक्षिण दिशामें बाँध दिया। इस प्रकार 'प्रतीची दिग्'में जब वादियोंने परमात्माका पश्चिममें मनसा-परिक्रमा-द्वारा ध्यान किया; तब उस सर्वव्यापकको मूर्तिकी भांति एकदेशी बना दिया,

या नहीं ? इसी तरह 'उदीची दिक्'में भी वही बात हुई।

वादी जब सन्ध्या (भगवान्का ध्यान) करने बैठे, तब उन्होंने एक दिशाकी ओर ही मुख क्यों किया ? एक साथ ही सब दिशाओंकी ओर एकदम ही मुख क्यों नहीं किया ? परमात्मा तो सब दिशाओंमें था। वादियोंने परमात्माके ध्यान-के अवसर पर एक दिशामें मुख क्यों किया ? क्या परमात्मा उसी एक दिशामें था; अन्य दिशाओंमें नहीं ? यदि वादी चर्खी-की भांति कोई यन्त्र लगाकर 'सर्वतोमुख'की उपासनार्थ चारों ओर घूमते भी रहें, तब भी उनका मुख एक ओर ही रहा, सर्वव्यापक नहीं रहा। तब वे उस सर्वव्यापककी पूजा, विना मूर्तिपूजाके प्रकारके कर ही नहीं सकते। यदि वादी कहें कि-हम एकदेशी हैं, सर्वव्यापक नहीं; तब उसकी सर्वव्यापक पूजा कैसे कर सकते हैं ? तब होगई यह उनकी भी 'मूर्तिपूजा' क्योंकि-जब हम-आप सर्वव्यापक नहीं; तव उस सर्वव्यापककी सर्वव्यापक उपासना कभी कर ही नहीं सकते। तब अगत्या वादियोंको उपासनार्थ परमात्माको एकदेशमें-चाहे थोड़ी देरके-लिए ही सही—रखना ही पड़ेगा। यह एकदेशमें उसे रखकर, एकदेशमें ही स्वयं स्थित होकर उसकी पूजा-ध्यान करना यही तो मूर्तिपूजा है।

यदि वादियोंने उसे अपने मन-मन्दिर में प्रतिष्ठित कर उसका ध्यान किया; तो यह भी स्पष्ट मूर्तिपूजा है; क्योंकि—इनका हृदय सर्वव्यापक नहीं, किन्तु सीमित है, जड़ है। उस

शरीरके काम-क्रोधादि वा रक्त, मज्जा, हड्डी आदि विकारवाला एवं अपवित्र होनेसे उसकी अपेक्षा एक निर्विकार प्रस्तर आदि-केन्द्रमें प्रतिष्ठित करके उसमें महान् देवकी पूजा करनी अधिक उत्तम है। जड़से डरनेकी आवश्यकता भी नहीं; क्योंकि-जड़में भी वही चित्शक्ति व्यापक है। हमने उसीका उद्देश्य करना है। पूर्वपक्षियोंका मन जिससे वे ध्यान करते हैं, वह बुद्धि जिससे उसे विचारते हैं, शेष प्रकाश आदि सभी बाह्य वस्तुएँ जिनका वे सदा आश्रय लेते हैं, यह भी सभी जड़ हैं। इनकी उपासनासे वादी जड़ नहीं हो जाते; अतः उन्हें मूर्तिपूजासे भी जड़ हो जानेकी आशङ्का छोड़ देनी चाहिये। यह प्रकृतिका सारा संसार ही जड़ है। इसमें रहकर कोई भी जड़से छूट नहीं सकता। तव 'जलमें रहकर मगरसे वैर' कैसे किया जा सकता है ? यदि वादी अपनी आधारभूत प्रकृतिको सर्वथा छोड़ बैठेंगे; तो वे स्वयं भी न रह जावेंगे। छोड़ देखें वे प्रकृतिके इस अपने शरीर-को, मन को, जीभ को। यदि नहीं छोड़ सकते, बल्कि-उसीके द्वारा उस चित्-शक्तिकी उपासना करनेमें सक्षम हो सकते हैं, वैसे मूर्तिपूजामें भी समझें। वादी परमात्माका ध्यान करते हुए प्रकृतिकी किसी भी मूर्तिसे छूट नहीं सकते। प्रत्येक दशामें उन्हें किसी प्रकृतिकी मूर्तिको-चाहे वह पृथिवी हो वा आकाश, उस चेतन शक्तिका केन्द्र उपासनार्थ बनाना ही पड़ेगा, यही तो होती है मूर्तिपूजा। आपने उस मूर्तिमें सर्वव्यापक, उसके परमाणु-परमाणुमें व्यापक परमचेतन-आत्माकी उपासना करनी है।

सो वह मूर्ति चेतन-सी हो जाती है।

जैसे हमारे चेतन-आत्माके प्रतिबिम्बसे हमारे आँख, कान, हाथ-पाँव आदि जड़ होते हुए भी चेतनसे हो जाते हैं; वैसे मूर्तिकी प्राणप्रतिष्ठामें भी समझें। 'भावे हि विद्यते देवः' परमात्मा भी तो हमारे भावमें है। यदि हममें भाव नहीं; तो परमात्मा भी नहीं। अतः प्रतिष्ठित-मूर्तिमें भी उसके अणु-अणुमें व्यापक आत्मशक्तिकी भावना न रखना एक भारी नास्तिकता है। जिसमें इन्द्रियोंका विकास जितना कम होता है, जितना विकार कम रहता है, उसमें चेतनता भी कम अभिव्यक्त रहती है, पर होती अवश्य है, तभी तो पातञ्जल-महाभाष्यमें कहा है—'सर्वस्य वा चेतनावत्त्वात्' (३।१।७) ऐसा न मानना तो परमात्मा-की सर्वव्यापकताके सिद्धान्तसे मुकरना है। फलतः इस मार्गके अन्त तक अपनी ज्ञानचक्षु वा दूरदृष्टि पहुँचाने पर वादीको मूर्तिपूजा-सिद्धान्तकी सत्यता प्रतीत हो जाएगी।

वादियोंने सन्ध्या समाप्त की, और 'नमः शम्भवाय' यह नमस्कार-मन्त्र बोलकर परमात्माको अन्तिम नमस्कार की; तो वह माथा तो उन्होंने अपने सामनेकी किसी जड़ दीवारके आगे टेका, वा जड़ पृथिवीके, वा तेजके, वा सामनेके आकाशके आगे अपना जड़ माथा टेका; यह सभी वस्तुएँ जड़ हैं। वादियों-ने इन जड़ मूर्तियोंके द्वारा उस सर्वव्यापकको नमस्कार की; तो यह स्पष्ट मूर्तिपूजा ही सिद्ध हुई। यदि वे कहें कि—हमारे नमस्कारका लक्ष्य तो उनमें व्यापक परमात्मा था; जड़ दीवार

आदि लक्ष्य नहीं थी; तो महाशय! हो न गई यह आपकी मूर्तिपूजा! मूर्तिपूजामें भी तो नमस्कार वा पूजाका लक्ष्य पत्थर नहीं होता, किन्तु परमात्मा ही होता है, पत्थर तो केन्द्र होता है। आप लोग जो ला० लाजपतरायकी मूर्ति पर १७ नवम्बरको फूलमाला डालते हैं; वहाँ सम्मान उसी हस्तीका होता है; उस बुत्तका नहीं। इस प्रकार मूर्तिपूजामें भी समझ लें।

वादीके सम्मानार्थ उनके गलेमें किसीने फूलोंका हार डाला। प्रश्न है कि—उसने यह आपके लहू वा नसोंसे मिले गलेकी पूजा की; वा उसमें व्यापक आत्माकी? यदि गलेकी; तब उसने जड़की पूजा की। यदि आत्माकी पूजा की; तब आत्मापर उसने पुष्पमाला क्यों न डाली, क्यों गलेमें डाली? उत्तर होगा कि—अङ्गीकी पूजा, बिना किसी अङ्गके हो ही नहीं सकती, अतः उस अङ्गी आत्माकी पूजा वा प्रसन्नतार्थ उसके एक अङ्ग गलेको पूजाका केन्द्र बनाया गया। साकार अङ्गपर साकार पुष्पमाला चढ़ी, और निराकार अङ्गी पर पूजककी निराकार श्रद्धा चढ़ी। बस, जरा वादी मूर्तिपूजाके सूक्ष्म सिद्धान्त पर गम्भीर तथा सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि डालें; तब उनको इस सिद्धान्त पर श्रद्धा होगी। फिर 'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजुर्वेदसं. १६।३०) श्रद्धासे वादीको सत्यकी प्राप्ति होगी; तब सूर्यपूजारूप मूर्तिपूजा करते हुए 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योऽसौ आदित्ये पुरुषः सोऽसौ अहम्' (यजु. ४०।१६) 'तत् त्वं पूषन्! अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये' (ईशोप. १७) उस हिरण्यमूर्ति-सूर्यमें वादीकी दृष्टिसे

सुवर्णमूर्तिके आवरणको हटाकर वे 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' भगवान् दर्शन देकर सफल-काम करेंगे। खण्डन-व्यसनिता तथा गालियाँ देना छोड़कर वादी दूसरोंके दृष्टिकोणका गम्भीर मनन करना सीखें, कीर्तनमें जिसका गीतामें 'सततं कीर्तयन्तो मां' (९।१४) 'स्थाने हृषीकेश ! तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यति, अनुरज्यते च। रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति' (११।३६) इत्यादि स्थलोंमें वर्णन आता है, जिस कीर्तनसे निन्दक सब लोग भाग जाते हैं—वे निन्दक उस भक्तकी वेद्यान्तर-स्पर्शशून्य तन्मयता 'तद्बुद्ध-यस्तदात्मानः, तन्निष्ठाः, तत्परायणाः' (गीता ५।१७ 'तद्भावभावितः' ८।६) का वादी सूक्ष्म अध्ययन करें, तब उन्हें उसका लोकोत्तर-चमत्कारक रस आएगा; पर उसको न समझकर 'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते' इस न्यायसे 'सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्। निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः' इस कथनसे दीवार, काठ एवं पत्थर बनकर भक्तों पर हंसी उड़ाना तथा उन्हें गालियाँ देना—यह अपनी असहृदयता एवं जड़ताका नग्न प्रदर्शन करना है। 'काव्यालापाश्च ये केचिद् गीतकान्यखिलान्यपि। शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः' इस विष्णुपुराणके वचनानुसार भक्ति-सम्बन्धी सुरीली तानें, तालियाँ बजाना आदि तन्मयताके साधन तथा चिह्न होते हैं। भक्त उस समय अपने आपको भी भूल जाता है, पर जो भक्ति-रससे शून्य एवं शून्य-हृदय तथा 'बिह्लणो वृषणायते' का निदर्शन हो; उस आक्षेपमात्र-शूरको उसमें क्या आनन्द आ सकता है ?

उसे उन आनन्दसे विभोर भक्तोंके अन्तस्तलका क्या पता लग सकता है ? उसने तो अंगूरों तक पहुँच न पानेसे 'अंगूर खट्टे हैं' यह कहना ही होता है; जिससे अपनी ही उपहास्यता सिद्ध हो जाती है। तालियाँ बजाना शास्त्रीय भी है—'अस्त्राय फट्' कहकर ताली बजाई जाती है, इससे पाप दौड़ जाते हैं।

वादी परमात्माको तथा उसके ज्ञानको निराकार तथा अनन्त मानते हैं; पर उस निराकारके निराकार-ज्ञानकी भी साकार अक्षरमूर्ति बना डाली गई और उस अनन्त ज्ञानके चार वेद, चार मन्दिर बनाकर उस अनन्तको उन चार मन्दिरोंमें सीमित कर बन्द कर दिया, और उन मन्दिरोंमें प्रवेश करके निराकार अक्षरोंकी साकारमूर्ति बनाकर उनकी उन्होंने उपासना भी कर डाली, और उस साकारमूर्ति-अक्षरकी उपासनासे वादियोंने निराकारका अनन्त ज्ञान भी प्राप्त कर लिया। सो जब उस निराकारके अनन्त एवं निराकार ज्ञानको जड़-अक्षररूप मूर्तिकी उपासनासे वादियोंने प्राप्त किया; क्या उन्होंने यह मूर्तिपूजा नहीं अपनाई, और उसका फल प्राप्त नहीं किया ? अनन्त एवं अग्राह्य ज्ञानको सीमामें एवं अक्षरमूर्तिरूपमें लाकर उसको ग्रहण करना, उसकी उपासना करना, यह मूर्तिपूजा है। वादी कितना भी जोर क्यों न लगावें, वे मूर्तिपूजासे नहीं छूट सकते। यदि वादी इससे अपने आपको मूर्तिपूजक नहीं मानते, तो निराकार वेदको वे निराकार ही रहने दें, उसको मूर्तियों—वेद पुस्तकोंको उनकी संस्थाको छपवानेका, उनकी पठनरूप उपासनाका उन्हें कोई अधिकार

नहीं।

स्वा०द०जीने स०प्र०के ११ वें समुल्लासमें सिक्खोंके ग्रन्थ-साहिबके सम्मानके उपलक्ष्यमें यह शब्द लिखे हैं—'किसी जड़ पदार्थके सामने सिर झुकाना वा उसकी पूजा (सम्मान) करना (जैसे ला० लाजपतराय आदिकी मूर्ति पर पुष्पमाला चढ़ाना) सब मूर्तिपूजा है। (पृ० २३०) जब ऐसा है, तब श्राद्ध और मूर्ति-पूजा सभी सम्प्रदायोंमें सिद्ध हुए। तो फिर उसी श्राद्ध एवं मूर्ति-पूजा पर आक्षेप करना 'यावज्जीवमहं मौनी' 'मम मुखे जिह्वा नास्ति' इन न्यायोंका ही अनुसरण करना है। वस्तुतः उस सर्व-व्यापककी हम-आप एकदेशी लोग सर्वव्यापी पूजा-उपासना कभी कर भी नहीं सकते। हमारी परिमित-वाणी उस अनिर्वच-नीयको वर्णित वा स्तुत भी कभी कर नहीं सकती। हमारा सीमित-मन भी उस असीमितमें नहीं पहुँच पाता। कहा भी है—'न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग् गच्छति, न मनः, नो विद्मो न विजा-नीमः' (केनोप० १।३)। तब जो भी और जैसी भी हम-आप एक-देशी जन, उस सर्वव्यापककी एकदेशी पूजा करेंगे, वह सब 'मूर्तिपूजा' ही होगी। वादी निराकार-अक्षरकी साकार-मूर्ति बनाकर उसे एक 'ट्रैक्ट' बनाकर उस अक्षरकी उपासना-द्वारा अपनी समझमें जनतामें मूर्खताका प्रचार कर रहे हैं, या विद्वत्ताका? जो वे इसका उत्तर देंगे, वही मूर्ति-पूजामें हमारा होगा।

वादियोंके स्वामीजी 'आर्याभिविनय'में दर्शनीय-परमात्माको

गुर्चके रसका भोग लगाया करते हैं, और वादी लोग हवनमें 'सोमाय स्वाहा, वरुणाय स्वाहा, यमाय स्वाहा' आदि बोलकर अग्निमें आहुति देते हैं, यह सब नाम वादियोंके मतमें परमात्माके हैं, सो वादी भगवान्‌को मोहन-भोग आदि वस्तुओंका भोग लगाकर अच्छी-खासी मूर्ति पूजा कर रहे हैं; और आक्षेप करते हैं इससे सनातनधर्मियों पर! यह कैसा न्याय है!!!

(ग) इस प्रकार उस सर्वव्यापकका विशेष स्थान पर प्रकट हो जाना ही अवतार होता है। भगवान् 'अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्ति-वाम्॥ मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा' (अथर्व. ३।३०।२-३) इस अपने वेदोपदेशको मूर्तरूप देनेकेलिए—श्रव्य-काव्यको दृश्य बनानेकेलिए स्वयम् आदर्श बनकर जनताको उसपर आचरणार्थ प्रोत्साहित करते हैं; क्योंकि—वेदरूप श्रव्य-काव्यकी अपेक्षा दृश्य-काव्य अवतारका भारी प्रभाव पड़ता है। तभी तो वह परमात्मा 'अग्निमीले पुरोहितं' (ऋ. १।१।१) यहां स्वयं भी उत्तम पुरुष-देकर अपनी अग्निपूजा दिखलाके हमें तदर्थ प्रोत्साहन देता है।

मालूम ऐसा होता है कि—अवतार अयोध्यासे लंकामें जा रहा है, लङ्कासे अयोध्यामें आ रहा है, वस्तुतः यह सिनेमाके चित्रोंकी भान्ति मायामात्र है। चलचित्रके चित्र चलते-भागते हुए मालूम देते हैं, वस्तुतः वैसा नहीं होता। उसी समय हजारों चित्र हमारे सामने आजानेसे हमें उनका चलना, आना, दौड़ना,

ठहरना मालूम होता है, वैसे यहां भी समझ लें। मालूम होता है कि—अमुक व्यक्ति घड़ेके आकाशको भगाये जा रहा है, वस्तुतः घड़ेका आकाश भाग रहा नहीं होता, वह वैसाका वैसा ही कूटस्थ होता है। घड़ा इधर-उधर ले जानेसे हम उसके आकाशको भी दौड़ रहा हुआ समझते हैं।

फलतः वादी अपने इन आक्षेपों पर यदि गम्भीरतासे हमारे कहे प्रकारसे विचार करेंगे; तब उन्हें अपने किये हुए आक्षेप निःसार प्रतीत होंगे, यह हमारा विश्वास है, पर शर्त यह है कि—वे अपने पक्षके पक्षपातका आवरण हटाकर निष्पक्ष-दृष्टिकोणको अपनावें—'तत् त्वं पूषन् ! अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये' (ईशोप.) तब वादीको उस 'सत्य'के दर्शन हो जावेंगे। फिर उन्हें गालियां देकर सनातनधर्मियोंके चित्तको दुखानेकी आवश्यकता न रह जावेगी।

श्रीराम-महाशयके मुख्य आक्षेपोंका हमने वेदशास्त्रादिके अनुसार परिहार कर दिया है, तब 'सारे दुराचारोंकी जड़ इस सड़ातन (?) धर्ममें मिट्टीका तेल लगाकर आग लगा देनी चाहिये, ऐसे पाखण्डी सनातनी पोप-पण्डितोंकी शक्ल देखना भी पाप समझना चाहिये, जो पुराणों वा कीर्तनका प्रचार करके भोली हिन्दुजातिमें अधर्मका प्रचार करते हैं। जब तक इस धर्मके ठेकेदार-उपदेशकोंकी अक्ल दुरुस्त नहीं की जावेगी; यह जनताको गलत मार्गपर डालनेसे बाज़ नहीं आवेंगे' इत्यादि वादीके ज़ो गालियोंके जंकशन जारी हुए हैं, वे उन्होंने अपने

दादागुरु स्वा.द.जीके अपने पञ्चम वेद—स.प्र.-से सीखे हैं। हम धन्यवादके साथ 'त्वदीयं वस्तु हे धीमन् ! तुभ्यमेव समर्पये' के अनुसार उन्हींको समर्पण करते हैं।

(२२) यह हमारा निबन्ध छप ही चुका था कि-हमें श्रीरामसहायजी-जो अपने-आपको भूतपूर्व-वल्लभमतानुयायी बताते हैं; और अब आर्यसमाजी उपदेशक हैं—का 'राधाका रहस्य' (द्वि.सं.पृ. १८) निबन्ध मिला। इसमें प्रायः डा० श्रीराम-वाली ही बातें हैं, अतः पृथक् उत्तरणीय बात कुछ नहीं। इतना है—जहां डा० श्रीराम राधाके पक्षके थे, और श्रीकृष्णके विपक्ष रहे, वहां यह रामसहायजी श्रीकृष्णके तो पक्षके रहे, और राधाके विपक्षमें हो गये हैं। सो इसका सर्वाङ्गीण-उत्तर हम पूर्व दे ही चुके हैं। श्रीरामसहायजीने पृ. १६ तक तो प्रायः सभ्यता रखी है, पर १७-१८ पृ. में पं० माधवाचार्यजीके विषयमें अपनी गम्भीरताको खोकर अपनी असभ्यताका परिचय दिया है। अस्तु—एक-दो बातें इन्होंने नई भी लिखी हैं, उनमें एक है ब्रह्मवैवर्तका गोवधादि, दूसरी बात है—साम्बको देखकर श्रीकृष्णकी १६ सहस्र स्त्रियोंके जघन स्रुत होना, और वेश्याओं-के उद्धारका प्रकार। इन दोनों बातोंको अन्य आर्यसमाजी भी बड़े संरम्भसे दिया करते हैं। इनमें पहली बातका उत्तर तो इस निबन्धमें पृ. ४१७ से ४३६ पृ. तक हम दे चुके हैं; शेष दूसरी बातपर हम विचार-उपस्थित करते हैं। इनका भी हम 'वादी' नामसे उल्लेख करेंगे।

वादीने भविष्य-पुराणके उत्तरपर्वके १११ अध्यायसे 'मम पत्नीसहस्राणि सन्ति पाण्डव ! षोडश। तं दृष्ट्वा सुन्दरं साम्बं सर्वाश्चुक्षुभिरे स्त्रियः। स्वभावतोऽल्पसत्त्वानां जघनानि विसुस्रुवुः' यह पद्य आक्षेपार्थ दिया है। इसका अर्थ वादीने नहीं दिया है, पर दूसरे आर्यसमाजी अर्थ देनेमें नहीं चूके। श्रीदेवेन्द्र-सांख्य-तीर्थने लिखा है—'साम्बकी सुन्दरताको देखकर उन स्त्रियोंकी धोतियें खराब हो गईं'। ठाकुर-अमरसिंहजीने साथ यह श्लोक भी लिखा है—'ब्रह्मचर्येपि वर्तन्त्याः साध्व्या अपि च श्रूयते। हृद्यं हि पुरुषं दृष्ट्वा योनिः संक्लिद्यते स्त्रियाः' यह दशा देवर्षि श्रीनारद तथा श्रीकृष्णचन्द्र दोनोंने देखी, और दोनोंने शाप दिया कि-तुम सब वेश्या हो जाओ। 'चौरैरपहृताः सर्वा वेश्यात्वं समवाप्स्यथ'। रविवारके दिन किसी वेदपारगामी ब्राह्मणको बुलाकर उसके साथ समागम करनेसे तुम्हारा उद्धार हो जायगा' ('दो शास्त्रार्थ' पृ. ५-६) वादीने इससे अमरग्रन्थ-गीताके उपदेष्टा योगेश्वर-कृष्णजीको निन्दाका पात्र सिद्ध किया है।

खेद है—वादी लोग विना स्वयं मूलग्रन्थोंको देखे दूसरोंके कहने मात्रसेही लिख दिया करते हैं। हमें तो भविष्यपुराणमें 'जघनानि विसुस्रुवुः' आदि पद्य नहीं मिले। हम मान भी लें कि—यह किसी अन्य संस्करणमें होंगे; हम इस आक्षेप-पर विचार करते हैं—

इसपर वादियोंको जानना चाहिये कि- जैसे वेदके ब्राह्मण-भागका-जिसे कहीं-कहीं 'पुराण' शब्दसे भी कहा गया है—एक

विषय अर्थवाद है, वैसे ही प्रायः ब्राह्मणभागाश्रित पुराण भी वैदिक-सिद्धान्तोंके अर्थवाद हैं। अर्थवाद तीन प्रकारका होता है—१ गुणवाद, २ अनुवाद, ३ भूतार्थवाद। १ गुणवादमें 'विरोधे गुणवादः स्यात्' इस भट्टपादोक्त न्यायसे लोक-विरुद्धता दीखनेपर किसी वस्तुके गुणकथनमें तात्पर्य हुआ करता है। 'अनुवादोऽवधारिते' २ अनुवादमें निश्चित बातकी दृढतार्थ पुनः-पुनः उसे अभ्यस्त किया जाता है। 'भूतार्थवादस्तद्धानाद् अर्थ-वादस्त्रिधा स्मृतः' भूतार्थवादमें पुराकल्पकी परम्परागत वा किसी कल्पित आख्यायिकाको विवक्षित-सिद्धान्तकी सिद्ध्यर्थ उपस्थित किया जाता है। अर्थवादमें प्रत्येक पदका अर्थ नहीं लिया जाता, किन्तु उसका विवक्षित-तात्पर्यमात्र लिया जाता है। वहां रोचक-भयानक वाक्योंसे विधेयमें प्रवृत्ति तथा निषेध्यसे निवृत्ति इष्ट होती है। सो पुराणके एतदादिक स्थलोंमें भी अर्थवाद रखा गया है, जहां सम्पूर्ण आख्यायिकाका सम्पूर्ण अर्थ न लेकर विवक्षित तात्पर्यमात्र लिया जाता है।—

अब पाठक अर्थवादके कुछ उदाहरण देखें। एक वाक्य आता है—'शिखा ते वर्द्धते वत्स ! गुडूचीं श्रद्धया पिब' इसमें गिलोयके पीनेसे शिखाके बड़े होनेका कोई सम्बन्ध नहीं; अतः यह यहां केवल गिलोयके पीनेमें प्रोत्साहनार्थ अर्थवाद ही माना जाता है। २ हाजमेंके चूर्णकेलिए कहते हैं—'इसको खाते लाट फिरंगी, इसे खाकर हनुमान्ने लङ्का जीती'। तब क्या यह चूरनका इतिहास ठीक है ? नहीं, केवल यह अर्थवाद चूरनके

खानेके प्रोत्साहनार्थ है।—३ 'अन्यास्ता गुण-रत्नरोहणभुवो धन्या मृदन्यैव सा, सम्भाराः खलु तेऽन्य एव विधिना यैरेष सृष्टो युवा। श्रीमत्कान्तिजुषां द्विषां करतलात् स्त्रीणां नितम्ब-स्थलाद्, दृष्टे यत्र पतन्ति मूढमनसामस्त्राणि वस्त्राणि च'। इसमें एक युवकका अर्थवादसे कविने वर्णन किया है कि-इसके गुणरत्नोंको पैदा करने वाली वह कोई और ही भूमि है, वह धन्य मिट्टी भी कोई दूसरी ही है, और वे साधन भी कोई विलक्षण ही हैं, जिनसे विधाताने इस युवकको बनाया है। इसके देखते ही मनके भयसे मोहित हो जानेके कारण शत्रुओंके हाथ-से शस्त्र गिर जाते हैं; और इसे देखते ही कामसे मोहित हो जानेके कारण कामिनियोंके नितम्बस्थलोंसे वस्त्र खिसक जाते हैं।

तब क्या वादी इसे उस युवकका युवति-मोहनमें तात्पर्य रूप अर्थवाद न समझकर यही मान लेंगे कि—इस युवकको देखते ही स्त्रियोंके अधोवस्त्र स्वयं खुल जाते हैं !!!

इस प्रकार प्रकृत-विषयमें भी समझना चाहिये कि-उक्त आक्षिप्त-पद्य साम्बकी अत्यन्त-सुन्दरताका अर्थवाद है, जिसे देखकर विमाताएँ भी स्तब्ध रह गईं। क्या वादीने वादिप्रति-वादिमान्य मनुस्मृतिका यह वाक्य नहीं सुना—'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्। बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांस-मपि कर्षति' (२।२१५); इसका क्या यह तात्पर्य नहीं कि-पुत्र मातापर भी एकान्तमें विकृत हो सकता है? फिर पुराणमें व्युत्क्रमसे विमाताओंका सौतेले पुत्र, जाम्बवतीके लड़के, साम्ब-

को—जिसे पहले उन्होंने देखा न था, और अब भी जिन्हें उसका पूरा परिचय नहीं था—देखकर उनका जघनस्राव यदि अवितर्कित होगया; तब वादी इसमें दोष देनेमें कैसे समर्थ है? क्या मनुस्मृतिके उक्त पद्यका यह आक्षिप्त-प्रकरण अर्थवाद नहीं?

श्रीअमरसिंहजीने उक्त पद्यके साथ यह भी स्त्रियोंका एक स्वभाव दिखलाया है—'ब्रह्मचर्येपि वर्तन्त्याः साध्व्या ह्यपि च श्रूयते। हृद्यं हि पुरुषं दृष्ट्वा योनिः संक्लिद्यते स्त्रियाः' जब यहाँ ब्रह्मचारिणी तथा साध्वी स्त्रीका भी जघन-क्लेदन सूचित किया गया है; तब वादी यहाँ दोष कैसे लगा सकता है? यदि वादी इस पद्यको पुराणकी गप्प बतावे; तब हम उसे वादिमान्य महाभारतका इसी प्रकारका पद्य दिखलाते हैं। वे आँखें खोलकर देखें—'इदमन्यच्च देवर्षे! रहस्यं सर्वयोषिताम्। दृष्ट्वैव पुरुषं हृद्यं योनिः प्रक्लिद्यते स्त्रियाः' (अनुशासनपर्व ३८।२६) तब महा-भारतानुकूल पुराणमें भी उक्त-प्रकरण इस सिद्धान्तका अर्थवाद सिद्ध हुआ कि—स्त्री एकान्तमें सौतेले पुत्रको भी न देखे। सो अर्थवादमें सारे शब्दोंका अर्थ न देखकर विवक्षित-तात्पर्यमात्र लिया जाता है—यह हमारी बात सिद्ध हुई।

तब इस बातसे श्रीकृष्ण पर क्या दोष आ सकता है? और फिर वहाँ 'स्वभावतोऽल्पसत्त्वानां जघनानि विसुस्रुवुः' कहा है; तो अल्पसत्त्वा (मानसिक-दौर्बल्यवाली) स्त्रियोंमें ऐसा हो जाना कठिन नहीं। तब इस विषयमें श्रीकृष्णपर तो कोई कलङ्क नहीं

आ सकता। प्रत्युत श्रीकृष्णने तो उन्हें दूसरोंसे हरे जानेपर वेश्या होनेका शाप दिया है। देखिये-'चौरैरपहृताः सर्वा वेश्यात्वं समवाप्स्यथ' (१८)। वहाँ यह लिखा है—हरिष्यन्तीह दस्यवः। मयि स्वर्गमनुप्राप्ते भवतीः काममोहिताः' (१११।८) अर्थात्-मेरे इस लोकसे चले जाने पर तुम काममोहिताओंको दस्यु हर ले जाएँगे।

यह शाप इन्हें इस जन्मके कर्मानुसार नहीं था; बल्कि—पूर्व-जन्मके कर्मानुसार यह होनहार थी। जब वे अप्सरा थीं, अभि(प)मान करने पर नारद वा अष्टावक्रने इसी जन्मकेलिए यह शाप दिया था, 'नारद और श्रीकृष्ण दोनोंने इकट्ठा ही इसी बातकेलिए शाप दिया'-यह वादीका लिखना भविष्य-पुराणके उक्त-प्रकरणको न देखनेके ही कारण है। अस्तु—

केवल पुराणमें नहीं; किन्तु महाभारतमें भी अर्जुनकी उपस्थितिमें उनका भीलों द्वारा अपहरण लिखा है। देखिये मौसलपर्व (७।६३)। दूसरोंसे अपहृत होनेपर उनका वेश्यात्व स्वाभाविक है; तब प्रसंगवश वेश्यात्वमें भी उनके उद्धारार्थ कुछ नियम भी बतला दिये गये; क्योंकि-'सर्वनाशे समुत्पन्ने ह्यर्धं त्यजति पण्डितः। अर्धेन कुरुते कार्यं सर्वनाशः सुदुस्सहः'।

भविष्यपुराणके वादीसे उद्धृत वचनमें भी सभी स्त्रियोंका वैसा होना नहीं दिखलाया गया; किन्तु 'स्वभावतोऽल्पसत्त्वानाम्'। इसका तात्पर्य यह है कि-जो स्त्रियाँ उनमें स्वभावतः दुर्बल-मन वाली थीं; उन्हींका ऐसा पतन हुआ। इससे सभीका

वैसा वर्णन इष्ट नहीं। उसमें भी एक रहस्य है। वह यह कि-यह १६ सहस्र स्त्रियाँ नरकासुरके कारागारसे आई थीं। नरकासुरने उन्हें अपने काबूमें लानेकेलिए क्या-क्या हथकण्डे नहीं किये होंगे? क्या-क्या दुश्चेष्टाएँ करनेकी चेष्टा न की होगी? सो कई स्त्रियाँ जो निर्बल-मनवाली थीं; उनका वहाँ पतन हो भी जाता; पर १६ सहस्रके समूहने एक-दूसरेकी रक्षा की। सो जो वहाँ मनसे कुछ दुर्बल थीं, पर शरीरसे शुद्ध रहीं, श्रीकृष्णने उनकी प्रार्थनासे उन्हें भी अपनी शरण दे दी; पर इस अवसरमें जब उनका पतन देखा; जो वस्तुतः भविष्यपुराणानुसार पूर्व-जन्मके नारदके शापके कारण ही ऐसा होना स्वाभाविक था; उनकी होनहारवश श्रीकृष्णसे भी उन स्त्रियोंको श्रीकृष्णके परम-धामगमनके बाद दूसरों द्वारा अपहरण तथा तन्मूलक वेश्या हो जानेका शाप मिल गया। इसमें श्रीकृष्णका कोई लाघव सिद्ध नहीं होता।

वस्तुतः उक्त प्रकरणमें अर्थवाद है-यह हम पूर्व बता आये हैं। अर्थवादका प्रत्येक-पदके अर्थमें तात्पर्य न होकर विवक्षित-सिद्धान्तके प्रकाशनमें तात्पर्य हुआ करता है। वह तात्पर्य यह है कि-विमाताका सौतेले पुत्रसे दर्शनमात्र तकका सम्बन्ध भी नहीं रखवाना चाहिये; नहीं तो इससे भी भयावह घटनाएँ होनेकी आशङ्का रहा करती है। इस विषयमें 'पूरन-भगत तथा उसकी विमाता लूणाका किस्सा' प्रसिद्ध ही है।

इस अर्थवादसे यह भी सूचित होता है कि-पतिके स्वर्ग-

गमनमें स्त्रियां सती हो जावें, तब तो 'न रहे बांस न बजे बांसुरी' सब ठीक होता है; नहीं तो पीछे उनकी बड़ी दुर्दशा होती है। दूसरे लोग कई ढंगोंसे सतीत्वहरण करके प्रकारान्तरसे उनका अपहरण कर लेते हैं, जिससे विवशतासे उन्हें या तो वेश्याओं-जैसा जीवन बिताना पड़ता है, या फिर वेश्या बनना अनिवार्य हो जाता है। यहां भी श्रीकृष्णके इस लोकको छोड़कर पुराणानुसार स्वेच्छासे स्वर्गलोकको सनाथित करनेपर रुक्मिणी आदि पटरानियां तो सती हो गईं, जैसा कि महाभारतमें सूचित है; और कई साधारण-रानियां आततायियों-द्वारा अपहृत हो गईं, जिससे वेश्यात्व प्राप्त हुआ-यह इस अर्थवादसे सूचित हो रहा है।

शेष रहा प्रकरण-प्राप्त वेश्याओंका उद्धार, वहां लिखा है— 'अत्र चाहूय धर्मज्ञं ब्राह्मणं वेदपारगम्। अभ्यङ्गावयवं पूज्य गन्धपुष्पादिभिस्तथा' (४२) 'ततः प्रभृति योऽन्योपि रत्यर्थं गृहमागतः। स सम्यक् सूर्यवारेण समं पूज्यो यथेच्छया' (५५) 'एवमेकं द्विजं शान्तं पुराणज्ञं विचक्षणम्। तमर्चयेत च सदा अपरं वा तदाज्ञया' (४।१११।५६) यहां वेश्याको एक शान्त एवं विद्वान् ब्राह्मणका पूजन आदिष्ट किया है-इससे वह धीरे-धीरे विषयोंसे दूर होकर पूजापाठके प्रेमवाली बन जायगी, जिसके परिणाममें उसे सद्गति होगी। जो कि-'यथेष्टाहारयुक्तं च तमेव द्विजसत्तमम्। रत्यर्थं कामदेवोऽयमिति चित्तेऽवधार्य च' (४४) यद्यदिच्छति विप्रेन्द्रस्तत्तत् कुर्याद् विलासिनी। सर्वभावेन चात्मानमर्पयेत् स्मितभाषिणी' (४५) यहां एक ब्राह्मणेन्द्रसे रति

तथा उसे आत्म-समर्पण करना कहा है-यह उसके उद्धारका एक प्रकार है।

यह वैसा उपाय है, जैसे कि-एक वैद्यने एक मद्यपको मद्य छोड़नेकेलिए बताया था, पर वह इस बहमसे कि-इसे छोड़नेसे वह मर जायगा-उसे छोड़ना नहीं चाहता था। तब वैद्यने दो-तीन सौ गोलियां उसे दीं कि एक-एक गोली गिलासमें डालकर फिर मद्य पिया करो। पिछली गोलियां उसमें पड़ी रहें। दूसरा गिलास पीनेपर फिर नई गोली डाल लिया करो। इससे वह मद्यप यह समझता था कि-मैं गिलास भरकर पी रहा हूँ, पर गोलियां भी अपना स्थान लेकर उसका मद्य धीरे-धीरे कम करवा रही हैं-यह वह न समझ सका। यही बात यहांपर भी समझ लेने पर फिर आक्षेपका अवकाश नहीं रहेगा। परिसंख्याविधिसे एक शान्त-द्विजसे उसका सम्बन्ध होनेपर वह धीरे-धीरे नारकीय-कुकृत्यसे दूर होती जायँगी; बल्कि-वहां वेश्याओंको भी 'व्यभिचारो न कर्तव्यः स्वामिना सह कर्हिचित्' (२८) व्यभिचारसे दूर रहनेका आदेश किया गया है, पर वादी गुणोंको छोड़कर केवल छिद्र-दर्शनमें ही रुचि रखते हैं।

इसके अतिरिक्त आक्षेप्तागण अपने घरको तो देखते नहीं, जहां वे विधवाको भिन्न-भिन्न ११ पतियोंसे संयुक्त करवाके उसे वेश्याका नवीन-संस्करण बनाया करते हैं; जिसकेलिए स्वा.द.के मनमें भी यह प्रश्न उपस्थित हो आया कि—१ 'यह नियोगकी बात व्यभिचारके समान दीखती है, २ यह तो वेश्याके सदृश कर्म

दीखता है, ३ हमको नियोगकी बातमें पाप मालूम पड़ता है' (स.प्र. ४ पृ. ७०), और पतिके मरते ही श्मशानमें पतिके जलानेकेलिए आये हुए पुरुषोंमेंसे किसी एकको चुन लेना कहा है। देखो स.प्र. (४ समु. पृ. ७१) में 'उप शेष एहि' (ऋ. १०।१८।८) इस वेदकी तिङ्-क्रिया 'शेषे'का भी जिसका अर्थ—'तू मृतक-पतिके पास सो रही है' यह अर्थ छिपाकर अपने पक्षको सिद्ध करनेकेलिए सुप् (शब्द) बनानेका साहस कर दिया; और 'बाकी पुरुषोंमें से जीते हुए दूसरे पतिको प्राप्त हो'–यह अशुद्ध अर्थ कर दिया; और वे वादी दूसरों पर, विना सोचे-विचारे आक्षेपार्थ उद्यत हो जाया करते हैं। वेदमें तो वादी इस वेश्याकर्मको धर्म सिद्ध करते हैं; तब यदि वेदानुसारी पुराणने भी वेश्याओंकी भिन्न-भिन्नसे व्यभिचार-प्रवृत्ति छुड़ानेकेलिए एक पुरुषको (११ को नहीं) आत्मसमर्पणका उसे उपाय बता दिया, तो आपत्कालिक इस नियमपर उपहास वा आक्षेप करनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। अन्य जो सुन्दर उपाय वहां बताये गये हैं; इससे उनकी धार्मिक-प्रवृत्ति बढ़कर वेश्याओंका उद्धार हो सकता है। पर वादी उन्हें तो छिपा लेते हैं, और 'रन्ध्रान्वेषी च सर्वत्र' इस अपने गुरुके गुरुका आचरण अनुसृत करते हुए खण्डन-रसिकता अपनानेमें संलग्न रहते हैं–यह खेदकी बात है।

अन्तमें हम वादियोंको सत्सम्मति देते हैं कि–वे अपनी बुद्धिकी शुद्धि तथा स्निग्धता करा लें; और उसे विशाल भी कर लें जिससे उपस्थित यह स्थूल-विषय उसमें खुले रूपसे समा जाय।

फिर इस विषयके मथनसे उन्हें बड़ा आनन्द प्राप्त होगा, और सनातनधर्मका रेत उसमें प्राप्त होकर उसमें भक्ति-गर्भ और फिर समय पर आस्तिकता-भावका प्रसव होगा। इससे उनके उत्तेजनात्मक कलुषित-भाव हट जाएँगे, और शुद्ध-भाव भी उत्पन्न होने लगेंगे। परमात्मासे प्रार्थना है कि–वादीको सुबुद्धि-प्रदान करें, जिससे उनकी छिद्र-दर्शनकी लालसा सदाकेलिए मिट जाए।

हमने इस निबन्धमें 'तुष्यतु वादी इस न्यायसे कई उनकी असत्य बातोंको मानकर भी समाधान कर दिया है, और पुराण-द्वारा वास्तविकता बताकर भी समाधान कर दिया है। यह 'भगवान्-कृष्णका सुदर्शन-चक्र' भगवान् श्रीकृष्णके भक्तोंका रक्षक और भगवद्-द्वेषी दैत्योंकी दैत्यताका अन्त करनेवाला सिद्ध होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

अन्तमें हम वादियोंसे श्रीकृष्ण पर सम्भावित गोपी-सम्बन्ध-सम्बन्धी आरोपोंका समाधान पुराणकारके अनुसार करते हुए वहांके पद्योंको उद्धृत करके प्रकृत निबन्ध समाप्त करते हैं। श्री उमा तथा राजा परीक्षित्ने भी वादियोंके प्रतिनिधित्वसे श्रीकृष्ण पर जो कि–परदाराभिमर्शन आलोचित किया था; उसपर रुद्र तथा श्रीशुकदेवजीका क्या समाधान था, यह भी पाठकगण देखें।—

पद्म-पुराण (उत्तर खण्ड (६) में श्रीरुद्रने उमाको कहा था—'स्वशरीरपरिष्वङ्गाद् रतिर्नास्ति शुभानने ! सर्वं जगच्च तस्याङ्गं पृथगत्र न विद्यते। स्त्रीपुम्भेदो न वै तस्य पुरुषस्य

महात्मनः। निसर्गात् सर्वभर्तृत्वाद् आत्मेशत्वाज्जगत्पतेः। तथापहृत-पाप्मत्वसामर्थ्याद् व्यापिनः प्रभोः। दोषोऽत्र नास्ति सुभगे! देवस्य परमात्मनः' (२४५।१७४-१७७) अर्थात् देव श्रीकृष्ण परमात्मा हैं, सर्व-व्यापक हैं; पापोंको दूर करनेकी सामर्थ्य वाले हैं, स्वभावसे वे सबके भर्ता हैं, आत्मा हैं, सम्पूर्ण जगत् उनका अङ्ग है, उनसे पृथक् कुछ नहीं; उनकेलिए कोई स्त्री-पुरुषका भेद नहीं, अतः उन्हें कोई भी दोष लिप्त नहीं कर सकता।

अब श्रीशुकदेवका वचन सुनिये—'धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्। तेजीयसां न दोषाय वन्हेः सर्वभुजो यथा। नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः। विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्॥ ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्। तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमान् तत् समाचरेत्॥ कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते। विपर्ययेण वाऽनर्थो निरहङ्कारिणां प्रभो!॥ किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम्। ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाऽकुशलान्वयः॥ यत्पादपङ्कजपरागनिषेव-तृप्ता योगप्रभावविधुताखिल-कर्मबन्धाः। स्वैरं चरन्ति मुनयोपि न नह्यमानाः, तस्येच्छयात्त-वपुषः कुत एव बन्धः? गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्। योऽन्तश्चरति सोध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥ अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः। भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥ नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया। मन्यमानाः

स्वपार्श्वस्थान् स्वान्-स्वान् दारान् व्रजौकसः' (श्रीमद्भागवत १०।३३।३०-३८)

पहले यहां पर ईश्वर (समर्थ) लोगोंकेलिए सामान्यतया विवेचन किया है कि—सूर्य, अग्नि आदि ईश्वर (समर्थ) कभी-कभी लोकसीमित नियमोंका अतिक्रमण एवं साहस करते हुए दीखते हैं; पर तेजस्वी होनेसे उन्हें कुछ भी दोष नहीं होता। जैसे कि-गोस्वामीजीने 'मानस' में कहा है-'समरथको नहिं दोष गुसाईं। रवि, पावक, सुरसरिकी नाईं' देखो, अग्नि सब पदार्थोंको खा जाता है, परन्तु उनके दोषसे लिप्त नहीं होता॥ सूर्य, गङ्गा आदि मलाकर्षक होने पर भी उससे लिप्त नहीं होते। वल्कि उसे नष्ट कर देते हैं। अलौकिक सामर्थ्यसे हीन पुरुषको मनसे भी लौकिक-मर्यादा तोड़नेका विचार नहीं करना चाहिये, शरीरसे करना तो दूर रहा। यदि मूर्खतावश वैसा कर वैठे; तो उसका सर्वनाश हो जाता है। भगवान् शङ्करने हालाहल विष-पान कर लिया था; पर अनीश्वर वैसा करते हुए भस्म हो जायगा॥ अत एव ईश्वरोंके आदिष्ट वैध वचनोंको ही अपने लिए सत्य समझकर अनुसृत करना चाहिये; उनके स्वकीय आचरणका अनुकरण तो सर्वत्र नहीं किया जा सकता है। अतः बुद्धिमान् उनके लौकिक-मर्यादानुकूल विधि-वचनका ही केवल आचरण करे। अहम्भावहीन होनेसे समर्थोंका शुभ कर्म करनेसे कुछ कुशल नहीं हो जाता, और लोकविरुद्ध-कर्मसे कुछ अनर्थ नहीं हो जाता। वे लाभ-हानिसे ऊपर उठे होते हैं। जब उन्हें ही कुछ फल नहीं

मिलता; तब जो पशु, पक्षी, मनुष्य, देव आदि चराचर जगत्-का प्रभु भगवान् है, उसके साथ मानवीय लाभ-हानिका सम्बन्ध कैसे जोड़ा जा सकता है ? 'नह्येकस्याऽद्वितीयस्य ब्रह्मणः परमात्मनः'। कर्मभिर्वर्धते तेजो ह्रसते च यथा रवेः' (भागवत १०।७४।४) जिनकी चरणरजके आश्रयणसे योगी मुनि, आदि भी अपने कर्मबन्धनोंको काट कर मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरते हैं; तब सङ्कल्पमय शरीर वाले (जिसका वर्णन स्वा.द.जीने स.प्र.के ६ समु. में भी किया है। नित्यमुक्त श्रीकृष्णमें कर्मबन्धनकी कल्पना ही कैसे हो सकती है ?। गोपियोंके, उनके पतियोंके और सम्पूर्ण शरीर-धारियोंके अन्तःकरणोंमें जो आत्मा-रूपसे विराजमान हैं, जो सबके साक्षी और परमपति हैं, वही तो अपना दिव्य-चिन्मय श्रीविग्रह प्रकट करके यह लीला कर रहे हैं॥ व्रजवासी गोपोंने श्रीकृष्णसे कुछ भी असूया नहीं की; क्योंकि-उन्हें यह अनुभव हो रहा था कि-हमारी पत्नियाँ हमारे पास ही हैं॥ पर डाक्टरजी 'मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त' वाली कहावत चरितार्थ कर रहे हैं;'और व्यर्थ ही भगवान्-कृष्ण पर दोषारोपण कर रहे हैं। 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तत्तदेवेतरो जनः' (३।२१) इस गीतावचनका बाधक 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य-व्यवस्थितौ' (१६।२४) यह गीताका वचन है; सो किसी श्रेष्ठका भी आचरण अनुसर्तव्य नहीं होता, धर्मराज भी युधिष्ठिरकी द्यूत-क्रीडा अनुकर्तव्य नहीं होती। माता-पिता गुरु आदिमें हमारी दृष्टिमें कोई दोष होनेपर भी न तो हमें उनके दोष

कहने पड़ते हैं, न उनसे उनकी निन्दा करनी पड़ती है, न ही इससे उनका तिरस्कार करना ठीक है। मनुजीने कहा है— 'परीवादात् खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः' (२।२०१) गुरुओंके विद्यमान-दोषका कहनेवाला गधा बनता है और अविद्यमान दोषको कहनेवाला कुत्ता बनता है। 'यानि अस्माकँ सुचरितानि तानि त्वया उपास्यानि नो इतराणि' (तैत्तिरीयोपनिषद् १।११।२) यह गुरुओंका आदेश होता है कि-हमारे सुचरितोंका अनुसरण करो, दूसरोंका नहीं। पर समर्थकेलिए तो कोई सुचरित-कुचरितका प्रश्न ही नहीं उठता; तब उनके लोकोत्तर-चरितोंको गन्दे-रूपसे आलोचित करके अपनी लेखनीको कलुषित करना अपनेको ही कृतघ्न बनाकर पतित बनाना है। आशा है वादी लोग थोड़ेसे पैसे प्राप्त करने तथा अपने सम्प्रदायके विवाद-पसन्द कुछ व्यक्तियोंसे वाहवाही लूटनेका विचार छोड़ देंगे। उन्हींकी दुर्नीतिसे कहीं हमसे भी कोई कड़ा शब्द लिखा गया हो; तो उस पर वादी दृष्टि न डालते हुए सत्यका ग्रहण करेंगे। अब पुराणकी असम्भव मानी जाती हुई कुछ कथाओंपर विचार किया जाता है।

(१३) अगस्त्य-ऋषिका समुद्रपान।

आजकलके सम्प्रदायोंने पुराणोंको असम्भव दोषसे आक्रान्त कर रखा है; यहाँ हम पुराण-सम्बन्धी तीन-चार आक्षिप्त उपाख्यानों पर अपने विचार उपस्थित करते हैं—

(१) प्रिय 'आलोक' पाठकोंसे यह बात छिपी नहीं कि-चार्वाकमत-बहुल इस विश्वमें आजकल ऐसे समाज भी भारत-वर्षमें अपनी सत्ता रखते हैं, जिन्हें यदि हम 'प्रच्छन्नबौद्ध' कह दें; तो हमें असत्यभाषणका पाप नहीं लगेगा। उनकी संकुचित बुद्धिमें यदि उनसे अनभिमत प्राचीन पुस्तकका कोई विशेष-विषय प्रविष्ट करना चाहें; तो वे 'यह अवैदिक है, असम्भव है, गप्प है' ऐसा शोर मचाकर उसे अपनी संकुचित बुद्धिसे बहिष्कृत कर देते हैं। उनकी संकुचित बुद्धिके समक्ष वैसी घटना अनुपपन्न होनेसे उनके मतमें सारे संसारमें हो ही नहीं सकती। हाँ, यदि उनके माने हुए किसी ग्रन्थमें वैसी घटना वर्णित हो; तब वे समाज आकाश-पातालके कुलाबे मिलाकर, अथवा उसके अर्थमें तोड़-मरोड़ करके 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' इस न्यायको चरितार्थ कर ही देते हैं।

ऐसे समाजोंने अपनी जीवनवृत्ति भी इसी खण्डन-प्रवृत्तिसे कर रखी है। पौराणिक-साहित्यने जगत्का जैसा उपकार कर रखा है, यह निष्पक्ष विद्वानोंसे छिपा हुआ नहीं। यह न सोच-कर कृतघ्न बनते हुए पक्षपातकलुषित-दृष्टि उन समाजोंने उसी ही पौराणिक-साहित्य पर निर्निमित्त शोचनीय आक्रमण कर रखा है। वे पौराणिक-इतिहासोंको असम्भव बनाकर उन्हें हास्यास्पद बनानेमें कोई कोर-कसर नहीं रखते। उन्हीं समाजोंकी कृपासे संशयग्रस्त जनोंको पुराणके प्रत्येक-उपाख्यानोंमें सन्देह उठ खड़े हुए हैं। उन्हींमें 'अगस्त्य-ऋषिका समुद्रपान' भी संनिविष्ट है।

हम 'आलोक'-पाठकोंके समक्ष इस विषयकी उपपन्नता-अनुप-पन्नतापर विचार रखते हैं। पाठकगण उसमें ध्यान दें।

(२) पहले साधारण-बुद्धिवालोंको विचारना चाहिये कि-अतिशयोक्ति एक अलंकार होता है, दोष नहीं। यदि ऐसा कहा जावे कि-'इस राजा के तेजके सामने सूर्य भी मेघाच्छन्नताके बहाने निस्तेज हो जाता है'। इस वाक्यमें यद्यपि अपह्नुति भी है; पर उसका मूल अतिशयोक्ति ही है, जैसेकि-श्रीभामहने कहा है—'सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति-[अतिशयोक्ति-] रनयार्थो विभा-व्यते (चमत्कृत होता है)। यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारो-ऽनया विना' (काव्यालंकार २।८५)। श्रीदण्डीने भी कहा है—'अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्। वागीशमहितामुक्ति-मिमामतिशयाह्वयाम्' (काव्यादर्श २।२२०) अर्थात्-अतिशयोक्ति सब अलङ्कारोंका मूल है। अस्तु।

पूर्वोक्त वाक्यको सुनकर श्रोता लोग उस राजाको अत्यन्त तेजस्वी मान लेते हैं—यह नहीं कि-वे राजाके तेजको सूर्यके तेजसे बड़ा मान लें। किसी विख्यात-नेताके मरनेके अवसर पर वृष्टि हो जाय, तो कवि कहता है कि-'इस नेताके भारतके वियोग-में भारतीय-आकाश भी वृष्टिके बहाने रो रहा है' इस वाक्यसे उस नेताका बड़ा प्रभाव सूचित होता है। श्रोता लोग इस अवसर पर पदोंका अर्थ नहीं लेते, और न ही उस वाक्यके प्रयोक्ता कविकी कविताको दुष्ट मानते हैं। इस प्रकार पुराणकी कथामें भी जाना जा सकता है। समुद्रका जल खारा होता है;

उसका एक अञ्जलि जल पीना भी कठिन हो जाता है, वहुत तो कहाँ पीया जा सके ? श्रीअगस्त्यने साधारण-पुरुषोंकी अपेक्षा समुद्र-का पानी अधिक मात्रामें पी लिया होगा; तभी उसका समुद्रपान भी प्रसिद्ध होगया होगा। आज भी नदीपर कोई जाकर उसका वहुत जल पी डाले; उसे भी पुरुष कहते हैं—'अरे भाई ! तुम्हें कितनी प्यास है; नदी भी खाली कर डालोगे'? इस प्रकार पुराणमें भी जाना जा सकता है। उसमें 'गप्प' शब्द कहनेकी आवश्यकता नहीं।

(३) यह समाधान हमने वादितोष-न्यायसे किया है। इस विषयमें यह भी जानना चाहिये कि-प्राचीन-ग्रन्थोंमें यह शैली भी देखी गई है कि-किसी वातको समझानेकेलिए जैसे कभी आलङ्कारिकताका आश्रय लेना पड़ता है कि-यह वात शीघ्र समझ आ जाए, वैसे किसी आधिदैविक-विषयको समझानेके-लिए, शीघ्र ज्ञान करानेकेलिए, आधिभौतिकताका सहारा भी लेना पड़ता है। इस प्रकार प्रकृत-कथाकी योजना करने पर भी कोई दोष नहीं वच पाता।

इसको यों समझिये कि-आकाशमें अगस्त्य-ऋषि नामका एक तारा वर्षाऋतुके अन्तमें उदय होता है, अथवा-यह कहना चाहिये कि-उसीके उदयसे ही वर्षा-ऋतुका अन्त होता है। तब नद-नदी आदि सूख जाते हैं-वा थोड़े जलवाले हो जाते हैं; क्योंकि-अगस्त्य-तारा अग्निपिण्ड माना जाता है। उसमें वादल एवं समुद्र आदिके जल सुखानेमें वड़ी क्षमता है। 'आजकी

दुनियां' पुस्तकमें लिखा है-'अगस्त्य हमारे सूर्यसे २२ हजार गुना ज्यादा चमकीला और वड़ा है'। तव नद-नदियोंके थोड़े जल वाले हो जाने पर तदाश्रित समुद्रके जलमें न्यूनता भी स्वतः-सिद्ध है। इस प्रकार समुद्र की जलवृद्धि न होनी-उसका सूखना ही है। वही आधिदैविक-वात यदि इस प्रकार आधिभौतिक वना दी जावे कि-अगस्त्य-ऋषि एक व्यक्तिने समुद्रपान कर लिया; तो कहिये-इसमें पुराणोंका क्या अपराध है ? इसमें अपराध है पुराणकी भाषा तथा भाववैचित्र्यको न जाननेवाले, अक्षर-मात्रामात्र जाननेवालोंका, जिनकी गति केवल अभिधा-शक्ति तक सीमित है, जिन्होंने तात्पर्य, लक्षणा तथा व्यञ्जनावृत्ति-को सूँघा तक नहीं, जिन्होंने केवल पुराणोंके खण्डनका ठेका ले रखा है; अतः पक्षपातपूर्ण-दृष्टिवाले हैं; उन्हींकी अदूरदर्शिता वा अल्पश्रुतताका इसमें अपराध है। तव इस प्रकारके पुरुषोंका पुराणके किसी विषयकी प्रत्यालोचना करनेका अधिकार ही क्या है ?

वस्तुतः निष्पक्ष-दृष्टिकोणसे यदि इसपर विचार किया जावे; तब न तो पहले कहे हुए समाधानकी आवश्यकता है, न दूसरे की; क्योंकि-दूसरे समाधानमें भी एक हानि पड़ती है; तव तो अगस्त्य-नामक ऋषिकी ऐतिहासिक-सत्ता ही नष्ट हो जाती है। अतः इसकी सङ्गति इस प्रकार करनी चाहिये कि-अगस्त्य-ऋषि भी अवश्य थे, और उन्होंने समुद्रपान भी किया था। इसमें कुछ भी असम्भव नहीं। पुराणोंकी कथाओंमें एक विशेषता है, जहाँ

उनमें आधिदैविकता होती है; वहीं आध्यात्मिकता भी हुआ करती है, और आधिभौतिकता भी। वे वेदोंके उपबृंहक भाष्य हैं। जब मूल (वेद) में यह त्रित्व माना जाता है; वैसा त्रित्व उसके उपबृंहक भाष्य (पुराण) में भी स्वाभाविक है। 'आलोक'-पाठक इस विषयमें सावधानताकी दृष्टि डालें।

(४) वस्तुतः 'अगस्त्य ऋषिका समुद्रपान' तपोमाहात्म्यका एक उज्ज्वल उदाहरण है। प्रच्छन्न-बौद्ध सदाकेलिए यह बात हृदयंगम कर लें कि-वे ऋषि-मुनियोंकी शक्तिको अपनी शक्तिके साथ कभी भी न तोलें। जब आप मनुष्य होते हुए भी पशु-इतनी शक्ति भी नहीं रखते, पशुओंमें भी जब आपसे अधिक बल है; तब आप ऋषि, मुनि एवं देवता-जिन्होंने अणिमा-आदि सिद्धियाँ वश कर रखी हैं-उनकी शक्तिमें सन्देह किस प्रकार कर सकते हैं? इसके अतिरिक्त जब आपकी बुद्धि आजकलके वैज्ञानिकोंसे भी अधिक नहीं; तब आजकलके वैज्ञानिकोंसे भी प्रत्येक बातमें बढ़े-चढ़े हुए प्राचीन तपोबलधारी ऋषि-मुनि-योगियोंकी बुद्धिकी तुलापर चढ़नेकी अधिकारिणी कैसे हो सके? यही बात ब्रह्मसूत्रोंकी व्याख्या करते हुए विलक्षण-विचक्षण श्रीस्वामी-शङ्कराचार्य महाराजने भी मानी है—

(५) वे लिखते हैं—'योगोपि अणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलकः स्मर्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुम्।...ऋषीणामपि मन्त्र-ब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्यं न अस्मदीयेन सामर्थ्येन उपमातुं युक्तम्। तस्मात् समूलमितिहासपुराणम्' (वेदान्त. १।३।३३) 'इतिहास-पुराण निर्मूल नहीं। उनमें अणिमा आदि ऐश्वर्यवाले ऋषियोंका वर्णन है। 'अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्ट सिद्धयः' यह आठ ऐश्वर्य हुआ करते हैं, यह पुरुषको ईश्वर (समर्थ) कर दिया करते हैं। यह ऋषि-मुनियोंके पास थे। वे इनके बलसे हमारी दृष्टिमें असम्भव भी कामोंको अनायास ही सम्पादित कर लिया करते थे। तब ऐश्वर्यशाली-उनकी सामर्थ्यको उन ऐश्वर्योंसे रहित अपनी सामर्थ्यसे तोलना यह प्रतिपक्षियोंका प्रमादमात्र है, दुस्साहस है। द्युलोकके निचले स्तरसे भी नीचे राकेटों द्वारा कुत्ते वा चूहे भेजनेसे वे रूस वा अमेरिकापर तो श्रद्धा कर लें, पर जिसने देवताओं(ग्रहों)की आधी सृष्टि ही कर डाली थी; उस विश्वामित्र-का उक्त वृत्त बताते हुए पुराणपर श्रद्धा ही न करें; हमारे यहांसे त्रिशङ्कुको द्युलोकमें भेजा गया था; ध्रुवने तो द्युलोकमें जाकर ध्रुवपद ही प्राप्त कर लिया, हमारे यहांसे भेजे हुए शशक और मृग आज भी चन्द्रलोकमें विराजमान हैं, जिससे चन्द्रमाका नाम आज भी शशाङ्क और मृगाङ्क प्रसिद्ध है—उन प्राचीनों पर विश्वास न करना, उन पर हँसी उड़ाना, अपने मस्तिष्कको विदेशियोंसे खरीद लिया हुआ एवं परप्रत्ययनेयबुद्धि सिद्ध करना है।

पूर्वोक्त बात आचार्य-चरणने आगे भी स्पष्ट की है। देखिये-'लोके देवाः, पितरः, ऋषय इत्येवमादयो महाप्रभावाः चेतना अपि सन्तोऽनपेक्ष्यैव बाह्यं साधनम्, ऐश्वर्यविशेषयोगाद्, अभिध्यान-

मात्रेण स्वत एव बहूनि नानासंस्थानि शरीराणि, प्रासादादीनि, रथादीनि च निर्मिमाणा उपलभ्यन्ते मन्त्र-अर्थवाद-इतिहास-पुराणप्रामाण्यात्' (वे. २।१।२५) 'ऋषि आदि महाप्रभावशाली व्यक्ति थे, वे बिना बाहरी साधनोंके उक्त ऐश्वर्योंसे ही सङ्कल्प-मात्रसे बहुतसे शरीर तथा साधन जुटा लेते थे, जैसे कि—'श्रीकृष्णके सङ्कल्पमात्रसे द्रौपदीकी साड़ी बढ़ गई'।

जब इस प्रकार ऋषि-मुनि प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व तथा वशित्व आदि ऐश्वर्योंसे केवल संकल्पमात्रसे नाना-शरीरों तथा नाना-कार्योंको कर सकते थे; तब एतदादिक-ऐश्वर्योंसे युक्त अगस्त्य-ऋषिके द्वारा भी संकल्पमात्रसे बहुत शरीरोंको बनाकर, वा वैसा बड़ा शरीर बनाकर समुद्रपान भी सङ्गत हो जाता है। अणिमा आदि ऐश्वर्योंको योगियोंमें प्रतिपत्ती भी मानते ही हैं।

(६) पाठकोंसे यह छिपा नहीं है कि—अगस्त्य ऋषि तपस्वी थे—'तपस्वी तत्र भगवान् अगस्त्यः प्रत्यदृश्यत' (महाभारत उद्योग १७२) तपस्यामें असम्भवसे भी असम्भव कार्योंको पूर्ण करनेमें अद्भुत क्षमता है। तपस्या जलपर पत्थर तैरा सकती है, हथेलीपर सरसों जमा सकती है, समुद्र-पान करा सकती है, परन्तु चाहिये पूर्ण-तपस्या। तपस्याके महत्त्वमें मनुस्मृतिका एक पद्य देखिये—

'यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तत् तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमम्॥' (११।२३८)

यदि तपस्याका ऐसा माहात्म्य है; तो मनुका माननेवाला

समाज बतावे कि—ऋषि-अगस्त्यने भी तपस्याकी शक्तिसे यदि दुस्तर, दुष्कर, दुर्गम समुद्रका पान कर लिया हो, अर्थात् उसे अपनी तपः-शक्तिसे तीन अञ्जलि-इतना कर लिया हो; तब इसमें आश्चर्य क्या? तपकी महिमा वेदमें देखिये—'भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे। ततो राष्ट्रं बलम् ओजश्च जातम्' (अथर्व. १६।४१।१) इस मन्त्रका अर्थ आर्यसमाजी पण्डित-श्रीराजारामशास्त्रीने इस प्रकार किया है—'भलाई चाहते हुए, स्वर्गको ढूँढ़नेवाले ऋषि आरम्भमें तप और दीक्षामें बैठे; उस (तप) से राष्ट्रबल और शक्ति उत्पन्न हुई'। इससे स्पष्ट है कि—ऋषियोंमें तपस्यासे अद्भुत शक्ति हो जाती है, उसमें सारे राष्ट्रका बल आ जाता है। तब तपस्वी एवं ऋषि अगस्त्यके अलौकिक-बलमें क्या संशय रह सकता है?

(७) शङ्काकर्ताओंके नेता स्वा.दयानन्दजीने अपने स.प्र.के सप्तम-समुल्लासमें कहा है—'परमेश्वरकी स्तुति करना है, वह निर्गुण-स्तुति है। इसका फल यह है कि—जैसे परमेश्वरके गुण हैं; वैसे गुण, कर्म, स्वभाव अपने भी करना' (पृ० १११) इससे सिद्ध होता है कि—परमात्मामें जो गुण-कर्म हैं; तपस्या-प्रार्थना आदिसे वे जीवमें भी प्राप्त हो सकते हैं। इसीलिए 'तेजोसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि, बलमसि बलं मयि धेहि, ओजोसि ओजो मयि धेहि' (यजु. १६।६) इस मन्त्रका अर्थ स्वा.द.जीने यह लिखा है—'आप प्रकाशस्वरूप हैं, कृपा कर मुझमें भी प्रकाश स्थापन कीजिये। आप अनन्त पराक्रमयुक्त हैं,

इसलिए मुझमें भी कृपा-कटाक्षसे पूर्ण-पराक्रम धरिये। आप अनन्त-बलयुक्त हैं, इसलिए मुझमें भी बल धारण कीजिये। आप अनन्त-सामर्थ्ययुक्त हैं, इसलिए मुझको भी पूर्ण-सामर्थ्य दीजिये' (स. प्र. ७ पृ. ११२) इसमें प्रष्टव्य है कि—परमात्मा प्रार्थनाका फल देता है या नहीं ? या प्रार्थनाको स्वीकार करता है या नहीं ? यदि नहीं; तब तो प्रार्थना व्यर्थ है ? वह यदि अनन्तसामर्थ्ययुक्त है, तो हम स्वयं तो वैसे हो सकते नहीं; तब वह प्रार्थना कैसी ? तब 'परमात्मा–जैसे गुण-कर्म स्वभाव अपने भी करना' यह स्वा.द.जीका अपना वाक्य भी व्यर्थ हो जाएगा। यदि परमात्मा सबकी वैसी प्रार्थना स्वीकृत नहीं करता, कर्मानुसार ही वैसी प्रार्थनाको स्वीकृत करता है; तो इससे सिद्ध हुआ कि—ऋषि-मुनियोंकी तपस्या आदिसे वह उनकी वैसी प्रार्थना स्वीकृत कर लिया करता है। अपनी भांति उनमें अनन्त-पराक्रम, अनन्त-बल और अनन्तसामर्थ्यको कर दिया करता है। उक्त मन्त्रमें वीर्य, बल, ओज आदि शब्द दोनों स्थलोंमें समान कहे हैं, वहाँ परमात्मा वा जीवमें इन शब्दोंका कुछ भी तारतम्य वा वैषम्य नहीं कहा गया–यह भी ध्यान रख लेना चाहिये। यदि ऐसा है; तो ईशने अगस्त्य ऋषिकी वैसी प्रार्थना स्वीकृत कर ली होगी; और उसे अपना अनन्त बल दे दिया होगा। तब उस बलसे अगस्त्य ऋषिने सारा समुद्र पी लिया हो—इसमें आश्चर्यका अवसर नहीं, क्योंकि–वहाँ बलका विशेषण 'अनन्त' (अपरिमित) है; तब यदि वह अपरिमित-बलसे समुद्र न पी सकेगा, तब

क्या वह परिमित-बलसे समुद्र-पान कर लेगा ? ऐसा होनेपर अगस्त्य-ऋषिका समुद्रपान तथा अन्य ऋषियोंके लोकोत्तर-कर्म भी समूल सिद्ध होगये; तब असम्भवकी आशङ्का करते हुए स्वामीके अनुयायी स्वयं अपने वाक्योंसे प्रत्युत्तरित होगये। 'तेजोसि तेजो मयि धेहि' 'बलमसि बलं' आदिमें भी समान ही बल आदि शब्द हैं। जैसा बल, प्रार्थित किये परमात्मामें है, वैसा ही बल प्रार्थकने अपने लिए माँगा है। दोनों बलोंमें वैषम्य कुछ भी निर्दिष्ट नहीं; यह हम संकेतित कर चुके हैं; तब ऋषि, मुनि वा योगी भी वैसे लोकोत्तरबलशाली सिद्ध होगये। जब वे भी परमात्माकी भांति अनन्त-बल वाले सिद्ध होगये; तब उनके सामने समुद्र वा नदीका पान कितनी मात्रा है—यह स्वयं ही समझा जा सकता है।

शतपथब्राह्मणमें कहा है—'तपसा वै लोकं जयन्ति' (३।४।४।२७) जब तपस्यासे सारा लोक (संसार) जीता जा सकता है; तब समुद्रके जीतनेमें ही क्या कठिनता है ? 'तैत्तिरीयारण्यक'में कहा है—'तपसा देवा देवतामग्रे आयन्, तपसा ऋषयः स्वरविन्दन्। तपसा सपत्नान् प्रणुदाम अरातीर्येनेदं विश्वं परिभूतं यदस्ति' (३।१२।३) यहाँ अन्तिम-अंशमें सिद्ध किया गया है कि—तपस्यासे सारा जगत् परिभूत हो (दब) जाता है। जब ऐसा है; तब तपोबलसे समुद्रके दबानेमें क्या कठिनता है ? और देखिये—योगदर्शनके कैवल्यपादके प्रथमसूत्रके भाष्यमें कहा है—'तपसा संकल्पसिद्धिः'। इस प्रकार जब तपस्यासे सभी संकल्प सिद्ध हो

जाते हैं; तब तपस्वी-अगस्त्यके देवताओंके हितार्थ किये हुए समुद्रके सुखानेरूप समुद्रपानात्मक सङ्कल्पकी सिद्धिमें योगशास्त्र माननेवाला कौन वादी विघ्न डाल सकता है ?

वेदमें 'ततो ह मान उदियाय मध्यात्' (ऋ. ७।३३।१३) इस मन्त्रमें अगस्त्यको शमी-प्रमाण तथा कुम्भसे उत्पन्न बताया है। श्रीदुर्गाचार्यने निरुक्तमें उक्त-शब्दकी यही व्युत्पत्ति की है—'अगः-कुम्भः, तत्र स्त्यानः-संहत इति अगस्त्यः' (१।५।१३)। तब क्या शङ्काकर्ता शमी (जांटी-वृक्ष)के परिमाणवाले वा कुम्भसे उत्पन्न हैं ? यदि नहीं; तब वे अगस्त्यकी शक्तिको अपनी शक्तिके ही समान कैसे मानते हैं ? जिसकी उत्पत्ति ही विचित्र तथा अलौकिक है; तब उसकी शक्ति भी विचित्र तथा अलौकिक क्यों न हो ?

(८) वेदमें कहा है—'देवानां सर्वेषां वाचा यक्ष्मं ते वारयामहे' (अथर्व० ६।८५।२) यहां पर वाणीमात्रसे महारोगकी निवृत्ति बताई है। 'क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि' (अ० २।३१।२) यहां पर वाणीमात्रसे क्रमियोंका नाश बताया गया है। तब पीनेसे समुद्रके सुखानेमें आश्चर्य क्या ? नहीं तो वाणीमात्रसे रोगका नाश तथा क्रमि-विनाश कैसे उपपन्न हो सकता है ?। यदि यह हो सकता है; तो वाणीसे ही समुद्रको तीन अञ्जलि-इतना बना देना, तथा उसका पान भी असम्भव नहीं। जैसे वहां शक्ति दिखलाई है, वैसे यहां पर भी शक्ति दिखाई गई है। तभी तो शतपथ-ब्राह्मणमें कहा गया है—'दैवी वाग्-आविशति, सा वै दैवी वाग्, यया यद् यदेव वदति; तत् तद् भवति' (१४।४।३।२७) दैवी वाक् वह होती है, जिससे जो कहे, वही हो जावे। तभी तो अथर्व-वेद (शौ.) सं.में कहा है—'अप कामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम्। इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीः, तस्माद् 'वार्' नाम वो हितम्' (३।१३।३) इसका डी. ए. वी. कालेज लाहौरके आर्यसमाजी-विद्वान् श्रीराजारामशास्त्रीने इस प्रकार अर्थ किया है—'इच्छाके विरुद्ध बहती हुई तुम देवियों (नदियों) को इन्द्रने अपनी शक्तियोंसे रोक लिया, इसलिए तुम्हारा नाम 'वार्' रखा गया'। जब शक्तिसे नदियोंका रोकना हो सकता है, तब तपकी शक्तिसे समुद्रपानमें भी आश्चर्य नहीं। (६) पाठकगण चींटीका दृष्टान्त सदा याद रखें। हमारी लघुशङ्का चींटीकेलिए समुद्र है, और वृष्टि उसकेलिए महाप्रलय है, हमारा श्वास (फूंक) उसकेलिए अन्धेरी है; आपका पुरीष उसकेलिए पर्वत है, और पर्वतका पतन उसकेलिए समस्त-ब्रह्माण्डका पतन है। हमारी लेखनीकी निब उसकेलिए वज्र है, हमारे घरका छोटा छेद उसका महल है। ऊंट और हाथीकी लघुशङ्का वादियोंके स्नानकेलिए भी पर्याप्त हो सकती है; वैसे ही शमीपरिमाणवाले, तपस्या आदि अलौकिक-बलशाली अगस्त्यके सामने हम भी चींटीके समान हैं, सूर्यके सामने जुगनूं एवं थोड़ी शक्ति वाले हैं। जो समुद्र हमारे लिए समुद्र है, वही अगस्त्य-ऋषिकेलिए थोड़े जल वाला है।

(१०) इससे महादेवके सिरपर गङ्गा-धारणकी भी व्याख्या हो गई। महादेव हमारी भान्ति कोई साधारण पुरुष नहीं;

किन्तु परमेश्वर एवं सर्वव्यापक हैं। हिमालय-पर्वत उनके सिर-का एकदेश है। उसमें गङ्गाकी स्थिति असम्भव कैसे हो? हमारे लिए जो गङ्गा है; वह उस सर्वशक्तिमानकेलिए जलकी एक बूंद है। इसमें शक्ति-भेद ही कारण है। वही गङ्गा विष्णुका चरणोदकमात्र है, और ब्रह्माके कमण्डलुका जलमात्र है। अथवा महादेवादिको छोटे आकारका भी माना जावे; तो वहां गङ्गाको बीजरूप समझना चाहिये। जैसे एक वड़के बीजमें अगणित स्कन्ध, शाखाएं एवं पत्ते और लकड़ियाँ अव्यक्तरूपसे रहते हैं; उसे पृथ्वीमें बोने पर जलवायु आदिकी अनुकूलतासे उसका अव्यक्त अंश व्यक्त हो जाता है, वैसे गङ्गा भी पृथिवीमें आनेसे पूर्व शिवके सिरमें सूक्ष्मरूप थी। इससे "महादेवके सिरसे गङ्गा-नदी निकली, और हमारे सिरसे नल भी नहीं निकलता" यह आर्यसमाजियोंका उपहास कट गया। हममें और महादेवमें शक्तिका सरसों और पहाड़से भी अधिक अन्तर है। महादेवने तो सिरमें गङ्गा भरी थी कि-वह नीचे गिरकर पातालमें न चली जावे, यह उस इतिहासमें व्यक्त है; इसलिए वह वहांसे निकली भी। क्या वादियोंने भी अपने सिरमें नल भर रखा है कि-वह वहांसे निकलें ?।

'इतनी वड़ी गङ्गा महादेवकी जटामें जलविन्दुकी भान्ति समा कैसे गई' इस शङ्कापर शङ्काकर्ताओंको जानना चाहिये कि-सूर्य भी भोजनकी थाली–इतना बड़ा दीखता है; पर है बहुत बड़ा। जो गङ्गा उन्हें बड़ी मालूम होती है; वह तेरह लाख

पृथिवियों–इतने सूर्यके सामने एक बूंदसे भी कम है; वैसे ही महादेव जो देवोंके देव परमात्मा ही हैं, जिसकी सूर्य भी दाहिनी आंख हैं, उसके आगे वह बून्दसे भी कम ही है। वादी उस महादेवको साधारण-पुरुषकी आकृति वाला जानते हैं; तभी 'वह बून्दकी भान्ति गङ्गाके धारण करने पर भी उसपर हैरान होते हैं। इसमें इतिहास वा इतिहास-दर्शकका कोई अप-राध नहीं। अपराध है तो वादियोंकी संकुचित-बुद्धिका; जो कि वे सूर्य वा महादेवको तो छोटा और गङ्गाको वड़ा मानते हैं।

(११) इस प्रकार अगस्त्यके विषयमें भी जानना चाहिये। जो समुद्र साधारण-शक्तिवाले वादियोंकेलिए वड़ा है; वही तपस्या एवं योग-बल आदिसे मिले हुए अगस्त्यकेलिए तीन अञ्जलि है। इसमें उसकी तप तथा योगशक्ति तथा चित्तवलका-अनुमान कर लेना चाहिये। इसलिए योगदर्शनके कैवल्यपादके दशमसूत्रके व्यासभाष्यमें कहा है—'दण्डकारण्यं चित्तवल-व्यतिरेकेण कः शारीरेण कर्मणा शून्यं कर्तुमुत्सहेत, समुद्रम् अगस्त्यवद् वा [चित्तवल-व्यतिरेकेण शारीरेण कर्मणा कः] पिवेत्!' (४।१०) अर्थात्-यदि चित्तवलकी सत्ता न होती; तो शारीरिक कर्ममात्रसे समृद्ध-नगरको कौन दण्डकारण्य बना सकता; और समुद्रका अगस्त्यकी तरह कौन शारीरिक-कर्मसे पान कर सकता, यदि चित्तवल न होता।

इस वादिप्रतिवादिमान्य-व्यासभाष्यसे सिद्ध हुआ कि-श्री-व्यासजी चित्तवलके वलको मानते हैं; और उसी बलसे एक

ऋषि-द्वारा नगरको दण्डकारण्यरूपमें परिणत करनेके इतिहास-को, तथा अगस्त्यके समुद्र-पानके इतिहासको सत्य मानते हैं। 'आलोक'-पाठकोंको यह भी जानना चाहिये कि-अविश्वस्तोंके शिरोमणि स्वा.द. भी श्रीपतञ्जलिकृत-योगसूत्रों पर व्यासमुनि-कृतभाष्यको अपने स.प्र. के ३य समु. (पृ० ४२) तथा 'संस्कार-विधि'के ११२ पृष्ठ, तथा ऋ.भा.भू.के २६३ पृष्ठमें ग्राह्य तथा प्रामाणिक मान गये हैं। तब फिर उसी व्यासभाष्यमें लिखे तथा समर्थित किये हुए 'अगस्त्य-ऋषिके समुद्रपान'में कौन दयानन्दानुयायी नकार कर सकता है ?।

स्वामीके अनुयायिओंको स.प्र. (११ समु. पृ. २०६) के यह शब्द याद रख लेने चाहियें—'शारीरक सूत्र, योगशास्त्रके भाष्य आदि व्यासोक्त ग्रन्थोंके देखनेसे विदित होता है कि-व्यास जी बड़े विद्वान्, सत्यवादी, धार्मिक, योगी थे'। जब स्वा.द. योगदर्शनके व्यासभाष्यकी इस प्रकार स्तुति करते हैं; तब फिर उसी व्यास-भाष्यमें लिखा 'अगस्त्य-ऋषिका समुद्रपान' 'गप्प' सिद्ध न हुआ। किन्तु 'यथार्थ' ही सिद्ध हुआ। तब किसी भी दयानन्दानुयायीका 'ननु, नच, किन्तु, परन्तु' करनेमें अवकाश न रहा।

(१२) इससे 'अगस्त्य'का आलङ्कारिकतासे सूर्य अर्थ करते हुए वादी खण्डित हो गये। उनके मतमें सूर्यमें अचेतनतावश चित्तवल असम्भव होनेसे सूर्य-द्वारा चित्तवलसे समुद्रपान घटित नहीं होता। व्यासजीने अपने योगभाष्यमें चित्तवल द्वारा ही अगस्त्यका समुद्रपान बताया है, तापसे नहीं। किसी इतिहासमें

भी सूर्य-द्वारा समुद्र-शोषण नहीं बताया गया। अगस्त्य सूर्य ही है-इसमें भी कोई प्रमाण नहीं। अतः वादियोंकी यह कल्पना व्यर्थ है। जगत्प्रसिद्ध-श्रीआद्यशङ्कराचार्यजीने भी 'अगस्त्यका समुद्रपान' अपने गीताभाष्यमें माना है। देखिये—'यथा अगस्त्येन ब्राह्मणेन समुद्रः पीत इति इदानीन्तना अपि ब्राह्मणा ब्राह्मणत्व-सामान्यात् स्तूयन्ते' (१२।१२)। सूर्यकेलिए ब्राह्मण-शब्दका कोई सम्बन्ध नहीं।

तपस्याके विषयमें पाठक कुछ और भी याद रखें। वेदमें लिखा है-'तपसा ये अनाधृष्याः' (ऋ. १०।१५४।२, अथर्व. १८। २।१६) अर्थात्—तपस्यासे तपस्वीको कोई दबा नहीं सकता। तब तपस्वी-अगस्त्यको समुद्रकी विशालता कैसे दबा सकती ? महा-भारतके अनुशासन-पर्वमें कहा है—'न तपसा न साध्यं नाम किञ्चन' (४१।२६) 'तपस्यासे कुछ भी असाध्य नहीं'। यदि ऐसा है; तो तपस्वी-अगस्त्यसे समुद्रका पान भला असाध्य कैसे हो ?। तपस्वी महिमा-नामक सिद्धिसे समुद्र-इतना रूप बनाकर उसको कैसे नहीं पी सकता ?।

(१३) प्रतिपक्षियोंकी पुराणोंमें जैसी अश्रद्धा है, वैसे महा-भारतमें नहीं। महाभारतकी वे कथाएँ करते हैं; उसपर व्याख्यान करते हैं; उसी महाभारतमें अगस्त्यकेलिए क्या लिखा है—यह भी देखिये—'पीतः समुद्रोऽगस्त्येन अगाधो ब्रह्मतेजसा' (आदि-पर्व १६०।१५) 'अगस्त्यने ब्रह्म-तेजके बलसे समुद्रपान कर डाला'। महाभारतने केवल उसका यहाँ संकेतमात्र नहीं लिखा; प्रत्युत

दूसरे स्थान उसका पूरा इतिहास भी दिया है। उससे हम कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं—

'अगस्त्येन विना को हि शक्तोऽन्योऽर्णवशोषणे' (वनपर्व १०३।११) एतावदुक्त्वा वचनं मैत्रावरुणिरच्युतः। समुद्रमपिबत् क्रुद्धः सर्वलोकस्य पश्यतः' (१०५।३) वहां 'मैत्रावरुणि' अगस्त्यकेलिए आया है। इसीलिए अजमेरके आर्यसमाजी-वैदिकयन्त्रालयमें प्रकाशित मूल-ऋग्वेदमें १।१६६ सूक्तका ऋषि मैत्रावरुण-अगस्त्य कहा गया है। इतिहास और वेदमें भी यह स्पष्ट है-यह अन्य निबन्धमें बताया जायगा। 'स पूज्यमानस्त्रिदशैर्महात्मा (अगस्त्यः) महार्णवं निःसलिलं चकार' (१०५।६) गच्छध्वं विबुधाः सर्वे यथाकामं यथेप्सितम्। महता कालयोगेन प्रकृतिं यास्यतेऽर्णवः' (१०६।२) यह इतिहासका निष्कर्ष है।

(१४) यही आक्षेप्ता प्रतिपक्षी लोग श्रीयास्कके निरुक्तपर बड़ी श्रद्धा रखते हैं। उसमें विश्वामित्रके विषयमें लिखा है कि जब ऋषि सुदास-राजाका यज्ञ कराकर बहुत-सा धन प्राप्त करके व्यास और सतलुज नामक नदियोंके सङ्गमपर पहुँचे; उस समय चोर लोग उनसे धन खींचनेकेलिए पीछे लग गये। विश्वामित्रने नदियोंमें बड़ा प्रवाह देखकर पार जानेकी इच्छासे उन नदियोंको प्रेरित किया कि-'गाधा भवत' (नि. २।२४।६) 'अगाध तुम नदियां गाध (थोड़े-जल वाली) हो जाओ। यही इस वेदमन्त्रमें कहा है—'रमध्वं मे वचसे ऋतावरीः! उप' (ऋ. ३।३३।५) इस मन्त्र-का ऋषि (वक्ता) विश्वामित्र है, और देवता (प्रोच्यमान) नदियां

हैं-यह आर्यसमाजी-वैदिकप्रेसकी ऋ.सं.में भी देखा जा सकता है। इसी मन्त्रका अर्थ निरुक्तकारने कहा है-'उपरमध्वं मे वचसे' (२।२५।१) (हे नदियो! मेरे वचनकी पूर्तिकेलिए तुम रुक जाओ)। पहले तो नदियोंने न माना; अन्तमें मान लिया, अर्थात् वे विश्वामित्रके वचनसे थोड़े-जलवाली हो गईं, यही बात निरुक्तमें कही है—'प्रत्याख्याय अन्तत आशुश्रुवुः' (२।२७।१), और यही निम्न वेदमन्त्रमें भी कहा है-'आ ते कारो! शृणवामा वचांसि... नि ते नंसै' (ऋ. ३।३३।१०) इसीका निरुक्तकारने यह अर्थ किया है—'आ शृणवाम ते कारो! वचनानि...निनमाम ते' (२।२७।१) (हे वेदसूक्तोंके द्रष्टा; हम तेरा वचन मानकर झुकती हैं, अर्थात् गाधोदक-थोड़े जलवाली होती हैं। यह तपस्वीके वचनकी महिमा है। इस प्रकार जब तपस्वी-विश्वामित्रने वाणीमात्रसे अगाध-जलवाली नदियोंको गाध (थोड़े) जल वाली कर दिया; वैसे अगस्त्यके विषयमें भी जाना जा सकता है। दोनों ही तपस्वी थे, यह नहीं भूलना चाहिये।

(१५) वेदमें कहा है—'यानि अन्नानि ये रसाः'। 'गृह्णेऽहं तु एषां भूमानं बिभ्रद् औदुम्बरं मणिम्' (अथर्व. १६।३१।४) 'औदुम्बर-मणि धारण करनेवाला संसारका अन्न खा सकता है, और संसारका रस पी सकता है। 'रसो वै आपः' (शत. ४।४।५।१) इस प्रमाणसे रसका अर्थ 'जल' है। तब वह वैदिक-मणि उस वैदिक-ऋषि अगस्त्यके पास हो, और उसकी शक्तिसे उसने समुद्रका सारा जल पी लिया हो, तो इसमें वेदविरुद्धता क्या हो

सकती है ?

(१६) योगदर्शनके साधनपाद (प्रथमसूत्र) व्यासभाष्यमें कहा है—'नाऽतपस्विनो योगः सिध्यति' 'तपस्याके विना योग सिद्ध नहीं होता'। इससे स्पष्ट है कि-तपस्वी योगी हुआ करता है। योगकी विभूतियाँ यदि देखनी हों, तो योगदर्शनका विभूतिपाद देखना चाहिये। उसमें एक सूत्र है—'स्थूलस्वरूप-सूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः' (३।४४) अर्थात्—पृथिवी, जल, तेज, वायु नामक भूतोंके स्थूलस्वरूपमें तथा सूक्ष्मान्वयार्थमें संयम करने पर योगी पृथिवी, जल आदि पांच भूतोंको जीत सकता है। यदि ऐसा है; तो योग-शक्तिसे युक्त तपस्वी-अगस्त्यने यदि पांच भूतोंके अन्तर्गत जलमें विजय प्राप्त करके समुद्रके सारे जलका पान कर लिया हो; तो इसमें आश्चर्य क्या ?

इसी सूत्रके व्यासभाष्यमें लिखा है—'तत्र पञ्चभूतस्वरूपाणि जित्वा भूतजयी भवति। तज्जयाद् वत्सानुसारिण्य इव गावोऽस्य संकल्पानुविधायिन्यो भूतप्रकृतयो भवन्ति' 'योगी पञ्चभूतोंके स्वरूपको जीतकर उन पर विजय प्राप्त कर लेता है। विजय प्राप्त करने पर पांचों भूत पृथिवी, जल आदि उसकी सब प्रकारकी इच्छाएँ पूर्ण कर दिया करते हैं। इस प्रकार जल नामक भूत (तत्त्व) ने भी अगस्त्य-योगी की इच्छा समुद्रजलके शोषणकी पूर्ण कर दी हो; तो इसमें क्या आश्चर्य ! चन्द्र आदि कई ग्रहों वा मरुप्रदेशोंमें पाश्चात्य-विद्वान् कई सूखे समुद्र मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि-शक्तिविशेषके कारण समुद्रका कालविशेषमें सूख जाना

असम्भव नहीं।

इस बातको सन्देहकी दृष्टिसे देखनेवालोंके नेता स्वा.द.जीने योगदर्शनको प्रामाणिक माना है, उसमें व्यासभाष्यको भी प्रामाणिक माना है—यह पहले हम बता आये हैं। शायद योगदर्शनका विभूतिपाद किन्हींके मतानुसार स्वा.द.जीसे प्रतिकूल हो-यह भी नहीं है। स्वामीने विभूतिपादको सत्य माना है। स्वा. सत्यानन्दसे बनाये हुए स्वा.द.के जीवन-चरित्र 'श्रीमद्-दयानन्दप्रकाश'में राजस्थान-काण्डके द्वितीयसर्ग ४६५ पृष्ठमें लिखा है-'एक सज्जनने स्वामीजीसे निवेदन किया-भगवन् ! पातञ्जल-शास्त्रका विभूतिपाद क्या सच्चा है ? उन्हों (स्वामीजी)ने कृपा की-आप यों ही सन्देह करते हैं। योगशास्त्र तो अक्षरशः सत्य है। वह कोई पुराणोंकी-सी कल्पना नहीं है, किन्तु क्रियात्मक और अनुभवसिद्ध शास्त्र है'। यदि ऐसा है; तो अगस्त्यका समुद्र-पान भी क्रियात्मक तथा अनुभवसिद्ध सिद्ध हुआ, क्योंकि-यह योगशास्त्रमें जलभूतके वशीकरण-द्वारा सिद्ध बताया गया है। कैवल्यपादके १० वें सूत्रके वादिप्रतिवादिमान्य-व्यासभाष्यमें तो 'समुद्रम् अगस्त्यवद् वा पिबेत्'में तो स्पष्टतया नाम लेकर भी बताया गया है। यदि ऐसा है; तो दयानन्दानुयायी-व्यक्ति तो इसमें 'ननु-नच' करनेके अधिकारी नहीं; क्योंकि उनके स्वामीने योग-शास्त्रको अक्षर-अक्षर सत्य माना है।

योगदर्शनमें कहा है—'तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधि-भिर्निर्वर्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामाराधनाद् यः परि-

निष्पन्नः पुण्यकर्माशयः स सद्यः परिपच्यते। यथा-नन्दीश्वर-कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः' (साधनपाद १२ सूत्र) यहाँ तपोबलसे मनुष्यका अपने मनुष्य-शरीरको भी बदलकर उसी जन्ममें देवता बन जाना लिखा है; तब तपस्वीके अन्यान्य अलौकिक-कर्मोंमें असम्भव कैसा ?

उसी दर्शनमें यह भी कहा है—'कायेन्द्रियशुद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः' (२।४३) यहाँ व्यासभाष्यमें लिखा है—"निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्ति अशुद्ध्यावरणमलम्। तदा आवरणमलापगमात् कायसिद्धिः अणिमाद्या, तथा इन्द्रियसिद्धिर्दूरात् श्रवणदर्शनाद्या"। यहाँपर तपस्यासे आवरणमलके हट जानेपर अणिमा आदि सिद्धियोंकी प्राप्ति कही गई है। तब उनकी प्राप्ति होनेपर योगीके-लिए जगत्में कुछ भी असम्भव नहीं रहता; उसमें समुद्रपान तो साधारण-घटना हो जाती है।

(१७) आठ सिद्धियाँ हम पहले दिखला चुके हैं। सांख्य-तत्त्वकौमुदीमें सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-श्रीवाचस्पतिमिश्रने २३ कारिकाकी व्याख्यामें इनका विवरण दिया है। १ 'अणिमा—अणुभावः; यतः शिलामपि प्रविशति (इतना सूक्ष्म हो जाना कि-पत्थरमें भी घुस जावे, जैसेकि-हनुमान्ने लंकाप्रवेशके समय अपना सूक्ष्मरूप कर लिया था।) २ लघिमा—लघुभावः, यतः सूर्यमरीचीन् अवलम्ब्य सूर्यलोकं याति (इतना हल्का हो जाना कि-सूर्य किरणोंके सहारे सूर्य-लोकमें पहुँच जाना। जैसे मत्स्यावतारमें विशाल भी मत्स्यने अपनेको इतना हल्का बना लिया कि-मनुजी

भी उसे उठा सके)। ३ महिमा—महतो भावः यतो महान् भवति (बड़ा होजाना, जैसे वामनावतारने अपने शरीरको बड़ा विशाल बना लिया)। ४ प्राप्तिः—अङ्गुल्यग्रेण स्पृशति चन्द्रम् (सभी कुछ पा लेना, अपनी अंगुलिके अग्रभागसे चन्द्रमाको छू लेना। जैसे कि-भरद्वाजमुनिने सेना-सहित भरतका आतिथ्य कर लिया)। ५ प्राकाम्यम्—इच्छाऽनभिघातः, यतो भूमौ उन्मज्जति, निमज्जति च; यथा उदके (जो इच्छा हो, उसकी पूर्ति हो जावे। भूमिमें इस प्रकार घुस-निकल आवे, जैसेकि पानीमें। इस इच्छाऽनभिघातमें अगस्त्यका समुद्रपान घटाया जा सकता है)। ६ वशित्वम्—भूत-भौतिकं वशीभवति अस्य अवश्यम् (पञ्चभूत तथा भौतिक वस्तुएँ वश हो जाएँ। यहाँ भी अगस्त्यका जल-भूतको अपने काबूमें करना घटा लेना चाहिये)। ७ ईशित्वम्—भूतभौतिकानां प्रभवस्थितिमीष्टे (पञ्चभूतोंका ईश बन जाना; जैसे चाहे उनको नाच नचाना। यहाँ भी अगस्त्यका जल-भूत पर ईश बन जाना समझा जा सकता है)। ८ कामावसायित्वम्—सत्यसङ्कल्पता। यथाऽस्य सङ्कल्पो भवति भूतेषु [पृथ्वी-जलादिषु]; तथैव भूतानि [पृथिवी-जलादीनि] भवन्ति' (संकल्पका उसी क्षण पूर्ण हो जाना, जल आदि भूतोंसे जैसा चाहे वैसा काम निकालना। यहाँ भी अगस्त्यका उदाहरण ठीक समन्वित होता है।)

पाठकोंने देखा कि-सिद्धियोंमें कितनी सिद्धि है। जब कामावसायित्व सिद्धिके कारण जल आदि भूत योगीके संकल्पानुसार चलते हैं; तब हमारा पक्ष सिद्ध होगया। जब भूमिमें बैठा हुआ

चन्द्रमाको छू सकता है; तब समुद्रमें व्याप्त होकर उसके जलपान में क्या आश्चर्य रह जाता है? न्यायदर्शनमें भी योगीकी इन्हीं सिद्धियोंको उद्दिष्ट करके लिखा है-'योगी खलु ऋद्धौ (अणिमादि-सिद्धौ) प्रादुर्भूतायां विकरणधर्मा (अद्भुतेन्द्रिय-सामर्थ्यवान्) निर्माय सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि तेषु युगपज्ज्ञेयान् उपलभते' (३।२।१६) 'योगीकी अणिमादि सिद्धि प्रकट होने पर उसकी इन्द्रियाँ हम-साधारणोंसे विलक्षण तथा विचित्र-शक्तिशाली हो जाती हैं' यदि ऐसा है, तो हमसे विलक्षण इन्द्रिय-धर्म वाले अगस्त्यकी इस विषयमें विलक्षणता तो माननी ही पड़ेगी। उसने भी तब इन्द्रियों-सहित बहुत शरीर बनाकर उनके द्वारा एकदम यदि समुद्र-पान कर लिया; तब इसमें क्या आश्चर्य रहा? 'अद्याहं शोषयिष्यामि सपातालं महार्णवम्' (वाल्मीकि० युद्ध० २२।१) 'आज मैं महासमुद्रको सुखा दूंगा, इस भगवान् श्रीरामकी उक्तिसे प्रतीत होता है कि-विशेष-शक्तिशाली हमारे पूर्वजोंमें समुद्र सुखानेकी शक्ति थी ही।

जैसे अगस्त्यकी अत्यन्त भूख वा प्यासमें सामर्थ्य दिखलाई गई है, वैसे ही पुराणोंमें ऐसे मुनियोंका भी वर्णन प्राप्त होता है, जो न खाते थे, और न लम्बे समय तक पीते थे। शङ्काकर्ता लोग इसमें भी आश्चर्य करते हैं; पर उन्हें याद रखना चाहिये कि-तपस्याकी महिमाका वाणी वा मन वर्णन नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त हमारे पूर्वज इस प्रकारकी ओषधियोंको भी जानते थे, जिनके उपयोगसे भूख-प्यास बढ़ जावे, वा हट

जावे। जयपुरके स्वर्गीय भट्ट श्रीकृष्णराम-वैद्यकेलिए प्रसिद्ध है कि-उन्होंने अपने शरीरकी पुष्टिकेलिए प्रतिदिन आग्रह करते हुए एक अन्तरङ्ग-मित्रको कहा कि-यदि सवा मन घी खानेकेलिए तुम्हारे पास धन है; तो इसी शीतकालमें तुम्हें सब विषयोंमें मल्ल बना दूं। तब रोगीने आशङ्का प्रकट की कि-धन भी हो; तथापि उतने घीको पचानेकी शक्ति कहांसे लाऊँगा? भट्टजीने कहा—उसके पचानेकी सामर्थ्य तो चावल-इतनी मेरी गोली ही कर देगी; पर यदि तुमने उतने घीके सेवनमें थोड़ी भी त्रुटि कर दी; तब तुम्हारा शरीर उपलेकी भांति जल जावेगा; फिर मैं भी उसका इलाज न कर सकूँगा।'

इस प्रकार जहाँ उदराग्निको बढ़ानेकी ओषधियाँ हैं; जिनसे भूख वा प्यास अतिशयित-मात्रामें बढ़ जावे, वैसे ही भूख-प्यासको मिटानेवाली ओषधियाँ भी हुआ करती हैं। जैसेकि वेदमें कहा है—'क्षुधामारं तृषामारम्... अपामार्ग' (अथर्व० ४।१७।६)। योगदर्शनमें भी कहा है-'कण्ठकूपे [संयमात्] क्षुत्-पिपासानिवृत्तिः' (३।३०) 'कण्ठके कूपके संयमसे भूख और प्यास हट जाती है'। अभी-अभी बीते महायुद्धमें हिटलरने ऐसी गोलियाँ तैयार कराई थीं; जिनके खानेसे न भूख तंग करे, न प्यास, और शक्ति भी स्थिर रहे। यह गोलियाँ सैनिकोंके जेबोंमें रहा करती थीं। बीच-बीचमें उनके सेवनसे उन्हें भोजन करना न पड़ता था। जब सेना किसी किलेमें घिर जाती; और खाद्य-सामग्री न प्राप्त हो सकती; तब यह गोलियाँ बहुत लाभप्रद

प्रमाणित होती थीं। मत्स्यपुराणमें भी एक 'क्षुद्योग' दिखलाया गया है, जिससे क्षुधा शान्त हो जाती है (२१६।२७५-२७६)। इस प्रकार 'कौटलीय-अर्थशास्त्र'के 'औपनिषदाधिकरण'में भी इस तरहकी अद्भुतताएँ दिखलाई गई हैं। अस्तु।

'यैः कृतः सर्वभक्षोऽग्निरपेयश्च महोदधिः' (६।३१४) इस मनुके पद्यसे भी समुद्र-पानकी घटनाका आभास दीखता है कि-जिन ब्राह्मणोंने समुद्रको अपेय (खारा) बना दिया—इस कथनसे अगस्त्य-द्वारा समुद्रपानका इतिहास संकेतित हो रहा है। वेद भी संकेत देता है—'अपानेन समुद्रस्य जठरं यः पिपर्ति' (अ० १३।३।४) जब अपानसे समुद्रकी पूर्ति कही गई है; तब अगस्त्यकी लघुशङ्कासे-जिसका मूल हमें अभी तक नहीं मिला, केवल प्रसिद्धि है-पुन समुद्रपूर्तिमें क्या आश्चर्य? समुद्रके खारेपनमें गोपथब्रा०में कहा है-'ता अपः सृष्ट्वा [ब्रह्म] अन्वैक्षत्। तासु स्वां छायामपश्यत्। ताम् अस्य ईक्षमाणस्य स्वयं रेतोऽस्कन्दत्। तद् अप्सु प्रत्यतिष्ठत्। ··· ताः श्रान्ताः, तप्ताः सन्तप्ताः, सार्द्धमेव रेतसा द्वैधमभवन्। तासामन्या अन्यतरा अतिलवणा अपेया अस्वाद्वयः, ता अशान्ता रेतः-समुद्रं धृत्वाऽतिष्ठन्' (१।१।३)। महाभारत वा पद्मपुराणमें तो समुद्रकी पुनः-पूर्ति गङ्गासे स्वतः हो जानी मानी है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि-तपःशक्तिसे समुद्रपान असम्भव नहीं। हाँ, यह कर्म सामान्यशास्त्र वा सर्वसाधारण नहीं, किन्तु अपवाद ही है। अपवाद कादाचित्क तथा क्वाचित्क हुआ करता है, सार्वदिक तथा सार्वत्रिक नहीं। इस विषयमें अन्य भी प्रमाण

दिये जा सकते हैं; पर विस्तार-भयसे हम यहीं रुकते हैं।

(१४) स्त्रीसे पुरुष और पुरुषसे स्त्री होना।

स्त्रीसे पुरुष हो जाना, वा पुरुषसे स्त्री हो जाना पुराण-इतिहासमें यत्र-तत्र वर्णित मिलता है, यद्यपि उनके सुननेसे कइयोंको अविश्वासका रोग उठता है; तथापि वे अपनी वैज्ञानिक-चिकित्सा यदि करायेंगे; तो यह रोग हट जाएगा। उन्हें यह जानना चाहिये कि-इस प्रकारकी घटनायें भूतकालमें हो चुकी हैं, और वर्तमानमें हो भी रही हैं, और भविष्यमें होंगी भी; क्योंकि यह भीतरी-कारणसे होता है-इसे हम आगे बताएँगे। अंग्रेजी-डाक्टर तो इसे एक भीतरी-बीमारी मानते हैं। कभी गर्भकी विचित्रताके कारण वास्तवमें पुरुष होते हुए भी उसके शिश्नके चिन्हपर स्त्रीकी योनिका चिन्ह भी बन जाता है। लोग समझते हैं कि-यह स्त्री है, परन्तु वह वास्तवमें होता पुरुष है। योग्य-डाक्टर द्वारा उस चिन्हके ऑपरेशन करनेपर वही आपाततः दीख रही हुई स्त्री पुरुष बन जाता है, जैसे कि-व्याकरणमें स्त्री-लिङ्गी शब्दके पुंवत् कर देनेपर उसके स्त्रीत्व-चिन्ह ङीप्-टाप् आदिकी निवृत्ति करनी पड़ती है, जैसे-कृष्ण-चतुर्दशी, कुमार-श्रमणा। इस प्रकार पुरुष-स्त्री बन जाता है। इस प्रकारकी घटना एक बार 'औंध (सातारा) के 'वैदिकधर्म'के सम्पादक 'श्रीपाददामोदर-सातवलेकरने भी 'नारदीसे नारद, नारदसे नारदी' इस शीर्षकसे लिखी थी। उसमें विवेचना भी दी थी। तब पुराणोंके समयमें भी ऐसी घटनाएँ घटी हों; तो

इसमें असम्भवको प्रश्रय नहीं दिया जाना चाहिये। तभी तो पुराण-प्रणेताओंने उसका उल्लेख किया; अन्यथा क्या उनको इस प्रकारके स्वप्न आया करते थे।

यह भी जानना चाहिये कि-जैसे व्याकरणमें पुंवद्भाव भाषितपुंस्क (जिसमें पुंस्त्व हो) को हुआ करता है, नित्य स्त्री-लिङ्गको पुंवत् नहीं हुआ करता, वैसे ही वही स्त्री पुरुष हो जाती है, जिसमें पुरुषका चिह्न पहलेसे तिरोहित हो, सर्वसाधारण-स्त्री पुरुष नहीं बन जाती। जैसे व्याकरणमें भाषितपुंस्क-स्त्रीके पुंवद्भावार्थ स्त्रीलिङ्ग-मूलक टाप् आदि प्रत्ययोंका लोप करना पड़ता है, वैसे ही वैसी स्त्रीके पुरुषत्वके लाभकेलिए उसके स्त्री-चिन्हका ऑपरेशन करना पड़ता है; तभी वह पुरुष बनती है; सर्वसाधारण-स्त्री नहीं, क्योंकि-यह अपवाद-विषय होता है।

अथर्ववेदसं.में 'इमं मे अद्य पूरुषं क्लीवमोपशिनं कृधि' (६।१३८।१) इस मन्त्रमें शत्रु-पुरुषका नपुंसक होना, तथा स्त्रीके चिह्नवाला होना प्रार्थित किया गया है। यदि यह असम्भव होता; तो यह वैदिक-प्रार्थना उन्मत्ततापूर्ण मानी जाती। आर्य-समाजी श्रीराजारामजी शास्त्रीने अपने अथर्ववेदके भाष्यमें इस सूक्तका विनियोग 'पुरुष-विशेषको नपुंसक बना देनेकेलिए' माना है; उन्होंने यह अर्थ किया है—'आज मेरे इस पुरुषको क्लीव, स्त्रीचिह्नवाला बना दे'।

इस प्रकार 'जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन्' (अथर्व. ८।६।२५) यहां पर 'पैदा हो रहा हुआ पुरुष स्त्री न हो जाए'—यह प्रार्थना

की गई है। तभी तो 'स्त्रिया अशास्यं मनः' (८।३३।१७) इस ऋग्वेदसं.के मन्त्रकी व्याख्यामें श्रीसायणाचार्यने यह वचन उद्धृत किया है—'प्लायोगिश्च आसङ्गो यः स्त्री भूत्वा पुमान् अभूत' 'प्लायोगि स्त्री था, फिर पुरुष बन गया'। उसीको बतलानेवाला यह मन्त्र है—'स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ' (ऋ.सं. ८।३३।१९) 'हि—यस्माद् ब्रह्मा सन् त्वं स्त्री बभूविथ'।

ऋग्वेदके सुबोधभाष्यमें 'मेधातिथि-ऋषिके दर्शन' (७२ पृष्ठ) में आर्यसमाजके माने हुए विद्वान् श्रीपाददामोदर-सातवलेकरने लिखा है—'इस अन्तिम मन्त्र 'ब्रह्मा स्त्री बभूविथ'में ब्रह्माका कार्य करनेवाला पुरुष स्त्री बनी थी, ऐसा कहा है। इस आंध्र नगरीमें 'कुमारी गोदावरी' नामकी एक कुमारी थी, उसकी एक तरुणके साथ शादी हो चुकी। स्त्री-पुरुषोंका मेल होनेसे पता लगा कि-श्रीमती गोदावरीके अवयव ठीक स्त्रीके समान नहीं हैं। अन्तमें डाक्टरोंने शस्त्रप्रयोगसे ऊपरका भाग काटकर फेंक दिया; तब पता लगा कि-वह अन्दरसे उत्तम पुरुष है। तब उस पुरुषकी शादी किसी दूसरी कुमारीसे हुई; प्रथम विवाह रद्द हुआ। वह परिवार अब तक जीवित है और बाल-बच्चोंके साथ आनन्दमें है। जन्मके १८ वर्ष स्त्री रही हुई मानवी इस तरह पुरुष हुआ। उक्त मन्त्रमें पहले पुरुष था; उसकी स्त्री बनी, और पश्चात् वह पुरुष बना होगा। यह कैसे हुआ, इसका पता लगाना चाहिये। ऋ. ८।१।३४ मन्त्र देखो, वहां पुनः पुरुषत्वकी प्राप्ति होनेका विधान है'। श्रीसातवलेकरजीकी यह प्रत्यक्ष-घटना कभी काटी

नहीं जा सकती-'प्रत्यक्षे किं प्रमाणान्तरेण'।

यह भी विचारना चाहिये कि-उत्पत्तिके समयमें केवल शिश्न और योनिका अन्तर हुआ करता है। एक ही वीर्यसे कभी शिश्न और कभी योनि बनती है, यह क्यों? उसमें मानना पड़ेगा कि-पुरुषके शुक्रकी प्रबलतामें सन्ततिके शरीरके अन्दर इस प्रकारकी वस्तुओंकी उत्पत्ति हो जाती है, जिससे पुरुषका चिह्न बाहर प्रकट हो जाता है, और स्त्रीके रजकी प्रबलतासे इस प्रकारकी वलियां भीतर हो जाती हैं, जिनके द्वारा स्त्रीका उपस्थ बन जाता है।

वास्तवमें यदि विचारा जाए; तो पता लगेगा कि-पुरुषमें पुरुषत्व तथा स्त्रीत्व दोनों होते हैं; पुरुषत्व प्रधान-रूपसे रहता है और स्त्रीत्व गौण-रूपसे, इसीलिए 'द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्। अर्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः' (१।३२) इस मनुवचन तथा शतपथ (१४।४।२।४-५) के अनुसार ब्रह्माने अपने एक शरीरके दो भाग किये। उसके आधे अंशसे पुरुष और आधे अंशसे स्त्री हुआ। आगे भी यही क्रम रहा। उन दो अंशोंके संयोगसे सृष्टि-वृद्धि शुरू हुई।

यदि एक शरीरमें स्त्रीत्व और पुंस्त्व दोनों न होते; तो ब्रह्माके एक शरीरके दो भाग कैसे होते? यदि यह न होता, तो स्त्री पुरुषका 'अर्धं भार्या मनुष्यस्य' (महाभारत १।७४।४१) अर्धाङ्ग कैसे कही जाती?

इससे स्पष्ट है कि-एक ही पुरुषमें स्त्रीत्व और पुंस्त्व दोनों ही हुआ

करते हैं। इसी प्रकार स्त्रीमें स्त्रीत्व तथा पुरुषत्व दोनों ही होते हैं; स्त्रीमें स्त्रीत्व प्रधानतासे होता है और पुरुषत्व गौण-रूपसे। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण यह है कि-कई पुरुषोंके दाढी-मूछ नहीं होते; वा थोड़े होते हैं; उसमें कारण यह है कि-उनमें स्त्रीत्व अधिकता-से और पुंस्त्व थोड़ा रहता है। इस प्रकार कई स्त्रियोंको दाढ़ी-मूछ भी स्फुट दीखते हैं; इसमें कारण यह है कि-उनमें पुंस्त्व अधिक और स्त्रीत्व थोड़ा होता है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि-स्त्री एवं पुरुषमें पुरुषत्व एवं स्त्रीत्व दोनों ही यथायोग्य रहते हैं; इसलिए पुरुषमें जहां स्त्री वाला चिह्न होना चाहिये; वहां पर प्रकृतिके नियमसे सिलाईका चिन्ह स्पष्ट दीखता है, इसका यह भाव हुआ कि-प्रकृतिने वहां पर होने वाले स्त्रीत्वके चिन्हको सी कर बन्द कर दिया है। बच्चोंको उठाकर देखिये। भगन्दर एक फोड़ा जहां स्त्रीको होता है, वहां पुरुषको भी होता है। 'भगं दारयति' यह इसकी व्युत्पत्ति है। पुरुषका भग नहीं होता; तब उसे भगन्दर क्यों हो? उसमें यह जानना चाहिये कि-स्त्रीके जिस स्थानमें भग होता है, पुरुषका वहां सिलाईका चिन्ह होता है—यह हम पूर्व कह चुके हैं, और वहीं वह फोड़ा प्रायः निकलता है। अथवा उससे कुछ दूर भी होता है; तो वहां भी प्रभाव उसी भग वाले स्थानका ही होता है। इससे स्पष्ट है कि-पुरुषमें भी स्त्रीचिन्ह गुप्त हुआ करता है, उसका यही कारण है कि-सन्तति शुक्र और शोणितके मिश्रणसे ही हुआ करती है। तब उसमें पुंस्त्व एवं स्त्रीत्वका भी मिश्रण होता है। पुरुष

इसीलिए बनता है कि-उसमें पिताका शुक्र प्रबल होता है; और माताका रज गौण, इसलिए ही उसमें भी स्वयं पुरुषत्व प्रधान रहता है, और स्त्रीत्व गौण। इस प्रकार स्त्री इसीलिए ही होती है कि-उसमें माताका रज प्रबल रहता है, और पिताका शुक्र गौण। तभी तो उसमें भी स्त्रीत्व प्रधान रहता-है और पुरुषत्व गौण। यह सर्वविदित होनेसे इसमें प्रमाणकी आवश्यकता नहीं।

यह है सामान्य-शास्त्र, पर अपवाद-शास्त्रका अवलम्बन करके पुरुषके शुक्र और स्त्रीके रजका इस प्रकारका तारतम्य हो जाता है, जिससे उत्पन्न तो होता है लड़का; परन्तु भीतरी पिताका वीर्य काल-क्रमवश निर्बल हो जाता है, कुछ समयके बाद उस वीर्यसे उत्पादित पुंस्त्व वाली नसें निर्बल हो जाती हैं, वा नष्ट हो जाती हैं। जब निर्बल हो जाती हैं; तब तो वह बालक नपुंसक हो जाता है, और नष्ट हो जानेपर स्त्री-रजकी प्रबलतासे उत्पादित स्त्रीत्व करने वाली नसोंकी भीतर प्रबलता हो जानेसे वा विकास हो जानेसे उसके फलस्वरूप-वही बालक कभी बालिका वा वही पुरुष कभी स्त्री हो जाता है। इस प्रकार भीतरी-परिवर्तन होने पर बाहरी-चिन्हका परिवर्तन स्वयमेव हो जाता है; क्योंकि-बाहरी-चिन्हकी निर्मितिका कारण भीतरी शुक्र-शोणितसे उत्पन्न नसें ही होती हैं। इसलिए कई आंखों वाले भी जब अन्धे हो जाते हैं; उनके भीतरसे नेत्रकी ज्योति लानेवाली भीतरी शक्ति क्षीण हो जाती है; तब भीतरी-मूलकी

शिथिलतावश उनकी आंख होती हुई भी स्वयं बन्द हो जाती है, या भीतर धंस जाती है। जैसे कि-भीतरी वात-दोषके कारण कई पुरुषोंके सिर वा हाथ बाहर स्वयं हिलते रहते हैं। इस प्रकार भीतरी कारणसे कठोर-गर्मीमें भी मलेरिया-रोगमें पुरुष-को इतनी शीत लगने लगती है कि-उसे पांच रजाइयाँ भी नहीं हटा सकतीं। इस प्रकार शरीरकी बाहरी घटनाका मूल भीतरसे ही उत्पन्न होता है।

इस प्रकार भीतरी नसोंकी शिथिलता होनेपर शिश्न और अण्डकोष शिथिल होकर भीतर धंस जाते हैं। 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याऽप्यपायः' इस न्यायसे शुक्रके अस्त होने पर तन्मूलक दाढी-मूछें भी हट जाती हैं, और भीतरसे स्त्रीत्व प्राप्त होने पर स्तन आदि भी बढ़ जाते हैं—यह स्पष्ट है। इसमें असम्भव भी नहीं मानना चाहिये। दीर्घ भी शिश्न शीतकालमें वा अकामा-वस्थामें कैसा सिकुड़ जाता है; वा भीतर घुस जाता है, यह तो बाहरी कारण है। शुक्रपात, वा शुक्रक्षय वा काम-राहित्यरूप भीतरी कारणमें तो बिना-सन्देह ही शिश्नका भीतरमें प्रवेश हो जाता है। १९३६-३७ सन् के लगभग अमृतसरके खालसा कालेजमें इस प्रकारकी घटना घटी थी। उसमें एक छात्र स्त्री बन गया; उसके अण्डकोष आदि क्रमशः सब भीतर धंस गये। यह वृत्त उस समय 'हिन्दी-मिलाप' (लाहौर) पत्रमें छपा था। इससे उल्टा वृत्त अयोध्याके साप्ताहिक 'संस्कृतम्' पत्रमें (१८।३।४३ ता०) प्रकाशित हुआ था—'नागपुरमें इन्दिराका जन्म १९।१।२९ सन्में

हुआ। इसकी योनिके ऊपरी-भागमें मांसपिण्ड था पेशाब वाले स्थान पर। वह सदा योनिसे ही पेशाब करती थी। समय पर स्तन आगये। उसका शब्द भी स्त्रीकी भान्ति था। डाक्टरोंने विचार किया कि-योनिका मांसपिण्ड लिङ्ग हो सकता है। डा० राजा भोजने उसका १६।७।४१से होमियापैथी इलाज शुरू किया। २८-६-४१से लिङ्गका चिह्न आगया। अब अण्डकोष भी आगये। यह पूरा पुरुष बन गई, नाम इन्द्रजीत रखा गया। यह १८ वर्षका युवक है।"

बम्बईमें एक १८ वर्षकी कुमारी कुमार होगया-यह लाहौरके 'विश्वबन्धु' (३।७।४३ ई०) में छपा था। आधुनिक शारीरशास्त्रकी महत्त्वपूर्ण गवेषणा 'ग्लैण्ड्स' है। हमारे शरीरमें विविध ग्रन्थियाँ हैं, उनके कई प्रकारके रस निकलते हैं। वे रस हमारी रक्तवाहिनी-नसोंमें जाते हैं, जिनका प्रभाव हमारे अङ्गों पर होता है। 'एगरीनल' नामक एक 'ग्लेण्ड' है। यदि किसी स्त्रीका यह ग्लैण्ड विकृत हो जाए; तब उसका सारा शरीर केशोंसे भर जायगा। यदि उसे शरीरसे सर्वथा निकाल दिया जावे; तब शरीरके केश उड जाएँगे, और मानसिक दशा भी बिगड़ जायगी। इसका प्रभाव प्रजननेन्द्रिय एवं अण्डकोषकी वृद्धि पर भी पड़ता है। इस रसके प्रभावसे स्त्रीके पुरुषोचित, और पुरुषमें स्त्री-उचित गुण पैदा किये जा सकते हैं। पुरुषके स्तन बढ़ आते हैं, और उनमें दूध भी आ जाता है। इस समय ग्लैण्डरसके डालनेसे इतना हो जाता है। प्राचीन समयमें विशेष-शक्ति

होनेसे वर-शाप दिये जाते थे, जिसके कारण भीतरसे स्वयं ही ऐसे परिवर्तन हो जाते थे, जिनके कारण स्त्री और पुरुषका परिवर्तन हो जाता था।

इस प्रकार कभी दोनों शुक्र-शोणित अलग-अलग भी प्रबल हो जाते हैं, जिनके फलस्वरूप बालकमें दोनों चिह्न बन जाते हैं। लाहौरके साप्ताहिक 'विश्व-बन्धु' में यह वृत्त प्रकाशित हुआ था कि-'सिलहट' नगरकी प्रदर्शिनीमें एक बालकके चार हाथ, चार पांव, चार कान, दो पीठ, एक स्त्री-चिन्ह और एक पुरुष-चिन्ह, दो मलद्वार, लेकिन पेट और सिर एक था'। 'वीर अर्जुन' (देहलीके दैनिक) २०-६-५८ के अङ्कमें अकोला १६-६-५८का समाचार 'स्त्री भी और पुरुष भी' शीर्षकसे निकला था-'एक युवकमें जिसकी आयु २० वर्ष है, जो पेट दर्दकेलिए अपना आपरेशन कराने आया था, स्त्री और पुरुष दोनोंके लिङ्ग हैं। शिश्नके नीचे ही योनि है, अण्डकोष नहीं हैं'। इस पुराणदृष्ट विषयको असम्भव माननेवाले वादी शारीर-विज्ञानका अध्ययन एवं मनन करें।

दक्षिणके 'पुट्टर' नगरमें वहांके टी. जी. मुडालियर नामके 'तहसीलदार' ने एक २५ वर्षके युवकके स्त्री हो जानेकी घटना इस प्रकार लिखी है कि-गांवका दौरा करते हुए मैंने ऐसे व्यक्ति को देखा, जो बहुत वर्ष पुरुष रहा। तीन सालसे यह स्त्रीरूपमें बदल रहा है। उसकी जननेन्द्रिय क्रमसे भीतर धँस गई। अण्डकोषके नीचेका छिद्र जो कि पहलेसे ही था—बढ़कर स्त्रीका

उपस्थ हो गया। उसको आर्तव (ऋतुकाल) भी होने लगा। गर्भ भी हो गया, स्तनोंमें दूध भी आ गया। उसके दाढ़ी-मूछें पहलेसे नहीं थीं। अब उसमें स्त्री-जैसी लज्जा वा संकोच भी हो गया है। उसकी जाति मुआसी है (धर्मविज्ञान)।

'११ फर्वरी १९४६ कलकत्ता मेडिकल हस्पतालमें १६ वर्षके लड़केके लड़की हो जानेकी सूचना मिली है। यह लड़का नादिया जिलेका रहनेवाला है। गत इस १०० वर्षमें इस हस्पतालमें ऐसे ५ केस हो चुके हैं (दैनिक 'विश्व-बन्धु' लाहौर १२-२-४६) यही वृत्त साप्ताहिक-संस्कृतमें (१६-२-४६ तिथिमें) प्रकाशित हुआ था। उसमें लिखा था कि 'उसका गुह्याङ्ग संकुचित होकर स्त्रीकी योनिके आकारमें परिणत हो रहा है'। इस प्रकार 'संस्कृतम्'के २-४-४६ के अङ्कमें जमालपुरके कुमारिया गांवका एक १८ वर्षके युवकका—जो सन्निपातसे छूटा था—स्त्री बननेका वृत्त प्रकाशित हुआ था।

पटनाके राजकीय औषधालयमें भी ऐसी घटना घटी थी। वहांके प्रधान-डाक्टर हिर्सफोल्डने एक ऐसी घटनाका अनुसन्धान किया था कि-एक स्त्री चार सन्तान पैदा करके पुरुष बन गई। चौथी सन्तानके बाद ही उसका स्वर पुरुषकी भांति भारी हो गया। बाहु-जांघ आदिमें बहुत बाल हो गये, दाढ़ी-मूछें भी उग आईं। परीक्षण करनेपर डाक्टरको पता लगा कि-इसकी जरायु समाप्त हो गई है। स्त्री-योनिके भीतरका पुरुषलिङ्ग जैसा पदार्थ बढ़कर पुरुषका लिङ्ग हो गया। डा० हिर्सफोल्डका कहना

था कि-प्रत्येक शरीरमें स्त्री और पुरुष दोनोंके लिङ्गका प्रकट वा गुप्त चिन्ह तथा उसकी शक्ति होती है। वैसी पेशियां भी दोनोंमें हुआ करती हैं। कारणविशेषसे कोई शक्ति प्रच्छन्न और कोई व्यक्त होकर स्त्रीको पुरुष वा पुरुषको स्त्री बना दिया करती है। (धर्मविज्ञान)

महाभारतमें शिखण्डी सुप्रसिद्ध है। 'स हि स्त्रीपूर्वको राजन्! शिखण्डी यदि ते श्रुतः। कन्या भूत्वा पुमान् जातो न योत्स्ये तेन भारत' (उद्योगपर्व १७२।२०) यह भीष्म कह रहे हैं कि-शिखण्डी उत्पन्न होते समय कन्या थी, पीछे पुरुष बन गया, मैं उससे युद्ध नहीं करूँगा। यह घटना वहां प्रक्षिप्त भी नहीं हो सकती। यह महाभारतकी मुख्य घटना है। शिखण्डीके कारण ही भीष्म बाणोंको नहीं चलाते थे; उसीके आवरणमें स्थित होकर अर्जुनने बाणपरम्परासे भीष्मको बींध दिया और उसे शरशय्यामें सुला दिया। नहीं तो वह भीष्म अपने बाणोंसे अर्जुनके बाणोंको काट देता, उसमें यह शक्ति थी। यदि यह घटना न हुई होती, तो उद्योगपर्वका कुछ भाग, भीष्म पर्व, शान्तिपर्व तथा अनुशासनपर्व महाभारतमें न होते। मुख्य घटना कभी भी प्रक्षिप्त नहीं हो सकती। तब अपवादस्थल मानकर स्त्रीका पुरुष हो जाना वा पुरुषका स्त्री हो जाना सिद्ध हो जाता है।

पाश्चात्य वैज्ञानिक-डाक्टरोंका यह कहना है कि गर्भाधान हो जानेपर तीन मास तक जो पिण्ड गर्भाशयके भीतर होता

है, उसमें शिश्न और योनि समान रूपसे बढ़ते हैं। तीन मासके बाद एककी वृद्धि रुक जाती है, दूसरे चिह्नकी वृद्धि प्रारम्भ हो जाती है। अतः उनका मत यह है कि-'हम उस समय विशेष ओषधि द्वारा उसके प्रभावसे उस पिण्डको पुत्र बना सकते हैं'। इसी कारण हमारे प्राच्य-सूत्रकारोंने भी गर्भके दूसरे-तीसरे महीने पुंसवन-संस्कारका विधान माना है। उस समय वे भी पुंसवनकी विशेष-ओषधि दाहिनी नाकके छिद्र द्वारा अन्दर भेजते हैं, जिससे अवश्य ही पुरुष-सन्तान हुआ करती थी। 'पुंसवन' का अर्थ यह है कि-पुमान् (मर्द) को पैदा करना।

इस प्रकार डाक्टर कहते हैं कि-हम इन्जेक्शनके द्वारा विद्युत्-प्रयोगसे पुरुषको स्त्री और स्त्रीको पुरुष बना सकते हैं। स्त्री और पुरुषके जननेन्द्रियोंमें थोड़ा अन्तर है। यदि स्त्रीकी प्रजनन करनेवाली भीतरी वलियोंको वैज्ञानिक रीतिसे बाहर कर दें; तब उसमें पुरुषका चिह्न हो जावेगा। इस प्रकार पुरुष-लिङ्गकी भीतरी वलियोंको निकाल देनेसे वह अन्दर धँस जाएगा; और उसमें स्त्रीचिह्न बन जावेगा।

इससे सिद्ध हुआ कि-पुरुषमें स्त्रीत्व-शक्ति, और स्त्रीमें पुंस्त्व-शक्ति यह दोनों ही शक्तियां रहती हैं। अपवादरूपसे कभी एक शक्तिके ह्रास होजानेपर स्वयं ही दूसरी शक्ति बल पकड़ जाती है; तब स्त्री-पुरुषोंका पुरुष-स्त्रीरूपमें परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि-जिन लोगोंको पौराणिक इस प्रकारकी घटनाको सुनते ही मनमें अविश्वास हो उठता है; और वह

उनका नहीं हटता; वहां यही कारण है कि उन्होंने अविश्वास-रोगको दूर करनेवाली शारीरिक-विज्ञानरूप वैज्ञानिक-ओषधियों का प्रयोग कभी नहीं किया। यदि वे उनका प्रयोग यथासमय कर दें; तब इस प्रकारके मानसिक रोगोंका समूलोन्मूलन हो जावे।

'वैदिकधर्म' पत्र (मार्च १९५७)में 'वेदोक्त लिङ्गपरिवर्तन-मीमांसा' एक लेख श्रीनाथूलाल-वानप्रस्थीका निकला था; उसका भी कुछ अंश हम उद्धृत करते हैं—

लिङ्ग परिवर्तनका कारण—मनुष्यकी उत्पत्ति पुरुष और स्त्री-जीवाणुओंके सम्मिलनसे संयुक्त शरीरों द्वारा होती है। वैज्ञानिकोंका कथन है कि-इन जीवाणुओंका आकार एक इंचके पांच-सौवें भागके लगभग होता है। इसमें भी यह जीवाणु परस्पर आयु तथा माता-पिताके शरीरोंकी अपेक्षासे छोटे-बड़े होते हैं। इनका छोटा तथा बड़ापन अधिकतर माता-पिताके शरीरोंकी स्थूलता तथा कृशताके अनुपातानुसार होता है। माता-पिताके शरीरोंके अनुपातानुसार जीवाणुओंके सम्मेलनसे उत्पन्न पुत्र-पुत्रीके शरीरमें लिङ्ग-परिवर्तन नहीं होता, किन्तु इसके अपवादरूपमें कुछ जीवाणु अपनी स्वयंकी आयुकी अपेक्षासे भी छोटे-बड़े होते हैं। ऐसी दशामें माता-पिताके शरीरोंके अनुपातके विरुद्ध आयुकी अपेक्षासे बड़े-छोटे जीवाणुओंका सम्मिलन होनेपर माता-पिताके शारीरिक अनुपातानुसार युवावस्थामें शरीरोंकी पूर्णरूपसे वृद्धि होनेपर प्रकृतिके दबावके

कारण भीतरी-शरीर ऊपरी भागमें तथा ऊपरी शरीर भीतरी भागमें हो जानेसे लिङ्ग-परिवर्तन स्वयमेव हो जाता है।

कृश-शरीरधारी पुरुषके वीर्यसे उत्पन्न जीवाणु, स्थूल-शरीर वाली स्त्रीके रजसे उत्पन्न जीवाणुसे बड़ा होनेके कारण वह स्थूल स्त्री-जीवाणुको निगल लेगा, जिससे पुत्रका भ्रूण उत्पन्न होगा; परन्तु जब वह युवा होगा, तब उसके अन्तःस्थित स्थूल स्त्री-जीवाणुका कारण-शरीर अपनी माताके शरीरकी स्थूलताके अनुपातसे वृद्धिको प्राप्त होता और कृश पुरुष जीवाणुका बाह्य-शरीर पिताकी शारीरिक-कृशताके अनुपातसे कृश होकर अर्थात् सिकुड़कर अन्तःस्थित भागकी ओर प्रवेश करेगा। इसके परिणामस्वरूप उस पुरुषकी जननेन्द्रिय भी भीतरकी ओर सिकुड़ कर ऊपरी खाल योनिका रूप धारण करेगी। तब लिंग बच्चेदानीकी गर्दनके रूपमें परिवर्तित हो जायगा, और अण्ड-कोष बच्चेदानीका रूप धारण करेंगे। मूछोंकी जड़ें अन्तःस्थित भागमें दब जानेके कारण झड़ जाएँगी, तथा स्त्रीजीवाणुके कारण-शरीरके वृद्धिके कारण छातीके भागमें स्तन उभर आएँगे—इस प्रकार पुरुष स्त्री हो जाएगा।

इसी प्रकार कृश-स्त्रीके रजसे उत्पन्न स्त्री-जीवाणु स्थूल पुरुषके वीर्यसे उत्पन्न पुरुष-जीवाणुसे बड़ा होनेसे पुरुष जीवाणुको निगल लेगा, जिससे पुत्रीका भ्रूण उत्पन्न होगा, परन्तु युवावस्थामें उस स्त्रीके अन्तः-स्थित भागके पुरुष-जीवाणुका कारण-शरीर पिताके शरीरकी स्थूलताके अनुपातसे बढ़ जाएगा, और कृश स्त्री-जीवाणुका बाह्य कारण-शरीर सिकुड़ कर अन्दरकी ओर प्रवेश करेगा। इसके परिणामस्वरूप उस स्त्रीके जननेन्द्रियका योनिमुख भीतरकी ओर सिकुड़कर पुरुष-जीवाणुकी वृद्धिवश भीतरी बच्चेदानीका मुख जो पुरुष-लिङ्ग-जैसा होता है, बाहर निकलकर पुरुषकी जननेन्द्रिय तथा बच्चेदानी अण्डकोषका रूप धारण करेगी। इस प्रकार स्त्री-जीवाणुका कारण-शरीर भीतर प्रवेश करके उसकी छातीके स्तन दब जाएंगे, तथा पुरुष-जीवाणुका कारण-शरीर बाहरी भागमें आ जानेके कारण उसकी मूछोंकी जड़ें बाहर आजानेसे दाढ़ी-मूछें बनने लगेंगी, और स्त्री पुरुष हो जावेगी।

लिङ्ग-परिवर्तनका ऐतिहासिक प्रमाण—अध्यात्मरामायणके किष्किन्धा-काण्डमें लिखा है—ऋक्षराज जब युवा हुआ; तब एक कुंडमें स्नानसे उसका लिङ्ग-परिवर्तन होकर स्त्रीका रूप हो गया। उससे सूर्य-द्वारा बाली, और इन्द्र-द्वारा सुग्रीव उत्पन्न हुआ।'

'विश्वबन्धु' (लाहौर) में २०. ३. ४७ ता० में यह रोमकी घटना प्रकाशित हुई थी कि-'टूरनमें दो बहिनें साधारण सर्जिकल आपरेशनोंके बाद भाई बन गईं; इनकी आयु ३८ और ३० वर्षकी है। ज्यों-ज्यों उनकी आयु बढ़ती गई, उनकी आवाज़ भारी होती गई; और स्त्रीत्वके बाह्य-चिन्ह समाप्त हो गये। अब इन दोनों भाइयोंका लड़कियोंसे विवाह होने वाला है'।

स्त्रीसे पुरुष और पुरुषसे स्त्री हो जाना हम भी सामान्यतया

नहीं कहते, किन्तु अपवादरूपसे। अपवाद-शास्त्र कादाचित्क तथा काचित्क हुआ करता है, सार्वदिक तथा सार्वत्रिक नहीं। अवशिष्ट विचारणीय अंश यह है कि-पुराणादिमें जहां वर-शाप आदिके कारण स्त्री, पुरुष और पुरुष स्त्री बन गया, जैसे इला-सुद्युम्न, अर्जुन आदि; उसमें कारण है मन्त्र-शक्ति, देवबल तथा तपस्याका महत्त्व। वर वा शाप तपस्या आदि शक्तिसम्पन्न ही दे सकते हैं, दूसरे साधारण नहीं। तपस्याका महत्त्व मनुजी-के शब्दोंसे सुनिये—'औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः। तपसैव प्रसिध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम्' (११।२३७) 'यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्। सर्वं तत् तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमम्' (मनुस्मृति ११।२३८) 'ओषधि, विद्या, दैवी स्थिति, आदि तपस्यासे सिद्ध होते हैं। तपस्या उनकी सिद्धिमें साधन है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण जगत्में जो दुस्तर, दुर्लभ, दुर्गम वा दुष्कर है, तपस्या उन सबको सिद्ध कर दिया करती है। इस प्रकार तपस्या-शक्तिके द्वारा ही वर-शाप दे सकनेसे, और महादेव आदिमें स्वाभाविक शक्ति होनेसे उनके कथनमात्रसे ही स्त्री-पुरुषोंमें लिङ्ग-परिवर्तनादि क्रियासे व्यत्यय हो जाया करता है।

तब इससे श्रीमद्भागवत (९।१।१३-४२) में आई हुई कथा समूल सिद्ध हुई। उसमें कहा है—वसिष्ठने मनुकी प्रजाकेलिए मैत्रावरुणी सृष्टि की थी। उसमें मनुकी पत्नीने होताको लड़की-केलिए प्रार्थना की। तब होताके मन्त्रभेदसे इला नाम वाली

लड़की हुई। तब अप्रसन्न हुए मनुने उसके पुंस्त्वकेलिए वसिष्ठजीसे प्रार्थना की। वसिष्ठकी भगवत्प्रार्थनासे वह सुद्युम्न नाम वाला पुरुष हो गया। तब वह महादेवसे शप्त हुए वनमें शिकारकेलिए गया और स्त्री हो गया। तब वसिष्ठकी तपस्यासे प्रसन्न होकर महादेवने वर दिया कि-यह एक मास स्त्री रहे, और एक मास पुरुष। महादेव कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथा-कर्तुं समर्थ हैं। तब होताकी मन्त्र-शक्तिसे, वसिष्ठके तपोबलसे, तथा महादेवकी सामर्थ्यसे वैसा हो गया।

वेदमें भी तपका माहात्म्य कहा गया है—'इन्द्रावरुणौ! यद् ऋषिभ्यो मनीषां वाचो मतिं श्रुतम् अदत्तमग्रे। यानि स्थानानि असृजन्त धीरा यज्ञं तन्वानाः, तपसाऽभ्यपश्यम्' (ऋ. ८।५९।६) 'इन्द्र-वरुण ऋषियोंको जो वाग्बल, वा बुद्धिबल वा शास्त्र-बल देते हैं, जिससे धीर लोग उन-उन वस्तुओंको यज्ञ द्वारा बनाते हैं; वे सब वस्तुएँ तपस्यासे सिद्ध हो जाती हैं। तपस्या-शक्ति योगका ही एक भेद होता है। योगकी महिमा वेदमें देखिये—'यस्माद् ऋते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिच्छति' (ऋ. १।१८।७) अर्थात्-योगसे ही यज्ञा-त्मक सांसारिक-कार्य सिद्ध होते हैं। इस प्रकारके योग एवं तपस्याके चमत्कार योगियों तथा तपस्वियोंके चरित्रोंमें सुलभ होते हैं।

८।३।४२ ई० में मुलतानमें एक मदारी आया। उसने पुरुषोंके देखते-देखते १४ वर्षके लड़केको लड़की बना दिया। वैसे ही

कुच उसके कर दिये। जब एक ऐन्द्र-जालिक कृत्रिम रूपसे ऐसा कर सकता है; तब तपस्वी लोगोंने अपनी तपः-शक्ति द्वारा यदि स्त्री-पुरुषका व्यत्यय कर दिया; तो इसमें असम्भवको क्या अवकाश ? ऐसा होनेपर भी जो लोग तपः-शक्तिके सुननेमात्रसे ही उसमें अविश्वासी होकर यह न मानें; तब उन्हें यह जानना चाहिये कि-इस प्रकारकी घटना उस-उस पुरुषमें वा उस-उस स्त्रीमें प्रकृति-द्वारा उक्त प्रकारसे भीतरसे ही प्रारम्भ हो रही थी, वा होनेको तैयार थी; तब किसी देव वा ऋषि-मुनिका वर वा शाप आदि, या वचनमात्र उसमें निमित्तकारण बन गया। तथापि इस प्रकारके अविश्वासियोंको श्री स्वा. शङ्कराचार्यके वेदान्तदर्शन (१।३।३३) के भाष्यमें स्थित यह वचन सदा याद रख लेना चाहिये कि-'योगोपि अणिमाद्यैश्वर्यप्राप्ति-फलकः स्मर्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुम्।' 'ऋषीणामपि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्यं नास्मदीयेन सामर्थ्येन उपमातुं युक्तम्। तस्मात् समूलमितिहास-पुराणम्'। अर्थात्-योगका फल है अणिमा आदि ऐश्वर्यकी प्राप्ति। इसके बहुतसे चमत्कार प्रत्यक्ष हैं। उसका खण्डन वाणीमात्रसे नहीं हो सकता। ऋषियोंकी सामर्थ्य अपनी सामर्थ्यके समान नहीं समझ लेनी चाहिये। वे हमारी अपेक्षा अधिक-शक्तिशाली थे; अतः उनसे प्रोक्त तथा आचरित पौराणिक-इतिहास सत्य ही हैं।

कई व्यक्तियोंका यह प्रश्न होता है कि-स्त्री पुरुष हो गई, और पुरुष स्त्री हो गया-यह तो सिद्ध हो गया, पुरुष भी स्त्री

हुई गर्भ प्राप्त कर सकती है; पर पुराणोंमें तो युवनाश्व-पुरुषकी कोखसे मान्धाताका होना बताया गया है, यह कैसे हो सकता है ? पुरुषमें गर्भाशय न होनेसे उससे बालक कैसे उत्पन्न हो सकता है' ? इस पर यह जानना चाहिये कि-यह कथा श्रीमद्भागवतके ६ म स्कन्धमें छठे अध्यायमें आती है। उसमें कारण भी स्पष्ट लिखा है। उसमें कहा है कि-युवनाश्वके सौ स्त्रियाँ होने पर भी पुत्र न होनेसे उसे वैराग्य हो गया। तब कृपालु-ऋषियोंने उसके पुत्रार्थ इन्द्र-यज्ञ किया। वहां उन्होंने अभिमन्त्रित जल वाला घड़ा रखा, जिसका जल उन्होंने यज्ञान्तमें युवनाश्वकी स्त्रियोंको देना था; परन्तु रातको नींदसे उठा हुआ राजा प्यासा होनेसे उस जलको पी गया। वह जल पुंसवनमन्त्रसे अभिमन्त्रित होनेसे पुत्रोत्पादनकी अमोघ-शक्तिसे पूर्ण था। इस लिए अतिशयित-शक्ति शाली होनेसे उसके पीनेसे युवनाश्वकी ही दाहिनी कोखसे मान्धाता पैदा हुआ। जब वह स्तनके दूधके लिए रोने लगा, तब व्याकुलताका अनुभव हुआ। सब कहने लगे कि-यह किसका स्तन्य पीएगा ? तब इन्द्रने कहा—मां धाता (यह मुझे पीवेगा) यह कह कर-उसने उसके मुखमें अपनी अंगुलि पिलाई।

यहां यह जानना चाहिये कि-उक्त यज्ञसे जो सन्तान होनी थी, वह न तो शुक्र-शोणितसे होनी थी और न वहां गर्भाशयकी अनिवार्यता थी, क्योंकि-गर्भाशय शुक्र-शोणितके परिपाकार्थ ही होता है; तथा प्राकृतिक-गर्भार्थ होता है। यहां तो राजा तथा

रानियोंके शुक्र-शोणित बेकाम हो चुके थे। अतः इस समय तो प्रकृतिशक्त्यतिशायी मन्त्रशक्तिका ही कार्य अवशिष्ट था। मन्त्र-शक्ति अमोघ हुआ करती है; इसीलिए ही ऋचीकमुनिसे दिये हुए चरुसे गाधिकी स्त्रीके गर्भसे विश्वामित्रकी उत्पत्ति हुई, ऋष्य-शृङ्गसे दी हुई अभिमन्त्रित हविसे कौशल्या आदिको गर्भ हुआ; जिनके रामादि पुत्र हुए। मन्त्रशक्तिसे वृष्टि भी हो जाती है, मन्त्रकी शक्तिसे ही एक नगरका भी नाश हो जाता है। मन्त्र-शक्तिसे ही सांप-बिच्छू आदि प्रभावहीन हो जाते हैं। मन्त्रशक्तिसे ही भगिनीके समान दूसरेकी कन्या पुरुषकी पत्नी हो जाती है, मन्त्रशक्तिके विषयमें 'आलोक'का पञ्चम-पुष्प देखिये। तब अभिमन्त्रित-जलके पीनेसे उस मन्त्रशक्तिने भी अपनी शक्तिको प्रकाशित करना ही था। इसीका समर्थन ब्राह्मणभागात्मक-वेद भी करता है।

'विश्वरूपं वै त्वाष्ट्रमिन्द्रोऽहन्। तं त्वष्टा हतपुत्रोऽभ्यचरत्। सोऽभिचरणीयमपेन्द्रँ सोममाहरत्। तस्य इन्द्रो यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोममपिबत्। स विष्वङ् व्यार्च्छत्। तस्य इन्द्रियं वीर्यमङ्गाद्-अङ्गाद् अस्रवत्' (१२।७।१।१) उरस एव अस्य हृदयात् त्विषिः वीर्यमस्रवत्। स श्येनोऽभवद् वयसां राजा' (शतपथ, १२।७।१।६) 'इन्द्रने जब त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपको मारा; तब पुनः पुत्रकी प्राप्त्यर्थ त्वष्टाने सोमको अभिमन्त्रित करके रखा। इन्द्रने 'इसका पुत्र न हो' इस विचारसे यज्ञकी समाप्तिसे पूर्व ही उस अभिमन्त्रित सोमका पान कर लिया। मन्त्रशक्ति नष्ट कैसे हो?

तब इन्द्रके इन्द्रिय-इन्द्रियमें सोम व्याप्त हो गया; तब स्थान-स्थानसे उसका वीर्य निकला; उस वीर्यसे कहीं अज हो गया, कभी कोई धान्य हुआ, कहींसे कोई अन्य पशु-पक्षी हुआ।

फलतः जब दिव्य-शक्तिवाला इन्द्र भी उसके पानसे उस मन्त्रशक्तिको अन्यथा न कर सका; बल्कि पुरुषरूप उस इन्द्रसे विविध-उत्पत्तियां हुईं; तब अभिमन्त्रित-जलके पीनेसे उसकी अमोघशक्तिवश युवनाश्वसे भी पुत्रोत्पत्ति हुई; तब अपवादवश यह बात उपपन्न हो ही सकती है; क्योंकि–मन्त्रकी शक्ति प्रकृति-की शक्तिसे अतिशायिनी है। इस विषयमें प्रत्यक्षका अनुग्रह भी है। 'हिन्दु सर्वस्व' (हरद्वार) के २६–६–२५ ई० के अङ्कमें 'पुरुषके पेटसे दो बच्चे' शीर्षकसे निम्न घटना प्रकाशित हुई थी–'बलगेड (सरविया) के अस्पतालमें एक किसान गया, जब डा० से भेंट हुई, तो उसने कहा कि—इस किसानके पेटमें बहुत बड़ा फोड़ा है, जिसके कारण इसे महान् कष्ट है। ऑपरेशन किया गया, तो पेटके ऊपरी भागसे दो बच्चे निकले। एक लम्बाईमें ६ इंच, आधा पौंडका था। इसके सिरपर लम्बे बाल, और मुंहमें कई दांत थे। शरीरकी समस्त रचना पूर्ण थी। दूसरा बच्चा अपूर्ण था, उसका सिर और पेट बन चुका था'। इसी प्रकारका अन्य वृत्त 'नवभारत-टाइम्स' देहली (६–३–५४) तथा 'वीर-अर्जुन' देहली ८-६-५६ में छपा था। तब यह शङ्का भी प्रत्युत्तरित हो गई।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत-माहात्म्य (४र्थ अध्याय)में गायके गर्भसे मनुष्याकृति, और गाय-जैसे कानवाले गोकर्णकी उत्पत्ति

सिद्ध हो गई। एक योग-विद्याके चमत्कारसे पूर्ण महात्माने आत्माराम नामके सन्ततिहीन-ब्राह्मणकेलिए एक अभिमन्त्रित फल दिया था। ब्राह्मणने उसे अपनी पत्नीको दिया; पर उसने उसे न खाकर गायको वह खिला दिया। तब अमोघशक्तिवश गायसे उक्त-बालक उत्पन्न हुआ। इस प्रकार अमोघ-वीर्यवालोंकी मछली आदिसे मत्स्य एवं मत्स्यगन्धादि-मनुष्योत्पत्ति भी समझ लेनी चाहिये। राजा द्रुपदके पुत्रेष्टि-यज्ञमें गर्भाधायक हवि तैयार करनेपर द्रुपदकी रानी तो ऋतुमती हो बैठी, मुहूर्त निकल जानेके डरसे ऋत्विजोंने वह हवि अग्निमें डाल दी। उसकी अमोघ-शक्तिसे द्रौपदी तथा धृष्टद्युम्नकी उत्पत्ति हुई।

इस प्रकार जब मानसिक-अविश्वास रोगके रोगी लोग वैज्ञानिक-उपचार स्वयं करेंगे; तब धीरे-धीरे उनका मानसिक रोग दूर होकर उनका मन शुद्ध एवं स्वस्थ हो जायगा। अब पाठकगण पुराणमें वर्णित नेत्रादि-द्वारा जलानेमें उपपत्ति देखें।

---

(१५) नेत्र आदि द्वारा जलानेमें उपपत्ति।

अविश्वासके दास इस युगमें कई पुरुष शिवके तीसरे नेत्रसे कामदेवके जलनेपर, और कपिलमुनिकी दृष्टिसे सगरके पुत्रोंके जलनेपर सन्देह प्रकट करते हैं; हम उन संशयात्माओंके ज्ञानार्थ सरल-सरणि दिखलाते हैं, जिससे उनको आशङ्कारूप कांटा चुभनेकी आशङ्का न रहे।

दाहमें शक्ति सूर्यकी प्रसिद्ध है, या अग्निकी वा बिजुलीकी।

उसमें कारण है कि-यह पदार्थ तेजस्वी हैं। तेजस्वी-पदार्थ जो कि जलाता है, उसमें कारण उसका तेज होता है। तेजका लक्षण है 'उष्णस्पर्शवत् तेजः' 'गर्म-स्पर्शवाला तेज हुआ करता है'। जलानेका कारण होती है उष्णता। वह अग्निमें तो स्पष्ट है। तेज सूर्यमें भी है, चन्द्रमें भी, और बिजुलीमें भी, और आँखमें भी होता है।

जैसे अग्नि जलाती है, वैसे सूर्य नहीं; उसमें कारण है कि-वह तेज कुछ उद्भूत (प्रकट)-रूप एवं स्पर्शवाला है। पूर्णरूपसे उद्भूत होनेपर ही दाह होता है। सूर्यकी थोड़ी उद्भूतरूप-स्पर्शवत्तामें कारण उसकी बहुत दूरी है। गर्मीका जल, और भाड़का तेज कुछ अनुद्भूतरूप और उद्भूत-स्पर्श हुआ करता है। चन्द्रमें यद्यपि तेज होता है; तथापि वह सूर्यकी भांति तपाना तो दूर, प्रत्युत प्रतीत ही नहीं होता। उसमें कारण यह है कि-चन्द्रमामें जल होता है; उसपर सूर्यकी सुषुम्णा-किरण पड़ती है; उसका शीतल हुआ प्रतिबिम्ब चान्दनीके रूपमें हमारे पास पहुँचता है, और ठंडा प्रतीत होता है। इस प्रकार आँखमें भी यद्यपि नेत्ररश्मि-नामक तेज होता है, जिससे हम देख सकते हैं; तथापि वह किञ्चिद्-अनुद्भूतरूप-स्पर्श होता है, इसलिए उसमें दाह अनुभूत नहीं होता।

इसलिए न्यायदर्शनमें कहा है-'दृष्टश्च तेजसो धर्मभेदः। उद्भूतरूपस्पर्शं प्रत्यक्षं तेजः, यथा-आदित्य-रश्मयः। उद्भूतरूपम् अनुद्भूतस्पर्शं च प्रत्यक्षं तेजः, यथा-प्रदीपरश्मयः। उद्भूतस्पर्शम्,

अनुद्भूतरूपम् अप्रत्यक्षम्, यथा-अब्आदि-संयुक्तं तेजः। अनुद्-
भूतरूपस्पर्शोऽप्रत्यक्षः चाक्षुषो रश्मिः' (३।१।३६)। इससे नेत्रकी
रश्मिका रूप तथा स्पर्श दोनों अनुद्भूत हैं-यह सिद्ध हो जाता
है। उसका अनुभव न होनेसे 'वह नहीं है'-यह नहीं कहना
चाहिये; इसलिए न्यायदर्शनमें कहा है-'नानुमीयमानस्य प्रत्यक्ष-
तोऽनुपलब्धिरभावहेतुः' (३।१।३४) 'जिसका अनुमान तो होता
है, पर यदि वह प्रत्यक्ष नहीं दीखता, इससे उसका अभाव नहीं
समझ लेना चाहिये' जैसे चन्द्रमाका परला भाग, पृथिवीका
निचला भाग प्रत्यक्ष न होनेपर भी होता ही है। इसलिए न्यायमें
कहा गया है—'द्रव्य-गुणधर्मभेदाच्च उपलब्धिनियमः' (३।१।३८)
द्रव्यका धम महत्त्व आदि होता है, गुणका धर्म उद्भूतत्व
आदि हुआ करता है। जहाँ पर महत्त्व-धर्म तथा उद्भूत-रूप
हुआ करता है, उसीका प्रत्यक्ष होता है। जहाँ गुणमें उद्भूतत्व
होता है, उसका गुण भी प्रत्यक्ष होता है, अन्यथा नहीं। जल-
द्रव्य जब महत्तासे मिलता है; तभी उसका प्रत्यक्ष होता है।
जब शीतकालमें उसीके अवयव विभक्त हो जाते हैं; तब उसका
प्रत्यक्ष नहीं होता; परन्तु उसका शीत-स्पर्श गृहीत होता है।
इससे उसका अनुमान होता है। इस प्रकार महान, अनेक द्रव्यों
वाला तेज-द्रव्य प्रत्यक्ष-योग्य भी ग्रीष्ममें अनुद्भूतरूप होनेसे
उसका रूप नहीं दीखता। उसके तापरूपका अनुमापक उसका
गर्म-स्पर्श होता है। इस प्रकार आँखकी रश्मि प्रत्यक्षसे अनुप-
लब्ध भी अपनी सत्ताको नहीं छोड़ती। उसमें प्रत्यक्षके अभावका

कारण प्रत्यक्षके प्रयोजक महत्ता तथा उद्भूतता आदिका अभाव
ही है-यह जान लेना चाहिये। अस्तु—

परन्तु तपानेवाला भी सूर्य जला भी सकता है, यदि सूर्य-
कान्तमणिके द्वारा उसकी किरणें छोटी-बिन्दुमें कर दी जावें।
पाश्चात्योंके विचारमें सूर्यका ताप क्रमशः बढ़ रहा है; क्योंकि—
उन्हें परीक्षण करने पर पता लगा है कि-सूर्य क्रमसे छोटा हो
रहा है। जितना-जितना वह छोटा होता जावेगा उतनी-उतनी
उसकी दाहक-शक्ति बढ़ जावेगी। प्रलयके समय सूर्य अत्यन्त
छोटा होकर पुरुषोंको जला देगा, तब स्वयं भी बुझ जाएगा।

इस प्रकार नेत्रमें यद्यपि तेज अनुद्भूतरूपस्पर्श होता है;
तथापि कारणविशेषसे उसे उद्भूतरूपस्पर्श भी किया जा सकता
है। जैसे केवल तपाने वाला भी सूर्य सूर्यकान्तमणिके आश्रयसे
जला भी सकता है; वैसे आँखका तेज जला भी सकता है।
नेत्रवाले तेजमें सूर्यकान्तमणिकी भांति साधन किसीमें तो स्वतः
शक्ति होती है, और किसीमें तपः-शक्ति होती है। उससे नेत्रके
तेजको उद्भूत भी किया जा सकता है। यही कवि-कालिदासने
अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटकके द्वितीयाङ्कमें दुष्यन्त-राजाके मुखसे
संकेतित किया है—'शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति
तेजः। स्पर्शानुकूला अपि सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्
वमन्ति'।

उसमें महादेवके तीसरे नेत्रमें स्वतः-शक्तिके कारण तेज
उद्भूतरूप-स्पर्शवाला हो गया। उसीसे उत्पन्न अग्निसे कामदेव

जल गया। पहले सूचित किया जा चुका है कि-सूर्य केवल तपानेवाला है। वही सूर्यकान्तमणिके द्वारा दाहक हो जाता है। परन्तु वह धीरे-धीरे जलाता है, एक-साथ नहीं। यदि एक-साथ सूर्यकी किरणें जला दें-यह विचार हो; तो वहां अन्य-साधनकी आवश्यकता पड़ेगी। पाश्चात्योंने मृत्युकिरण नामक यन्त्र आविष्कृत किया है; उसमें सूर्यकी मारक-किरणें संगृहीत होती हैं। जिस वस्तु पर मृत्युकिरण डाली जाती है; वह उसे तत्क्षणमें जलाकर भस्म करती है। मृत्युकिरण-द्वारा अनेक वायुयान नष्ट किये जा सकते हैं, सैंकड़ों ग्राम जलाये जा सकते हैं, हजारों पुरुष मारे जा सकते हैं। मृत्युकिरणमें सर्व-संहारक शक्ति है। आगेके महायुद्धोंमें मृत्युकिरणसे युद्ध होगा। यदि कोई ऐसा यन्त्र बनाया जावे, जो सूर्यकी मारकशक्तिके एक करोड़ भागमें केवल वीसवां भाग भी खींच ले, तो एक दिनमें सारे संसारमें महाप्रलय किया जा सकता है।

आजकलके मारक-यन्त्र सूर्यसे बहुत थोड़ा मृत्युतत्त्व खींचते हैं, परन्तु आशा है-आगेके मृत्युकिरणयन्त्र अधिक मृत्युतत्त्वको खींच सकेंगे। तब तलवार, बन्दूक, तोप, बारूद, गैस, परमाणु-बम आदि सभी मारक-पदार्थोंकी आवश्यकता नहीं रहेगी। मृत्युकिरणयन्त्र बिजुलीकी बैट्रीके समान होगा। बटन दबानेसे मृत्युकिरण पैदा होगी, जिस सीधमें वह किरण पड़ेगी; उसका सर्वनाश कर देगी।

इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि-जैसे तपानेवाला भी सूर्य

साधन-विशेष द्वारा जला भी सकता है, वैसे आंखका अदाहक तेज भी तपस्या-आदि साधनसे जला भी सकता है। उसमें महादेवमें स्वतः-शक्ति होनेसे उनके तीसरे नेत्रमें अग्नि रहा ही करती है; उसीसे कामदेव जला था। वह अग्नि नेत्रको नहीं जलाती; किन्तु दूसरेको जलाती है। यही उसकी लोक-विलक्षणता है। अथवा लौकिकतामें भी ऐसे हुआ करता है। शेर अपनी माताको नहीं मारता। इससे 'जो कोई कहे कि-मन्त्रसे अग्नि उत्पन्न होता है; तो वह मन्त्रके जप करनेवालेके हृदय और जिह्वाको भस्म कर देवे' (स. प्र. ११ पृ. १७३) यह स्वा.द.का वचन प्रत्युत्तरित हो गया। योगी एवं तपस्वी ब्राह्मणोंमें वह अग्नि गुप्त रहा करती है, परन्तु क्रोध-द्वारा उद्भूत वह कभी उद्भूतरूप होकर वा कभी अनुद्भूतरूप परन्तु उद्भूतस्पर्श बनकर प्रतिपक्षीको जला दिया करती है। उद्भूतस्पर्श होकर तो वह साक्षात् जलाती है; पर अनुद्भूतरूप एवं अनुद्भूतस्पर्श होकर बिजलीके करण्टकी तरह उसके प्राणवायुको शरीरसे निकाल देती है, जिससे पुरुष मर जाता है। परन्तु प्रकृतिने सर्व-साधारणमें यह उद्भूतता नहीं की; अन्यथा सामर्थ्यविशेष न होनेसे वा उसके प्रयोगके अज्ञानसे उनकी आंख स्वयं जल जाय, जिससे वे अन्धे हो जाएँ। उद्भूतरूप होनेपर आंखके गोलेके सदा जलते रहनेसे नींद भी न आवे; परन्तु विशेष-शक्तिवाले अपवादस्वरूप ऋषि-मुनि योगियोंमें वैसी हानि नहीं हो सकती। जैसे बिजलीकी तारमें बिजली होनेपर भी मुख्य बटन (स्विच)

के बन्द होनेपर बिजली दबी रहती है, और उस तारमें रहनेपर भी तारको नहीं जलाती; वैसे ऋषि-मुनियोंमें भी समझना चाहिये। वे उस अग्निसे प्रतिपक्षीको तो हानि पहुँचा सकते हैं; अनिच्छा होनेपर उनको स्वयं उससे हानि नहीं होती।

महाभारतमें कहा है—'ब्राह्मणा अग्नि-सदृशा दहेयुः पृथिवी-मपि' (वनपर्व २०६।२२) 'ब्राह्मण अग्निके समान होते हैं; वे पृथिवीको भी जला सकते हैं'। 'कथं हि शापेन न मां दहेयु-र्ब्राह्मणा इति' (अनुशासन. ६१।१७)। गोपथ-ब्राह्मणने भी कहा है—'एष ह वै सान्तपनोऽग्निर्यद् ब्राह्मण इति' (१।२।२२) 'ब्राह्मणो ह वा इममग्निं वैश्वानरं बभार' (गो० १।२।२०) इसलिए अथर्व-वेदमें भी कहा है–'न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव' ५।१८।६) यहां ब्राह्मणको अग्निके साथ उपमित किया गया है। 'य एनं (ब्राह्मणं) हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात्। स तस्य इन्द्रो हृदये अग्निम् इन्धे' (अथर्व० ५।१८।५) यहां पर ब्राह्मणके हननसे हृदयमें अग्नि-द्वारा दाह बतलाया गया है। इसीलिए महाभारत आदि-पर्वमें निषादाचार-ब्राह्मणको निगलने पर गरुड़के कण्ठमें अग्निद्वारा दाह हुआ–यह बतलाया गया है। इसीलिए अथर्ववेदसं.में 'निर्वै क्षत्रं नयति, हन्ति वर्चोऽग्निरिव' (५।८।४) यहां ब्राह्मणको अग्निके समान कहा गया है। योगी-मुनि-तपस्वी प्रायः ब्राह्मण होते थे; उनमें अग्नि सम्भृत होनेसे उनकी आंख वा जिह्वा आदि द्वारा अग्निका प्राकट्य भी संगत ही है।

बिजली निराकाररूपसे सर्वत्र व्यापक है, परन्तु उसकी दाहमें शक्ति नहीं होती। जब उसे साधन-विशेषके द्वारा प्रकट किया जाता है; और तारमें रखा जाता है; तब उसके दर्शनसे तो मृत्यु नहीं होती, किन्तु स्पर्शसे। परन्तु किसी विद्युत्में ऐसा तेज हुआ करता है कि–उसके दर्शनसे पुरुषकी आंख जल जाने-से वह अन्धा हो जाता है, क्योंकि-उसकी अग्नि दूसरेकी आंख-में ही फैलकर उसे अपने प्रभावसे जलाती है। कई सांपोंकी विषाग्नि नाकके द्वारा पुरुषोंके भीतर घुसकर उन्हें जला कर भस्म कर दिया करती है। इस प्रकार कई पतिव्रता-स्त्रियोंमें ऐसी विद्युत् होती है कि-उनके स्पर्शमात्रसे दूसरा पापी जल जाता है, और किन्हींके दर्शनमात्रसे। और किन्हींमें अनुद्भूत-रूप और उद्भूतस्पर्श अग्नि इस तरहकी प्रकट होती है कि–वह अपराधीको मारकर ही शान्त होती है। यह है क्रोधमय प्रचण्ड अग्नियोंका स्वरूप। प्रेममय-अग्नियां अन्य कार्य भी कर सकती हैं। पतिव्रता-गान्धारीके आंखसे निकले हुए तेजने दुर्योधनके अङ्गको ऐसा दृढ कर दिया, जैसे कि अग्नि मट्टीकी ईंटको पक्का कर दिया करती है। 'बैट्री' की बिजली प्रकाश देती है, दाह नहीं। सूर्यकी किरणें विशेष-समयमें अमृतमय भी होती हैं।

इस प्रकार जैसे अग्नि तथा विद्युत्के बहुत प्रकारके आधार होते हैं, वैसे योगी, मुनि-एवं तपस्वियोंमें स्थित अग्निके भी प्रकट होनेके आधार बहुत प्रकारके होते हैं। कभी वह अग्नि शरीर-द्वारा ही प्रकट होती है, कभी आंख द्वारा, और कभी

मुख-द्वारा या जीभ-द्वारा। शरीरमें प्रकट होने पर छूनेसे दूसरे-को जलाती है। आंखमें प्रकट होने पर-उसके-द्वारा देखनेसे दूसरेको जलाती है। मुख-द्वारा वा जीभ-द्वारा प्रकट होकर अपराधीको शापाक्षररूपसे मारती वा जलाती है। वृकासुरके अपने सिर पर अपना हाथ रखने मात्रसे उसीका दाह हो गया; क्यों कि-उसके हाथमें तपके तेज द्वारा अग्नि संभृत हो गई थी। कइयोंके हाथमें प्रेममयी वह अग्नि स्पर्श-मात्रसे दूसरेके रोग-बीजको जलाकर पुरुषको स्वस्थ, अथवा मृतकमें ऊष्मा पहुँचा कर उसे जीवित कर देती है।

जो विजुली वा अग्निके आविष्कर्ता होते हैं; वे उससे स्वयं नहीं जलते। जिसपर उस विद्युत्का प्रभाव नहीं पड़ता, वे उस पदार्थको जानते हैं। वे जानते हैं कि-यदि हम काष्ठ पर चढ़े हुए हों; वा हाथमें काष्ठ हो; रबड़का दस्ताना हो; तो बिजली हानि नहीं पहुंचा सकती। इस प्रकार रेशममें, कांचमें वा क्षारमें विद्युत्का प्रभाव नहीं पड़ता-यह आविष्कर्ता जानते हैं, इसलिए वे उनसे विद्युत्को छूते हुए भी उससे नहीं जलते। मेघमें रहती हुई भी विद्युत् उसे नहीं जलाती, शेर अपनी जननीको नहीं मारता। इस प्रकार ऋषि-मुनि भी अपने जिस भी अङ्गसे विद्युत् वा अग्निको प्रकट करते हैं; वे उनसे नहीं जलते; क्यों-कि-वे उसके निरोधकी प्रक्रिया जानते हैं। ताम्बेका तार विद्युत-को अपनेमें धारण करता है; उससे स्वयं नहीं जल जाता; किन्तु दूसरेको जला देता है। तब इन बातोंका ज्ञान न होनेसे स्वा.द.

का स.प्र. ११ समु. के आरम्भ (पृ. १७३)में यह कथन कि-'जो कोई कहे कि-मन्त्रसे अग्नि उत्पन्न होता है, तो वह मन्त्रके जप करने वालेके हृदय और जिह्वाको भस्म कर दे। मारने जाय शत्रुको और मर रहे आप' यह कथन उनकी अपनी अल्पज्ञता-को प्रकाशित करता है।

परन्तु यदि आविष्कर्ता स्वयं अपनेको जलाना चाहते हों; तो जला भी सकते हैं। जैसे विद्युत्का आविष्कार करने वाला यदि बिजलीसे आत्महत्या करना चाहे; तो उसके रोकने वाले साधनका उपयोग न करके उसके स्पर्शमात्रसे स्वयं जल सकता है। इस प्रकार वे तपस्वी वा योगी भी यदि अपनी हत्या करना चाहें; तो उसी योगसे प्रकट की हुई अग्निसे, अथवा उसी योग-विद्युत्से अपने आपको जला वा मार दिया करते हैं। इसी सिद्धान्तसे दक्षयज्ञमें अपमानित हुई सती, सती होकर अपने शरीरसे निकली हुई योगाग्निसे स्वयं जल गई। इस प्रकार अन्य उदाहरण भी जान लेने चाहियें।

कपिल-मुनिने उस तपोमूलक-अग्निको अपने नेत्रमें ही केन्द्रीकृत कर लिया था, जिसके देखनेसे सगरके साठ हजार पुत्र जल गये। तब जो कपिलमुनि-द्वारा सगर-पुत्रोंके भस्म हो जानेमें शङ्का प्रकट करते हैं; उन्हें जानना चाहिये कि-सभीकी आँखोंमें तेज होता है, और उसका रूप तथा स्पर्श अनुद्भूत होता है। उन आँखोंकी रश्मियाँ ही लक्ष्य तक पहुँच जाती हैं। परन्तु योगी वा तपस्वी ब्राह्मण उसी अग्निको योग वा तपस्यासे,

कहीं अनुद्भूतरूप और उद्भूतस्पर्श; तथा कहीं उद्भूतरूप और अनुद्भूतस्पर्श, एवं कहीं उद्भूतरूप और उद्भूतस्पर्श करके, कभी नेत्रोंको केन्द्रीकृत करके, कभी शापके बहाने मुख वा जिह्वाको केन्द्रीकृत करके, कभी उसे शरीर-द्वारा उत्पन्न करके उससे किसीको जला वा मार देते हैं। तब 'उष्णस्पर्शवत् तेजः' यह तेजका लक्षण पूर्णरूपसे घट जाता है। इसीलिए इल्वलने जब अगस्त्यको धर्षित करना चाहा; उस समयकेलिए रामायण-में कहा है—'सोऽभ्यद्रवद् द्विजेन्द्रं तं मुनिना दीप्ततेजसा। चक्षुषाऽनलकल्पेन निर्दग्धो निधनं गतः' (वा. ३।११।६६) अपनी नेत्राग्निसे मुनिने उसे जला दिया। इस प्रकार अगस्त्यने मुखमें भी वा उदरमें भी वडवानलरूप अग्निको अनुद्भूतरूप बनाकर समुद्र-जलको पी लिया।

इस मीमांसासे 'यद्यहं नैषधादन्यं मनसापि न चिन्तये। तथाऽयं पततां क्षुद्रः परासुर्मृगजीवनः। उक्तमात्रे तु वचने तथा स मृगजीवनः। व्यसुः पपात मेदिन्यामग्निदग्ध इव द्रुमः' (महाभा० वनपर्व० ६३।३९-४०) इस प्रकार पतिव्रतमूलक-तपसे उद्भूत अग्निको जिह्वामें केन्द्रीभूत करके उसके द्वारा दमयन्ती-का व्याधको भस्म करना भी सङ्गत सिद्ध हुआ; तथा 'तपस्वी धर्मशीलश्च कौशिको नाम भारत !' (वनपर्व २०६।२) स वृक्षमूले कस्मिंश्चिद् वेदान् उच्चारयन् स्थितः। उपरिष्टाच्च वृक्षस्य बलाका संन्यलीयत। तया पुरीषमुत्सृष्टं ब्राह्मणस्य तदोपरि' (३) ताम-वेक्ष्य ततः क्रुद्धः समपध्यायत द्विजः। भृशं क्रोधाभिभूतेन बलाका

सा निरीक्षिता। अपध्याता च विप्रेण न्यपतद् धरणीतले। बलाकां पतितां दृष्ट्वा गतसत्त्वामचेतनाम्। कारुण्याद् अभिसन्तप्तः पर्यशोचत तां द्विजः' (२०६।४-५) यहाँ पर तपस्वीकी दृष्टि-द्वारा बलाकाका जलना भी उपपन्न सिद्ध हुआ। यहाँ पर बीटके गिरानेसे क्रुद्ध हुए कौशिक-ब्राह्मणने बलाकाको दृष्टिसे जला दिया था।

पर उससे भी जो अधिक तेजस्वी हों; उनमें अपनेसे न्यून-तेजवालेकी अग्निका प्रभाव नहीं पड़ता। इसीलिए उस कौशिक-ब्राह्मणका प्रभाव पतिव्रता-स्त्री पर नहीं पड़ा। तभी उसने कहा था—'नाहं बलाका विप्रर्षे ! त्यज क्रोधं तपोधन ! अनया क्रुद्धया दृष्ट्या क्रुद्धः किं मां करिष्यसि ?' (महा० वन० २०६।२३-२४)। इस प्रकारका प्रभाव उन्हींका दूसरों पर पड़ता है, जिनकी जीभ एवं शरीर स्वयं जला हुआ न हो। आजकल जो कि ब्राह्मणोंके शाप आदिका तथा कठोर-दृष्टिसे देखनेका प्रभाव अन्यत्र नहीं पड़ता; उसमें यही कारण है कि-'परान्नेन मुखं दग्धं हस्तौ दग्धौ प्रतिग्रहात्। परस्त्रीभिर्मनो दग्धं कुतः शापः कलौ युगे' ('कथं सिद्धिर्वरानने' यह भविष्यपुराणमें पाठ है)। 'दूसरेका अन्न खाते-खाते मुख जल गया, हाथ दान लेते-लेते जल गये। दूसरोंकी स्त्रियोंको देखते-विचारते मन जल गया; तब कलियुग-में शाप कैसे दिया जा सकता है ?' जब उनके मुख, नेत्र, मन आदि अवयव स्वयं ही जलकर भस्म हो चुके हैं; तब भस्म भला दूसरोंको कैसे जला सकती है ? अग्नि ही जला सकती है,

भस्म नहीं। अन्य-युगोंमें तो उनमें वह शक्ति स्पष्ट थी, और कलिके आरम्भमें भी। आजकल तो अपवादवश ही कदाचित् कहीं मिले ?

इस प्रकार सोनेके भी तैजस होनेसे उससे विशेष कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए अन्य-पात्रोंमें कीटाणुओं-द्वारा शेरनीका दूध बिगड़ जाता है; पर सोनेके पात्रमें नहीं। इस भांति सोनेके धारण करनेसे वेद भी दीर्घ आयु मानता है। जैसे कि—'नैनं रक्षांसि, न पिशाचाः सहन्ते, यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः' (अ० १।३५।२, यजुः ३४।५१)। इस दीर्घायुष्यमें कारण है उस सोनेके तेजसे आयुके क्षयकर्ता कीटाणुओंका नाश। इसीलिए किसी अस्पृश्य द्वारा अपने बच्चेके छुए जाने पर हमारे देशकी प्राचीन स्त्रियाँ अपने कानके सुवर्णभूषणसे छुए जलको बच्चों पर डालती हैं, इससे वह शुद्ध माना जाता है। इसमें कारण है तैजस होनेसे उसके तेजसे अस्पृश्यता करनेवाले कीटाणुओंका नाश। इसीलिए अन्य पात्र तो भस्मसे शुद्ध किये जाते हैं; पर सुवर्ण-पात्र तो जलसे धोनेमात्रसे शुद्ध हो जाते हैं। उसमें भी यही कारण है।

इस प्रकार जब तेज द्वारा दाह सामान्यशास्त्र है; तब अपवाद-शास्त्र द्वारा अनुद्भूत अग्निकी उद्भूतिमें भी दाह सिद्ध होगया। लकड़ीमें आग विद्यमान होती है; पर अनुद्भूत होती है, अतः वह जला नहीं सकती। जब वही अग्नि अरणिमन्थनके द्वारा बाहर प्रकट की जाती है; तब वह जला सकती है।

वैसे ही नेत्रमें यद्यपि अनुद्भूत अग्नि रहती है; तथापि तपस्यादि-शक्तिविशेषके द्वारा उसे उद्भूत भी किया जा सकता है। तब उससे दाह भी स्वाभाविक है। जैसे भगवान श्रीकृष्णने गान्धारीको कहा था—'शक्ता चासि महाभागे! पृथिवीं स-चराचराम्। चक्षुषा क्रोधदीप्तेन निर्दग्धुं तपसो बलात्' (महा० शल्य० ६३।६४)। इस प्रकार वादियोंकी शङ्का यहाँ अदूरदर्शिता तथा अबहुश्रुततामूलक है। जब कि शीतल भी चन्दनमें रगड़से अग्नि निकलती है; वैसे ही शान्त-अन्तःकरणवाले भी तपस्वियोंकी अग्नि क्रोधादि-मूलक घर्षणसे प्रकट हो सकती है।

(१६) पौराणिक बहु-सन्तानों पर विचार।

पौराणिक इतिहासोंमें वैसे तो संशयात्मा लोग स्थान-स्थान पर संशय किया करते हैं; पर जब वहांका वर्णन उन्हें बुद्धिगम्य नहीं मालूम होता; तब वे विना ही विशेष विचार किये, विना वृद्धजनोंकी सेवा किये, विना ही विज्ञानके अनुसन्धानके, तथा विना अपनेको बहुश्रुत बनाये 'बौद्ध' बनकर वे उस वर्णनका मूल्य असत्यसे अधिक नहीं आंकते। वैसे ही सन्दिग्ध-विषयोंमें बहुत सन्तानोंका विचार भी अन्तर्भूत होता है। संशयात्मा लोग वैसा वर्णन करनेवाले पुराणकारकी निरङ्कुशतामात्र मानते हैं, वास्तविकताको नहीं। हम भी इसपर समाधानका प्रकार बताते हैं—

आजकलके अशक्तिमय-समयमें भी २०० तक पुत्र-पौत्रोंकी

संख्या कई बार संवादपत्रोंमें आ चुकी है। प्राचीन-समयमें जबकि अमोघवीर्यता तथा अत्यन्त-शक्ति थी; उसमें तो भला क्या कहना ? देखिये-आजकल पुरुषोंके वीर्यमें पहले जैसी अमोघता नहीं रही। इसीलिए बहुत वार गमनसे भी उनकी पत्नीको गर्भ नहीं होता। कदाचित् ही जाकर उसे गर्भ होता है। उसका कारण यह है कि-कायिक, वाचिक, मानसिक संयम न होनेसे—'श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः। न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः' (मनु. २।९८) इन्द्रियाणां हि चरतां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्। तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम्' (२।९९) 'इन्द्रियोंमें एक भी इन्द्रिय यदि क्षरित हो रही है, तो उससे बुद्धिका भी क्षरण होता है'। इसके अनुसार गुप्त-इन्द्रियोंको खुली छुट्टी देनेसे तथा अपथ्य वा दूषित भोजनके सेवनसे शुक्रके कीटाणु सबल नहीं बनते।

कई अर्वाचीन-सम्प्रदायोंके व्यक्ति इसमें कारण बाल्य-विवाहका बताते हैं, और सबलतामें कारण यौवन-विवाह मानते हैं, पर यह ठीक नहीं। जब तक संयम नहीं है, तब तक चिर-विवाह वा विवाह न करना भी शुक्रत्राण नहीं कर सकता। आजकल बिना भी विवाहके शुक्रको मानसिक-कामाग्नि-में स्वाहा करनेवालोंने कई प्रकारके कृत्रिम उपाय बना डाले हैं, जिनसे वे अपना सर्वनाश कर डालते हैं, और बाहर 'ब्रह्मचारी' कहे जाते हैं। बाहरी-स्थूलतासे उनके ब्रह्मचर्यकी अक्षुण्णताका अनुमान नहीं कर लेना चाहिये। हमारे पूर्ण-ब्रह्मचारी श्रीवेद-

व्यासादि शरीरमें पुष्ट नहीं थे। तब वैसे अविवाह वा चिर-विवाहकी अपेक्षा शीघ्र-विवाह भी ठीक है। संयम होनेपर तो बाल्यविवाह भी हानिप्रद नहीं होता। यह भिन्न-विषय है; अतः हम इसे भिन्न-पुष्पोंकेलिए छोड़कर आगे चलते हैं।

एक वारके स्खलित हुए शुक्रमें चार-लाखके लगभग कीटाणु होते हैं, और वे गर्भाशयमें प्राप्त होनेपर दुर्बलतासे प्रायः मर जाते हैं। उनमें कोई एक ही कीटाणु-जो सबल होता है-गर्भाशयके डिम्ब (अण्ड) में स्थिर होता है, और वह बढ़ना शुरू हो जाता है। इस प्रकार किसीके दो वा तीन शुक्राणु प्रबल रहते हैं, और उनका उतने ही स्त्रीके डिम्बोंसे संयोग होनेसे दो वा तीन पुत्र पैदा होते हैं। जैसे-जिला २४ परगना पो० सुनारपुर महीनगर ग्राममें प्रभासचन्द्र-बन्द्योपाध्यायकी पत्नी अन्नपूर्णाके दो लड़के और एक लड़की २६-१२-३४ ई० को इकट्ठे हुए। इस प्रकार मेरी जन्मभूमि शुजाबाद (मुलतान) में भी हमारे पड़ोसमें भी दो लड़कियां तथा एक लड़का १९१७ ई० के लगभग इकट्ठे पैदा हुए थे। बर्लिन नगरमें 'बेरूथ'के पास 'कूप्स' ग्राममें एक बढ़ईकी ३८ वर्षकी पत्नी 'जोहान्ना जिमरलीन' ने ४-१-३६ ई० में एक साथ चार लड़कियां उत्पन्न कीं। दैनिक-'सन्मार्ग' देहलीमें काशीका एक वृत्त (१ मई १९४९ ई.में) प्रकाशित हुआ था—'एक-साथ छः बच्चे' काशी २९ अप्रैल। बबीपुर-ग्राममें एक अन्त्यज-स्त्रीने ६ बच्चोंको एक साथ जन्म दिया'। कुतियाओंके तो ५-६ बच्चे एक-साथ हुआ करते

हैं-यह तो प्रत्यक्ष है ही। एक सांपिन १०० अण्डे देती है-यह भी प्रसिद्ध है। धृतराष्ट्रके १०० तथा सगरके साठ हजार, और रावणके उससे भी बहुत अधिक पुत्र पुराण-इतिहासमें बताये गये हैं। यहां उतने शुक्राणु तथा डिम्बाणुओंकी प्रबलता समझ लेनी चाहिये।

आयुर्वेदका यह मत है कि-स्त्री-पुरुषके मैथुनमें शरीर-स्थित वायु व्याप्त होकर वीर्यको जब भिन्न-भिन्न भागमें बांटती है; तब उन भागोंके अनुसार दो या तीन या उससे अधिक गर्भ भीतर हो जाते हैं, १९३१ ई० में ब्रिटिश-कोलम्बियामें इकट्ठे चार लड़के उत्पन्न हुए। सन् १९२३ ई० में 'न्यूब्रिन्स विम' में इकट्ठे चार शिशु पैदा हुए। 'कार्वल'में एक साथ पांच बच्चे पैदा हुए। बर्लिनमें भी ५ बच्चे ५।८।४२ ई. में पैदा हुए' (हिन्दी मिलाप)। अयोध्याके 'संस्कृतम्' (१३।६ अङ्क, ६।१।४३ तिथि) में यह समाचार प्रकाशित हुआ था—'सी.पी. नरसिंह-पुरके स्टेशन-गञ्जमें एक बनियेकी पत्नी सात सन्तानोंकी एक ही दिन माता बनी'। कोरिया (जापान) के एक गांवमें एक स्त्रीने एक साथ ५ बच्चोंको जन्म दिया है' (विश्वबन्धु—लाहौर १८ सितं. १९४३)। पटियालामें १६-६-४४ ई. में 'सेफ आबादी दरवाजेमें एक महिलाके छः बच्चे हुए (विश्वबन्धु १६. ६. ४४) 'हिन्दी-'मिलाप' लाहौरमें ३० दिसं. १९४४ ई. में यह वृत्त प्रकाशित हुआ-"बड़े कुटुम्बकी बात—१५ वीं शताब्दीमें एक जर्मन-महिलाने ५३ बच्चोंको जन्म दिया, ३८ बालकों और १५ बालिकाओंको।

उसकी स्मृतिमें १९३५ में वर्टमवर्गमें एक पत्थरका स्मारक बनाया गया था। १९२८ में एक मिस्री महिलाको एक साथ चार बालक और २ बालिकाएँ पैदा हुई थीं। १९३४ में श्रीमती डुओनेके ५ पुत्रियां पैदा हुई थीं। वे सब पूर्ण स्वस्थ हैं। प्रतिवर्ष संसारमें ३, ३६,००० जुडवां, ३७,००० तिगड्डे, और ६५ चौगड्डे होते हैं"।

स्काटलेण्डकी एक कृषक-कन्याने छः बालकोंको इकट्ठा पैदा किया। वह लड़की भी अपनी माताकी यमज कन्या थी। उसकी माता भी इकट्ठी पैदा हुई ३ लड़कियोंमें एक थी। छः बच्चोंको पैदा करने वाली उसके एक वर्षके बाद ५ लड़के इकट्ठे पैदा हुए। उसके बाद उसके तीन-तीन बच्चे इकट्ठे पैदा होते रहे। फिर चार एक-साथ पैदा हुए। यह-क्रम इस प्रकार चलता रहा। अब उसके लड़के ६२ हो गये। स्काटलेण्डकी एक जुलाहे-की स्त्रीने इस प्रकार ६० बालक पैदा किये, जिनमें ४६ बालक और ४ लड़कियाँ जीते रहे; शेष मर गये।

इस विषयमें डाक्टर बर्नरसकफैडन कहते हैं कि-यौवनके समय स्त्रीके डिम्ब-कोषोंमें न्यूनसे न्यून ६०,०००, अधिकसे अधिक ७०,००० डिम्ब हुआ करते हैं। इनमें एक डिम्ब २८ दिनोंमें पकता है, और डिम्बकी प्रणालिकासे गर्भाशयमें प्राप्त होता है। यदि उस समय पुरुषका शुक्राणु डिम्बसे मिल जाए; तब वह एकदम डिम्बके 'जैलीटीन'में घुस जाता है; और उसके साथ मिलकर 'म्यूल' बनाकर गर्भ कर देता है। कभी दो या

तीन या इससे अधिक डिम्ब पककर गर्भाशयमें आ जाते हैं। पुरुषके स्त्री-सहवासके समय शुक्रसे प्रायः ४ लाख कृमि निकलते हैं। इस अवस्थामें जितने एकसे अधिक डिम्ब गर्भाशयमें आ गये हों, उतने ही प्रबल-शुक्रके कृमि भी उनसे जुड़ जाएँ; तब गर्भस्थिति होने पर जितनी डिम्बोंकी संख्या होगी, उतने ही गर्भ तथा बालक होते हैं।

प्रकृतिने स्त्रीमें ६०,००० अथवा ७०,००० डिम्ब, तथा पुरुष-के शुक्रमें कुछ लक्ष कृमि रखे हैं। एक गर्भकी स्थित्यर्थ एक डिम्बकी तथा एक ही शुक्राणुकी आवश्यकता पड़ती है। जबकि स्त्रीमें बहुतसे डिम्ब हैं, इससे प्रतीत होता है कि–स्त्रियाँ एक-कालमें एक बालकको ही नहीं, किन्तु बहुतसे बालकोंको पैदा कर सकती हैं। इसलिए ही पूर्वकालमें स्त्रियाँ एक साथ अनेक सन्तानोंको पैदा करती थीं। जिस स्त्रीकी अण्डोंको पकाने वाली शक्ति जितनी अधिक होती है, उतने ही अधिक डिम्ब पक कर गर्भाशयमें आ जाते हैं, और उतनी ही सन्तानें एक साथ होती हैं। यह परिपाक-शक्ति जितनी अधिक होती है, उतने ही डिम्ब पक कर गर्भाशयमें आ जाते हैं, उतने ही सन्तान उत्पन्न होते हैं। यह पाककी शक्ति जिस स्त्रीमें जितनी न्यून होगी; उसकी सन्तान भी उतनी न्यून होगी। जिसमें वह शक्ति सर्वथा कम होती है; उसमें गर्भस्थिति होती ही नहीं। यदि स्त्रीमें पित्तकी अधिकता हो, तब उसमें एक साथ बहुत डिम्ब पक जाते हैं। जिनमें पित्ताग्नि अत्यन्त न्यून होती है, वे वन्ध्या हुआ करती

हैं। आजकलकी विलासिता तथा असंयमकी दशामें यह शक्ति दिनों दिन क्षीण हो रही है। एक वैज्ञानिककी इस मीमांसाको यदि संशयात्मा लोग विचार लें; तो एतद्विषयक शङ्काएँ दूर हो जावें।

यह हम पूर्व कह चुके हैं कि–एक बारके गिरे हुए शुक्रमें चार लाख कृमि होते हैं; उनमें प्रबल ही बच जाते हैं, अन्य मर जाते हैं। इस प्रकार धृतराष्ट्रके शुक्रमें सौ शुक्राणु सबल रहे होंगे, और उसकी पत्नी गान्धारीमें भी संयम-मूलक पित्तकी अधिकता-वश सौ डिम्ब पक कर गर्भाशयमें प्राप्त हो गये होंगे। और सगरके ६०,००० शुक्राणु तथा उसकी पत्नीके उतने ही डिम्ब पक गये हों–यह पूर्वकालीन-संयममें अपवादरूपसे सम्भव प्रतीत होता है। उनके परस्पर-संयोगसे उतने ही लड़के हुए-यह सम्भव है। पांच-छः बालकोंकी एक-साथ धारण-शक्ति आज भी गर्भाशयकी देखी गई है। प्राचीनकालमें आकार-प्रकारादि जब सब उन्नत दशामें थे, उस समय आज-कलकी अपेक्षा अधिक शक्ति हो–इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं। इसलिए अथर्ववेदसं.में कहा है-'पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम्' (२०।१२६।२३) इसका आर्यसमाजी-विद्वान् श्रीराजारामजी शास्त्रीने यह अर्थ किया है—'पर्शु नाम मनुकी कन्याने बीस पुत्रोंको इकट्ठा जन्म दिया'।

परन्तु सौ तथा साठ हज़ार बालकोंकी एकदम अलग-अलग स्थिति गर्भाशयमें नहीं हो सकती। फिर भी सबल-शुक्राणु तथा

पक्व-डिम्बाणुओंने भी अपना काम करना ही होता है। उस समय स्त्रीमें एक ही बड़ा मांसपिण्ड मधुचक्रकी तरह या तुम्बीके बीज-समूहकी तरह क्रमशः बढ़ता रहता है। जैसे कि सगरकी स्त्री वैदर्भीकेलिए महाभारतमें कहा है—'ततः कालेन वैदर्भी गर्भालावुं व्यजायत' (वनपर्व. १०६।१६८) अलाबू-तुम्बीका नाम है कि-उसने अलाबूरूप-गर्भका प्रसव किया। इसीके फलस्वरूप आजकल कहीं आपसमें एक-साथ जुड़े हुए बच्चोंकी उत्पत्ति दीखती है। प्रसवके समय निकट-होनेपर छोटा भी भगका भाग रबड़की भांति अत्यन्त-विस्तीर्ण हो जाता है-यह भी सर्व-विदित ही है। तभी तो बड़े आकार वाला भी बालक छोटे भी उस प्रदेशसे उत्पन्न होता है—यह भी लोक-सिद्ध बात है। इस प्रकार सौ या अधिक पुत्रोंका वह मांसपिण्ड सुविधा होनेपर योनि-प्रदेशसे बाहर आ जाता है। यदि सुविधा नहीं होती; तो गर्भिणीकी नाभिके निचले भागको कौशलसे यन्त्र-द्वारा आपरेशन करके उस पिण्डको स्त्रीको क्लोराफार्म-द्वारा बेहोश करके बाहर निकालना पड़ता है,—यह भी आजकल लोक-सिद्ध बात है। इस प्रकार पहलेके विज्ञान-बहुल युगमें भी असम्भव नहीं।

यह भी मालूम रहना चाहिये कि-जिनके दो-तीन या चार बालक एक काल वा थोड़े कालके अन्तरमें पैदा होते हैं, वे नियत-परिमाण वाले शिशुकी अपेक्षा छोटे-शरीर वाले होते हैं। इस प्रकार धृतराष्ट्र तथा सगरके भी बहुत-संख्याके पुत्रोंका गर्भ-पिण्ड सबके छोटे शरीर वाले होनेसे तथा गर्भाशयमें

स्थान-संकोच होनेसे परिमित-आकारका एवं बीजरूप ही था। जैसे बीजमें कई-एक तनें, बहुतसे पत्ते और बहुत-सी शाखाएं संक्षिप्त वा अव्यक्त होते हैं, अथवा वीर्य-रूप बीजको ही ले लीजिये; उसमें कितने लाख अणु संक्षिप्त-रूपसे हैं, उसीमें कठोर अवयव दान्त, हड्डियाँ, बाल, नख, आंख, नाक, कान, हाथ, पांव, मुख आदि अवयव संक्षिप्तरूप होते हैं, वैसे ही उस गर्भ-पिण्डमें भी अङ्ग अव्यक्त अथवा अनुद्भिन्न होते हैं। अन्यथा यदि वे वहां नहीं थे; तो उत्पन्न हुए व्यक्तिमें ही तदादिक कैसे हो जाता है—'नाऽसतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः' (गीता. २।१६) इसमें सूक्ष्म-दृष्टिकी आवश्यकता होती है, स्थूल-दृष्टिकी नहीं।

सगरने जब उस अलाबु-(तुम्बी) रूपसे उत्पन्न स्त्रीके गर्भको छोड़नेकेलिए सोचा; तब आकाश-वाणी हुई—'अलाबुमध्याद् निष्कृष्य बीजं यत्नेन गोप्यताम्। सोपस्वेदेषु पात्रेषु घृतपूर्णेषु भागशः। ततः पुत्रसहस्राणि षष्टिं प्राप्स्यसि भारत !' (१०६।२२-२३) एकैकशस्ततः कृत्वा बीजं-बीजं नराधिपः। (घृतपूर्णेषु कुम्भेषु तान् भागान् विदधे ततः' (१०७।२) (तुम्बीके बीजोंको अलग-अलग करके उन्हें घृतपूर्ण-पात्रोंमें रखो, तुम्हारे ६०,००० लड़के होंगे)। जब वह पिण्ड बाहर आया; उसमें सब शिशुओंके इकट्ठे जुड़े हुए होनेसे वे पृथक्-पृथक् नहीं थे। भीतर भी स्थान तंग होनेसे पिण्डोंका पृथक्-पृथक् पोषण नहीं हुआ। ऐसे समयमें योग्य वैद्यों वा योगियों वा इस प्रकारके अनुभवशाली ऋषि-मुनियोंकी

जरूरत पड़ा करती है। उसके फलस्वरूप तब धृतराष्ट्रका श्रीवेद-व्यास ने, सगरका और्व-मुनिने उस पिण्डका रासायनिक-प्रक्रिया-द्वारा विभाग करके, उन-उन भागोंको उनके उपयोगी विविध-ओषधियोंसे उपसिक्त घृतपात्रोंमें रखा। उससे उन घड़ोंमें गर्भाशय-जैसी गैस होगई, और उनकी वृद्धि जारी होगई। जैसे बीज पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश आदिके आश्रयसे बड़ा वृक्ष बन जाता है, अर्थात्-जैसे वट-वृक्षपर बीज समुद्गक पैदा होता है; उसमें स्थानके संकोचसे उसमें-के बीज अपने अन्दर स्थित भी मूल, स्कन्ध, शाखा, पत्तों आदिको प्रकट करनेमें समर्थ नहीं होते। जब वे पृथक्-पृथक् भूमिमें बोए जाते हैं; तब वे क्रमशः मूल, स्कन्ध, शाखा, पत्ते आदि रूपसे परिवर्तित हो जाते हैं; वैसे ही गर्भाशयके भीतर स्थानके संकोचसे पैदा हुए-हुए बीज-समुद्गकको और्व-व्यास आदि वैज्ञानिक-मुनियोंने घृत कुम्भोंमें विभक्त करके स्थापित किया; उनमें विविध ओषधियाँ डालकर वह गैस पैदा कर ली, जो गर्भाशयमें होती है। जैसे मुर्गी अण्डोंमें अपनी ऊष्माका संयोग करके उनमें मिश्रित रज और वीर्यको पकाकर उसे बच्चेके रूपमें परिवर्तित कर देती है; वैसे ही वर्तमान-वैज्ञानिक वैसी ऊष्मावाली विद्युत्के संयोगसे अण्डोंसे शिशुको प्रकट करनेमें समर्थ हो जाते हैं। इसी प्रकार उक्त-इतिहासमें भी जान लेना चाहिये। अण्डेमें शिशु पका हुआ नहीं होता, किन्तु रज-वीर्यके मिश्रणरूप कच्ची दशामें होता है; तथापि उसमें गर्भाशयसे बाहर भी कुक्कुटीके सेवन-विशेषसे

जीवित-शिशु हो जाता है; वैसे ही अपक्व-बीजरूप मांसपिण्डमें भी रासायनिक-प्रक्रिया द्वारा जीवित बच्चे पैदा होगये-यह जान लेना चाहिये।

पूर्वके ऋषि-मुनि वर्तमान-जनोंकी अपेक्षा सब कलाओंमें अधिक निष्णात थे-यह तो सर्वसम्मत है। इसलिए वेदमें भी कहा है-'याम् ऋषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः। तया मामद्य मेधया अग्ने! मेधाविनं कृणु' (अथर्व. ६।१०८।४) 'यां मेधाम् ऋभवो विदुः, याम् असुरा विदुः। ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुः, तां मयि आवेशयामसि' (अथर्व. ६।१०८।३) 'इन्द्रावरुणौ यद् ऋषिभ्यो मनीषां वाचो मतिं, श्रुतम् अदत्तम् अग्रे। यानि स्थानानि असृजन्त धीरा यज्ञं तन्वानाः तपसाऽभ्यपश्यम्' (ऋ. ८।५९।६) इन मन्त्रोंमें ऋषि-मुनियोंकी बुद्धिकी विशेषता ध्वनित की गई है। 'तज्जयात् प्रज्ञाऽऽलोकः' (योगदर्शन विभूतिपाद ५ सूत्र) यहाँ पर बुद्धि-विशेषकी प्राप्तिका प्रकार बताया गया है। प्रशस्तपाद-भाष्यके 'विशेष'के निरूपणमें योगियोंको हमसे विशेष माना गया है—'तथा अस्मद्-विशिष्टानां योगिनां नित्येषु तुल्याकृति-गुण-क्रियेषु परमाणुषु मुक्तात्ममनःसु च अन्यनिमित्ताऽसम्भवाद् येभ्यो निमित्तेभ्यः प्रत्याधारं विलक्षणोऽयं विलक्षणोऽयम् इति प्रत्ययव्यावृत्तिः, ··'ते अन्त्या विशेषाः'।

इस विषयमें वेदान्तदर्शनके १।३।३३ सूत्रके भाष्यमें स्थित स्वा. शङ्कराचार्यके यह शब्द भी याद रखने चाहियें—'योगोपि अणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलः स्मर्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण

प्रत्याख्यातुम्। श्रुतिश्च योगमाहात्म्यं प्रख्यापयति–'न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः; प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्' (श्वेताश्व. २।१२) ऋषीणामपि मन्त्र-ब्राह्मणदर्शिनां सामर्थ्यं नास्मदीयेन सामर्थ्येन उपमातुं युक्तम्। तस्मात् समूलमितिहास-पुराणम्' (ऋषियोंकी सामर्थ्य अपनी सामर्थ्यसे नहीं मिलानी चाहिये। पुराण-इतिहास समूल हैं)'।

इस प्रकार यदि पहलेके कई विशेष-पुरुषोंके अपवाद-स्थल मान कर बहुतसे पुत्र एक साथ हो गये हों–यह असम्भव नहीं। केवल चाहिये वहां दूर-दर्शिता, तथा बहुश्रुतता, और शारीरिक-विज्ञानका ज्ञान, एवं पक्षपातका चश्मा उतारना, और फिर 'येन केन प्रकारेण कुर्यात् सर्वस्य खण्डनम्' इस व्यसनका त्याग तथा सर्वातिशायी परमात्माकी महिमाके मननकी आवश्यकता है। इसीलिए वेदमें कहा है—'तोकं च तस्य तनयं च वर्धते, यं यं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः' (ऋ. २।२५।२) 'ब्रह्मणस्पति जिसको युक् (सखा) कर लिया करता है, उसकी सन्तान बहुत बढ़ जाती है'। 'अरिष्टः स मर्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि। यम् आदित्यासो नयथा सुनीतिरति विश्वानि दुरितानि स्वस्तये' (ऋ. १०।६३।१३) 'हे देवताओ! जिस मनुष्यको तुम पाप हटाकर सन्मार्गमें ले जाया करते हो; वह पुरुष सन्तानकी वृद्धिको प्राप्त हो जाता है'

'आ पुत्रा! अग्ने! मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः' (अथर्व. ६।६।१२) यहां ७२० पुत्रोंका सङ्केत है। यहां

यद्यपि दिन-रातके ३६० दिनोंको दुगना करके ७२० पुत्र कहे गये हैं; तथापि यहां वादी-लोग मुख नहीं खोल सकते। उनके नेता स्वा. दयानन्दजीने 'द्वादश प्रधयः चक्रमेकं, त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिता षष्टिर्न चलाचलासः' (ऋ. १।१६४।४८) इस मन्त्रका जिसका देवता 'संवत्सरात्मा काल' होना उन्होंने स्वयं भी स्वीकृत किया है; उसका ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा ऋक्सं.भा. में 'विमान' अर्थ कर दिया। उस प्रकारसे यहां भी किसी स्त्री-पुरुषके ७२० पुत्र बताये गये जानने चाहियें। वास्तवमें यदि ७२० पुत्रोंका होना वेदके मतमें असम्भव होता; तब उनकी पुत्ररूपसे उक्त-संख्या न कही जाती। सम्भव होनेसे ही तो वेदने यहां पुत्रका रूपक बांधा है। वेदमें प्रत्येक मन्त्रके आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक यह तीन प्रकारके भाव प्रतिपक्षी लोग भी मानते वा कहते हैं–देखिये श्रीब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुकी 'वेदवाणी' में तथा स्वामीके यजुर्भाष्य-विवरणकी भूमिकामें लेख। तब यहां पुत्रोंकी बहुत संख्यामें भी असम्भव नहीं है। तभी तो वाल्मीकि-रामायणमें–'आसन् वर्ष-सहस्राणि तथा पुत्र-सहस्रिणः। निरामया विशोकाश्च रामे राज्यं प्रशासति' (युद्ध-काण्डके अन्तिम-सर्ग १०१ श्लोक) में रामराज्यमें हजारों पुत्रों वाले पुरुषोंकी सत्ता भी दिखलाई गई है।

इस प्रकार 'कुवलाश्वस्य पुत्राणां सहस्राण्येव विंशतिः' (वन० २०२।५) महाभारतके इस पद्यमें कुवलयाश्व-राजाके २० हजार

पुत्र दिखलाये गये हैं। पुत्र-संख्यामें बाहुल्यका कारण एक तो एक पुरुषकी बहुत स्त्रियोंका होना भी है, दूसरा एक ही स्त्रीके गर्भसे एक-बारगी ही बहुतसे लड़कोंका होना भी है। कई पुत्र अपवाद-न्यायसे प्रसव-समयके कुछ दिन बाद भी होते हैं। गतवर्षोंमें समाचार-पत्रोंमें यह घटना प्रकाशित हुई थी कि-एक स्त्रीका जब प्रसव हो गया; तो उसका एक पुत्र हुआ। फिर ४३-४४ दिन बीत जानेपर फिर उसे गर्भपीड़ा होकर प्रसवमें अन्य लड़का पैदा हुआ। प्रकृतिकी लीलाकी विचित्रतासे यह सब यथासमय सम्भव हो जाता है।

इसके अतिरिक्त *रावणकी बहुत स्त्रियां थीं। उनमें एक स्त्रीके धृतराष्ट्रकी स्त्रीकी भांति १०० तथा दूसरीके कुवलाश्वकी भांति

*कई लोग रावणको कर्मसे राक्षस मानते हैं; वास्तवमें नहीं—यह ठीक नहीं। वह पिता विश्रवाके ब्राह्मण होनेसे ब्राह्मण था—इसमें तो नकार नहीं; पर उत्तरकाण्डके ६ वें सर्गके अनुसार उसकी माता कैकसी सुमाली-राक्षसकी पुत्री राक्षसी थी; तब 'मां पर पूत पिता पर घोड़ा, बहुत नहीं तो थोड़ा-थोड़ा' इस न्यायसे तथा कैकसीके राक्षसी-वेला (सायं) में मुनिके पास संगमार्थ जानेसे तदुत्पन्न रावण राक्षसयोनिका था। यदि राक्षस एक योनि न होती, किन्तु दुष्कर्मा मनुष्यका ही नाम 'राक्षस' निन्दासे होता; तो अक्रूर-कर्मों वाला, तथा सात्त्विक भी विभीषण 'राक्षस' न कहा जाता। इससे स्पष्ट है कि-राक्षस यह योनि-मूलक जाति है। इसके अतिरिक्त राक्षसयोनि देवयोनिके अन्तर्गत मानी जाती है, और मनुष्ययोनिसे उच्च मानी जाती है, निम्न नहीं। सुश्रुतसंहितामें लिखा है—'देवास्तथा शत्रुगणा (दैत्या) श्च तेषां गन्धर्व-यक्षाः पितरो

२० सहस्र, तीसरीके सगरकी भान्ति ६०,००० पुत्र भी हुए हों; तब उसके बहुत पुत्र होनेमें क्या आश्चर्य है। आजकल थोड़ी शक्ति होनेपर भी पुरुषोंकी बहुत स्त्रियां देखी जाती हैं। जैसे कि-बहावलपुरके नवाबकी जो अब पाकिस्तानमें आगया है, चालीसके लगभग स्त्रियाँ सुनी जाती हैं, और वह बिजलीके प्रभावसे सबको प्रसन्न रखता है। आजकल बहुत बार स्त्री-गमनमें भी अशक्तिके कारण स्त्रीको गर्भ नहीं होता; नहीं तो स्त्री-गमन करने वाले तो दिन-रातमें ७-८ बार स्त्री-गमन करते हुए सुने जाते हैं। तब पहलेके बहुत शक्ति वाले, तथा अमोघ-वीर्यताके युगमें जबकि कामशास्त्रके उपयुक्त आसन तथा वाजीकरण-ओषधियाँ, एवं यौगिक-प्रक्रियाएँ अभिज्ञात थीं, और केवल ऋतुकालमें ही एक बार स्त्री-गमन हुआ करता था, और वीर्य व्यर्थ न हो जावे-यह पर्याप्त ध्यान रहता था, और राजाओंकी वर्तमान-कालसे भी अधिक बहुत-सी स्त्रियाँ हुआ करती थीं, जिनमें अण्डके परिपाककी शक्ति बहुत थी; तब यदुवंशी

भुजङ्गाः। रक्षांसि या चापि पिशाच-जातिः, एषोऽष्टको देवगणो ग्रहाख्यः' (उत्तर-तन्त्र ६०।७)। अमरकोषमें भी यही कहा है—'विद्याधराऽप्सरोयक्ष-रक्षो-गन्धर्व-किंनराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः' (१।१।११)। दैत्य और राक्षस भी परस्पर-भिन्न-योनि हैं। दैत्य दितिके लड़के होनेसे देवताओंके भाई हैं। राक्षसकी तरह दैत्य शब्द भी निन्दा-वाचक नहीं। इस प्रकार रावणके मनुष्योंसे उच्च और देवताओंसे अवर देवकोटिके होनेसे उसमें अलौकिकता उपपन्न हो जाती है, और उसकी सन्तानोंका बाहुल्य भी संगत है।

राजाओंके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रोंकी सन्तति अतिशयित (५६ करोड़) हो गई हो; (जिनका निवास समुद्रस्थित-द्वारकापुरीमें था; जो यदुवंशियोंके परस्पर-विनाशके बाद समुद्रमें डूब गई थी) तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं।

क्या यह आश्चर्यकी बात नहीं है कि-आज संसारकी कितनी जनसंख्या है ? वह मनुस्मृति (१।३२) के अनुसार; तथा शतपथ-ब्राह्मण (१४।४।२।४-५) के अनुसार एक युगलकी सन्तान है। कालकी स्थितियाँ विचित्र हुआ करती हैं—यह सोचकर उन प्राचीनकालकी वैसी बातोंमें सहसा ही अविश्वास नहीं करना चाहिये। कुछ उसमें विचार-दृष्टिपूर्वक मस्तिष्क भी लगाना चाहिये। एक मूषक-दम्पतीकी सन्तानें प्रतिवर्ष ८०० हो जाती हैं। और फिर पुराणोंमें सर्वत्र सन्तानकी अधिकता नहीं दिखलाई गई है, किन्तु अपवाद-रूपसे। सामान्य-शास्त्रके अपवाद प्राप्त हो सकते हैं—यह स्वाभाविक है। जैसे सामान्यतया विहित दैनिक सन्ध्या-वन्दन सूतक-आदि अशौचमें अपवादवश-हट जाता है, प्रतिग्रह क्षत्रियको सामान्यतया निषिद्ध है, तथापि वैवाहिक-कन्याऽऽदानरूप प्रतिग्रहको अपवादरूपसे वह भी ग्रहण करता है, वैसे यहां पर भी समझना चाहिये। तब प्रतिपक्षी लोग प्रच्छन्नबौद्ध न बनकर 'तस्मात् तिष्ठेत्तु मतिमान् आगमे, न तु हेतुषु' (सुश्रुतसं. सूत्रस्थान ४०।२१) 'शब्द-प्रमाणका वयम्, यत् शब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्' (परपशान्हिक) इस महा-भाष्यके वचनानुसार आगमका भी आदर करना सीखें, नहीं

तो उनसे प्रमाणित अन्य अदृष्ट बातें भी अप्रमाण हो जाएंगी; पर यह अनिष्ट होगा। अतः उन्हें इस विवेचना पर विचार करनेका कष्ट करना चाहिये—यह निवेदन कर हम यहां रुकते हैं ? अब आगे पौराणिक कई शङ्कास्पद बातों पर प्रत्यक्ष-घटनाएं, जिनका सनातनधर्म-प्रेमी भक्त-श्रीरामशरणदासजीने समाचार-पत्रोंसे संकलन किया है।—उन्हें हमने यहां देना था; पर स्थानाभाववश हम उन्हें यहां न देकर सम्भवतः परिशिष्टमें देंगे। अब कुछ वेदपुराण-मूलक सैद्धान्तिक-चर्चा-भी अवसर-प्राप्त है; हम उसमें वर्ण-व्यवस्थाके मूलभूत 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' मन्त्रमें प्रतिपक्षियों द्वारा किये जाते हुए तर्कोंको उपच्छिन्न करके उनका समाधान करेंगे, पाठकगण उसमें विशेष ध्यान दें—।

जो कई प्रूफकी त्रुटियां रह गई हैं, उनमें विशेषका निर्देश किया जाता है। पृ. ४७० पं० ५ 'इसमें ए. बी. सी. डी. ई. आदि विटामिन पर्याप्त-मात्रामें हैं। भैंसके दूधमें विटामिन बहुत कम है, जो है भी, वह कैरोटिनके अभावसे सहज ही नष्ट हो जाता है'। पृ. ४८५ पं० १४ 'भगवद्गीता'। पृ. ४६० पं० २० 'जीर्णं'। पृ. ६१६ पं० १७ 'सदैवा-पद्गतो राजा भोग्यो भवति मन्त्रिणाम्' (पञ्चतन्त्र १।१२८) क्या यहां भोग भी वादीका मन चाहा है ?'। पृ. ६३५ पं० २१ (४।२।५)। पृ. ६५२ पं० १ 'अङ्ग-देवताओं द्वारा।

(१७) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् (ग)

(वर्ण-व्यवस्था पर विचार)

[१]

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' (यजुः ३१।११) इस मन्त्रके अर्थ पर प्रतिपक्षकी ओरसे बहुत-कुछ ऊहापोह, तर्क-वितर्क किये जाते हैं। मुखादिसे ब्राह्मणादिकी उत्पत्तिका अर्थ इतना दृढ और जन्मसिद्ध-वर्ण-व्यवस्थाका ऐसा पोषक है कि इस अर्थको गिरानेकेलिए एड़ीसे लेकर चोटीतकका पसीना बहाया जाता है। हम यहाँ उन *तर्कोंको उद्धृत करके साथ-साथ उनपर विचार रखते हैं।

१ तर्क—'वेद पर किसी विशेष-वर्णका अधिकार नियत नहीं है। जब सर्वजनीन-ईश्वर पर किसी वर्ण-विशेषका अधिकार नियत नहीं, तब वेद पर वह प्रतिबन्ध कैसे हो सकता है ? वेदमें कहीं भी अपने विशेष-अधिकारी नहीं बतलाये गये।'

(ब्रह्मसूत्रकी एक हिन्दीभाष्य-भूमिकामें)

१ विचार—वेदने स्वयं अपनेलिए अधिकारी द्विज ही नियत किये हैं—'वेदमाता...द्विजानाम्' (अथर्व. १६।७१।१), 'अयं स होता यो द्विजन्मा' (ऋ.सं. १।१४६।५) इत्यादि, (इस

*हम इसपर कुछ तर्कोंका समाधान 'आलोक'के ४र्थ पुष्पमें (क–ख) दो निबन्धोंमें कर चुके। पाठक उसे ६) में मँगा लें, अब अन्य तर्क तथा उनके प्रत्युत्तर दिये जाते हैं।

विषयमें इसी पुष्पके पृ. १७८-२०६ देखें) तब वेद द्विजोंकेलिए ही नियमित होनेसे नियताधिकार ही हैं। ईश्वर पर किसी वर्ण-विशेषका अधिकार नियत न होनेपर भी ईश्वरकी वैदिक-उपासना, सन्ध्या, मूर्तिपूजा आदि पर भी द्विजोंका ही अधिकार है। इसीलिए सृष्ट्यादिजात, वादिप्रतिवादिमान्य-श्रीमनुजीने 'न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्। स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः' (२।१०३) इस सर्वमान्य-पद्यमें सन्ध्योपासनाको द्विजकर्म तथा उसे न करनेवाले द्विजको शूद्रवत् कहा है। इससे वैदिक-कर्म तथा वेदमें शूद्रका अनधिकार ही सिद्ध होता है, जिसे 'शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे न जायते' (२।१७२) यह मनुका सर्वमान्य पद्य स्पष्ट कर रहा है।

२ पूर्व—जब भगवान्के सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वन, पर्वत, पशु, अन्न आदि पदार्थ मनुष्यमात्रके-लिए बनाये गये हैं; तब भगवान्के ज्ञान वेद ही स्त्री-शूद्रोंकेलिए निषिद्ध कैसे किये जा सकते हैं ? क्या वे मनुष्य नहीं ? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि-वेदोंके पढ़ने-सुननेका शूद्रोंकेलिए निषेध और द्विजोंकेलिए विधि करे ? जो परमेश्वरका अभिप्राय शूद्रादिके पढ़ाने-सुनानेका न होता; तो इनके शरीरमें वाक् और श्रोत्र इन्द्रिय क्यों रचता ? इससे स्पष्ट है कि-ब्राह्मण-शूद्रादि सभी वेदके अधिकारी हैं (स्वा.द. आदि सुधारक)

२ उत्तर—इसका उत्तर 'आलोक' ३य पुष्प ४०-४१ पृष्ठमें दिया जा चुका है, पाठक वहीं देखें। कुछ यहाँ भी लिखते हैं।

सूर्यादिके प्रकाशको पठित-अपठित, पापी-पुण्यात्मा, उपनीत-अनुपनीत सभी प्राप्त कर सकते हैं। जैसेकि–वेदमें ही कहा है—'साधारणः सूर्यो मानुषाणाम्' (ऋ. ७।६३।१); परन्तु वेदमें वेदकेलिए कहीं सर्वसाधारणता नहीं बताई गई। वेदको तो अत्यन्त उच्चशिक्षा-प्राप्त उपनीत-पुरुष ही ग्रहण कर सकता है, अपठित एवं अनुपनीत पुरुष नहीं। पढ़नेमें केवल आदिम त्रैवर्णिक पुरुष ही अधिकृत हैं, शूद्रादिका तो सेवासे अतिरिक्त अध्ययन किसी भी शास्त्रसे आदिष्ट नहीं। शास्त्रोंमें कहा गया है—'वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः' (मनु. १०।९७) 'अपना धर्म अन्यके धर्मसे हीन भी श्रेष्ठ है, दूसरेका उन्नत धर्म भी अपनेलिए ठीक नहीं'। यही बात गीतामें भी कही है—'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्' (१८।४४) 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' (४५) स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (४६)। बल्कि भगवान्‌ने अपने कर्मको सदोष होने पर भी उसके त्यागकेलिए निषेध किया है—'सहजं कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत्। सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' (४८) 'स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्विषम्' (४७) इसलिए वेदमें भी शूद्रकेलिए कृच्छ्रकर्म (सेवा) का आदेश दिया है। वेदका मुख्यतया अधिकार ब्राह्मणको आदिष्ट है–'ब्रह्मणे ब्राह्मणं··तपसे (कृच्छ्रकर्मणे) शूद्रं'' (यजुः ३०।५)। 'वेदमाता द्विजानाम्' इस पूर्व-कहे मन्त्रसे भी द्विजको ही वेदका अधिकार है, एकज-शूद्रको नहीं। सो उक्त तर्क, आगम (वेदादिशास्त्र) से

विरुद्ध होनेसे न्यायाभास ही है (न्याय. १।१।१)। तब वादी 'असूयकायानृजवेऽयताय' (निरुक्त २।४।१) वेदके सिद्धान्तके तर्क-द्वारा असूयक होनेसे 'योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः। स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः' (२।११) इस मनु-प्रोक्त व्यवहारके पात्र हैं।

सूर्यके प्रकाशका उपयोग भी सभीको समान-रूपसे नहीं मिलता। जन्मका अन्धा उससे देखनेका काम नहीं कर सकता। उल्लू तो उसे आजन्म प्राप्त ही नहीं कर सकता। हिमाच्छन्न-प्रदेशका रहनेवाला उसके तापको प्राप्त नहीं कर सकता। कैद-खानेकी कालकोठरीमें पड़ा हुआ कैदी भी उसे प्राप्त नहीं कर सकता। वेदमें भी 'यो दासं वर्णमधरं गुहाऽकः' (अथर्व. २०।३४।४) 'न यो ररे आर्यं नाम दस्यवे' (ऋ. १०।४९।३) इत्यादि-मन्त्रोंसे पूर्वजन्मके अपराधी शूद्रको गुहा (कालकोठरी) में रखकर उसे वेद-सूर्यके प्रकाशसे रहित एवं निम्न रखना चाहता है। सो यदि मुख्याध्यापक निम्न-श्रेणीको स्वयं न पढ़ाकर उच्च-श्रेणीवाले छात्रोंको ही उसके शिक्षणार्थ प्रेरित करता है, वैसे ही वेद भी शूद्रोंकेलिए स्वयं शिक्षा न देकर अपनी शिक्षा द्विजों-द्वारा पुराणोंके माध्यमसे दिलवाता है, तब इसमें पक्षपातकी कोई बात नहीं।

परमात्माने एक कश्मीर-देश भी बनाया है, मारवाड़ भी। एक स्थानमें सघन-छाया है, जल प्रचुर-मात्रामें है, दूसरे स्थान इससे विरुद्धता है। कहीं अत्यन्त-सर्दी है, तो दूसरे स्थान

भीषण-गर्मी। तो जैसे यहाँ परमात्माका पक्षपात नहीं होता, वैसे प्रकृतमें भी समझना चाहिये। जब देश, काल, ऋतु तथा सृष्टिमें सर्वत्र पूर्वजन्म-कर्मानुसार विषमता है; कोई किसी वस्तुको प्राप्त करता है, दूसरा नहीं। किसी देशमें पहाड़ नहीं दिये, इसमें कारण पूर्व-जन्मके कर्मोंकी विषमता ही है। इस प्रकार पूर्व-जन्मकी निकृष्ट-कर्मतावश शूद्रको भी वेदाधिकारी नहीं किया गया है।

अथवा यदि द्विज-शूद्रादिको सूर्यादिका प्रकाश समानरूपसे प्राप्त होना भी माना जावे; तो क्या इससे उनमें सभी व्यवहारों-की समता हो जावेगी? तब क्या सवर्णाविवाह-पक्षपाती वादी (स्वा.द.) शूद्रको ब्राह्मण-कन्याके साथ विवाहाधिकार देकर अपने सिद्धान्तका भङ्ग करेंगे, क्योंकि-दोनोंको सूर्यका प्रकाश समानरूपसे प्राप्त होता है? वह्नि और पत्नी भी सूर्यका समान प्रकाश पाती हैं, तब क्या उनसे पुरुषका समान विवाह-सम्बन्ध हो जावेगा? सूर्यादिका प्रकाश पशु-पक्षियोंकेलिए भी है, पर वेद पशु-पक्षियोंकेलिए नहीं हैं। तब मनुष्यमात्रको वेदाधिकार-देनेमें सूर्यादि-दृष्टान्त विषम, निर्बल एवं अकिञ्चित्कर ही सिद्ध हुआ।

जोकि कहा जाता है कि-फिर शूद्रादिके वाक्, श्रोत्रादि क्यों बनाये? इस पर जानना चाहिये कि-कई जन्मसे ही पागल होते हैं, विवाहके योग्य नहीं होते, तब परमात्मा उनकी इन्द्रिय एवं शुक्रादि क्यों बनाता है? वस्तुतः जैसे उनकी इन इन्द्रियोंका

अन्य कार्यकेलिए उपयोग होता है, वैसे ही शूद्रके वाक्, श्रोत्रादिकी भी वेदसे भिन्न पुराणादि-वचन कहने-सुननेमें चरितार्थता है। क्या वाक्-श्रोत्रादि इन्द्रियोंवाले भी सभी मनुष्य वेदके विद्वान् हुआ करते हैं? वस्तुतः एतदादिक-तर्क तर्काभास ही हैं, अधिकार-अनधिकारकी बात पृथक् हुआ करती है। शूद्रादि-शरीर वेदाधिकारमें प्रतिबन्धक हुआ करता है, उसमें ब्राह्मणादि द्विज-पुरुषही अधिकृत होते हैं। इसमें प्रबल प्रमाण वादियोंका चार वेदोंको प्राप्त करनेवाले चार ऋषियों (?) में एक भी स्त्री, शूद्र, अन्त्यज आदिका न रखना ही है। इस विषयमें तथा-'यथेमां वाचं' मन्त्रके विषयमें विशिष्ट-ज्ञानार्थ 'आलोक'का तृतीयपुष्प देखना चाहिये।

३ तर्क—'ब्राह्मणत्वादि सभी, व्यवहार की सुगमताकेलिए कल्पित किये जाते हैं, वास्तविक नहीं।'

३ विचार—इस प्रकार तो जगत् भी 'कल्पित' है, वास्तविक नहीं। उसे भी 'व्यावहारिक' ही माना जाता है। सृष्टि भी कल्पित है, व्यावहारिक है, अद्वैत-ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

४ पूर्वपक्ष—'यह कल्पितता वेदमें भी कही गई है—'यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते' (यजु. ३१।१०) 'जिस पुरुष-विराट्का विद्वानोंने प्रतिपादन किया, उसको कितने प्रकारसे कल्पित किया? यह प्रश्न है।'

४ उत्तरपक्ष—'व्यकल्पयन्' स्थित 'विकल्प'का अर्थ 'कल्पना' नहीं हुआ करता, किन्तु 'भिन्नतासे निर्माण' हुआ करता है, नहीं तो 'सूर्या-चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ. १०।१९०।३) यहां सूर्य-चन्द्रकी भी कल्पना हो जायगी, वास्तविकता नहीं। 'लोकान् अकल्पयन्' (३१।१३) यहां भी लोकोंकी कल्पना हो जायगी। जब यहां 'अकल्पयन्'का अर्थ भी 'कल्पना' नहीं, तब वहां 'व्यकल्पयन्'का अर्थ भला 'कल्पना' कैसे हो सकता है? वस्तुतः यहां पर 'क्लृपू' धातुका अर्थ निर्माण अर्थात् 'सृष्टि' है, जैसे कि 'पतिंवरा क्लृप्त-(कृत-सृष्ट) विवाहवेषा' (रघुवंश ६।१०)। प्रकृत अर्थ यह हुआ कि वह पुरुष अङ्गादिरूपसे कितने प्रकार सृष्ट हुआ? अन्तिम-तात्पर्य यह प्रतिफलित हुआ कि उस सहस्रशीर्षा, सहस्रपात् पुरुषके मुख्य-अङ्गोंकी सृष्टि क्या थी?

५ पू.—'उक्त-प्रश्नका यह तात्पर्य है—'अस्य सुमेधोभिः प्रकल्पितस्य प्रथमं प्रतिबोधितस्य पुरुषस्य सर्वगस्य मुखं मुखमिव (?) किमासीत्? बाहू-भुजौ किमास्ताम्? ऊरू—सक्थिनी जानुनोरुपरितनौ भागौ कौ आस्ताम्? पादौ—चरणौ चलन-साधनभूतौ किमुच्येते—कावुच्येते?' यह प्रश्नका स्वरूप है। जगदात्मा परमात्माके मुख आदि अवयव नहीं होते। जिनके होते हैं, उनसे पूछा नहीं जाता कि 'आपका मुख वा बाहु क्या है?'

५ उ.—जब वह जगदात्मा है और जगत्के जीवोंके मुख आदि अवयव हैं, तब सर्वशक्तिमान् उस प्रभुके भी मुख आदि क्यों न हों? 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' (३१।१) यहां उस जगदात्माके सिर, आंखें, तथा पांव आदि अङ्ग क्या नहीं कहे गये? हां, वे अङ्ग लौकिक न होकर अलौकिक—लोकोत्तर, दिव्य हो सकते हैं। यहां परमात्मासे पूछा भी नहीं गया कि—'आपके अङ्ग क्या हैं?' किन्तु उसकेलिए विवेचना की गई है। दिव्य होनेसे उसके अङ्गोंके कार्यके विषयके प्रष्टव्य होनेसे इस सरणिसे प्रश्न किया है कि उसका मुख क्या था? अर्थात् मुखका कार्य क्या बना? भाव यह है कि उसके मुख आदिसे क्या उत्पन्न हुआ? 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत', 'चन्द्रमा मनसो जातः' इन मन्त्रांशों की निकटता एवं साक्षीसे उक्त प्रश्न भी इसी अभिप्रायसे गर्भित हैं।

६ पू.—'सबका मुख ही मुख होता है, बाहु ही बाहु होते हैं, ऊरु ही ऊरु और पांव ही पांव होते हैं। इस प्रकारका प्रश्न तभी हो सकता है, जब दूसरेके स्थानमें दूसरेकी कल्पना करनी हो।'

६ उ.—ऐसा नहीं। उक्त प्रश्नका शाब्दिक-दृष्टिसे विचार नहीं करना है, किन्तु रहस्य-दृष्टिसे विचार करना है। वह रहस्य उसके उत्तरसे जाना जा सकता है। तब उस प्रश्नका प्रष्टव्यके विशेष-स्वरूप अर्थात् विशेष-कार्यकी जिज्ञासामें पर्यवसान हुआ है, तभी तो उसके उत्तरमें भी प्रश्न-गत कारणका कार्योत्पत्तिके द्वारा स्वरूप विशद किया गया है। यहां कोई दूसरेके स्थानमें दूसरे की कल्पना नहीं।

७ पू.—'विराट् निरवयव है, अतः उसके अवयव भी

कल्पित हैं।'

७ उ.—'पुरुषसूक्त'के सहस्रात्मा-पुरुषके अङ्ग कल्पित नहीं, किन्तु दिव्य होते हैं-यह हम पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं। सबके कर्ता पुरुषके अङ्गोंका कर्ता कोई दूसरा होः यह अश्रद्धेय है। यदि वे अङ्ग कल्पित होंगे भी; तो उसी स्वयंभूसे कल्पित होंगे, ऐरे-गैरेसे कल्पित नहीं होंगे।

८ पू.—"इस प्रकार निरवयव भी विराट्का मुख किसे कल्पित किया गया था? बाहुरूप किसे कहा गया था? ऊरु किसे बनाया गया था? पाँवोंसे किसे गृहीत किया गया था—यह निरवयव पुरुषकी अवयव-कल्पनाके प्रश्न हैं।"

८ उ०—कभी नहीं। यहाँ वादीने चतुरतासे 'मुख कल्पित किया गया, बाहुरूप कहा गया, ऊरू बनाया गया, पाँवोंसे गृहीत किया गया' यह चार भिन्न-भिन्न क्रियाएँ स्वेच्छासे कल्पित करके अपने पक्षको 'सिकता-भित्ति' बना दिया है। यदि 'पुरुष-सूक्त'का पुरुष वेदको निरवयव इष्ट होता, तो उसे सहस्रशीर्षा, सहस्रपात् आदि आरम्भमें न कहा जाता, किन्तु तर्ककर्ताके अनुसार 'कायहीन' कहा जाता। अवयव-हीनके अवयवोंकी कल्पनाका प्रश्न ही विप्रतिषिद्ध है। यहाँ तो उसके दिव्य-अङ्गोंके कार्यके पूछनेकी इच्छा है, कल्पना नहीं।

६ पू०—'कोई मुखादि-अवयववाले देवदत्तके पास जाकर नहीं पूछना चाहता कि 'तेरा मुख क्या है?' वह तो बिना पूछे भी जान लेता है कि यह इसका मुख है। अतः मुखादि-हीनकी

ही मुखादि-कल्पना-विषयक यह प्रश्न है।"

६ उ०—यहाँ भी तो परमपुरुषसे नहीं पूछा गया कि 'तुम्हारा मुख क्या वा कौन है,' और फिर यहाँ देवदत्त-जैसे साधारण एवं ज्ञेय-पुरुषका मुख भी नहीं पूछा गया कि उसका पूछना व्यर्थ होता, यहाँ तो असाधारण एवम् अज्ञेय सहस्रशीर्षा-पुरुषके दिव्य-अङ्गोंके कार्य-जिज्ञासार्थ इस शैलीसे प्रश्न है। यहाँपर सहस्रशीर्षा-पुरुषकी अज्ञेयता तथा असाधारणता होनेसे, विना-प्रश्न तथा बिना उसका उत्तर सुने किसीको उस बातका ज्ञान नहीं हो सकता। अतः यहाँ वेदने इस तत्त्वज्ञानकेलिए इन मन्त्रोंको द्वार बनाया। मुखादि-हीनकी मुख-आदिके विषयमें विवेचना क्या 'यावज्जीवमहं मौनी'—न्यायकी पोषक नहीं?

१० पू०—"अग्रिम-मन्त्र उत्तर देता है—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' इत्यादि। 'मुखं किमासीत्' इस प्रथम-प्रश्नका उत्तर है—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'। 'अस्य बाहू किमास्ताम्?' इस द्वितीय-प्रश्नका उत्तर है—'बाहू राजन्यः कृतः'। 'ऊरू किमस्य' इस तृतीय-प्रश्नका उत्तर है—'ऊरू तदस्य यद् वैश्यः'। 'पादौ अस्य किमुच्येते' इस अन्तिम-प्रश्नका उत्तर है—'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'। यहाँ 'पद्भ्याम्'में पञ्चमी प्रथमा-अर्थमें है, क्योंकि प्रकरण ऐसा है, और प्रश्न भी वैसा है। पूर्व-मन्त्रमें शूद्रकी उत्पत्तिविषयक प्रश्न नहीं कि 'पाँवसे क्या पैदा हुआ?' 'पादौ किमुक्तौ' इतना ही प्रश्न है, उसका 'शूद्रः पादौ उक्तौ' इतना ही उत्तर होना चाहिए।"

१० उ०—प्रकरणका उपसंहारसे ही पता चलता है। संदिग्ध-अर्थमें भी मीमांसानुसार उपसंहारसे ही अर्थनिश्चय हो पाता है। तब यहाँ 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इस उपसंहारसे ही पता चल रहा है कि यहाँ पञ्चमीका तथा उत्पत्तिका प्रकरण है, सृष्टि-प्रकरण तो स्पष्ट है ही। तब पूर्वके पदोंमें भी यही योजना हुई, 'अस्य—सहस्रशीर्षपुरुषस्य मुखं-मुखाद् ब्राह्मण आसीद्—उत्पन्नः'। 'नाभ्या आसीद् अन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत' यहाँपर जैसे 'आसीत्', और 'समवर्तत'का अर्थ 'उत्पन्नः' है, वैसे ही 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्'में भी।

'बाहू—बाहुभ्यां राजन्यः-क्षत्रियः, कृतः-सृष्टः। ऊरू-ऊरुभ्यां वैश्यः कृतः' यहाँ भी वही अर्थ हुआ। अब 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'से सबकी योजना तुल्य होगई। प्रश्न-मन्त्रमें भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए। 'मुखं किम् अस्य आसीत्' अस्य-सहस्रशीर्षपुरुषस्य मुखं-मुखात्, किमासीत्—किमुत्पन्नम् ?' यहाँ पञ्चमीके अर्थमें प्रथमा है—जैसे, 'घृताद् आयुः' कहना हो, तो 'आयुर्घृतम्' कहा जाता है, यहाँ पञ्चमी-अर्थमें प्रथमा स्पष्ट है। 'अस्य बाहू किम् ?'—'बाहुभ्यां किं कृतम् ?' 'ऊरू-ऊरुभ्यां किम् अभवत् ?।' 'पादौ किमुच्येते—पादाभ्यां किं जातमुच्यते' ? यह प्रश्न है।

प्रश्नका भाव यह हुआ कि 'मुखं किम्' मुखं किङ्कार्यवत् ?' मुख किस कार्यवाला हुआ ? इसका उत्तर हुआ—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' अर्थात् कारण-मुख ब्राह्मण-कार्यवाला हुआ। 'आयु-

र्घृतम्'की भांति यहाँ प्रथमा है। 'किं पादौ-पादौ किङ्कार्यवन्तौ उच्येते' इस प्रश्नका उत्तर स्पष्ट है कि 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'। सृष्टिप्रकरण होनेसे यहाँ 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (पा. १।४।३०) से अपादानमें पञ्चमी स्फुट है। तब 'अस्य मुखं किमासीत्' 'मुखस्य सृष्टिः का ?' अथवा—'मुखात् किमासीत्—किं सृष्टम्' इन अर्थोंमें कोई भेद नहीं पड़ता। सृष्टि-प्रकरणमें पञ्चमीमें प्रथमा-विभक्ति भी उसी अर्थवाली हो जाती है—'आयुर्घृतम्' 'आत्मा वै पुत्र-नामासि,' 'आत्मैव देवताः सर्वाः' की भांति अभेदमें प्रथमा-विभक्ति भी देखी गयी है। 'तस्मात् त्वमसि'को अद्वैततामें 'तत् त्वमसि,' 'पितुः पुत्रः'को 'पिता पुत्रः' भी कहा जाता है।

'घृताद् आयुषो जनिर्भवति' यह कहना हो, तो 'आयुर्घृतम्' इस प्रकार कार्य-कारण-भावसम्बन्धरूप सारोपा शुद्धा-लक्षणा वा रूपक-अलङ्कारसे कहा जाता है। अतिशयोक्ति-अलङ्कार वा साध्यवसाना-लक्षणामें तो सर्वथा अद्वैतता मानकर 'आयुरेव' कह देना पड़ता है। इसी 'आयुर्घृतम्' की प्रथमा की भांति 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्'में भी कार्य-कारणके अभेदवश प्रथमा है। कारणस्वरूपसम्बन्धी प्रश्नमें उसका कार्य जिज्ञासित होता है, क्योंकि कारणके कार्य जान लेनेसे कारणका स्वरूप अभिज्ञात हो जाता है। इस प्रकार यदि कार्यस्वरूपसम्बन्धी-प्रश्न हो, तो उसका कारण जिज्ञासित होता है, वहाँ पर उसके कारणके कह देनेसे कार्यका स्वरूप अवगत हो जाता है।

'किम् आयुः ?' यह कार्यस्वरूपविषयक-प्रश्न उसके कारण

को जिज्ञासित कर रहा है, यहाँ उत्तर है—'आयुर्वै घृतम्'। अथवा 'घृतं किम्?' इस कारणस्वरूपविषयक-प्रश्नमें भी वही 'आयुर्वै घृतम्' उत्तर बनता है। इस प्रकारके प्रश्नोत्तरमें भी इस उत्तरवाक्यके 'घृतसे आयु पैदा होती है' इस पञ्चमी-अर्थमें कोई भी बाधा नहीं रह जाती। इस शैलीसे 'मुखं किम्' यह कारणविषयक-प्रश्न उसके कार्यको जिज्ञासित कर रहा है। तब उसके कार्यको प्रथमामें बतला देने पर भी पञ्चमी-अर्थमें कोई भी बाधा शेष नहीं रह जाती।

सृष्टि-अर्थमें यद्यपि पंचमी-विभक्ति होनी चाहिये, तथापि उसी सृष्टि-अर्थमें प्रथमा-विभक्ति भी वैदिक-शैलीमें देखी जाती है। जैसे कि 'शतपथ'में—'तद् यद् इदमाहुः-अमुं यज, अमुं यज इति एकैकं देवम्, एतस्यैव सा विसृष्टिः' यहाँ पर देवताओं को 'परमात्माकी सृष्टि' स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है। यह कहकर आगे कहा गया है—'एष उ ह्येव सर्वे देवाः' (शत० १४।४।२।१२) यहाँ पर 'एतस्मादेव सर्वे देवाः सृष्टाः' इस पंचमीके स्थानमें 'एष उ ह्येव सर्वे देवाः' यह प्रथमा विभक्ति आई है। इस प्रकार प्रकृतमें भी समझ लेना चाहिये। 'पुरुषादेव इदं सर्वम्' के स्थान पर 'पुरुष एवेदं सर्वम्' ऐसा पंचमीके अर्थको प्रथमा-विभक्तिमें कहना वैदिक-शैली है। इसमें कोई भ्रम वा विप्र-लिप्सा का कोई काम नहीं।

जो कि कहा जाता है कि 'पादौ किमुक्तौ'का उत्तर 'तस्य शूद्रः पादौ उक्तौ' इतना ही होना चाहिए', इस पर जानना

चाहिए कि 'प्रभुः स्वातन्त्र्यमापन्नो यदिच्छति करोति तत्। पाणिनेर्न नदी गंगा यमुना च, स्थली नदी' इस न्यायसे प्रश्न-कर्ता एवं उत्तरदाता, यदि समान ही हो, तो उसकी इच्छा होती है, जिस शैलीसे प्रश्नका उत्तर दे। प्रत्युत उत्तरकी विलक्षणता-में समझना पड़ता है कि उसको प्रश्न भी इस शैलीका इष्ट था। तब प्रश्नकी योजना भी उसी शैलीसे करनी पड़ती है। उत्तरोंके उपसंहारमें वैसा होने पर तो सभी प्रश्नोत्तरोंमें वैसी योजना करनी पड़ती है।

कारणके स्वरूपके जिज्ञासित होने पर उसके कार्यके परिचय दे देने पर वह जिज्ञासा शान्त हो जाती है, क्योंकि कार्य, कारणके ही अङ्ग-अङ्गसे उत्पन्न हुए होनेसे उससे अभिन्न होता है—'आत्मा वै पुत्रनामासि'। 'प्रभुः स्वातन्त्र्यमापन्नो यदिच्छति करोति तत्'का प्रमाण यहां यह भी है कि 'चन्द्रमा मनसो जातः' इत्यादि उत्तर, विना ही प्रश्न करनेके दे दिये गये हैं, उसमें स्वयं ही प्रश्नकी योजना कर लेनी पड़ती है कि 'किमस्य मनः' अथवा 'अस्य मनसः को जातः?' 'किं चक्षुः' अथवा 'अस्य चक्षुषः को जातः'? 'किं श्रोत्रम्' अथवा 'अस्य श्रोत्रात् किमजायत'? 'का नाभिः, किं शीर्षम्' अथवा 'नाभ्याः किमासीत्' शीर्षात् (शीर्ष्णः) किं समवर्तत' इत्यादि। नहीं तो बिना प्रश्नके ही उत्तर कैसे दे दिया गया? वहाँ भी यही तात्पर्य निकलता है कि प्रश्न 'तत्पुरुषस्य मनसः किं जातम्' का उत्तर मिला—'चन्द्रमा मनसो जातः'। 'किं चक्षुः' प्रश्नका उत्तर मिला—'चक्षोः सूर्यो अजायत'

इत्यादि। 'मुखादग्निरजायत', 'पद्भ्यां भूमिः' आदिमें फिर द्वारा मुख वा पादका कार्य पूछा गया है, यह उसके सहस्र-शीर्षत्व और सहस्रपादत्वके दिङ्मात्रत्वरूपसे पुनः प्रश्नको अन्तर्गर्भित करके उत्तर दे दिया गया है।

११ पू.—"'पद्भ्यां शूद्रो' इस पञ्चमीके देखनेसे मुख आदिमें भी पञ्चमीकी कल्पना किसी भी प्रकार उचित नहीं हो सकती, क्योंकि इससे प्रश्नके स्वरूपमें विरोध पड़ता है।"

११ उ.—नहीं। 'पादौ किम्' इस प्रश्नके 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इस उत्तरको देखकर प्रश्नमें भी 'पद्भ्यां किमासीद्' यह योजना भी हो जाती है। 'सुपां च सुपो भवन्ति' (महाभाष्य ७।१।३९) इस वार्तिकसे छन्दमें उक्त योजनामें कोई बाधा वा प्रश्न-उत्तरके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं बच पाता। सृष्टि-प्रकरण होनेसे यहां 'मुखं किमस्यासीत्' की 'आसीत्' क्रिया भी उत्पत्त्यर्थक है। इसमें 'नाभ्या आसीद् अन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत' मन्त्रकी 'आसीत्, समवर्तत' क्रियाओंकी साक्षी भी प्रत्यक्ष है।

वस्तुतः यदि प्रतिपक्षी निष्पक्ष दृष्टि रख ले, तो उसे यह सब समझमें आ सकता है। जब कारण और कार्यका अभेद-सम्बन्ध विवक्षित होता है, तब तो दोनों ही स्थानमें प्रथमा आया करती है—'आयुर्घृतम्'। उसमें भी सर्वथा अभेद इष्ट होने पर 'आयुरेव' इत्यादिकी भाँति कार्य वा कारणको निगीर्ण कर दिया जाता है, जैसे ब्राह्मणको 'मुखमेव' कह देना। यदि कार्य-कारण

दोनोंका भेद दिखलाना पड़ता है, तो वहाँ कारणमें अपादान कर देना पड़ता है जैसे—'घृताद् आयुर्भवति'।

यह यहाँ पर भी जान लेने पर कि मुख एवं ब्राह्मण यहाँपर कारण-कार्य हैं—चाहे इन्हें यों कहा जाय—'मुखं ब्राह्मणः', चाहे कहा जाय—'मुखाद् ब्राह्मणः'। प्रश्न किया जाय—'अस्य किं मुखम्', इसका उत्तर चाहे 'अस्य ब्राह्मणः मुखम्' दिया जाय अथवा 'अस्य-मुखाद् ब्राह्मणः' कहा जाय। अथवा प्रश्न किया जाय कि 'अस्य मुखात् को जातः' तब उसका उत्तर 'ब्राह्मणोऽस्य मुखम्' अथवा 'मुखाद् ब्राह्मणो जातः' कहा जाय, यहाँ कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध विवक्षित होनेसे कोई भी किसी भी प्रकारका दोष वा प्रश्न एवं उत्तरके स्वरूपमें विरोध नहीं रह जाता। परन्तु दृष्टिको निष्पक्ष न रखने पर यह बात समझमें नहीं आ सकती। इसका प्रसिद्ध उदाहरण भी दिया जाता है। वह यह है कि 'वेदान्तदर्शन' के प्रथम-सूत्रमें 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (१।१।१) 'ब्रह्म किम्' ब्रह्मका स्वरूप पूछा गया है, उसका उत्तर उसके कार्य-द्वारा दिया गया है—'जन्माद्यस्य यतः' (१।१।२) 'यतः—यस्माद् ब्रह्मणः' अस्य-जगतो जन्मादि, तदेव ब्रह्म।' इसको तटस्थलक्षण कहते हैं। इसी प्रकार 'किं मुखम्' का उत्तर भी यही होगा—'यस्माद् ब्राह्मण उत्पन्नः, तदेव अस्य मुखम्'। तब उत्पत्ति अर्थ स्पष्ट हो गया।

१२ पूर्व—'प्रश्न-वाक्योंमें 'अस्य मुखात् किमुत्पन्नम्, बाहुभ्याम्, ऊरुभ्यां, पादाभ्यां किमुत्पन्नम्' ऐसा पञ्चमीका अर्थ

करके 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इस उत्तरकी सङ्गति दिखलाकर प्रश्नोत्तरका सामञ्जस्य दिखलाना ठीक नहीं, इस पर कई आपत्तियां उपस्थित हो जाती हैं। इससे 'यत् पुरुषं व्यदधुः' इस पूर्वार्धका अर्थ असमञ्जस बन जाता है। इतना ही नहीं। सायण और महीधरके वहांके शब्दोंसे विरोध भी होता है, वहाँ तो उन विद्वानोंने यह लिखा है कि–'अस्य पुरुषस्य मुखं किमासीद् ?' कौ च पादा उच्येते'। अतः पञ्चमी अर्थ करनेमें 'वदतो-व्याघात' होगा, यह पहली आपत्ति है। अनेक स्थलोंमें विभक्ति-परिवर्तन करना पड़ेगा–यह दूसरी आपत्ति है। 'आसीत्' क्रिया-का 'उदपद्यत' अर्थ करना होगा—यह तीसरी आपत्ति है। इस सम्पूर्ण-प्रकरणकी असमञ्जसता; यह चतुर्थ आपत्ति है'।

१२ उत्तर—यह सभी आपत्तियाँ आपाततः हैं, गम्भीरतासे अवगाहन करने पर यह सब समाहित हो जाती हैं। 'यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्' इस पूर्वार्धके अर्थमें कोई असमञ्जसता नहीं आती। 'यत् 'पुरुषं व्यदधुः' में पुरुषका 'निर्माण' वादी स्वयं भी नहीं मानता, किन्तु 'अभिदधुः' 'अभिधान' मानता है' 'जिस विराट्-पुरुषका विद्वानोंने प्रतिपादन किया' यही अर्थ वादी अपने पुरुषसूक्त-भाष्यमें मानता है। तब उस विराट्पुरुषका अभिधान है, निर्माण नहीं, तब उसके अङ्गों-की कल्पना भी कैसी ? वस्तुतः यहां क्लृप् धातु सृष्टि-अर्थमें है कि–वह पुरुष अङ्गादिरूपसे कितने प्रकार सृष्ट हुआ ? तात्पर्य यह हुआ कि–उसके अङ्गोंकी सृष्टि क्या थी ? इस अर्थमें कुछ

भी असमञ्जसता नहीं। शेष रहा सायणआदिका प्रश्न-मन्त्रमें पञ्चमीका अर्थ न करना; सो जब श्रीसायणादिने उत्तर-मन्त्रमें पञ्चमी अर्थ स्पष्ट लिखा है; तब उनके मतमें प्रश्नमन्त्रमें भी पञ्चमी स्वतः-सिद्ध हो गई। यह साधारण-जन भी समझ सकता है। हां, यदि सायणादिका प्रश्न-मन्त्रकेलिए स्पष्ट वैसा निर्देश ही वादीके मतमें हमारे पक्षका स्पष्ट साधक हो; अन्यथा हमारा पक्ष वादीके-मतमें बाधित हो; तो वादी-महोदय श्रीसायणाचार्य-के प्रश्नमन्त्रकेलिए स्पष्ट शब्द भी देखें। तैत्तिरीयारण्यकमें उक्त मन्त्रकी व्याख्या करते हुए श्रीसायणाचार्य स्पष्ट लिखते हैं–'इयं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिः सप्तमकाण्डे 'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत' इत्यादौ स्पष्टमाम्नाता। अतः ('मुखं किमस्यासीद्-ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् इति) प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत्परत्वेनैव योजनीये'। अर्थात् यजुर्वेदादिके उक्त-प्रश्नमन्त्र तथा उत्तरमन्त्र 'स मुखतः' इस मन्त्रकी साक्षीसे पञ्चमी-अर्थमें जोड़ लेने चाहियें कि–'मुखात् किमासीत्-किमुत्पन्नम्, ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्-मुखाद् ब्राह्मण उत्पन्न इति (३।१२।५) तब हमारा पक्ष सिद्ध होगया, सायणादिसे कोई विरोध नहीं पड़ता, बल्कि अनुकूलता ही पड़ती है। 'तदास्योत्पन्नत्वात्' यह ब्राह्मणकेलिए लिखकर उवटने भी हमारा ही अर्थ पञ्चमी एवं उत्पत्त्यर्थक बताया है। अतः 'वदतो व्याघात' न रहा।

अनेक-स्थलोंमें विभक्ति-परिवर्तन भी नहीं है किन्तु 'सुपां च सुपो भवन्ति' इस वैदिक-वार्तिकसे पञ्चमीमें प्रथमा है।

यदि यह दोष है, तो वादीका 'पद्भ्यां, मनसः, चक्षोः, श्रोत्राद्, मुखात्, नाभ्याः, शीर्ष्णः, पद्भ्यां, इन मन्त्रोंमें हमसे बहुत अधिक विभक्ति-परिवर्तन करना उसके पक्षको असत् करनेवाला सिद्ध हुआ। 'आसीत्' का 'उदपद्यत' अर्थ वेदको स्वयं सम्मत है, देखिये—'नाभ्या आसीद् अन्तरिक्षम्' इसका अर्थ यह है–'अस्य पुरुषस्य-नाभ्याः-नाभिप्रदेशाद् अन्तरिक्षम् आसीत्-उत्पन्नम्' 'शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत' यहां 'समवर्तत' का जो 'अस्' धातुका समानार्थक है, 'उदपद्यत' ही अर्थ है, जब पञ्चमीके साथ 'आसीत्' हो तो वहां 'उत्पत्ति' अर्थ स्वतः हो जाता है। प्रकरण-की कोई असमञ्जसता है नहीं–हम उसका सामञ्जस्य दिखा ही चुके हैं।

१३ पू.—"प्रतिवक्तव्य वस्तुका निर्देश प्रथमासे ही युक्त था।"

१३ उ.—यह तो आग्रह है, उस विषयमें अभी-अभी स्पष्टता-की ही जा चुकी है, तब क्या प्रतिपक्षी यहां अपनी भूल न मानकर वेदकी ही भूल बतलाने को उद्यत है, और उसका अपनी इच्छा-नुसार बलात् परिवर्तन करता है? शास्त्रोंमें ब्राह्मण एवं अग्निको एकजाति वाला माना गया है, जैसेकि मीमांसादर्शन' (१।४।२४) के शाबरभाष्यमें। तब अग्निकी योनिकेलिए जब 'मुखादग्निर-जायत' (३१।१२) यहाँ मुखमें पञ्चमी आई है, 'बृहदारण्यक' (१।४।६) में भी 'मुखाच्च योनेः अग्निमसृजत्' में मुखको योनि एवं पञ्चम्यन्त माना है, तब 'ब्राह्मणोऽस्य मुखम्' में भी अग्निके एकजातीय-ब्राह्मणकी योनि (कारण) मुखको 'ब्राह्मणोऽस्य मुखाद्'

इस प्रकार पञ्चमी मानना वेदको इष्ट है–यह प्रत्यक्ष है।

वस्तुतः जैसे प्रश्नके अनुरोधसे उत्तरमें पञ्चमी वादी-द्वारा प्रथमार्थक मानी जाती है, वैसे ही उत्तरके अनुरोधसे तथा 'चन्द्रमा मनसो जातः' इत्यादि अग्रिम-मन्त्रोंके अनुरोधसे प्रश्नमें भी प्रथमा पञ्चम्यर्थक ही है। इससे वेदने ही स्वयं यह सूचित कर दिया है कि पहले प्रश्न एवम् उत्तरमें सब स्थानमें प्रथमा-का अर्थ करो, फिर प्रश्न एवं उत्तरमें सब स्थानमें सर्वत्र पञ्चमीका अर्थ करो। इससे समन्वयात्मक मार्ग स्वयं मिल जायगा। हमें दोनों ही अर्थोंमें इष्टापत्ति है। जन्ममें भी उत्पत्ति पहले मुखकी होती है, इसी प्रकार मुखरूप ब्राह्मण ही अग्रज बनता है। यदि शूद्र अग्रज बन जावे, गर्भाशयसे पहले पांव ही निकले, तो माताके मरनेका डर रहता है। इसी प्रकार यदि शूद्रको अग्रज बनाया जायगा; तो भारतमाताके मरनेकी आशङ्का उपस्थित होगी। पर प्रतिपक्षी पञ्चमीसे डरते हैं और उसे हटानेकेलिए एड़ीसे चोटी तकका पसीना बहाते हैं, इससे वे वेदसे विरुद्ध ही सिद्ध होते हैं। दोनों ही अर्थोंमें पक्ष सनातनधर्मका ही सिद्ध होता है—यह बात इस ग्रन्थमालाके चतुर्थ-पुष्पमें 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' (क) (ख) निबन्धमें देखें। इसलिए 'कृष्ण-यजुर्वेद' (तैत्तिरीयसंहिता)की भी इसी अर्थमें साक्षी है। सभी भाष्यकारों-ने भी एवं इतिहास-पुराण तथा दर्शनोंके भाष्योंमें भी यही पंचमी अर्थ किया गया है। यह भी वहीं (४ पुष्पमें) देखें।

१४ पू०—"स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत, तमग्निर्देवताऽन्व-

सृज्यत, गायत्री छन्दो, रथन्तरं साम, ब्राह्मणो मनुष्याणाम्, अजः पशूनाम्, तस्मात् ते मुख्याः, मुखतो हि असृज्यन्त' (तै० सं० ७।१४) इसके पञ्चमीके वचनको अनुसृत करके ऋक्, यजु, अथर्व इन बहुतोंकी वाणीमें भंग कर देना (इनमें पञ्चमी अर्थ कर देना) ठीक नहीं होगा। एक को बहुतोंका अनुरोध अनुसृत करना पड़ता है, बहुतोंको एकका नहीं।"

१४ उ०—दूसरी संहिता पूर्व-संहिताके मन्त्रोंकी अनुवादक होती है, और अग्रिम मन्त्र पूर्व-मन्त्रके अनुवादक हुआ करते हैं। अनुवादसे मूल वार्ता स्वयं विशद हो जाती है। जहाँ उक्त-मन्त्रके उपसंहार 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'में पञ्चमी है, वहाँ साथके 'चन्द्रमा मनसो जातः' इन दो मन्त्रोंमें भी पञ्चमी है। सो सृष्टि-प्रकरणवश पूर्वके दो मन्त्रोंमें भी पञ्चमी विभक्ति सिद्ध हुई, इसपर ऋ०सं०की भी साक्षी है-यह आगे देखिये। तब प्रतिपक्षीकी उक्ति कट गई।

१५ पू०—'चन्द्रमा मनसो जातः', 'नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्' इन आगेके मन्त्रोंमें पञ्चमी दीखनेसे 'ब्राह्मणोस्य मुखं' में भी पञ्चमी मान लेना ठीक नहीं। समान-प्रकरणके आगे पढ़े हुए 'यत्पुरुषेण हविषा' (३१।१४), 'सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः' (१५) इन मन्त्रोंमें वसन्त, ग्रीष्म, शरत् आदिकोंमें तथा परिधि, समिधा आदिमें प्रथमाके ही दीखनेसे प्रश्नके अनुकूल ही उत्तर की योजना करनी पड़ती है।'

१५ उ०—इसमें 'यत्पुरुषेण हविषा' और 'सप्तास्यासन्' इन

मन्त्रोंका उपस्थित करना तो विषम ही है। इसीसे सिद्ध हो रहा है कि प्रतिपक्षी जिस-किसी भी प्रकारसे हो, अपने अर्थके सिद्ध्यर्थ 'यत्किञ्चनवाद'को प्रश्रय देनेमें भी नहीं झिझकता। एक तो इन दो मन्त्रोंमें पहलेके दो पञ्चमी-विभक्तिके मन्त्रोंका व्यवधान है। बल्कि प्रतिपक्षीसे दिये हुए यह दो मन्त्र 'ऋग्वेदसंहिता' तथा 'अथर्ववेदसंहिता'में भिन्न-भिन्न स्थलमें दिये हुए हैं। उनमें पहला 'यत्पुरुषेण हविषा' मन्त्र तो ऋ०सं०में 'यत्पुरुषं व्यदधुः' मन्त्रसे पाँच मन्त्र पूर्वके व्यवधानमें हैं। यदि इस व्यवधानके होते हुए भी इस 'यत्पुरुषेण'की साक्षीसे 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' मन्त्र-की पञ्चमीमें भी प्रथमा मानी जाय, तो 'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' (ऋ० १०।९०।९) मन्त्रमें तथा 'तस्मा-दश्वा अजायन्त' (१०) इन मन्त्रोंमें भी पञ्चमी प्रथमार्थक माननी पड़ेगी, जो कि प्रतिपक्षको भी अनिष्ट है। बल्कि आदिम-वेद 'ऋक्संहिता'के 'तस्माद् यज्ञात्...ऋचः सामानि जज्ञिरे (९), 'गावो ह जज्ञिरे तस्मात्' (१०) इन पञ्चमी बतलानेवाले मन्त्रोंसे अव्यवहित ठहरे हुए 'यत्पुरुषं व्यदधुः' (११), 'ब्राह्मणोऽस्य मुख-मासीत्', (१२) इन मन्त्रोंका भी पञ्चम्यर्थ ही वेदेष्ट होगा, क्योंकि इधरसे इन मन्त्रोंमें ऋ०सं०के पञ्चमीवाले 'तस्माद् यज्ञात्... जज्ञिरे', 'तस्माद् अश्वा अजायन्त' (९-१०) इन दो मन्त्रोंका दबाव पड़ रहा है, उधरसे ऋ०सं०के 'चन्द्रमा मनसो जातः', 'नाभ्या आसीद्' यह १३-१४ दो मन्त्र पञ्चमी-अर्थका दबाव डाल रहे हैं, इधर अपने बारहवें मन्त्रके उपसंहारभाग 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'की पञ्चमी भी दबाव डाल

रही है, तब बीचके पौने दो (११-१२) मन्त्रोंकी प्रथमा भी दबकर पञ्चम्यर्थक ही हो जायगी।

दूसरा 'सप्तास्यासन्', 'यत्पुरुषेण हविषा' इन दो मन्त्रोंमें सृष्ट्युत्पत्तिसे भिन्न यज्ञका वर्णन एवं यज्ञकी ही सामग्री दिखलाई गई है। पूर्व-मन्त्रोंकी भांति उनमें कोई सृष्टिकी उत्पत्ति वा मुखादि-अङ्गोंका निरूपण नहीं, अतः इन मन्त्रोंका यहाँ देना वादीकी विवशता वा निराशाको व्यक्त कर रहा है। जैसे प्रश्नके अनुसार उत्तरका देह कल्पित होता है, वैसे ही उत्तरके अनुकूल प्रश्नका देह भी विवक्षावश जोड़ा जाता है। 'तैत्तिरीयसंहिता'की उस अर्थमें साक्षी तो प्रत्यक्ष है ही। वह 'कृष्णयजुर्वेद'की संहिता होनेसे प्रमाण ही है।

१६ पू०—"'तैत्तिरीयसंहिता'का वचन तो ब्राह्मणभाग होनेसे कथञ्चित् समाहित हो जाता है। संहिताकी अपेक्षा ब्राह्मण अवर-प्रमाण है।"

१६ उ०—ब्राह्मणभाग है तो क्या हुआ, ब्राह्मणभाग भी मन्त्रभागकी भांति प्रमाण एवं वेद होता है, देखिये इसपर इसी पुष्प-का पञ्चम-निबन्ध "वेदस्वरूपनिरूपण" और वह (ब्राह्मणभाग) मूलका अनुवाद होनेसे हमें अर्थमें मार्ग-दर्शन करता है कि इससे विरुद्ध अर्थ अनुपादेय है। वस्तुतः 'तैत्तिरीयसंहिता' भी शुक्लयजुर्वेदकी 'वाजसनेयीसंहिता'की भांति कृष्णयजुर्वेदकी संहिता ही है, ब्राह्मण नहीं। 'तैत्तिरीयसंहिता'का ब्राह्मण 'तैत्ति-रीय-ब्राह्मण' तो इससे पृथक् है। तो अपने दुर्बल-पक्षके रक्षणार्थ

यह उपन्यास प्रतिपक्षीकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं। जब 'तैत्तिरीयसंहिता' भी कृष्णयजुर्वेदकी, शुक्लयजुर्वेदकी माध्यन्दिनी संहिताकी भांति, संहिता है, तब प्रतिपक्षीका यह वचन व्यर्थ है। 'एकशतमध्वर्युशाखाः' यह वादि-प्रतिवादि-मान्य महाभाष्यकार-का कथन है। इसमें १०१ संहिताओंको—जिनमें 'तैत्तिरीयसंहिता'-आदि भी सम्बद्ध हैं'-यजुर्वेद माना गया है। वे महाभाष्यकार 'तैत्ति-रीयसंहिता'को मानते भी वेद ही हैं। यदि प्रतिपक्षी चाहे, तो यह सिद्ध किया जा सकता है, इस विषयमें 'आलोक' (चतुर्थ-पुष्प) में हम स्पष्टता कर चुके हैं। किसी प्रकार 'तैत्तिरीयसंहिता'को ब्राह्मण मानने पर भी उसका प्रामाण्य भी तदवस्थ ही है, क्योंकि 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' ऐसा प्राचीन सम्प्रदाय है।

१७ पू०—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस वचनसे 'तैत्ति-रीयसंहिता' भी वेद है'—ऐसा कथन ठीक नहीं, उसमें ब्राह्मण ही प्रधान है'।

१७ उ०—वह जब संहिता ही है, तब प्रतिपक्षीका यह कथन व्यर्थ है। यजुः में गद्यशैली स्वाभाविक तथा 'यत्र पादव्यवस्था सा ऋक्', 'गीतिषु सामाख्या', 'शेषे यजुःशब्दः' (मीमांसादर्शन २।१।३५-३७) इस लक्षणके अनुरूप ही हुआ करती है। 'तैत्तिरीय-संहिता'का ब्राह्मण तो इससे पृथक् मिलता ही है।

१८ पू०—'जिस-किसीके वचनसे जिस-किसी ग्रन्थको वेद मान लेना अनर्थावह होगा।'

१८ उ०—'उक्त वचन किसी ऐरे-गैरेका तथा एकका नहीं है।

इसमें पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, यास्क आदि सभीका यही सिद्धान्त है कि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'। यह बात सायण-भाष्यवाले 'शतपथ-ब्राह्मण' (लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर प्रेस, कल्याण, बम्बईमें प्रकाशित) की हमारी भूमिकामें देखनी चाहिये, अथवा इसी पुष्पके १०५-११४ पृष्ठ देखने चाहियें।

१६ पू०—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह केवल याज्ञिक-क्रिया-प्रक्रियाके निर्वाहार्थ ही है, सर्वसाधारणतासे नहीं।'

१६ उ०—सभी वेदोंका यज्ञक्रिया ही विषय है, जैसा कि 'न्यायदर्शन'के ४।१।६२ सूत्रके वात्स्यायनभाष्यमें लिखा है। इस विषयमें अन्य भी बहुतोंकी साक्षी है। यह प्राचीन सिद्धान्त है, इस पर इस पुष्पके १४२-१४६ पृष्ठ देखें। तब वेदके साथ यज्ञ भी सदा रहेगा ही। तो मन्त्र और ब्राह्मण दोनों सदा ही वेद हुए, किसी विशेष-स्थल पर नहीं, अन्यथा तो ब्राह्मणके सहचारी मन्त्रका भी वेदत्व केवल यज्ञमें मानना पड़ेगा, क्योंकि उक्त-वचनमें दोनों—मन्त्र-ब्राह्मण—में द्वन्द्व-समास है, जो उभयपद-प्रधान हुआ करता है। तब 'एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः' इस न्यायसे यदि वेदत्व होगा, तो दोनों मन्त्र-ब्राह्मणोंका होगा, वेदत्वकी निवृत्ति होगी, तो दोनोंकी ही होगी। निवृत्ति मानने पर फिर मन्त्रभाग भी वेद नहीं रहेगा। तब कृष्णयजुर्वेद (तैत्तिरीयसंहिता) की साक्षीसे तथा सब प्राचीन-वेदभाष्यकार एवं स्मृतिकारोंकी साक्षीसे 'ब्राह्मणोऽस्य मुख-मासीद्' इस मन्त्रमें पञ्चमीका अर्थ सर्वथा अदुष्ट है, तब उत्पत्ति-अर्थ होनेसे वर्णव्यवस्था भी जन्ममूलक ही सिद्ध है। वह कल्पित नहीं, किन्तु वास्तविक है।

(१८) 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' (घ)
[२]

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इस मन्त्रके पञ्चमी अर्थ पर अन्य भी कुछ आक्षेप किये जाते हैं, हम यहां उन पर भी विचार करते हैं।

१ आक्षेप—'वर्णविधान करनेवाले जिस (यजु. ३१।११) मन्त्रका आधार लिया जाता है, उसी मन्त्रसे यह स्पष्ट है कि सभी भगवान्के शरीर हैं। भगवान्के शरीरमें कोई प्रतिष्ठित अङ्ग है, कोई अप्रतिष्ठित, ऐसा नहीं है।'

१ परिहार—उक्त मन्त्रमें सभीको भगवान्का शरीर नहीं बतलाया गया, किन्तु भगवान्के शरीरके भिन्न-भिन्न अङ्गोंसे भिन्न-भिन्न वर्णोंको उत्पन्न हुआ बतलाया गया है। यह ठीक है कि भिन्न-भिन्न अङ्ग अपने-अपने स्थान पर उच्च हैं, पर जब शरीरके भिन्न-भिन्न अङ्गोंके पारस्परिक-व्यवहारकी बात आ जाती है, तब एक-दूसरेकी अपेक्षा किसी अङ्गको प्रतिष्ठित और किसीको अप्रतिष्ठित मानना ही पड़ता है—इसमें अस्वाभाविकता कुछ भी नहीं, अन्यथा पृथक्-पृथक् अङ्गका नाम न होता, केवल शरीरका नाम होता। पृथक्-पृथक् अंगका नाम होनेसे व्यवहार भी प्रायः उन-उन अङ्गोंके माननीय हो जाते हैं। जब यह कहा जाता है कि 'सभी भगवान्के रूप हैं', तब जगत्में पेड़ा-बर्फी भी है, लाल-मिर्च भी है, हल्दी भी है, कीचड़ भी है, विष्ठा भी है, दूध भी है, रक्त भी है, पानी भी है, मद्य भी है, चर्बी भी है। यह भी

भगवान्के स्वरूप हैं या नहीं ? यदि हैं, तो क्या दूध और मद्य, पेड़ा और विष्ठा, कीचड़ एवं मलाई, पानी और चर्वी आदिको परमात्माका बराबर अङ्ग माना जायगा ? वा उनसे सम-व्यवहार किया जायगा ?

२ पू.—भगवान्के मुखको ब्राह्मण, बाहुको क्षत्रिय, वैश्यको जङ्घा और चरणको शूद्र बतलाया है। भगवान्के किस अङ्गको अपवित्र या नीच मान सकते हैं ?'

२ उ.—ऐसा नहीं, किन्तु भगवान्के शरीरके भिन्न-भिन्न अङ्गोंसे ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति बतलाई गई है। भगवान् पवित्र हैं, कण-कणमें व्याप्त हैं, पर अङ्गोंका जब उनके साथ भी व्यवहार होगा, तब अङ्गोंमें परस्पर-वैषम्य होना वहाँ भी स्वाभाविक होता है। शरीर तथा अङ्ग होते भी व्यवहारार्थ ही हैं, अशरीरी तो अव्यावहारिक होता है और शरीरी व्यावहारिक। व्यवहारमें विषमता होनी भी स्वाभाविक होती है। परमाणुओंकी वा गुणोंकी साम्यावस्थामें प्रलय होता है, विषमता आने पर ही सृष्टि होती है। जब त्रिगुणात्मक-सृष्टिके समयमें स्वतः-उत्पन्न उसके एक अङ्गका नाम मुख और एक गुणका नाम सत्त्व है, एक अंगका नाम चरण वा एक गुणका नाम तमोगुण है, यह दोनों जब समान नाम नहीं, तब उनमें इतरेतरापेक्षया उच्चता-निम्नता माननी ही पड़ती है। मुखको, जिससे परम-पवित्र वेद निकले, जिसमें सभी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, ज्ञानेन्द्रियोंसे रहित पाद-आदिकी अपेक्षा उच्च मानना ही पड़ता

है। ज्ञानकी मुख्यता होनेसे ज्ञानोपदेशक मुख भी मुख्य एवं श्रेष्ठ सिद्ध हुआ। सत्त्वगुणको उच्च तथा तमोगुणको निम्न मानना ही पड़ता है। हाँ, यदि सभी वर्ण एक ही अंगसे निकले हुए बतलाये जाते, तो सभी समान हो सकते थे, पर उनकी समान अंगसे उत्पत्ति न बतलाकर भिन्न-भिन्न अंगोंसे भिन्न-भिन्न वर्णोंकी उत्पत्ति बतलाना वर्णोंकी विषमताका स्वयं आह्वान है।

३ पू.—"प्रथम पूजा तो भगवान्के चरणोंकी होती है, सर्वत्र चरण-दर्शन और चरणस्पर्शका उल्लेख है, मुखदर्शन वा मुखस्पर्शका उल्लेख कभी नहीं होता है, या अतीव अल्प होता है।"

३ उ.—ऐसा मानने पर भी प्रतिपक्षीकी अनिष्ट विषमता तो सिद्ध हो ही गई। पांव पूज्य हो गया और मुख अपूज्य। प्रतिपक्षीकी इष्ट, भगवान्के अङ्गोंकी समता, कहाँ रही ? तथापि यह बात गलत है। सबसे पूर्व मुखदर्शन ही करना पड़ता है। मुख ही सबसे पूर्व श्रद्धावनत-नेत्रोंसे वन्दित होता है। मुखकी दृष्टि अपने पर पड़नेसे ही तथा मुखके उपदेश सुननेसे ही अपनी कृतार्थता मानी जाती है। मुख-दर्शन यदि सबसे पूर्व नहीं, तो यह पहचान कैसे पड़े कि यह अमुक है और बिना पहचान उसकी पूजा ही कैसे हो ? यह और बात है कि मुख रोबीला हो और हम रोबमें आकर उसके मुखको अनिमेष-दृष्टिसे न देख सकें, उसकी आँखोंसे अपनी आँखें मिलानेमें हम अपनी धृष्टता समझें,

इसी कारण हमारी दृष्टि उसीके चरणोंमें जा पड़े, पर मुख-दर्शन वा मुख-सेवन (पूजन) सबसे पूर्व होता है। हां, मुखस्पर्श धृष्टता-वश न किया जा सके—यह भिन्न बात है। किसीके मुखसे ही स्पर्शपूर्वक प्यार किया जाता है। किसीका पैर अपनेसे लगनेसे ही हमें क्रोध चढ़ जाता है, हम उसके पैरको परे झटक देते हैं। किसीके पांव कहीं पड़नेसे धूलि हो जाय, तो हम उस स्थानको धोकर वा झाड़कर बैठते हैं, फलतः प्रतिपक्षीका यह प्रयास विषम है, व्यर्थ है।

इससे प्रतिपक्षी क्या यह सिद्ध करना चाहता है कि 'ब्राह्मणों-की पूजा न हो, क्योंकि वह भगवान्‌का मुख हैं, शूद्रोंकी पूजा हो, क्योंकि वे भगवान्‌का पैर हैं'? वस्तुतः यह महामोह है। इसमें प्रतिपक्षीने स्वयं भी अंगोंकी विषमता सिद्ध कर दी कि मुखको अपूज्य तथा पांवको पूज्य बना दिया। जब ऐसी विषमता अंगोंकी वह भी मानता है, तब 'आगतोऽस्माकं पन्थाः।' वैषम्यवाद अंगोंमें तथा उनसे उत्पन्न हुओंमें स्वतः सिद्ध हो गया। पर मुखको निम्न तथा पादको उससे श्रेष्ठ संसारका कोई भी व्यक्ति नहीं मानता, इस पक्षमें प्रतिपक्षी असहाय—अकेला है।

भगवान्‌के चरणोंकी पूजा कौन करेगा? क्या भगवान् स्वयम्? या भगवान्‌का मुख वा हाथ वा ऊरु? यदि ब्राह्मण शूद्रकी पूजा करेंगे, वे तो भगवान्‌के मुख हुए, तो क्या भगवान अपने मुखसे पांवकी पूजा करता है? वस्तुतः चरणपूजासे

शूद्रपूजा वेदाभीष्ट बतलाना गलत बात है। वेद तो केवल उन-उन अंगोंकी परस्पर विषमता बतलाकर ब्राह्मण-शूद्रादिमें साम्यवादका खण्डन कर रहा है। इस विषमताको "यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना सम्प्रकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्व-ज्ञानमयो हि सः॥" (मनु० २।७) इस कथनके अनुसार वेदज्ञाता मनुने यह कह कर स्पष्ट कर दिया है कि-'ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः। तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयम्भुवा॥' (१।९२), 'ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः। यान्यधस्ताद् अमेध्यानि।' (५।१३२)। नाभिके ऊपरके अंगोंको अत्यन्त-मेध्य (पवित्र) बतलाया गया है, तब ब्राह्मणकी मेध्यतमता तथा शूद्रकी अमेध्यतमतामें तात्पर्य निकला। इससे "इनमें कोई नीच नहीं, कोई ऊंच नहीं, सब भगवान्‌के रूप हैं, अतः समान हैं, अतएव सबको समान अधिकार है। धर्मशास्त्रोंमें नीच-ऊँचकी भावनाका बोया गया बीज अज्ञानमूलक है" यह प्रतिपक्षकी प्रतिज्ञा वेदविरुद्ध सिद्ध हुई, अन्यथा परस्परसे असम—उच्च-निम्न अंगोंकी कल्पनाकी आवश्यकता ही नहीं थी।

वर्णोंकी उत्पत्तिमें विषम-अंगोंकी वेद-द्वारा कल्पना ही वैषम्यका कारण है। इससे धर्मशास्त्रोंमें प्रोक्त वर्णोंका वैषम्यवाद वेदमूलक सिद्ध हो जाता है। एक हाथकी पाँचों-अंगुलियां जब विषम हैं, तब इतरेतरसे विलक्षण—विषम अंगोंसे उत्पन्न वर्ण या जातियोंमें भी विषमता क्यों न हो? क्या पांवको मुखवाले अधिकार दिये जा सकेंगे? भोजन क्या पांवको खिलाया

जायगा कि 'मुखमें लार अशुद्ध है, अतः हे पैरो ! तुम्हीं शुद्ध हो, भोजनको खाओ। तुम उसे शुद्ध रखोगे ?' अब क्या यहाँ समता रही ? यदि नहीं रही, तो इस मन्त्रमें समानताका वेसुरा राग अलापना कैसे ? ज्ञान वा दृष्टि आदि मुखमें होंगे वा पांवमें ? पूजा ज्ञानकी होगी वा अज्ञानकी ? पांव सभी अपनेसे उच्च-अंगोंका सेवक ही होता है। दूसरेसे सेव्य भले ही हो, पर अपने-अंगोंसे सेव्य नहीं होता। अपने पांवकी कोई अंग आप पूजा नहीं करता। हाँ, उसे जूतेसे ढाँपता है ! यदि उसे हाथ लगाता-है, तो हाथको धोता है। यदि यही उसकी पूजा है, तो ठीक है।

फलतः वर्णोंका साम्यवाद विवक्षित होने पर उक्त वेदमन्त्र-में ब्राह्मण-शूद्रादि समान-स्थानोत्पन्न कहे जाते, पर नहीं कहे गये। गुरु आदिकी, जोकि चरणोंकी पूजा की जाती है, मुखकी नहीं, इससे पैरोंकी श्रेष्ठता वा मुखकी निकृष्टता कभी नहीं मानी जाती। जो गुरुके चरणोंको पूजता है, वह इस लक्ष्यसे कि गुरुके चरण उनके अंगोंमें सर्वतो-निम्न हैं, परन्तु मैं उनका सेवक होनेसे उनसे भी निम्न हूँ, उन पाँवोंसे सदा चिपटी रहनेवाली धूलिसे भी निम्न हूँ, अतः मैं उन्हें भी प्रणाम करता हूँ, उनके मुख तक तो मेरी गति ही नहीं—यही वह सोचता है। वह इससे मुखको चरणसे निकृष्ट कभी भी नहीं मानता, किन्तु सर्वोच्च ही मानता है। सभी भगवान्की प्रतिमाके मुखका ही तो दर्शन करते हैं। सबसे पूर्व सबका मुख ही वन्दित होता है।

वस्तुतः शूद्र यहां भगवान्के पाद नहीं कहे गये, किन्तु 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' वे पांवसे पैदा हुए कहे गये हैं।

४ पू.—"'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' का यह अर्थ नहीं कि 'शूद्र पांवसे पैदा हुए।' यहाँ "पद्भ्याम्"में पञ्चमी नहीं, किन्तु चतुर्थी है—'पद्भ्यां-पादार्थं, पादकार्यार्थं सेवां कर्तुमिति भावः. शूद्रो अजायत—अभवत्' पांवका कार्य—सेवा करनेकेलिए शूद्र हुआ। 'पुष्पेभ्यो याति' की भांति यहाँ चतुर्थी है।" (पुरुषसूक्त-का भाष्य)

४—उ. यहाँ सृष्टिका प्रकरण है, अतः 'अजायत' का अर्थ उत्पत्तिका होनेसे जायमान शूद्रके प्रकृति-हेतु, कारण पांवके अपादान होनेसे पञ्चमी स्वतःसिद्ध है। इसमें 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (१।४।३०) यह कारकका पाणिनीय-सूत्र प्रमाण है। यहां पर 'पुष्पेभ्यो याति' यह चतुर्थीका उदाहरण देना विषम है, क्योंकि उक्त-उदाहरणमें 'जन' धातुका प्रयोग नहीं। 'पुष्पेभ्यः कृमिर-जायत' यदि यह उदाहरण होता, और प्रतिपक्षी उसमें किसी प्रकार 'चतुर्थी' सिद्ध कर सकता; तब तो उसका पक्ष कथञ्चित् उपपन्न होता, पर अब तो सर्वथा अनुपपन्न है; और फिर चतुर्थीका अर्थ यदि किया जायगा कि "पद्भ्यां—पादार्थं शूद्रो अजायत", तो 'पादौ किमुच्येते' इस प्रश्न-मन्त्रका उक्त उत्तर-मन्त्रसे प्रति-पक्षके अनुसार भी सामञ्जस्य न रह जायगा। इससे यह भी सिद्ध होता है कि पञ्चमीका अर्थ इतना दृढ है कि उसे हटानेके लिए प्रतिपक्षी अनृतका व्यवहार करनेमें भी कुण्ठित नहीं होते।

'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' के आगे वाले 'चन्द्रमा मनसो जातः' इन दो मन्त्रोंमें भी 'जन्' धातुके योगमें पञ्चमी हमारे पक्षको सत्य सिद्ध कर रही है।

५ पू.—''चन्द्रमा मनसो जातः' यहां सब स्थानोंमें पञ्चमी-विभक्ति षष्ठीके अर्थमें है, क्योंकि औचित्य इसीमें है, तब अर्थ यह है कि 'चन्द्रमा मनसः कल्पनार्थं जातः, चन्द्रमा एव तस्य मनः', चक्षोः-चक्षुषः कल्पनार्थं सूर्यो अजायत, सूर्य एव तस्य चक्षुः' इत्यादि। उस उपास्य-परमेश्वरके मनकी कल्पना चन्द्र-में की गई थी, नेत्रकी कल्पना सूर्यमें की गई थी–इत्यादि।"

५ उ०—यह प्रतिपक्षीका कैसा निर्मूल प्रयत्न है, इस पंचमी अर्थसे बचावकेलिए 'पद्भ्यां'में तो उसने चतुर्थी मानी, पर उसीके तत्सदृश, साथके मन्त्रमें 'जनी' धातुके योगमें हुई पंचमी-को वह षष्ठी अर्थमें बतलाता है, तब 'पद्भ्यां'में भी पंचमी ही सिद्ध हुई—चतुर्थीकी कल्पना बनावटी सिद्ध हुई। इसी प्रकार यहाँ पंचमीको षष्ठी-अर्थमें बतलाना भी उसकी कृत्रिमता (बनावट) ही सिद्ध है। 'अस्य चन्द्रमा मनसो जातः'में अर्थ था कि 'उस परमात्माके मनसे चन्द्रमा उत्पन्न हुआ।' सृष्टि-प्रकरण तथा 'जनी' धातुका अपादान होनेसे यहाँ पंचमी ही प्रकरणा-नुगत है। यदि षष्ठीका अर्थ किया जायगा, तो उसकी यह योजना होगी–'अस्य-परमात्मनः, मनसः-चित्तस्य चन्द्रमा जातः' 'उस परमात्माके मनका चन्द्रमा पैदा हुआ,' वाह क्या अर्थ हुआ? इसमें क्या सङ्गति पड़ी? 'कल्पनाकेलिए' यह बीचमें

'प्रक्षिप्त' क्यों किया गया? क्या वेदमें प्रक्षेप कर देना औचित्य-गर्भित हो जायगा? बनावटमें झोल पड़ता ही है। फिर इस अर्थकी 'चन्द्रमा ही उसका मन है, मनकी कल्पना चन्द्रमामें की गई'—इन भावोंसे सङ्गति ही क्या हो सकती है? क्या भिन्न-अर्थ और भिन्न-भाव निकालनेकेलिए मन्त्रके शब्दोंकी तोड़-मरोड़ करना श्रुतिसे बलात्कार नहीं? और फिर 'पद्भ्यां जातः, मनसो जातः'की समान ही प्राकरणिक-शैलीमें चतुर्थी-पंचमी भिन्न-भिन्न विभक्ति वादीके मतमें हो जानेसे वेदमें प्रक्रमभङ्ग-दोष उपस्थित कर दिया गया। पर वेदमें दोष न होकर वादीके ही अर्थमें दोष सिद्ध है, क्योंकि सर्वत्र पंचमी होनेसे "अस्य मुखाद् ब्राह्मणो जातः,' 'पद्भ्यां शूद्रो जातः', 'मन-सश्चन्द्रमा जातः' इस अर्थमें कोई अनुपपन्नता, प्रकरणविच्छेद, अनर्गल-अध्याहार, विभक्तिभङ्ग, अर्थसे संस्कृत-भावमें भेद और संस्कृतभावसे हिन्दीभावमें भेद, 'जातः' की असम्बद्धता आदि वादीके अर्थमें पड़नेवाले दोष नहीं आते। और फिर सृष्टिप्रकरण होनेसे देवता और ब्राह्मणादि-मनुष्योंकी उत्पत्ति बतलानेवाला अन्य मन्त्र न होनेसे इस सृष्टिसूक्तमें न्यूनता रह जायगी। अतः मानव-सृष्टिका प्रतिपादन करनेवाला उक्त 'ब्राह्मणोऽस्य' ही मन्त्र है और इसमें सृष्टिप्रकरण होनेसे पञ्चमीका अर्थ ही ठीक है।

६ पू०—'ब्राह्मणोस्य' मन्त्रका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि ब्राह्मण ब्रह्मके मुखमें से पैदा हुए, क्षत्रिय भुजामेंसे, वैश्य जङ्घामें से और शूद्र पादमें-से। ब्रह्मके मुखका कहीं वर्णन नहीं है, वह

'अकाय' है। 'यहाँ ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति न माननेसे फिर इस सूक्तमें मानवसृष्टि बतलानेवाला मन्त्र नहीं रहेगा' यह आपत्ति भी ठीक नहीं। 'ये के चोभयादतः' यहाँ नीचे-ऊपर दाँतवाली मानव-समाजकी सृष्टि भी आगई है।" (पुरुषसूक्तभाष्य)

६ उ०—यही (पंचमीविभक्तिवाला) पुरुषसूक्तके मन्त्रका मुख्य अर्थ है, इसकेलिए चतुर्थ-पुष्पमें 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' (क) यह विषय देखना चाहिये। 'अकायं'का भाव 'लौकिक-शरीरधारी न होना' यह तो है, पर 'वह लोकोत्तर-शरीरधारी भी नहीं', यह 'अकाय'का अर्थ नहीं है, किन्तु वह लोकोत्तर-शरीरधारी तो है ही, अन्यथा उसमें शून्यतापत्ति हो जायगी। 'अकायम्'में नञ् निषेधवाचक नहीं, किन्तु ईषद्-(अस्फुट, सूक्ष्मतम, अव्यक्त) वाचक है, जिसका पर्यवसान अज्ञेयता, अतएव लोकोत्तरतामें है। 'अकायं'से भिन्न 'अव्रणम्, अस्नाविरम्' कहना उसका ज्ञापक है, अन्यथा 'काय'के निषेध हो जानेसे व्रण, स्नायु आदिका निषेध भी स्वतःसिद्ध हो जानेसे पृथक् निषेध व्यर्थ है। इस विषयमें स्पष्टता चतुर्थ-पुष्पमें देखें।

'ये के चोभयादतः' इस मन्त्रमें पशुओंका प्रकरण होनेसे उन्हींका अर्थ वहाँ इष्ट है, मनुष्य-समाजका वहाँ कोई प्रकरण नहीं। और फिर यहाँ मानवसृष्टि मानी जाय, तो देवसृष्टि न बतलानेकी न्यूनता उक्त सूक्तमें रह जायगी। यदि 'चन्द्रमा मनसो जातः' इत्यादि-मन्त्र देवसृष्टिमें माना जाय, तो इसमें भी पञ्चम्यर्थ हो जायगा, और तब तत्सन्निहित 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इस मन्त्रमें भी पंचमी-अर्थ सिद्ध होगया; और देवसृष्टिसे पूर्वका यही मन्त्र मानव-सृष्टिका प्रतिपादक भी सिद्ध होगया। फलतः मुखादिसे ब्राह्मणादि-सृष्टिका अर्थ इतना दृढ है कि प्रतिपक्ष इधर-उधर हाथ-पैर पटकने पर भी अन्य-अर्थ करनेमें सफल नहीं हो सकता; क्योंकि सत्य-अर्थ शब्दोंसे सीधा निकलता है, असत्य-अर्थमें बहुत तोड़-मरोड़ करनी पड़ती है, उससे कई असंगतियाँ उद्भूत हो जाती हैं।

७ पू०—"यदि उस (परमात्मा) का मुख होगा, तो वह भौतिक ही होगा।"

७ उ०—जब परमात्मा दिव्य है, तब उसका मुख भी तो दिव्य ही होगा, भौतिक क्यों हो?

८ पू०—"भौतिक-मुख सभी लाला-क्लिन्न और अशुद्ध होते हैं। कोई किसीका मुख-चुम्बन इसीलिए नहीं करता कि वह अशुद्ध-अंग है। भुजस्पृष्ट वा पादस्पृष्ट जो वस्तु ग्राह्य होती है, वही मुखस्पृष्ट होनेसे उच्छिष्ट होकर अग्राह्य हो जाती है। ऐसे निषिद्ध-अंगसे उत्पन्न होनेवाला [ब्राह्मण] सर्वश्रेष्ठ हो ही नहीं सकता।"

८ उ०—इस युक्तिसे प्रतिपक्षी ब्राह्मणको शूद्रादि-सभीकी अपेक्षा अशुद्ध सिद्ध करना चाहता है। वस्तुतः परमात्माका मुख भौतिक नहीं, किन्तु मायिक होनेसे दिव्य है, तब प्रतिपक्षि-प्रोक्त आक्षेप स्वयं निरस्त है। इस प्रकार तो उसका पैर भी यद्यपि दिव्य है, तथापि वह मुख आदि की अपेक्षा तो निम्न

स्पष्ट ही है। फिर भी वादितोषन्यायसे मुखको लार-आदिसे अशुद्ध मानकर भी उस पर विवेचना दी जाती है। अशुद्ध-अंगसे उत्पन्न होनेवाले क्या सभी अशुद्ध माने जाते हैं ? सभी स्त्री-पुरुष स्त्रीयोनिसे उत्पन्न होते हैं, जो मुखकी अपेक्षा अत्यन्त अशुद्ध-अंग है। सभी शुक्र-शोणितसे उत्पन्न होते हैं, जो कि मनु० (५।१३५) के अनुसार १२ मलोंमें हैं, फिर क्या प्रतिपक्षीके अनुसार सभी मनुष्य अपवित्र हैं ?

अब मुखका सुनिये—'गुरोरुच्छिष्टभोजनम्' गुरुके मुखसे उच्छिष्ट भी भोजनको शास्त्रानुसार शिष्य खाता है, पिताका उच्छिष्ट भोजन पुत्र, पतिके उच्छिष्टको पत्नी, द्विजके उच्छिष्ट-को शूद्र खाते हैं। राधास्वामीके अनुयायी उस सम्प्रदायके अध्यक्षकी थूक लेते हैं—ऐसा सुना गया है। पर योनिस्पृष्ट वा पाँवकी तलीसे स्पृष्ट भोजनको कोई भी नहीं खाता। पर उस योनिसे उत्पन्न वैश्यको भी प्रतिपक्षी 'विश्ववन्द्य' एवं 'महात्मा' मानते हैं, पूजते हैं। जब वे सर्वश्रेष्ठ हो सकते हैं, तब सर्वोत्तम ज्ञानभाग-मुखसे उत्पन्न सर्वश्रेष्ठ क्यों न हों ?

मुखसे उत्पन्न लारको प्रतिपक्षी अशुद्ध बतलाता है, पर अन्न उसीसे सिक्त होकर भीतर जाता है, पचता है। यदि वह लार अशुद्ध है, तो प्रतिपक्षी उसे निकलवाकर बाहर फेंक दें। मुखका उच्छिष्ट होकर भोजन अन्दर जाता है, उस प्रसादको सभी बाहु, ऊरु, पाँव आदि अंग बड़ी स्पृहासे लेते हैं, उसीसे सभी पुष्ट होते हैं। मुख यदि वस्तुओंको उच्छिष्ट कर अपने

भीतरसे, अंगोंमें न भेजे और उसे दूसरे अंग घृणावश न लें, तो वे सभी अंग म्लान हो जायँ। मुखसे विमुख होकर तो पाँव भी ठोकर खाय, उसमें कांटे चुभें, और उसे पीड़ा हो।

मुख-चुम्बन संन्यासी न करते हों, पर गृहस्थी तो इस विषय में परम-प्रसिद्ध हैं। बच्चेके मुख को सभी चूमते हैं। पादस्पृष्ट-वस्तु ग्राह्य नहीं होती। 'मनुस्मृति' (३।२२६।२३०, मनु. ४।२०७)में पादस्पृष्ट-भोजनका राक्षसों-द्वारा ग्रहण माना है। पांवकी तली वा उसकी धूलसे—जो प्रतिपक्षीके मतमें पूजनीय है—प्रतिपक्षी भी कभी रोटी नहीं चुपड़ते होंगे। हस्तस्पृष्ट भी भोजन तब तक ग्राह्य नहीं होता, जब तक हाथोंको जलसे शुद्ध न कर लिया गया हो। पांवके तो जलसे शुद्ध होने पर भी उससे किसी वस्तुको छुआ नहीं जाता; वा उससे छुई हुई खाद्यादि-वस्तु गृहीत नहीं की जाती।

यदि मुख प्रतिपक्षके कथनानुसार अशुद्ध अङ्ग है और उससे उत्पन्न होनेवाला सर्वश्रेष्ठ नहीं हो सकता, उससे उत्पन्न हुई लार इसीलिए ही अशुद्ध है तो परमात्माके मुखसे उत्पन्न होनेवाले वेदमन्त्रोंके ग्रन्थ सर्वश्रेष्ठ कैसे माने जाते हैं ? उनपर बड़ी श्रद्धासे भाष्य कैसे किये जाते हैं ? मुखोत्पन्न-वाणी अशुद्ध क्यों नहीं मानी जाती ? मुखके भाग मस्तिष्कसे प्रणीत ग्रन्थ वा ग्रन्थोंके भाष्य भी अशुद्ध होने चाहिएं।

वस्तुतः इसी दृष्टान्तसे यह सिद्ध हो रहा है कि लार-आदि-दोषोंसे युक्त होने पर भी जैसे मुख अपवित्र नहीं माना जाता,

किन्तु 'उत्तमाङ्ग' माना जाता है, इसमें सारा संसार सम्मत है, वैसे ब्राह्मण दोषादियुक्त होता हुआ भी उत्तम है, उसके मारने पर सारा संसार भी मर जायगा। उसकी सर्व-श्रेष्ठताका प्रमाण यह है कि उस मुखभागके काट देने पर पाद आदि सभी अङ्ग मुर्दा और व्यर्थ हो जाते हैं। चलनसाधन-पांव आदिके कटने पर कार्यमें तो कुछ रुकावट हो सकती है, पर जीवन नष्ट नहीं होता, यही उनका मुखसे घटिया होनेका प्रत्यक्ष प्रमाण है, मुख जीवनका साधन होनेसे सर्वश्रेष्ठ है। तभी मुख-स्वरूप तथा मुखसे उत्पन्न ब्राह्मणके अपराध करने पर भी उसका तिरस्कार तो भले ही हो, पर उसे मारा नहीं जाता, क्योंकि उसके मारनेसे सभी मरते हैं। इसी आशयसे मनुजीने कहा है—'न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्। राष्ट्रादेनं बहिष्कुर्यात् समग्रधन-मक्षतम्' (८।३८०)। इसमें कोई पक्षपात भी नहीं। मुख वा सिरके पागल होनेपर भी उसे मारने पर सब मरेंगे। मुखकी सर्व-श्रेष्ठताका कारण यह भी है कि जहां वह आंख, कान, नाक, जीभ, त्वचा आदि ज्ञानेन्द्रियोंका केन्द्र है, वहां कर्मेन्द्रियोंमें प्रमुख वाक् भी उसीमें है, जिससे संसारका सारा व्यवहार चलता है। पांव केवल कर्मेन्द्रिय है, वह चलता है, उसमें न कोई ज्ञान है, न अन्य कर्म, न स्वतन्त्रता, अतः वह उस मुखका निम्नतम-सेवक है, अतः तदधीन है।

'मनुस्मृति' में तो ब्राह्मणकी श्रेष्ठता मुखोत्पत्तिके कारण ही मानी गई है, और मुखको अतिपवित्र माना गया है। जैसे

कि 'उत्तमाङ्गोद्भवाद् ज्यैष्ठ्यात्...सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः' (१।९३), 'तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा' (१।९२) 'ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः' (५।१३२)। तब इसमें वादिप्रतिवादिमान्य-श्रीमनुजीकी बात न मानकर ऐकदेशिक-दृष्टिवाले प्रतिपक्षीकी बात कैसे मानी जा सकती है?

फलतः मुख-अंग अशुद्ध नहीं, उसकी अन्तःस्थित लार आदि भी अशुद्ध नहीं। 'महाभाष्य' (प्रत्याहाराह्निक) में एक वार्तिक आया है—'नाव्यपवृक्तस्य अवयवस्य तद्विधिर्यथा द्रव्येषु' (अभिन्न-अवयव भिन्न-अवयव जैसा नहीं माना जाता)। इसपर भाष्यकारने दृष्टान्त दिया है—'मांसं न विक्रेतव्यम्, तैलं न विक्रेतव्यम्, परम् अव्यपवृक्तं गावः सर्षपाश्च विक्रीयन्ते' यह वचन उक्त-बात पर प्रकाश करता है। बल्कि लार आदि होनेपर भी जैसे मुख सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, वैसे ही ब्राह्मण सदोष होने पर भी अन्योंकी अपेक्षा श्रेष्ठ होता है। पांव गुणयुक्त होकर भी निम्न माना जाता है। मुख से जहां लार पैदा होती है, वहां उपदेश भी पैदा होता है, शब्द भी। मुखकी लारको भले ही अवर माना जाय, तथापि मुखसे निकला हुआ वचन मध्यम-कोटि है, उससे उत्पन्न उपदेश उत्तम-कोटि है। इसी प्रकार परमात्माके मुखसे उत्पन्न (मुखादग्निरजायत) अग्निदेव सर्वश्रेष्ठ, मनुष्य—ब्राह्मण मध्यम, पर भूलोकमें मनुष्योंमें सर्वश्रेष्ठ, उस मुखसे उत्पन्न अज (देखिए कृष्णयजुर्वेद तै० सं०) अवर है, तब उससे उत्पन्न ब्राह्मणकी, लारके समान प्रतिपक्षिप्रोक्त अधमता

सिद्ध न हुई। मुखमें लार हो सकती है, पर मुख लार नहीं। ब्राह्मणकी मुखसे उत्पत्ति बतलाई गई है, लारसे नहीं।

९ पू०—'उरुभाग भी आगे-पीछे दोनों भागोंमें अशुद्ध ही है, आगे मूत्रक्लिन्न और पीछे मलक्लिन्न रहता है, उससे पैदा हुआ (वैश्य) भी कभी शुद्ध नहीं माना जाना चाहिये। इस तरहसे मुख और ऊरुके मलिन-भाग होनेसे मुखज और ऊरुज मलिन-ही होंगे, निर्मल नहीं।'

९ उ०—प्रतिपक्षी पहले ब्राह्मणको मुखज़-ता के कारण निकृष्ट सिद्ध करना चाहता था, हमने उसका समाधान तो कर दिया, अब उससे प्रोक्त वैश्य की निकृष्टताका समाधान किया जाता है। मूत्रेन्द्रिय तथा गुदेन्द्रिय ऊरुसे भिन्न संकीर्ण अंग हैं, अतः वे तो अन्त्यज-स्थानीय हैं। वे स्थान भी अन्त्यजकी भांति अस्पृश्य ही हैं, पर ऊरु तो असङ्कर अंग, अतएव शुद्ध अंग हैं। हां, मुख तथा बाहुकी अपेक्षा अवर अवश्य है, परन्तु पादज-शूद्रकी अपेक्षा अवर नहीं। जब ऊरु असङ्कीर्ण अंग है, तो वह ऊरु मलमूत्र-क्लिन्न नहीं हो सकता। मल गिरकर कभी भी ऊरु पर नहीं पड़ता, मूत्र भी। हां, पांव पर मूत्रादिके छींटे गिरनेकी आशङ्का रहती है, अतः पाद तो अशुद्ध हो सकता है, ऊरु नहीं।

वस्तुतः पाद भी निम्न तो है और अशुद्ध भी, पर अस्पृश्य नहीं। इसी प्रकार शूद्र भी निम्न तथा अशुद्ध तो है, पर अस्पृश्य नहीं, किन्तु स्पृश्य है। हाँ, अपानादि-सङ्करस्थानीय अन्त्यज आदि तो जलसे स्नात होने पर भी अवश्य अस्पृश्य हैं, पर

ऊरुके शुद्ध (असङ्कीर्ण) अंग होनेसे प्रतिपक्ष-प्रोक्त उसकी मलिनता हट गयी, अतः वैश्य भी स्वतः निकृष्ट नहीं।

१० पू०—यदि बाहुज (क्षत्रिय) बाहुमूलमें से पैदा हुए हों, तो वे भी प्रस्वेद-क्लिन्न स्थानसे पैदा होनेके कारण निकृष्ट ही हैं।"

१० उ०—बाहु कोई अस्पृश्य (सङ्कर) अंग नहीं, पसीनेका उद्गम-स्थान भी नहीं। हाँ, बगल तो वैसी हो सकती है, वह अवश्य सङ्कीर्ण-अंग है, अतः कुछ अस्पृश्य है, पर बाहु असङ्कीर्ण अंग होनेसे स्पृश्य है, इस प्रकार बाहुज (क्षत्रिय) भी। क्षत्रियका भुजा वा छातीसे जन्म बतलाया गया है, बगलसे नहीं।

११ पू०—"रह गये बेचारे पादज, मनुष्य-अंगमें पाद ही एक ऐसी जगह है, जिसे लोग अपना सेव्य और आश्रयणीय मानते हैं। 'त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये' कहकर चरणोंमें ही प्रणाम किया जाता है, चरणधूलिको ही ब्राह्मणादि सभी मस्तक पर धारण करते हैं, चरणोदक ही दिया जाता है, मुखोदक और ऊरूदक कभी नहीं। चरणोंको धो-धोकर पीते हुए लाखों आदमी देखे गये हैं, परन्तु घिस-घिसकर दाँतोंसे मैल इकट्ठा करके उसीको पानीसे कुल्ला करके उसे मुखामृत बनाकर पीता एक भी आदमी आजतक न देखा गया है और न सुना गया है। उस पवित्र पादसे पैदा हुआ (शूद्र) अपवित्र माना जाय—यह व्यासकी बुद्धिके बाहरकी बात है।"

११ उ०—प्रतिपक्षीने इतना प्रयत्न ब्राह्मणको न्यून करने

और शूद्रको उच्च सिद्ध करनेकेलिए किया है। जिस मुखको सारा संसार श्रेष्ठ और वन्दनीय मानता है, जिस मुखसे सारे शरीरकी शोभा वा जीवन है, उस मुखको वह अपवित्र सिद्ध करनेकी असफल चेष्टा करता है, और जिस पाँवको सारा संसार निम्न मानता है, प्रकृतिने भी जिसको निम्न पद दिया है, उसीको वह पवित्र सिद्ध करना चाहता है। गुरु वा पिता, वा परमात्माके चरणोंकी जो कि सेवा की जाती है, उसमें हम कारण पहले बतला चुके हैं कि आराधकको आराध्य सर्वोपरि जानता है, उसके निम्न-भागसे भी अपने-आपको निम्न मानकर उसकी धूलि भी लेता है, उसका चरणोदक भी लेता है, पर इससे वह उसके चरणको उसके मुखसे श्रेष्ठ वा पवित्र नहीं समझ लेता, किन्तु उसके निम्न-अंगसे भी अपनेको निम्न मानकर उसकी सेवा करता है। वह उसके मुखको तो इतना उच्च मानता है कि अपनी पहुँच वहाँ तक नहीं पाता; और उसका ग्रहण करना अपना अविनय वा धृष्टता मानता है, पर पुष्पमालाको उसी मुखके ग्रीवाभागमें उसके सम्मानार्थ डालता है।

इसके अतिरिक्त जो विष्णुके पादसे उत्पन्न हो, वह सभी अशुद्ध हो, यह भी आवश्यक नहीं। 'यह पवित्र है, यह अपवित्र है'—इसमें शास्त्रका ही प्रामाण्य होता है, कोरे तर्कका नहीं। सभी की हिंसा करनेवाले एवं मांसभक्षी भी शेरका तो चमड़ा पवित्र मानकर 'सिंहासन' बन जाता है, वा उसे शरीर पर ओढ़ा जाता है, पर अहिंसक और क्षमाशील एवं तृणभक्षी भी गधेका

चमड़ा अपवित्र एवम् अव्यवहार्य ही माना जाता है। केवल शूद्रको शास्त्रने अशुद्ध माना है, विष्णुपादोत्पन्न गंगाको तथा पृथिवीको कहीं भी अशुद्ध नहीं कहा गया, पर पुरीषवाली पृथिवी भी, कुत्तेके मूत्र वा मद्यके बिन्दुसे मिश्रित गंगाजल भी, पवित्र नहीं रहता।

मुख पवित्र है, पर उससे पृथक् हुआ थूक, लार, आँखका मल, नाकका मल, कानका मल पवित्र नहीं माने जाते, पर उस मुखसे उत्पन्न ब्राह्मण पवित्र माना जाता है, मुखके श्वासरूप वेदोंको शुद्ध माना जाता है। शुक्र-शोणित मल हैं, पर तदुत्पन्न पुत्र सबको प्रिय होता है, उसका मुंह चूमा जाता है। गायका मुख अपवित्र होता है, पर गोमय, गोमूत्र अपवित्र नहीं माने जाते, गोदुग्ध अपवित्र नहीं।

कौवेकी विष्ठा अपवित्र है, पर तदुत्पन्न पीपल वा बड़का वृक्ष पवित्र माना जाता है। कृमिकी लार अपवित्र है, पर तदुत्पन्न रेशम पवित्र माना जाता है। पङ्क (कीचड़) अपवित्र है, पर उससे उत्पन्न पङ्कज (कमल) पवित्र है। इस प्रकार किसी पदार्थकी शुद्धाऽशुद्धतामें आगमका ही प्रामाण्य है, थोथी युक्तियोंका नहीं। इसीलिए श्रीव्यासजीने 'महाभारत'में पादोत्पन्न शूद्रको अशुद्ध मानकर उसके अन्नके खानेका निषेध लिखा है, और परमात्माके निःश्वासभूत वेदमें भी शूद्रका अनधिकार बतलाया है—'शूद्राणामथ यो भुङ्क्ते स भुङ्क्ते पृथिवीमलम्' (अनुशासनपर्व १३५।५-६), 'शूद्रान्नवर्जनं धर्मः' (अनु० १४१।३८),

'मन्त्रः शूद्रे न विद्यते' (शान्तिपर्व ६०।३७), 'न च तां (रुक्मिणीं) प्राप्तवान् मूढः (शिशुपालः) शूद्रो वेदश्रुतीमिव' (सभापर्व ४५।१६)।

पर यह ध्यान रखना चाहिए कि पाँव यद्यपि ऊपरके अंगोंकी अपेक्षा निम्न है, अशुद्ध भी है, अतएव तदुत्पन्न शूद्र भी, तथापि पाँव तथा पाँवसे उत्पन्न शूद्रवर्ण द्विजोंकी अपेक्षा निम्न वा अशुद्ध होने पर भी अस्पृश्य तो नहीं है, क्योंकि वह असङ्कीर्ण-अंग है, पर सङ्कीर्ण-अंग, जैसे बगल, गुदा, लिंग आदि अस्पृश्य हैं, वैसे ही चाण्डाल आदि अन्त्यज भी वर्ण-साङ्कर्यवश अस्पृश्य होते हैं। इसी अस्पृश्यताके कारण वर्ण-व्यवस्थाके उक्त-मन्त्रमें स्पृश्योंमें अन्त्यजोंकी गणना नहीं की गई, क्योंकि वर्णको तो परमात्मा उत्पन्न करता है, प्रतिलोम-वर्णसङ्कर (अन्त्यज़) को चातुर्वर्ण्य ही एक-दूसरेकी सङ्करतासे पैदा करते हैं। सङ्कीर्ण-अंग शुद्ध किये जाते हुए भी अस्पृश्य ही रहते हैं।

चार वर्ण असङ्कीर्ण-अंग होनेसे सङ्कीर्ण-अन्त्यजोंकी अपेक्षा बहुत उत्तम हैं। अपान आदि अंग हमारे मलको बाहर डालकर आनेसे हमारे हिताधायक होते हुए भी, जलसे संशोधित होकर भी स्पर्श करने पर हमें अशुद्ध ही करनेवाले होते हैं, वैसे अन्त्यज भी। इस कारण अन्त्यजसे स्पृष्ट होकर भी हमें अपनी शुद्धि करनी ही पड़ती है।

परमात्माने वेद अग्नि आदि चार को दिये। इन्हें हम देवता, और आर्यसमाजी ऋषि-मनुष्य मानते हैं; इनमें एक भी स्त्री, शूद्र वा अन्त्यज नहीं। मन्त्रद्रष्टाओंमें भी कोई शूद्र-

अन्त्यज ऋषि नहीं, कक्षीवान् शूद्र नहीं था, जैसा कि प्रतिपक्षी कहते हैं; इस विषयमें तृतीय-पुष्प देखना चाहिए। तब वेदस्रष्टा परमात्मा शूद्रादिको कभी ब्राह्मणसदृश मानदाता नहीं हो सकता। मुखोदक अप्रयोज्य होनेसे तथा चरणोदक प्रयोज्य होनेसे मुखकी अपवित्रता तथा पादकी उत्तमता नहीं हो जाती। मुख तो शास्त्रीय-दृष्टिमें तथा लौकिक-व्यवहारमें भी उत्तम है, अतः इसे 'उत्तमांग' कहा जाता है। पादको शुद्ध माननेवाले जल मुखसे पीना बन्द करके पैरोंसे पीना शुरू करदें, वा जलको मुखसे उच्छिष्ट करके भीतर न डालें, किन्तु सदा पाद-धूलिधूसरित ही जल पीयें, क्योंकि वे मुखोदकको अशुद्ध और पादोदकको शुद्ध मानते हैं। अशुद्ध मुखको अशुद्ध जूता पहनायें, शुद्ध पाँवको शुद्ध पगड़ी। यदि वे कभी भी पादोदक नहीं पीते, किन्तु सदा मुखोदक ही पीते हैं, तो उनका अपना कथन उनके अपने-आपसे ही निरस्त होगया।

वस्तुतः इन तुच्छ-युक्तियोंमें कोई दम नहीं। मुखसे शब्द उत्पन्न होता है, उपदेश भी, गाली भी, लार भी। इसी प्रकार मुखसे अग्नि भी, ब्राह्मण भी तथा अज (बकरा) भी पैदा होता है, सो बकरा लारस्थानीय है, अग्नि, वेद-शब्दस्थानीय है और ब्राह्मण मुखोत्पन्न-उपदेशस्थानीय है, इसलिए उपदेशादि-कार्य भी ब्राह्मणके जिम्मे दिया जाता है. पाँवकेलिए नहीं। फलतः प्रतिपक्षीका यह तर्क कुतर्कमात्र है, उसके पक्षका साफल्यापादक नहीं।

१२ पू०—वेदोंमें या अन्यत्र यह लिखा नहीं मिला कि जो प्रथम ब्राह्मण-शूद्रादि मुख-पादादिसे उत्पन्न हुए, उनके नाम क्या थे, और उनकी वंश-परम्परा कैसे चली ? यह सब मिथुन पैदा हुए थे या अकेले ही ? मिथुन थे, तो उनका विवाह किसने कराया ? विवाह विना की सन्तान अप्रामाणिक-सन्तान है—इत्यादि अनेक विचार वर्णोंकी निरर्थक-कल्पनाको निस्सार बना देते हैं।"

१२ उ.—जब वर्णोंकी मुख-पादादिसे उत्पत्ति मान ली गई, तब आगे कोई कठिनाई नहीं रही। वेद कोई इतिहासका ग्रन्थ नहीं, जो यह सब लेखा-जोखा रखे। इतिहासमें भी तो यह सम्पूर्ण नहीं हो सकता कि सभीके नाम भी लिखे जायं। हां, पुराण-इतिहास इस विषयमें संकेत देते हैं—उनके देखनेसे यह सब शङ्काएँ मिट सकती हैं। 'वायुपुराण'में लिखा है-'मिथुनानां सहस्रं तु सोऽसृजद् वै मुखात् तदा। सहस्रमन्यद् वक्षस्तो मिथुनानां ससर्ज ह। सृष्ट्वा सहस्रमन्यत्तु द्वन्द्वानामूरुतः पुनः। पद्भ्यां सहस्रमन्यत्तु मिथुनानां ससर्ज ह' (८।३७-४०)। इस प्रकार 'विष्णुपुराण' (प्रथमांश ६।२१)में भी कहा है।

यही बात 'वैखानसधर्मप्रश्न'में और भी स्पष्ट की गई है-'ब्रह्मणो मुखाद् उद्भूता ब्राह्मणा ब्राह्मण्यश्च बभूवुः। तेषां गोत्रोत्पन्नाद् ब्राह्मण्यामसगोत्रायां विधिना समन्त्रकं गृहीतायां जातो ब्राह्मणः शुद्धो भवेत्' (३।११।३), तस्माद् अधो बाहुभ्या-मुत्पन्नाद् क्षत्रियात् क्षत्रियायां विधिवज्जातः क्षत्रियः शुद्धः' (५),

'अधस्ताद् ऊरुभ्यामुत्पन्नाद् वैश्याद् वैश्यायां तथा वैश्यः शुद्धः' (८), 'अथ पद्भ्यामुत्पन्नात् शूद्रात् शूद्रायां न्यायेन शूद्रः शुद्धः' (३।१२।१), 'तेषामेव सङ्करेण उत्पन्नाः सर्वे अनुलोमाद्याः सङ्कराः' (३।१२।३), 'शूद्राद् ब्राह्मण्यां चण्डालः, सीसकालायसाभरणो वर्ध्रावद्धकण्ठः, कक्षे झल्लरीयुक्तः, यतस्ततश्चरन्, सर्वकर्म-बहिष्कृतः, पूर्वाण्हे ग्रामादौ वीथ्यामन्यत्रापि मलानि अपकृष्य बहिरपोहयति, ग्रामाद् बहिर्दूरे स्वजातीयैर्निवसेत्। मध्यान्हात् परं ग्रामे न विशत्ययम्, विशेच्चेद् राज्ञा वध्यः' (३।१४।७-८-६) इत्यादि।

उक्त-मिथुन सृष्टिके आदिमें उत्पन्न हुए, अतः अमैथुनयोनि होनेसे—यदि उनका वैध-विवाह न भी कराया गया हो, तब भी इनके स्वभावतः परमात्मा-द्वारा मिथुन (पति-पत्नीका जोड़ा) किये जानेसे कोई दोष नहीं। फिर इनकी सन्तान मैथुन-योनि होनेसे उनकी संस्कारादि-व्यवस्था वेद-सूत्रादिके अनुसार हुई। शूद्रोंका वेदादिमें अधिकार न होनेसे उनकी विवाहादि-व्यवस्था अनादिसिद्ध-पुराणोंके मन्त्रादिके अनुसार हुई। इससे वर्णोंकी कल्पना निस्सार नहीं हो सकती।

१३ पू.—'वर्णाभिमानने आज हिन्दुजाति को छिन्न-भिन्न कर रखा है। हमारे वर्णाभिमान और अज्ञान की क्रूर वेदी पर ६ करोड़ हिन्दुओंका बलिदान हुआ और वह मुसलमान बन हिन्दुजातिकी दुर्दशा कर रहे हैं।'

१३ उ.—यह आक्षेप गलत है। इसी वर्णाश्रम-व्यवस्थासे यह

भारतवर्ष सुरक्षित रहा है और रहेगा भी। वर्णाश्रमसे हीन किये जाने पर यह इतना भी न रहेगा। वर्णाश्रमहीन-जातियां लुप्त हो गयीं। बहुतोंका पता ही नहीं लगता। कईयोंका इतिहास में नाम-शेष ही मिलता है, पर सृष्टिके आरम्भसे आ रही हुई हिन्दुजातिकी अक्षीणता इसी वर्णाश्रमकी विशेषता रही है। यदि वर्णाश्रमहीनता ही अविरोधका कारण हो; तो यूरोपियन जो लाखों-करोड़ोंका बलिदान दे-ले चुके, तथा रूसी-जापानी आदि तथा शिया-सुन्नी आदि मुसलमान इनके परस्पर विरोध न होते, अतः यह सब तुच्छ-युक्तियां हैं। मुसलमान आदि जातियां गरीब होनेसे, लुटेरी तथा असदाचारी होनेसे दूसरों की बहू-बेटियोंके सतीत्वको हरण करनेमें तत्पर रहती हैं। अपनी संख्याकी वृद्धिके लोभी भी होनेसे यह लोग किसी को जबर्दस्ती किसी को लोभ आदिमें फँसाते हैं। क्या ये लोग एक-दूसरेको नहीं काटते ? देखिये इनका इतिहास।

जबतक हिन्दु वर्णाश्रमाभिमानी था, किसी मुसलमान आदि की शक्ति नहीं रही कि भारतवर्षको देख भी सके, पर जबसे वर्णाश्रमधर्मके पालनमें यहां शिथिलता आई, बौद्धोंके अनर्गल अहिंसावादकी ओर यहाँ प्रवृत्ति हुई, और अपने ही शास्त्रों वा धर्मके खण्डनमें शूरवीरता जारी करके अपने ही लोगोंको नपुंसक बनाया जाने लगा, अपने ही देशमें उन विदेशी-जातियों का सम्मान होने लगा, अपने ही लोगोंकी सुविधाएँ छीनकर वा उन्हें न देकर उन्हीं वैदेशिक जातियोंकी मनमानी बातें

मानी जाने लगीं, अपने धर्मका उत्साह छुड़वाकर धर्मनिरपेक्षता-में अपने लोगोंको प्रवृत्त करनेकी चेष्टाएँ की जाने लगीं, तभीसे उन लोगोंके दुःसाहस भी बढ़ गये हैं और उनकी इस देशमें स्थिरता भी कर दी गई है। वर्तमान-देशभंग भी राजनीतिके कारण हुआ है—इसमें प्राचीन वर्णाश्रम-व्यवस्था कारण नहीं। अब इसी वर्णाश्रम-व्यवस्थाको भंग करनेकेलिए आजका शासन भी प्रोत्साहन दे रहा है। इसके परिणामस्वरूप ही हमें यह डर लग रहा है कि कहीं सारा भारत ही पाकिस्तान न बना दिया जाय। यहीं की वर्णहीन-जातियोंको भी स्वयं ही प्रोत्साहित करके वर्णाभिमानिनी-हिन्दुजातिके साथ लड़वानेकी भूमिका बांधकर इसी खण्ड-देशके पुनः खण्ड-खण्ड किये जानेकी तैयारियां करके इस देशको अपनी ही फूटका अखाड़ा बनाया जा रहा है, देखें—ऊँट किस करवट बैठता है ? वस्तुतः ऐसी थोथी-युक्तियां वर्णव्यवस्थाको काटनेमें समर्थ नहीं। यह वर्णविद्वेष ही ऐसी युक्तियों को बलात् मस्तिष्कसे निकलवाता है। इन युक्तियोंमें कोई दम नहीं—यह शास्त्रज्ञ-विद्वान् जान सकते हैं। ऐसी युक्तियोंसे भारतके 'नादान-दोस्त' भारतीयोंकी ही हानि करने जा रहे हैं—यह इन युक्तिके आविष्कारकों ही नहीं भूलना चाहिये।

(१६) ब्राह्मणोस्य मुखमासीत् (ङ)
(क्या वर्णव्यवस्था गुण-कर्मणा है ?)
[३]

१ पूर्वपक्ष—'ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्' इस मन्त्रमें पञ्चमी विभक्तिका अर्थ नहीं, किन्तु प्रथमाका है। यहां मनुष्य-समाज-की एक व्यक्तिके शरीरके साथ तुलना करते हुए समाजके आदर्श-संघटनका निर्देश किया गया है कि-ब्राह्मण मुखके समान होता है, उसमें ५ ज्ञानेन्द्रियां हैं, और कर्मेन्द्रियोंमें प्रमुख एक वाणी है। सारे अंगोंमें सबसे अधिक स्वार्थरहित और तपस्वी, सर्दीमें भी नंगा रहनेवाला, अपने अन्दर स्वादु-पदार्थ डालनेपर भी अपनेलिए कुछ न रखकर सारे शरीरमें बांट देनेवाला-अंग मुख है, इस प्रकार जो सम्पूर्ण ज्ञानका संग्रह करके वाणी द्वारा उसका प्रचार करते हैं, तपस्वी और निःस्वार्थ हैं-वे ब्राह्मण हैं। जिनके अन्दर यह गुण नहीं पाये जाते, वे ब्राह्मण कहलानेके अधिकारी नहीं। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्मणा है, जन्मना नहीं।' (सिद्धान्त-वर्णव्यवस्थाङ्क)

१ उत्तरपक्ष—वेदादि सभी शास्त्रोंमें 'जन्मना वर्णः', 'गुणकर्मणा सम्मानः' यह सिद्धान्त देखा गया है, पर आजके युगके कई व्यक्ति वर्ण-व्यवस्थाको केवल 'गुण-कर्मणा' बतलाते हैं, वस्तुतः यह ठीक नहीं। ऐसा होनेसे बड़ी विशृङ्खलताएँ उत्पन्न हो सकती हैं। गुण तथा कर्मोंके चल एवं परिवर्तनशील होनेसे फिर वर्ण भी चल और परिवर्तनशील बने रहेंगे। इस प्रकार

वर्ण-व्यवस्था न होकर वर्ण-अव्यवस्था हो जायगी।

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' में यदि यह अर्थ किया जाय कि 'ज्ञानका संग्रह करके वाणी-द्वारा उसका प्रचार करनेवाले, तपस्वी और स्वार्थ-रहित ही ब्राह्मण हो सकते हैं', तो उपनिषद्-के अजातशत्रु आदि क्षत्रिय, ब्राह्मणोंको भी वाणीसे ब्रह्मविद्या देनेवाले. ब्राह्मण मान लिये जाने चाहियें! पर वे क्षत्रिय ही कहे गये हैं, ब्राह्मण नहीं। अतः यह अर्थ जन्मना-वर्णमें तो ठीक है, गुण-कर्मणामें नहीं, क्योंकि उसमें अतिव्याप्ति हो जाती है, तभी तो वादीसे मान्य 'वज्रसूचिकोपनिषद्' में भी कहा गया है—'ज्ञानं ब्राह्मण इति चेत्, तन्न—क्षत्रियादयोऽपि परमार्थदर्शिनोऽभिज्ञा बहवः सन्ति, तस्मान्न ज्ञानं ब्राह्मणः। तर्हि कर्म ब्राह्मण इति चेत्, तन्न—सर्वेषां कर्मणां ··साधर्म्यदर्शनात् कर्माभिप्रेरिताः सन्तो जनाः क्रियाः कुर्वन्ति, तस्मान्न कर्म ब्राह्मणः—इति।' 'ब्राह्मणोस्य मुख-मासीत्' का वास्तविक अर्थ तो मुखसे उत्पत्तिका पञ्चम्यन्त ही है, प्रथमान्त नहीं है, देखिये गत निबन्ध।

वादीके प्रथमाविभक्तिके अर्थोंमें भी सनातनधर्मके पक्षमें हानि नहीं पड़ती। मान भी लिया जाय कि 'इस 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' मन्त्रमें एक व्यक्तिके शरीरके अङ्गोंके साथ ब्राह्मणादि वर्णोंकी तुलना है', पर इसमें जन्मना वर्णव्यवस्था-सिद्धान्तमें हानि नहीं पड़ती। इस सिद्धान्तमें उस जात-ब्राह्मणको अपने कर्मोंका निषेध तो है नहीं, अतः वह भी अपने नियत-कर्मोंको करेगा। मुख, बाहु, ऊरु, पाद अङ्ग जन्मसे ही उत्पन्न होते हैं,

गुण-कर्मसे नहीं। जन्ममूलक ही उनका यह-यह नाम हुआ करता है, गुण-कर्मसे यह नामकरण नहीं। जन्मसे शुरू करके भस्मता तक उनका यही नाम हुआ करता है, चाहे मुख मुखवाला कार्य करे वा न करे। जैसे मुख बाल्यमें जन्मके समय निरक्षर शब्द करता है, फिर भी उसे मुख ही कहा जाता है, तब आँखोंमें अक्षर आदि पहचाननेकी शक्ति नहीं होती, जो उसका कर्म है; फिर भी उसका नाम 'नेत्र' हुआ करता है। इस प्रकार वृद्धावस्थामें भी। यौवनमें भी रोगविशेष होने पर मुखादि-अङ्ग मुखादि वाला कार्य न करते हुए भी मुखादि ही कहे जाते हैं, पादादि नहीं। मुखमें मूर्खता होने पर भी उसे पाद नहीं कहा जाता, वा मुखको वहांसे काटकर पादकी जगह और पादको वहांसे काटकर मुखके स्थानमें नहीं रखा जाता। वैसा करने पर अव्यवस्था उत्पन्न होगी।

२ पूर्वपक्ष—'बाहू राजन्यः कृतः। यहां क्षत्रियोंकी बाहुसे तुलना की गई है। भुजाओंका काम सारे शरीरकी बाह्य और आन्तरिक आक्रमणोंसे रक्षा करना है, मारनेकेलिए उपस्थित-शत्रुको यही रोकते हैं। पैरमें वा कहीं अन्यत्र कांटा लगजावे; तो यही निकालती हैं। सबसे अधिक फुर्तीलापन इनमें है, इसी तरह राष्ट्रकी आन्तरिक-बाह्य शत्रुओंके आक्रमणसे रक्षक क्रिया-शील क्षत्रिय हैं। वेदमें (ऋ.१०।६६।८) क्षत्रियोंके गुणोंका वर्णन करते हुए कहा है—'क्षत्रिय उत्तम व्रतधारी, परोपकारमय जीवन वाले, यज्ञोंसे शोभा वाले, अग्निहोत्र करने वाले, सत्यका सेवन करने वाले, द्रोहरहित होकर पापके नाश करने वाले होते हैं'।

२ उ०—बाल्यावस्थामें बाहुमें रक्षणकी शक्ति नहीं होती, वार्धक्यमें भी। यौवनमें भी बाहुमें दुर्बलतावश रक्षणशक्ति न होने पर भी उसका नाम 'बाहु' ही रहता है। इसी प्रकार ऊरु, कमर तथा पांव भी बाल्य तथा वार्धक्यमें अपनी शक्तिको धारण नहीं करते, दुर्बलतावश यौवनमें भी। फिर भी इन्हें यथापूर्व ऊरु और पाद ही कहा जाता है, इस प्रकार निरक्षर भी ब्राह्मण, बालक और वृद्धके अथवा दुर्बलशक्तिवाले मुखकी तरह ब्राह्मण ही रहता है। जैसे नेत्र आदिसे युक्त मुखके शिथिल होनेपर भी उनके स्थानमें सबल भी बाहु, ऊरु वा पादको नहीं रखा जाता, वैसे ही ब्राह्मण निरक्षरतामें भी ब्राह्मण ही रहता है। उसके स्थानको साक्षर-शूद्र भी नहीं ले सकता। उस ब्राह्मणका पुत्र वा बन्धु ही वहाँ रखा जा सकता है, इसी तरह क्षत्रिय निर्बल होने पर भी क्षत्रिय ही माना जाता है।

'धृतव्रताः क्षत्रिया यज्ञनिष्कृतः' (ऋ० १०।६६।८) का यदि 'क्षत्रिय उत्तम व्रतधारी, यज्ञमय, यज्ञोंके कारण शोभावाले, अग्निहोत्र करनेवाले, सत्यसेवन करनेवाले, द्रोहरहित, पापको नाश करनेकेलिए कार्य करनेवाले होते हैं', यह अर्थ किया जाय तो 'गुण-कर्मणा वर्णव्यवस्था'-सिद्धान्तमें यहां ब्राह्मणमें अति-व्याप्ति हो जायगी। यह लक्षण ब्राह्मणका भी हो जायगा। फिर ब्राह्मण-क्षत्रियमें भेद न रहेगा। जन्मना वर्ण-व्यवस्था-पक्षमें तो कोई हानि नहीं। ऐसे गुण-कर्मवाले भी युधिष्ठिर जन्मवश क्षत्रिय ही कहे गये, ब्राह्मण कहीं भी नहीं।

३ पू०—'ऊरू तदस्य यद् वैश्यः' शरीरमें मध्यभाग-पेटसे जंघा तकके भागसे वैश्यकी तुलना है। यह भाग अन्य-अङ्गों की अपेक्षा अधिक भोगप्रिय है, अन्न आदिका संचय करता है। भोजनका परिपाक करके अन्य-अङ्गोंमें भेजता है। एक स्थानसे दूसरे स्थान तक जंघाओंके विना जाना असम्भव है। इस प्रकार जो अत्युच्च-ज्ञानसे युक्त नहीं होते, किन्तु धन-संग्रह करके शेष वर्णोंमें विभक्त कर देते हैं, जो व्यापारकेलिए इधर-उधर जाते हैं, वे वैश्य होते हैं।

(ख) 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' पैरोंसे शूद्रोंकी उपमा है। पैर जैसे सब अङ्गोंकी सेवा करते हैं, इसी प्रकार जो प्रेमसे समाज की सेवा करते हैं, 'तपसे शूद्रम्' (यजुर्वेद) जो तपस्वी हैं, क्योंकि तपके विना कोई वास्तविक सेवा नहीं कर सकता, वे शूद्र हैं।'

३ उ०—'जो व्यापारादिकेलिए इधर-उधर जाते हैं, वे वैश्य कहलाते हैं' यह जो 'ऊरू तदस्य यद् वैश्यः' का अर्थ किया जाता है, यह भी ठीक नहीं हो सकता। ऊरु तो कहीं नहीं आते जाते, पैर ही आते-जाते हैं, फिर तो शूद्र ही वैश्य हो जायेंगे? वस्तुतः यहां ऊरुसे वैश्यकी उत्पत्तिका अर्थ ही शास्त्रीय है।

(ख) 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' का उक्त अर्थ भी ठीक नहीं हो सकता। जब यहां 'पद्भ्याम् अजायत' यह पञ्चमी तथा उत्पत्ति अर्थ प्रत्यक्ष है, तब वह अर्थ क्यों नहीं किया जाता? वैसा अर्थ करनेमें डर क्या है? यही डर है कि वर्णव्यवस्था फिर जन्मना हो जायगी। इससे वर्णव्यवस्था जन्मसे ही सिद्ध

होती है। 'पद्भ्यां शूद्रो, ब्राह्मणोऽस्य मुखं' इन दोनों पञ्चमी-प्रथमा विभक्तियों को जोड़नेसे वेदने निर्देश किया है कि सारे मन्त्रका दोनों विभक्तियोंमें अर्थ करो। सो पञ्चमीका अर्थ तो हमारा इष्टापादक तथा वादीके पक्षका खण्डक है ही, इसलिए वादी इसे हटानेकेलिए एड़ीसेचोटी-तकका पसीना निकालते हैं, प्रथमा अर्थ करनेमें भी हमारे पक्षमें कोई हानि नहीं आती—इसे हम आगे बतला रहे हैं।

यहां 'पद्भ्यां' में उपमाका कोई स्पष्ट वा अस्पष्ट सम्बन्ध ही नहीं। 'तपसे शूद्र'का 'तपस्वी' अर्थ नहीं है। यदि ऐसा अर्थ हो, तो वादीके अनुसार शूद्र भी ब्राह्मण होगा, क्योंकि वादी ब्राह्मणकेलिए भी कहते हैं—'जो तपस्वी हैं, वे ही सच्चे ब्राह्मण हैं', अतः दोनों स्थानोंमें अव्याप्ति-अतिव्याप्ति दोष हो जायगा, ब्राह्मण शूद्र और शूद्र ब्राह्मण हो जायँगे। 'तपसे' का अर्थ यहां 'कृच्छ्र-कर्म' है। इसका यही अर्थ आधुनिक-सुधारक भी करते हैं। 'वर्णव्यवस्थाका वैदिक रूप' (पृ. १०) में उसके वादिमान्य-लेखक लिखते हैं—'(तपसे) श्रम अथवा मेहनतसे साध्य पशुओं को उत्पन्न तथा सब प्रकारके शिल्पकारी आदि 'कठिन कार्य करनेकेलिए 'शूद्र' को।' यह लिखकर वे लिखते हैं—'मन्त्रमें आये हुए 'तपसे शूद्रं' पदका अर्थ जो मैंने 'श्रमसाध्य पदार्थों की उत्पत्ति तथा कठिन कामोंके करनेकेलिए शूद्र' किया है, यह अर्थ नया नहीं, क्योंकि स्वामी दयानन्दजीने 'दुःखसे उत्पन्न होनेवाले सेवनकेलिए शूद्रको' और श्रीशिवशङ्करजी

काव्यतीर्थने 'परिश्रमी और कठिन कार्य करनेवाले शूद्रको' तथा स्वामी वेदानन्दजीने 'कठिन कर्मके अनुष्ठानकेलिए शूद्रको' यही अर्थ किये हैं (पृ. ११)।

४ पू०—'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्'की मध्यकालीन भाष्यकारोंने जो यह व्याख्या की है कि यहां 'ब्राह्मणः' का अर्थ 'ब्राह्मणत्व-जातिविशिष्टः पुरुषः' और 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' का अर्थ 'अस्य ब्रह्मणः मुखाद् ब्राह्मण उत्पन्नः' अर्थात् ब्रह्माके मुखसे ब्राह्मणत्वजातिविशिष्ट पुरुष उत्पन्न हुआ, यह अशुद्ध है, क्योंकि 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' यह मन्त्र अपनेसे पूर्व 'यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू-पादा उच्येते' इसके उत्तरमें है, जिसमें प्रश्न किया गया है कि 'विराट्-पुरुषकी विद्वानोंने किस प्रकार की कल्पना की ? उसका मुख कौन-सा है ? बाहु कौन-से हैं ? उसकी जङ्घा और पैर कौन-से कहे जाते हैं ? यहां यह प्रश्न नहीं है कि 'ब्रह्माके मुखसे कौन पैदा हुए ? ब्रह्माकी बाहुओं और जङ्घाओंसे कौन पैदा हुए ?' किन्तु यह है कि 'उस विराट् पुरुषका मुख कौनसा था ? बाहुएँ कौनसी थीं ? जङ्घा और पैर कौनसे कहे जाते हैं ? इसका यह उत्तर देना कि 'ब्राह्मणजातिविशिष्ट पुरुष इसके मुखसे उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय इसकी बाहुओंसे उत्पन्न हुए, वैश्य इसकी जङ्घाओं और शूद्र पैरोंसे उत्पन्न हुए' 'आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे' इस संस्कृत-कहावत को चरितार्थ करना है। 'मुख कौनसा है ?' इसका यह उत्तर देना कि 'ब्राह्मण ब्रह्माके मुखसे उत्पन्न हुआ'

सर्वथा असङ्गत है। अतः इसका उपरिनिर्दिष्ट समाजशास्त्रके मूलतत्त्वोंका निर्देशक तथा परस्पर-सहयोगका उपदेश करनेवाला अर्थ ही वास्तविक है'।

४ उ०—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'में उत्पत्तिपक्ष माननेसे 'यत्पुरुषं व्यदधुः...मुखं किमस्यासीत् किं बाहू' इस प्रश्न-मन्त्र-की सङ्गति नहीं बैठती', यह तर्क भी निस्सार है। 'अस्य प्रकृतस्य परमात्मनो मुखं-मुखाद् ब्राह्मण आसीत्-सञ्जातः, उत्पन्नः।' यहां पर 'सुपां च सुपो भवन्ति' (७।१।१।३९) इस महाभाष्यस्थ-वार्तिक से तथा 'प्रजापतिर्हि मुखतः त्रिवृतं निरमिमीत...ब्राह्मणो मनुष्याणाम्...मुखतो हि असृज्यन्त' (७।१।१(४) इस कृष्णयजुर्वेद (तै. सं.) की एवं 'ब्राह्मणो मनुष्याणाम्' 'मुखतो हि सृष्टः' (६।१।६) इस 'ताण्ड्य-महाब्राह्मण' की साक्षीसे 'मुखं'का 'मुखात्' यह पञ्चमी अर्थ है। इस प्रकार प्रश्नमन्त्रमें भी 'मुखं किमस्यासीत्' यहां भी यही अर्थ है कि 'अस्य—परमात्मनो मुखं—मुखात् किमासीत्—किमुत्पन्नम् ?' 'आसीत्'का 'उत्पन्नं' अर्थ करनेमें साक्षी 'नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्' (यजु. ३१।१३) इस मन्त्रकी है। अब पाठक देख रहे हैं कि, प्रश्नमन्त्र एवम् उत्तरमन्त्रकी सङ्गति लग गई या नहीं ?

इस प्रकार 'बाहू राजन्यः कृतः'में भी अर्थ है—'अस्य-परमेश्वरस्य बाहू—बाहुभ्याम्' राजन्यः—क्षत्रियः, कृतः—उत्पन्नः।' पूर्ववत् 'बाहुभ्यां··राजन्यो मनुष्याणां' (७।१।१ (४) इस कृष्णयजुर्वेद (तै. सं.) की तथा 'राजन्यो मनुष्यः, बाहुभ्यां हि

सृष्टः' (६।१।८) इस 'ताण्ड्यब्राह्मण'की साक्षीसे 'सुपां च सुपो भवन्ति' से 'भ्याम्'को 'औ' हुआ। इस प्रकार प्रश्नमन्त्र 'किं बाहू' में भी 'बाहू—बाहुभ्यां किमासीत्-किमुत्पन्नम् ?' यही अर्थ होकर प्रश्न एवं उत्तर दोनों की सङ्गति हो गई।

इसी तरह 'ऊरू तदस्य यद् वैश्यः'का भी अर्थ है कि 'यद् वैश्यः तद् अस्य ऊरू—ऊरुभ्याम्, अजायत-इत्युत्तरेणानुषङ्गः।' इस प्रकार प्रश्नमन्त्रमें भी 'किमूरू—ऊरुभ्यां किमासीत्—किं जातम्' यहां भी पूर्ववत् 'मध्यतः...वैश्यो मनुष्याणां' (कृष्णयजुर्वेद ७।१।१ (५), 'स मध्यत एव असृजत', वैश्यो मनुष्याणाम्' (ताण्ड्य ६।१।९) इन साक्षियोंसे 'सुपां च सुपो भवन्ति'से 'भ्याम्' को 'औ' हुआ।

'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'में तो पञ्चमी प्रत्यक्ष है ही। इसके प्रश्नमन्त्र की योजना यह है—'ऊरू-पादौ किम् उच्येते—अस्य ईशस्य ऊरुभ्यां, पादौ-पादाभ्यां च किमुच्येते—कौ उत्पन्नौ आख्यायेते।' कृष्णयजुर्वेदमें 'स पत्तः (पादाभ्यां) निरमिमीत, शूद्रो मनुष्याणाम्' (७।१।१ (६) तथा 'ताण्ड्यब्राह्मण'में 'स पत्त (पद्भ्याम्) एव असृजत, शूद्रो मनुष्यः" (६।१।१०) इसकी साक्षी स्पष्ट है। इसके आगेके मन्त्रोंमें भी 'चन्द्रमा मनसो जातः' आदिमें 'मनसः, चक्षोः, श्रोत्राद्, मुखादग्निरजायत' इत्यादिमें भी पञ्चमी तथा उत्पत्ति अर्थ प्रत्यक्ष है, उनके अनुरोधसे 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' आदिमें भी पञ्चमी तथा उत्पत्ति अर्थ ठीक ही है।

स्वामी दयानन्दजीने भी अपने उक्त-मन्त्रके अर्थमें प्रश्न-उत्तर दोनोंमें पञ्चमी-विभक्तिका ही अर्थ किया है। देखिये—'मुखं किम्—अस्य पुरुषस्य मुखं मुख्यगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत्' पादा उच्येते—पादौ अर्थात् मूर्खत्वादि-नीचगुणैः किमुत्पन्नं वर्तते' (१०) मुखं-मुख्यगुणास्तेभ्यो ब्राह्मण उत्पन्नो भवति।...पद्भ्यां-पादेन्द्रिय-नीचत्वमर्थाज्जड-बुद्धित्वादिगुणेभ्यः शूद्रः सेवा-गुणविशिष्टः अजायत-जायते' (ऋ.भा.भू. पृ. १४१-१४२)। हां, यह अर्थ उनका जहां स्वकल्पित है, वहां अयुक्त भी है। गुणोंसे द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती। 'सत्यार्थप्रकाश'में स्वामीजीने स्वयं लिखा है—'गुणसे द्रव्य कभी नहीं बन सकता। जैसे रूपसे अग्नि और रससे जल नहीं बन सकता' (१३ समु. पृ. ३००)। तब मुखके गुणोंसे द्रव्य—ब्राह्मणकी उत्पत्ति कहां ठीक हुई ? अस्तु ! इतना होनेपर भी प्रश्न-उत्तरमें स्वा.द.जीने हमारे अनुसार पञ्चमी मान ही ली। पाठकोंने देख लिया कि उत्पत्ति-अर्थमें प्रश्न एवं उत्तर-मन्त्रका सामञ्जस्य हो गया। इसलिए श्रीसायणाचार्यने भी स्पष्ट लिखा है—'इयं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणानामुत्पत्तिः सप्तमकाण्डे 'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत' इत्यादौ स्पष्टमाम्नाता। अतः प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत्परत्वेनैव योजनीये' (तैत्तिरीयारण्यक ३।१२।५)। सो वादीके आचार्यकी व्याख्यासे वहां प्रश्नमन्त्र तथा उत्तर-मन्त्रमें पञ्चमीविभक्ति तथा उत्पत्ति-अर्थसे हमारे पक्षकी पुष्टि ही सिद्ध हुई। उनका गुणोंका अर्थ उनके अपने कथनसे ही अयुक्त सिद्ध होनेसे, मुखादिसे ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति-अर्थ सिद्ध हो

जानेसे वर्णव्यवस्था भी उत्पत्तिमूलक ही सिद्ध हुई।

अथवा 'तुष्यतु वादी' न्यायसे 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्'में पञ्चमी न मानकर प्रथमा-विभक्ति भी मानें, तो भी तो हमारा ही उत्पत्ति अर्थवाला पक्ष सिद्ध होता है। 'आयुर्घृताद् जायते' यह पञ्चमीमें कहना हो, तो 'आयुर्घृतम्' यह प्रथमासे भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि कार्य-कारणका अभेद भी माना जाता है। घृत कारण है, आयु कार्य है, तथापि यहाँ प्रथमा भी पञ्चमीके ही अर्थको बतलानेवाली होती है। इसी प्रकार 'ब्राह्मणो मुखाद् आसीत्'के स्थानमें कार्य-कारणके अभेद-वश 'ब्राह्मणो मुखमासीत्' भी कहा जा सकता है। अर्थ वही पञ्चमीका निकलता है।

इसके अतिरिक्त यह सृष्टि-सूक्त है, स्वा.द.जीने भी ऋभाभू.में इस सूक्तमें 'सृष्ट्युत्पत्ति' विषय ही माना है। अतः यहाँ 'ब्राह्मणोस्य मुखं'में 'अस्य'का अर्थ 'परमेश्वरस्य' है, 'मनुष्यसमाजस्य' नहीं, अन्यथा पहले वेदोंकी उत्पत्ति भी बतलाई गई है, फिर वेद भी मनुष्योत्पादित हो जायंगे। 'ऋग्वेदसंहिता'में 'मुखं किमस्यासीत्' तथा 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' (१०।९०।११-१२) मन्त्रोंसे पूर्व ही 'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः' तथा 'तस्मादश्वा अजायन्त' (१०।९०।९-१०) ये मन्त्र हैं। यदि पिछले (११-१२) मन्त्रोंमें मनुष्यसमाजसे ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति मानी जायगी, तो पहले के दो (९।१०) मन्त्रोंमें कही वेदों तथा पशुओंकी सृष्टि भी मनुष्यकर्तृक हो जायगी, जो कि प्रतिपक्ष को भी अनिष्ट होगी,

अतः यहाँ हमारा ही पक्ष ठीक है। बल्कि आदिम-संहिता ऋग्वेदके 'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः (९।१०) मन्त्रोंके पञ्चमी तथा उत्पत्ति-अर्थके साहचर्यसे उसके आगेके (११।१२) संख्यावाले 'मुखं किमस्यासीत्' 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' मन्त्रोंका भी पञ्चमी अर्थ ही स्पष्टतासे सिद्ध हो गया। वेदकी साक्षीको कोई बदल नहीं सकता।

५ पू०—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये शब्द भी वर्ण-व्यवस्थाका गुण-कर्मसे होना सूचित करते हैं। उदाहरणार्थ—ब्राह्मण-शब्द 'ब्रह्मन्' शब्दसे 'तदधीते तद् वेद' (अष्टाध्यायी ४।२।५९) के अनुसार 'अण्' प्रत्यय करने पर बनता है। 'ब्रह्मन्' शब्दके अर्थ परमेश्वर और वेदके होते हैं, अतः ब्राह्मणका अर्थ परमेश्वरको जाननेवाला और वेदको जानने वा उसका विशेष-अध्ययन करनेवाला-यह सर्वथा स्पष्ट है। पण्डितप्रवर वैद्य श्रीश्यामनारायण-चतुर्वेदीने 'सन्ध्याभाष्यम्'में लिखा है—'ब्राह्मणान् अभ्यावर्ते ते मे द्रविणं यच्छन्तु, ते मे ब्राह्मणवर्चसम्' (अथर्व १०।५।४१) इस वेदमन्त्रकी व्याख्यामें ठीक ही लिखा है कि 'ब्रह्म-वेदं शुद्धं चैतन्यं वा वेत्ति अधीते वा. 'तदधीते तद्वेद' (पाणिनिसूत्र ४।२।५९)इत्यण्' (सन्ध्याभाष्यम् पृ. २३७)। श्रीसायणने 'ब्राह्मणा वेदविदः वेदार्थ-तत्पराः' यह अर्थ ब्राह्मणका लिखा है। 'ब्राह्मणा ये मनीषिणः' (ऋ० १।१६४।४५) इस मन्त्रमें भी यही भाव है। 'अनूचानो ब्राह्मणो युक्त आसीत्' (ऋ० ८।५८।१) में भी अनूचान-वेदपाठीको ब्राह्मण कहा है। इसीलिए वेदमें 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' (ईशोप०)-

में कर्मकी प्रशंसा आई है।

(ख) ब्राह्मणकी तरह क्षत्रिय-शब्द भी गुणसूचक है, क्योंकि उसका अर्थ क्षत अर्थात् आक्रमण वा आपत्तिसे त्राण वा रक्षा करनेका है। इसी अर्थको लेकर आधुनिक कविकुलशिरोमणि-कालिदासने 'रघुवंश'में कहा है कि 'क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः, क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।' (सर्ग २) अर्थात् क्षत वा आपत्ति अथवा आक्रमणसे रक्षा करनेके कारण वीरकेलिए क्षत्रिय शब्द प्रचलित है। 'महाभारत' शान्तिपर्व अ० १०६ में भरद्वाजके प्रश्नके उत्तरमें भृगुने वर्णव्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए क्षत्रिय-केलिए यही बतलाया है कि—"क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययन-सङ्गतः। दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते।" (म०भा० शान्तिपर्व १८६।४) अर्थात् जो वेदाध्ययनसे युक्त होकर आक्रमण एवं आपत्तियोंसे समाज तथा राष्ट्रकी रक्षाका शक्तियुक्त कार्य करता और दानादिमें तत्पर रहता है, वह क्षत्रिय कहलाता है। इसी प्रसङ्गमें 'ब्राह्मणः केन भवति' अर्थात् किन गुणोंसे मनुष्य ब्राह्मण बनता है, इस भरद्वाजके प्रश्नका उत्तर देते हुए भृगुने बतलाया है कि—"सत्यं दानमथाद्रोहः आनृशंस्यं त्रपा घृणा। तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः।" (१८६।१) अर्थात् सत्य, दान, अद्रोह, (अहिंसा), अक्रूरता, बुरे कार्योंके करनेमें लज्जा, दया और तप जहाँ दिखाई दें उसे ब्राह्मण कहा जाता है।

वैश्य शब्द भी 'विश प्रवेशे' इस धातुसे बनता है। जो व्यापारादिकेलिए एक-स्थानसे दूसरे स्थानमें प्रवेश करे, इस अर्थका वाचक होनेके कारण गुणसूचक है। 'महाभारत' शान्ति-पर्वके उपर्युक्त प्रकरणमें भृगुने वैश्यके विषयमें शब्दार्थका निर्देश करते हुए कहा है कि—"विशत्याशु पशुभ्यश्च कृष्यादानरतिः शुचिः। वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः।" अर्थात् जो वेदाध्ययनसम्पन्न होकर व्यापारकेलिए इधर-उधर जाता, पशु-रक्षण वा कृषि आदि करता तथा पवित्र है, वह वैश्य कहलाता है।

शूद्र शब्द भी गुणवाचक ही है, जो 'शु आशु द्रवति' अथवा 'शुचा द्रवति' इन व्युत्पत्तियोंके अनुसार बनता है, जिसका अर्थ सेवाकेलिए शीघ्र इधर-उधर दौड़नेवाला तथा 'वेदादि-शास्त्रोंका ज्ञान मुझे मन्दबुद्धिताके कारण प्राप्त नहीं हो सका' इस शोकसे द्रवित होनेवाला होता है। 'महाभारत'के उपर्युक्त-प्रकरणमें शूद्रके विषयमें यही बतलाया गया है कि—'सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः। त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स शूद्र इति संज्ञितः॥' अर्थात् शूद्र वह कहलाता है, जो सर्व प्रकारके (निषिद्ध-पदार्थोंके भी) भक्षणमें तत्पर है, सब प्रकारके काम करनेवाला है, अपवित्र है, वेदका जिसने स्वयं परित्याग कर दिया है, तथा जो उच्च-आचरणसम्पन्न नहीं है।

इस प्रकार यदि इस विषयमें जो स्पष्ट-प्रमाण वेदादि सत्य-शास्त्रोंमें पाये जाते हैं, उनका विस्तृत विवेचन न किया जाय, तो भी इन शब्दोंके ही आधार पर यह बात निस्सन्देह कही जा सकती है कि वेदादि-सत्यशास्त्रप्रतिपादित वर्णव्यवस्थाका आधार गुण-कर्म-स्वभावपर है।

५ उ०—इस पर हमारा वक्तव्य है कि श्रीपाणिनिका 'तदधीते तद् वेद' (पा० ४।२।५९) यह सामान्य सूत्र है। यह 'वैयाकरणः' आदि अन्य-शब्दों पर चरितार्थ हो जाता है, 'ब्राह्मण'केलिए तो श्रीपाणिनिने विशेष-सूत्र बनाया है—'ब्राह्मोऽजातौ' (पा० ६।४। १७१)। यहाँ योगविभाग किया जाता है—'ब्राह्मः' इति टिलुप्तो निपात्यते अनपत्ये अणि,' अर्थात् 'ब्रह्मन्' शब्दका यदि सन्तान अर्थ इष्ट न हो, वह सामान्य अर्थमें हो, जैसेकि वादीने उसका अर्थ किया है—'ब्रह्म अधीते वेद वा' तो इस सामान्य अर्थमें अण-प्रत्ययमें 'ब्रह्मन्'की 'टि' का लोप करदो, पूर्वको वृद्धि तो होगी ही। इस अर्थमें 'ब्राह्मः' बनेगा, 'ब्राह्मणः' नहीं। यहाँ अपत्य एवं जाति अर्थ न होनेसे 'टि' का लोप होगया।

अब दूसरा विभाग है—'अजातौ', 'अपत्ये अजातौ सत्यामपि टिलोपो वक्तव्यः' अर्थात् सन्तान अर्थ तो हो, पर जाति अर्थ न हो, तो भी 'टि' का लोप कर दो। इसका उदाहरण है—'ब्राह्मो नारदः' ब्रह्माका लड़का नारद। यहाँ अपत्य अर्थ तो है, पर जाति अर्थ न होनेसे यहाँ भी 'टि' का लोप होगया।

अब इस सूत्रका प्रसज्यप्रतिषेधवाला अर्थ यह है—'अपत्ये जातौ सत्यां ब्रह्मणः टिलोपो न स्यात्' अर्थात् 'ब्रह्मन्' शब्दके आगे 'अण' प्रत्यय हो, उसका अपत्य अर्थ हो और 'जाति' वाच्य हो, तो ब्रह्मन्की 'टि' का लोप न होगा। जैसे—'ब्रह्मणोऽपत्यं जातिः ब्राह्मणः।' ब्रह्माका मुख भी प्रधान अंग होनेसे ब्रह्मस्वरूप होनेके कारण उसका अपत्य एवं जाति ही ब्राह्मण

सिद्ध होता है। 'ब्राह्मी ओषधिः'में 'जाति' अर्थ तो सम्भव है, पर अपत्य अर्थ नहीं, अतः यहाँ भी 'टि' का लोप ही हो जाता है।

इस वेदांगके सूत्रसे वेदस्थित 'ब्राह्मण' शब्दके जातिवाचक सिद्ध होने पर गुण-कर्मका यहाँ कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा। अर्थ शब्दके अधीन होता है और शब्द शब्दशास्त्र तथा कोषके। इस सूत्रका अर्थ चाहे 'सिद्धान्तकौमुदी'में देखें, चाहे 'काशिका' में, चाहे 'महाभाष्य'में, चाहे स्वामी दयानन्दजीके 'स्त्रैणताद्धित' (पृ० १६५) में, सबमें यही अर्थ मिलेगा। अब यदि वादी पाणिनिको न मानकर श्रीश्यामनारायणजीको वा श्रीसायणको अधिक विद्वान् मानें, तो पहले उन्हें 'अष्टाध्यायी' पर हरताल फेर देनी पड़ेगी, पाणिनिके तथा अष्टाध्यायीके गीत गाने बन्द कर देने पड़ेंगे। उस अर्थमें तो 'ब्राह्मः' बनेगा, 'ब्राह्मणः' नहीं। पाणिनिका व्याकरण मुख्य वेदांग है, अतः वेदकी व्याख्या भी उसीके अनुसार न्याय्य है।

वादिसम्मत-अर्थ करने पर शास्त्रविरोध तथा लोकविरोध भी होगा। यह कैसे—इस पर पाठक ध्यान दें। जब 'ब्रह्म'—वेदको जो पढ़ता है, वही 'ब्राह्मण' माना जाय, तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनोंका वेदाध्ययन आचार्यकुलमें होता है, उसका ज्ञान भी और परमेश्वरका ज्ञान भी जब उसी वेदसे होगा—'नाऽवेदविद् मनुते तं बृहन्तम्' तो वे सभी ब्राह्मण होंगे, वर्ण एक ही हो जायगा। फिर क्षत्रिय वैश्यवर्णके न होनेसे तीनों वर्णोंका

मनुसम्मत भिक्षाभेद (२।४९), आचमन-भेद (२।६२), दण्डभेद (२।४५), चर्मभेद (२।४१) इत्यादि 'यद्यस्य विहितं चर्म यत् सूत्रं या च मेखला। यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि' (मनु० २।१७४) भेद निर्विषय हो जायंगे। जब द्विजोंकेलिए वेदका पढ़ना-जानना अनिवार्य है, आवश्यक है, तब सभीके वादिजनानुसार ब्राह्मण होनेसे क्षत्रिय, वैश्य न होनेसे, एक वर्ण हो जायगा। फिर चातुर्वर्ण्यकी शास्त्रसम्मत सत्ता न रहनेसे शास्त्र असत्य सिद्ध होंगे वा शास्त्रविरोध होगा, पर लोकमें चार वर्ण होनेसे उनको केवल ब्राह्मण कहने पर लोकविरोध होगा, अतः यह युक्ति वा निर्वचन शास्त्रविरुद्ध होनेसे सर्वत्र ग्राह्य नहीं।

श्रीसायणने जो 'ब्राह्मणा वेदविदः, वेदार्थतत्पराः' यह लिखा है, उसमें यह जानना चाहिए कि 'ब्राह्मणाः' कोई कठिन शब्द तो था नहीं कि सायणाचार्य अपने भाष्यमें उसका पर्यायवाचक देने वैठते, यह 'वेदविदः' वेदार्थतत्पराः' तो 'ब्राह्मण'का विशेषण है, पर्यायवाचक नहीं। अर्थ यह होगा कि 'वेद जाननेवाले ब्राह्मण।' यह नहीं कि जो वेद जाने, वह ब्राह्मण, फिर तो क्षत्रिय, वैश्यको वेदाधिकार वा वेदका जानना-पढ़ना आवश्यक नहीं होगा। इस प्रकार सायणभाष्यमें अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए।

वस्तुतः 'ब्राह्मणा ये मनीषिणः' इस मन्त्रमें 'मनीषिणः' विशेषण है और 'ब्राह्मणाः' है विशेष्य, जैसे कि-'एतद् विदन्तो 'विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः' (मनु. ४।९१) इस मनुके

पद्यमें; सो इस विशेषणसे भी जन्मना वर्णव्यवस्था सिद्ध होती है। यहां मनीषी-ब्राह्मणोंको ही चारों वाणियोंका ज्ञान बतलाकर अमनीषी (अविद्वान्) ब्राह्मण भी सिद्ध कर दिये गये हैं। यदि केवल विद्वान्का नाम ही ब्राह्मण होता, तो उसका 'विद्वान्' विशेषण व्यर्थ होता, क्योंकि विशेषण सदा व्यभिचार प्रसक्त होने पर ही हुआ करता है, अव्यभिचारमें विशेषण नहीं हुआ करता, क्योंकि 'सम्भव-व्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत्।' 'अश्वत्थामा हतो नरः' इसमें 'नरः' विशेषण क्यों लगाया गया? इसलिए कि वहां वैसा विशेषण न लगाने पर 'अश्वत्थामा गजमें व्यभिचार पड़ता, उसका भी ग्रहण हो जाता। उक्ततर्कोपस्थापक वादी लोग अपने साथ 'मनुष्यः' विशेषण क्यों नहीं लगाते? इसलिए कि उस विशेषणके न लगानेमें भी किसी अमनुष्यमें व्यभिचार नहीं पड़ता। अतः सिद्ध हो गया कि विशेषणकी सार्थकता व्यभिचार एवं सम्भवमें ही हुआ करती है, अव्यभिचार तथा असम्भवमें नहीं। अव्यभिचार तथा असम्भवमें विशेषण देने पर उसकी व्यर्थता हो जाती है, परन्तु 'ब्राह्मणा ये मनीषिणः' में 'मनीषी' विशेषण देनेसे 'अमनीषी ब्राह्मण', 'विद्वांसं ब्राह्मणं' (अ० १३।३।१) में 'विद्वांसं' विशेषण देनेसे 'अविद्वान् ब्राह्मण', 'गुणवतो ब्राह्मणान् भोजयेत्' (मानवगृ० १।१३।१) यहां पर ब्राह्मणका 'गुणवान्' विशेषण देनेसे 'गुणहीन-ब्राह्मण', 'अनूचानो ब्राह्मणः' (ऋ० ८।५८।१) में 'अनूचान' विशेषणसे 'अननूचान-ब्राह्मण', 'सुब्राह्मणः' (महा-

भाष्य २।२।१८ में) कहनेसे 'कुब्राह्मण' भी सिद्ध हो गये। तभी तो महाभाष्यमें 'कुब्राह्मणः, दुर्ब्राह्मणः' (२।२।१८) भी कहा है। 'ब्राह्मणे चाऽननूचाने' (२।२४२) यहां मनुजीने 'अननूचान' को भी 'ब्राह्मण' कहा है। इनसे वर्णव्यवस्था गुण-कर्मसे कटकर 'जन्मना' सिद्ध हो जाती है।

तभी तो 'तस्मान्न ब्राह्मणः सर्वस्येव क्षत्रियस्य पुरोधां कामयेत, नो एव क्षत्रियः सर्वमिव ब्राह्मणं पुरो दधीत' (४।१।४।५) इस 'शतपथब्राह्मण' के वचनमें सर्वमिव ब्राह्मणं' से सुकृती तथा दुष्कृती दोनों प्रकारके ब्राह्मण सिद्ध होते हैं। 'तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः' (२।२।६) इस 'महाभाष्य' के उद्धरणमें तथा 'दुर्ब्राह्मणः', कुब्राह्मणः' (२।२।१८) इस महाभाष्यके उदाहरणों-में भी तप और श्रुतसे हीनको भी 'ब्राह्मण' माना गया है। 'वैडालव्रतिके द्विजे' (मनु० ४।१९१), 'हैतुकान् वकवृत्तींश्च' (४।३०), 'न वकव्रतिके विप्रे नाऽवेदविदि' (४।१९२) इन मनुजीके वचनोंमें कुत्सित-गुणवाले भी ब्राह्मण माने गये हैं, जिनकी व्यवस्था गुण-कर्मसे न होकर 'जन्म' से बनती है, तब ब्राह्मणादि वर्णव्यवस्था भी जन्मसे ही सिद्ध हो जाती है।

'गुण-कर्मणा वर्णः' सिद्धान्तमें 'असद्-ब्राह्मण' शब्दका भी अत्यन्त-अभाव होना चाहिए, क्योंकि उसमें असम्भव होगा, और 'सद्-ब्राह्मणः' शब्दका भी अत्यन्ताभाव होना चाहिए, क्योंकि उसमें व्यर्थता होगी। इस प्रकार 'सत्-शूद्र' का भी अत्यन्ताभाव होना चाहिए, 'असत्-शूद्र' का भी। पर दोनों

प्रकारके शब्द मिलनेसे वर्णव्यवस्था जन्मना ही हो जाती है।

'तपः श्रुतं च योनिश्च त्रयं ब्राह्मण-कारकम्। तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जाति-ब्राह्मण एव सः' (२।२।६) इस 'महाभाष्य' के वचनमें ब्राह्मणत्वमें तीन कारण-(तप, अध्ययन, योनि,-ब्राह्मणसे ब्राह्मणीमें जन्म) बतलाये गये हैं। इन तीनोंमें तप तथा अध्ययन तो अब्राह्मणमें भी सम्भव हैं, अतः ये दो कारण तो मुख्य सिद्ध न हुए, व्यभिचारी ही हुए; परन्तु योनि अब्राह्मणमें असम्भव है। तब ब्राह्मणत्वका मुख्य—अव्यभिचारी कारण (स्वरूप) योनि (जन्म) सिद्ध हुआ, तप और श्रुत उसके अलङ्कारक—उत्कर्षमात्राधायक सिद्ध हुए, स्वरूपाधायक नहीं, अतः 'विद्या-तपोभ्यां भूतात्मा शुध्यति' (५।१०९) इस मनु-वचन में विद्या और तपको आत्माका संस्कारक-अलङ्कारक कहा है, स्वरूप नहीं। स्वरूपाधायक कारण योनि ही सिद्ध हुआ। लक्षणमें स्वरूप ही कहना पड़ता है—उत्कर्ष-अपकर्ष नहीं। रत्नके लक्षणमें 'कीटा-नुवेधादिरहितत्व' नहीं कहना पड़ता, वह तो रत्नके उत्कर्षापकर्षमें सहायक हो सकता है, स्वरूप-निर्माणमें नहीं। इसीलिए 'महा-भाष्य' में 'त्रीणि यस्यावदातानि योनिर्विद्या च कर्म च।... ब्राह्मणाग्र्यस्य लक्षणम्' (४।१।४८) में योनिसे ब्राह्मणत्व और विद्या एवं कर्मसे ब्राह्मणकी अग्र्यता—श्रेष्ठता ही सिद्ध हुई, सत्ता नहीं।

तब 'अनूचानो ब्राह्मणो युक्त आसीत्' (ऋ० ८।५८।१), 'ब्राह्मणा ये मनीषिणः' (ऋ० १।१६४।४५) आदिका समाधान हो

गया। हिन्दुधर्म वर्ण-व्यवस्थाको जन्मसे मानता है और गुण-कर्मको उसका उपस्कारक-सम्मानप्रदाता मानता है, तब 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' (ईशोप०) में कर्मकी जो प्रशंसा आई है, वह ठीक है। गुण-कर्म भी यदि जन्मके साथ हों, तो सोना और सुगन्ध हो जाता है। तब जो इस विषयमें कर्मसे वर्णोंके प्रमाण दिये जाते हैं; वे उन कर्मोंकी प्रशंसार्थ हैं कि-वर्णको अपना कर्म भी करना चाहिये। उस कर्मके करनेसे उस वर्णकी प्रशंसा होगी, न करनेसे निन्दा-होगी; इससे उसका उत्कर्षापकर्ष ही होगा; वर्णपरिवर्तन नहीं। महाभारतका सिद्धान्तपक्ष (देखो भिन्न-भिन्न गुणकर्मस्वभाव वाले पाण्डवों आदिको) जन्मना वर्णव्यवस्थाका है, यह ४थें पुष्पमें देखें।

(ख) यदि क्षतत्राणसे क्षत्रिय माने जाय, तो द्रोणाचार्य भी क्षत्रिय होंगे, कृपाचार्य भी, अश्वत्थामा भी; पर वे ब्राह्मण कहे गये। यदि वे क्षतत्राण-कर्ता नहीं थे, तो दुर्योधनादि-कौरव तथा धृतराष्ट्रादि भी क्षतत्राणकर्ता नहीं थे, तब वे भी क्षत्रिय न होंगे। जो कि रघुवंशका 'क्षत्रात्-किल त्रायते' यह श्लोक दिया जाता है; तो दिलीप क्षतत्राण नहीं कर सके; तो क्या वे क्षत्रिय नहीं रहे। क्षतत्राण न करनेवालेको 'उपक्रोश-मलीमस' तो कहा है, निन्दित तो किया है, अक्षत्रिय नहीं कहा। तब 'युद्धे चाप्यपलायनम्' (गी. १८।१३)से विरुद्ध कर्ण-आदिके युद्धसे भागने वाले युधिष्ठिर क्षत्रिय न रहेंगे। वस्तुतः 'राजन्य' भी जाति-शब्द है, क्षत्रिय भी, जैसे कि 'क्षत्राद् घः' (पा० ४।१।१३८) और

'राजश्वशुराद् यत्' (४।१।१३७) यहाँ पर दोनोंमें 'जातौ एव इति वक्तव्यम्'से जाति-अर्थमें ही यह शब्द बनते हैं, अन्य अर्थमें तो 'क्षात्रिः' तथा 'राजनः' ही बनते हैं. 'क्षत्रियः, राजन्यः' नहीं। इस पर स्वामी दयानन्दजीने 'स्त्रैणताद्धित' (पृष्ठ ४१-४२)में कहा है 'राजन्यः' जो क्षत्रिय [जातिवाला] हो, नहीं तो 'राजनः'। 'क्षत्रियः' यहाँ भी जाति ही समझनी चाहिए, जहाँ जाति न हो, वहाँ 'क्षात्रिः।" 'शूद्रा चामहत्-पूर्वा जातिः' इस वार्तिकसे शूद्र भी जाति-शब्द प्रतिफलित होता है।

'वृषली' भी जातिका ही उदाहरण है। देखिये ४।१।६३ पाणिनिसूत्रका उदाहरण। स्वामी दयानन्दजीने 'ब्राह्मणी'को भी 'जातेरस्त्रीविषयाद्' (पा० ४।१।६३) से जाति-अर्थमें 'ङीष्' किया है। यहाँ उनकी भूल रही है. यहाँ जाति-अर्थमें शार्ङ्गरवादिगणमें पठित होनेसे उसे 'ङीन्' (४।१।७३) करना चाहिए। पर जाति-अर्थमें 'ब्राह्मणी'की सिद्धि उनके मतमें भी सिद्ध हो जानेसे गुण-कर्मोंका यहाँ नाम भी न रहा। जब ब्राह्मण जाति सिद्ध होगई, तब उस जातिके व्यक्तियोंमें गुण तथा दोष दोनोंका समावेश हो जाता है। जैसे कि गो-जाति है, किसीने कहा—'गाय लाओ', तो अच्छी गाय भी लाई जा सकती है, लंगड़ी-लूली भी। इसका उदाहरण 'महाभाष्य'के पस्पशाह्निकमें भी देखिये—वहाँ 'अ-इ-उ-ण्' पर प्रश्न था कि यदि इष्ट-वर्णोंके ज्ञानकेलिए ही यह अक्षर पढ़े गये हैं, तो दीर्घ-प्लुत आदि-आदि गुणोंवाले अक्षर भी पढ़ने चाहिएँ, इसपर

उत्तर दिया गया कि—'आकृत्युपदेशात् सिद्धम्' अर्थात् जातिपक्ष होनेसे इस प्रकारके गुण उसमें स्वयं गृहीत हो जाते हैं। तब प्रश्न हुआ कि यदि जातिमें गुण गृहीत हो सकते हैं, तो दोष भी गृहीत हो सकते हैं, तब जातिपक्षमें संवृत आदि दोषोंका भी ग्रहण हो जायगा, उनको हटानेकेलिए कहा 'संवृतादीनां प्रतिषेधः'। इससे सिद्ध हुआ कि जातिमें गुण और दोष दोनों गृहीत हुआ करते हैं। न गुणोंसे उस व्यक्तिकी जाति उससे भिन्न बड़ी हो जाती है, और न दोषोंसे उसकी भिन्न, निम्न जाति हो जाती है, इसलिए 'न्यायदर्शन'के 'सम्भवतोऽर्थस्य' (१।२।१३) सूत्रमें 'व्रात्योऽपि ब्राह्मणः' और 'मनुस्मृति में 'व्रात्यात्तु जायते विप्रात् (ब्राह्मणात्)' (१०।२१), 'राजन्याद् व्रात्यात्' (१०।२२) 'वैश्यात्तु जायते व्रात्यात्' (१०।२३) व्रात्य-ब्राह्मण, व्रात्य-क्षत्रिय, व्रात्य-वैश्य कहे गये हैं। व्रात्य उसे कहते हैं, जिसका उपनयन अपनी अवधिमें न हुआ हो, अतः विद्यादि-सद्गुण सञ्चित न किये होनेसे स्वकर्मपतित हो। इतना होने पर भी जब वे व्रात्य अपने-अपने वर्णवाले ही माने गये हैं, तब वर्ण-व्यवस्था तो जन्मसे ही सिद्ध होगई। हाँ, सम्मान गुण-कर्मसे रहा। उस व्रात्य-ब्राह्मणको यज्ञमें न बुलाया जायगा। इन शास्त्रीय-निर्देशों-से सिद्ध होता है कि वर्ण-व्यवस्था जन्मसे होती है, जन्म होनेसे ही जाति मानी जाती है और उस जातिमें गुण-दोष दोनोंका समावेश हो जाता है, तो जातिमें भी वे दोनों (गुणी एवं दोषी) बराबर होगये। हाँ, वे गुण-दोषसे बढ़िया-घटिया,

उत्तम-अधम सिद्ध होगये। उनको 'सुब्राह्मणः', 'कुब्राह्मणः' इसी-लिए कहा जाता है कि ब्राह्मण तो जाति है, वह कु-सु दोनोंमें बराबर रहती है, हाँ 'सु' से उसका जन-सम्मान होगा, 'कु' से उसका वह सम्मान नहीं रहेगा। इसलिए कहीं-कहीं शास्त्रोंमें 'जाति'की निन्दा आई है कि वह अच्छे-बुरेको बराबर कर दिया करती है, जैसे—'आहूतेषु विहंगमेषु मशको नायान् पुरो वार्यते··धिक् सामान्यमचेतसं प्रभुमिवाऽनामृष्टतत्त्वान्तरम्' (काव्यप्रकाश, दशम-उल्लासके अन्तमें) इस जातिकी निन्दासे ही सिद्ध हो जाता है कि चाहे उत्कृष्टगुण-कर्मा हो, चाहे निकृष्ट-गुण-कर्मा, वह अपनी ही ब्राह्मणादि-जातिवाला है, भिन्न-जाति वाला नहीं।

यदि कोई क्षत्रियादि उत्तम-विद्या पढ़कर ब्राह्मण बन गया, तो ब्राह्मणोंमें साधारण होगया, उसकी पूछ-ताछ भी न होगी। यदि वह उत्तम-विद्यावाला क्षत्रियादि अपने वर्णमें बना रहा, तो उसकी प्रशंसा होगी कि इसकी बहादुरी है। समय पर वीणा आदिका लोहा सोनेसे भी महंगा बिकता है, पर रहता वह लोहा ही है। यदि किसी क्षत्रियादि ने भी उत्तम-विद्या प्राप्त कर ली, तो उसके ब्राह्मण बननेका प्रश्न भी नहीं आता, क्योंकि ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यको आचार्यकुलमें विद्या तो बराबर ही पढ़नी है। तब विद्या आदिसे क्षत्रियादिकी ब्राह्मणता कैसे प्रसक्त हो सकती है? आशा है—पाठकोंने इसे सम्यक्-रूपसे समझ लिया होगा। सनातनधर्म तत्तद्-वर्णको अपने-अपने गुण-कर्मके

सञ्चयका निषेध नहीं करता, बल्कि वही तदर्थ प्रेरणा करता है और अपने-अपने वर्णोंके कर्मोंको न करनेवालोंकी परलोकमें दुर्दशा दिखलाता है। देखिये इसपर 'मनुस्मृति' (१२।७०-७१-७२)। इससे सिद्ध हो रहा है कि शास्त्रोंमें जो कि ब्राह्मणोंकी प्रशंसा वा उच्चता बतलाई है, वह जन्मसे ब्राह्मण-वर्णमें उत्पन्न होकर फिर विद्वत्ता आदि प्राप्त करके स्वस्वकर्ममें संलग्न होनेवालोंकी आई है, क्षत्रियादि-वर्णोंमें उत्पन्न होकर उत्तम गुण-कर्मोंसे वहाँ उनका ब्राह्मण हो जाना वा उससे उनकी प्रशंसा कहीं नहीं लिखी गई।

जो कि वादी शूद्र-शब्दकी व्युत्पत्तिसे अपना पक्ष सिद्ध करना चाहता है; 'वर्णव्यवस्थाका वैदिकरूप' (पृ० १०)में उसके प्रणेता वादिमान्य आर्यसमाजी लेखक-महाशयने 'शुचा द्रवति' आदि शूद्रवर्णकी व्युत्पत्तिको भी काटा है और कहा है—'यह व्युत्पत्ति व्यभिचारी भी है, क्योंकि इसकी व्याप्ति दूसरे वर्णोंमें भी हो जाती है, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य भी शोक-ग्रस्त होते हैं, बल्कि वह आजकलके शूद्रोंसे भी अधिक' (पृ० १३)। सो 'तपसे शूद्र'का भाव है—श्रमिक, श्रमशील। 'श्रमु तपसि खेदे च' इस धातुमें 'श्रम'का अर्थ 'तपः' लिखा है, सो श्रम और तपके एकार्थक होनेसे 'तपसे'का अर्थ है 'श्रमाय'। इसी कारण शूद्रको 'श्रमिक' कहते हैं। यहाँ तपस्याका कोई तात्पर्य नहीं। अतः वादीकी पक्षसिद्धि इससे-कुछ भी नहीं।

६ पू०—'उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रो

अजायत ॥' अर्थात् पर्वतोंकी उपत्यकाओं और नदियोंके सङ्गम इत्यादि स्थानों पर रहकर वेदाध्ययन और ध्यानाभ्यास आदि करके (धिया) बुद्धि और शुभ-कर्मसे मनुष्य ब्राह्मण बन जाता है। 'धी' के बुद्धि और कर्म ये दो अर्थ 'निघण्टु' में पाये जाते हैं। अतः इस वेदमन्त्रके आदेशानुसार शुद्ध पवित्र सूक्ष्मबुद्धि तथा वेदाध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, कराना इत्यादि शुभ कर्मोंसे कोई भी मनुष्य ब्राह्मण बन सकता है।

६ उ०—'उपह्वरे गिरीणाम् · · धिया विप्रो अजायत' (यजु० २६।१५) यह मन्त्र देकर 'धिया–बुद्धि और गुण-कर्मसे मनुष्य ब्राह्मण बन जाता है' यह अर्थ जो किया जाता है, वह भाष्यकारोंसे विरुद्ध है। 'विप्रः' का निघण्टुमें 'मेधावी' अर्थ आता है, ब्राह्मण नहीं। वेदके भाष्यकार सर्वत्र 'विप्रः'का मेधावी ही अर्थ करते हैं, 'ब्राह्मण' नहीं। यजुर्वेदके प्रकृत-मन्त्रमें यज्ञप्रकरणवश 'सोम'का अर्थ है, देवता भी सोम है। ऋ०सं० (८।६।२८) मन्त्रमें इन्द्र-देवता होनेसे 'इन्द्र'का अर्थ है। आर्यसमाज-प्रकाशित-यजुर्वेदमें भी इस मन्त्रका देवता 'विद्वान्' है, सो यहाँ 'विप्रः'का अर्थ विद्वान् है, 'ब्राह्मण' नहीं। यदि 'विप्र'का मनुस्मृति-प्रसिद्ध 'ब्राह्मण' अर्थ वेदमें माना जाय, तो 'अथर्ववेद'-के व्रात्यकाण्डमें भी 'व्रात्य'का मनुस्मृति-प्रसिद्ध मूर्ख-ब्राह्मण अर्थ करके, मूर्ख-ब्राह्मणका सत्कार करके जन्मसिद्ध-वर्णव्यवस्था मान लेनी चाहिए। यहाँ स्वतन्त्र अर्थ यह है कि पहाड़ोंके एकान्त-प्रदेशमें तथा गङ्गा-यमुना आदि नदियोंके सङ्गमक्षेत्रमें

रहनेसे प्राप्त हुई तीव्र-बुद्धिसे पुरुष विप्र-विद्यावान्-'विद्यया याति विप्रत्वं' अर्थात् विद्वान् हो जाता है। बुद्धि सभी वर्णोंके-लिए अनिवार्य होती है, केवल ब्राह्मणोंकेलिए नहीं, क्षत्रिय बुद्धिसे ही सेना-व्यूह-निर्माण, सेनासञ्चालन-कौशल करता है। वैश्य बुद्धिसे ही वाणिज्य करता है। शूद्रादि, शिल्पनिर्माण भी बुद्धिसे करते हैं। अतः यहाँ 'ब्राह्मण' अर्थ करना असङ्गत है।

अथवा-इसमें यह जानना चाहिये कि—'विद्यया याति विप्रत्वं' यह बात 'जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः'केलिए है क्योंकि-यह उसीका उत्तरार्ध है। देखिये अत्रिस्मृति (११८) जो वह जन्म-ब्राह्मण पर्वतादि एकान्तप्रदेश, तथा गङ्गा-यमुना आदिमें रहनेसे सुन्दर उक्त प्रदेशोंके माहात्म्यसे विद्या प्राप्त करके 'विप्र' पदका अधिकारी हो जाता है। सो यह 'विप्र' शब्द कभी अब्राह्मणके लिए नहीं आता; किन्तु ब्राह्मणकेलिए ही आता है; तब इससे गुण-कर्मणा वर्णव्यवस्थाकी कुछ भी सिद्धि नहीं; किन्तु जन्म-ब्राह्मणके अलङ्कारक गङ्गा-यमुना-सङ्गम आदि सूचित किये गये हैं।

७ पू०—ब्राह्मणादि-शब्द मूलमें जातिवाचक नहीं हैं, वे गुणवाचक हैं। महाभाष्यकार-पतञ्जलिने यह निर्णय दिया है कि 'त एते शब्दा गुणवाचकाः, न जातिवाचकाः।' 'ब्राह्मणादि शब्द जातिवाचक हैं' ऐसी कल्पना हमारी ऋषिकल्पनाको मान्य नहीं थी, इससे यह प्रतीत होता है। यद्यपि आजकल ब्राह्मणादि शब्द जातिवाचक हो चुके हैं, परन्तु वास्तवमें यह कल्पना

निराधार ही है।

७ उ०—यह कहना ही सर्वथा निराधार एवं भ्रामक है। महाभाष्यकारके आशय को विना समझे उसे विकृतरूप दे डाला गया है। 'महाभाष्य'का पाठ इस प्रकार है—'अथवा सर्वे एते शब्दा गुणसमुदायेषु वर्तन्ते—ब्राह्मणः, क्षत्रियो, वैश्यः, शूद्र इति 'तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मण्यकारकम्। तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः'। तथा गौरः, शुच्याचारः, पिङ्गलः, कपिलकेश इत्येतानप्यभ्यन्तरान् ब्राह्मण्ये कुर्वन्ति। समुदायेषु च वृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते। तद्यथा—'तैलं भुक्तं, घृतं भुक्तम्, शुक्लो नीलः।' एवमयं समुदाये प्रवृत्तो ब्राह्मणशब्दोऽवयवेष्वपि वर्तते-जातिहीने गुणहीने च। गुणहीने तावत्—'अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति।' जातिहीने सन्देहाद् दुरुपदेशाच्च ब्राह्मणशब्दो वर्तते।' यह पाठ २।२।६ में तथा ५।१।२।११५ में है। यहां 'त एते गुणवाचकाः शब्दा, न जातिवाचकाः' ऐसा पाठ कहीं भी नहीं है। 'न जातिवाचकाः' वह वादीके अपने शब्द हैं, 'महाभाष्य' के नहीं। भाव यह है कि 'महाभाष्य' ने ब्राह्मणादि में मुख्य ब्राह्मणको लेकर उसे गुणसमुदायवाचक माना है, उसमें भाष्यकारने 'जाति' को भी गुणमें शामिल किया है। भाष्यका यह तात्पर्य है कि तप, श्रुत (वेदाध्ययन) तथा योनि (ब्राह्मणसे ब्राह्मणी-पत्नीमें जन्म) यह ब्राह्मण वनानेवाले हैं। जिसमें तप और श्रुत नहीं, केवल योनि है, वह 'जातिब्राह्मण' है। इसमें वादी की कोई इष्टसिद्धि नहीं, क्योंकि भाष्यकारने तप और श्रुत

से हीनको भी 'जातिब्राह्मण' कह दिया। अन्यथा वह उसे शूद्र कहता। इनमें मुख्य योनि है, क्योंकि अब्राह्मणमें तप और श्रुत हो सकते हैं, पर योनि नहीं हो सकती। तब योनि (जन्म) ही गुणकर्म की आधारभित्ति बना, गुणकर्म उनके उत्कर्षाधायक हुए, इसलिए जिनके यह तीनों—तप, श्रुत, योनि—ठीक हों, उसे भाष्यकारने 'श्रेष्ठ-ब्राह्मण' कहा है—'त्रीणि यस्यावदातानि योनिर्विद्या च कर्म च। एतत् शिवे! विजानीहि ब्राह्मणाग्र्यस्य लक्षणम्।' इस प्रकार वर्णव्यवस्था भाष्यकारके मतमें भी जन्म से ही सिद्ध हुई, और लोकसम्मान गुणकर्मसे सिद्ध हुआ। तब वेदादिमें कहे हुए 'ब्राह्मणादि' शब्द जन्मजातिपरक ही सिद्ध हुए, गुण-कर्मपरक नहीं।

यह हमने दिङ्मात्र समाधान कर दिया है। पाठकोंने देख लिया होगा कि प्रतिपक्षियोंसे दिये जाते हुए एतदादिक स्थलोंमें कोई दम नहीं है। यह अर्थवाद हैं। अर्थवादमें यथाश्रुत-अर्थ नहीं होता। 'अपना वतन (देश) कश्मीर है' यह एक प्रसिद्ध कहावत है। इससे हमारा देश सचमुच कश्मीर नहीं बन जाता। नहीं तो मियां शेख अब्दुल्ला साहब हमारे देशको भी सचमुच अपना कश्मीर मानकर उसे उन दिनों अपने कश्मीरमें शामिल कर लेते, वैसे वादियोंसे दिये जाते हुए अन्य पद्योंमें भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिये।

८ पू.—'जन्मना जायते शूद्रः' यह वचन श्रीविद्यारण्यकृत 'शङ्करदिग्विजय' के सर्ग १५, पृ० ५३६ पर (आनन्दाश्रम, पूना

संस्करण) श्रीशङ्कराचार्यजीकी वैष्णवोंके प्रति निम्न-उक्तिके रूपमें पाया जाता है:—'जन्मना जायते शूद्रः कर्मणा जायते द्विजः'। अर्थात् जन्मसे मनुष्य शूद्र होता है, कर्मसे ही द्विज बनता है। अतः जो ब्राह्मणकुलोत्पन्न होकर भी अपने कर्मका परित्याग कर देते हैं, वे ब्राह्मण कहलानेके अधिकारी नहीं रहते''।

८ उ.—किसी समयमें 'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः'॥ इस पद्यको 'मनुस्मृति' का बतलाया जाता था, पर यह किसी भी स्मृतिके मूलमें नहीं मिलता। इससे गुण-कर्मणा वर्ण-व्यवस्था सिद्ध की जाती है कि 'सभी वर्ण जन्मसे ही शूद्र उत्पन्न होते हैं, फिर कर्मसे वा संस्कारसे वे द्विज कहे जाते हैं।' पर इससे जाने-अनजाने वर्ण जन्मना सिद्ध हो जाता है, क्योंकि यहां शूद्र-वर्णको जब जन्मसे मान लिया गया, तब कर्मणा वर्ण-व्यवस्था तो खण्डित हो गई, क्योंकि वे सेवा न करने पर भी, बल्कि अपनी सेवा कराने पर भी शूद्र बन गये। यह वर्णकी जन्म-सिद्धता ही तो सिद्ध हो गई; और फिर शूद्र को जब उपनयनादि-संस्कारोंकी प्राप्ति ही नहीं, (देखिए इस पर स्मृतियों एवं गृह्यसूत्रोंको), तब वह एकज द्विज कैसे बनेगा? आजके सुधारक स्वामी दयानन्दजीने भी उपनयनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तो लिये, पर शूद्रका नाम नहीं लिया। देखिए—'संस्कार-विधि' 'उपनयनप्रकरण' (पृ० ७८–७६)। बल्कि २३ वें पृष्ठ में स्वामीजी यज्ञकी अग्नि भी ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यके घरसे मंगाते

हैं, शूद्रके घरसे नहीं।

अतः प्रकृत-श्लोकका वास्तविक अर्थ यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—जिनको द्विजत्वका अधिकार है—'ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः त्रयो वर्णा द्विजातयः। चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रः, नास्ति तु पञ्चमः (वर्णः, चाण्डालादीनामवर्णाख्यानात्) (मनु० १०।४) संस्कार (उपनयन-कर्म) से द्विज हो जाते हैं, (जहां 'कर्मणा जायते द्विजः' पाठ है, वहाँ भी उपनयन-कर्म ही अर्थ है, क्योंकि द्विजत्व उपनयन-संस्कारसे ही होता है), संस्कार (उपनयन-कर्म)-से पूर्व एकज होनेसे वे जन्मसे शूद्रके समान होते हैं। यदि कहा जाय कि "यहां 'शूद्रवत्' तो पाठ है नहीं, तब 'शूद्रके समान' अर्थ कैसे ?" इस पर यह जानना चाहिए कि "अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते। तद् यथा—एष ब्रह्मदत्तः। अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह, तेन मन्यामहे—ब्रह्मदत्तवद् अयं भवति' (पातञ्जल-महाभाष्य १।१।२३), जो 'वह' न हो और उसको 'वह' कह दिया जाय, तो उसका भाव होता है—'उसके समान'। वहाँ पर 'वत्' प्रत्यय न होने पर भी 'वत्' का अर्थ लग जाता है। जैसे कि 'विद्याविहीनः पशुः' यहाँ 'पशु' का 'पशुरिव' अर्थ होता है, न कि 'पशु'। 'नर-पशु' क्या साक्षात् पशु हो जायगा ?

इसीलिए मनुजीने भी कहा है—'शूद्रेण हि समः तावद् यावद् वेदे न जायते' (२।१७२)। यही 'महाभारत' (अनुशासन-पर्व १८०।३५) एवं 'वसिष्ठस्मृति' (२।१२) तथा 'शङ्खस्मृति' (१।८) में भी कहा है। 'काठकगृह्यसूत्र' (४१।१) की व्याख्यामें

श्रीआदित्यशरणने भी कहा है—'प्रागपि उपनयनाद् ब्राह्मणोऽसौ शूद्रेण हि समः स्याद्' इत्ययमर्थवाद एव ब्रह्माभिव्याहारप्रतिषेधपरः'। इससे स्पष्ट है कि उपनयनके पूर्व ब्राह्मणादिको शूद्रके समान कहना भी जब अर्थवाद है, तब उन्हें 'शूद्र' कहना तो स्पष्ट अर्थवाद है।

सो 'जन्मना जायते शूद्रः' यह टीकाओंमें कहीं-कहीं मिला है, जैसे कि 'शङ्करदिग्विजय' की टीका तथा 'तत्त्वबोधिनी' टीकामें। वह भी पूर्वार्धमात्र, वह भी स्मृतियोंके मूलमें कहीं भी नहीं मिला। 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः' यह उत्तरार्ध किसी भी प्रकाशित-पुस्तकमें नहीं मिला। यदि कहीं हो भी, तो यह ब्रह्मज्ञानका प्रशंसार्थवाद है, इसमें वास्तविकता नहीं। नहीं तो उपनिषदोंमें वर्णित अश्वपति, प्रवहण जैवलि, जनक, अजातशत्रु, यम आदि क्षत्रिय, जो ब्रह्मज्ञाता थे, जिन्होंने ब्राह्मणोंको भी ब्रह्मविद्या पढ़ाई थी, वे भी 'ब्राह्मण' कहे जाते; और ब्रह्मविद्या न जाननेवाले ब्राह्मण भी 'ब्राह्मण' न कहे जाकर 'अब्राह्मण' कहे जाते, पर वे 'ब्रह्म-ज्ञाता' भी क्षत्रिय 'ब्राह्मण' न कहे जाकर क्षत्रिय ही कहे गये, और ब्रह्मविद्या न जाननेवाले भी नचिकेता, गार्ग्य, बालाकि आदि ब्राह्मण अब्राह्मण न कहे जाकर ब्राह्मण ही कहे गये, इसलिए स्पष्ट है कि 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः' यह कथन ब्रह्मज्ञानका प्रशंसार्थवाद है, औपचारिक है, वास्तविक नहीं, क्योंकि वह 'ब्राह्मोऽजातौ' (पा० ६।४।१७१) सूत्रसे सिद्ध नहीं होता, उस अर्थमें 'ब्राह्मः' बनता है, 'ब्राह्मणः'

नहीं।

सो जैसे ईशन-क्रियाके योगसे मनुष्यको भी 'ईश्वर' कह सकते हैं और किसी महात्माको भी महान् आत्मा होनेसे 'परमात्मा' कह सकते हैं, वस्तुतः यह बात शाब्दिक, वा लाक्षणिक, वा औपचारिक ही होती है, मनुष्य इह-लोकमें वास्तविक परमात्मा नहीं बन जाता, वैसे ब्रह्मज्ञाता-अब्राह्मणको भी ब्राह्मण कहना औपचारिक है, वास्तविक नहीं। अतः 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः' यह वचन ऐकदेशिक है, सार्वत्रिक नहीं। स्मृतिमें तो यह पाठ मिलता है—'जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च' (अत्रिस्मृति ११८)। यही पद्य 'त्रिभिः श्रोत्रियलक्षणम्' इस पाठभेदसे 'पद्मपुराण' सृष्टिखण्ड (४३।१३४) में भी आया है। यह श्लोक ब्राह्मणकेलिए आया है, इससे वर्णव्यवस्था भी जन्मसे हुई। यही पद्य 'स्कन्दपुराण' सह्याद्रिखण्डके उत्तरार्धमें भी ब्राह्मण-प्रकरणमें 'जन्मना जायते सोऽयं (ब्राह्मणः) संस्काराद् द्विज उच्यते। वेदाभ्यासाद् भवेद् विप्रः' (५।७१) इस पाठभेदसे आया है, तब इससे 'गुण-कर्मणा वर्णः' पक्षको कोई प्रश्रय प्राप्त नहीं।

६ पू०—'वर्ण' शब्द 'वृञ् वरणे' इस धातुसे बनता है, जिसका अर्थ 'व्रियते गुणकर्मस्वभावैरिति वर्णः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार यह है कि—गुण, कर्म, स्वभावके आधारपर जिसका वरण वा चुनाव किया जाय। 'वर्णो वृणोतेः' लिखकर निरुक्तकार-

श्रीयास्काचार्यने भी इसी भावका प्रतिपादन किया है।

६ उ०—'वर्ण' शब्द पर जो कि यह कहा जाता है, इस पर वक्तव्य यह है कि उक्त-निर्वचन श्रीयास्कने 'कल्याणवर्णरूपः' पर किया है। क्या यहाँ 'वर्ण' शब्द ब्राह्मणादिवाचक है? नहीं। यहाँ तो वर्ण 'रङ्ग'का नाम है, पुरुषोंका 'रङ्ग' तो जन्मसे ही होता है और फिर उसमें परिवर्तन भी नहीं होता, ब्राह्मणादि-वर्ण भी उसी रूपसे सिद्ध हो जानेसे वर्णव्यवस्था भी जन्मसे सिद्ध हुई। 'व्रियते'के आगे जो 'गुणकर्मस्वभावैः' लिखा जाता है, वह इस शब्दमें तो लिखा नहीं है; और न किसी प्राचीन-पुस्तकमें वैसा लिखा है, अतः निष्प्रमाण है। सो उस रङ्ग-अर्थके अनुरूप 'व्रियते जन्मना' इस निर्वचनमें कोई भी बाधा नहीं रहती। तब वादि-सम्मत वर्ण भी 'जन्मना' ही सिद्ध हुआ।

वस्तुतः 'वर्ण' शब्द 'उपनयन'की भांति पारिभाषिक है, यौगिक नहीं। यदि यौगिक हो, तो शूद्रत्वको भला कौन वरण करना चाहता है? वादीके मतमें दुष्टता एवं मूर्खता आदि ही शूद्रता है, उसका वरण भला किसको इष्ट हो सकता है? यदि किसीको वह इष्ट नहीं, तो 'शूद्र' वर्ण नहीं रहेगा, पर वर्ण माना जाता है, अतः यहाँ व्युत्पत्तिसे वह अव्याप्ति-लक्षण-दोषग्रस्त हुआ। यदि वादी अपनी कृत्रिम-कल्पनासे शूद्रको 'वर्ण' सिद्ध कर दे, तब उस कल्पनासे चाण्डालादि भी वर्ण मान लेने पड़ेंगे, पर वे तो शास्त्रानुसार अवर्ण होते हैं, तब 'वर्ण' शब्द पारिभाषिक है, यौगिक नहीं। वह जन्मसे ही उत्पन्न ब्राह्मणादि

चार जातियोंमें परिभाषित है। गुण-कर्मार्थक हो, तो 'वर्ण' शब्द वादियोंके अनुसार गुण-कर्मकी परीक्षाके अवसर पर २५ वर्षके बाद व्यवहृत होना चाहिए, पूर्व नहीं। पर जन्मसे ही वह व्यवहृत होता है। शुद्धि हो जानेपर ११वें दिन उस वर्णका चिन्ह 'शर्मा' आदि भी जोड़ दिया जाता है। फलतः 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'में तथा अन्य-प्रमाणोंमें भी वर्णव्यवस्था जन्मसे ही है, गुण-कर्मसे नहीं। गुण-कर्म उत्कर्षाधायक होते हैं, स्वरूपाधायक नहीं। वर्णका स्वरूपाधायक जन्म ही होता है; अतः वर्णव्यवस्था भी जन्मसे ही होती है।

१० पू०—'भागवत पुराण' (५।४।१३)में 'कर्मविशुद्धा ब्राह्मणा बभूवुः' यहाँपर ऋषभदेवकी पत्नीके ८१ पुत्रोंका ब्राह्मण होना लिखा है। इसी प्रकार 'वायुपुराण' अ० ६२, श्लोक ४५ तथा 'हरिवंशपुराण' ३२।२० आदिमें गृत्समदके पुत्र शुनकके कर्मकी विचित्रता वा विभिन्नताके कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र पुत्र होना कहा है, अतः वर्णव्यवस्था गुण-कर्मणा ही है—यह सिद्ध होगया।

१० उ०—जो पुराण-महाभारतादिसे गुण-कर्मणा वर्ण-परिवर्तनके उदाहरण दिये जाते हैं, वे अर्थवाद हैं। अर्थवादका तात्पर्य शब्दार्थमें न होकर तात्पर्यविशेषमें रहता है। सो वहाँ कर्मकी प्रशंसामें तात्पर्य है, 'जन्मना वर्ण'के खण्डनमें नहीं। कहीं 'कर्मणा ब्रह्मतां गतः' आ जाय, तो वहाँ 'ब्रह्मभावको प्राप्त हुआ, निष्काम कर्मसे मुक्त होगया, जीवन्मुक्त होगया' यह

तात्पर्य होता है। जैसे कि 'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' (मनु० २।२८) इस पर कुल्लूकभट्टने लिखा है—'ब्राह्मी-ब्रह्मप्राप्तियोग्या इयं तनुः—तन्ववच्छिन्न आत्मा क्रियते, कर्मसह-कृतब्रह्मज्ञानेन मोक्षावाप्तेः'। यहाँ 'ब्राह्मी'का अर्थ 'ब्रह्मप्राप्तियोग्य मुक्ति' है, ब्राह्मणता नहीं, जातिवाचकता होनेपर 'ब्राह्मोऽजातौ' (पा० ६।४।१७१) से 'टि' का लोप न होकर 'ब्राह्मणीयं तनुः' बनता। कहीं 'ब्रह्मर्षितां गतः' पाठ हो, तो वहाँ अर्थ होता है कि वह ब्रह्म-वेदका ऋषि—मन्त्रद्रष्टा होगया। 'ब्रह्मणः वेदस्य ऋषिः ब्रह्मर्षिः'।

कहीं 'ब्राह्मण' शब्द आ जाय, जैसेकि श्रीमद्भागवत-(५।४।१३) में; तो वहाँ 'ब्रह्म जानाति इति ब्राह्मणः' यह शाब्दिक, अथवा पारिभाषिक, वा औपचारिक अर्थ है, जिसे वादीगण भ्रमसे कहा करते हैं। 'परमात्मा'का शाब्दिक अर्थ 'महात्मा' है, तो 'महात्मा' कहे जाते हुए गाँधीजी क्या 'परमात्मा' मान लिये जायँगे? अथवा कोई उन्हें 'परमात्मा' भी कह दे, तो वहाँ शाब्दिक-परमात्मत्व होगा, वास्तविक नहीं। इस प्रकारका शाब्दिक-पौरुषेयत्व वेदोंमें भी होता है, पुरुष ('सहस्रशीर्षा पुरुषः'-परमात्मा) के वचन—पौरुषेय। पर व्यवहारमें वेद अपौरुषेय माने जाते हैं, पौरुषेय नहीं, क्योंकि पुरुष व्यवहारमें 'मनुष्य'का नाम होता है। वैसे यहाँ भी समझना चाहिए। व्यवहारमें 'ब्राह्मण' एक वर्ण है, पर वहाँ 'ब्राह्मण' एक पारिभाषिक-शब्द है। इसका एक उदाहरण देखें। जानश्रुतिकी उपनिषद्में क्षत्रिय

होनेपर भी 'शूद्र' कहा गया है, वह शाब्दिक है। 'वेदान्तदर्शन' (१।३।३४-३५)ने उसे स्पष्ट कर दिया है। पर क्या इससे उसको वास्तविक-शूद्रवर्णका मान लिया जायगा ? कभी नहीं। उसकेलिए वह शब्द औपचारिक ही रहेगा, वास्तविक नहीं। जैसेकि 'न्यायदर्शन'में कहा है—'प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देन अनुवादः, निन्दाप्रशंसोपपत्तेः' (४।१।६०) सो एतदादिस्थलोंमें निन्दा-प्रशंसा ही विवक्षित होती है, वास्तविकता नहीं। अतः वह शब्द भी वहां पर गौण ही माना जाता है।

तात्कर्म्यलक्षण-सम्बन्धसे 'ब्राह्मणः तक्षा' इस प्रकार अतक्षा-को भी 'तक्षा' कहा जाता है, इससे वह उस कर्ममें निपुण विवक्षित होता है, वास्तविक वह नहीं। कहीं 'ब्राह्मणः' का 'ब्राह्मणवत्' अर्थ भी होता है, जैसेकि 'अन्तरेणापि वतिमति-देशो गम्यते' यह महाभाष्यका वचन हम पहले उद्धृत कर चुके हैं; और 'सहचरणस्थान-तादर्थ्य-वृत्त पुरुषेषु अतद्भावेऽपि तदुपचारः' (२।२।६३) इस 'न्यायदर्शन' के सूत्रसे तथा 'चतुर्भिः प्रकारैः 'अतस्मिन् सः' इत्येतद् भवति, तात्स्थ्यात्, ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात्, तत्साहचर्यात्' (४।१।४८) इस महाभाष्यके वचनसे तच्छब्दतासे किसीको वह न होने पर भी 'वह' कहना औपचारिक वा लाक्षणिक ही होता है। इसीलिए कहा जाता है—'तात्स्थ्यात्, तथैव ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात् तथैव च। तत्साहचर्यात् तादर्थ्यात् ज्ञेया वै लक्षणा बुधैः ॥' इसके उदाहरण हैं—'शय्या हसति, सिंहो माणवकः, वटे गावः, शस्त्राणि प्रवेशय, पार्थिवार्थो मृत्पिण्डः पार्थिवः' इत्यादि, सो वहां औपचारिकता ही हो जाती है, वास्तविकता नहीं। कहीं एक (ब्राह्मण)के जहां चार वर्णके लड़के बताये गये हों; उसमें कारण उसकी शास्त्रीय-अभ्यनुज्ञाके अनुसार चारों-वर्णोंकी स्त्रियाँ होनेसे योनिप्राधान्यके पक्षमें उन-उन वर्णोंकी स्त्रियोंके सन्तानोंको भी उन-उनके वर्णसे कहना है। इस विषयमें स्पष्टता तथा शेष प्रमाणोंके उत्तर 'आलोक'के ४ र्थ पुष्पमें देखने चाहिये। अन्य दिये जाते हुए प्रमाणोंका उत्तर सप्तम-पुष्पमें होगा। अतः वर्ण-व्यवस्था जन्मसे ही सिद्ध है, गुण-कर्मसे नहीं, यह सम्यक् सिद्ध होगया।

---

(२०) ब्राह्मणोस्य मुखमासीत् (च)

(क्या वेदमें ब्राह्मणादि वर्ण नहीं ?)

१ पूर्वपक्ष—'वेद चातुर्वर्ण्यका प्रतिपादन नहीं करता। वेदमें किसी जगह भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके साथ 'वर्ण' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। वेद केवल आर्य और दास को ही वर्ण कहता है—'यो दासं वर्णमधरं गुहाऽकः' (ऋ. २।१२।४), 'हत्वी दस्यून् प्र-आर्यं वर्णमावत्' (ऋ. ३।३४।९) जैसे इन मन्त्रोंमें दास-वर्ण और आर्य-वर्ण लिखा है, वैसे वेदमें किसी जगह भी ब्राह्मणवर्ण, क्षत्रियवर्ण और वैश्यवर्ण लिखा नहीं मिलता। वह स्वयं ही वर्णों की संख्या दो बतलाता है—आर्य और दास। वह कहता है—'उभौ वर्णौ ऋषिरुग्रः पुपोष' (ऋ. १।१७९।६)। जिस प्रकार इस मन्त्रमें 'दो वर्ण' साफ लिखा है, वैसे 'चार वर्ण'

कहीं लिखा नहीं मिलता' ('हिन्दु समाज और जातिभेद'का 'वेद और चातुर्वर्ण्य' अंश (श्रीमहारावल रजतजयन्ती अभिनन्दन-ग्रन्थ पृ. ५७१-५७२ में श्रीसन्तरामजी बी. ए.)।

१ उत्तरपक्ष—प्रतिपक्षीने द्विजोंके नामके साथ 'वर्ण' शब्द वेदमें नहीं माना, पर शूद्रकेलिए कुछ नहीं लिखा, अतः उसके अनुसार शूद्र तो वर्ण हो ही गया। वेदमें जब उसके अनुसार 'दास' को वर्ण कहा गया है—'यो दासं वर्णमधरं' (२।१२।४) और उस दासको अधर (निम्नवर्ण) कहा गया है और 'दास' शूद्रका नाम है, जैसे कि मनुस्मृति आदिने कहा है—'शूद्रस्य प्रेष्य (दास)-संयुतम्' (२।३२), 'दासः शूद्रस्य कारयेत्' (यम), 'गुप्त-दासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः' (विष्णुपुराण), 'दास्यं शूद्रे द्विजन्मनाम्' (मनु. ८।४१०), 'शूद्रं तु कारयेद् दास्यं··· दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयम्भुवा' (मनु. ८।१४३), 'प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत्' (महा. शान्ति. ६०।२८) तो 'वेद ब्राह्मणादिके साथ वर्ण शब्द नहीं लगाता' यह बात तो कट ही गई। ब्राह्मणादिमें शूद्र भी परिगणित होता ही है। जब इनमें अन्तिम शूद्रको 'वर्ण'-शब्दवाच्य वेदमें कहा गया है, तब आदिम तीन ब्राह्मणादि तो वर्ण वेदके मतमें स्वतः हो ही गये।

शेष रहा कि 'शेष तीनके साथ वेद 'वर्ण' शब्द नहीं लगाता' यह भी ठीक नहीं। जबकि प्रतिपक्षीके दिये हुए 'हत्वी दस्यून् प्र-आर्यं वर्णमावत्' इस मन्त्रमें दास, जो आर्योंसे भिन्न है, उसका हनन (निम्नकोटिमें रखना) और आर्य-वर्णकी रक्षा कही गई है, तब इसमें भी वादीका निराकरण ही सिद्ध है। आर्य यह 'छान्दोग्य-उपनिषद्' (५।१०।७) के अनुसार रमणीया-योनि होनेसे त्रैवर्णिकका नाम है, जैसेकि वेदमें इसका सङ्केत है—'तिस्रः प्रजा आर्याः' (ऋ० ७।३३।७)। धर्मसूत्रोंमें तो त्रैवर्णिकोंका आर्यत्व और शूद्रोंका अनार्य (दास)-त्व स्पष्ट है। जैसेकि 'आर्याय वा पर्यवदध्यात्, अन्तर्धिने वा शूद्राय' (आपस्तम्बधर्मसूत्र १।३। ४०-४१) यहाँ आर्यको शूद्रके मुकाबलेमें रखा गया है। सो यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यका नाम हुआ। इसी कारण यहाँ श्रीहरदत्तमिश्रने लिखा है—'आर्यः—त्रैवर्णिकः।'

जब ऐसा है और वेदमें 'आर्य' के साथ 'वर्ण' शब्द है, और आर्य ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य यह तीन हैं, जैसेकि वेदमें कहा गया है—'यश्च शूद्र उत आर्यः' (अथर्ववेद ४।२०।४), तब यह तीन भी वेदानुसार 'वर्ण' हुए और शूद्र भी वर्ण हुआ। तब वेदमें इनकी वर्णता हटानेकी चेष्टा विफल हुई। वेदमें चातुर्वर्ण्य सिद्ध हो ही गये; तभी यजुर्वेद-ब्राह्मणभाग (शतपथ) में कहा है—'चत्वारो वै वर्णा ब्राह्मणो, राजन्यो, वैश्यः, शूद्रः' (५।५।४।६)। वादिगण-मान्य वज्रसूचिकोपनिषद्में भी कहा है—'ब्रह्म-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रा इति चत्वारो वर्णाः। तेषां वर्णानां ब्राह्मण एव प्रधानः'। इस प्रकार पाणिनीय-व्याकरणमें भी 'वर्णानामानुपूर्व्येण' वार्तिकका उदाहरण 'ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः' दिया गया है। 'उभौ वर्णौ' वाले मन्त्रमें 'वर्ण'का भाव आकार है, जैसा कि सायणभाष्यमें स्पष्ट है। यह जातिवाचक 'वर्ण' शब्द वहां इष्ट नहीं। अथवा

मान भी लिया जाय कि यहां जातिवाचक है, और दो ही वर्ण हैं, तो आर्य (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) और दास (शूद्र) इन दो वर्णोंका पोषण बतलानेसे वेदमें चातुर्वर्ण्य सिद्ध हो गये।

सभी धर्मशास्त्रकार, पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि आदि सूत्रकार तथा स्वामी दयानन्द आदि सुधारक भी ब्राह्मणादिको चातुर्वर्ण्यके नामसे स्मरण करते हैं तथा जाति-शब्दसे भी। तब जात-पांत वेदमें भी टूटी नहीं, किन्तु स्थिर रह गई।

२ पू०—"प्रश्न होता है कि 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्...पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इस मन्त्रके रहते आप कैसे कहते हैं कि वेदमें चातुर्वर्ण्य नहीं? इसका उत्तर यह है कि वेदका पुरुषसूक्त, जिसका यह मन्त्र है, उसमें कहीं 'वर्ण' शब्द है ही नहीं। इस सूक्तमें मनुष्य-समाजका वर्णन ही नहीं—यह उसका विषय नहीं। श्रुतिके सामने आर्य-जाति या हिन्दुधर्म माननेवालोंका प्रश्न ही नहीं।"

२ उ.—यदि वेदमें ब्राह्मणादिके साथ 'वर्ण' शब्द नहीं है, तो इससे हमारी हानि क्या है, यह नहीं बतलाया गया। यदि यह (ब्राह्मणादि) वेदानुसार 'वर्ण' नहीं हैं, वा जाति भी नहीं हैं, तो यह वेदानुसार क्या हैं—यह प्रतिपक्षीने नहीं बतलाया। यदि प्रतिपक्षीने शूद्रको वर्ण और छान्दोग्यानुसार कपूय (कुत्सित)-योनि मान लिया और 'ब्राह्मणोस्य' इस मन्त्रमें उसे भी अन्तमें रखकर निम्नकोटिमें मान लिया गया, तो शेष ब्राह्मणादि भी आर्य-वर्ण (रमणीय-योनि) होनेसे इसी मन्त्रमें चातुर्वर्ण्य सिद्ध

हो गये, तब पूर्व-मन्त्रोंमें ब्राह्मणादिकेलिए 'वर्ण' शब्द आ जानेसे यहाँ फिरसे उन ब्राह्मणादिकेलिए 'वर्ण' शब्द लिखनेकी आवश्यकता नहीं थी।

जब यह सृष्टिका सूक्त है, सुधारकोंके दादागुरु स्वा.द. भी ऋभाभू.में इस सूक्तमें-सृष्ट्युत्पत्तिविषय मानते हैं; तब इस सूक्तमें चातुर्वर्ण्योंकी सृष्टि क्यों न बतलाई जाय? जब पुरुषसूक्तमें पशुओंकी सृष्टि भी आती है, देवताओंकी भी, तब मनुष्य-समाजके ब्राह्मणादि-वर्णोंकी भी सृष्टि क्यों न आवे? क्यों इस सूक्तका यह विषय नहीं? यदि श्रुतिके सामने आर्यजातिका प्रश्न न होता, तो क्यों श्रुति 'हत्वी दस्यून् प्र-आर्यं वर्णमावत्' यहां आर्य-वर्ण (त्रैवर्णिक) ही रक्षा बतलाती? अतः प्रतिपक्षीका पक्ष अपने ही दिये मन्त्रसे छिन्न हो गया है। 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः' इस न्यायसे भारतवर्ष भूमण्डलका केन्द्र है, हृदय है उसी भूमण्डलके केन्द्र-भारतवर्षके धर्मग्रन्थ वेदमें चातुर्वर्ण्योंका वर्णन हो जानेसे शेष देशी अन्त्यज आदि तथा विदेशी जातियां 'दस्यु' शब्दसे गृहीत हो जाती हैं, पर सृष्टिके आदिमें चातुर्वर्ण्यकी रचना होनेसे इन चतुर्वर्णोंके सङ्करसे बनी हुई पाश्चात्य-जातियोंका वर्णन वेदके सृष्टिप्रतिपादक इस मन्त्रमें मुख्यतया कैसे आता? हाँ, यजुर्वेदके ३०वें अध्यायमें दिङ्मात्र सङ्कर-जातियों का भी संकेत आ ही गया है; क्योंकि वहां आदि-सृष्टिका निरूपण नहीं। अतः कोई दोष भी नहीं।

३ पू०—"यदि इस मन्त्रका कार्यक्षेत्र हिन्दु-समाज तक ही

सीमित माना जाय, तो श्रुति पर बहुत बड़ा दोष आयेगा। इस पुरुषसूक्तका पहला मन्त्र कहता है कि विराट् सहस्र शिरों, आंखों, पैरोंवाला पुरुष है तथा जड़-चेतन उसके भीतर हैं। सभी प्राणियोंके शरीर भी उसके अङ्ग हैं। ऐसी दशामें वेद केवल हिन्दुओंका ही उल्लेख कैसे कर सकता है?"

३ उ०—इसका उत्तर पहले दिया ही जा चुका है कि पहले इस सूक्तमें पशु आदि की उत्पत्ति बतला दी गई, पीछे देवताओं-की। अब इस मन्त्रमें मनुष्यसमाज की आदिम हिन्दुजातिके चार प्रमुख-वर्णों की उत्पत्ति बतला दी गई। शेष अवर्ण—अनार्य जातियां—इन्हीं की सङ्कर होनेसे तथा सृष्ट्यादिमें उत्पन्न न होनेसे उनका प्रमुख वर्णन कैसे आता? अतः सृष्ट्यादिजात-हिन्दुजातिके उक्त मन्त्रमें वर्णन आनेसे कोई दोष नहीं पड़ता। शेष अहिन्दुजातीय-व्यक्ति वर्ण न होने एवं पाश्चात्य-जाति होनेसे इस वर्णव्यवस्थावाले मन्त्रमें तो गृहीत नहीं हो सकते थे। पर वे भिन्न-मन्त्रमें प्रोक्त 'दस्यु' शब्दसे परिगणित हो जाते हैं।

पुरुषसूक्तके आदिम-मन्त्रमें पुरुषरूप परमात्माका वर्णन है, न कि विराट् का। विराट्की तो उससे पृथक् मन्त्रमें उत्पत्ति बतलाई है—'ततो विराडजायत' (३१।५)। हां, विराट्में वही आदिपुरुष जीवरूप बना था।

४ पू०—'विराट्का सिर, भुजा, पेट और पैर तो भारतके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रोंने बांट लिये, तो दुनियाके दूसरे

देशोंके लोग कहां जायेंगे, उनके लिये क्या कोई दूसरा विराट्-पुरुष लाना पड़ेगा?'

४ उ०—बांट नहीं लिये, किन्तु उन अङ्गोंसे ब्राह्मणादि उत्पन्न हुए। इसी भारतके पूर्ण होनेसे आदिसृष्टि भी यहीं (भारतमें) हुई, अतः वर्ण-व्यवस्था भी यहीं स्थिर हुई। जो उनसे उत्पन्न हुए, उनकी वंशपरम्परामें भी वर्णव्यवस्था रही। जिनमें वर्णव्यवस्था नहीं, वे विदेशी-जातियां इन्हीं वर्णोंकी कामुकतादिवश सङ्करतासे उत्पन्न हुईं, अतः उनमें शुद्ध वर्ण-व्यवस्था न होनेसे वे अवर्ण वा वर्णसङ्कर कहलाये। यहांके अन्त्यज भी अवर्ण हैं, वे चातुर्वर्ण्यों की उत्पत्तिसङ्करता वा कर्मसङ्करतासे उत्पन्न अर्वाचीन जातियां हैं, अतः उनका वर्ण-व्यवस्थासे सम्बन्ध न होनेसे वे भी अवर्ण होती हैं। क्या पुरुषके मुखादि यही चार अङ्ग होते हैं? इनसे भिन्न अपानादि सङ्कीर्ण अङ्ग क्या नहीं होते, जो कि अन्य विराट्-पुरुष लाना पड़े?

वेदके पुरुषसूक्तका उक्त-मन्त्र यहां शुद्ध-वर्णोंका वर्णन भगवान्के असङ्कीर्ण (शुद्ध) अङ्गोंसे बतला चुका है। पुरुषके शेष अपान आदि अङ्ग सङ्कीर्ण तथा शोधन करने पर भी अस्पृश्य होनेसे उनका यहां प्रमुखतासे वर्णन नहीं किया गया है, पर उनसे उत्पत्ति आदि भी स्वयं जानी जा सकती है। उन्हें असङ्कीर्ण अङ्गोंसे उत्पत्ति न होनेसे 'वर्ण' शब्दसे नहीं कहा जाता। उन अवर्णों की इसी कारण निम्नता अथवा अस्पृश्यता मानी जाती है, पर

अब जाति-पांति तोड़नेमें वा अवर्णतामें लोगोंको महत्त्व प्रतीत होता है। यही कलियुगकेलिए कहा गया है—'नीचा महत्त्वं गताः'।

५ पू०—'इसमें एक कठिनाई और भी है। जब इसके पहले मन्त्रमें कहा गया है कि सभी प्राणियोंके शिर विराट्के शिर हैं, सबके हाथ उसके हाथ हैं, सबके पैर उसके पैर हैं, तब ब्राह्मण विराट्के किस मुँहसे निकला? यदि वह सभी मुखोंसे निकला, तो उसमें क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल, म्लेच्छ, हाथी, घोड़ा, गधा, चिऊँटी, प्लेगके कीड़े सभीके गुणावगुण आ गये होंगे। यही बात शेष तीनों वर्णोंमें भी पाई जाएगी। फिर कौन किससे श्रेष्ठ रह जाएगा?'

५ उ०—यह प्रतिपक्षीका किया अर्थ गलत है। यह अर्थ उसने स्वा.द.के भाष्यसे लिया मालूम होता है, अतः यह दोष भी उसका हमारे पक्षमें व्यर्थ है। सब प्राणियोंके शिर उसके शिर नहीं, किन्तु वह स्वयं हजारों शिरों, बाहु, ऊरु पैरवाला अलौकिक पुरुष है। उसीसे सृष्टि हुई। वह सृष्टिसे नहीं बना। संहितासे पद बने, पदोंसे संहिता नहीं। समुद्रसे तरंगें बनीं, तरङ्गोंसे समुद्र नहीं बना। अतः प्रतिपक्षीसे कहा हुआ दोष भी न रहा। ब्राह्मण विराट्के मुखोंसे नहीं निकले, किन्तु अलौकिक-पुरुषके मुखसे निकले। यदि उसके मुख सहस्र हैं, बहुत हैं, तो ब्राह्मण भी तो एक नहीं निकला, किन्तु अनेक ब्राह्मण-ब्राह्मणी निकले, जैसे कि वेदके भाष्यभूत-पुराणादिमें स्पष्ट है। इसमें

क्या दोष रह सकता है?

शेष ब्राह्मणमें क्षत्रिय, वैश्य आदिके गुण भी तथा प्रतिपक्षीके अनुसार दोष भी रहें, तो इसमें भी हमारे पक्षकी हानि कुछ नहीं। दोष होने पर भी वा क्षत्रियादिके गुण होने पर भी वह ब्राह्मण ही रहता है; और पादादि-अङ्गोंसे उत्पन्न शूद्रादिसे श्रेष्ठ रहता है। मुख में लार, कफ आदि होने पर भी वह मुख ही रहता है; और उत्तमाङ्ग ही माना जाता है। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था भी गुण-कर्म से न होकर जन्मना ही रहेगी। वस्तुतः इस अर्थसे अपनी जान छुड़ानेकेलिए ही सुधारकों-द्वारा इस पर घृणित-आक्षेप किये जाते हैं, परन्तु उससे प्रतिपक्षियोंकी इष्ट-सिद्धि कभी नहीं हो सकती। इस मन्त्रके स्वाभाविक-अर्थको कोई बदल नहीं सकता।

६ पू०—यह ठीक है कि मनुष्यसमाजको कहीं दो भागोंमें, कहीं चारमें, कहीं पाँच (पञ्चजनाः) में, कहीं छः में (जैसे 'यथेमां वाचं'में) और कहीं बीसियों जातियोंमें बाँटा मिलता है, पर इन विभागोंको वेद वर्ण नहीं कहता।"

६ उ०—जब दो भाग हुए, तब आर्य (ब्रा० क्ष०, वै०) और दास (शूद्र) में चार वर्ण आ जाते हैं। जब चार भाग हुए, तब स्पष्ट चार-वर्ण सिद्ध हो ही गये। जब पाँच हैं, तब चार वर्ण और पाँचवीं अवर्ण (निषाद-अन्त्यजादि) जातियाँ (यह निरुक्तादिमें प्रसिद्ध है) मानी जाती हैं। 'यथेमां'में ६ जातियाँ नहीं हैं, किन्तु चार ही हैं। वहाँ 'स्व' और 'अरण' अपने और

परायेका नाम है, जातियोंका नाम नहीं। हाँ, स्वामी दयानन्दजी-ने यहाँ 'अरण'से 'अन्त्यज' अर्थ लिया है, तो पाँच जातियाँ हुईं। इनमें ब्राह्मणादिको 'वर्ण' वेदानुसार भी कहा है, यह हम प्रतिपक्षीके दिये हुए ही मन्त्रोंसे सिद्ध कर चुके हैं। जो कि यजुर्वेदके ३०वें अध्यायमें बीसों जातियाँ हैं, तो वहाँ भी यही चार वर्ण, शेष पञ्चम अवर्ण (निषाद, अन्त्यजादि) जातियाँ मानी जाती हैं। इस प्रकार प्रतिपक्षीका यह परिश्रम भी असफल ही रहा है।

७ पू०—"इतना ही नहीं, महाभारत और पुराणादि ग्रन्थ पुकार-पुकार कर कह रहे हैं कि पहले कोई वर्णभेद न था, यह पीछेसे स्मृतिकारोंने बनाया है (?)। 'वायुपुराण' कहता है—'वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदासन् न सङ्करः' (सत्ययुगमें वर्णव्य-वस्था न थी), 'एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर !' (महाभारत) (इस जगत्में पहले एक ही वर्ण था)। श्रीमद्भाग-वतमें कहा है—'एकोऽग्निर्वर्ण एव च' (६।१४।४८) एक ही वर्ण था।"

७ उ०—पुराणके इस प्रमाणको देनेवालोंसे प्रष्टव्य है कि पहले वेद थे वा पुराण ? और इन दोनोंमें कौन अधिक प्रमाण है ? यदि वेद, तो वेदने उनके अनुसार स्थूलरूपसे दो वर्ण, वस्तुतः चार वर्ण बतला दिये, दो वा चार विभाग यह वेदोक्त वर्णभेद नहीं, तो क्या है ? तब 'श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यदि दृश्यते। तत्र श्रौतं प्रमाणं तु द्वयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा' (१।४) इस

'व्यासस्मृति'के अनुसार वेदकी प्रतियोगितामें पुराणवचन माननीय नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि "पुराण वेदसे पहले थे, जैसाकि पुराणोंमें प्रसिद्ध है कि सृष्टिका चिन्तन करते हुए पहले ब्रह्माजीसे पुराण बने, यह उनकी अपनी रचना थी, पीछे उनके मुखसे आनुपूर्वी-विशिष्ट अपौरुषेय वेद स्वतः ही निकले—'पुराणमेक-मेवासीत् पुरा कल्पान्तरेऽनघ !' (मत्स्य पु० ५३।५), 'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्त-स्य विनिर्गताः ॥" (पद्मपु० सृष्टि० १०४ अ०)। इसी कारण वेदोंमें भी पुराणका नाम आता है, अतः पुराणोंकी प्रमाणता होनेसे उसमें वर्णभेद न बतलानेसे स्पष्ट है कि पहले वर्णभेद नहीं था।" इस आशङ्का पर जानना चाहिये कि 'वायुपुराण'में उक्त वचन सत्ययुगकेलिए आया है कि तब वर्णाश्रम-व्यवस्था न थी। व्यवस्थाका भाव यह है कि उस समय वर्णों एवं आश्रमों पर नियन्त्रण नहीं था, क्योंकि सब अपने-अपने वर्णों एवं आश्रमोंमें संलग्न थे, एक-दूसरे वर्ण वा आश्रमके कर्मोंकी सङ्करता नहीं थी। नियन्त्रण वा कण्ट्रोल की आवश्यकता तब पड़ती है, जबकि वर्णों वा आश्रमोंमें एक-दूसरेके कर्म या वृत्ति-की छीना-झपटी हो। कृतयुगमें वह छीना-झपटी न थी, अतः उस समय व्यवस्था-नियन्त्रण भी नहीं था। यदि उस समय ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि आश्रम नहीं थे, तो सन्तान कैसे उत्पन्न होती थी ? अमैथुनसे तो प्रतिपक्षी प्रकृति-नियमविरुद्धतावश

उत्पत्ति मान नहीं सकता। वस्तुतः व्यवस्थाएँ भी प्रकृतिनियमानुवर्तनके समय मैथुनयोनितामें ही चलती हैं, अतः यहाँ भी आश्रम-व्यवस्थाका अभाव सिद्ध है, आश्रमोंका अभाव नहीं। उस समय कोई संन्यासी आजकलकी भांति गृहस्थी नहीं वन जाता था, अतः उस समय वर्णसङ्करकी तरह आश्रमसङ्कर भी नहीं था—यह यहाँ तात्पर्य इष्ट है, वर्ण वा आश्रमका यहाँ अभाव इष्ट नहीं। वहाँ यह भी कहा है कि 'अप्रवृत्तिः कृतयुगे कर्मणोः शुभपापयोः' तब क्या वहाँ पाप तो न सही, क्या पुण्य (शुभ) भी नहीं होता था ?

फलतः 'न सङ्करः' कहनेसे ही उस समय वर्ण-आश्रम थे—यह स्पष्ट हो रहा है। वर्ण न होनेसे तो सङ्करताकी प्रसक्ति नहीं हो सकती थी, तब सङ्करताका निषेध करना 'अभित्ति-चित्र' होता। अतः यहाँ यह बतलाया गया है कि कृतयुगमें शुभ-पापकर्मोंका सङ्कर, ब्राह्मणादि-वर्णोंका सङ्कर तथा ब्रह्मचर्यादि आश्रमोंका सङ्कर नहीं होता था, अतः वहाँ व्यवस्थात्मक नियन्त्रण भी नहीं था। इसमें वर्णोंका अभाव सिद्ध नहीं। 'महाभारत'के पद्यमें जो एकवर्णता कही है, किन्तु प्रतिपक्षी तो ब्राह्मणको वर्ण ही नहीं मानता, तथा उस समय वर्ण भी नहीं मानता, तब एकवर्णता भी कैसी ? वस्तुतः 'महाभारत'में भी चारों वर्णोंकी उत्पत्ति बतलाई गई है—'ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम ! । ये चान्ये भूतसङ्घानां वर्णास्तांश्चापि निर्ममे' (शान्तिपर्व १८८।४) पर ब्राह्मणोंकी मुख्यतावश 'प्रधानेन हि

व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे उसमें उसीको लक्ष्य करके एक-वर्णता कही गयी है। फिर उनके भिन्न-भिन्न कर्म होते गये, तो दूसरे जन्मों में तदनुसार चार वर्णोंकी प्रतिष्ठा होगयी। अथवा वर्ण जातिका नाम भी हो सकता है, जैसे कि 'हीना हीनान् प्रसूयन्ते वर्णान् पञ्चदशैव तु' (मनुस्मृति १०।३१) यहाँ १५ वर्णोंसे १५ जातियाँ इष्ट हैं, वर्ण चार होते हैं, पन्द्रह नहीं। प्रतिपक्षी भी आर्यजातिको वेदमें 'वर्ण' पदवाच्य मानता है तो इसका यह भी भाव हो सकता है कि उस समय 'एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर !' आर्य-वर्ण, आर्य-जातिके अतिरिक्त सारे विश्वभरमें कोई भी भिन्न जाति नहीं थी। सो आर्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य प्रधानतासे लिये जाते हैं—'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति'। सो शूद्रों तथा अन्त्यजादिकी निम्नतावश नगण्य होनेसे उनकी गणना नहीं की गई। अथवा इस आर्य-जातिके निम्नकर्म करनेसे वे (शूद्र) अन्य-जन्मोंमें हुए; तभी पूरे चातुर्वर्ण्यकी प्रतिष्ठा हुई। प्रतिपक्षी पुराणोंको पहले मानता है वा स्मृतियोंको ? यदि स्मृतियोंको, तो उसने पुराणोंसे पहले ही वर्णभेद कैसे बतलाया ? मानना पड़ेगा कि स्मृतियोंने वह वेदानुसार ही कहा—'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' (रघुवंश २।२), वह वेदका आशय हम पूर्व बतला ही चुके हैं। प्रतिपक्षी भी वेदमें दो वर्ण मानकर वर्णभेद वेदसम्मत बतलाता ही है। शेष रहे पुराण, उनमें भी तो वर्णभेद है, और स्पष्ट है। 'वायु-पुराण' तथा 'महाभारत'के वचनोंका हम वास्तविक आशय

बतला ही चुके हैं, अतः प्रतिपक्षीका यह उद्यम निष्फल ही रहा।

८ पू०—'भविष्यपुराण'के ब्रह्मपर्व ४२ अध्यायमें लिखा है—'यदि एक पिताके चार पुत्र हैं, तो चारों की एक ही जाति होनी चाहिये।' इस प्रकार सब लोगोंका पिता एक परमेश्वर है। इसलिए मनुष्य-समाजमें जातिभेद है ही नहीं—'तस्मान्न गोऽश्ववत् किञ्चिज्जातिभेदोस्ति देहिनाम्। कार्यभेदनिमित्तेन संकेतः कृत्रिमः कृतः' (मनुष्योंमें घोड़े-गाय जैसा जातिभेद है-ही नहीं, वर्णभेद बनावटी है)।"

८ उ०—'भविष्यपुराण'के ४०-४१-४२-४३-४४. अध्यायोंमें वर्णव्यवस्थासम्बन्धी पूर्वपक्ष है, पूर्वपक्षके पद्योंसे सिद्धान्त कभी नहीं बनता। वहीं ४५वें अध्यायके २-३ पद्योंमें सिद्धान्त बतलाया गया है कि जन्म और कर्मके समुच्चयसे वर्णव्यवस्था हुआ करती है—'पुनर्वच्मि निबोधध्वं समासान्न तु विस्तरात्। संसिद्धिं यान्ति मनुजा जाति (जन्म) कर्मसमुच्चयात्' (१।४५।२), 'सिद्धिं गच्छेद् यथा कार्यं दैवकर्मसमुच्चयात्। एवं संसिद्धिमाप्नोति पुरुषो जाति-कर्मणोः' (४५।३)। एक पिताके चार पुत्रोंमें जाति भले ही एक हो, क्योंकि वह जन्मसे होती है, गुणकर्मसे नहीं, पर यह बात परमात्माके विषयमें विषम है। केवल परमात्मासे चारों वर्णों की उत्पत्ति नहीं बतलाई गई, किन्तु उनके मुख, बाहु, ऊरु, पाद आदि भिन्न-भिन्न अङ्गोंसे; इसलिए उनके नाम भी 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' (यजु० ३१।११), ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—यह भिन्न-भिन्न हैं। अतः वर्णभेद वा जातिभेद भी

स्वतःसिद्ध है।

कहा जाता है कि 'एकसे उत्पन्न हुए पुत्रोंका वर्ण समान माना जाता है।' इस पर जानना चाहिए कि यदि किसी ब्राह्मण-की ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या, शूद्रा यह चारों वर्णोंकी स्त्रियां हों; तो उनसे उत्पन्न चार लड़कों को योनि-प्रधानताके पक्षमें भिन्न-भिन्न चार वर्ण वाला ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कहा जाता है; ब्राह्मण-श्रीव्यास द्वारा क्षत्रियासे उत्पन्न धृतराष्ट्र-पाण्डुको क्षत्रिय और शूद्रा-दासीसे उत्पन्न विदुरको योनिकी प्रधानता मानकर शूद्र कहा जाता है, वैसे ही भगवान्के मुख, बाहु, ऊरु, पांव भी स्त्रीस्थानीय सूचित किये गये हैं, क्योंकि भगवान्में स्त्री-शक्ति भी साथ है, जैसे कि इसका संकेत 'मनुस्मृति' में भी है—'द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्। अर्द्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः' (१।३२)। इसके अतिरिक्त प्रसव भी पुरुषसे नहीं होता, किन्तु स्त्रीसे होता है, सो प्रसवाङ्ग मुख, बाहु, ऊरु, पाद भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र. स्त्री-स्थानीय अङ्ग होनेसे उनसे उत्पन्न सन्तान भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र माने गये। इसके अतिरिक्त यह चारों अङ्ग सत्त्व, सत्त्व-रज, रज-तम तथा तमोगुणके प्रतीक होनेसे उनसे उत्पन्न सन्तान भी तदनुकूल उत्तम (ब्राह्मण), मध्यम (क्षत्रिय), मध्यमाधम (वैश्य) तथा अधम (निम्न-शूद्र) होनेसे विषम—निम्नोन्नत मानी गई। तब चरण भी सर्वगुणात्मा-पुरुषके तमोगुणस्थानीय होनेसे तथा अन्य अङ्गोंसे निम्न (नीचे) तथा आक्रान्त (दबा हुआ), एवं

उन अङ्गोंके अधीन तथा सेवक होनेसे तदुत्पन्न शूद्र भी वैसा हुआ; यह बात सोपपत्तिक ही सिद्ध हुई।

गौ-अश्व पशुजातिमें एक हैं, पर अवान्तर-जातिमें भिन्न-भिन्न हैं, इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रियादि मनुष्यत्वजाति वा हिन्दुत्वजाति में एक हैं, पर अवान्तर-जातिमें भिन्न-भिन्न हैं। 'न्यायदर्शन' में कहा है-'अनाकृतिव्यङ्ग्यायां जातौ··आकृति-र्निवर्तते, जहाति पदार्थत्वम्' (२।२।६६) अर्थात् सब जातियाँ आकृतिसे नहीं जानी जातीं। इस पर 'न्यायवार्तिक' में लिखा है—'न पुनः सर्वा जातिराकृत्या विज्ञायते।' इसीको 'तात्पर्य-टीका' में स्पष्ट किया गया है—'न पुनः सर्वा जातिराकृत्या लिङ्ग्यते, मृत्सुवर्णरजतादिका हि रूपविशेषव्यङ्ग्या जाति-र्नाकृतिव्यङ्ग्या, ब्राह्मणादिजातिस्तु योनिव्यङ्ग्या'। ज्ञान-प्रधान मनुष्यजातिमें आकृतिभेद न होने पर भी जन्मना वर्णभेद वा जातिभेद सर्वशास्त्रसम्मत है, बनावटी नहीं। वैसे तो गाय-घोड़े-के माथे पर भी गाय-घोड़ेका नाम लिखा नहीं मिलता, उनका भी 'गाय-घोड़ा' यह नाम-सङ्केत कृत्रिम ही है। यदि गाय 'गच्छतीति गौः' से 'गौ' है, तो 'अश्व' भी 'गौ' हो सकता है। यदि 'अश्नुते अध्वानम्' से 'अश्व' है, तो वह गाय भी 'अश्व' हो सकती है। अतः स्पष्ट है कि यह नाम-सङ्केत भी कल्पित है, व्यवहार-सौकर्यार्थ है। जैसे वह शास्त्रकृत वा पारम्परिक होनेसे कृत्रिम नहीं कहा जाता, वैसे ब्राह्मणादि-सङ्केत भी। वैसे तो 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' सिद्धान्तके अनुसार सभी कुछ कृत्रिम-कल्पित

है, व्यवहार-सौकर्यार्थ है, पर व्यावहारिक-सत्तावश जैसे सभी-को ठीक माना जाता है, वैसे वर्णभेदके विषयमें भी समझ लेना चाहिए। फलतः वर्णव्यवस्था अथवा वर्णभेदकी वेद और पुराण दोनोंमें सिद्धि होनेसे प्रतिपक्षीके पक्षकी असफलता सिद्ध है।

६—पू०"पूछा जा सकता है कि कई स्मृतियोंमें तो जात-पांत तोड़कर बेटी-व्यवहार करनेका निषेध भी है, ऐसी अवस्थामें किसकी बात मानी जाय–इसका उत्तर 'महाभारत' ने दिया है—'तर्कोऽप्रतिष्ठः···महाजनो येन गतः स पन्थाः' (तर्क अनिश्चित है, श्रुतियोंका परस्पर मतभेद है, ऋषि एक भी ऐसा नहीं, जिसके मतपर आपत्ति न की जा सके। धर्मका तत्त्व गहरी गुहामें छिपा है, इसलिए वही मार्ग ठीक है, जिससे कोई महापुरुष गया है)। इतिहासमें हमें अनेक ऐसे महापुरुष मिलते हैं, जिन्होंने व्याह-शादीमें जाति-बन्धनको तोड़ दिया था। ऋष्यशृङ्ग-ब्राह्मण-का विवाह राजा लोमपादकी कन्या शान्तासे हुआ था। प्रमत्ता-ब्राह्मणीका विवाह एक नाईके साथ हुआ था, इनके पुत्र महा-मुनि मतङ्ग थे। राजा प्रियव्रत-क्षत्रियने विश्वकर्मा-ब्राह्मणकी पुत्री बर्हिष्मतीसे विवाह किया था। राजा नीपने शुक्राचार्य-ब्राह्मणकी कन्या कृत्वीसे विवाह किया। इसी कुलमें मुद्गल हुआ, जिसके नाम पर ब्राह्मणोंका मौद्गल्य गोत्र चला। कर्दम क्षत्रियकी कन्या अरुन्धतीका विवाह गणिका-पुत्र वसिष्ठमुनिसे हुआ। इनका पुत्र शक्ति था। शक्तिका विवाह चाण्डालकन्या-

अदृश्यन्तीके साथ हुआ। इनके पुत्र पराशरमुनि थे। पराशरने धीवरकन्या सत्यवतीसे जगद्वन्द्य महात्मा वेदव्यासको उत्पन्न किया। वेदव्यासने काशिराजकी पुत्री अम्बिकासे धृतराष्ट्र और पाण्डुको जन्म दिया—इत्यादि।"

६—उ. इन इतिहासोंसे बहुत-अधिक संख्यामें ऐसे लोगोंके इतिहास मिलते हैं, जिन्होंने अपने-अपने वर्णमें विवाह किया, तब उक्त-इतिहास अपवाद सिद्ध हुए। व्यवस्था उत्सर्गसे हुआ करती है, अपवादसे नहीं; और न अपवादसे अपने अंशको छोड़कर अन्यत्र उत्सर्ग बाधित होता ही है। ऐसे हजारों इतिहासोंको एक भी विधिवाक्य बाधित कर लिया करता है, तब इनका कोई मूल्य नहीं रहता। 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' (गीता ३।२१) इस वचनका बाधक 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' (गीता १६।२४) यह वचन है। तपस्याके तेजसे सन्दीप्त हुए-मुनियोंको क्षेत्रदोष बाधित नहीं कर सकता। पर साधारण-पुरुषका वैसा कर्तव्य नहीं हो जाता। यही बात 'आपस्तम्ब-धर्मसूत्र' में कही है—'दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च पूर्वेषाम्। तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते। तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरः' (२।१३।७-८-९)।

यह भी जानना चाहिए कि अनुलोमसङ्कर उतना निषिद्ध नहीं है, जितना प्रतिलोमसङ्कर। 'मनुस्मृति' में ब्राह्मणका चारों वर्णोंकी लड़की लेना अभ्यनुज्ञात किया गया है, पर उसे काम-मूलक कहा गया है, विधिमूलक नहीं। उसमें भी शूद्राका उसे

भी निषेध है। हां, प्रतिलोमविवाह अवश्य निषिद्ध है, पर एक-दो अपवादोंसे उसकी विधायकता नहीं हो जाती। कई तो इतिहास भी वादीने गलत दिये हैं। जैसेकि 'प्रमत्ता ब्राह्मणीका विवाह नाईके साथ हुआ' यह गलत है, विवाह उसका ब्राह्मणके साथ ही हुआ, नाईके साथ नहीं। हाँ, गर्दभीके वचनसे उसका नाईसे संयोग हुआ बतलाया गया है, जिससे उत्पन्न हुए मतङ्गको ब्राह्मणत्वकी प्राप्त्यर्थ कठोर-तपस्या करने पर भी इन्द्रसे ब्राह्मणत्व नहीं मिला था॥ 'शिवपुराण' उमासंहिता ५।३१-३४, मत्स्य०५।२७, विष्णु०१।१५।११८, अग्नि० १८।४०, ब्रह्मपु० ३।४४।५१ तथा 'वायुपुराण' के अनुसार, 'कर्ता शिल्पसहस्राणां त्रिदशानां स वर्द्धकिः' से विश्वकर्माको देवताओंका बढ़ई बतलाया गया है, ब्राह्मण नहीं। ब्रह्मवैवर्त-पुराण (ब्रह्म-खण्ड १०।६७-६८) में यद्यपि विश्वकर्माको ब्राह्मण कहा गया है, तथापि वह ब्राह्मण-जन्म उसका घृताची-अप्सराके शापसे कुछ समयकेलिए हुआ था (१०।६७-६८), और उसके मालाकारादि पुत्र हुए (६०)। उसमें बर्हिष्मती-नामक किसी कन्याके जन्म होनेकी बात नहीं लिखी; अतः वर्धकित्वदशामें ही विश्वकर्मासे बर्हिष्मतीका जन्म हुआ, जो प्रियव्रतसे व्याही गई। अतः बर्हिष्मती ब्राह्मणकी कन्या सिद्ध न हुई, जिससे राजा प्रियव्रतसे उसका विवाह प्रतिलोम-विवाह हो॥ 'श्रीमद्भागवत' (६।२१।२४) के अनुसार नीप गर्गके गोत्रमें होनेसे ब्राह्मण थे, उनका कृत्वीसे विवाह भी प्रतिलोम-विवाह सिद्ध न हुआ॥ वसिष्ठ-अगस्त्य मित्रावरुणके पुत्र थे।

उर्वशी कोई सामान्य-गणिका नहीं थी, वह देवाप्सरा थी। उससे मानसिक ही उत्पत्ति हुई थी, जैसेकि वेदमें भी इसका सङ्केत है—'उत अ‍सि मैत्रावरुणो वसिष्ठ! उर्वश्या ब्रह्मन्! मनसोऽधिजातः' (ऋ०७।३३।११)। शक्तिका चाण्डाली-कन्यासे विवाह सिद्ध नहीं। 'महाभारत' (कुम्भकोण संस्क०) अनुशासनपर्व (अ०-५३) में अदृश्यन्तीको चित्रगुप्त-ब्राह्मणकी कन्या कहा है, चित्रगुप्तको कहीं चाण्डालपुत्र नहीं कहा, अतः पूर्वपक्षीका पक्ष असिद्ध ही रहा। सत्यवतीका धीवरकन्या होना भी असिद्ध है, वह उपरिचरवसुकी पुत्री थी, न कि धीवरकी। धीवरने उसे पाला था, पैदा नहीं किया था। मुसलमान-धाईसे पाले हुए हिन्दु-लड़के क्या मुसलमान हो जाते हैं? पन्ना-धाईसे पाला हुआ उदयसिंह क्या क्षत्रिय न होकर दासीपुत्र बन गया? इस विषयमें स्पष्टता 'आलोक'-ग्रन्थमालाके तृतीय-पुष्पमें पाठकोंको मिलेगी। फलतः अपवाद-दृष्टान्तोंसे जातिभेद तोड़नेकी विधि नहीं हो जाती। विधि तो वही रहेगी—'उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्' (मनु० ३।४)।

१०—पू. "वेदके प्रसिद्ध-विद्वान् मैक्समूलर कहते हैं कि जातिभेदका वेदोंमें कहीं विधान नहीं। यह पीछेसे स्मृतिकारोंका बनाया हुआ है। वेद कहता है-'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सम्भ्रातरो वावृधुः सौभगाय' (ऋ०) (हे मनुष्यो, तुममें न कोई ऊँचा है और न कोई नीचा। तुम सब भाई हो)। 'समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः...'सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यत अरा नाभिमिवाभितः।' (ऋ०) (तुम्हारा खान-पान इकट्ठा हो, रथकी नाभिके आरोंकी भान्ति संयुक्त हो)।"

१० उ.—वेदमन्त्रोंके अर्थ अपनी इच्छानुसार नहीं हुआ करते, किन्तु देवतावादके अनुसार होते हैं। प्रतिपक्षीके अनुसार भी वेदमें आर्य और दास यह वर्णभेद वा जातिभेद माना गया है, उसी मन्त्रमें दासको अधर (निम्न) माना गया है। तब 'अज्येष्ठासो अकनिष्ठासः' का यदि प्रतिपक्षिप्रोक्त अर्थ माना जाय, तो वेदमें विरोध पड़ेगा। 'नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च' (यजु. १६।३२) मन्त्रमें भी तो वादियोंके अनुसार ज्येष्ठ-कनिष्ठ-भाव माना गया है, तब उससे विरुद्ध इस मन्त्रमें उसका निषेध कैसे हो सकता है? वेदमें तो 'ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुः' (अथर्व० १०।७।१७), 'मुखं कृत्वा ब्राह्मणम्' (अथर्व० १२।४।२०), 'भूतानां ब्रह्मा (ब्राह्मणः) प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा (ब्राह्मणेन) स्पर्धितुं कः' (अथर्व० १६।२३।३०) इत्यादि बीसों मन्त्रोंमें ब्राह्मण-को श्रेष्ठ और शूद्र एवं दस्युको अत्यन्त-अधम एवं कुत्सित मनुष्य बतलाया गया है। 'उत शूद्रे उत आर्ये' (अ. १६।६२।१)-जैसे मन्त्र वेदमें बहुत हैं, जिनमें शूद्रको आर्य (श्रेष्ठ) नहीं बतलाया गया। ब्राह्मणके ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ होनेसे ही उसकेलिए 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्' (मनु. ८।३८०) कहा है। इसमें एक यह भी रहस्य है कि ब्राह्मणमें कई विद्याएँ होती हैं, यदि उसे मार दिया गया, तो वे विद्याएँ भी नष्ट हो जायेंगी। मस्तिष्कमें पागलपन आ जाने पर भी मुखको काट नहीं दिया

जाता। दूसरा कारण है बड़ेका सम्मान। झूठ बोलनेसे बड़े लड़केको केवल समझाया जाता है, मध्यमको फटकारा जाता है, छोटेको थप्पड़ मारा जाता है। अतः यह व्यवहार-वैषम्य स्वाभाविक होनेसे इसमें पक्षपात वा अन्याय नहीं। दूधसे रहित भी गायका दूधवाली भी गधीसे अधिक सम्मान होता ही है। स्मृतिकारोंने इन्हीं वेदमन्त्रोंका भाष्य करके जातिभेद बतलाया है; अतः इस विषयमें मैक्समूलरकी बात-यदि उसने वैसा कहा है—तो वेदको इष्ट न होनेसे नहीं मानी जा सकती।

'अज्येष्ठासो अकनिष्ठासः' मन्त्रमें 'मानवा देवताः' नहीं हैं, जो इसमें मानवीय-साम्यवाद माना जाय। इस मन्त्रके देवता देवविशेष-मरुत् हैं, जो इकट्ठे उत्पन्न हुए थे, जैसाकि श्रीसायणाचार्यने लिखा है-'परस्परं ज्येष्ठकनिष्ठभावरहिताः सहैवोत्पन्नाः' (ऋ० ५।६०।५), उन्हींका इसमें वर्णन है, मनुष्योंका नहीं। 'शतपथब्राह्मण' में 'सप्त-सप्त (४९) हि मारुतो गणः' (२।५।१।१३) मरुतोंको ४९ संख्यावाला कहा गया है। 'मरुतो देवताः' (यजुः १४।२०) मरुत् वेदमें देवता हैं, मनुष्य नहीं। 'सर्वे ह वै देवा अग्रे-सदृशा आसुः' (शत० ४।५।४।१) यहाँ पर मरुत् आदि देवताओंको जन्मसे ही समान बतलाया गया है। बृहद्देवता' में मरुत्-नामक देवताओंकी उत्पत्ति बतलाते हुए—'इत्यरण्ये चिरयतः प्रादुरासीद् मरुद्गणः। ददर्श संस्थितान् पार्श्वे तुल्यरूपान् महात्मनः' (५।९६), समानवयसश्चैव मरुतो रुक्मवक्षसः। ताँस्तुल्यवयसो दृष्ट्वा देवान् पुरुषविग्रहान्' (५।९७) यहाँ उन्हें

इकट्ठे उत्पन्न होनेसे ही, अज्येष्ठ-अकनिष्ठ अर्थात् उत्पत्तिसमयमें ही बिल्कुल समान एवं समान-वय वाले बतलाया गया है। अतः उक्त-मन्त्रमें इकट्ठे उत्पन्न हुए मरुतोंका वर्णन है, मनुष्योंका नहीं। हाँ, उनका रूप मनुष्यों जैसा बतलाया गया है, इससे वे मनुष्य नहीं हो जाते। नराकृति भी वानर मनुष्य वा सभी मानुषी व्यवहारोंवाले नहीं हो जाते। इस विषयमें स्पष्टता अन्यत्र होगी।

'अरा नाभिमिव' मन्त्रके दृष्टान्तसे एक परिवारकी समानता बतलाई गई है, सब वर्णोंकी नहीं। रथ बहुत होते हैं, एक नहीं होता। आरे भी रथके अपने-अपने होते हैं, दूसरे रथोंके नहीं। अतः यहाँ एक परिवारकी एकता इस दृष्टान्तसे बतलाई गई है, सारे संसारकी नहीं। अतः यह मन्त्र भी जातिभेदको हटा नहीं सकता, बल्कि रथोंकी विभिन्नता सिद्ध हो जानेसे जातिभेद और भी स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार 'वत्सं जातमिवाघ्न्या' इस 'समानी प्रपा' वाले मन्त्रके आदिम-मन्त्रमें प्रोक्त अथर्ववेदीय-दृष्टान्तसे भी अपने परिवारसे एकता वेदको इष्ट है, सबसे नहीं। गाय अपने ही बछड़ेसे प्रेम करती है, दूसरेसे नहीं।

११—पू० "जातिभेदका विष हिन्दुसमाजमें इतना घुसा है कि शङ्कराचार्य जैसा विद्वान् भी कहता है कि यदि शूद्रके कानमें वेदका मन्त्र पड़ जाय, तो उसमें पिघला हुआ सीसा डालकर भर देना चाहिए। यदि शूद्र वेद-मंत्रका उच्चारण करे; तो उसकी जीभ काट डालनी चाहिए (ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य १।३।३८)"।

११—उ० इस सूत्रके भाष्यमें यह बात केवल स्वामी शङ्कराचार्यने ही नहीं कही, श्रीरामानुजाचार्य-स्वामी, श्रीमध्वाचार्य-स्वामी, श्रीवल्लभाचार्य-गोस्वामी, शास्त्रवित्तम-श्रीकृष्णचन्द्र, यतिपण्डित-भगवत्पादाचार्य आदि बहुत पण्डितोंने लिखी है। यह निर्मूल भी नहीं है—इसमें 'अथ ह्यस्य वेदमुपशृण्वतः त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रपूरणम्, उदाहरणे जिह्वाच्छेदः, धारणे शरीरभेदः' (२।३।४) यह 'गौतमधर्मसूत्र' का वचन भी साक्षी है। उदार कहे जाने-वाले श्रीमध्वाचार्य स्वामीने इस सूत्रको 'श्रवणे त्रपुजतुभ्यां श्रोत्र-परिपूरणम्, अध्ययने जिह्वाच्छेदः, अर्थावधारणे हृदय-विदारणम्' इस रूपमें दिया है। यतिपण्डित-भगवत्पादाचार्यने तो उक्त वचनको श्रुतिवचन माना है। स्मृतिका तदनुसारी वचन तो यतिजीने यह दिया है-"शूद्रस्य वेदश्रवणे तच्छ्रोत्रे परमाद-रात्। त्रपु प्रपूरयेद् राजा तदुच्चारणमात्रतः॥ तज्जिह्वां छेदयेत् तूर्णं तद्धारणवशात् तदा। शरीरभेदनं कुर्याद् विधिरेषोऽयमुच्यते' इति स्मृतिरपि श्रूयते।'

इस भाष्यसे यह भी प्रतीत होता है कि 'गौतमधर्मसूत्र' में उक्त वचन किसी ब्राह्मणभागकी श्रुतिसे लिया गया है। ऐसा प्रकार-श्रुतियोंको उद्धृत करना 'वसिष्ठधर्मसूत्र' तथा 'बोधायन-धर्मसूत्र' एवं 'आपस्तम्बधर्मसूत्र' आदि धर्मसूत्रोंमें भी देखा गया है। इस प्रकार 'गौतमधर्मसूत्र'में भी सम्भव है कि यह श्रुतिवचन ही उद्धृत है। इस प्रकारका दण्ड शूद्रकेलिए गौतमने नया भी नहीं लिखा, 'मनुस्मृति' में भी लिखा गया है—'एक-

जातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन्। जिह्वायाः प्राप्नुयात् छेदम्' (८।२७०) 'निक्षेप्योऽयोमयः शङ्कुर्ज्वलन्नास्ये दशाङ्गुलः' (८।२७१) 'तप्तमासेचयेत् तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः।' (८।२७२)।

यह गौतमवचन इतना प्रामाणिक है कि इसे 'वेदान्तदर्शन'-के सूत्रकारने भी स्मृत किया है—'श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च' (१।३।३८)। ऐसी बात (अपराधी-शूद्रको कड़ा दण्ड) वेदसे प्रतिकूल भी नहीं 'वधीहि दस्युं धनिनं घनेन' (ऋ० १।३३।४), 'हत्वी दस्यून् प्र-आर्यं वर्णमावत्' (ऋ० ३।३४।९) 'यो दासं वर्णमधरं गुहाऽकः' (२।१२।४) में भी सङ्केतित की गई है। रामराज्यमें अपनेसे अनधिकृत तपस्या करता हुआ शम्बूक-शूद्र प्राणदण्डको प्राप्त हुआ, जिसका उल्लेख 'रामायण' तथा 'महा-भारत' में भी स्पष्ट है। राजाके विशेष-नियमका उल्लङ्घन करने-वाला आज भी फाँसी पाता है।

वस्तुतः-उक्त गौतमवचन वेदमें शूद्रानधिकारका अर्थवाद है, अतः अत्याचार भी नहीं। अर्थवादमें यथाश्रुत अर्थ नहीं हुआ करता, किन्तु उसका तात्पर्य देखा जाता है। इसका 'शूद्र वेदको न सुने, न स्वयं उच्चारण करे, न याद करे' इतने ही अर्थमें तात्पर्य है। वेदके अशुद्ध-उच्चारणमें वृत्रासुर-काण्ड सुप्रसिद्ध है। विद्यारहित शूद्र कहीं वेदके उच्चारणका प्रयत्न वा अनुकरण कर ले, जिससे हानि उठा बैठे वा किसीकी हानि कर बैठे, यही तात्पर्य उसे वेदश्रवण, उदाहरण तथा उच्चारणमें प्रबल निषेध-

का है। शासनको लोकहितार्थ कई अनिष्ट-विभीषिकाएँ रखनी भी पड़ती हैं। आत्महत्या करना चाहते हुए को भी दण्ड दिया जाता है। तब स्वरशास्त्र-कवचित वेदका अध्ययन करना भी शूद्र-की आत्महत्या है, तब उसके लिए भी दण्ड रखा गया है। एक-आधको दण्ड देना भी पड़ता है, उसमें उसका दूसरेकेलिए हित निहित होता है। इसमें जातिभेदका विष नहीं, किन्तु अधिकार-अनधिकारकी बात है।

जैसे सरकार ऐसा दण्डविधान कर दे कि 'जो ब्लैकमार्केटिङ्ग करेगा, उसे फाँसी मिलेगी', आपाततोदर्शीको ऐसा दण्ड अखरता है, वह इसमें अत्याचार मानता है, पर सर्वतोमुखीन दृष्टिवालेको इसमें परिणाम-हितावहता मालूम पड़ती है। वैसे कठिन दण्डविधानसे वैसी परम्परा नहीं बन पाती। वैसा दण्ड एक-आधको ही देना पड़ता है, पर विधानमें आ जानेसे वैसी परम्परा नहीं बन पाती। रामराज्यमें एक शूद्रको दण्ड मिला, शेष इतिहासमें फिर इस काण्डकी आवृत्ति नहीं आई, न किसीके कानमें सीसा भरा गया। निम्न लोग कड़े-दण्डके उल्लेखके बिना मानते भी तो नहीं। लिख देनेसे फिर कोई अव्यवस्था नहीं कर पाते। तभी तो मनुजीने शूद्रादिकेलिए विशेष रूपसे कहा है—'वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत्। तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत्॥' (८।४१८) अर्थात् वैश्य एवं शूद्रसे तो अपना कर्म प्रयत्नसे भी कराये। यदि वे अपनी सीमासे च्युत हो गये, दूसरे वर्णके कर्मोंको पकड़ बैठे, तो देशमें बहुत

अव्यवस्था फैल जाती है। फलतः यह दण्ड जातिभेदके कारण नहीं, किन्तु निम्नकेलिए कठोर दण्ड रखना स्वाभाविक है। जो बात बड़ेको केवल समझा कर शिक्षित की जाती है, वही मध्यम-को कान पकड़कर और छोटेके मुख पर तमाचा मारकर कहनी पड़ती है।

फलतः सिद्ध हुआ कि ब्राह्मणादि वर्ण हैं। जातिभेद वैदिक-कालसे ही चला आ रहा है। 'न यो ररे आर्य्यं नाम दस्यवे' (ऋ० १०।४९।३) यहाँ वेदने दासको आर्य नाम न दिलवा कर जातिभेदवादको वैदिक सिद्ध कर दिया है। 'कृण्वन्तो विश्व-मार्यम्' का यदि यह अर्थ हो कि 'तुम सारे जगत्को आर्य बनाओ', तो यह पूर्व-मन्त्रसे विरुद्ध होगा, प्रकरणसे भी विरुद्ध होगा, अतः यह इसका अर्थ नहीं, (इसपर चतुर्थपुष्प (हिन्दुशब्द-की वैदिकता)में देखिये) क्योंकि सोमरसके प्रकरणमें यह अर्थ असम्बद्ध है, स्वयं प्रतिपक्षीसे भी विरुद्ध है, क्योंकि वह वेदमें आर्य और दास यह दो वर्ण मानता है, एक नहीं। इसीलिए भगवान् कृष्णने भी 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप' (१८।४१) इस पद्यमें शूद्रको त्रैवर्णिकों, आर्योंमें समस्त न करके व्यस्त ही कर दिया है। प्रतिपक्षी भी अपने आपको मुसलमान, ईसाई न कहकर हिन्दु ही कहलवाना चाहता है, यह भी तो जातिभेद है। मुसलमान तथा ईसाइयोंमें भी परस्पर बड़े भेद हैं। हिन्दुजातिमें जो वर्णव्यवस्था तथा जातिभेद हैं, इन्होंने ही आजतक इस हिन्दुजातिको सुरक्षित रखा है, कोई इतर-व्यक्ति

इसमें गुप्तरूपसे घुसकर इसे हानि नहीं पहुँचा सकता, क्योंकि इसके गोरखधन्धेको न जान पानेसे वह जल्दी ही पकड़ लिया जा सकता है। जातिभेदको तोड़नेवाले ब्राह्मसमाजकी आलोचना करते हुए आजके बड़े सुधारक स्वामी दयानन्दजीने 'सत्यार्थ-प्रकाश' के ११ वें समुल्लासमें जातिभेद तोड़नेवालों तथा मुसलमानादिसे मिठाइयां खानेवाले सुधारकोंको कड़ी फटकार दी है कि 'इन्होंने अङ्गरेज, यवन, अन्त्यजादिसे भी खाने-पीनेका भेद नहीं रखा। इन्होंने यही समझा होगा कि खाने-पीने और जाति-भेद तोड़नेसे हम और हमारा देश सुधर जायगा, परन्तु ऐसी बातोंसे सुधार तो कहां, उलटा बिगाड़ होता है।' (पृ० २४१), 'मनुष्योंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज जातिभेद ईश्वर-कृत हैं' (स० प्र० ११ पृ०, २४२), 'जब कोई यूरोपियन चाहे कितने बड़े अधिकार पर और प्रतिष्ठित हो, किसी अन्य देश, अन्य मतवालोंकी लड़की वा यूरोपियनकी लड़की अन्य देशसे विवाह कर लेती है, तो उसी समय उसका निमन्त्रण, साथ बैठकर खाने और विवाह आदि अन्य लोग बन्द कर देते हैं, यह जातिभेद नहीं, तो क्या है? और तुम भोले-भालोंको बह-काते हैं कि हममें जातिभेद नहीं। तुम अपनी मूर्खतासे मान भी लेते हो'। (स० प्र० ११ पृ० २४२), 'इसलिए ब्राह्मणादि उत्तम-वर्णोंके हाथका खाना और चाण्डालादि नीच भङ्गी-चमार आदिका न खाना' (स० प्र० १० पृ० १६६), 'शूद्रके पात्र तथा उसके घरका पका हुआ अन्न आपत्कालके विना न खावें' (पृ० १६६)। यह आजके सुधारक-प्रच्छन्नके विचार भी इस विषयमें पठनीय हैं। यहां ब्राह्मणादिको वर्ण माना है, और जातिभेद तथा खानपान-भेदको भी सम्यक्तया माना है।

'न विशेषोस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्। ब्रह्मणा पूर्व-सृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्।' यह सुधारकोंका प्रिय-पद्य भी जातिभेदको नहीं तोड़ता। यहां बतलाया गया है कि ब्राह्मणादि-वर्णोंमें कोई आकारका भेद नहीं है, ब्रह्मासे सृष्ट होनेसे जगत्को 'ब्राह्म' कहा जाता है। पूर्वजन्मोंके कर्मोंसे वही ब्राह्म जगत् ब्राह्मणादि-वर्णरूपमें हो गया। यहां भी वर्णभेद बतलाकर जातिभेदको सिद्ध कर दिया गया है। यहां ब्राह्मणादिको वर्ण बतलाकर प्रतिपक्षीका पक्ष छिन्न कर दिया गया है, अतः हम भी इस विषयको यहीं समाप्त करते हैं।

२१. क्या ब्राह्मणादि जाति नहीं?

पूर्वपक्ष—ब्राह्मण-क्षत्रियादि, वर्ण भले ही हों, यह जाति नहीं हैं। गोतममुनिके जातिको लक्षणको देखनेसे यह बात स्पष्ट हो जावेगी। उन्होंने जातिका लक्षण किया है—'समानप्रसवा-त्मिका जातिः' (न्याय-२।२।७०) जो भिन्न-व्यक्तियोंमें समानता-का बोध करावे, वह जाति होती है। इससे पूर्वका सूत्र यह है कि—'आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या' (६९) जिससे जाति पहचानी जावे उसको आकृति कहते हैं। ब्राह्मण-शूद्रादिमें कोई आकृति-भेद नहीं; अतः यह भिन्न-भिन्न जाति नहीं, हां दोनों एक मनुष्य-जाति हैं। अतः ब्राह्मणादि वर्ण हैं, न कि जाति। वर्ण वरण

करनेसे होता है, जन्मसे नहीं। (श्रीरामचन्द्रदेहलवी-आदि आर्यसमाजी)।

उत्तरपक्ष—ब्राह्मणादि वर्ण भी हैं, जाति भी। इस कारण 'वर्णानामानुपूर्व्येण' (२।२।३४) इस वार्तिकके उदाहरणमें व्याकरणमें 'ब्राह्मणक्षत्रियविट्-शूद्राः' यह वर्णोंका उदाहरण है। इसमें वर्णसे ब्राह्मणादि लिये गये हैं। 'जातिरप्राणिनाम्' (पा० २।४।६) इस सूत्रके प्रत्युदाहरणमें स्वा.द.जीने भी अपने 'सामासिक' (पृ० ४६) में जातिका 'ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः' यह उदाहरण दिया है। इसलिए 'जातेरस्त्री-' (पा. ४।१।६३) और 'शार्ङ्गरवाद्यञोङीन्' (पा. ४।१।७३), तथा 'शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः' (वा. ४।१।४) इत्यादिमें ब्राह्मण-शूद्रादिको जाति स्वीकृत किया गया है'। स्वा.द.जीने स.प्र. (३ समु. पृ. ३०) में 'योवमन्येत' श्लोकके अर्थावसरमें कहा है—'उस वेदनिन्दक नास्तिकको जाति, पंक्ति और देशसे बाहर कर देना चाहिये'। तब उसे स्वामीके अनुयायी मनुष्य-जातिसे तो बाहर कर नहीं सकते, शेष ब्राह्मणादि-ही जाति बची। इस प्रकार 'जात्याख्यायाम्' (पा. १।२।५८) इस सूत्रका उदाहरण काशिका आदिमें-'पूर्ववयसो ब्राह्मणाः प्रत्युत्थेयाः' यह दिया गया है। शेष 'ब्राह्मोऽजातौ' 'राजन्यः' आदि जातिके उदाहरण गतनिबन्धमें देख लेने चाहियें। इससे सिद्ध हुआ कि-ब्राह्मणादि वर्ण भी हैं, जाति भी। जाति जन्मसे हुआ करती है—'जननेन या प्राप्यते, सा जातिः' (५।३।५५) ऐसा महाभाष्यमें लिखा है। तब वर्ण-व्यवस्था भी जन्मसे सिद्ध है।

तभी 'ब्राह्मणः, क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः। चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रः' (मनु. १०।४) इस पद्यमें वर्ण भी 'जाति' कहे गये हैं।

इस प्रकार जब स्वा.द.जीके मतमें भी ब्राह्मणादि जाति हैं; तब जातिका परिवर्तन नहीं हो सकता; क्योंकि स्वामीने ही अपनी 'आर्योद्देश्यरत्नमाला'के ३८ अङ्कमें जातिको नित्य (जन्मसे लेकर मरण तक) माना है। यदि कहा जावे कि—पशुओंके गलकम्बल, सींग आदिकी भांति ब्राह्मणादियोंका आकार-भेद प्रत्यक्ष-लक्ष्य नहीं; अतः वे जाति नहीं; इसपर यह जानना चाहिये कि-स्थूल-आकारभेद तो अज्ञ भी जान जाते हैं; पर सूक्ष्मभेदको शास्त्रदृष्टिवाले ही जान सकते हैं; तद्-विहीन नहीं। जैसे पशुओंके गलकम्बलादि अन्धोंको नहीं दीखते; वैसे ही वर्णोंके विशेषक भी अन्धोंको नहीं दीखते। शास्त्रदृष्टिहीन अन्ध ही होते हैं। यदि पशुओंकी अवान्तर-जातियोंके आकारभेदकी भांति मनुष्यकी अवान्तर-जाति ब्राह्मण-शूद्र आदियोंका परस्पर-आकारभेद न देखकर उसमें वादी भिन्नता न मानेंगे; तो भार्या, भगिनी, माता, लड़की आदियोंमें भी वादी व्यावर्तक आकार कौनसा मानेंगे, क्योंकि—स्त्रीमात्र समानाकार हैं। पृथिवी, जल आदिके परमाणुओंका भी, विना विशेष पदार्थके ज्ञान न हो सकनेसे क्या उनमें जातिभेद नहीं होगा? यदि उसमें विशेष-पदार्थ भेदक है, वैसे यहाँपर भी। तभी तो चाण्डालादिके कर्म करनेवाले भी वाल्मीकिको नारद-आदिने ब्राह्मण ही जान लिया

था। तपस्या करते हुए भी शूद्रको श्रीरामने शूद्र ही जान लिया था। निषादोंके पास ठहरे हुए और निषादाचार भी जन्म-ब्राह्मणको गरुडने 'ब्राह्मण' जान ही लिया था (महा. आदि. २८ अ.)। वाह्यभेद यज्ञोपवीतसूत्र, दण्ड, वस्त्र, भिक्षा आदि तथा शर्मा, वर्मा, गुप्त, दास आदि भेद मनुजीने जन्मसे ही भेदक दिखलाये हैं। ज्ञानप्रधान-मानवजातिके अवान्तर-जाति ब्राह्मणादिके भेदक विशेष-चिह्न परमात्माके मतमें अनावश्यक थे।

वस्तुतः न्यायसूत्रमें भी सामान्य-जातिका लक्षण है, विशेष-जातिका लक्षण नहीं। व्याकरणमें भी 'समानप्रसवात्मिका जातिः' इस जातिके सामान्य-लक्षणकी भांति 'आकृतिग्रहणा जातिः' यह सामान्य-लक्षण किया है; परन्तु वह आकृति-व्यङ्ग्य घट-आदि जातिकेलिए है, इससे ब्राह्मणत्व-शूद्रत्वादिका जातित्व प्रत्यक्षतया सिद्ध नहीं होता-यह न्यूनता आपड़ती है; क्योंकि—सारी जातियाँ आकृति-व्यङ्ग्य नहीं हुआ करतीं। उस न्यूनताके दूरीभावार्थ व्याकरणमें 'सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या' यह धर्मशास्त्र-सम्मत-जातिका लक्षण किया है, इससे ब्राह्मणत्वादि जातिकी सिद्धि होती है। एकके मुखोत्पत्ति आदिसे ब्राह्मण आदि कहे जाने पर फिर उसके पुत्र-पौत्र आदि भी उसी उत्पत्तिमूलक जाति-वाले माने जाते हैं—यह जातिका द्वितीय लक्षण है। यदि ब्राह्मणत्वादि जाति नहीं, तब स्वा.द.जीने 'स्त्रैणताद्धित' (४।१।६३ सूत्र) में जातिका 'ब्राह्मणी, वृषली' आदि उदाहरण क्यों दिया है? 'ब्राह्मोऽजातौ' (६।४।१७१) इस वेदाङ्गके सूत्र (पृ. १६५) में जातिमें 'ब्राह्मणः' और अजातिमें 'ब्राह्मः' यह उदाहरण कैसे दिया? 'क्षत्राद् घः' (४।१।१३८) इस सूत्रमें (४२ पृष्ठ) क्षत्रिय शब्दमें भी स्वामीने जाति मानी है—इत्यादि हम पूर्व बता चुके हैं। क्या महाभाष्यकार भी नहीं जानते थे कि—मैं ब्राह्मणादिको जाति कैसे लिख रहा हूँ? इस प्रकार काशिकाकारने भी (५।४।६ सूत्रमें) 'ब्राह्मणजातिः शोभना' ब्राह्मणादिको जाति कैसे माना? इसी भांति 'पञ्चम्यामजातौ' (पा. ३।२।९८) सूत्रमें जातिमें जन्-धातुको 'ड' प्रत्ययका निषेध कहा है, परन्तु 'अन्येष्वपि दृश्यते' (३।२।१०१) सूत्रमें जातिमें भी 'ड' प्रत्यय माना है। उसमें श्रीदीक्षितने 'ब्राह्मणजः' यह उदाहरण दिया है। इस प्रकार स्वा.द.ने भी आख्यातिक (२३० पृ., ११३५ सूत्र) में कहा है—'जातिविषयमें जैसे—ब्राह्मणजो धर्मः, क्षत्रियजं युद्धम्, वैश्यजो व्यापारः' यहां ब्राह्मणादिको जाति कहा है। इस प्रकार काशिकामें भी।

इस प्रकार स्वा.द.जीने 'धर्मचर्यया...जातिपरिवृत्तौ' इस आपस्तम्बसूत्रके अर्थके अवसरमें 'जाति' शब्दसे ब्राह्मणादिको गृहीत किया है, देखिये स.प्र. (पृ. ५३) ऋभाभू. (पृ. २३२) में। वादी लोग भी 'आचार्यस्त्वस्य यां जातिं' इस मनुपद्यके अर्थके अवसर पर ब्राह्मणादिको जाति मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि—ब्राह्मणत्वादि जाति हैं। इसी कारण 'नञ्' (पा. २।२।६) सूत्रमें महाभाष्यकारने गुणहीन-ब्राह्मणको भी 'जाति-ब्राह्मण' माना है। ब्राह्मणत्वादि जाति न होने पर ऐसा न कहा जाता; पर ऐसा

कहनेसे सिद्ध है कि-ब्राह्मणादि वर्ण भी हैं, जाति भी। 'जाति' जन्मका पर्यायवाचक होता है; तब 'जननेन या प्राप्यते, सा जातिः' (५।३।५५) महाभाष्यकी इस उक्तिसे ब्राह्मणत्वादि-जाति भी जन्मसे ही सिद्ध हुई।

जो कि 'समानप्रसवात्मिका जातिः' इस गौतमसूत्रसे वादी ब्राह्मणत्वादिका खण्डन करते हैं, इस विषयमें जानना चाहिये कि-यह 'आकृति ग्रहणाजातिः' की भांति जातिका सामान्यलक्षण है, जैसाकि पहले हम कह चुके हैं। इस सूत्रकी तात्पर्यटीकामें; तथा आर्यसमाजी-महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनिकी टीकामें ब्राह्मणत्वादि, पाषाणादि, तथा स्वर्णादि-धातुओंके भस्मोंमें जाति सिद्ध की गई है। इसलिए स्वा.द.जीने भी स.प्र. (११ समु. पृ. २४२) में कहा है—"मनुष्योंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज जातिभेद ईश्वरकृत है, परन्तु मनुष्योंमें ब्राह्मणादिको सामान्य-जातिमें नहीं, किन्तु सामान्यविशेषात्मक-जातिमें गिनते हैं।" सामान्य-जाति मनुष्य-जाति है, ब्राह्मणादि सामान्य-विशेष जाति है। इस कारण स्वा.द.जीके मान्य प्रशस्तपादभाष्यमें भी कहा है—'सामान्यं द्विविधम्-तत्र परं सत्ता महाविषयत्वाद् [जैसेकि मनुष्यत्वादि], द्रव्यत्वादि अपरम्, अल्पविषयत्वात्। तच्च व्यावृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यं सद् विशेषाख्यामपि लभते [जैसेकि ब्राह्मणत्वादि]।

इस प्रकार उक्त-गोतमसूत्रके वात्स्यायनभाष्यमें भी कहा है—'योऽर्थः [मनुष्यत्वादिः] अनेकत्र [अनेकासु व्यक्तिषु] प्रत्ययानु-

वृत्तिनिमित्तं [अयमपि मनुष्यः, अयमपि मनुष्यः], तत् सामान्यम्। यच्च [ब्राह्मणत्वादि] केषाञ्चिद् [ब्राह्मणादिव्यक्ति-विशेषाणां परस्परम्] अभेदं [करोति], केषाञ्चिद् [क्षत्रियादीनां ब्राह्मण-व्यक्तिभ्यो] भेदं करोति, तत् [ब्राह्मणत्वादि] सामान्य-विशेषो जातिः' इससे हमारा पक्ष स्पष्ट पुष्ट होगया। इससे स्वा.द.के अनुयायी-वादीके आक्षेपका प्रत्युत्तर होगया। स्वामीकी इस विषयकी साक्षी दी ही जा चुकी है।

अब उनकी और भी साक्षी देखें। स०प्र० (३ समु.) वैशेषिक-दर्शन (१।२।३)के विवरणमें स्वामीने लिखा है—'मनुष्य-व्यक्तियोंमें मनुष्यत्व सामान्य और पशुत्वादिसे विशेष, तथा स्त्रीत्व, पुरुषत्व इनमें ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व, शूद्रत्व विशेष हैं। ब्राह्मण-व्यक्तियोंमें ब्राह्मणत्व सामान्य और क्षत्रियादिसे विशेष हैं' (पृ. ३६) इससे ब्राह्मणत्वादिको सामान्य-विशेष जाति बताकर वादीके स्वामीने वादीके पक्षपर निर्दय प्रहार किया है।

उक्त गोतमसूत्रमें केवल समान-प्रसवात्मकत्व ही जातिलक्षण माना जावे; तो व्यावहारिक-हानि होती है। तब उक्त-सूत्रका अर्थ होगा कि-जिन-जिनका प्रसव-जन्म समान हो; वे सब समान-जाति होते हैं। ऐसा होने पर पशु और मनुष्य जरायुसे अपने पूर्वजके शरीरसे उत्पन्न होते हैं, वे समान-जातिवाले होने चाहियें। माता-पिताके शुक्र-रजके संयोगसे गर्भाशयद्वारा समान-प्रसववाले शेर-मनुष्य-पशु आदि भी समान-जातिवाले माने जावें। माताके स्तन्य (दूध) के पीनेवाले मनुष्य और पशुओंमें

प्रसव-भेद न होनेसे वे भी समान जाति वाले माने जावें। अण्डज पत्ती और साँप आदि भी समान-प्रसव (अण्डोत्पत्ति) होनेसे समान जातिवाले माने जावें !!

यदि वादी उक्त सूत्रका यह अर्थ न मानकर उसमें श्री-वात्स्यायनके भाष्यको ही स्वीकार करते हैं, और उसमें स्पष्टता करनेवाले 'आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या' इस न्यायसूत्रके अनुसार जातिकी लिङ्गभूत आकृतिको जातिका भेदक मानते हैं; तब श्री-वात्स्यायनानुसार ब्राह्मणादि सामान्य-विशेष जातियाँ हैं—यह हम पूर्व सिद्ध कर ही चुके हैं। शेष है 'आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या' सूत्र; सो यदि वादी इससे आकृतिभेदसे जातिभेद मानते हैं; तो इसपर वादिप्रतिवादिमान्य-वात्स्यायन स्पष्ट कहते हैं कि— 'अनाकृति-व्यङ्ग्यायां जातौ मृत्, सुवर्णं, रजतम् इत्येवमादिषु आकृतिर्निवर्तते, जहाति पदार्थत्वम्' (२।२।६६) इस कथनसे सिद्ध होता है कि–सब जातियाँ आकृतिव्यङ्ग्य नहीं होतीं, किन्तु अनाकृति-व्यङ्ग्य भी जातियाँ होती हैं। इससे वादीका पक्ष कट गया। इस कारण उक्त-सूत्रकी तात्पर्यटीकामें कहा गया है–'न पुनः सर्वा जातिराकृत्या लिङ्ग्यते इति, मृत्-सुवर्ण-रजतादिका हि रूपविशेष-व्यङ्ग्या जातिः, नाकृति-व्यङ्ग्या। ब्राह्मणत्वादि-जातिस्तु योनि-व्यङ्ग्या' [योनिः-ब्राह्मणाद् ब्राह्मण्यां जन्म], आज्यतैलादीनां जातिस्तु गन्धेन वा, रसेन वा व्यज्यते'। इस प्रकार उक्त गोतम-सूत्रमें वार्तिक भी है–'न पुनः सर्वा जातिराकृत्या लिङ्ग्यते'।

यह ठीक भी है—आकार-समतामें भी जातिभेद होता ही

है, जैसे–हीरे आदि पत्थरोंका, सोना आदि धातुओंके भस्मोंका, कौवा-कोयल आदियोंका, भिन्न-भिन्न जातिके चावलों आदि धान्योंका समान-आकार होनेपर भी जातिभेद होता ही है, इससे वादीका आक्षेप यह कि-ब्राह्मणादि वर्ण हैं, जाति नहीं; खण्डित हो गया। यह कोई नियम नहीं है कि–जो वर्ण हो, वह जाति न हो। कोई कहे–यह ईंट है, इसलिए पत्थर नहीं–यह कथन तो कथञ्चित् हो सकता है; क्योंकि–एक वस्तु ईंट और पत्थर नहीं हो सकती। परन्तु कोई कहे कि–यह देवदत्त है, पण्डित नहीं—यह कथन ठीक नहीं हो सकता; क्योंकि–जो देवदत्त है, वह पण्डित नहीं हो सकता; अथवा जो पण्डित हो; उसका नाम देवदत्त न हो–इसमें कोई निरोध नहीं। किन्तु यह कथन उपपन्न हो सकता है कि–देवदत्त व्यक्ति-वाचक है, और पण्डित उसका विशेषण है। इस प्रकार 'वर्ण' शब्द चार जातियों-का नाम है, और ब्राह्मणादि एक-एक जातिका नाम है। 'वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ' (अमर. ३।३।४८); तब ब्राह्मणादि जाति भी सिद्ध हुए। 'वर्ण' वरण करनेसे होता है' इस विषयमें पृ. ८४७-८४८ देखें।

(२२) चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म-विभागशः (४।१३)

पूर्वपक्ष—गीतामें तो भगवान्-कृष्णने उक्त पद्यमें चार वर्णों-को गुणकर्म-स्वभाव द्वारा माना है, आप उन्हें जन्मसे कैसे मानते हैं ? (कई आर्यसमाजी वा सुधारक)

उत्तरपक्ष—इस पद्यमें गुण-कर्म पूर्व-जन्मके इष्ट हैं; जिनसे

ऐहिक-जन्म होता है; इस जन्मके नहीं। इस जन्मके गुण-कर्मोंके कारण जन्म तो इस देहपातके बाद ही होगा। तभी भगवद्गीता भी 'कारणं गुणसङ्गोस्य सदसद्योनिजन्मसु' (१३।२१) यहां पूर्व-जन्मके किये हुए शुभाशुभ-गुणकर्मोंसे ब्राह्मणादि-सत्, शूद्र-आदि असद्योनि (छान्दोग्य. ५।१०।७)में जन्म बताती है; क्योंकि-योनिमें जन्म, जन्मान्तरमें होता है। न्यायदर्शनमें कहा है-'नास्य (आत्मनः) इदं शरीरम् अपूर्वमनुत्तरञ्च। पूर्व-शरीराणामादिर्नास्ति, उत्तरेषामपवर्गोन्तः' (१।१।६) अर्थात् यह शरीर नया नहीं, किन्तु पूर्वजन्मकर्मानुसारी है। इसीको अन्यत्र स्पष्ट किया है—'पूर्व-शरीरे (पूर्वजन्मनि) या प्रवृत्तिर्वाग्-बुद्धिशरीरारम्भलक्षणा, तत् पूर्वकृतकर्म उच्यते। तस्य फलं तज्जनितौ धर्माधर्मौ, तत्फलस्यानुबन्धः-आत्मसमवेतस्य अवस्थानम्। तेन (अदृष्टस्य आत्मसमवायेन) प्रयुक्तेभ्यो भूतेभ्यस्तस्य शरीरस्य उत्पत्तिः।··· तेन संस्कारेण धर्माधर्म-लक्षणेन भूतसहितेन पतिते (नष्टे) अस्मिन् शरीरे शरीरान्तरं (अग्रिमजन्म-शरीरं) निष्पद्यते' (३।२।६२) यहां पर पूर्वजन्मके किये हुए कर्मोंसे इस जन्मके शरीरका निर्माण कहा है।

इस कारण 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' (४।१३) इस गीताके पद्यमें भी पूर्व-जन्मका ही गुण-कर्म विवक्षित है, इस जन्मका नहीं। इसमें इस पद्यका 'सृष्टं' पद प्रमाण है। इसमें 'मया' का अर्थ 'वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण' यह नहीं; क्योंकि-श्रीकृष्णके प्रादुर्भावसे पहले भी वर्ण-व्यवस्था विद्यमान

थी; तब यहाँ 'मया' से 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' (७।६) 'सर्वभूतानि कौन्तेय! प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्। कल्पक्षये, पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्' (६।७) 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (१०।८) 'पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः' (६।१७) इन-गीताके पद्यों-द्वारा 'परमात्मा' लिया जाता है। तब यह अर्थ हुआ कि-मैं (परमात्मा) ने पूर्व-कल्पक्षय (प्रलय) के वाद नवीन-कल्पके आदिमें पूर्वकल्पके गुणकर्मानुसार ब्राह्मण आदि चार वर्ण मुख आदि द्वारा उत्पन्न किये; जैसेकि-श्रीभास्कराचार्यने स्वयं अपने 'सिद्धान्त-शिरोमणि' के गोलाध्याय 'भुवनकोश-निरूपण' में ६३ पद्यके भाष्यमें कहा है—'यो ब्रह्मदिनान्ते चतुर्युगसहस्रावसाने लोकत्रयस्य संहारः; स ब्राह्मो लय उच्यते। तत्र अक्षीणपुण्यपापा एव लोकाः कालवशेन ब्रह्मशरीरं प्रविशन्ति।··· ततो निशावसाने पुनर्ब्रह्मणः सृष्टिं चिन्तयतो मुखादिस्थानेभ्यः कर्मपुटान्तरत्वाद् ब्राह्मणादयस्तत एव निस्सरन्ति' (प्रलयमें प्राणी मरकर अपने यथास्थित-कर्मोंके अनुसार ब्रह्माके शरीर-मुखादिअङ्गों) में प्रविष्ट हो जाते हैं; तब सृष्टि करनेके समय पूर्वजन्मके कर्मादि-द्वारा मुखादिसे ब्राह्मणादि-वर्ण उत्पन्न होते हैं)।

इससे गीताके आक्षिप्त-पद्यमें भी चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि परमात्मा द्वारा उत्पादित सिद्ध हुई; तभी उसके उत्तरार्धमें भी कहा है—'तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्' (४।१३) अर्थात् चातुर्वर्ण्यका कर्ता अव्यय पुरुष है। अव्यय पुरुष ईश्वर होता

है—'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः' (गीता १५।१७) अव्यय-पुरुष ब्रह्म होता है, इसकेलिए अथर्ववेद-'गोपथ-ब्राह्मण' में भी कहा है—'सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्' (१।१।२६)। तब परमात्मा पूर्वजन्मके गुणकर्मोंके तारतम्यके अनुसार उस-उस वर्ण वाले पिताके घरमें जन्म देकर वर्तमान-जन्मको तथा वर्तमान-जन्मके गुणकर्मोंसे अग्रिम-जन्मको बनाता है, इसमें कोई भ्रान्तिका अवकाश नहीं; क्योंकि उक्त-भगवद्गीताके पद्यमें सहज (स्वाभाविक) गुण-कर्म कहा है; जोकि-'सती च योषित् प्रकृतिश्च निश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि' (शिशुपालवध १।७२) पूर्वजन्म-सिद्ध हुआ करता है।

यहां वादी बतावें कि-'गुण-कर्म' शब्दसे गीताका आशय वर्तमान-जन्मके गुणकर्मोंसे है, अथवा गतजन्मके गुणकर्मोंसे? यदि गीताका ऐहिक-जन्मके गुणकर्ममें तात्पर्य सिद्ध हो; तब तो वादियोंका ही पक्ष सिद्ध होगा। यदि गीताका पूर्वजन्मके गुणकर्ममें तात्पर्य सिद्ध हो; तब जन्मसे वर्णव्यवस्था सिद्ध होगी। परन्तु सिद्धान्त यह है कि-'गुणकर्म' शब्दसे यहां 'पूर्वजन्मके ही गुणकर्म' इष्ट हैं; उसमें उपोद्बलक (पोषक-प्रमाण) 'सृष्ट' पद है, जिसका स्वारसिक अर्थ यह है कि-'सृष्टिके प्रारम्भमें बनाया'। शङ्करानन्दी टीकामें भी 'सर्गादौ उत्पादितम्' यही अर्थ किया गया है। वेदादिशास्त्रोंमें जहां भी कहीं भूतकालमें सृज् धातुका 'सृष्ट' प्रयोग आया है, उसका आशय 'प्रलयके बाद प्राथमिक

उत्पत्ति' हुआ करता है। जैसेकि-'प्रजापतिर्वै मनुः, स हि इदं सर्वमसृजत' (शत. ६।६।१।७) यहां स्पष्ट है कि-प्रलयमें कोई भी वस्तु न रही; तब प्रजापतिने उसे पुनः उत्पन्न किया। इसका यह अर्थ नहीं है कि-सब वस्तुएं विद्यमान थीं; प्रजापतिने केवल उनकी व्यवस्था की। जब ऐसा है; तब 'सृष्टम्' का 'सर्गकी आदिमें उत्पन्न किया' ही अर्थ सिद्ध हुआ। तब उक्त गीताके वचनमें पूर्वजन्मके ही गुणकर्म ग्राह्य होंगे; क्योंकि सृष्टिकी आदिमें ऐहिक-जन्मके कर्म तो थे ही नहीं। तब इससे जन्मना ही वर्ण-व्यवस्था सिद्ध हुई। तभी गीताके 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः' (३।१०) ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा' (१७।२३) एतदादिक पद्य संगत होते हैं। यहां 'प्रजा' का अर्थ 'वर्ण' तथा 'पुरा'का सृष्ट्यादौ' अर्थ है। इसी कारण शाङ्करभाष्यमें अर्थ किया है—'प्रजाः-त्रयो वर्णाः, सृष्ट्वा-उत्पाद्य, पुरा-सर्गादौ'। तब 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य-व्यवस्थितौ' (१६।२४) इस भगवान्के इष्ट अबाध्य-शास्त्र श्रुति-स्मृतिके अनुरोधसे, तथा 'सृष्टम्' इस पदके-स्वारस्यसे, स्वयं गीताके उक्त दो श्लोकोंके सङ्केतसे 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' यहां सृष्ट्यादिमें प्रजापतिने प्रलय-सुप्त जीवोंके पूर्वजन्मके गुणकर्मोंके अनुरोधसे मुखादियोंसे 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' (ऋ. १०।९०।१२) ब्राह्मण आदि उत्पादित किये। यही छान्दोग्य-उपनिषद्में भी कहा है—'य इह रमणीय-चरणा रमणीयां योनिमापद्येरन्, ब्राह्मणयोनिं वा, क्षत्रिययोनिं वा, वैश्ययोनिं वा।

अथ य इह कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा, शूकरयोनिं वा, चाण्डालयोनिं वा' (५।१०।७) यहाँ श्रुतिने स्पष्ट-शब्दोंमें शूकरादिके दृष्टान्तसे ब्राह्मणादि-शरीरकी प्राप्तिमें भी पूर्वजन्मोंके ही गुणकर्मोंकी कारणता सूचित की है। क्या शूकर-आदिकी उत्पत्तिमें ऐहिक-जन्मका कर्म कभी कारण हो सकता है?' इस प्रकार गीताके उक्त-पद्यमें ब्राह्मणादिवर्ण-व्यवस्था जन्मसे ही सिद्ध हुई।

जबकि गीता शूद्रादिको ब्राह्मणादि-वर्णोंके कर्म करनेका निषेध करती है, और कहती है कि- मरना स्वीकृत कर लेना ठीक है, ब्राह्मणादिके कर्म स्वीकार कर लेना ठीक नहीं।' तो क्या गीता अपनेसे निषिद्ध-कर्मोंके करनेसे शूद्रको कभी ब्राह्मण मान लेगी? कभी नहीं; बल्कि उसे शूद्रत्वसे भी च्युत कर देगी। गीताका प्राकट्य इसी रोकके लिए हुआ है कि—कोई वर्ण अन्य-वर्णके कर्मोंके करनेमें कभी उत्साह न करे। गीता तब प्रकट हुई है, जब 'नर' का प्रतिनिधि अर्जुन जो जन्मसे क्षत्रिय था, अपने वर्णधर्मको छोड़कर ब्राह्मणोचित भिक्षा-आर्जव आदि गुण-कर्मोंके लिए उद्यत हो गया था। गीताने उसे समझाया कि—ऐ अर्जुन! तू जन्मसे क्षत्रिय है, भिक्षा आदि तुम्हारे लिए पर-धर्म है, युद्ध ही तुम्हारा स्वधर्म है—'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि। धर्म्याद्धि युद्धात् श्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते' (२।३१) और फिर-फिर उसे समझाती है—'तस्माद् युध्यस्व भारत!' (२।१८,३।३०,११।३४), बल्कि यहां तक कहती

है-'अथ चेत् त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि। ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि' (२।३३)। यदि ब्राह्मणोचित-कर्मानुष्ठानसे क्षत्रियादिका ब्राह्मण हो जाना सिद्धान्त होता; तब तो अर्जुन उन्नतिपथमें जा रहा था; फिर गीता उसे 'पापी' कहकर क्यों डराती? और उसमें भयङ्कर-अधर्म क्यों सूचित करती? क्या आर्जव-भिक्षा आदि भीषण कर्म थे? उस गुण-कर्मसे उसे क्यों रोकती? उसे उसने सात्त्विक-कर्म हटवाकर जनहत्याके राजस-कार्यमें क्यों जोड़ा? इससे स्पष्ट है कि-भगवान् जन्मसे वर्ण-व्यवस्था मानते हैं; नहीं तो वे शम-दमादि-गुण-सम्पन्न और 'युद्धे चाप्यपलायनम्' (१८।४३) के विरुद्ध कर्णादिके युद्धसे भागनेवाले धर्मराज-युधिष्ठिर को ब्राह्मण बना देते, पर उन्होंने उसे ब्राह्मण नहीं बनाया, इससे वे ऐहिक गुण-कर्मसे वर्ण-परिवर्तन निषिद्ध सिद्ध कर रहे हैं। गीताका यह आदेश कि-'शूद्रादिका अपने कर्ममें मरना श्रेष्ठ है, ब्राह्मणादि पर-कर्मका करना ठीक नहीं 'यह अपनी उपजीव्य मनुस्मृतिके वचन का अनुवादमात्र है। दोनों उक्तियोंमें शब्द भी समान हैं। गीता कहती है—'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' (३।३५, १८।४७) और गीता की उपजीव्य मनुस्मृति कहती है—'वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः। परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः' (१०।९७) और मनुस्मृति वर्ण-व्यवस्था जन्मसे मानती है—'सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु। आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त

एव ते' (१०।५) इस पद्यमें कहा है कि-यदि माता-पिता समान-वर्णोंके हों; तब उनकी सन्तानें भी वही वर्ण, वही जाति होती हैं।

इस पद्यकी व्याख्यामें श्रीकुल्लूकभट्टने लिखा है-'ब्राह्मणादि-वर्णेषु चतुर्ष्वपि समानजातीयासु यथाशास्त्रं परिणीतासु अक्षत-योनिषु आनुलोम्येन ब्राह्मणेन ब्राह्मण्याम् इत्येवमनुक्रमेण ये जाताः ते मातापित्रोर्जात्या युक्तास्तज्जातीया एव ज्ञातव्याः'। प्राचीन-भाष्यकार श्रीमेधातिथिने भी यही लिखा है—'(प्र. के पुनरमी ब्राह्मणादयो नाम, नह्येषां पारस्परो भेदः शक्योऽवसातुम्, व्यक्त्यधीनाधिगमा हि जातयो, न च व्यक्तयः स्वावयवसन्निवेश-विशेषावगमशून्याः शक्नुवन्ति तासां भेदमावेदयितुम्, न च ब्राह्मणक्षत्रियादीनां गवाश्वस्येव वा आकारभेदोस्ति, येन रूपि-समवायात् चाक्षुष्यः स्युः, नापि विलीनघृततैलगन्धरसादिभेदेन क्रियान्तरगोचराः, नापि शुच्याचार-पिङ्गलकेशत्वादिभिर्धर्मैः शक्यभेदावसानाः, तेषां (पिङ्गलकेशत्वादीनां) सर्वत्र सङ्करो-पलब्धेः। व्यवहारश्च पुरुषाधीनः, विप्रलम्भ-भूयिष्ठत्वाच्च पुरुषाणाम्, नान्ततो वस्तुसिद्धिः। (उ.) इत्यतो जातिलक्षण-मुच्यते—सर्ववर्णेषु इति। एतल्लक्षणं जातेर्यत्-समान-जातीयासु भर्तृसम्भूतासु ऊढासु पत्नीषु जाताः, तस्या एव जात्या ज्ञेयाः। मातापित्रोर्या जातिः सैव अपत्यस्य, ऊढायां जातस्य, वेदितव्या। तेन येनैव ऊढा, तनयस्तस्यामेव जातस्तदा तज्जातीयो भवति'।

जब इस प्रकार मनुस्मृति कहती है, 'सवर्णेभ्यः सवर्णासु

जायन्ते हि सजातयः' (१।९०) यह याज्ञवल्क्यस्मृति कहती है; तब उस (मनु.) की समर्थक गीतासे यह आशा निरर्थक है कि गीता शूद्रादिको ब्राह्मणोचित कर्म करनेसे ब्राह्मण बना देगी, बल्कि मनुस्मृति तो उसे अपनी ज़ातिमें भी पतित (नीच) कर देती है, ब्राह्मणता प्राप्त करना तो दूर की बात। 'इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः'। इस प्रकार गीताने बल दिया है कि-अपने विगुण भी जन्मसिद्ध वर्ण-कर्ममें सदा नियत रहो; भूलकर भी दूसरेका सुगुण भी कर्म मत करो। बल्कि-गीताकी उपजीव्य मनुस्मृति तो उसे देशनिर्वासन-राजदण्ड भी दिलवाती है—'यो लोभाद् अधमो जात्या जीवेद् उत्कृष्टकर्मभिः। तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत्' (१०।९६)। तब गीताको गुणकर्मणा वर्ण-परिवर्तन भला कैसे सम्मत हो सकता है? इससे वादीका उक्त-आक्षेप परिहृत हो गया।

जब-गीता 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते' (१६।२४) शास्त्रको प्रमाण मानती हैं; शास्त्र भगवान्को श्रुति-स्मृति इष्ट हैं, 'श्रुति-स्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते। आज्ञाभङ्गान्मम द्वेषी स मे भक्तोपि न प्रियः' (शङ्करदिग्विजयकी टीकामें (१५।४(२६२), श्रुति-स्मृतिके प्रमाण जन्म-सिद्ध वर्णव्यवस्थाके ही अनुमोदक हैं-यह पूर्व दिखलाया जा चुका है; तब उससे ऐहिक-गुणकर्मसे वर्ण-व्यवस्था सिद्ध नहीं। इसके अतिरिक्त 'गीता' 'महाभारत'-का अङ्ग है; तब इसमें महाभारतका सिद्धान्त भी देख लेना चाहिये। महाभारतके पात्र द्रोणाचार्यने क्षात्रधर्म स्वीकार कर

रखा था। जैसाकि महाभारतमें ही कहा है—'बीभत्सो ! विप्रकर्माणि विदितानि मनीषिणाम्। याजनाध्यापनं दानं तथा यज्ञप्रतिग्रहौ' (द्रोण० १६७।२४) षष्ठमध्ययनं नाम तेषां कस्मिन् प्रतिष्ठितः (द्रोणाचार्यः) ?' (२५) अपक्रान्तः स्व (ब्राह्मण)-धर्माच्च क्षात्रधर्मं व्यपाश्रितः' (२६) फिर भी उसे वहां ब्राह्मण ही माना गया है।

महाभारतके ही अन्य पात्र अश्वत्थामामें तो न ब्राह्मणोचित गुण थे, न कर्म ही। यदि उसके गुणोंकी ही आलोचनाकी जावे; तो उसका स्वभाव ही इतना क्रूर था कि-उसने सोते हुए द्रौपदीके पुत्रोंको मार डाला, अपने मामा कृपाचार्यके समझाने पर भी न रुका। पाण्डवोंको निर्वंश करनेकेलिए उत्तराके गर्भ पर भी अस्त्र छोड़ दिया। (महा-सौप्तिक ५ अ.), अन्य उसके कुत्सित-गुणकर्म महाभारत (सौप्ति. १२।७-६-१०,४१,१५। १८,१६।६-१०-१८,१७।२) में कहने पर भी उसे ब्राह्मण ही कहा गया है (सौ. १६।१७-३२)। पाण्डवोंमें युधिष्ठिर और भीमके गुणकर्मोंमें कितना अन्तर था, फिर भी दोनों ही क्षत्रियाकी सन्तान होनेसे क्षत्रिय कहे गये। अतः महाभारतानुसारिणी गीताको भी वर्णव्यवस्था जन्मना ही अभिमत है। उसमें कहे हुए गुणकर्म 'सृष्टं' पदके साहचर्यसे पूर्व-जन्मके ही इष्ट हैं। सृष्टिके समय वर्तमान-जन्मके गुणकर्मोंकी सत्ता ही नहीं होती, जिनके आश्रयसे वर्ण व्यवस्थित किया जासके। किन्तु पूर्वजन्मके गुणकर्मोंकी ही तब भी सूक्ष्मशरीरके साथ सत्ता हुआ करती है।

यह हुई महाभारतके अन्तरङ्गकी बात; अब बहिरङ्ग तटस्थदृष्टि भी डाल लेनी चाहिये। स्थूलबुद्धिसे भी यही जाना जाता है कि—गुणकर्मसे वर्ण-निर्णय असम्भव है। किसी पुरुषमें ब्राह्मणोचित गुण हो सकते हैं; पर उसके कर्म क्षत्रियके हो सकते हैं। तब उसके वर्णका निर्णय कैसे हो ? किसी मनुष्यके गुणोंका ही निर्णय कैसे हो सकता है ? क्या हम कह सकते हैं कि-अमुक पुरुषके गुण ब्राह्मणसदृश हैं, या क्षत्रियसदृश हैं ? वा वैश्य-शूद्र सदृश हैं ? यदि इस विषयमें हम अपनी सम्मति देनेका साहस करें; तो क्या उसमें सबका ऐकमत्य हो सकता है ? क्या गुणों-द्वारा वर्णनिर्णय बहुमतसे किया जायगा ? फिर एक ही पुरुषके गुण वा कर्म समय-समयपर, बल्कि एक ही दिनमें बदला भी करते हैं; इस दशामें क्या उसका वर्ण फिर-फिर बदला जायगा ? क्या ऐसा होनेपर घोर-अव्यवस्था नहीं आ पड़ेगी ?

समान माता-पिता द्वारा उत्पन्न भी बालकोंके गुण-कर्मोंमें अत्यन्त भिन्नता दीखती है। एक ही मनुष्य सारा दिन कभी ब्राह्मणके और कभी शूद्रके समान कर्म करता है; तब वर्णका निश्चय कैसे होगा ? इस प्रकार होनेपर भी शूद्र वा नीच कौन होना चाहेगा ? खान-पान व्यवस्था तथा विवाह-दायभागादिमें भी बहुतसे प्रतिबन्ध पड़ सकते हैं। तब भगवान्‌को घोर-अव्यवस्थाकी आपादक-'कर्मणा वर्णव्यवस्था' इष्ट नहीं हो सकती। जन्मसे ही इष्ट हो सकती है। अन्यथा गीतोपदेष्टा, तथा महाभारतमें युद्ध न करनेवाले श्रीकृष्ण तथा शान्तप्रकृति श्रीकृष्णके

पिता वसुदेव भी क्षत्रिय न कहे जाते। तब गुणकर्मविभागशः' की व्याख्या १८।४१ गीताके अनुसार करनी पड़ेगी कि-'अर्जुन-केलिए युद्ध न करना पाप है' इस गीताके प्रधानविषयानुकूल करनी पड़ेगी, गीताके इष्ट श्रुति-स्मृति तथा अपनी उपजीव्य मनुस्मृतिके अनुसार तथा महाभारत-सूच्यमान तथ्योंके अनुसार ही करनी पड़ेगी। उन सबकी साक्षीसे वह वर्णव्यवस्था जन्मसे ही सिद्ध है, ऐहिक-गुणकर्म उसकी रक्षामें तो कारण हैं, पर उसके स्वरूपके उत्पादनमें कारण नहीं-यह निष्कर्ष यहाँ निकलता है।

तब उक्त-श्लोकका यह आशय हुआ कि-'मैं (परमात्मा) ने ही ब्राह्मणादि चार-वर्ण सृष्टिकी आदिमें पूर्वजन्मके गुणकर्मानुसार उत्पादित किये; और उनके अनुसरणीय-गुणों एवम आचरणीय-कर्मोंका विभाग कर दिया है कि-ब्राह्मण यजन-याजन, पठन-पाठन, दान-प्रतिग्रह, इन कर्मोंका आचरण करें, और शम-दम आदि उसके स्वाभाविक कर्म हैं; अतः उनका अनुसरण करें। क्षत्रियोंकेलिए आचरणीय केवल यजन-पठन, दानादि कर्म, तथा शौर्य आदि गुण अनुसरणीय किये गये हैं। वैश्योंकेलिए पठन-यजन-दान, कृषि-गोरक्षा आदि गुण-कर्म अनुसरणीय एवम् आचरणीय विभक्त किये गये हैं। शूद्रोंकेलिए सब वर्णोंकी सेवा आदि गुण-कर्म विभक्त किये गये हैं। इस प्रकार सब वर्णोंके भिन्न-भिन्न गुण-कर्म मैं (ईश्वर) ने ही विभक्त किये हैं, जिन्हें शास्त्रोंने लिखा है। इस अर्थमें वादियोंकी कुछ भी इष्टसिद्धि नहीं; क्योंकि-यहाँ पहले वर्ण कहे गये हैं; पीछे उनके गुण-कर्म,

ऐहिक-गुण-कर्मोंसे यहाँ वर्ण नहीं कहे गये। इस प्रकार यह सैद्धान्तिक-विषय (जन्मना वर्ण-व्यवस्था) स्वच्छ होगया, शेष वादियोंसे इस विषयमें दिये जाते हुए प्रमाणाभासोंका प्रत्युत्तर सम्भवतः सप्तम-पुष्पमें दिया जायगा। गत-पुष्पकी भांति यह पुष्प भी बहुत बड़ा होगया है, इस कारण इसे यहीं समाप्त करते हैं। इसमें के सभी विषयोंको 'आलोक'के विद्वान्-पाठकगण क्रमसे तथा बड़े अवधानसे देखें-यह बहुत ध्यान देने योग्य विषय हैं। शम्।

शेष प्रूफकी अशुद्धियोंको यहाँ शुद्ध करके लिखा जा रहा है। 'पृ. ५४ पं. ६ जग्म्म। ७३-१६ शृतं। २८४-१६ प्रातिधर्म। ३११-१६ आर्षभेण। ३१३-२१ बैल। ३१५-१० '१।१२४।११में 'गवां'का अर्थ 'अश्वानां' किया है।' ३१६।१ (यजुः १३।४७-४६)। पं. ११ 'अथवा 'शये सहवत्सा न धेनुः' (ऋ. १।३२।६) इत्यादि-मन्त्रोंमें किसी दैत्यादिके मरनेके समय सो जानेमें 'गायके सोनेकी' उपमा देखी गई है। वहाँ गायका मरना इष्ट नहीं होता, किन्तु सोना। वैसे ही प्रकृत-मन्त्रमें भी दैत्यके मरनेमें सोनेको जीवित गायके सोनेसे उपमित किया गया है'। ३४५-१२ धेन्वनड्डुह। ३५१-१६ उपोद्घात। ३५२।१० विशेषांश्च। ३६०।४ पशुं। ३७३-१२ 'शनैः शनैश्च भोक्तव्यं स्वयं वित्तमुपार्जितम्' यहाँ 'भोक्तव्यं'का अर्थ 'भक्षण' नहीं, किन्तु उपयोग है। ४६६-८, ६ पातिव्रत्य'। पं. २१ साम्राज्य। ६३४-१२ महाभाष्य। ६५७-१६ श्रीकृष्ण। ८०६-८ आराधक आराध्यको। ८१३-१८ आविष्कारकोंको। ८३५-२० अइउण्। ८७४-१८ वसिष्ठ।' पाठक इनको शुद्ध करलें।

परिशिष्ट—

(२३) पुराणोंको सत्य सिद्ध करनेवाली प्रत्यक्ष घटनाएँ

(७६३ पृष्ठके अनुसार)

[आजके सुधारक कूपमण्डूक बने हुए पुराणोंकी बातोंको 'गप्प' बताते हैं, पर यह उनका प्रमाद है। पुराणोंकी घटनाएँ अक्षर-अक्षर सत्य हैं। जिन पौराणिक-घटनाओंको अब तक 'गप्प' बताया जा रहा था, उनमें बहुत-सी तो सबके सामने आ चुकी हैं, और अन्य धीरे-धीरे सामने आ रही हैं। सभी एक दिन सबके प्रत्यक्ष होंगी। आजकलके सुधारक पुराणोंसे घृणा करते हैं, उनकी घटनाओं को प्रमाणित नहीं करते, पर वे सूर्य निकलनेसे पहले आजके युगके 'स्वतःप्रमाण-वेद' समाचारपत्रोंके दर्शन करते हैं, उनका ही 'स्वाध्याय' करते हैं, और उन्हींकी बातोंको 'श्रद्धेय' मानते हैं। आज हम 'आक्षिप्त पौराणिक-घटनाएँ' समाचारपत्रों-द्वारा संगृहीत करने जा रहे हैं, आशा है-पाठक इन्हें ध्यानसे पढ़ेंगे। यह संग्रह पिलखुआ-निवासी भक्त-रामशरणदासजीने करदिया है-'आलोक'प्रणेता]

(१) गायके पेटसे गोकर्णका जन्म।

श्रीमद्भागवत-पुराणमें यह आता है कि गोकर्ण गायसे उत्पन्न हुए, तो इसे सुधारक गप्प बताते हैं। आज उनके सामने इस सम्बन्धकी कुछ घटनाएँ रखते हैं—

(क) बकरीके पेटसे मनुष्य-लड़का—आर्यसमाजी महाशय-कृष्णका पत्र 'वीर अर्जुन' देहली (२३-४-१६५८) लिखता है—

'रिसिया २२ अप्रैल। यहांसे उत्तर भगतापुर गांवमें गत १३ अप्रैल को एक बकरीके पेटसे एक बकरीका बच्चा तथा एक मानव-लड़के की उत्पत्ति हुई जिसे समीपी गांवके सैकड़ों व्यक्ति देखने आये। लड़केके सभी अंग मनुष्यके थे, किन्तु पांवका

अगला भाग बकरी-सा था। जन्म होनेके बाद उक्त लड़केकी मृत्यु हो गई। बकरीका बच्चा जीवित है।' जब बकरीसे मानव हो गया, तो फिर गोकर्णकी बात कैसे गप्प मानी जायगी?

(ख) स्त्रीके पेटसे सांपका जन्म—यह घटना किसी सनातनधर्मी-की सुनाई नहीं है, वरंन् सुप्रसिद्ध सुधारक-विद्वान् आचार्य चतुरसेन-शास्त्रीने तीन-चार वर्ष पूर्व हमें स्वयं सुनाई थी—

'हम वैद्य हैं, इसलिए हमें एक बीमार-स्त्रीको देखनेकेलिए जाना पड़ा। यह स्त्री बीमार तो थी ही, साथ ही गर्भवती भी थी। उसके पेटसे लड़का-लड़की होनेके बदले सर्पका जन्म हुआ, यह हमारी आंखों-देखी घटना है। स्त्रीके पेटसे सर्पका जन्म किस कारण हुआ, यह हम नहीं कह सकते, पर स्त्रीके पेटसे सर्प-का जन्म हुआ अवश्य'।

(ग) स्त्रीने बन्दर को जन्म दिया—'सन्मार्ग' दैनिक (१७-७-५०) उज्जैन १६ जुलाई। नगर मुहामें एक स्त्रीके उदरसे बन्दरने जन्म लिया, जिसके चार टांगें और पांव तथा ६ इञ्च लम्बी पूँछ थी। उसका मुख पूर्णरूपसे बन्दरके सदृश था और मुँह दांतोंसे भरा था। यह शिशु १५ मिनट जीवित रहकर मर गया, स्त्री स्वस्थ है।

(घ) बकरीके हाथी पैदा हुआ—'सन्मार्ग' देहली (२६-१०-१६५०) मुकामा (बिहार)। यहां एक बकरीने एक साथ दो बच्चोंको जन्म दिया है जिनमें एक बच्चा तो हाथीसे मिलता है, उसके मुंह पर सूँड है, और उसकी आंखें भी माथेके समीप हैं। उसकी टांग

तथा कान बकरी जैसे ही हैं।

(ङ) दो सिर और पूँछवाली अद्भुत लड़की—(नवभारत-टाइम्स १६-११-१६४६) सिवनी १५ नवम्बर। सिवनीसे प्रकृतिकी एक अद्भुत घटनाका समाचार मिला है। पता चला है कि यहांसे तीन मील दूर मानी गांवकी एक ग्रामीण-स्त्री श्रीमती कल्लो मूला-अहीरकी पत्नीको एक दो सिर और एक पूँछवाली लड़की पैदा हुई, परन्तु वह जन्म लेते ही मर गई और इस लड़कीको मां-सहित सिवनी-अस्पतालमें मेडिकल जांच-पड़तालकेलिए लाया गया। तत्पश्चात् उनको जीवविद्या-सम्बन्धी अध्ययनकेलिए नागपुर भेजा गया।

(च) आदमीके पेटसे बन्दरका बच्चा निकला—'वीर-अर्जुन' देहली (२६-४-१६५८) अजमेर २८ अप्रैल। यहांके एक आदमीको कई वर्षोंसे पेटके दर्दकी शिकायत थी। स्थानीय विक्टोरिया-अस्पतालके डाक्टरोंने उसके पेटका आपरेशन किया और उसके पेटसे मांसका ४ इञ्चका एक टुकड़ा निकला, जिसकी आकृति बन्दरके बच्चे जैसी थी। वह व्यक्ति अबतक पूर्ण स्वस्थ है।

(छ) सींगोंवाली राक्षसी कन्याका जन्म—'सन्मार्ग बनारस' (२३ जून १६४६) सीतापुर २२ जून। कमला नामक कहारिनने ऐसी एक कन्या को जन्म दिया जो राक्षस जैसी है। उसके मुखसे चार बड़े-बड़े दांत निकले हुए थे और आंखें बड़ी-बड़ी तथा गोल थीं, और उसकी जीभ बाहर निकली हुई थी और सिरके पृष्ठभागमें दो सींग थे।

(ज) अद्भुत बालक जन्मा—'सन्मार्ग' देहली (२६-१०-१६५०) बुलन्दशहर २८ सितम्बर। छोंकीसराय कस्बामें एक गूजरके यहां विचित्र बालक उत्पन्न हुआ। कहा जाता है कि जन्मके समय उसके मुंहमें एक बड़ा दांत देखा गया, जो कुछ समय बाद लुप्त हो गया। दूसरे दिन उसके सब दांत और डाढें निकल आई। उसकी नाक गर्दन तक लम्बी है। १० दिनका हो गया, अभी तक स्वस्थ ही है।

(झ) पूँछवाली लड़की-'सन्मार्ग' (११-१-१६५०) आजमगढ़ ६ जनवरी। महराजगंज (आजमगढ़) के पासके ग्रामसे १॥ वर्ष-की बालिका आई है, जिसको लगभग ४ इञ्च लम्बी पूँछ है। उसे दबानेसे पीड़ा होती है तथा वह कुछ हिलती भी है। वैज्ञानिकोंका कहना है कि विकासक्रमके अनुसार गर्भमें जब इसकी वृद्धि हो रही थी, तब पूँछवाली अवस्था पार करनेके समय जो विकास हुआ, उस समय वह भाग पड़ा रह गया। कहा जाता है कि वह कुछ बढ़ती भी है। डाक्टर उसकी शल्य-क्रिया करनेकी सोच रहे हैं।

(ञ) दुमुंही कन्याका जन्म—(कांग्रेसी पत्र 'हिन्दुस्तान' देहली, १६ फरवरी सन् १६५८)में दोमुंही लड़कीका चित्र दिया है—महा-समुन्द (डाकसे)—कस्तूरबा-ट्रस्टके नवनिर्मित प्रसूति-गृहमें गत सप्ताह एक ग्रामीण-स्त्रीने एक दुमुंही कन्याको जन्म दिया जो जन्मते ही मर गई। धड़ एक था, सिर दो थे। आकार वा बनावट सब पूरा था। मृत-कन्याको महासमुन्दके प्रमुख

चिकित्सालयमें लाया गया, जहाँ हजारों नर-नारियोंने उसे देखा।

(ट) दो सिरके अद्भुत शिशुका जन्म—(दैनिक 'हिन्दुस्तान' (नई दिल्ली २७ अक्तूबर १९५७) 'चाँदा (म. प्र.) यहाँ एक बहुत ही विलक्षण बालकका जन्म हुआ है। उक्त बालक के हाथ वा पैर तो दो ही हैं परन्तु सिर एक की जगह दो हैं। जनता भारी संख्यामें इस बालकको देखने-केलिए आ रही है।'

[२] मरे हुएको जीवित कर देना।

पुराणोंमें आता है कि हमारे यहाँ ऐसे-ऐसे ऋषि होते थे कि जो मरे हुएको अपनी शक्तिसे जीवित कर देते थे, पर इसे 'गप्प' बताया जाता है। श्रीलक्ष्मणको संजीवनी-बूटी लाकर दी गई थी, इसे भी झूठा बताया जाता है। आज इस सम्बन्धकी बिल्कुल सत्य घटना सामने रखते हैं, संशयात्मा ध्यानसे पढ़ें।

प्राचीन ग्रन्थोंका अद्भुत चमत्कार। मृत-मक्खियोंको पुनः जीवनदान की अद्भुत घटना–('वीर-अर्जुन' देहली ता० २२–१२–१९५१) अकोला २० दिसम्बर। यहांके एक वैद्य श्रीखोरेने मरी हुई मक्खियों तथा मेंडकोंको दवाईसे पुनः जीवित कर लोगोंको आश्चर्यमें डाल दिया है। मालूम हुआ है कि श्रीखोरे मरी हुई

मक्खियों पर एक ऐसा पिसा हुआ वनस्पति पदार्थ डालते हैं, जिससे वे पुनः जीवित होकर उड़ने लगती हैं। यह प्रयोग अब तक तीन-चार बार सफलतापूर्वक किया जा चुका है। यहांके स्थानीय डाक्टरके सामने श्रीखोरेने उक्त वनस्पति-पदार्थ एक मरे हुए मेंडक पर भी डांला, जिससे वह जी उठा। श्रीखोरेने बड़ी सावधानीसे ७ मक्खियोंको मारा। इस क्रियामें किसी मक्खीको चोट नहीं आनी चाहिये। बादमें एक हरे रंगका पाउडर उनपर छिड़क दिया गया। लगभग १५-२० मिनटमें सब मक्खियाँ एक-एक कर जीवित हो उठीं और उड़ने लगीं। यह प्रयोग प्रत्यक्ष-रूपसे देखा गया है। श्रीखोरेने बताया है कि उक्त पाउडरका नुस्खा उन्हें एक ताड़पत्र पर लिखा हुआ मिला। मक्खी कितने ही दिनकी मरी क्यों न हो, इस पाउडरसे जी सकती है।

(नवभारत टाइम्स ६–२–५२) अकोला। मृत-मक्खियाँ जीवित करनेका एक प्रयोग यहांके एक स्पेशलिस्ट डा० खोरेने स्थानीय पत्रकारोंके समक्ष करके दिखाया—आपको एक ऐसा वनस्पति-पाउडर मिला है जिसे मृत-मक्खियोंपर डाल देनेपर कुछ समयके पश्चात् वे जीवित हो जाती हैं। पत्रकारोंको आपने इस विषयमें बताया कि आपको चंदुपुरमें एक अति-प्राचीन ताड़पत्र मिला जिस पर गोंडवनकी भाषामें उक्त वनस्पति-की जानकारी अंकित थी। आप इस पत्रकी भाषासे परिचित होनेकेलिए सातपुडेके हरारा पहाड़ीके लोगोंसे मिले और

तत्पश्चात् उसकी जानकारी प्राप्त की। इस वनस्पतिका वैज्ञानिकोंके द्वारा संशोधन होना चाहिये। यदि मानव-जीवनमें इससे कुछ लाभ पहुँचा; तो मुझे अत्यधिक प्रसन्नता होगी, ऐसा डा० खोरेने बताया। किसी भी वैज्ञानिकको इस विषयमें जानकारी देनेको आप तैयार हैं। पत्रकारोंने मृत-मक्खियोंको जीवित होते अपनी आँखोंसे देखा'। इस प्रत्यक्ष बातसे पुराणोंकी ऐसी बातें भी सत्य सिद्ध हुईं।

[३] अवेमें बिल्लीके जीवित बच्चे।

यह प्रसिद्ध है कि भक्तराज-प्रह्लादने देखा कि-कुम्हारके जलते हुए अवेमें बिल्लीके बच्चोंको तनिक भी अग्नि नहीं लगी और वे जीवित पाये गये। इसे सुधारक 'गप्प' बताते हैं। इस सम्बन्ध-की आर्यसमाजी-नेताओं द्वारा तथा दूसरों द्वारा भी कई सत्य घटनाएँ सुनें—

(क) 'अग्निमें सारी रात जलनेपर भी गिलहरी के बच्चे जीवित रहे।'—राजपूत-कालेज पिलखुवाके संस्थापक महात्मा लटूरसिंहजी बड़े ही विख्यात आर्यसमाजके नेता हैं। जब एक बार आपने शुरू-शुरूमें राजपूत-कालिज खोला, तो सबसे पहिले आपने हमारी बिल्डिंग ही किराये पर ली। एक दिन की बात है कि वे हमारी स्कूल वाली बिल्डिंगमें ठहरे हुए थे और हम भी आपके पास बैठे हुए थे, तथा और भी कई बड़े-बड़े बी० ए०, एम० ए० अध्यापक लोग वहाँपर उपस्थित थे। रात्रिका समय था। एक ने कहा कि महात्माजी आज तो कुछ ईश्वरकी महिमा-

के सम्बन्धमें कहो। महात्माजीने कहा हम तुम्हें ईश्वरकी महिमाकी बिल्कुल अपनी आँखों-देखी सत्य घटना सुनाते हैं, जिसे सुनकर आप आश्चर्यचकित हो जाएँगे। लो सुनो—

मैं पहिले 'प्रह्लादने कुम्हारके अवेमें बिल्लीके बच्चे जीवित पाये' इस बातको कभी भी सत्य नहीं मानता था। जब अग्निका गुण जलाना है; तो फिर अग्नि किसीको जलाये और किसीको न जलाये, ऐसा कैसे हो सकता है? पर जब दो सत्य घटनायें अपनी आँखोंसे देखी हैं; तब तो मुझे लाचार होकर प्रह्लादवाली घटना सत्य माननी ही पड़ती है।

अभी कुछ दिन पहलेकी बात है कि हमारे गाँव मऊ (मेरठ) में बढ़ियोंने कुछ लकड़ियोंके कोयले बनानेकी सोची। उन्होंने एक गढ़ा खोदा और उसमें लकड़ी भर दीं। बादमें उन बढ़ियोंने उन लकड़ियोंमें आग लगा दी और सारी रात लकड़ियाँ जलती रहीं। जब सब लकड़ियोंके जल करके कोयले होगये; तो उन्होंने गढ़ेमेंसे कोयले बाहर निकालने शुरू किये। बाहर निकालते-निकालते क्या देखा कि सब लकड़ी तो जल गई हैं और उनके कोयले होगये हैं परन्तु एक लकड़ीका लट्ठा बिल्कुल नहीं जला है। वह लकड़ीका लट्ठा इधर-उधर रह गया हो इसीसे न जला हो, सो भी बात नहीं है। वह तो बिल्कुल बीचमें था तो भी वह नहीं जला, क्या कारण है यह किसीके भी समझमें नहीं आया। अन्तमें सबने यही निश्चय किया कि इसे चीरकर देखो क्या कारण है, जो यह नहीं जला? इस लकड़ीके लट्ठेको सबके

सामने कुल्हाड़ीसे चीरकर देखा गया तो उसमें छोटे-छोटे कट्टो (गिलहरी) के जीवित बच्चे बैठे हुए हैं और उनका एक भी बाल तक नहीं जला है। इस प्रभुकी विचित्र-लीलाको सबने देखा और सभी दंग रह गये। आज यह समझमें आया कि जिसे वह प्रभु रखना चाहे, उसे अग्नि भी जला नहीं सकती और कोई मार नहीं सकता।

(ख) 'चिड़ियाके बच्चे अग्निमें जलनेसे बचे'—दूसरी घटना हमारे पासके गाँवकी है कि उस गाँवमें एक छप्परमें आग लग गई। जब छप्पर जलकर राख होगया, तो देखा गया छप्परका एक कोना नहीं जला है। उसे जब पासमें जाकर देखा कि उसमें चिड़ियाके बच्चे बैठे हुए हैं और बिल्कुल सुरक्षित हैं; उन बच्चोंको जरा भी आँच नहीं आई है। प्रभुके सिवाय किसने उनकी रक्षा की ? मैं ऐसी बातोंको पहिले कभी माननेवाला नहीं था, परन्तु आँखों-देखी घटना झूठ कैसे मानी जाय ?

(ग) 'चुहिया के बच्चे जीवित'—उसी घटनाके सुनानेके समय हमारे सामने वहाँ पर इस स्कूलका एक मुसलमान लड़का मियाँ अलियास बैठा हुआ था। वह पाँचों वक्त नमाज़ पढ़नेवाला और रोजा रखनेवाला था। उसने कहा कि महात्माजी; मैं भी अपने सामनेकी आँखों-देखी घटना सुनाता हूँ। एक अट्टा नामक जाटोंका गाँव है; जाड़ोंके दिन थे और सब जगह ईखें पिल रही थीं और गुड़ बन रहे थे। एक जगह एक कोल्हूमें मैं भी था। खूब भट्टी दहक रही थी और गुड़ बनाया जा रहा था। चमारी

भी उसमें काम कर रही थीं। उन्होंने गन्नेकी छीलनकी एक गोलसी मूढ़ी बैठनेकेलिए बना ली थी। मूढ़ी यों ही पड़ी रहती थी। एक दिन आँच मन्दी देखकर जल्दीसे भट्टीमें उस मूढ़ीको भी झोंक दिया गया। रात भर भट्टी जलती रही। बादमें जब उस भट्टीके अन्दरसे राख निकाली गई तो क्या देखा कि वह मूढ़ी जली नहीं, वह ज्योंकी त्यों है। यह देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ कि ऐसी तेज-आगमें भी यह जली क्यों नहीं ? उसे भट्टीमेंसे बाहर निकाला गया और बाहर निकालकर जब देखा गया तो उसमें चुहियाके छोटे-छोटे बच्चे जीवित निकले और उनका एक बाल तक नहीं जला था। ऐसी धाँय-धाँय करती हुई आगमें बच्चोंकी रक्षा करनेवाला वही खुदा था। सभी इस घटनाको सुनकर दाँतों तले अंगुली दबा गये।

(घ) 'एक आर्यसमाजी संन्यासीकी आंखों-देखी सत्य घटना'—विख्यात आर्यसमाजी-नेता आनन्दस्वामी सरस्वती (महाशय खुशहालचन्द सम्पादक-मिलाप)ने पिलखुआ हमारे स्थान पर पधारने पर यह घटना सुनाई थी; और अभी अपनी सन् १९५७में छपवाई पुस्तक 'एक ही रास्ता'के पृष्ठ ६६ में इस प्रकार लिखी है—

'बिहारमें भूकम्प आया तो मैं कलकत्तामें था। महात्मा हंसराजका तार आया कि बिहार पहुँचो। पं० ऋषिराम और सेठ श्रीदीपचन्द्र-पोद्दारके परिवारके श्रीआनन्दीप्रसादको साथ लेकर मैं बिहार पहुँचा। मुंगेरके नगरमें जाकर देखा कि वहां

हजारों लोग दब गये हैं। दोपहरके समय भूचाल आया, दुकानें खुली थीं और ग्राहक दुकानोंसे सामान खरीद रहे थे। भूकम्पने सबको गिरती दीवारों और छतोंके नीचे दबा दिया। दुकानदार भी दब गये, ग्राहक भी। मलवेके हटानेका कार्य प्रारम्भ हुआ, तो पहिले लोग काफी जीवित निकले, कुछ घायल कुछ सिकक्ते हुए, कुछ ठीक। तीसरे और चौथे दिन भी कुछ लोग जीवित निकले, बाकी लाशें। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, त्यों-त्यों केवल लाशें मिलने लगीं। परन्तु सोलहवें दिन एक मकान-का मलवा उठाया गया तो एक आदमी बिल्कुल अच्छा, भला, बिल्कुल जीवित निकल आया। उसे देखकर हम कुछ आश्चर्य-चकित हुए। किस प्रकार ईश्वर-विश्वास हमारे हृदयोंमें भूम के जाग उठा, यह तो हम ही जानते हैं। हमने उससे पूछा कि तुम इतने दिन जीवित कैसे रहे? वह बोला—मैं केले बेचता हूँ। केलोंका ढेर अपने पास रखे बैठा था कि पृथ्वी हिल उठी। छतका शहतीर मेरे ऊपर तिरछा होकर गिरा, बाकी छत उसके ऊपर आई, इसलिए मुझे चोट नहीं लगी। तभी एक बार पृथ्वी फिर हिली; मेरे ऊपर गिरे मलवेमें से एक ओरसे हवा आने लगी। पता नहीं किस ओरसे; परन्तु उस हवाने मुझे मरनेसे बचा दिया। तभी पृथ्वी एक बार फिर हिली, दुकानका फर्श टूट गया, उससे पानी उछल पड़ा। इतने दिनों तक मैं इस पानीको पीकर और केले खाकर जीवन व्यतीत करता रहा। कल केले समाप्त हो गये; आज पानी भी थोड़ा रह गया, मैंने समझा कि—मैं बचूंगा नहीं

परन्तु तभी मलवेके ऊपर कुदालोंकी आवाज आने लगीं। आपने मुझे बाहर निकाल लिया। इस व्यक्तिको देखकर मेरे हृदयने पुकार कर कहा—

'जाको राखे साइयां मार सके नहीं कोय।
बाल न बांका कर सके जो जग बैरी होय॥'

(४) मृतकका जीवन।

पुराणोंमें भक्तराज प्रह्लादकी यह कथा आई है कि उन्हें अग्निमें डाले जाने पर, जलमें डुबाये जाने, पहाड़ों परसे गिराये जाने पर भी उसका बाल बांका नहीं हुआ। इसे लोग दबी जबानसे असत्य कहते हैं, इसपर सुनें। एक ५। वर्षीय शिशु हैजेसे मरकर कपड़ोंमें लपेटकर हाथी-डुबाऊ गंगाजलमें डाले जानेपर भी दैवीशक्ति द्वारा दो महात्माओंके रूपमें किस प्रकार जीवित किया गया? एक सत्य घटना—

हमें जब यह महान् आश्चर्यजनक घटना सुनाई गई कि खुशालगढ़का ५। वर्षीय शिशु कुंवरपाल हैजेसे मरकर कपड़ोंमें लपेटकर हाथी-डुबाऊ गंगाजलमें डाले जाने पर भी अदृश्य दैवी-शक्ति द्वारा दो महात्माओंके रूपमें जीवित कर डाला गया; तो हम इस घटनाकी जांच करने और शिशुका दर्शन करने उसके गांव गये और पूरी-पूरी जांच करनेके पश्चात् यह चित्र लिया गया है। इसमें भक्त रामशरणदास पिलखुवा और व्याकरणाचार्य पं० श्रीनाथ शास्त्री जी महाराज वृन्दावन खड़े हुए हैं, और बीचमें यह अद्भुत शिशु कुँवरपाल खड़ा है—

सामने कुल्हाड़ीसे चीरकर देखा गया तो उसमें छोटे-छोटे कट्टो (गिलहरी) के जीवित बच्चे बैठे हुए हैं और उनका एक भी बाल तक नहीं जला है। इस प्रभुकी विचित्र-लीलाको सबने देखा और सभी दंग रह गये। आज यह समझमें आया कि जिसे वह प्रभु रखना चाहे, उसे अग्नि भी जला नहीं सकती और कोई मार नहीं सकता।

(ख) 'चिड़ियाके बच्चे अग्निमें जलनेसे वचे'—दूसरी घटना हमारे पासके गाँवकी है कि उस गाँवमें एक छप्परमें आग लग गई। जब छप्पर जलकर राख होगया, तो देखा गया छप्परका एक कोना नहीं जला है। उसे जब पासमें जाकर देखा कि उसमें चिड़ियाके बच्चे बैठे हुए हैं और बिल्कुल सुरक्षित हैं; उन बच्चोंको जरा भी आँच नहीं आई है। प्रभुके सिवाय किसने उनकी रक्षा की ? मैं ऐसी बातोंको पहिले कभी माननेवाला नहीं था, परन्तु आँखों-देखी घटना झूठ कैसे मानी जाय ?

(ग) 'चुहिया के बच्चे जीवित'—उसी घटनाके सुनानेके समय हमारे सामने वहाँ पर इस स्कूलका एक मुसलमान लड़का मियाँ अलियास बैठा हुआ था। वह पाँचों वक्त नमाज़ पढ़नेवाला और रोजा रखनेवाला था। उसने कहा कि महात्माजी; मैं भी अपने सामनेकी आँखों-देखी घटना सुनाता हूँ। एक अट्टा नामक जाटोंका गाँव है; जाड़ोंके दिन थे और सब जगह ईखें पिल रही थीं और गुड़ बन रहे थे। एक जगह एक कोल्हूमें मैं भी था। खूब भट्टी दहक रही थी और गुड़ बनाया जा रहा था। चमारी

भी उसमें काम कर रही थीं। उन्होंने गन्नेकी छीलनकी एक गोलसी मूढ़ी बैठनेकेलिए बना ली थी। मूढ़ी यों ही पड़ी रहती थी। एक दिन आँच मन्दी देखकर जल्दीसे भट्टीमें उस मूढ़ीको भी झोंक दिया गया। रात भर भट्टी जलती रही। बादमें जब उस भट्टीके अन्दरसे राख निकाली गई तो क्या देखा कि वह मूढ़ी जली नहीं, वह ज्योंकी त्यों है। यह देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ कि ऐसी तेज-आगमें भी यह जली क्यों नहीं ? उसे भट्टीमेंसे बाहर निकाला गया और बाहर निकालकर जब देखा गया तो उसमें चुहियाके छोटे-छोटे बच्चे जीवित निकले और उनका एक बाल तक नहीं जला था। ऐसी धाँय-धाँय करती हुई आगमें बच्चोंकी रक्षा करनेवाला वही खुदा था। सभी इस घटनाको सुनकर दाँतों तले अंगुली दबा गये।

(घ) 'एक आर्यसमाजी संन्यासीकी आँखों-देखी सत्य घटना'—विख्यात आर्यसमाजी-नेता आनन्दस्वामी सरस्वती (महाशय खुशहालचन्द सम्पादक-मिलाप)ने पिलखुआ हमारे स्थान पर पधारने पर यह घटना सुनाई थी; और अभी अपनी सन् १९५७में छपवाई पुस्तक 'एक ही रास्ता'के पृष्ठ ६६ में इस प्रकार लिखी है-

'बिहारमें भूकम्प आया तो मैं कलकत्तामें था। महात्मा हंसराजका तार आया कि बिहार पहुँचो। पं० ऋषिराम और सेठ श्रीदीपचन्द्र-पोद्दारके परिवारके श्रीआनन्दीप्रसादको साथ लेकर मैं बिहार पहुँचा। मुंगेरके नगरमें जाकर देखा कि वहां

हजारों लोग दब गये हैं। दोपहरके समय भूचाल आया, दुकानें खुली थीं और ग्राहक दुकानोंसे सामान खरीद रहे थे। भूकम्पने सबको गिरती दीवारों और छतोंके नीचे दबा दिया। दुकानदार भी दब गये, ग्राहक भी। मलवेके हटानेका कार्य प्रारम्भ हुआ, तो पहिले लोग काफी जीवित निकले, कुछ घायल कुछ सिकक्ते हुए, कुछ ठीक। तीसरे और चौथे दिन भी कुछ लोग जीवित निकले, बाकी लाशें। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, त्यों-त्यों केवल लाशें मिलने लगीं। परन्तु सोलहवें दिन एक मकान-का मलवा उठाया गया तो एक आदमी बिल्कुल अच्छा, भला, बिल्कुल जीवित निकल आया। उसे देखकर हम कुछ आश्चर्य-चकित हुए। किस प्रकार ईश्वर-विश्वास हमारे हृदयोंमें झूम के जाग उठा, यह तो हम ही जानते हैं। हमने उससे पूछा कि तुम इतने दिन जीवित कैसे रहे? वह बोला—मैं केले बेचता हूँ। केलोंका ढेर अपने पास रखे बैठा था कि पृथ्वी हिल उठी। छतका शहतीर मेरे ऊपर तिरछा होकर गिरा, बाकी छत उसके ऊपर आई, इसलिए मुझे चोट नहीं लगी। तभी एक बार पृथ्वी फिर हिली; मेरे ऊपर गिरे मलवेमें से एक ओरसे हवा आने लगी। पता नहीं किस ओरसे; परन्तु उस हवाने मुझे मरनेसे बचा दिया। तभी पृथ्वी एक बार फिर हिली, दुकानका फर्श टूट गया, उससे पानी उछल पड़ा। इतने दिनों तक मैं इस पानीको पीकर और केले खाकर जीवन व्यतीत करता रहा। कल केले समाप्त हो गये, आज पानी भी थोड़ा रह गया, मैंने समझा कि—मैं बचूंगा नहीं

परन्तु तभी मलवेके ऊपर कुदालोंकी आवाज आने लगीं। आपने मुझे बाहर निकाल लिया। इस व्यक्तिको देखकर मेरे हृदयने पुकार कर कहा—

'जाको राखे साइयां मार सके नहीं कोय।
बाल न बांका कर सके जो जग वैरी होय॥'

(४) मृतकका जीवन।

पुराणोंमें भक्तराज प्रह्लादकी यह कथा आई है कि उन्हें अग्निमें डाले जाने पर, जलमें डुबाये जाने, पहाड़ों परसे गिराये जाने पर भी उसका बाल बांका नहीं हुआ। इसे लोग दबी जबानसे असत्य कहते हैं, इसपर सुनें। एक ५। वर्षीय शिशु हैजेसे मरकर कपड़ोंमें लपेटकर हाथी-डुबाऊ गंगाजलमें डाले जानेपर भी दैवीशक्ति द्वारा दो महात्माओंके रूपमें किस प्रकार जीवित किया गया? एक सत्य घटना—

हमें जब यह महान् आश्चर्यजनक घटना सुनाई गई कि खुशालगढ़का ५। वर्षीय शिशु कुंवरपाल हैजेसे मरकर कपड़ोंमें लपेटकर हाथी-डुबाऊ गंगाजलमें डाले जाने पर भी अदृश्य दैवी-शक्ति द्वारा दो महात्माओंके रूपमें जीवित कर डाला गया; तो हम इस घटनाकी जांच करने और शिशुका दर्शन करने उसके गांव गये और पूरी-पूरी जांच करनेके पश्चात् यह चित्र लिया गया है। इसमें भक्त रामशरणदास पिलखुवा और व्याकरणाचार्य पं० श्रीनाथ शास्त्री जी महाराज बृन्दावन खड़े हुए हैं, और बीचमें यह अद्भुत शिशु कुँवरपाल खड़ा है—

जो हैजेसे मरकर, कपड़ोंमें लपेटकर हाथी-डुबाऊ जलमें बहा दिये जानेपर अदृश्य दैवीशक्ति-द्वारा दो छोटे-छोटे लम्बी-लम्बी सफेद-दाढ़ीवाले महात्माओंके रूपमें जीवित कर दिया गया, जिसे देखकर बड़े-बड़े घोर-नास्तिकोंकी बोलती बन्द हो गई, और दैवीशक्तिके सामने नत-मस्तक होनेको बाध्य होना पड़ा। हजारों-मनुष्योंने इस अद्भुत-शिशुके दर्शन किये, और अब यह कुंवरपालसे गंगाप्रसाद हो गया है। श्रीहरिबाबाजी महाराजके बांधपर इसे लाया गया और वहीं पर यह चित्र लिया गया।
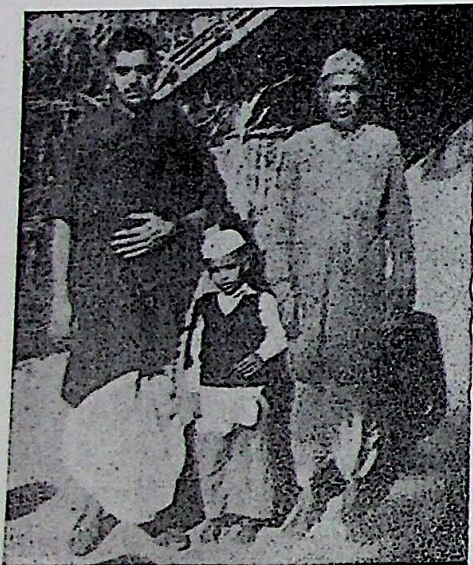
मरकर जीवित हुआ बच्चा

(४) पशु-पक्षियों की भक्ति करनेकी बातें ?

जब पुराणमें आता है कि गीध-पक्षी भगवान्का भक्त था, और कुत्तेने श्रीरामके दरबारमें जा कर फरियाद की, गजने ध्यानसे ग्राहसे छुटकारा पाया, या पशु-पक्षी भक्ति करते थे, और काकभुशुण्डी और गरुड़ कथा कहते-सुनते थे तो उसे गप्प बताया जाता है। पर ऐसी अन्य घटनायें सुनिये—

(क) भगवद्भक्त गृद्ध—'सन्मार्ग' देहली (१ मई सन् १६५२) सिरसा। 'हाल ही की बात है कि वंशीवट-मन्दिरमें जब पुजारी श्रोताओंको श्रीरामायण पढ़कर सुना रहे थे, तो कहींसे एक गिद्ध उड़ता हुआ मन्दिरमें आया और श्रीरामचन्द्रजीकी मूर्तिके निकट जाकर उनसे चरणों पर अपना मस्तक रखकर लगभग पांच घण्टे तक खड़ा रहा। इधर श्रीरामायणमें प्रसंग चल रहा था कि 'गिद्धनी अपने पति गिद्धसे मनुष्यका मांस लानेकेलिए कहती है और वह कहता है कि आज तो अहिरावण श्रीराम-लक्ष्मणको देवीके सामने बलि देनेकेलिए ले गये हैं, उसमेंसे मैं तुम्हें माँस लाकर दूँगा'। कहा जाता है कि पुजारी द्वारा उड़ाने की चेष्टा करने पर भी गिद्ध वहांसे नहीं उड़ा। बादमें काफी देर ध्यान लगानेके बाद उड़ गया। दर्शकोंने यह देखकर काफी आश्चर्य किया'।

(ख) भगतिन चिड़िया—'नवभारत-टाइम्स' देहली (३ अगस्त १६५५) कन्नौज। यहां एक भगतिन चिड़ियाकी बड़ी चर्चा है। बताया जाता है कि यहां कचहरी-मौहल्लामें नित्य श्रीमद्भागवत-

की कथा होती है, जिसे सुननेकेलिए श्रद्धालु-भक्तोंकी भारी भीड़ जमा हुआ करती है। उनमें एक चिड़िया भी है जो कथा प्रारम्भ होते ही न जाने कहांसे उड़ती हुई उक्त-स्थल पर आ जाती है और कथावाचककी चौकीकी तीन वार परिक्रमा करके चौकीके ही एक कोनेमें एक टांगके वल खड़ी हो जाती है, और आंखें बन्द कर वड़े ही ध्यानपूर्वक कथा सुना करती है, और कथा समाप्त होते ही वह तुरन्त उड़कर लुप्त हो जाती है। इस भगतिन-चिड़ियाको देखनेकेलिए और अधिक भीड़ वहां आने लगी है।

(ग) कुत्तेने कुशावर्तकी परिक्रमा की—('वीर-अर्जुन' ४-६-५६) नासिक २ सितम्वर। गत दिन यहांके सैकड़ों निवासियोंने स्थानीय त्र्यम्बकेश्वर पर एक कुत्तेको कुशावर्तकी परिक्रमायें लगाते हुए देखा। कहा जाता है कि उक्त कुत्तेने तालावमें तीन वार स्नान किया। लोग उसे दूध और मिठाई आदि दे रहे हैं।

(घ) एक विलक्षण कुत्ता—पिलखुवा १६५७ के अक्तूबरमें दण्डी-संन्यासी स्वामी श्रीप्रकाशानन्द सरस्वतीजी महाराज ज्योतिष्पीठ-बद्रिकाश्रम हिमालयने अपनी आंखों-देखी आश्चर्य-जनक सत्य घटना सुनाते हुए वताया—

'मैं उस समय गृहस्थाश्रममें था। सिरवा जि० नैनीतालकी वात है कि हम अपने यजमान-ब्राह्मणोंके घर गये। एक ब्राह्मणके घर पर हमने स्वयं अपने हाथोंसे भोजन बनाया, क्योंकि हम स्वयं-पाकी थे। भोजन कर चुकनेके पश्चात् हमने देखा कि उनके

यहां एक कुत्ता वैठा हुआ था; इसलिए हम उसके लिए आधी रोटी लेकर आये और उसके सामने लाकर डाल दी, लेकिन आध घण्टे तक उसके सामने रोटी पड़ी रही, उसने उसे खाना तो दूर रहा उसे सूँघा तक भी नहीं। हम इस रहस्यको नहीं समझे। उसके मालिकने कहा कि महाराज यह किसीके भी हाथ की रोटी नहीं खाता जव तक कि इसे यह मालूम न हो जाय कि यह जातिका ब्राह्मण है और ब्राह्मण भी सदाचारी और आचार-विचारसे रहनेवाला हो। उसने कुत्तेसे कहा कि भाई कुत्ते! यह जातिके ब्राह्मण हैं और बड़े ही सदाचारी हैं और हम भी इनके हाथकी रोटी खा लेते हैं, तू खा ले। उसे विश्वास हो गया, उसने झटसे रोटी खा ली। मालिकने वताया कि सारे गांवमें घूम आता है, पर किसीके भी घर आज तक इसने ब्राह्मणोंको छोड़कर भोजन नहीं किया है। एक दिन यह नदीमें वह गया और वहता-वहता एक गांवमें जा निकला और तीन दिन तक गांवमें रहा, पर लाख प्रयत्न करने पर भी किसीके हाथकी रोटी नहीं खाई, भूखा ही रहा और फिर चौथे दिन नदीका वेग कम होने पर हमारे घर लौटकर आया तो तीन दिनका भूखा था, जव हमने रोटी डाली तो खाई। यह देखकर हम आश्चर्य-चकित हो गये। जन्म भर इस कुत्तेने इस नियमका पालन किया, धन्य है इस कुत्ते को। आजके हिन्दु चमार-भंगी, मुसलमान-ईसाई सवकी जूँठी चायकी प्यालियां चाट रहे हैं, यह तो इस कुत्तेसे भी गये वीते हैं।

(ङ) सांपका गीता-प्रेम—('नवभारतटाइम्स' ता० १६ अक्तूबर १६५४) कपूरथला। सूचना मिली है कि नाभाके मौहल्ले करतारपुरामें एक सांप एक बुढ़ियासे श्रीभगवद्गीताका पाठ सुनता रहा। जब बुढ़ियाको सांपका पता चला तो उसने सांपको दूध पिलाया और फिर गीता सुनाती रही। इस दृश्यको सैकड़ों लोगोंने देखा।

(६) आसाम का भूलू कुत्ता।

(अमृतबाजार पत्रिका १४ मई सन् १६५३का रविवारी अंक) आसामके एक गाँवमें एक छोटासा कुत्ता है जिसका नाम भूलू है। वह रोज खानेकेलिए घरवालोंको परेशान करता है, किन्तु प्रतिमासकी दोनों एकादशी, पूर्णिमा और शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको बहुत प्रेरणा करने पर भी एक बूंद जल तक ग्रहण नहीं करता।

(७) आस्ट्रेलियामें मनुष्यकी बोली बोलनेवाला कुत्ता।

('सन्मार्ग-साप्ताहिक' बनारस, वर्ष ६ अंक ५१ ता० ११ जून १६५३ पृष्ठ १०) आस्ट्रेलियामें ऐसा कुत्ता मिला है कि जो मनुष्योंकी बोली बोलता है। रेडियोके रिकार्डमें उसकी बोली भरनेका प्रयत्न हो रहा है। आधुनिक विज्ञानको अभी अपना मत बहुत-कुछ बदलना पड़ेगा।

(८) श्रीतुलसीकी कृपा से मनुष्य श्रीविष्णुलोकको चला जाता है।

मुसलमान तुलसी-भक्त कैसे बना—'श्रीसर्वेश्वर' (मासिक वृन्दावन, वर्ष ४ अंक ४, २०१२)में ठाकुर नाथूसिंह केसरेहिन्द आयुर्वेद-मार्तण्ड लिखते हैं—'एक बार ठाकुर साहब लदाना (गाँव

जयपुर राज्य सागीके पास) मुझसे कहने लगे कि 'एक समय मेरे पास एक मुसलमान आया जिसके गलेमें श्रीतुलसीकी कण्ठी थी। मैंने उससे पूछा कि मुसलमान होते हुए भी तुलसीकी माला गलेमें कैसे पहन रक्खी है? उसने कहा कि आप ठीक ही कहते हैं, पर इस तुलसीकी महिमा एक समय मैंने प्रत्यक्ष देख ली, तब इस मालाको क्यों नहीं गलेमें रक्खूं? यह कहकर उसने अपनी सत्यतापूर्ण कहानी सुनाई—

एक समय मैं जंगलमें जा रहा था। रास्तेमें मुझे लम्बे-आकारवाले दो पुरुष खड़े मिले। पहले तो उनको देखकर मैं डर गया, परन्तु उन्होंने मुझे विश्वास दिलाकर कहा कि घबराओ मत, आ जाओ। मैंने उनसे पूछा कि आप कौन हैं? और इस समय यहाँ क्यों खड़े हैं? वे कहने लगे कि हम यमराजके दूत हैं। इस रास्तेसे एक गाड़ीवान निकलनेवाला है, उसको हम बैलके शरीरमें प्रवेश करके मारकर यमलोक ले जायेंगे।

मैं भी इस घटनाको देखनेकी लालसासे वहीं खड़ा रहा। थोड़े समय बाद उस रास्तेसे एक गाड़ीवाला निकला। उस स्थान पर आते ही उसके बैलका जोत खुल गया; गाड़ीवान उतरकर जोत बाँध रहा था कि बैलने उस गाड़ीवानके पेटमें सींग मार दिया, और वह उसी समय बेहोश होकर समीपमें स्थित तुलसीकी झाड़ियोंमें गिरा और मर गया। थोड़े ही समयके बाद वे दोनों पुरुष मेरे नज़र आये। उन लम्बे आकारवाले पुरुषोंका चेहरा

उदास था। मैंने कहा आप लोगोंने जो कहा वह तो सत्य ही निकला। उन्होंने कहा कि यह मर तो गया पर हम इसको नहीं ले जा सकेंगे; क्योंकि विष्णुके दूत आगये और वे ही इसे लेगये। मैंने उत्सुकतासे पूछा कि ऐसा क्यों हुआ? तब उन्होंने कहा कि इसकी लाश तुलसीके पौधेमें जा गिरी जो यहाँ खड़ी है, उसको तुलसी-स्पर्श हो जानेसे हमारा अधिकार हट गया और विष्णुके दूत आकर ले गये। दो दिन बाद उस गाड़ीवानके रिश्तेदारोंको मालूम पड़ा; तब उस स्थान पर लाश लेने गये तो लाशमें सड़ान्द भी उत्पन्न नहीं हुई थी, ज्योंकी त्यों लाश पड़ी हुई थी और उस लाशको जानवर भी नहीं लगे थे। इसलिए मैं उस समयसे ही गलेमें तुलसीकी कण्ठी रखने लगा हूँ।

(९) पुराणों में कई हजारों वर्षकी आयु।

१५०० डेढ़ हजार वर्ष पुराना कछुआ—(वीर अर्जुन ६ जुलाई ५७) लन्दन ८ जुलाई। पन्द्रह-सौ वर्ष पुराना एक कछुआ मंचूरियाके एक चिड़ियाघरको भेंट किया गया है। १४ मन वजनका यह जन्तु ७ फीट ३ इंच लम्बा २॥ फीट ऊँचा है। यह उत्तरी चीनके यांगण्न द्वीपमें मछुओंको मिला और वे उसे पकड़ कर लाए।

(१०) ज्योतिष-विद्याका अद्भुत चमत्कार।

(साप्ताहिक धर्मयुग, बम्बई ७ जून सन् १९५२ पृष्ठ १२ में 'एक दिनकी बात'में मानकौरदेवी (अमृतसर) अपने जीवनमें घटी घटना इस प्रकार लिखती हैं)—'पिताजी पाठ-पूजामें बहुत रुचि रखते थे। व्यवसाय उनका ज्योतिष था, उसमें वह बहुत

दक्ष थे। जितने मेरे पिताजी सीधे स्वभावके तथा प्रभु-भक्त थे, उतनी मेरी माँ कर्कशा-स्वभाववाली तथा नास्तिक थीं। एक दिन माँ तथा पिताजीमें मेरे विवाह पर झगड़ा हो रहा था और पिताजी माँ को समझा रहे थे कि लड़कीकी किस्मतमें शादीका बहुत बुरा प्रभाव है; परन्तु माँ मेरे पिताजीको बहुत बुरा कह रही थीं। दिन बीतते गये। पाँच साल इसी तरह कलहमें निकल गये। जब भी मेरी माँ पिताजीसे मेरी शादीकी बाबत कहतीं, तब ही मेरे पिताजी कह देते कि शादीका फल बहुत ही बुरा है। मेरी माँ उन्हें कोसती और ज्योतिषको बुरा भला कहती। आखिर शादीका दिन आगया, बड़ी धूमधाम हुई। पानीकी जगह दूधका प्रयोग किया गया। जब मैं डोलीमें बैठी, तो खूब रोई। माँ भी रोई पर वह प्रसन्न थी। पिताजी मुझे समझाने लगे—बेटी, अभी घण्टे भरमें तुम्हें वापिस आजाना है, तुम क्यों व्यर्थमें रोती हो? अभी मेरी डोली बाजारके दूसरे मोड़ पर मुड़ी ही थी कि पीछेसे एक साँड दूसरे साँडसे हारा हुआ भागता आया और एकदम मेरे पतिसे भिड़ गया। मेरे पति एकदम गिर पड़े और गिरते ही उनके प्राण-पखेरू उड़ गये। मेरी डोली उसी रास्तेसे अपने घर वापिस आगई। इन सब कार्योंको लगभग आधा घण्टा लगा और पिताजीके वाक्य बिल्कुल ही ठीक निकले। उस दिनसे पिताजीने ज्योतिष-व्यवसाय बन्द कर दिया और बाकी आयु प्रभु-भक्तिमें व्यतीत की और ठीक सात वर्ष बाद प्राण त्याग दिये'।

(११) तीर्थोंमें कामवासनाका अन्त हो जाता है ।

(वीर-अर्जुन देहली २१-३-१९५५) विराटनगर १६ मार्च। मलाकू-पर्वत पर चढ़नेवाले फ्रांसीसी पर्वतारोही-दलके सदस्यों-ने बताया कि १७ हजार फीट ऊँचा चढ़ने पर कामवासना लुप्त-प्राय हो जाती है। इन सदस्योंके कथनानुसार इसी कारणसे संसारसे विरक्त होकर साधु बननेवाले हिन्दु-गृहस्थ तप करने-केलिए हिमालयके हिमाच्छादित प्रदेशको चुनते थे। इस प्रदेशमें पहुँचने पर समाधिकेलिए आवश्यक एकान्तके अतिरिक्त काम-वासना समाप्त हो जाती है। किन्तु नीचे आनेपर उन्होंने बताया कि ज्योंही व्यक्ति यहांके वातावरणमें समरस हो जाता है यह वासनाएँ पुनः जागृत हो जाती हैं। इन सदस्योंका कहना है कि हिन्दु साधु-मुनियोंको यह रहस्य ज्ञात था, इसलिए वह संसारसे विरक्त होनेवाले लोगोंको यहाँ जानेकी सलाह देते थे।

(१२) साधुने गाड़ी अपनी शक्तिसे रोक दी।

(नवभारतटाइम्स ता० ६ सितम्बर १९५८) मारवाड़ जंकशन। हाल ही में यहां एक विचित्र घटना घटी, जिसकी चर्चा हर व्यक्तिके मुँह पर है। बताया जाता है कि उदयपुरको जानेवाली एक गाड़ीके सैकेण्ड-क्लासके एक यात्रीसे एक साधुने आठ आने मांगे। यात्रीके इनकार करनेपर उक्त साधुने घोषणा करदी कि जब तक यह यात्री मुझे आठ आने नहीं दे देता; गाड़ी नहीं चल सकती। उसके बाद ड्राइवरके काफी प्रयास करनेपर भी उक्त ट्रेन नहीं चली, तब स्टेशन-मास्टर वा गार्डने उक्त यात्रीसे आठ

आने दिलाये और साधुसे प्रार्थना की कि वह गाड़ी चलने दे। तब साधुके कहने पर गाड़ी चली।

(१३) पीपल काटनेका दण्ड।

(मुसलमान मिस्त्रीने पीपल काटनेका प्रत्यक्ष फल, क्या पाया?)

पिलखुवाके पास की बात है कि एक गांवमें एक राजपूतने अपना पीपल २००) रु० में दलवीरखाँ बढ़ईको वेचा और उसका साक्षी था इसाकखाँ बढ़ई। यह घटना सईदखाँ-मिस्त्री पिलखुवा की देखी हुई है। जब काटनेका नम्बर आया तो रात्रि को दलवीरखाँ बढ़ईको स्वप्न हुआ—जिसमें पीपलने उससे कहा कि तू मुझे अपना समझकर छोड़ दे, काट मत, और जो तुझे १००) रु० देने हैं, वह रुपये मय मुनाफेके तुझे मिलेंगे, मेरी जड़में सोना रक्खा है ले ले। वह प्रातःकाल चुपचाप पीपलके पास गया और जड़को खोदकर देखा तो उसमें वास्तवमें सोने की सलाख निकली, जिसे वह चुपचाप घरमेंले आया और साक्षी-इसाक को नहीं सुनाया। जब पीपल कटनेका नम्बर आया तो सलाख मिल जाने पर भी वह और उसका साक्षी इसाक उसे काटने जा पहुँचे। उन्होंने सैकड़ों वृक्ष काटे होंगे पर आज जब उन्होंने काटनेकेलिए पीपल पर कुल्हाड़ी चलाई. तो वह यह देखकर आश्चर्यचकित हो गये कि कुल्हाड़ीके लगते ही पीपलमेंसे एकदम खूनके फव्वारे छूटे और आस-पासमें खड़े सभीके कपड़े खूनमें भीज गये। बढ़ईके एक ही लड़का था और वह पहले दिन बिल्कुल ठीक था, पर ज्योंही पीपल पर कुल्हाड़ा लगना प्रारम्भ

हुआ, त्योंही उसका लड़का बीमार हो गया और देखते-देखते सायं तक मर गया। अब तो सारे घरमें रोना-पीटना शुरू हो गया। उसकी बढ़इन स्त्रीने बड़ी जोरसे सबको सुनाकर कहा कि लड़केको इस जालिम-बापने मारा है। इसको जब पीपलने मय-मुनाफेके रुपये दे दिये थे तो इसने पीपल क्यों काटा? इस घटना-से सबको बड़ा आश्चर्य हुआ।

(१४) भूतसे परेशान

(मकानसे भूत भगानेकेलिए सीमेंट मँगाया)

('वीर-अर्जुन' देहली ता० २२ फरवरी सन् १६५५ पृष्ठ ५)

लखनऊ २० फरवरी। 'उ. प्र. सरकार जिला बलियाके एक भवनसे भूतको भगानेकेलिए सीमेंट भेज रही है। यह भवन प्रजासमाजवादी-नेता जयप्रकाशनारायणको सम्पत्ति-दानमें मिला था, परन्तु उनके सेवक इस भवनमें अभी तक प्रवेश नहीं कर सके, क्योंकि यह चर्चा है कि इस भवनमें भूतका निवास है। कथित भूतको भगानेकेलिए गांवमें एक यज्ञ भी किया गया, जिसकी अध्यक्षता जयप्रकाशनारायणने की। इसके बाद जयप्रकाशनारायणने चन्द्रभान गुप्तसे एक भेंट की और कहा कि इस भवनके निर्माणकेलिए वह सीमेंट दें, क्योंकि सम्भवतः भूत नये बनाये गये मकानमें रहना न करे और वहांसे चला जाये'।

(१५) त्रिशूलकी विज्ञानको चुनौती।

(बजरङ्ग पाक्षिक २६ फरवरी १६५६ अङ्क २३ पृष्ठ ८)

मुजफ्फरपुरके श्रीशिवमंदिरका त्रिशूल गत दो वर्षोंसे समय-

समय पर कई दिनों तक हिला करता है। मन्दिरकी छत पर भगवान् शंकर की सीमेंटकी बनी हुई मूर्तिके आगे जो त्रिशूल है वह लोहेका है और इसपर चमकीला रंग चढ़ा दिया गया है। जनवरी सन १६५४ में यह त्रिशूल कई दिनों तक दिन-रात हिलता रहा और इसे देखनेकेलिए १ लाखसे अधिक नर-नारी आये। बिहारके एक मन्त्री श्रीमहेशप्रसादसिंह और बिहारके अनेक उच्चाधिकारी तथा अनेक इञ्जीनियर और कई वैज्ञानिकोंने इस त्रिशूलको देखा और इसके हिलनेके कारणका अनुसन्धान किया, किन्तु उन सबको सफलता नहीं मिली। यह धार्मिक-त्रिशूल विज्ञानको चुनौती दे रहा है।

(१६) मैंने सनातनधर्मकी शरण और श्रीकृष्ण-नामका जप क्यों ग्रहण किया?

अभी उस दिन पिलखुवा हमारे स्थान पर सुप्रसिद्ध सनातन-धर्मी राजा महाराज बरौली, महाराज गभाना आदि राजागण पधारे थे। महाराज बरौलीके साथमें श्रीस्वामी सर्वदानन्द परिव्राजक एम. ए. एल-एल. बी. भूतपूर्व डिप्टी कलेक्टर थे, आप रात्रिको हमारे स्थान पर ठहरे। आपने अपनी जवानी अपनी कहानी इस प्रकार सुनाई—

'मैं कट्टर आर्यसमाजी रह चुका हूँ और दस वर्ष तक आर्य-समाजकी सेवा कर चुका हूँ और कई वर्ष तक कट्टर-कांग्रेसी भी रहा हूँ, और गांधीजीके आश्रममें कई वर्ष तक रहा हूँ। मेरा गांधीजीसे बड़ा घरका-सा सम्बन्ध था। कांग्रेसके बड़े-बड़े नेता मेरा मान करते हैं। परन्तु मैं अब आर्यसमाजी-लोगों की

इस बातको कि श्रीकृष्ण मनुष्य हैं—नहीं मानता और न मैं गांधीजीके अनुसार 'श्रीकृष्ण काल्पनिक हैं' इस बातमें विश्वास करता हूँ। मैं आज श्रीकृष्णको परब्रह्म मानता हूँ और श्रीकृष्ण-भजन करनेमें और 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मन्त्रका जप करनेमें संकोच नहीं, वरन् गौरवका अनुभव करता हूँ। आर्यसमाजी वा कांग्रेसी होकर भी मेरे जीवनमें ऐसा एकदम परिवर्तन क्यों हुआ, उसका एकमात्र कारण हैं मेरे आंखों-देखी अद्भुत आश्चर्यजनक घटनायें, जिनका उत्तर मुझे आर्यसमाज न दे सका और मुझे बरबस सनातनधर्म और श्रीकृष्णकी शरणमें आना पड़ा। घटना इस प्रकारसे है—

मेरे पूज्य पिता बड़े ही कट्टर-आस्तिक सनातनधर्मी मूर्तिपूजक थे, पर मैं अँग्रेजी पढ़नेके कारण आर्यसमाजी बन गया और विदेशोंमें भी गया और कांग्रेसी बन वर्षों गांधीजीके आश्रममें भी रहा और गांधीजीसे मेरा बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। आश्रममें रहकर मैंने सब बातें देखीं जिन्हें मैं बताना उचित नहीं समझता। मैं डिप्टी-कलक्टर भी वर्षों रह चुका हूँ।

जबकि मैं कट्टर आर्यसमाजी था श्रीकृष्णको मनुष्य मानता था श्रीकृष्णके भजनको व्यर्थ समझता था, तो एक दिन रात्रिमें सोती बार स्वप्नमें क्या देखता हूँ कि मेरे सामने महर्षि नारदजी महाराज खड़े हैं और मुझे 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' मन्त्र जपनेको कह रहे हैं। मुझे इस अद्भुत घटनासे बड़ा आश्चर्य हुआ और भगवान्-श्रीकृष्णकी ओर मेरा ध्यान आकर्षित हुआ।

एक बार जबकि मैं चित्रकूटमें गया हुआ था, तो एक दिन मैंने १२ कोस की पैदल यात्रा की। घूमते-घूमते मैं थक गया और भूखसे व्याकुल हो गया और रास्ता भी भूल गया। मैं सोच रहा था कि अब कहां जाऊँ, क्या करूँ, तो इतनेमें मुझे सामने एक वयोवृद्ध तपस्वी जटाजूटधारी साधु धूनी रमाये बैठे दिखलाई पड़े। मैं थका हुआ तो था ही, मैं उनके पास जाकर बैठ गया। उन्होंने वहीं बैठे-बैठे मुझे जो बातें मेरे साथ घटी-बताईं, जिन्हें सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ और साथ ही मुझे भूखा जानकर उन्होंने मुझे खिचड़ी बनाकर खिलाई। जो स्वाद मुझे उस खिचड़ी में आया ऐसा जीवनमें आजतक स्वाद नहीं आया। मैं रात्रिको उन्हीं महात्माजीके पास सो गया। सुबह प्रातःकाल उठकर जो आंख खोलकर देखता हूँ कि न तो वह रात्रिवाला जंगल है, न धूनी है, न धूनी रमानेवाले साधु-बाबा हैं। मैं एकदम १२ कोस दूरी पर श्रीगंगाके किनारे बैठा हूँ। यह देखकर मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रहा। मैंने पुराणोंकी बातोंको सत्यरूपमें पाया। आर्यसमाजके श्रीनारायणस्वामीजीके पास जाकर उनके सामने रक्खीं, तो उनके पास इन बातोंका सन्तोषजनक उत्तर नहीं पाया। और भी जीवनमें अनेकों आश्चर्यजनक-घटनायें देखी, जिनके कारण विवश हो मुझे अपना हठ छोड़ श्रीकृष्णको परमात्मा मान श्रीकृष्ण-शरणमें आना पड़ा। मैं श्रीकृष्णकी गीताका पाठ करता हूँ और प्रतिवर्ष श्रीबदरीनारायणकी यात्रा करने जाता हूँ और बद्रीनाथजीका दर्शन कर शान्तिका अनुभव करता हूँ।

(१७) परकाया-प्रवेशकी बात।

पुराणोंमें परकायाप्रवेश-सम्बन्धी अनेकों आश्चर्यजनक घटनायें आती हैं, जिन्हें पढ़कर आर्यसमाजी आदि गप्पबाज़ी बताया करते हैं और हँसीमें उड़ाया करते हैं। जगद्गुरु भगवान्-शंकराचार्यजी महाराजने एक राजाके मृतक-शरीरमें प्रवेश कर लिया था—इसे भारतका बच्चा-बच्चा जानता है। इसी सम्बन्धकी एक बिल्कुल सत्य-घटना 'आलोक'-पाठकोंके सामने रखते हैं। यह घटना 'त्यागी-ब्राह्मण' मासिक मेरठ (जनवरी सन् १९५८ पृष्ठ ४२) और 'नवभारत-टाइम्स' (३ जून १९५८) में और 'कल्याण' (अक्तूबर सन् १९५८ पृष्ठ १२८३) में छपी है। जिसका सार इस प्रकार है—

इस घटनाकी जाँच राजस्थानके गंगानगर-स्थित सेठ सोहनलाल मैमोरियल-संस्थानके निर्देशक श्री एच. एन. बनर्जीने १०० आदमियोंके साथ रसूलपुरमें जाकर की थी, और हमारे पास उन्होंने पत्र के साथ लड़केका चित्र भेजते हुए लिखा था कि हम वहाँ पर गये थे और ग्रामवासियों-के हस्ताक्षर कराये थे, तथा बहुतसे व्यक्तियों-के बयान भी लिये हैं, और उनके बयान टेप रिकार्डर पर रिकार्ड भी किये हैं, यह सब सामग्री हमारे कार्यालयमें सुरक्षित है। घटना इस प्रकारसे है—
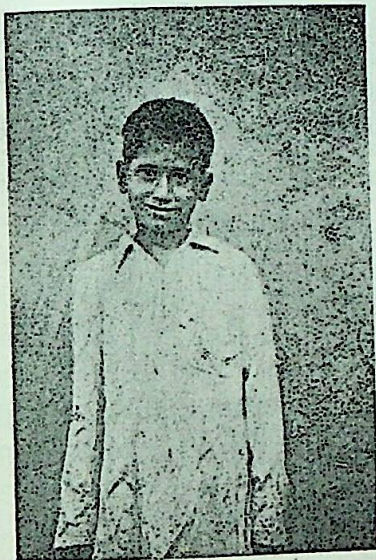
दूसरेकी आत्मावाला लड़का

एक बारात मौंजे केन्दुकीसे ग्राम निर्माणा जि० मुजफ्फर-नगर जा रही थी। इस बारातमें एक व्यक्ति शोभाराम आयु-लगभग २४ वर्ष, त्यागी ब्राह्मण ग्राम बहेड़ी जि० मुजफ्फरनगर रेलवे-स्टेशन रोहानाकलाँको अपना रथ हाँककर ले जा रहा था। वह रथसे गिरा, रथका पहिया उसकी गर्दन पर से उतरा। नाक-मुँहसे रक्त बहने लगा। बेहोशीकी दशामें उसे रोहाना मिलके अस्पताल ले जाया गया। वहाँ पर रातके ११ बजे वह मर गया। उसी स्थान पर उसका दाहसंस्कार कर दिया गया। उसी रातको ग्राम रसूलपुर (जाटान) जि० मुजफ्फरनगर जो कि ग्राम बहेड़ीसे चार मीलके फासले पर है, एक जाटका बच्चा चेचककी बीमारीसे गुजर गया। बच्चेकी आयु लगभग एक वर्ष थी। बच्चा सहसा रातके ४ बजे (मरनेके ३-४ घंटे पश्चात्) जी उठा। किन्तु उस बालकने इस समयके पश्चात् माँका दूध पीना छोड़ दिया। बालकका नाम जसबीर था। बिल्कुल ठीक हो जाने पर बालकमें विचित्र परिवर्तन आगया। उसने उस घरमें खाना-पीना बन्द कर दिया और वह अपनेको ब्राह्मण बतलाने लगा। उसने कहा कि मैं रसूलपुरसे २२ मीलकी दूरी पर स्थित बहेड़ी नामक गाँवके शंकरलाल त्यागीका लड़का हूँ।

उस लड़केकी माँ उसे लेकर अपने मायके जा रही थी (ग्राम परईमें) मार्गमें वह स्थान पड़ता था जहाँ पर उपर्युक्त घटना (युवकके रथके द्वारा मरना) घटी थी। वहांसे दो रास्ते जाते थे, एक ग्राम बहेड़ीको और दूसरा ग्राम परईको। लड़केने कहा

कि मैं यहाँ रथसे गिरा था, हमारे घरका रास्ता तो उधर (बहेड़ी ग्रामकी ओर संकेत करके कहा) को है। माँ बच्चेकी बात पर ध्यान न देते हुए उसका हाथ पकड़ ग्राम परईकी ओर चल दी। मार्च सन १६५८ की बात है कि केनको-आपरेटिव सोसायटीका कामदार जगन्नाथप्रसाद (बहेड़ी निवासी) एक दिन ग्राम रसूलपुर जाटान गया। वहीं जाटनीका लड़का जसवीर जिसकी आयु अब ५-६ वर्षकी हो चुकी है बच्चोंमें खेल रहा था। उसने पुकारा 'अरे ओ जगन्नाथ' !!! जगन्नाथने चौकन्ना होकर इधर-उधर देखा। कोई परिचित व्यक्ति दिखाई न पड़ा और वह चल पड़ा।

लड़केने पुनः पुकारा जगन्नाथ ! यहाँ सुन। उसने जगन्नाथसे राम-राम करके कहा—मुझे बहेड़ी ले चल। जगन्नाथने कहा—तू किसका लड़का है ? उस लड़केने प्रारम्भसे लेकर अन्त तक अर्थात् रथसे गिरकर मरने तककी घटना सुनाई। जगन्नाथने आश्चर्यसे पूछा—फिर तू यहाँ कैसे आया ? लड़केने कहा फिर गिरकर मरनेके बाद मुझे और कोई जगह न मिली। यह शरीर खाली देख इसमें आगया। श्रीजगन्नाथने यह पूरी घटना बहेड़ी जाकर ग्रामवालोंको सुनाई। लड़केके ताऊ-चाचा आदि सम्बन्धी गाँव-रसूलपुर गये। लड़केने उन सबको पहचाना और नाम लेकर राम-राम किया। लड़केके सम्बन्धियोंने उससे अनेक-प्रश्न किये, जिनके उसने सन्तोषजनक उत्तर दिये। उन ग्रामीणोंमेंसे एक व्यक्तिने जो कि उसी रथमें सवार था और

रथसे गिरनेके पश्चात् लड़केको रथमें लिटाया और सिर अपनी गोदमें रख रहा था—कहा मेरा नाम बतला। लड़केने कहा—नाम तो भूल गया, किन्तु इतना याद है कि तुमने मुझे गोदमें लिटाये रक्खा था। वे उस लड़केको लेकर बहेड़ी ग्राम चले। रोहाना मिल्स स्टेशन पर आकर लड़केसे आगे-आगे चलनेको कहा गया। लड़का सीधा अपने घर पहुँचा। सबके यथोचित नाम लेकर राम-राम किया; और यह भी ज़िद की कि मैं यहीं रहूँगा। वह बच्चा आज भी जाटनीके घरकी रोटी नहीं खाता। उसके खानेका प्रबन्ध एक पड़ोसिन ब्राह्मणीके यहाँ है। उसने जीवित होनेके पश्चात् उस जाटनी (अपनी मौजूदा माँ) का दूध भी कभी नहीं पिया'।

यह घटना 'कल्याण'के इस घटनाके लेखक रामस्वरूप शर्मा-जी को जिला कांग्रेस-कमेटी मुजफ्फरनगरके उपाध्यक्ष, भ्रष्टाचार-निवारक समितिके सदस्य और डिस्ट्रिक्ट कोआपरेटिव बैंक मुजफ्फरनगरके डाइरेक्टर चौ० काशीराम त्यागीकी सुनाई हुई है, इससे बढ़कर प्रमाण और क्या चाहिये ?

पूर्व हम स्वा.शं.का संकेत कर चुके हैं। मण्डनमिश्रके शास्त्रार्थमें पराजित हो जानेके बाद जब उनकी स्त्री भारतीने शास्त्रार्थकेलिए कहा, तब आचार्यने शास्त्रार्थमें उसे भी पराजित कर दिया। उसके कामशास्त्र-सम्बन्धी प्रश्न करने पर आचार्यने कहा कि-मैं इस विषयको नहीं जानता। फिर भी एक मासके बाद बता दूँगा; तब उन्होंने मृतक-राजा अमरुकके शरीरमें अपने आत्माका प्रवेश कराके उस विषयका ज्ञान करके भारती-को पराजित कर दिया। इस प्रकारकी घटना मुद्राराक्षसकी पूर्वपीठिकामें भी आती है, अतः इस बात पर सन्देह करना अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है।

(१८) रहस्यमय चम्मच।
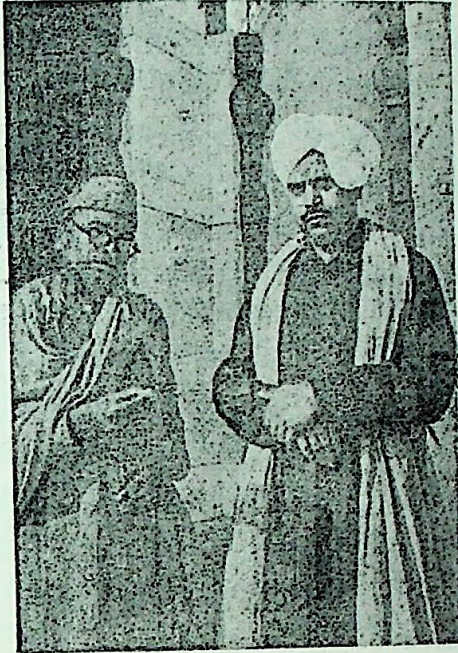
बाबा गोपालदास-नामक सिद्धयोगी महाराजने नई-दिल्लीमें सेठ श्रीजुगलकिशोर-विरलाजीसे एक ताम्बेकी चमची मँगवाकर, श्रीविरलाजीके हाथमें देकर उन्हें सूर्यकी तरफको मुख करके खड़ा कर—मन्त्र बोलकर अपनी सिद्धिके चमत्कारसे ताम्बेसे सोनेमें परिणत कर दिया था, जो विरला-मन्दिरमें सुरक्षित रखी हुई है, उसे हमें (रामशरणदासको) मन्दिरके प्रमुख-पुजारी पं० रामनिवासजीने दिखलाया। उसे देखकर हम आश्चर्य-चकित हुए। यह वह रहस्यमय चम्मच है जिसे बड़े-बड़े वैज्ञानिक वा अंग्रेज देखकर आश्चर्य-चकित होते हैं; और दाँतों-तले अंगुली दबाते हैं।

(१६) आकाशसे मूर्ति।
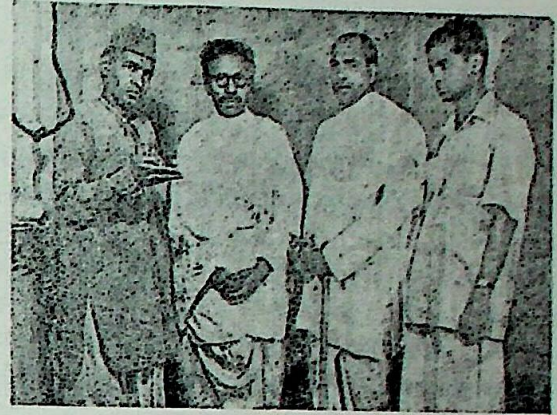
सिद्ध-सन्त वन्शीवाले बाबाने अन्तरिक्षसे जो श्रीनर्मदेश्वरकी प्रतिमा मँगाकर मुझे दी थी; उसे ता० ५ अप्रैल सन् १६५८ को शास्त्रार्थ-महारथी पं० दीनानाथजी शास्त्रीने हापुड़में देखा।

चित्रमें हम (रामशरणदास) प्रतिमा दिखा रहे हैं; पासमें विद्यावागीश श्रीपं० दीनानाथजी शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश तथा पं० श्रीमदनमोहनजी शास्त्री 'मधुर' कथावाचक और शिवकुमार गोयल 'विशारद' खड़े हैं। अन्य भी इस प्रकारकी बहुतसी घटनाएँ हैं; पर स्थानाभावसे नहीं दी जा सकीं।

उपसंहार

['आलोक'-पाठकोंने देख लिया कि—जो पुराणोंकी बातें कल तक 'गप्प' समझी जाती थीं, अब वे ठीक हो रही हैं। अब तो रूसवालोंने एक कुत्तेकी गर्दनके साथ दूसरे कुत्तेकी गर्दन जोड़ दी। मरे हुओंको वे जीवित कर रहे हैं, चन्द्रलोकमें राकेटोंको पहुँचा रहे हैं। इस प्रकार अमेरिका तथा रूसवाले उपग्रह बना रहे हैं; जो आकाशमें चक्कर लगाते हैं; अब

विश्वामित्रकी वह देवसृष्टि-जिसका उसने निर्माण किया था, श्रीगणेशजीके सिरपर हाथीके मस्तकका जोड़ना, त्रिशङ्कुका सीधा स्वर्गलोकमें जाना, ध्रुवका तारापथमें जा पहुँचना—यह सब बातें अब संशयका विषय नहीं रहीं। इन बातोंको प्रत्यक्ष देखकर पुराणोंकी तो सत्यता सिद्ध हो जायगी; और पुराणोंको 'गप्प' बतानेवाले वर्तमान-वादियोंके मुख फीके पड़ेंगे। पर हमें डर है कि मनुष्यों-द्वारा इन बातोंको होता देखकर कहीं नास्तिकता न फैल जाए, अस्तु—अब दूसरा परिशिष्ट निबन्ध देकर 'आलोक'के छठे-पुष्पको बहुत बड़ा हो जानेसे हम रोकते हैं, आगे सप्तम-पुष्पके प्रकाशनकी आशा लेकर पाठकोंसे विदा लेते हैं। वे अभीसे सप्तम-पुष्पके १००) रु० के सहायक तथा ग्राहक बनना-बनाना शुरू कर दें, जिससे सप्तम-पुष्पके प्रकाशनमें देरी न लगे। 'आलोक-प्रणेता'।]

---

(२४) 'नमस्ते-प्रदीप' का निर्वाप।

(क्या 'नमस्ते' एक पद है ?)

(प्रथम-द्वितीय पुष्पका परिशिष्ट)

हम घरौंडा-गुरुकुलके स्वा. रामेश्वरानन्दजीके 'नमस्ते-प्रदीप' की आलोचना १-२ पुष्पमें* ४३ पृष्ठसे ६६ पृष्ठ तक कर चुके हैं; कुछ यहां भी थोड़ा स्थान मिल जानेसे कर देते हैं। उनकी बातें प्रायः एक-जैसी हैं, अतः उनका पृथक्-पृथक् विचार न करके स्थालीपुलाक-न्यायसे दिङ्मात्र विचार देते हैं। पाठक शेष उनके तर्कोंका समाधान १-२ सुमनमें देखें।

भूमिका पृ. २ पं. १६-१८ में श्रीधर्मवीरशास्त्रीका यह प्रश्नोत्तर है—(प्र.) नमस्तेका क्या अर्थ है। (उ.) जो 'नमः'का अर्थ है,

*पाठक १-२ पुष्पों (परिवर्धित-द्वितीयावृत्ति)को हमसे मँगा लें, मूल्य ४)।

वही नमस्तेका है, क्योंकि-नमस्ते की प्रकृति 'नमः' है।

यहां स्वामीजीसे प्रष्टव्य है कि—क्या आप ऐसा मानते हैं ? यदि हां; तो यहां किस व्याकरण, वा निघण्टु, वा कोष, वा किस प्राचीनका प्रमाण है ? यदि 'नमस्ते' की प्रकृति 'नमः' है, तो 'ते' कहांसे आया है ? क्या यह कोई प्रत्यय है—यदि हां; तो किस वेदाङ्ग-व्याकरणके किस सूत्रसे हुआ ? उस एक-पदमें प्रकृति वा धातु क्या है ? 'ते' प्रत्यय न होनेपर दो पद सिद्ध हुए।

पृ. ४ 'दिव्यो गन्धर्वो...एक एव नमस्यः...दिव्य देव ! नमस्ते अस्तु' (अ. २।२।१) अलौकिक वेदवाणीधारक..एक ही नमस्कार करने योग्य है। नमस्ते यह सत्कारवाचक पद हो'।

समीक्षा—यदि 'नमस्ते' एक-पद है; तो यहां वेदने 'नमस्यः' क्यों कहा है—वादीके अनुसार 'नमस्त्यः' क्यों नहीं कहा ? 'नमस्ते अस्तु'में 'ते नमः अस्तु' यह अन्वय है। यहां दिव्य-देवको सम्बोधित करनेसे उसकेलिए सर्वनामका प्रयोग अपेक्षित है, वह यहां है 'ते' (तुभ्यं), परन्तु 'नमस्ते हो' इस वादीके अर्थमें 'युष्मद्' सर्वनाम कहां है ? 'नमस्ते' यह सत्कार-वाचक पद यह मन्त्रके किस शब्दका अर्थ है ? 'नमस्ते' यह सत्कारवाचक एक-पद किस व्याकरणके किस सूत्र वा गणपाठ वा उदाहरणमें है ? किस कोष वा निघण्टुमें है ? 'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्' (पा. ३।१।१९) इससे 'नमस्' को पूजामें क्यच् करके उसे यत् (पा. ३।१।९७) प्रत्यय करके अल्लोप-यलोप करके 'नमस्कारयोग्य' अर्थमें 'नमस्यः' बनता है, अथवा 'अर्हति' अर्थमें छान्दस यत् (पा. ५।१।६७) होता

है। पर 'नमस्ते-योग्य' अर्थमें 'नमस्ते' प्रकृतिसे किस सूत्रसे क्या-क्या प्रत्यय, किस-किस सूत्रसे होता है ? और 'नमस्ते' पदमें तद्धिती प्रत्यय है वा कृदन्ती ? यदि यह अव्युत्पन्न-पद है; तो 'सर्वाणि नामानि आख्यातजानि' इस नैरुक्त-सिद्धान्तसे विरुद्ध हुआ। यदि यह रूढ पद है, तो रूढि लोकप्रसिद्धिमें होती है, तब यह लोकप्रसिद्धि कब हुई, और किसने इसे रूढ किया ? यदि वैदिककालसे यह रूढि है; तो किसी वेदाङ्गने उसे स्मरण क्यों नहीं किया ? यदि आजकलकी आपकी रूढि है; तब वह अवैदिक तथा अर्वाचीन होनेसे खण्डित सिद्ध हुई। इसके अतिरिक्त 'दिव्यदेव ! नमस्ते अस्तु' यहां सम्बोधनमें प्रथमा है; तब 'पशुपते! नमस्ते' (पृ. ७) इस वादीसे दिये प्रमाणकी तरह 'जहां पर विशेष्य प्रथमान्त हो; वहां पर 'नमस्ते' 'नमः-ते'के योगसे सिद्ध होता है' (पृ. २०) इस वादीकी परिभाषानुसार यहांके 'नमस्ते' में भी दो पद सिद्ध हो जानेसे वादीकी अभिमत एकपदता उसीसे ही खण्डित हो गई। जब उस दिव्यदेवको वेद 'नमस्य' 'नमः'के योग्य बतलाता है, तब वेद उसे 'नमस्ते' कैसे कहेगा ? इस प्रकार स्वा. रामेश्वरानन्दजीकी 'नमस्ते' की एकपदता सर्वथा खण्डित हो गई।

पृ. ५ 'स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु' (यजुः ३।६३) यहां छुरेको नमस्कार कहा जा रहा है, यह चूड़ाकरण-संस्कारविधिमें आर्यसमाजकी मूर्तिपूजा है। क्योंकि—

'देवमूर्ति कभी न पूजें, पूजें छुरा जो नाइयों का।
यही हाल संस्कारविधिमें आर्यसमाजी भाइयों का'॥

इसमें भी 'ते नमः अस्तु' यह अन्वय है; परन्तु वादी अर्थ करता है—पिता-उत्पादक हो, इसलिए 'ते नमस्ते' तुम्हारे लिए नमस्ते यह सत्कारवाचक-शब्द हो'।

समीक्षा—मन्त्रमें 'ते' यह षष्ठी है, जिसका 'पिता'से सम्बन्ध है कि—'ऐ छुरे, वज्र तेरा पिता है, तुझे नमस्कार हो'। पर वादीने 'नमस्ते'को एक पद सिद्ध करनेकेलिए उस 'ते'को 'नमस्ते' के साथ जोड़ा है, यह श्रुतिसे बलात्कार है। यहां प्रश्न है कि-'ते'में क्या विभक्ति है ? यदि चतुर्थी, तो किस सूत्रसे ? यदि 'नमः-स्वस्ति'से, तो उसमें तो 'नमस्ते' नहीं। यदि अन्य सूत्रसे; तो फिर 'नमः'में भी उसीसे हो जाएगी, 'नमः-स्वस्ति'में उसका रखना व्यर्थ है; पर जब श्रीपाणिनिने जानबूझ कर रखा है; तो इसीसे सिद्ध है कि—'नमस्ते' एक पद नहीं, किन्तु दो ही हैं। इसके अतिरिक्त 'शिवो नामासि·· नमस्तेस्तु' यहाँ विशेष्य प्रथमान्त है; तब वादीकी पृ. २० की पूर्वप्रोक्त-परिभाषानुसार दो पद सिद्ध होनेसे वादीका पक्ष कट गया।

पं. ८-६ 'नमस्ते अस्तु भगवः' (यजुः १६।५२) हे ईश्वर ! नमस्ते यह आदरवाचक शब्द हो।

स०—यहां 'यह' 'नमस्ते' शब्द किसे कहा जा रहा है ? यदि ईश्वरको; तो संबोध्यमानका किसी सर्वनामसे परामर्श होता है। यहां कौनसा सर्वनाम है ? यदि 'ते' है, तो 'नमस्ते' की एकपदता कट गई। यदि यहां सर्वनाम नहीं है; तो न्यूनपद दोष हो गया। हमारे मतमें 'ते' पृथक् पद होनेसे यहां न्यूनपद दोष नहीं। वहां है-

भगवः !' ते नमः अस्तु' वह छेद वादीने 'पशुपते ! नमस्ते' (पृ. ७) 'नमस्ते गन्धर्व !' (पृ. १८) की तरह क्यों नहीं किया ?

पृ. ६ पं. १४ 'नमस्ते मृत्यो ! चक्षुषे नमः' (अ० ८।२।४) मृत्यो ! प्रभो ! चक्षुषे-सबके द्रष्टा आपकेलिए (नमः नमस्ते) पुनः-पुनः नमस्ते हो'

समीक्षा—यहाँपर 'आपकेलिए' यह किस पदका अर्थ है ? 'पुनः-पुनः नमस्ते हो' यह किस पदका अर्थ है, जबकि मन्त्रमें 'नमस्ते' दो-बार नहीं ? 'नमः'का सम्बन्ध-'नमः प्राणाय तेऽकरम्' इस अग्रिम पादसे है, पर वादीने उससे सम्बद्ध पदको पूर्व पादमें छलसे जोड़ दिया। वस्तुतः यहाँ अन्वय है—'हे मृत्यो ! ते-तव चक्षुषे नमः, ते-तव प्राणाय नमोऽकरम्'। इधर जब 'मृत्यो' यह सम्बोधन-प्रथमान्त विशेष्य है; तब वादीके पृ. ७ पं. ६-८में स्थित 'पशुपते ! नमस्ते' (अ. ११।२।६) तथा पृ. १८ पं. १२-१३-१४ स्थित 'नमस्ते गन्धर्व !' (अ. १४।२।३४) की भांति 'ते नमः' छेद हुआ। और पृ. २० के अनुसार दो पद सिद्ध हुए।

पृ. ६-७ 'नमस्ते रुद्र कृण्मः सहस्राक्षाय अमर्त्य !' (अ. ११।२।१३) यहाँ पर यह अन्वय है—'हे अमर्त्य ! रुद्र ! सहस्राक्षाय ते-तुभ्यं नमः' 'तुझ सहस्राक्षको हे रुद्र ! नमस्कार' यह अर्थ है; पर वादीने 'असंख्य देखनेकी शक्तियोंवाले प्रभो !' यह सम्बोधनका अर्थ कैसे कर लिया ? 'आपकेलिए' यह शब्द कहाँ-से लिया ? 'नमस्ते यह शब्द करते हैं' में 'यह शब्द' कहांसे लिया ? ऐसा होनेपर 'नमस्ते' इति शब्दं कृण्मः' ऐसा होता।

पर ऐसा नहीं। इधर 'रुद्र !' यह सम्बोधन-प्रथमान्त विशेष्य है, तब वादीकी ही पूर्व-प्रोक्त परिभाषानुसार 'नमस्ते' दो पद हो जानेसे एकपद-पक्ष उष्ट्रलगुड-न्यायसे कट गया, उष्ट्रेणैव उह्यमानेन लगुडेन तत्प्रहारः'।

पृ. ६ 'नमस्ते अधिवाकाय परावाकाय ते नमः' (अ. ६।१३।२) यहाँ पर 'परावाकाय ते नमः' की भांति पूर्वमें भी 'अधिवाकाय ते नमः' अन्वय है; तब इससे विरुद्ध 'ते नमः-नमस्ते' तुझ ब्राह्मणकेलिए नमस्ते शब्द पुनः-पुनः हो' यह वादीका अर्थ अशुद्ध सिद्ध हुआ। दोनों स्थान 'ते' चतुर्थ्यन्त-विशेष्य है, और अधिवाकाय, परावाकाय' विशेषण हैं। जब उक्त मन्त्रमें 'नमस्ते' दो बार नहीं; तब 'पुनः-पुनः नमस्ते हो' यह वादीका अर्थ अशुद्ध सिद्ध हुआ। और यहाँ पर 'मृत्यो !' सम्बुद्धि-प्रथमान्त विशेष्य होनेसे वादीकी ही पूर्वोद्धृत परिभाषासे 'नमस्ते'की एकपदता कट गई। और फिर वादीके (पृ. २०) के अनुसार चतुर्थ्यन्त 'परावाकाय'के साथ फिर चतुर्थ्यन्त 'ते' कैसे आया ? यदि आया है, तो वैसे 'नमस्ते'में भी 'नमः-ते' दो पद और 'ते' 'चतुर्थ्यन्त' हुआ ?

पृ. १६ 'नमस्ते रुद्रास्यते नमः' (अ. ६।६०।३) हे रुद्र ! अस्य ते-इस तेरेलिए नमः नमस्ते-यह शब्द पुनः-पुनः प्रयुक्त हो'। नमस्तेको एक पद सिद्ध करनेकेलिए स्वा. रामे जी कई छल करते हैं। कभी 'ते' इस षष्ठी-पदको बलात् चतुर्थीका बनाकर उसे 'नमस्ते'से जोड़ देते हैं; और कभी मन्त्रके आदिम वा अग्रिम

पद छिपा देते हैं। कभी दो पदोंको एक पद कर देते हैं, कभी एक पदको दो पद कर देते हैं। कभी चतुर्थीको तृतीया कर देते हैं। जितने 'छल' हैं; उन्हें करनेकेलिए वे सदा तैयार रहते हैं। यहाँ भी वही लीला है। यहाँ 'अस्यते' चतुर्थ्यन्त एक पद था, जिसका अर्थ है-'बाणप्रक्षेप्त्रे'; यहाँ उससे 'नमः'का योग था। दूसरे 'नमः'का योग 'प्रतिहितायै' (प्रेषितायै इषवे) इस पदसे था (वेदमें इषु शब्द स्त्री-लिंगमें भी आता है), पर वादीने 'अस्य ते' इस प्रकार दो पद कर दिये, और अर्थ किया—'इस तेरेलिए'। भिन्न-विभक्तिक पदोंका एक ही विभक्तिका अर्थ कर दिया! यह है वेदके अङ्गोंको छुरीसे काटना। यहाँ भी रुद्र प्रथमान्त विशेष्य है; अतः वादीके अनुसार ही 'नमस्ते'का एकपदत्व खण्डित होगया।

पृ. १७ में 'स्त्रियों को नमस्ते' बताते हुए वादीने 'नमस्ते घोषिणीभ्यः नमस्ते-केशिनीभ्यः' (अ. ११।२।३१) प्रमाण दिया है, पर यह रुद्रकी सेनाओंको नमस्कार है, वहीं अन्तमें कहा है- 'नमस्ते देव! सेनाभ्यः' 'हे देव! ते-तव सेनाभ्यो नमः'। यहां बहुवचनमें भी 'नमस्ते' नहीं, किन्तु एकवचनमें है। इस विषयमें स्पष्टता १-२ पुष्पमें देखें।

पृ. १८ छोटी-छोटी बालिकाओंकेलिए 'नमस्ते' दिखलाते हुए वादीने 'नमस्ते जायमानायै जातायै उत ते नमः' (अ. १०।१०।१) मन्त्रको उद्धृत किया है। पर यहाँ गायका वर्णन है, इसलिए उत्तरार्धमें 'बालेभ्यः, शफेभ्यः रूपाय अघ्न्ये! ते नमः' कहा है। 'अघ्न्या' यह निघण्टु आदिके अनुसार गायका नाम है, कुमारीका नहीं? अतः यहाँ 'हे अघ्न्ये!' जायमानायै ते-तुभ्यं नमः, जातायै उत ते नमः' यह अन्वय स्पष्ट है। पर वादीने जातायै-उन लड़कियोंका भी 'नमः ते-अन्नादिसे सत्कार करो' यह अर्थ करके वेदमें यहाँ 'ते' शब्द निरर्थक कर दिया। और उससे विरुद्ध 'जायमानायै नमस्ते' यहाँ 'नमस्ते'को एक पद मान लेना दुराग्रह है। यहाँ 'अघ्न्ये!' यह प्रथमान्त-विशेष्य होनेसे 'नमस्ते'को एक पद बताना वादीकी ही पूर्वप्रोक्त-परिभाषासे कट गया।

पृ. २६ पूर्वपक्ष—'पं० कालूरामजीने यह लिखा है—मनु महाराजने 'नमस्तेका खण्डन करके अभिवादनका विधान किया है-'अभिवादन-शीलस्य' (२।१२१)। यदि नमस्ते विधेय होता, तो व्याकरण आदिमें भी अभिवादन न किया जाता। (उत्तर) मनुमें नमस्तेका खण्डन कहीं पर नहीं है, किन्तु अभिवादनका विधान किया है जो कि-नमस्तेका पर्यायवाचक ही है।'

स०—यह अशुद्ध है, नमस्ते अभिवादनार्थक पद किसी भी कोष वा निघण्टु वा व्याकरणमें नहीं। हां, 'नमः' तो है।

पू०—वेदने तो नमस्तेका ही विधान किया है, अतः सर्व-प्रथम वेदको ही स्थान देना उचित है।

स०—यह गलत है। वेदमें कहीं नहीं लिखा कि-'नमस्ते' इति कथनीयम्'। वेदमें तो 'नमः, नमो वः, वन्दे' आदि लिखा है, आप लोग उन्हें क्यों नहीं प्रयुक्त करते?

पू०—मनुमहाराजके अभिवादन लिखनेसे 'नमस्ते'का खण्डन यदि होता; तो नमस्कार, प्रणाम, जय-राम, नमो-नारायण, राम-राम आदिका भी खण्डन होगया; क्योंकि—उक्त शब्दोंमेंसे किसी शब्दका विधान मनुमें नहीं।

स०—नमः, प्रणाम, नमस्कार शब्द अभिवादनार्थक हैं; तब मनुस्मृतिमें उनका खण्डन नहीं। पर 'नमस्ते' यह वादीका इष्ट एक-पद कहीं भी अभिवादनार्थक नहीं माना गया; तब उसका खण्डन होगया। राम-राम आदि कहना तो अपने इष्टदेवका कीर्तन है; वह अभिवादनार्थक नहीं; तब भिन्न-विषय होनेसे उसका बाध नहीं। इष्टदेव-कीर्तन दोनों ओरसे हो सकता है, पर अभिवादन दोनों पक्षोंसे नहीं होता, किन्तु एक पक्षसे ही; अतः भिन्न-विषय होनेसे यहाँ उनका बाध नहीं।

पृ. ३१ पू०—'ब्रह्मन्! अतिथिर्नमस्यः, नमस्तेस्तु ब्रह्मन्!' (कठ. १।६) हे ब्रह्मवित् विद्वान्!...(नमस्यः) विशेषतया अभि-वादनके योग्य हो; अंतः आपको नमस्ते यह सत्कारवाचक शब्द हो'।

उ०—यहां पर 'आपको' किस पदका अर्थ है? जब वह 'नमस्य'—'नमः'के योग्य बताया गया है, 'नमस्ते-योग्य' उसे नहीं बताया गया; तब उसे 'नमः'का प्रयोग होगा। हां, यदि कदाचित् 'नमस्त्यः' होता; तब तो उसे कहा हुआ 'नमस्ते' कदाचित् एकपद होता; पर अब 'नमः'के योग्य होनेसे उसे 'नमः'का कथन ही न्याय्य है, तब वहां 'ते नमः अस्तु' ऐसा छेद होने पर 'नमः' पद ही

सिद्ध होने पर 'नमस्ते' दो पद सिद्ध होजानेपर वादीसे सम्मत 'नमस्ते' की एकपदता कट गई। यहां भी विशेष्यके प्रथमान्त होनेसे वादीका पक्ष 'उष्ट्र-लगुड'-न्यायसे कट गया।

वादीके शेष-प्रमाणोंका उत्तर पूर्ववत् है; और 'नमो ज्येष्ठाय' आदिका उत्तर प्रथम-द्वितीय पुष्पमें पाठकगण देख लें कि—यहाँ 'नमः' है, नमस्ते नहीं, तब उसका एक-पदत्व खण्डित होगया।

'नमस्ते'को एक-पद बनानेका स्वामीजीका हार्दिक आशय यह है कि—इसमें 'ते' बड़ेका अप्रतिष्ठासूचक है; उसीको हटानेके-लिए उन्हें यह पापड़ बेलने पड़े; पर एक-पदत्व पक्ष निराधार तथा पूर्वोक्त-रीतिसे असत्य है, अतः उससे बड़ेकी अप्रतिष्ठा बनी ही रहेगी। तब स्वा० रामेश्वरानन्दजीके 'नमस्ते-प्रदीप'का निर्वाप (बुझना) होगया। द्विपदतापक्षमें 'ते'के विषयमें १-२ पुष्पमें देखें।

इति पूज्य-श्रीपं०शीतललालशर्म—श्रीगौरीदेवी-तनुजनुषा, मुलतान-स्थ—स० ध० संस्कृतकालेजभूतपूर्वाध्यक्षेण, देहली (दरीबा-कलाँ) स्थ-संस्कृतमहाविद्यालयाध्यक्षेण, 'विद्यावागीश' 'विद्याभूषण' श्रीदीनानाथ-शर्मशास्त्रिसारस्वत-'विद्यानिधिना' प्रणीतस्य 'श्रीसनातनधर्मालोक' संस्कृत-महाग्रन्थस्य हिन्दी-ग्रन्थमालायां षष्ठसुमनो-विकासः सम्पूर्णः।*

——

*इस पुष्पसे पहलेके पाँच पुष्पोंको मँगाकर पाठक अपना सेट पूरा कर लें। सप्तमपुष्पके मँगानेकेलिए एक वर्षसे पहले पत्र व्यवहार करनेका कष्ट न करें; हाँ, उसकी सहायतार्थ अर्थराशिको अभीसे प्रेषित करना प्रारम्भ कर सकते हैं, जिससे उसकी तैयारी शीघ्र हो सके।

❀ 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाका परिचय ❀

प्रणेता—पं० दीनानाथशास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश।

इस ग्रन्थमालाको १०००) देनेवाले इसके संरक्षक माने जाते हैं, उनका चित्र छपता है, प्रत्येक प्रकाशनमें उनका नाम छपता है, ५००) प्रदाता इसके सम्मान्य-सहायक, २५०) दाता मान्य-सहायक और १००) देनेवाले साधारण-सहायक माने जाते हैं।

प्रथम-द्वितीय पुष्प—(परिवर्धित-द्वितीयावृत्ति) आजकल 'नमस्ते'-शब्दके प्रचारक इसका वैदिक होनेका दावा करते हैं। हमने प्रथम दो-पुष्पोंमें इस विषय पर विस्तीर्ण विचार दिया है। 'नमस्ते' विषयक-ट्रैक्ट इमें जितने मिल सके, उन पर आलोचना भी कर दी है। साढ़े तीन सौ पृष्ठोंकी सजिल्द एवं सुन्दर इस पुस्तकका मूल्य ४) रु०।

तृतीय पुष्प—इसमें स्त्री-शूद्रोंके वेदाधिकार पर विचार करते हुए 'यथेमां वाचं कल्याणीं' मन्त्रके वर्तमान-प्रचलित अर्थकी आलोचना करके उसका वास्तविक अर्थ तथा हारीतकी ब्रह्मवादिनी, 'गोभिलसूत्र'के यज्ञोपवीतिनीं' पदका रहस्य, 'दुहिता मे पण्डिता जायेत', 'वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेत्', 'ब्रह्मचर्येण कन्या, पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्' आदि बहुतसे प्रमाणोंके वास्तविक अर्थ बताकर, ऐतरेय-महिदास, कवष-ऐलूष, कक्षीवान्, सत्यकाम-जाबाल, सूत, वाल्मीकि, शबरी आदि शूद्र थे वा अशूद्र—इस पर विचार किया गया है। सजिल्द पुस्तकका मूल्य ३॥)

चतुर्थ पुष्प—इसमें हिन्दु-शब्दकी वैदिकता, वेद-विषयमें भारी भूल, महाभाष्यकारके मतमें वेदका स्वरूप, वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म से है, वा जन्मसे, डा० भगवान्दासके मतपर विचार, मृतकश्राद्ध तथा पितरोंका टाईम टेबल, ब्राह्मण-भोजन वैदिक वा अवैदिक, मूर्तिपूजा एवं

अवतारवादका रहस्य, क्या विद्वान् मनुष्य ही देव हैं, नवग्रहोंके प्रचलित मन्त्रोंका ग्रहोंसे सम्बन्ध कैसे है, ग्रहण और उसका सूतक—इत्यादि अनेकों-विषयों पर बड़े सुन्दर विचार दिये गये हैं। ५०० पृष्ठसे अधिक पृष्ठकी सजिल्द एवं सुन्दर इस पुस्तकका मूल्य ६)।

पञ्चम पुष्प—इसमें हिन्दुधर्मके मुख्य-विषय चोटी-जनेऊ, १६ संस्कार, सन्ध्याके सभी अङ्ग, मालाकी मणियोंकी १०८ संख्या क्यों?, यज्ञका वैज्ञानिक महत्त्व क्या है—इत्यादि अनेकों विषयों पर विचार करके, प्रातःसे रात्रि-शयन तकके आचारोंकी वैज्ञानिकता बताई गई है। इसके बाद दीपमाला, होली आदि वर्षके प्रसिद्ध-पर्वोंके वैज्ञानिक-रहस्य बताकर, श्रीगणेशका वैदिक देवत्व तथा श्रीमहीधरके 'गणानां त्वा' मन्त्रके भाष्य पर—जिसपर प्रतिपक्षियोंकी ओरसे घोर-शोर मचाया जाता है—विचार करके, ओङ्कारका महत्त्व बताया गया है। इसमें १२५ विषय हैं। इस सुन्दर एवं सजिल्द साढ़े नौ सौ पृष्ठकी पुस्तकका मूल्य १०)

षष्ठ पुष्प—इसमें हिन्दुधर्मके विविध-विषय ६५० पृष्ठोंमें युक्ति-प्रमाण द्वारा साधित किये गये हैं। इसमें सनातन-धर्म तथा वेदका स्वरूप दिखलाते हुए ब्राह्मणभागके अवेदत्व पर किये जानेवाले तर्कों पर युक्ति-प्रमाण द्वारा विचार करके, वेदाधिकारिविचार, 'मन्दिरोंमें अन्त्यज-प्रवेश पर वैदिक-दृष्टि' दिखलाकर 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी' मानसकी इस प्रसिद्ध चौपाईके विविध-अर्थ तथा उनकी आलोचना की गई है। फिर 'क्या प्राचीन-भारतमें गोवध होता था' इस विषय पर १६ विषयोंमें विचार किया गया है। इसके बाद 'क्या पुराणोंमें वेद-विरुद्ध अंश है?' इस पर विचारते हुए वृन्दाका पतिव्रतभङ्ग, चन्द्रमाका गुरुपत्नीगमन, अगस्त्यका समुद्रपान, स्त्रीसे पुरुष, पुरुषसे स्त्री' आदि बहुतसे विषयों पर विचार कर श्रीकृष्णके बाल्यचरित्र एवं राधा-कृष्णके परस्पर-सम्बन्ध तथा कुब्जा आदि के विषयमें पूर्ण-मीमांसा की गई है, पुराणोंकी शङ्कित-कथाओं पर प्रत्यक्ष अखबारी 'घ [illegible]एँ भी सचित्र दी गई हैं। इसके बाद

सैद्धान्तिक-चर्चामें वर्ण-व्यवस्थाके विषयमें 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' के अर्थ पर किये जाते हुए तर्कों पर विचार करते हुए 'क्या ब्राह्मणादि वर्ण वा जाति नहीं'—इस पर तथा 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' इस विषय पर भी विचार दिया गया है। परिशिष्टमें 'नमस्ते'के एक-पदत्वकी आलोचना भी दी गई है। सजिल्द इस ग्रन्थका मूल्य १०)

अग्रिम-पुष्पमें वेद-स्वरूपपर विचार, क्या वेदके शब्द यौगिक हैं, वेदार्थविधानके साधन, वेदमन्त्रार्थहत्या—इन विषयों पर विचार करके, वर्ण-व्यवस्था-विषयमें दिये जाते हुए प्रमाणों पर विचार, नियोग और मैथुन, पराशर-मत्स्यगन्धासमागम, विधवाविवाह, सायण और विधवा-विवाह, सीताकी विवाहावस्था, द्रौपदीका एक पति वा पाँच' आदि विविध-विषयों पर विचार होगा। सहायक शीघ्र अपनी सहायता भेजें, जिससे अग्रिम-पुष्प शीघ्र विकसित हो सके। सहायता 'आलोक'-प्रणेता पं० दीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, प्रिंसिपल संस्कृत महाविद्यालय, दरीबाकलां देहली ६—इस पतेसे भेजनेका कष्ट करें।

पुस्तकोंके मँगाने वा सर्वविध पत्रव्यवहारका पता—

नारायणशर्मा 'राजीव' सारस्वत शास्त्री
फर्स्ट बी. १६ लाजपतनगर (नई देहली-१४)

23-6-2000